नि[illegible]प[illegible] मविजयजी द्वारा अनुवादित एवं लिखित अपूर्व धार्मिकसाहित्य

१– ललित-भक्तिदर्पण
२– ऐतिहासिक तीर्थ : हस्तिनापुर
३– ज्ञानसार अष्टक (हिन्दी-अनुवाद)
४– प्रशमरति (हिन्दी-अनुवाद)
५– [illegible] (हिन्दी-अनुवाद)
६– पर्वकथासंग्रह (हिन्दी-अनुवाद)
७– योगशास्त्र (हिन्दी-अनुवाद)

प्रकाशन की प्रतीक्षा में

* अध्यात्मसार (हिन्दी अनुवादसहित)
* षड्दर्शनस[illegible]च्चय (हिन्दी अनुवादसहित)

प्राप्ति-स्थान

१– श्री निर्ग्रन्थ साहित्य प्रकाशन संघ
१८४४ प्रताप मार्केट, सदर बाजार,
दिल्ली–६

२– श्री मेहता फ[illegible]रचन्द अमीचन्द
३१साम बिल्डिंग, एन. टी. ब्रिज
मझगांव–बम्बई-१०

३– सोमचन्द डी. शाह
जीवन निवास के सामने,
पो०–पालीताणा (सौराष्ट्र)

४– पं० मूरालाल शाह
सरस्वती पुस्तक भंडार
रतनपोल, हाथीखाना,
पो०– अहमदाबाद–१ (गुजरात)
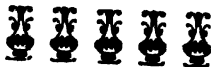
ॐ अर्हते नमः

कलिकालसर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्राचार्यरचित

योगशास्त्र

(स्वोपज्ञ-व्याख्या एवं हिन्दी-अनुवादसहित)

अनुवादकर्ता

मुनिश्री पद्मविजयजी

संशोधक एवं सम्पादक

पं० मुनिश्री नेमिचन्द्रजी

प्रकाशक

श्री निर्ग्रन्थ साहित्य प्रकाशनसंघ

दिल्ली–६

* ग्रन्थ का नाम :
योगशास्त्र

* ग्रन्थकार :
श्री हेमचन्द्राचार्य

* संस्कृत-व्याख्याकार :
श्रीहेमचन्द्राचार्य

* हिन्दी-अनुवादकर्ता :
मुनिश्री पद्मविजयजी

* संशोधक एवं सम्पादक :
पं० मुनिश्री नेमिचन्द्रजी

* आवृत्ति :
प्रथम, १००० प्रतियाँ

* प्रकाशनतिथि :
माघसुदी ५, विक्रम सं० २०३१
वीरनिर्वाणसंवत् २५०१
१६ फरवरी सन् १९७५

* मूल्य :
पच्चीस रुपये

* मुद्रक :
श्री रामनारायण मेड़तवाल
श्री विष्णु प्रिंटिंग प्रेस
राजामण्डी, आगरा-२

प्राप्तिस्थान

१—बनारसीदास मोहनलाल
१८६४, प्रतापमार्केट
सदर बाजार, दिल्ली-६

२—सेठ अमीचन्द ताराचन्द
३९ खान बिल्डिंग, नवाब टैंक ब्रिज
मझगांव, बम्बई-१०

३—पं० भूरालाल शाह
C/o सरस्वती पुस्तकभंडार
रतनपोल, हाथीखाना
अहमदाबाद (गुजरात)

४—सोमचन्द डी शाह
जीवन-निवास के सामने
पो०-पालीताणा (सौराष्ट्र)
(गुजरातराज्य)

योगशास्त्र : एक चिन्तन

जैनधर्म में मोक्षप्राप्ति के लिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों का होना अनिवार्य माना गया है। इन तीनों के योग-संयोग को मोक्षमार्ग या मोक्षोपाय बताया गया है। जैसा कि श्री हेमचन्द्राचार्य ने 'अभिधानचिन्तामणिकोष' में कहा है—'**मोक्षोपायो योगो ज्ञानश्रद्धान-चरणात्मकः**' अर्थात्—ज्ञान-दर्शन-चारित्रात्मक तीनों योग मोक्ष का उपाय है। वैदिकधर्म ने उन्हीं का ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग के नाम से निर्देश किया है। योगशास्त्र में इन्हीं तीनों से सम्बन्धित आद्योपान्त निरूपण है।

योगशास्त्र में कुल १२ प्रकाश हैं। सब श्लोक १०१२ हैं और उन पर कलिकालसर्वज्ञ पूज्य श्रीहेमचन्द्राचार्य की ही १२७५० श्लोक-परिमित स्वरचित व्याख्या है। पहले के तीनों प्रकाशों में योग-विद्यामान्य यम-नियम, इन दोनों अंगों के रूप में पूर्वोक्त तीनों योगों का जैनदृष्टि से स्फुट वर्णन है। चौथे प्रकाश में आत्मा के परमात्मा से योग के लिए आत्मस्वरूप-रमण, कषायों और विषयों पर विजय, चित्तशुद्धि, इन्द्रिय-निग्रह, मनोविजय, समत्व, ध्यान, बारह अनुप्रेक्षाओं, मैत्री आदि चार भावनाओं एवं आसनों का विशद विवेचन है। पांचवें प्रकाश में प्राणायाम, मन.शुद्धि, पंचप्राणों का स्वरूप, प्राण-विजय, धारणाओं, उनसे सम्बन्धित ४ मंडलों तथा प्राणवायु द्वारा ईष्ट-अनिष्ट, जीवन-मृत्यु आदि के ज्ञान एवं यंत्र, मंत्र, विद्या, लग्न, छाया, उपश्रुति आदि द्वारा कालज्ञान, नाड़ीशुद्धि एवं परकायप्रवेश आदि का वर्णन है। छठे प्रकाश में प्रत्याहार एवं धारणा का, सातवें प्रकाश में ध्यान के पिण्डस्थ आदि चार ध्येयों और पार्थिवी आदि ५ धारणाओं का दिग्दर्शन कराया गया है। आठवें प्रकाश में पदस्थ-ध्येयानुरूप ध्यान का स्वरूप एवं विधि का संक्षिप्त वर्णन है। तदनन्तर नौवें में रूपस्थध्यान का और दशवें में रूपातीत का दिग्दर्शन है। फिर ग्यारहवें और बारहवें प्रकाश में समस्त चरणों सहित धर्मध्यान और शुक्लध्यान से ले कर निर्विकल्पक समाधि, मोक्ष तथा चित्त के प्रकारों आदि का अनुपम वर्णन है।

कहना होगा कि भारतीय योग-साधनों को हठयोग आदि की जटिल भौतिक प्रक्रियाओं से हटा कर परमपूज्य आचार्यश्री ने उसे आत्म-चिन्तनधारा की ओर मोड़ कर सहजयोग या जीवनयोग की प्रक्रियाओं से जोड़ दिया है। पतंजलि आदि योगाचार्यों द्वारा रचित 'योगदर्शन' आदि ग्रन्थों की अपेक्षा इस योगशास्त्र में यही विशेषता है कि पतंजलि आदि ने योग को चित्तवृत्तिनिरोध से ले कर सर्वभूमिकाओं के लिए समानरूप से यम-नियमादि आठ अंग बता कर उन्हीं में परिसीमित कर दिया है; जबकि कलि-कालसर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्राचार्य ने मार्गानुसारी से ले कर गृहस्थ-श्रावक-धर्म, साधुधर्म आदि उच्च आध्यात्मिक भूमिका तक पहुंचने के लिए ज्ञान-दर्शन-चारित्रात्मक योग-साधन का सुन्दर क्रम बता कर आत्मा को परमात्मरूप बनने के लिए धर्म शुक्लध्यान, इन्द्रिय-कषाय मनोविजय, समता, द्वादश अनुप्रेक्षा, चार भावना आदि का विशद विवेचन किया है। बीच-बीच में प्रतिपाद्य विषय को रोचक दृष्टान्तों से भली-भांति समझा कर वर्णन को सहज बोधगम्य बना दिया है। महाभारतकार व्यासजी के समान आचार्यश्री

ने योगशास्त्र के श्लोकों को प्राय: अनुष्टुपछन्दों से आबद्ध करके सरल प्रांजल और सुबोध शैली में योग का वर्णन किया है। प्रारम्भ में योग का माहात्म्य, उसकी गरिमा और उसकी साधना के फल और चमत्कारों का वर्णन इतना सजीव और सरस है कि हर जिज्ञासु साधक योगसाधना के लिए आकर्षित हो कर अपने बहुमूल्य जीवन को खपा देने और तदनुरूप जुट जाने के लिए उद्यत हो सकता है। सचमुच योगशास्त्र समुद्र की तरह अर्थ-गम्भीर है, हिमाचल की तरह आत्मा की सुरक्षा के लिए सजग प्रहरी है, अध्यात्मोपनिषद् है, आत्मविज्ञान का अक्षय भंडार है, आत्म-गुणरूपी धन की अलौकिक निधि-मंजूषा है; साधकजीवन के लिए अध्यात्मज्ञान का विश्वकोश है। उच्चकोटि के आत्मसाक्षात्कार का मार्गदर्शक है; इसमें आत्म-साधना की कोई विधा नहीं छोड़ी। आत्मा के साथ बंधे हुए शरीर, मन एवं इन्द्रियों को साधने की प्रक्रियाओं का सांगोपांग विवेचन है। आचार्यश्री ने भाव, भाषा और संकलना में परम्परागत शैली की अपेक्षा प्राय: स्वानुभवयुक्त शैली अपना कर अपनी कलिकालसर्वज्ञता और अद्भुत प्रतिभा का परिचय दिया है। इसके बारह प्रकाश जीवन और जगत् के महासमुद्र में उठते हुए सांसारिक विषयों के तूफानों, उत्ताल अनिष्ट तरंगों, एवं भौतिक-गर्जनाओं से मुमुक्षु और आत्मार्थी साधक अथवा जिज्ञासु धर्मभीरु श्रावक की जीवननैया को टकराने से बचा कर यथार्थ दिशादर्शन करने वाले महाप्रकाशस्तम्भ हैं; जो उसे मोक्ष के तट तक पहुचने में सहायक होते हैं।

इस विशालकाय ग्रन्थराज की रचना में निमित्त बने थे—चौलुक्यवंशभूषण परमार्हत श्रीकुमारपाल नरेश। राजा योगविद्या के अतीव जिज्ञासु थे; उन्होंने तत्कालीन योगविद्या पर अनेक ग्रन्थों का पारायण किया था, किन्तु उनका मन:समाधान नहीं हुआ था। अत: आचार्यश्री ने नृप कुमारपाल के अत्यन्त अनुरोध के कारण इस योगशास्त्र की रचना की। इस ग्रन्थराज का प्रतिदिन स्वाध्याय करने से राजा जैनदृष्टि से योगविद्या का विशेषज्ञ हो गया था।

गुजरात को अहिंसा-प्रधान एवं धर्ममय बनाने में पूज्य आचार्यश्री का बहुत बड़ा हाथ रहा। कुमारपाल राजा आपका परमभक्त था, फिर भी आपने अपनी सुख-सुविधा के लिए उससे कोई याचना नहीं की। आपकी प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। काव्य, छन्द, अलंकार, व्याकरण, नीति, योग, इतिहास, कोश, न्याय, स्तोत्र, भक्ति, प्रमाण आदि कोई भी विषय नहीं छोड़ा, जिस पर आपने अपनी लेखनी न चलाई हो। योगशास्त्र स्वोपज्ञवृत्ति, द्वयाश्रय काव्य, अभिधानचिन्तामणि, प्रमाणमीमांसा, अनेकार्थसंग्रह, त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, सिद्धहैमशब्दानुशासन, लिंगानुशासन, छन्दोऽनुशासन, काव्यानुशासन, महादेव स्तोत्र, अन्ययोगव्यवच्छेदिका (स्तोत्र), अयोगव्यवच्छेदिका, वीतरागस्तोत्र प्राकृतव्याकरण, हैमधातु-पारायण आदि आपके रचे हुए विशालकाय ग्रन्थ हैं। इस तरह स्वपर-कल्याणसाधना के साथ-साथ आपकी साहित्य-साधना भी बेजोड़ रही है।

आपके गुरुदेव आचार्यश्री देवचन्द्रसूरि थे। एक बार विहार करते हुए आचार्यश्री धंधुका पधारे। उनकी अमृतवाणी सुनने के लिए पाहिनी (हेमचन्द्राचार्य की माता) भी अपने पुत्र चांगदेव (आचार्यश्री का गृहस्थावस्था का नाम) को ले कर उपाश्रय में आई हुई थी। आचार्य श्री देवचन्द्रसूरिजी ने चांगदेव की विलक्षण आकृति, लक्षण एवं चेष्टाएं देख कर भविष्य में उसके संघ के उद्धारक एवं सर्वशास्त्रपारंगत हो कर स्वपरकल्याणकारक होने का संकेत किया और उसकी माता से चांगदेव को सौंपने का विशेष अनुरोध किया। माता ने पहले तो आनाकानी की; लेकिन परम उपकार समझ कर चांगदेव को सहर्ष सौंप दिया। बाद में उसके पिता श्रीचाचिग सेठ (मोढ़वणिक्) आचार्यश्री के पास कर्णपुरी पहुंचे, आचार्यश्री के साथ बहुत तर्क-वितर्क के बाद उनसे प्रभावित हो कर चाचिग सेठ ने

चांगदेव को दीक्षा देने के लिए सहर्ष अपनी अनुमति दे दी। लगभग ८-९ वर्ष की उम्र में विक्रम संवत् ११५४ में चांगदेव को गुरुदेव ने दीक्षा दी, सोमदेव नाम रखा। गुरुदेव की कृपा से सोमदेव मुनि सर्व-शास्त्रों में पारंगत हुए। उनकी योग्यता देख कर आचार्यश्री देवचन्द्रसूरि ने संवत् ११६६ में सोमदेव मुनि को २१ वर्ष की उम्र में आचार्यपद दिया, और उनका नाम रखा—**हेमचन्द्राचार्य**।

आचार्य बनने के पश्चात् हेमचन्द्राचार्य ने गुजरात की राजनीति को एक नया मोड़ दिया। गुजरात के तत्कालीन राजा सिद्धराज जयसिंह का उत्तराधिकारी वे कुमारपाल को बनाना चाहते थे। इसके पीछे एक कारण यह था कि कुमारपाल आचार्यश्री के उपकारों से उपकृत था, दूसरे, वे गुजरात में अहिंसा के कार्य करवाना चाहते थे; तीसरे, गुजरात में जैनधर्म के सिद्धान्तों का जनता में प्रचार-प्रसार करना था। कुमारपाल के राजा बनने पर इन सब कार्यों में सफलता मिली। पूर्वोक्त ग्रन्थों का लेखन भी हुआ। कुमारपाल राजा को शैव से परमार्हत और धर्मपरायण बनाने का श्रेय आचार्यश्री को ही था।

आचार्यश्री ने समय-समय पर राजा कुमारपाल को धर्मप्रेरणाएँ दी हैं, और धर्म-विमुख मार्ग पर जाने से बचाया है। आचार्यश्री के विपुल साहित्य-सर्जन से प्रभावित हो कर राजा कुमारपाल एवं तत्कालीन विद्वान् श्रावकों व राजाओं ने इन्हें '**कलिकालसर्वज्ञ**' पद प्रदान किया।

आचार्यश्री की साहित्य-सर्जना उन्हें अमर बना गई है। मैं पूज्य आचार्यश्री की अनेक कृतियों पर मुग्ध हूं। मैंने आपके द्वारा रचित योगशास्त्र पढ़ा। मुझे इसकी विशाल स्वोपज्ञवृत्ति देख कर अन्तःस्फुरणा हुई कि क्यों नहीं, इस विशाल व्याख्यासहित **योगशास्त्र** का हिन्दी-अनुवाद प्रस्तुत किया जाय; जिससे आमजनता पू० आचार्यश्रीजी म० के अनुभवयुक्त वचनों से लाभान्वित हो सके। मेरे द्वारा किए गए हिन्दी-अनुवाद के साहस में विद्वद्वर्य समन्वयवादी विचारक मुनिश्री नेमिचन्द्रजी महाराज का सुयोग मिल गया। इस ग्रन्थ के संशोधन एवं सम्पादन में उनके सहयोग से मैं इस योगशास्त्र को हिन्दी-अनुवाद-सहित सुज्ञ पाठकों के समक्ष प्रस्तुत कर सका हूं। ग्रंथ के अनुवाद में दृष्टिदोष से, असावधानी से कोई सिद्धान्तविरुद्ध बात लिखी गई हो तो सुज्ञ पाठक मुझे क्षमा करेंगे। कोई महानुभाव मुझे इसमें भूल सुझायेंगे तो मैं उसे सहर्ष स्वीकार करूँगा।

आशा है, धर्मप्रेमी पाठक इस ग्रन्थराज से अधिकाधिक लाभ उठा कर आत्मविकास करेंगे; इसी शुभाकांक्षा के साथ

जैन उपाश्रय
भाणवड़ (जामनगर, सौराष्ट्र)
संवत् २०३० विजयादशमी
ता० २५-१०-७४

—मुनि पद्मविजय

प्रकाशकीय

महामहिम कलिकालसर्वज्ञ आचार्यश्री हेमचन्द्रसूरीश्वरजी म० द्वारा रचित महामूल्य योगशास्त्र का हिन्दी-अनुवाद धर्मप्रेमियों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए हमें अतीव हर्ष हो रहा है।

यद्यपि स्वोपज्ञवृत्ति-सहित योगशास्त्र का गुजराती में अनुवाद विभिन्न संस्थाओं की ओर से प्रकाशित हुआ है; हिन्दी में भी मूलश्लोक के अर्थसहित कई पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं, किन्तु मूलश्लोक और उन पर विस्तृत संस्कृत-व्याख्या के समग्र हिन्दी अनुवाद से सुसज्जित, शुद्ध सम्पादन एवं मुद्रण से समलंकृत यह महान् ग्रन्थ प्रथम ही होगा। इसका सम्पूर्ण हिन्दी-अनुवाद मुनिश्री पद्मविजयजी ने तीन साल के अनवरत कठोर परिश्रम से किया है। उनका यह बहुमूल्य प्रयास सचमुच जैनसाहित्य-सेवा में चार चाँद लगाने वाला है। उनके इस अदम्य पुरुषार्थ से जैनसमाज उपकृत रहेगा। इस विशालकाय ग्रन्थरत्न को सर्वाङ्ग-सुन्दर बनाने में पण्डितप्रवर, अनुभवी मुनिश्री नेमिचन्द्रजी म० का पूर्ण सहयोग मिला है; जिन्होंने अत्यन्त परिश्रम से इसका आद्योपान्त संशोधन-सम्पादन किया है। हम उनके इस उपकार के लिए अतीव कृतज्ञ हैं और भविष्य में भी उनसे साहित्यसेवा की आशा करते हैं।

श्री विष्णु प्रिंटिंग प्रेस के मालिक, श्री रामनारायणजी मेड़तवाल के भी हम अत्यन्त कृतज्ञ हैं; जिन्होंने मुद्रणसम्बन्धी कार्य को शीघ्र एवं सुन्दरता के साथ सम्पन्न किया। उन सभी उदार धर्म-प्रेमियों को भी हम बहुत धन्यवाद देते हैं, जिन्होंने (उनकी सूची अन्यत्र दी गई है) ज्ञानाराधना समझ कर योगशास्त्र के प्रकाशनव्यय में अर्थसहयोग दिया है। योगशास्त्र के प्रकाशन में ज्ञात-अज्ञात जिन-जिन भाइयों का सहयोग मिला है, उसके लिए धन्यवाद! खासतौर से किशनलालजी, रामधनजी तथा श्री अशोककुमार ने इसकी प्रेसकॉपी करने में जो सहयोग दिया है, उसे भुलाया नहीं जा सकता।

आशा है, सुज्ञ धर्मप्रेमी स्वाध्यायीजन इस ग्रन्थराज से लाभ उठायेंगे, अपना जीवन सफल बनायेंगे, और आत्मकल्याण के पथ पर आगे बढ़ेंगे तो हम अपना प्रयास सार्थक समझेंगे। इसी मंगल-कामना के साथ···

सं० २०३० दीपावलीपर्व
भ० महावीर का २५०० वां
पवित्र निर्वाण दिवस

निवेदक
मंत्री, श्रीनिर्ग्रन्थसाहित्य प्रकाशनसंघ
दिल्ली-६

समर्पण

जिन्होंने अपना सर्वस्व जीवन गुरु के कार्यों में अर्पित कर दिया, अपना नामोनिशान
तक भी न रखा, जिनके मन में अपने गुरु के प्रति सदा समर्पणभाव था,
रोम-रोम में गुरु का रटन था, अपने उन आराध्य गुरुदेव, भारतदिवाकर,
पंजाबकेसरी, जैनाचार्य श्रीमद्‌विजयवल्लभसूरीश्वरजी महाराज
के चरणों में अनन्यसेवक की तरह (चित्र में) विराजमान
एवं उनके ही यथार्थरूप में पट्टप्रभाकर, उन
मरुधरदेशोद्धारक श्रीमद्‌विजयललितसूरीश्वरजी
महाराज साहब के पुनीत कर-कमलों में
सादर भक्तिभावपूर्वक स्मृतिरूप
यह 'योगशास्त्र' समर्पित
करता हूँ।

—चरणरज पद्मविजय

योगशास्त्र के अर्थ-सहयोगी

योगशास्त्र कलिकालसर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य-रचित एक आध्यात्मिक ग्रन्थरत्न है। इसके प्रकाशन में ज्ञानाराधना समझ कर जिन-जिन उदार धर्मप्रेमी सहानुभावों ने अर्थ-सहयोग दिया है, उन्हें श्रीनिर्ग्रन्थसाहित्य-प्रकाशनसंघ की ओर से धन्यवाद ! उनकी शुभ नामावली इस प्रकार है—

३०००) राजकोट जैन तपागच्छसंघ
१८००) जैन पाठशाला, जामनगर
१५००) भाणवड़ जै० श्वे० मू०पू० तपागच्छट्रस्ट
१०००) आत्मानन्द जैन उपाश्रय, बड़ौदा
५०१) स्व० भाणजीभाई धरमशी शापरिया, बम्बई
१०००) भाणवड़ जैन श्री संघ की ओर से
३०१) आत्मवल्लभ जैन उपाश्रय, बड़ौदा
२५१) वीसा श्रीमाली ओ० जैन० उपा० ट्रस्ट, जामनगर
५२०) चौसठ पहर पौषध वाले आदि, बड़ौदा
२५१) बड़ोदरा महिला संघ
२५१) नरोत्तम हंसराज खजूरिया, राजकोट
२५१) मेहता प्रागजी रतनशी, भाणवड़
२५१) देवसूर जैनसंघ, डभोई (मुनिराजश्री निरंजनविजयजी के उपदेश से)
२०१) जैन श्वे० तपा० संघ ट्रस्ट, पोरबंदर
२०१) चंपालाल केसरीमल संघवी, बड़ौदा
२०१) उत्तमचंद शुकनराज, बड़ौदा
२०१) मेहता मणिलाल लक्ष्मीचंद, भाणवड़
१५१) जेठमल फोजमलजी, बड़ौदा
१५१) भीखूमल जवानमलजी, बड़ौदा
१५१) अमृतलाल मूलचंद जसाणी, राजकोट
१५१) जयन्तीलाल देवजी, भाणवड़
१५१) जड़ावबाई जेसंग, गुन्दावाला (ह० मनसुखलाल जेसंग)
५०) जेसंग पानाचंद मेहता, गुन्दावाला
१५१) मेहता बृजलाल नानजी, भाणवड़
१२५) सागरगच्छ उपाश्रय, बड़ौदा
१२५) दुर्लभजी शामजी वीराणी, राजकोट
१०१) मेहता लक्ष्मीचंद पानाचंद,····
५१) पाटलिया शान्तिलाल मोतीचंद···
१०१) रमणलाल चंदुलाल झवेरी, बड़ौदा
१०१) शाह इलेक्ट्रिक स्टोर, बड़ौदा
१०१) रंगीनदास छगनलाल, बड़ौदा
१०१) गोरधनभाई, बड़ौदा
१०१) अंटोलदास गोरधनदास, बड़ौदा
१०१) शाह प्रतापचंद वक्ताजी, बड़ौदा
१०१) शान्तिलाल छोटालाल, बड़ौदा
१०१) मासररोड़ महिलासंघ, बड़ौदा
१०१) ताराचंद दीपचंद टोलिया, राजकोट
१०१) दोशी जेठालाल पानाचंद, राजकोट
१०१) चुन्नीलाल न्यायचंद, पटणी, राजकोट
१०१ मेहता लीलाधर वेलजी, ,,
१०१) विनोदराय बाबूलाल दोशी, ,,
१०१) शाह जेठालाल लक्ष्मीचंद जामखंभालिया
१०१) मेहता प्रेमचंद कचराणी, भाणवड़
१०१) संघवी माणेकचंद माधवजी, भाणवड़

१०१) फोफरिया पदमशी भीमजी, भाणवड़
६५) वर्णठरा संघ की शेष रकम,
५१) हस्तीमल आयदानजी, बड़ौदा
५१) भोगीलाल मोहनलाल, बड़ौदा
५१) रंगीनभाई गोविन्दजी शाह, बड़ौदा
५१) जयंतीलाल ओधवजी मेहता, बड़ौदा
५१) उमाकान्त चदुलाल सरैया, बड़ौदा
५१) रसिकलाल छगनलाल शाह, बड़ौदा
५१) जयंतीलाल नाथालाल कोठारी, बड़ौदा
५१) सेवकलाल मगनलाल, बड़ौदा
५१) पोकराज फोजमलजी, बड़ौदा
५१) एम्बेसडर होटल वाले, बड़ौदा
५१) रतिलाल चिमनलाल कोठारी, बड़ौदा
५१) शाह दलीचंद फूलचंद बड़ौदा
५१) सोमचंद नाथालाल, बड़ौदा
५१) शाह छोगमल खुमाजी, मद्रास
५१) मुथा धर्मचन्द शिवराज, मियाणा
५१) अमृतलाल हमराज खजुरिया, राजकोट
५१) शाह प्रभुदास करसजी, राजकोट
५१) मेहता ट्रेडर्स, ह० निरंजन ली. मेहता, राजकोट
५१) डाह्यालाल गणेशजी, राजकोट
५१) मोहनलाल नागरदास, ह० पुत्र, राजकोट
५१) कपूरबहन की स्मृति में, ह० उनके पुत्र, राजकोट
५१) कोठारी जेठालाल नानजी के स्मरणार्थ ह० नवीन जे० कोठारी, राजकोट
५१) शान्तिलाल खीमचंद जसाणी, राजकोट
५१) अमृतलाल [illegible]चंद, राजकोट
५१) परसोतम चतुर्भुज मेहता, राजकोट
५१) राजेन्द्र माडर्न स्टोर, राजकोट
५१) शिवलाल भूधरभाई, राजकोट
५१) छगनलाल लालचंद, राजकोट
५१) अमीचंद कालीदास शेठ ह० वजुभाई, राजकोट
५१) शेठ विनोदलाल कीरचंद, राजकोट
५१) देवराज हीरजी, जामखंभालिया
५१) एक सद्गृहस्थ की ओर से, जामखंभालिया
५१) नाथालाल देवचन्द शेठ, भाणवड
५१) अमृतलाल नेमचंद पारेख, ,,
५१) रामजी हमराज महेता ,,
५१) महेता देवजी हरखचंदजी ,,
५१) महेता माधवजी हीरजी ,,
५१) शेठ जेचंद माणकचंद ,,
५१) खुशालचंद लीलाधर मेहता जामभाणवड़
५१) स्व० रेवाकुंवर ध०प० छगनलाल केशवजी मेहता जामभाणवड़
१०१) दीवालीबेन ध०प० धरमदास भगवानदास बारिया पोरबंदर
५१) लखमीदास वमनजी, ह० [illegible]बेन पोरबंदर
५१) विपिनचंद्र माधवदास कोटकोरिया की मातुश्री के स्मरणार्थ पोरबंदर
५१) कावालाल करसजी ,,
५१) जितेन्द्र भी तथा रजत आर० ,,
५१) सेठ धीरजलाल तथा शशिकान्तभाई, पोरबंदर
५१) मणिबहन हीराचन्द तथा छोटालाल हीराचंद
५१) बोरा कानजी दाह्याभाई, भाणवड़
५१) महेता शामजी हरखचंद ,,
५१) एक सद्गृहस्थ की ओर से ,,
१०१) शाह ताराचंद खीमजी, मागरोल
५१) कान्तिलाल लीलाधर मेहता जामभाणवड़

उपर्युक्त सूची बहुत ही सावधानी से लिखी गई है, तथापि इसमें किसी धर्मप्रेमी सहयोगी का नाम लिखना रह गया हो, या रकम न्यूनाधिक अंकित की गई हो तो वे मुझे क्षमा करें।

निवेदक

—मंत्री, श्री निर्ग्रन्थ साहित्य प्रकाशन संघ

अनुक्रमणिका

योग का माहात्म्य

योगः सर्वविपद्वल्ली-विताने परशुः शितः ।
अमूलमंत्रतंत्रं च, कार्मणं निर्वृतिश्रियः ॥५॥

भूयांसोऽपि हि पाप्मानः प्रलयं यान्ति योगतः ।
चण्डवातात् घनघना घनाघनघटा इव ॥६॥

क्षिणोति योगः पापानि, चिरकालार्जितान्यपि ।
प्रचितानि यथैधांसि क्षणादेवाशुशुक्षणिः ॥७॥

कफविप्रुण्मलामर्श-सर्वौषधि-महर्द्धयः ।
सम्भिन्नस्रोतोलब्धिश्च, योगं ताण्डवडम्बरम् ॥८॥

चारणाशीविषावधि-मनःपर्यायसम्पदः ।
योगकल्पद्रुमस्यैताः विकासिकुसुमश्रियः ॥९॥

अहो योगस्य माहात्म्यं, प्राज्यं साम्राज्यमुद्वहन् ।
अवाप केवलज्ञानं भरतो भरताधिपः ॥१०॥

ब्रह्म-स्त्री - भ्रूण - गोघात-पातकान्नरकातिथेः ।
दृढ़प्रहारिप्रभृतेर्योगो हस्तावलम्बनम् ॥१२॥

चतुर्वर्गेऽग्रणीर्मोक्षो, योगस्तस्य च कारणम् ।
ज्ञान-श्रद्धान चारित्ररूपं रत्नत्रयं च सः ॥१५॥

अर्थ– समस्त विपत्तिरूपी लताओं को काटने के लिये योग तीखी धार वाला कुठार है तथा मोक्षलक्ष्मी को वश मे करने के लिए यह जड़ी-बूटी, मन्त्र-तन्त्र से रहित कार्मण वशीकरण है। प्रचण्ड वायु से जैसे घने बादलो की श्रेणी बिखर जाती है, वैसे ही योग के प्रभाव से बहुत से पाप भी नष्ट हो जाते हैं। जैसे चिरकाल से संचित ईंधन को प्रचण्ड आग क्षणभर में जला डालती है, वैसे ही अनेक भवों के चिरसंचित पापों को भी योग क्षणभर में क्षय कर देता है। योगी को कफ, श्लेष्म, विष्ठा, स्पर्श आदि सभी औषधिरूप महासम्पदाएँ तथा एक इन्द्रिय से सभी इन्द्रिय विषयों का ज्ञान हो जाने की शक्ति प्राप्त होना योगाभ्यास का ही चमत्कार है। इसी प्रकार चारणविद्या आशीविषलब्धि, अवधिज्ञान और मनःपर्यायज्ञान की सम्पदाएँ; योगरूपी कल्पवृक्ष की विकसित पुष्पश्री हैं। सचमुच, योग का कितना माहात्म्य है कि विशाल साम्राज्य का दायित्व निभाते हुए भी भरतक्षेत्राधिपति भरतचक्रवर्ती ने केवलज्ञान प्राप्त कर लिया। ब्राह्मण, स्त्री, गर्भहत्या व गोहत्या के महापाप करने से नरक के अतिथि के समान दृढ़प्रहारी आदि को योग का ही आलम्बन था। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, इन चारों पुरुषार्थों में मोक्ष अग्रणी है। और उस मोक्ष की प्राप्ति का कारण योग है, जो सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप रत्नत्रयमय है।

योगशास्त्र

* संस्कृत में विस्तृत व्याख्या
* प्रसंगानुसार रोचक दृष्टान्त
* हिन्दी भाषा में सरस अनुवाद

ॐ अर्हते नमः

श्री आत्म-वल्लभ-सद्‌गुरुभ्यो नमः

कलिकालसर्वज्ञ—श्रीहेमचन्द्राचार्य-प्रणीत

योगशास्त्र

स्वोपज्ञविवरण-सहित

१ : प्रथम प्रकाश

नमो दुर्वाररागादि-वैरिवार-निवारिणे ।
अर्हते योगिनाथाय, महावीराय तायिने ॥१॥

अर्थ

अत्यन्त कठिनता से दूर किये जा सकने वाले रागद्वेषादि शत्रुगण का निवारण करने वाले अर्हन्त, योगियों के स्वामी और जगत् के जीवों की रक्षा करने वाले श्री श्रमण भगवान् महावीर को मेरा नमस्कार हो ।

प्रणम्य सिद्धाद्‌भुत-योगसम्पदे,
श्रीवीरनाथाय, विमुक्तिशालिने ।
स्वयोग – शास्त्रार्थ–विशेषनिर्णयो,
भव्यावबोधाय मया विधास्यते ॥१॥

अर्थ

सिद्ध अद्‌भुत योग-सम्पदाओं से युक्त एवं रागादि दोषों से विमुक्त श्रीमहावीर स्वामी को नमस्कार करके भव्यजीवों को बोध देने के हेतु स्वरचित योगशास्त्र का विशेष अर्थों से युक्त विवरण (व्याख्या) प्रस्तुत करूंगा ।

आशय

कलिकालसर्वज्ञ श्रीमद् हेमचन्द्राचार्य इस योगशास्त्र की रचना करके इसी पर स्वोपज्ञ व्याख्या करने का प्रयोजन मंगलाचरण के साथ बताते हैं—'स्वयोगशास्त्रार्थ-विशेषनिर्णयो भव्यावबोधाय मया विधास्यते ; अर्थात्, मैं अपने द्वारा रचित योगशास्त्र के वास्तविक अर्थ का बोध भव्य जीवों को देने के

लिए यह व्याख्या (टीका) लिख रहा हूँ।' ताकि कोई भी व्यक्ति अपनी बुद्धि से इसका मनमाना अर्थ न कर बैठे और जिज्ञासुजनों को न बहका दे। इसी आशय से प्रेरित हो कर श्री हेमचन्द्राचार्य ने अपने ग्रन्थ पर स्वयं व्याख्या लिखी है।

व्याख्या

महावीर—योगशास्त्र के पहले श्लोक में जो 'महावीर' पद है, वह विशेष्य है। महावीर का अर्थ होता है—वीरों से भी बढ़कर वीर। युद्ध में हजारों सुभटों को जीत लेने वाला योद्धा वास्तव में वीर नहीं कहलाता। वीर सच्चे माने में वही कहलाता है—'जो विशेषरूप से कर्मशत्रुओं को नष्ट (पराजित) करता है। अथवा कर्मों का नाश करके जो तपश्चर्या में वीर्यवान—शक्ति और उत्साह से युक्त—हो, वही वीर कहलाता है। लक्षण अथवा निरुक्ति से वीरशब्द की यह परिभाषा होती है। परन्तु भगवान् वर्द्धमान तो अन्य वीरों की अपेक्षा भी अधिक वीर थे। भगवान् महावीर के रूप में कैसे प्रसिद्ध हुए ? इस विषय में हम उनके जीवन की एक विशेष घटना यहाँ देते हैं—

इन्द्र द्वारा प्रदत्त महावीरपद

जिस समय शिशु (भगवान्) महावीर का जन्ममहोत्सव मनाया जा रहा था, उस समय इन्द्र के मन में शंका पैदा हुई कि यह लघुकाय शिशु वर्द्धमान अभिषेक के समय शरीर पर डाले जाने वाले जलभार को कैसे सहन करेंगे ? शिशु वर्द्धमान ने शरीरबल से आत्मबल बढ़कर है, इस बात को प्रत्यक्ष समझा कर इन्द्र की पूर्वोक्त शंका को दूर करने की दृष्टि से अपने दाहिने पैर के अंगूठे से सुमेरुपर्वत का ज्यों ही स्पर्श किया, त्यों ही मेरुपर्वत का शिखर और भूतल कम्पायमान होने लगे, समुद्र भी क्षुब्ध हो उठा ; सारा ब्रह्माण्ड आतंकित हो उठा। उसी समय इन्द्र ने अवधिज्ञान के उपयोग द्वारा यह जान लिया कि यह तो प्रभु के आत्मबल के अतिशय की अभिव्यक्ति है। इससे इन्द्र ने प्रभावित हो कर उसी समय भगवान् वर्द्धमान को महावीरपद से विभूषित किया।

महावीर नाम प्राप्त होने के अन्य कारण

अनन्त-अनन्त जन्मों के स्निग्ध एवं गांठ के रूप में बंधे हुए कर्मों को जड़मूल से उखाड़ने का अपार सामर्थ्य और पुरुषार्थ करना भी महावीरपद को सार्थक करने का एक कारण है। उनके माता-पिता ने उनका नाम वर्द्धमान रखा था। अन्य लोगों ने 'श्रमण' और 'देवार्य, नाम से भी उन्हें सम्बोधित किया।

इस प्रकार यहाँ महावीर को नमन करने का प्रयोजन बताया गया है।

दुर्वाररागादि-वैरिवार निवारिणे, अर्हते, योगिनाथाय, तायिने—ये चारों विशेषण तीर्थंकर महावीर के सुप्रसिद्ध चार अतिशयों को प्रकट करते हैं। वे चार अतिशय इस प्रकार हैं—(१) अपायापगमातिशय, (२) पूजातिशय, (३) ज्ञानातिशय और (४) वचनातिशय। अपाय कहते हैं—विघ्न को, अन्तराय को। राग, द्वेष, काम, क्रोध आदि वीतरागता की साधना में अन्तराय हैं। इन अन्तरायों के रूप में रागादि-शत्रुओं को दूर करने से भगवान् में आत्मस्वरूप अपायापगमातिशय के रूप में प्रगट होता है। इस कारण भगवान् महावीर का प्रथम 'दुर्वाररागादि-वैरिवार-निवारिणे' विशेषण सार्थक है।

रागद्वेषादि शत्रुओं का क्षय कर प्रभु ने अरिहन्तपद प्राप्त किया; इसी कारण वे समस्त देवों, असुरों और मानवों के पूजनीय (अर्हत्) बने। अतः द्वितीय 'अर्हते' विशेषण से भगवान् का पूजातिशय परिलक्षित होता है।

निर्मल केवलज्ञान के सामर्थ्य से लोकालोक के स्वभाव एवं प्राणिमात्र के हितों के योग के पूर्णज्ञाता होने से भगवान् अवधिज्ञानी आदि योगियों के नाथ सिद्ध होते हैं। अतः 'योगिनाथाय' विशेषण उनके ज्ञानातिशय को प्रगट करता है।

भगवान् जगत् के समस्त जीवों की रक्षा के लिए अपना अमृतमय प्रवचन देते हैं, और इससे विश्व के सभी प्राणियों को अभयदान मिल जाता है; इस रूप में भगवान् का वचनातिशय प्रतीत होता है। अतः उनका चौथा तायिने (त्राता) विशेषण भी सार्थक है। तीर्थंकर महावीर के प्रवचन को सभी प्राणी अपनी-अपनी भाषा में समझ लेते है। यही कारण है कि अपने सर्वजीवस्पर्शी प्रवचन (धर्मोपदेश) द्वारा भगवान् जगत के जीवों को जन्म, जरा, मृत्यु आदि से बचने का उपाय बता कर वस्तुतः उनकी आत्मरक्षा करते हैं। अतः वे सारे विश्व के वास्तविक त्राता, पालक और रक्षक हैं। अपने बच्चों का पालन और रक्षण तो सिंह, बाघ आदि भी करते हैं, परन्तु वह पालन मोहगर्भित होता है, भगवान् के द्वारा सर्वजीवों का पालन-रक्षण मोहरहित, निःस्वार्थभाव से होता है।

इस प्रकार चारों अतिशयों से युक्त बता कर भगवान् महावीर की परमार्थ-स्तुति की है।

अब भगवान् महावीर की योगगर्भित स्तुति करते हैं—

पन्नगे च सुरेन्द्रे च कौशिके पादसंस्पृशि।
निर्विशेषमनस्काय श्रीवीरस्वामिने नमः ॥२॥

अर्थ

भक्तिभाव से चरणस्पर्श करने वाले सुरेन्द्र (कौशिक) और दंश देने (डसने) की बुद्धि से चरणस्पर्श करने वाले कौशिकसर्प, दोनों पर समान मन (समभाव) रखने वाले श्री महावीर स्वामी को मेरा नमस्कार हो!

व्याख्या

चण्डकौशिक का पूर्वजन्म में कौशिक नाम था। उसे भ० महावीर ने बोध देने के समय कहा था— चंडकौशिक बोध प्राप्त कर, जाग्रत हो।' इन्द्र का दूसरा नाम भी कौशिक है। कौशिक सर्प ने डसने की दृष्टि से भगवान के चरणों का स्पर्श किया था और कौशिक इन्द्र ने भक्तिभाव से प्रेरित हो कर चरणस्पर्श किया था। भगवान् का न तो चंडकौशिक सर्प के प्रति द्वेष था, और न इन्द्र के प्रति राग; दोनों के प्रति भगवान् रागद्वेषरहित एवं समभावी थे। ऐसे समभावी वीर प्रभु को मेरा नमस्कार हो। भ० महावीर के समभाव को उनके जीवन की घटनाओं से समझाते हैं—

विविध परिस्थितियों में महावीर की समता

पवित्रात्मा महावीरदेव पूर्वजन्म में उपार्जित तीर्थंकर नामकर्म के कारण प्राणत नामक देवलोक के पुष्पोत्तर विमान से च्यवन कर सरोवर में राजहंस की तरह सिद्धार्थ राजा के यहाँ तीन ज्ञान से युक्त हो कर आये और महारानी त्रिशलादेवी की कुक्षि में उत्पन्न हुए।

उस समय उत्तम गर्भ के प्रभाव से त्रिशलादेवी ने (१) सिंह, (२) हाथी, (३) वृषभ, (४) अभिषेकयुक्त लक्ष्मीदेवी, (५) पुष्पमाला, (६) चन्द्र, (७) सूर्य, (८) इन्द्रध्वजा, (९) पूर्णकुंभ, (१०) पद्मसरोवर, (११) समुद्र, (१२) देवविमान, (१३) रत्नराशि और (१४) निर्धूम अग्नि; इन १४ महास्वप्नों को क्रमशः देखा। उसके बाद उत्तम योगों से युक्त दिन को तीन जगत् में उद्योत करने वाले,

देव और दानव के आसन को कंपित करने वाले व नारकी व जीवों को भी क्षणभर सुखमय बनाने वाले, प्रभु का सुखकारक जन्म हुआ।

उस समय छप्पन दिक्कुमारियों ने सूतिकर्म किया। तत्पश्चात् सौधर्मेन्द्र जन्माभिषेक करने के लिये मेरुपर्वत के शिखर पर ले गए। जगद्गुरु प्रभु को गोद में ले कर वे सिंहासन पर बैठे। उस समय भक्ति से कोमलहृदय इन्द्र को शंका हुई कि इतने पानी का भार स्वामी किस तरह सहन कर सकेंगे ? इस शंका को दूर करने के लिये प्रभु ने दाहिने पैर के अंगूठे से सहजभाव से ज्यों ही मेरुपर्वत को दबाया, त्यों ही उसके शिखर इस प्रकार झुकने लगे, मानो प्रभु को नमस्कार करते हों। अथवा वे सब पर्वत इस तरह चलायमान हो गए, मानो भगवान् के पास आना चाहते हों। समुद्र इस प्रकार उछलने लगा, मानो स्नात्र-महोत्सव करना चाहता हो। पृथ्वी एकाएक ऐसे कांपने लगी, मानो नृत्य करने की तैयारी कर रही हो।

'अरे, यह क्या हुआ ?' यों विचार करते ही इन्द्र ने अवधिज्ञान प्रयुक्त करके भगवान् के शरीरबल की अपेक्षा आत्मबल का सामर्थ्य जान कर प्रभु से कहा—"स्वामिन् ! मुझ-सा मामूली व्यक्ति आपके इस महान् प्रभाव को कैसे को जान सकता है ? अतः मैंने जो विपरीत विचार किया उसके लिये क्षमा चाहता हूँ।" यों कह कर उसने प्रभु को नमस्कार किया। फिर आनन्दपूर्वक बाजे बजने लगे। इधर सभी इन्द्रों ने मिल कर पवित्र तीर्थों के सुगन्धित जल से प्रभु का अभिषेक-महोत्सव किया। उस अभिषेक-जल को देवों ने, असुरों ने तथा भवनपतिदेवों ने बार-बार शिरोधार्य किया और सभी पर उसे छींटा। प्रभु के स्नानजल से स्पृष्ट मिट्टी भी वन्दनीय बन गई; क्योंकि महापुरुषों की संगति से छोटा व्यक्ति भी गौरव प्राप्त कर लेता है। तत्पश्चात् सौधमेन्द्र ने प्रभु को ईशानेन्द्र की गोद में बिठा कर स्नान कराया और उनकी अष्टप्रकारी पूजा करके आरती उतार कर स्तुति की।

हे (भावी) अरिहन्त भगवन् ! स्वयंबुद्ध, ब्रह्मा, तीर्थंकर, धर्म के आदि करने वाले, सर्वपुरुषों में उत्तम आपको नमस्कार हो। हे लोक-प्रकाशक, लोकोद्योत करने वाले, लोक में उत्तम, लोक के स्वामी, विश्व के जीवों का हित करने वाले, आपको नमस्कार हो। पुरुषों में श्रेष्ठ, पुंडरीक कमल के समान सुख देने वाले, पुरुषों में सिंह के समान, पुरुषों में अद्वितीय गंधहस्ती के समान प्रभो ! आपको नमस्कार हो। श्रुतज्ञानरूपी चक्षु के दाता। भयरहित करने वाले ! सम्यक्त्व देने वाले, मोक्षमार्ग बताने वाले, धर्म को देने वाले, धर्म का उपदेश देने वाले, भयभीत जीवों को शरण देने वाले आपको नमस्कार हो। हे धर्म के सारथी ! धर्म की प्रेरणा देने वाले, धर्म के श्रेष्ठ चक्रवर्ती, छद्मस्थता से रहित, सम्यग्-ज्ञान-दर्शनधारक, रागादि शत्रुवर्गों को जीतने वाले और दूसरे जीवों को जिताने वाले, संसाररूपी समुद्र से तरने वाले और अन्य जीवों को तारने वाले, स्वयं कर्मपाश से मुक्त और दूसरों को मुक्त करने वाले, स्वयं सब पदार्थों को जानने वाले और दूसरों को बताने वाले आपको नमस्कार हो। हे सर्वज्ञ ! हे स्वामिन् ! सब पदार्थों को देखने वाले, अतिशय के अधिकारी, आठ कर्मों को चूर्ण करने वाले, हे भगवन् ! आपको नमस्कार हो। उत्तम पुण्यबीज बोने के लिये क्षेत्ररूप, उत्तमपात्र, तीर्थ, परमात्मा, स्याद्वाद के प्ररूपक, वीतरागमुने ! आपको मेरा नमस्कार हो। पूज्यों के भी पूज्य, महापुरुषों से भी महान्, आचार्यों के भी आचार्य, बड़ों के भी बड़े, हे भगवन् ! आपको नमस्कार हो। केवलज्ञान से विश्व में व्याप्त, योगियों के स्वामी, योग के धारक, स्वयं पवित्र और दूसरों को पवित्र करने वाले, अनुत्तर श्रेष्ठपुरुष ! आपको नमस्कार हो। योगाचार्य, कर्ममल को निर्मल करने वाले, श्रेष्ठ, अग्रगण्य, वाचस्पति, मंगलस्वरूप हे

भगवन् ! आपको नमस्कार हो। सबसे प्रथम उदय हुए, अपूर्ववीर ! सूर्यस्तुति (ॐ भूर्भुवः स्वः) के सदृश वचनों से स्तुति करने योग्य, हे प्रभु आपको नमस्कार हो। सर्व-जीवों के हितकारी, सर्व-अर्थ के साधक, अमरत्व को प्राप्त, उदीयमान सूर्य, ब्रह्मचर्य के धारक, संसारसमुद्र से पार उतरने वाले, कौशल्य-वान, निर्विकारी, विश्वरक्षक, वज्रऋषभनाराचसंहनन से युक्त शरीर वाले, यथार्थ वस्तुतत्त्व के दर्शक ! आपको नमस्कार हो। त्रिकालज्ञ, जिनेन्द्र, स्वयम्भु, ज्ञान, बल, वीर्य तेज, शक्ति और ऐश्वर्य से सम्पन्न, प्रभो ! आपको नमस्कार हो। धर्म के आदिपुरुष, परमेष्ठी, महादेव, ज्योतिस्तत्त्वस्वरूप, हे स्वामिन् ! आपको नमस्कार हो। सिद्धार्थ राजा के कुलरूपी समुद्र के लिये चन्द्रमा के समान, तीनों लोकों के स्वामी ! भगवान् श्री महावीर प्रभो ! आपको नमस्कार हो।

इन्द्र ने इस प्रकार के स्तुतिपाठ से नमस्कार किया और प्रभु को ले कर वापिस उन्हें उनकी माता को सौंपा। प्रभु के माता-पिता ने अपने वंश की वृद्धि होने से उसके अनुरूप प्रभु का नाम 'वर्धमान' रखा। देवों और असुरों में भगवान् की सेवा-भक्ति करने की होड़ लग गई। अमृतवृष्टि करने वाले पीयूषवर्षी नेत्रों से पृथ्वीतल को सिंचन करते हुए, एक हजार आठ लक्षण वाले स्वाभाविक गुणों से वृद्धि को प्राप्त कर क्रमशः वय से भी भगवान् बढ़ने लगे।

एक बार अद्वितीय बलशाली वर्धमान बाल्यावस्था के कारण समवयस्क राजपुत्रों के साथ खेल खेलने गये। उस समय इन्द्र ने अवधिज्ञान से जान कर देवसभा में प्रशंसा की कि "सारे जगत् में महावीर प्रभु से बढ़कर कोई वीर नहीं है।" एक ईर्ष्यालु देवता इस बात से क्षुब्ध हो उठा और उसने वर्धमान को विचलित करने का बीड़ा उठाया। वह सीधा वहां आ पहुंचा, जहां बालक वर्धमान अपने हमजोली लड़कों के साथ आमलकी क्रीड़ा खेल रहे थे। देव ने कपटपूर्वक सर्प का रूप बनाया और वह पेड़ से लिपट गया। उस भयंकर सर्प को देख कर सभी राजकुमार डर कर इधर-उधर भाग गये। परन्तु वर्धमान ने हँसते-हँसते रस्सी की तरह साँप को पकड़ कर जमीन पर फेंक दिया। शर्मिंदा बने हुए राजकुमार फिर खेलने आये। देव ने अब कुमार का रूप धारण किया और फिर वहाँ आ पहुंचा। सभी बालक वृक्ष पर चढ़ गये। वर्धमान तो पहले से ही वृक्ष की चोटी पर चढ़ गये थे। लोक के अग्रभाग (मोक्ष) पर जाने वाले के लिये वृक्ष के शिखर पर चढ़ना कौन बड़ी बात थी ! वहाँ पहले से बैठे हुए वर्धमान शिखर पर ऐसे शोभायमान हो रहे थे, जैसे मेरुपर्वत के शिखर पर सूर्य सुशोभित होता है। जब कि दूसरे राजकुमार डाली पर लटके हुए बन्दर के समान दिखाई देते थे। बाद में वर्धमान ने खेल में ऐसी शर्त रखी कि जो कोई जीतेगा वह हारने वाले की पीठ पर चढ़ेगा। विजित वर्धमान राजकुमार भी घुड़सवार की तरह राजकुमारों की पीठ पर सवार हुए। क्रमशः महापराक्रमी विजयी वर्धमान देव की पीठ पर चढ़ बैठे। वह दुष्टबुद्धि देव पर्वतों को भी मात करने वाले विकराल वैताल का रूप बना कर ऊँचा होने लगा, पाताल के सदृश मुंह बना कर सर्प के समान जीभ दिखाने लगा। और उसके मस्तकरूपी पर्वत पर पीले और लम्बे बाल दावानल के समान प्रतीत होने लगे। उसकी अतिभयंकर दाढ़ें करवत के समान प्रतीत होने लगीं। महाघोर पर्वत की गुफा के समान उसके नासाछिद्र दिखाई देने लगे। भृकुटि चढ़ाने से भयंकर भौंहे दो नागनियों-की-सी मालूम होने लगी। इस तरह ताड़ के समान बढ़ता हुआ वह देव रुका नहीं; तब महाबली प्रभु ने उसकी पीठ पर मुक्का मार कर उसे बौना बना दिया। इस प्रकार इन्द्र के द्वारा वर्णित वर्द्धमान के धैर्य का प्रत्यक्ष अनु-भव करके देव अपने मूल स्वरूप में प्रकट हुआ और प्रभु को नमस्कार करके अपने स्थान पर वापिस लौट गया।

एक दिन वर्धमान महावीर के माता-पिता उन्हें विद्यारम्भ-उत्सव करके पाठशाला भेजने की तैयारी कर रहे थे। इन्द्र ने यह जान कर विचार किया—'क्या सर्वज्ञ का भी पाठशाला का विद्यार्थी बनना है ?'' यों सोच कर इन्द्र स्वयं वहां ब्राह्मण के रूप में आया और वर्धमान को उपाध्याय (अध्यापक) के आसन पर बिठा कर स्वयं नमस्कार करके उसने प्रभु से शब्दशास्त्र पर कुछ कहने की प्रार्थना की। वाग्मी एवं सर्वशास्त्रज्ञ महावीर ने व्याकरणशास्त्र पर विवेचन किया। भगवान् महावीर के द्वारा इन्द्र को इस प्रकार शब्दानुशासन के कहने से उपाध्याय तथा अन्य लोगों में यह 'ऐन्द्र व्याकरण' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

दीक्षा की उत्कंठा होने पर भी प्रभु अट्ठाइस वर्ष तक माता-पिता के आग्रह से विरक्त-से हो कर गृहवास में रहे। माता-पिता का स्वर्गवास होने पर प्रभु ने राज-संपत्ति छोड़ कर मुनि-दीक्षा लेने की इच्छा प्रकट की। तब उनके बड़े भाई नन्दीवर्धन ने कहा - 'हे भाई ! माता-पिता के ताजे विरह को सहन करने में मैं अकेला असमर्थ हूँ। तुम्हारे रहने से मुझे बहुत ही सहयोग मिलेगा। अतः तुम ताजे घाव पर नमक छिड़कने के-से वचन मत बोलो। यों बहुत कुछ कह कर प्रभु को दीक्षा लेने से रोका। परन्तु इस दौरान प्रभु विविध प्रकार के आभूषण पहने-पहने चित्रशाला में भी कायोत्सर्ग (ध्यान) में रहे, भाव से साधुत्व का पालन करते हुए साधु के कल्प (आचार) के समान अचित्त आहार-पानी से प्रभु निर्वाह करते रहे। इस प्रकार विशाल आशय के धारक भगवान् ने एक वर्ष बिताया। तत्पश्चात् लोकान्तिक देवों ने आ कर प्रभु को नमस्कार करके कहा—"स्वामिन् ! अब आपका दीक्षा-ग्रहण का समय निकट आ गया है। इसलिये उसकी तैयारी करिये, तीर्थस्थापना कीजिये।"

प्रभु महावीर ने अपना दीक्षा - समय निकट जान कर एक वर्ष तक याचकों को मुक्त हस्त से दान देना प्रारम्भ किया। उन्होंने पृथ्वी को ऋणमुक्त कर राजलक्ष्मी को तिनके के समान समझ कर दूसरे वर्ष उसका त्याग किया। सभी निकाय के देवों ने प्रभु का दीक्षा महोत्सव किया। हजार देवताओं ने चन्द्रप्रभा नाम की पालकी उठाई। प्रभु उसमें बैठ कर, ज्ञातृखण्ड नामक उद्यान में पधारे। वहाँ सर्व-सावद्य (सदोष) व्यापारों (प्रवृत्तियों) का त्याग करके दिन के चौथे प्रहर में प्रभु ने दीक्षा अंगीकार की। उस समय भगवान् को सभी प्राणियों के मन के भावों को जान सकने वाला चौथा मनःपर्याय-ज्ञान, उत्पन्न हुआ प्रभु वहाँ से विहार कर संध्या-समय कुमारग्राम के बाहर मेरुपर्वत की तरह अडोल हो कर कायोत्सर्ग में खड़े रहे। उसी रात को अकारण क्रुद्ध हो कर आत्म-शत्रुरूप ग्वाला भगवान् को उपसर्ग (भयंकर कष्ट) देने लगा। उस समय इन्द्र ने अवधिज्ञान से प्रभु पर आने वाले उपद्रवों की वृद्धि की संभावना जान कर सोचा कि चूहा जैसे महापर्वत को खोदना चाहता है, वैसे ही यह दुष्कर्मी ग्वाला भी प्रभु को उपद्रव देना चाहता है। अतः कल्याणकारिणी भक्तिवश इन्द्र उसी समय प्रभु के चरणों में उपस्थित हुए। इससे उपद्रव करने वाला ग्वाला खटमल की तरह कहीं भाग गया। इन्द्र ने तीन बार प्रदक्षिणा दे कर भगवान् को मस्तक झुका कर प्रणाम किया और प्रभु से प्रार्थना-की— स्वामिन् ! आप पर बारह वर्ष तक उपसर्गों की झड़ी लगने वाली है। अतः आपके श्रीचरणों में रह कर मैं उन उपद्रवों को रोकने का प्रयास करना चाहता हूँ।' कायोत्सर्ग पूर्ण कर भगवान् ने इन्द्र से कहा 'इन्द्र ! अरिहंत कभी दूसरे की सहायता की अपेक्षा नहीं रखते।' उसके बाद चन्द्र के समान शीतललेश्या वाले, सूर्य के समान प्रखर एवं दुर्धर्ष तप-तेज वाले, हाथी के समान बलवान, मेरुपर्वत के समान अटल, पृथ्वी के समान सब कुछ सहन करने वाले, समुद्र के समान गंभीर, सिंह के समान निर्भय, मिथ्यादृष्टियों के लिये प्रचण्ड आग के समान, गेंडे के सींग के समान एकाकी महान वृषभ के समान बलवान, कछुए

के समान गुप्तेन्द्रिय, सर्प के समान एकान्तदृष्टि वाले, शंख के समान निरंजन, सोने के समान उत्तम रूप वाले, पक्षी की तरह मुक्त उड़ान भरने वाले, चैतन्य की भाँति अप्रतिहत (बेरोकटोक) गति वाले, आकाश के समान निरालम्ब भारंड पक्षी के समान अप्रमत्त, कमलिनीपत्र के समान निर्लेप; शत्रु और मित्र, तृण और राज्य, सुवर्ण और पत्थर, मणि और मिट्टी, इहलोक और परलोक, सुख और दुःख, संसार और मोक्ष, इन सभी पदार्थों पर समभावी; निःस्वार्थभाव से करुणा करने में तत्पर, मनोबली होने से संसार-समुद्र के डूबते हुए एवं अपना उद्धार चाहने वाले जीवों के उद्धारकर्ता, वायु के समान अप्रतिबद्ध, जगद्गुरु महावीर, समुद्ररूपी करधनी पहनी हुई, अनेक गांवों, नगरों और वनों से सुशोभित पृथ्वी पर विचरण करने लगे ।

विचरण करते-करते एक बार वे दक्षिण जाबालप्रदेश में पहुँचे । वहाँ से विहार करते हुए प्रभु श्वेताम्बिका नगरी जा रहे थे । रास्ते में कुछ गोपालकों ने कहा – 'हे देवार्य ! श्वेताम्बी नगरी की ओर जाने के लिये यह रास्ता सीधा जरूर है, परन्तु इसमें बीच में कनखल नामक तापस का एक सूना आश्रम पड़ता है, वहाँ अब एक दृष्टिविष सर्प अपनी बांबी बना कर रहता है । वहाँ पशु-पक्षी, मनुष्य या कोई भी प्राणी सहीसलामत नहीं जा सकते । अतः आप इस मार्ग को छोड़ कर थोड़े से चक्कर वाले इस मार्ग से चले जाएं । कहावत है-- जिस सोने से कान कट जाय, उसे पहनने से क्या लाभ ?' भगवान् ने अपने आत्मज्ञान में डुबकी लगा कर जाना कि वह सर्प णोर कोई नहीं, वही पूर्वजन्म का तपस्वी साधु है, जो भिक्षा के लिये जा रहा था कि मार्ग में उसका पैर एक मेंढकी पर पड़ने से वह मर गई । एक छोटे साधु ने उससे उस दोष की आलोचना करने का कहा और उसे मरी हुई मेंढ़की भी बताई । मगर वह तपस्वी साधु अपनी गलती की आलोचना करने के बदले अन्य लोगो के पैरों तले कुचल जाने से मरी हुई मेंढ़कियाँ बता कर कहने लगा —'अरे दुष्ट, क्षुल्लक मुनि ! बता, ये सारी मेंढ़कियाँ क्या मैंने ही मारी हैं ?' पवित्र बुद्धि वाले, बालमुनि ने कुछ भी उत्तर नहीं दिया और ऐसा माना कि अभी यह महानुभाव भले ही इसे न मानें, परन्तु संध्या को तो आलोचना करके प्रायश्चित्त ले ही लेंगे । मगर शाम को प्रतिक्रमण के समय वह मुनि आलोचना करके प्रायश्चित्त लिये बिना ही बैठ गये । तब बालमुनि ने विचार किया कि यह उस मेंढ़की की विराधना की बात भूल गये मालूम होते हैं । इसलिए उस जीवविराधना की बात याद दिलाने हेतु उसने कहा—'मुनिवर ! आप उस मेंढकी की विराधना की आलोचना व प्रायश्चित्त क्यों नही करते ? ऐसा कहते ही यह तपस्वी साधु क्रोध से आग-बबूला हो कर बालमुनि को मारने के लिये दौड़ा था । उग्रतम क्रोध के कारण यह तपस्वी साधु स्तम्भ के साथ ऐसा टकराया कि वहीं खत्म हो गया । साधुत्व की विराधना के कारण वह ज्योतिष्क देवलोक में उत्पन्न हुआ । वहाँ से च्यवन कर यह कनकखल आश्रम में पाँच सौ तापसों के कुलपति की स्त्री से कौशिक नाम का पुत्र हुआ । वहाँ कौशिक गोत्र वाले और भी बहुत-से साधु रहते थे । किन्तु यह कौशिक अतिक्रोधी होने से लोगों ने इसका नाम चंडकौशिक रखा था । अपने पिता के मर जाने के बाद चंडकौशिक कुलपति बना । यह कुलपति वनखण्ड की आसक्ति से दिन-रात वन में भ्रमण करता था । और इस वन से किसी को भी पुष्प, फल, मूल, पत्ते आदि नहीं लेने देता था । नष्ट हुए निरुपयोगी फलादि को भी कोई ग्रहण करता तो उसे लकड़ी, ढेला, पत्थर, कुल्हाड़ी, आदि से मारता था । अतः फलादि नहीं मिलने से वे तापस बड़े दुखी होने लगे । जैसे

ढेले फेंकने से कौए उड़ जाते हैं, वैसे ही वे तापस इस कौशिक के अत्याचार से तंग आ कर अलग-अलग दिशाओं में चले गये ।

एक दिन यह चंडकौशिक कांटेदार झाड़ी लेने के लिये आश्रम से बाहर गया हुआ था । पीछे से श्वेताम्बी नगरी से बहुत से राजकुमारों ने आकर उसके आश्रम और बाग को उजाड़ दिया । कौशिक कंटिका ले कर वापस लौट रहा था तो ग्वालों ने उसे कहा कि—'आज तो आपका बगीचा कोई तहस-नहस कर रहा है ! जल्दी जा कर सँभालो !' घी से जैसे आग भड़कती है, वैसे ही क्रोध से अत्यन्त भड़क-कर वह कौशिक तीखी धार वाला कुल्हाड़ा ले कर उन्हें मारने दौड़ा । जैसे बाज से डर कर दूसरे पक्षी भाग जाते हैं, वैसे ही वे राजपुत्र भी चंडकौशिक को कुल्हाड़ी लिये आते देख नौ-दो-ग्यारह हो गए । तपस्वी बेतहाशा दौड़ा आ रहा था कि. क्रोध में भान न रहने से अचानक यम के मुखसदृश एक गहरे कुंए में गिर पड़ा । गिरते समय हाथ में पकड़ी हुई कुल्हाड़ी मुंह के सामने होने से उसकी धार मस्तक में गड़ गई और उसका मस्तक फट गया । सच है, कृत कर्मों के फल अवश्य ही भोगने पड़ते हैं ! वही चंडकौशिक तापस मर कर इसी वन में अतिक्रोधी दृष्टिविष सर्प बना हुआ है । वास्तव में, तीव्र अनन्तानुबन्धी क्रोध अन्य जन्मों में भी साथ जाता है । लेकिन 'यह अवश्य ही बोध प्राप्त करेगा ।' ऐसा विचार कर विश्व-वत्सल प्रभु अपने कष्ट को कष्ट न समझ कर उस सर्प की भव-भ्रमण पीड़ा मिटाने हेतु उसी मार्ग से चले । वह जंगल मनुष्यों के पैरों का संचार न होने से ऊबड़खाबड और वीरान हो गया था । वहाँ की छोटी-सी नदी का पानी पीया न जाने से प्रवाहरहित रेतीला व गन्दला हो गया था । वहां के पेड़-पौधे ठूंठ बन गये थे, उनके पत्ते सूख गये थे । पेड़ों पर जगह-जगह दीमकों ने अपने टीले बना डाले थे । झोपड़ियां उजड़ गयी थी । विश्ववत्सल प्रभु ने इस वीरान जंगल में प्रवेश किया । और यक्ष के जीर्णशीर्ण मन्दिर के मंडप में वे नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि टिका कर कायोत्सर्ग (ध्यान) में खड़े हो गये । अहंकारी चंडकौशिक सर्प कालरात्रि की तरह जीभ लपलपाता हुआ अपनी बांबी से निकला । वह वन में घूमता हुआ रेती में संक्रमण होती हुई अपने शरीर की रेखा से मानो अपनी आज्ञा का लेख लिख रहा था । ज्योंही उसने महाबली प्रभु को देखा, त्योंही अपने अहं को चुनौती समझ कर सोचने लगा—"यह कौन ठूंठ-सा निःशंक हो कर मुझे जताए बिना ही मेरी अवज्ञा करके ढीठ बन कर खड़ा है ? इसने इस जंगल में घुसने का साहस ही कैसे किया ? अतः अभी इसे जला कर भस्म करता हूँ ।" इस प्रकार क्रोध से जलते हुए उस सर्प ने फन ऊंचा किया । अपने मुँह से विषज्वालाएं उगलता हुआ और वृक्षों को जलाती हुई दृष्टि से भयंकर फुफकार करता हुआ प्रभु को एकटक दृष्टि से देखने लगा । आकाश से पर्वत पर गिरते हुए दुर्दर्शनीय उल्कापात के समान उसकी जाज्वल्यमान दृष्टि—ज्वालाएँ भगवान् के शरीर पर पड़ीं, परन्तु जैसे महावायु मेरुपर्वत को चलायमान करने में समर्थ नहीं हो सकती, वैसे ही महाप्रभावशाली प्रभु का वह कुछ भी नुकसान नहीं कर सका । "अरे ! अभी तक यह काष्ठ की तरह जला क्यों नहीं ?" यह सोच कर क्रोध से अधिक तप्त हो कर वह सूर्य की ओर बार-बार दृष्टि करके फिर ज्वालाएँ छोड़ने लगा । परन्तु वे ज्वालाएँ भी प्रभु के लिये जलधारा के समान बन गईं । अतः उस निर्दयी सर्प ने प्रभु के चरणकमल पर दंश मारा और अपना जहर उगला । इस प्रकार कई बार लगातार डस कर वह वहाँ से हटता जाता था, यह सोचकर कि कहीं यह मेरे जहर से मूर्च्छा खा कर मुझ पर पर ही गिर कर मुझे दबा न दे । फिर भी प्रभु पर उसके जहर का जरा भी असर नहीं हुआ । उनके अंगूठे से दूध की धारा के समान उज्ज्वल सुगन्धित रक्त बहने लगा । उसके बाद वह प्रभु

के सामने आश्चर्यपूर्वक टकटकी लगा कर देखने लगा और सोचने लगा—'अरे ! यह कौन है, जिस पर मेरे विष का कोई प्रभाव न हुआ ? बाद में जगन्नाथ महावीर के अद्भुत रूप को देख कर उसकी कान्ति और सौम्यता से उसकी आंखें सहसा चकाचोंध हो गईं । सर्प को शान्त जान कर भगवान् ने उससे कहा—'चंडकौशिक ! अब भी बोध प्राप्त कर, समझ जा, जागृत हो जा, मोह मत कर ।," भगवान् के ये वचन सुन कर मन ही मन उन पर उहापोह (चिन्तन-मनन) करते करते उसे पूर्व-जन्म का ज्ञान—जातिस्मरण हो गया । अब चण्डकौशिक कषायों से मुक्त व शान्त हो चुका था । उसने भगवान् की तीन बार प्रदक्षिणा दे कर मन से अनशन अंगीकार कर लिया । महाप्रभु ने पापकर्म से रहित और प्रशमरस में तल्लीन उस महासर्प द्वारा स्वीकृत अनशन को देख कर उसे उपदेश दिया —"वत्स ! अब तू कहीं पर भी मत जाना, तेरी आँखों में जहर भरा हुआ है ।" यह सुन कर वह बांबी में मुंह डाल कर समतारूप अमृत का पान करने लगा । उस पर अनुकंपावश भगवान भी वहीं रुके रहे । सच है—महापुरुषों की प्रवृत्तियां दूसरों के उपकार के लिये होती हैं ।" ऐसी स्थिति में भगवान् को देखकर आश्चर्य से आंखें फाड़ते हुए ग्वाले एकादम वहाँ दौड़े हुए आये । वृक्षों की ओट में छिप कर वे हाथ में जो पत्थर व ढेले आदि लाये थे, उनसे महात्मतुल्य बने हुए सर्प पर निर्दयतापूर्वक प्रहार करने लगे । किन्तु उसे अडोल और स्थिर देख कर उन्हें विश्वास हो गया कि यह शान्त है; तब उसके पास जा कर उसके शरीर को लकड़ी छुआ कर कुरेदने लगे ; फिर भी वह स्थिर रहा । ग्वालों ने यह बात गांव के लोगों से बताई तो वे लोग भगवान् की और उस महासर्प की पूजा करने लगे । उस मार्ग से घी बेचने जाती हुई ग्वालिनें नागराज के शरीर पर घी और मक्खन चुपड़ने लगी, उसकी गंध से तीक्ष्णदंशी चींटियों ने काट काट कर उसके शरीर को छलनी के समान बना दिया । 'मेरे क्रूर कर्मों की तुलना में यह वेदना तो कुछ भी नहीं है ;' इस तरह अपनी आत्मा को समझाता हुआ वह महानुभाव सर्प उस अतिदुःसह वेदना को सहन करने लगा । ये बेचारी निर्बल चींटियां कहीं मेरे इधर-उधर हिलने-डुलने से दब कर मर न जायें ! इस विचार से वह महासर्प अपने अंग को अब जरा भी चलायमान नहीं करता था । भगवान् की कृपामयी सुधावृष्टि से सिंचित व स्थिरचित्त वह सर्प पन्द्रहवे दिन मर कर सहस्रार नामक वैमानिक देवलोक में गया ।

इस प्रकार अपने पर विविध उपसर्ग करने वाले दृष्टिविष फणिधर और भक्ति करने वाले इन्द्र, इन दोनों पर चरम तीर्थंकर, तीन जगत् के अद्वितीय बन्धु, श्री महावीर परमात्मा समानभाव रखते थे ।

कृतापराधेऽपि जने, कृपामन्थरतारयोः ।
ईषद्-वाष्पार्द्रयोर्भद्रं, श्रीवीरजिननेत्रयोः ॥३॥

अर्थ

अपराध करने वाले जीवों पर भी दया से पूर्ण और करुणाश्रु से आर्द्र (गीले) श्रीमहावीरप्रभु के नेत्रों का कल्याण हो ।

व्याख्या

भगवान् महावीर की आँखें अपराध करने वाले संगमदेव आदि पर भी अगाध करुणा से परिपूर्ण थी । अंतर में महान करुणा से आप्लावित उनकी आंखें सदैव अश्रुजल से भीगी रहती थीं ।

भगवान् महावीर की ऐसी सुधामयी आँखों का कल्याण हो। इसका आशय यह है कि ऐसे सामर्थ्ययोग से युक्त प्रभु को हमारा वन्दन-नमस्कार हो। उक्त बात की पुष्टि के लिए महावीर प्रभु के जीवन का एक वृतान्त दे रहे हैं :—

भगवान् महावीर की महाकरुणा

एक गांव से दूसरे गांव और एक शहर से दूसरे शहर विहार करते हुए भगवान् महावीर एक बार म्लेच्छ-कुलों की बस्ती वाली दृढ़भूमि में पधारे। अष्टमभक्त-प्रत्याख्यान (तेले) की तपस्या करके वे पेढालगांव के निकट पेढाल नामक वन में पोलाश नाम के मन्दिर में प्रवेश कर एक प्रासुक शिलातल पर आरूढ़ हो कर घुटनों तक हाथ लम्बे करके, शरीर को झुका कर अपने स्थिर अन्तःकरण से आंख बन्द किये बिना एकरात्रि-सम्बन्धी महाप्रतिमा धारण करके ध्यानस्थ खड़े रहे। उस समय सौधर्म-सभा में चौरासी हजार सामानिक देवों से परिवृत, तैंतीस त्रायस्त्रिंश, तीन पारिषद्य, चार लोकपाल, असंख्य प्रकीर्णक देव तथा अपने शरीर पर चारों ओर से बख्तर और हथियार बांधे, चौरासी हजार अंगरक्षक देव-सेनाओं से परिवृत, सात सेनापति, अभियोगिक, किल्विषिक आदि देव-देवियों तथा तीन प्रकार के वाद्य आदि से सुसज्जित हो कर विनोदपूर्ण समय बिताते हुए, दक्षिण लोकार्ध के रक्षक शक्र नाम के देवेन्द्र ने सिंहासन पर बैठे-बैठे अवधिज्ञान से भगवान् को उक्त स्थिति में जाना। वे तुरन्त खड़े हुए और पादुका त्याग कर उत्तरासग धारण कर, दाहिना पैर भूमि पर रख कर और बांया पैर जरा ऊँचा करके भूतल पर मस्तक झुका कर शक्रस्तव (नमुत्थुणं) से भगवान् की स्तुति करने लगे। इन्द्र का अंग-अंग पुलकित हो रहा था। उसने खड़े होकर सारी सभा को सम्बोधित करते हुए कहा—'सौधर्म देव-लोकवासी उत्तम देवो! तुम्हें भगवान् महावीर की अद्भुत महिमा सुनाता हूं, सुनो। पांच समिति के धारक, तीन गुप्ति से पवित्र, क्रोध-मान-माया और लोभ के वश करने वाले, आश्रवरहित, द्रव्य-क्षेत्रकाल और भाव में निर्ममत्वी, वृक्ष या एक पुद्गल पर दृष्टि एकाग्र करके कायोत्सर्ग (ध्यान) में स्थिर महावीर स्वामी को देव, दानव, यक्ष, राक्षस, नागकुमार, मनुष्य या तीन लोक में से कोई भी ध्यान से विचलित करने में समर्थ नहीं है।'

इन्द्र के ये वचन सुन कर एक अभव्य, गाढ़मिथ्यात्वी संगम नामक इन्द्र का सामानिक देव भौंहें तान कर, विकराल आंखें बना कर, क्रोध से ओठ चबा कर, आंखें लाल करते हुए बोला "हे देवेन्द्र! एक मनुष्य का इतना बढ़चढ कर गुणगान करके उसे ऊँचे शिखर पर चढ़ाना, सत्यासत्य के विवाद में आपकी स्वच्छंदतायुक्त प्रभुता का परिणाम है। यह असम्भव है कि मर्त्यलोक के व्यक्ति को देव भी ध्यान से चलायमान नहीं कर सकते। अतः स्वामी का ऐसा उद्धत वचन हृदय में कैसे धारण किया जा सकता है? कदाचित् धारण भी कर लिया गया हो, फिर भी उसे सबके सामने प्रगट कैसे किया जा सकता है? गगनचुम्बी उच्चशिखरयुक्त, एवं पातालमूलगामी जिस मेरुपर्वत को देव दो हाथों से ढेले की तरह उठा कर फैंक सकता है, पर्वतों सहित समग्र पृथ्वी को डुबा सकता है, महासमुद्र को छोटी-सी नदी के समान बना सकता है, अनेक पर्वतों से बोझिल विशाल पृथ्वी को अनायास ही अपने भुजदंड से उठा सकता है, ऐसी असाधारण ऋद्धि, महापराक्रम और इच्छामात्र से कार्यसिद्धि की उपलब्धि से युक्त देवों के सामने मनुष्य क्या चीज है? मैं अभी इन्द्र द्वारा प्रशंसित व्यक्ति के पास जा कर उसे ध्यान से विचलित करता हूँ। यों कह कर हाथ से पृथ्वी को ठोक कर वह देव सभामंडप में आ खड़ा हुआ। इन्द्र ने उसे बहुतेरा समझाया कि श्रीअरिहंतदेव दूसरों से सहायता लिए बिना स्वयं अखंड तप करते हैं", किन्तु जब वह रंचमात्र भी

नहीं समझा, तब इन्द्र ने उस दुर्बुद्धिदेव की उपेक्षा की। दुर्बुद्धिदेव हठाग्रही होकर भगवान् को विचलित करने के लिए वहाँ से चला। उसके गमन से प्रचंड वायुवेग के कारण बादल भी बिखरने लगे। अपनी रौद्र आकृति के कारण वह महाभयंकर दिखने लगा। उसके भय से अप्सराएँ भी मार्ग से हट गईं। विशाल वक्षःस्थल से टक्कर मार कर उसने मानो ग्रहमंडल को एकत्रित कर दिये थे।

इस प्रकार वह अधम देव वहाँ आया, जहां भगवान् प्रतिमा धारण कर ध्यानस्थ खड़े थे। अकारण जगदबन्धु श्रीवीरप्रभु को इस प्रकार से शान्त देख कर उसे अधिक ईर्ष्या हुई। सर्वप्रथम उस दुष्ट देव ने जगद्गुरु महावीर पर अपरिमित धूल की वर्षा की। जैसे राहू चन्द्रमा को ढक देता है, मेघाडम्बर सूर्य को ढक देता है, वैसे ही धूलि-वर्षा से उसने प्रभु के सारे शरीर को ढक दिया। चारों ओर से धूल की वृष्टि होने से उनकी पांचों इन्द्रियों के द्वार बन्द हो गए, उनका श्वासोच्छ्वास अवरुद्ध-सा होने लगा। फिर भी जगद्गुरु रंचमात्र भी चलायमान नहीं हुए। क्या हाथियों से कभी कुलपर्वत चलायमान हो सकता है? फिर उस दुष्ट ने धूल हटा कर भगवान् के अंग अंग को पीड़ित करने वाली वज्रमुखी चीटियाँ उत्पन्न कीं। वे सुई की नोक के समान, तीखे मुखाग्र वाली चीटियाँ प्रभु के शरीर के एक ओर से स्वेच्छा से चढ़ कर दूसरी ओर से उतरने लगीं। भाग्यहीन की इच्छा की तरह चींटियों का उपद्रव भी निष्फल हुआ। तब उसने डांस का रूप बनाया। सच है, 'दुरात्माओं के दुष्कृत्य समाप्त नहीं होते।' डांस बन कर जब उसने भगवान् के शरीर पर कई जगह डसा तो उसमें गाय के दूध के समान रक्त बहने लगा। उससे भगवान् ऐसे प्रतीत होने लगे मानो पर्वत से झरना बह रहा हो। ऐसे उपसर्ग से भी जब प्रभु क्षुब्ध नहीं हुए तो दुर्मति संगमदेव ने अतिप्रचंड दंश देने में तत्पर एवं दुःख से हटाई जा सकने वाली लाल रंग की चीटियों का रूप बनाया और प्रभु के शरीर में अपना मुंह गहरा गड़ा दिया। उस समय वे चीटियां ऐसी मालूम होती थी, मानो प्रभु के शरीर पर एक साथ रोंगटे खड़े हो गये हों। ऐसे उपसर्ग के समय भी प्रभु अपने योग में दृढ़ चित्त रहे। परन्तु देव तो किसी भी तरह से उनका ध्यान-भंग करने पर तुला हुआ था। अतः उसने बड़े-बड़े जहरीले बिच्छू बनाए, वे प्रलयकाल की आग की चिनगारियों के समान या तपे हुए बाण के समान भयंकर टेढ़ी पूंछ करके अपने कांटों से प्रभु के शरीर को काटने लगे। उससे भी जब नाथ क्षुब्ध नहीं हुए तो कूट-संकल्पी देव ने तीखे दांतों वाले नेवले बनाए, वे खि-खि शब्द करते हुए दांतों से भगवान् के शरीर से मांस के टुकड़े तोड़ तोड़ कर नीचे गिराने लगे। उससे भी जब उसकी इच्छा पूर्ण न हुई तो क्रुद्ध होकर उसने यमराज की बाहों के समान प्रचण्ड एवं अति उत्कट फनों वाले सर्प बनाये। जैसे महावृक्ष पर बेल लिपट जाती है, वैसे ही मस्तक से ले कर पैर तक प्रभु महावीर के शरीर से वे लिपट गये और फनों से इस प्रकार प्रहार करने लगे कि उनके फन भी फटने लगे। उन्होंने इस प्रकार डसा कि उनके दांत भी टूट गये। वे निर्विष बन कर रस्सी की तरह गिर पड़े। उसके बाद निर्दय देव ने तत्काल वज्रसम कठोर तीखे नखों एवं दांतों वाले चूहे बनाए। वे अपने दांतों और मुंह से प्रभु के अंगों को नोच-नोच कर खाने लगे। और घाव पर नमक छिड़कने की तरह किए हुए घाव पर पेशाब करने लगे। परन्तु ऐसा करने पर भी जब वे भगवान् को विचलित करने में सर्वथा असफल रहे, तब भूताविष्ट और मूसल के समान तीखे दंतशूल वाले हाथी जैसा रूप बनाया। जिसके पैर धरती पर पड़ते ही धरती कांप उठती थी और मानो नक्षत्रमण्डल और आकाश को नाप लेगा, इतनी ऊँची सूंड उठा कर प्रभु पर टूट पड़ा। उसने अपनी प्रचंड सूंड से प्रभु को पकड़ कर आकाश में बहुत ऊँचा उछाला। नीचे गिरते ही इसके शरीर के टुकड़े-टुकड़े हो जायेंगे, इस बदनीयत से फिर हाथी ने

अपने दंतशूल को ऊँचा उठा कर आकाश से गिरते हुए प्रभु को दांत की नोक पर झेल लिया। दांत की नोक पर पड़ने से भगवान् का वज्रमय कठोर शरीर छाती से टकराया, जिसके कारण चिनगारियां उत्पन्न हुईं। फिर भी बेचारा हाथी भगवान् का बाल भी बांका न कर सका। फिर उस देव ने वैरिणी के समान हथिनी बनाई, जिसने अपनी सूंड और दांत की पूरी ताकत लगा कर भगवान् के शरीर को भेदन करने का प्रयत्न किया और उस पर विषैला जल छीटने लगी। मगर हथिनी का प्रयोग भी मिट्टी में मिल गया। फिर उस अधम देव ने भयंकर पिशाच का रूप बनाया, जिसकी दाढ़ें मगरमच्छ के समान उत्कट थी। उसका मुख अनेक ज्वालाओं से युक्त अग्निकुंड के समान भयानक चौड़ा, खोखले के समान खुला था। उसकी भुजाएँ यमराज के महल के तोरण स्तंभ के समान लम्बी थीं। उसकी जाघें ताड़वृक्ष के समान ऊँची व लम्बी थीं। वह चमड़े के वस्त्र पहने व कटार धारण किए हुए अत्यन्त अट्टहास करता हुआ, फूत्कार करता हुआ, कभी किलकारियां करता हुआ प्रभु को डराने लगा। उसने भगवान् पर अनेकों आफतें ढहाईं। मगर तेल समाप्त हो जाने पर बुझे दीपक की तरह वह पिशाच आगबबूला हो कर प्रभु के सामने हतप्रभ हो गया। तब क्रोध से उस निर्दयदेव ने एकदम सिंह का रूप बनाया और दहाड़ता हुआ, पूँछ फटकारता हुआ, पृथ्वी को मानो फाड़ता हुआ, आकाश और पृथ्वी को अपने क्रूर निनाद से गूँजाता हुआ भगवान् पर टूट पड़ा। अपनी वज्रसम दाढ़ों व शूल के समान नखों से वह भगवान् पर लगातार आक्रमण करने लगा। दावानल से जले वृक्ष के समान उसे इसमें निष्फलता मिलने पर दुष्ट देव ने सिद्धार्थ राजा और त्रिशलादेवी का रूप बना कर प्रभु से कहा—"पुत्र ! तू ऐसा अतिदुष्कर तप क्यों कर रहा है ? तू यह दीक्षा छोड़ दे, हमारी प्रार्थना को मत ठुकरा। वृद्धावस्था में नदीवर्द्धन ने हमारा त्याग कर दिया है और हम निराधार हो गये हैं। तू हमारी रक्षा कर।" यों कहते हुए वे दोनों दीन स्वर से विलाप करने लगे। उनके ऐसे विलापों से भी प्रभु का हृदय आसक्ति में क्षुब्ध नहीं हुआ। अतः प्रभु जहां ध्यानस्थ थे, उनके पास ही दुष्ट देव ने सेना का पड़ाव डाला। वहां रसोइये को चूल्हा बनाने के लिए पत्थर नहीं मिला, तो ध्यानस्थ प्रभु के दोनों पैरों को चूल्हा बना कर उस पर हंडिया रखी। नीचे आग जलाई। वह ऐसी प्रतीत हो रही थी, मानो पर्वत की तलहटी में दावानल प्रगट हुआ हो। आग की प्रचंड ज्वालाओं के अत्यधिक जल जाने पर भी प्रभु के शरीर की कान्ति फीकी न हुई, बल्कि तप्त सोने के समान अधिकाधिक बढ़ती ही गई। तब उस अधम देव ने जगली भीलों की बस्ती बनाई, जहां भील लोग जोर-जोर से चिल्लाते थे। भीलों ने प्रभु के गले, कानों, बाहों और जांघों में क्षुद्र पक्षियों के पींजरे लटका दिये। जिससे उन पक्षियों ने चोंच और नख मार-मार कर प्रभु का शरीर छिद्रमय बना डाला। वह ऐसा लगता था, मानो अनेक छेदों वाला कोई पींजरा हो। देव के लिए यह प्रयोग भी पक्के पत्ते के समान निःसार सिद्ध हुआ। तब उसने संवर्तक नामक महान अंधड़ चलाया, जिससे विशाल वृक्ष तिनके के समान आकाश में उड़ते और फिर नीचे गिरते-से प्रतीत होने लगे। प्रत्येक दिशा में कंकड़-पत्थर धूल के समान उड़ने लगे। धौंकनी की तरह हवा भर कर भगवान् को वह आकाश में उछाल-उछाल कर नीचे धरती पर फेंकने लगा। परन्तु उस महावायु से भी देव का मनोरथ सिद्ध न हुआ, तब उस देव-कुलकलंक ने वायु-वर्तुल चलाया। बड़े-बड़े पर्वतों को हिला देने वाले उस चक्करदार अंधड़ ने प्रभु को भी, चाक पर चढ़ाये हुए मिट्टी के पिंड के समान घमाया। परन्तु समुद्र के अंदर जल के समान उस चक्करदार अंधड़ के चलाने पर भी प्रभु अपने ध्यान से टस-से-मस नहीं हुए। तब देव सोचने लगा—'ओहो ! वज्रमय मनोबल वाले इस पुरुष को अनेक प्रकार की यातनाएँ देने पर जरा भी क्षुब्ध नहीं हुआ। अतः अब मैं प्रतिज्ञाभ्रष्ट हो कर इसे ध्यान से विचलित किये बिना देवसभा में कैसे जाऊं ? इसलिए अब तो यही

अच्छा होगा कि इसके प्राणनाश का कोई उपाय करूं। तभी इसका ध्यानभंग होगा, अन्यथा नहीं। यों विचार कर अधम देव ने एक हजारपल वजन वाले लोहे का ठोस वज्रमय कालचक्र बनाया और रावण ने जैसे कैलाश-पर्वत को उठाया था; वैसे ही इस देव ने उसे उठाया। पृथ्वी को लपेटने के लिए मानो यह दूसरा वेष्टन तैयार किया हो, ऐसे कालचक्र को ऊपर उठा कर प्रभु पर फैंका। निकलती हुई ज्वालाओं से समस्त दिशाओं को भयंकर बनाता हुआ, समुद्र में बड़वानल के समान वह प्रभु पर गिरा। बड़े-बड़े पर्वतों को चूर्ण करने में समर्थ उस चक्र के प्रभाव से भगवान् घुटने तक जमीन में धंस गए। ऐसी स्थिति में भी भगवान् विचार करके लगे कि विश्व के समग्र जीवों को तारने का अभिलाषी होने पर भी मैं इस बेचारे के लिए संसार परिभ्रमण कराने का निमित्त बना हूं।

संगमदेव ने विचार किया— "अहो! मैंने कालचक्र के प्रयोग का अन्तिम उपाय भी अजमाया, लेकिन यह तो अभी भी जीता-जागता बैठा है। अतः अब शस्त्र-अस्त्र के अलावा और कोई उपाय करना चाहिए। सम्भव है, अनुकूल उपसर्ग से यह किसी प्रकार विचलित हो जाय।" ऐसी नीयत से विमान में बैठे-बैठे वह प्रभु के आगे आ कर कहने लगा हे महर्षि, ! तुम्हारे सत्त्व से और प्राणों की बाजी लगा कर प्रारम्भ किए गए तप के प्रभाव से मैं तुम पर संतुष्ट हुआ हूँ। अतः अब छोड़ो, इस शरीर को क्लेश देने वाले तप को। ऐसे तप से क्या लाभ ? तुम जो चाहो सो मांग लो। बोलो, मैं तुम्हें क्या दे दूं ? इस विषय में जरा भी शंका मत करना; तुम्हारा जो मनोरथ होगा, पूर्ण किया जायगा। कहो तो मैं तुम्हें इस शरीर द्वारा ही स्वर्ग प्राप्त करा दूँ ? या कहो तो अनन्त-अनन्त जन्मों के किये हुए कर्मों से मुक्त करके एकान्त परमानन्द-प्राप्ति-स्वरूप मोक्ष मैं तुम्हें प्राप्त करा दूँ ? अथवा समस्त राजा तुम्हारी आज्ञा शिरोधार्य करें, ऐसा अक्षय-सम्पत्ति वाला साम्राज्य तुम्हें दिला दूँ ? इस तरह की देव की प्रलोभनभरी बातों से भी जब प्रभु का मन चलायमान नहीं हुआ, और उसे कोई प्रत्युत्तर प्रभु से नहीं मिला तो पापी देव ने फिर यों विचार किया कि इसने मेरे सारे प्रयोगों और शक्तियों को असफल बना दिया। अब तो केवल एक ही अमोघ उपाय शेष रह जाता है, वह है काम-शास्त्र का। उसे भी अजमा कर देख लूँ। क्योंकि काम के अस्त्र के समान कामिनियों की दृष्टि पड़ते ही बड़े-बड़े योगि-पुरुषों तक का भी पुरुषत्व खंडित हो जाता है।' चित्त में यों निश्चय करके उसने देवांगनाएँ और उनके विलास में सहायक छह ऋतुएँ बनाईं। साथ ही उन्मत्त कोकिला के मधुर शब्दों से गूंजायमान कामदेव नाटक की मुख्य नटी के समान वसन्त-लक्ष्मी वहाँ सुशोभित होने लगी। विकसित कदम्बपुष्पों के पराग से मुख की सुगन्ध फैलाती हुई दिशा-बधुओं से कला सीखी हुई दासी के समान ग्रीष्म-ऋतु शोभायमान होने लगी। कामदेव के राज्याभिषेक में मंगलतिलक-रूप केवड़े के फूल के बहाने से रोमांचित सर्वांगी वर्षाऋतु भी शोभायमान हुई। नये-नये कमलों के बहाने से हजारों नयन वाली बन कर अपनी उत्कृष्ट सम्पत्ति को दिखाती हुई शरद् ऋतु भी सुशोभित होने लगी। मानो श्वेत अक्षर के समान ताजे मोगरे की कलियों से कामदेव की जयप्रशस्ति लिख रही हो; इस प्रकार हेमन्तऋतु भी उपस्थित हुई। मोगरा और सिन्दुवार के पुष्पों से गणिका की तरह आकर्षित करने वाली हेमन्त के समान सुरभित शिशिरऋतु ने भी अपनी शोभा बढ़ाई। इस तरह चारों तरफ सारी ऋतुएँ प्रगट हो गईं। तब कामदेव की ध्वजा के समान देवांगनाएँ प्रगट हुईं। उन्होंने भगवान् के पास अपने अंगोपांग खोल कर दिखाते हुए कामदेव को जीतने के मंत्रास्त्र के समान संगीत की तान छेड़ी। कई देवांगनाएँ लय के क्रम से गन्धार-राग से मनोहर वीणा बजाती हुई गीत गाने लगीं। और उलटे-सीधे क्रम से ताल व्यक्त करती हुई वे अपनी पूरी कला लगा कर मधुरतापूर्वक वीणा बजा रही थीं। कितनी ही देवागनाएँ प्रकटरूप में

तकार-धोंकार के भेदों से मेघ-समान गंभीर आवाज वाले तीन प्रकार के मृदंग बजा रहीं थीं। कितनी देवांगनाएँ तो आकाश और धरती पर चलती हुई आश्चर्य पैदा करने वाले नये-नये हावभाव से कटाक्ष करती हुई नृत्य करने लगीं। कितनी ही अँगनाएँ तो अंग मोड़ती व बलखाती हुई अभिनय करते समय टूटते हुए कंचुक और शिथिल हुए केशपाश को बांधने का अभिनय करती हुई अपने बगलें बताती थीं। कई अपने लम्बे पैर के अभिनय के बहाने मनोहर गोरोचन की लेप लगी हुई और गौर वर्ण वाली, अपनी जंघा के मूल भाग को बार-बार बताती थीं। कितनी ही देवियाँ घाघरे की ढीली हुई गांठ को मजबूत बाँधने का नाटक करती हुई नाभिमंडल दिखाती थीं। कई हस्तिदंत-समान हाथ के अभिनय के बहाने से अंग के गाढ़ आलिंगन करने का इशारा करती थीं। कतिपय अँगनाएँ तो कमर के नीचे के अन्दर के वस्त्र का नाड़ा मजबूती से बाँधने के बहाने ऊपर की साड़ी हटा कर अपने नितम्ब बताने लगीं, कई सुलोचना देवियाँ अंग को मोड़ने के बहाने छाती पर पुष्ट और उन्नत स्तनों को लम्बे समय तक बताने लगीं, और कहने लगीं कि 'यदि आप वीतराग हैं, तो हम लोगों में राग क्यों पैदा करते हैं ? शरीर से निरपेक्ष हैं तो हम लोगों को अपनी छाती क्यों नहीं अर्पण कर देते ? और यदि आप दयालु है, तो फिर अचानक खीचे हुए धनुष्यरूप अस्त्र वाले कामदेव से हमारी रक्षा क्यों नहीं करते ? हमारी प्रेम की लालसा पर कौतुक से आपके द्वारा तिरस्कार करना कुछ समय तक तो ठीक है, परन्तु मृत्युपर्यन्त इस हठ को पकड़े रखना योग्य नहीं है। और कितनी ही देवियाँ यों कहने लगीं—"स्वामिन् ! कठोरता का परित्याग कर अपना मन कोमल बनाओ। हमारा मनोरथ पूर्ण करो : हमारी प्रार्थना की उपेक्षा न करो।" इस तरह देवांगनाओं के गीत, नृत्य, वाद्य-विलास, हावभाव तथा प्रेम की मीठी-मीठी बातों से जगद्गुरु तिलभर भी नहीं डिगे। इस तरह अनेकों अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्ग सहन करते-करते सारी रात बीत गई। इसके बाद असुरधर्मी संगमदेव ने छह महीने तक प्रभु को शुद्ध आहार मिलने में विघ्न उपस्थित किये और तरह-तरह के उपद्रव करता गया। किन्तु अन्त में हार-थक कर वह भगवान् से बोला—"भट्टारक ! आप सुख से रहो और इच्छानुसार भ्रमण करो; अब मैं जाता हूँ।" इस प्रकार वह भारी पापकर्म बांध कर छह महीने के अन्त में गया। भगवान् का करुणार्द्र हृदय पसीज उठा कि इस प्रकार के पापकर्म से यह बेचारा कहाँ जायेगा ? इसकी क्या गति होगी ? मेरे जैसा तारक भी इसे तार नहीं सका ! इस प्रकार चिन्तन करते-करते उनकी आंखें करुणा के आंसुओं से आर्द्र हो गई।

इस तरह इष्टदेव को नमस्कार कर मोक्षमार्ग के कारणभूत योग के सम्बन्ध में कहने की इच्छा से अब वह योगशास्त्र प्रस्तुत करते हैं:—

श्रुताम्भोधेरधिगम्य, सम्प्रदायाच्च सद्गुरोः।
स्वसंवेदनतश्चापि, योगशास्त्रं विरच्यते ॥४॥

अर्थ

सिद्धान्तरूप समुद्र से, सद्गुरु-परम्परा से और स्वानुभव से जान कर मैं योगशास्त्र की रचना करता हूँ।

आशय

योगशास्त्र की रचना का निर्णय

प्रस्तुत श्लोक में बताया है कि योगपद का निर्णय (ज्ञान) करने के बाद शास्त्ररचना करना उचित है। इसलिये योग के निर्णय के लिये तीन हेतु जानना—(१) शास्त्र से (२) गुरु-परम्परा से

और (३) अपने अनुभव से। इन तीनों प्रकारों से योगशब्द का निर्णय कर इस 'योगशास्त्र' की रचना की जा रही है। इसी बात को बताने के लिए कहते हैं कि 'आगमरूपी समुद्र से, अपने गुरुजनों के मुख से और स्वानुभव से निर्णय कर यह योग-शास्त्र रचा जा रहा है। यही बात इस ग्रन्थ के अन्त में कहेंगे।'' शास्त्र से, गुरु के मुख से और अपने अनुभव से जो कुछ मैंने जाना है, वह योग का उपनिषद् विवेकियों की परिषद् के चित्त को चमत्कृत करने वाला है। अतः चौलुक्यवंश के राजा कुमारपाल की अत्यन्त प्रार्थना से आचार्य भगवान् श्रीहेमचन्द्रसूरीश्वरजी ने वाणी के माध्यम से इस योगशास्त्र की रचना की है।

अब योग का ही माहात्म्य बताते हैं :—

योगः सर्वविपद्वल्ली-विताने परशुः शितः।
अमूलमन्त्रतन्त्रं च, कार्म्मणं निर्वृतिश्रियः ॥५॥

अर्थ

योग सर्व-विपत्तिरूप लताओं के समूह को काटने के लिए तीखीधार वाला कुठार है तथा मोक्ष-लक्ष्मी को वश करने के लिये यह जड़ी-बूटी, मंत्र और तंत्र से रहित कार्मण वशीकरण है।

आशय

योग आध्यात्मिक, भौतिक, दैविक सर्व-विपत्तिरूपी लतासमूह का छेदन करने के लिए तीक्ष्ण परशु के समान है। वह अनर्थफल का नाश करता है। उत्तरार्द्ध के आधे श्लोक से योग से परम पुरुषार्थरूप मोक्ष-लक्ष्मी की प्राप्ति बताई है। जगत् में कार्मण (जादू) करने के लिए जड़ी-बूटी, मन्त्र-तन्त्र की विधि करनी पड़ती है, परन्तु योग जड़ी-बूटी, मंत्र और तंत्र के बिना ही मोक्ष-लक्ष्मी को वश में करने का अमोघ उपाय है।

कारण को दूर किये बिना विपत्तिरूप कार्य का नाश कैसे हो हो सकता है? इसी हेतु से कारणभूत पापों का नाश करने वाले योग के बारे में कहते हैं :—

भूयांसोऽपि हि पाप्मानः प्रलयं यान्ति योगतः।
चण्डवाताद् घनघना घनाघनघटा इव ॥६॥

अर्थ

प्रचंड वायु से जैसे घने बादलों की श्रेणी बिखर जाती है, वैसे ही योग के प्रभाव से बहुत से पाप भी नष्ट हो जाते हैं।

प्रश्न होता है कि एक जन्म में उपार्जित किये हुए पाप योग के प्रभाव से कदाचित् नष्ट हो सकते हैं; किन्तु जन्म-जन्मान्तर में उपार्जित अनेक पापों का विनाश योग से कैसे हो सकता है? इसी के उत्तर में कहते हैं—

क्षिणोति योगः पापानि, चिरकालार्जितान्यपि।
प्रचितानि यथैधांसि क्षणादेवाशुशुक्षणिः ॥७॥

अर्थ

जैसे चिरकाल से इकट्ठी की हुई लकड़ियों को प्रचंड अग्नि एक क्षण में जला देती है; वैसे ही अनेकानेक भवों के चिरसंचित पापों को भी योग क्षणभर में क्षय कर देता है।

योग का दूसरा फल भी बताते हैं—

'कफविप्रुण्मलामर्श - सर्वौषधि-महर्द्धयः ।
सम्भिन्नस्रोतोलब्धिश्च, यौगं ताण्डवडम्बरम् ॥८॥'

अर्थ

योगी को कफ, श्लेष्म, विष्ठा, स्पर्श आदि सभी औषधिमय महासम्पदाएँ (प्रभावशाली) तथा संभिन्नस्रोतलब्धि (किसी भी एक इन्द्रिय से सारी इन्द्रियों के विषयों का ज्ञान हो जाने की शक्ति) प्राप्त होना योगजनित अभ्यास का ही चमत्कार है।

व्याख्या

योगी के कफ, श्लेष्म, विष्ठा, कान का मैल, दांत का मैल, आँख और जीभ का मैल, हाथ आदि का स्पर्श, विष्ठा, मूत्र, केश नख आदि कथित या अकथित सभी पदार्थ योग के प्रभाव से औषधिरूप बन जाते हैं। वे औषधि का काम करते हैं। जो काम औषधियाँ करती है, वही काम कफादि कर सकते है। इतना ही नहीं; योग से अणिमादि संभिन्नस्रोत आदि लब्धियां (शक्तियाँ) भी प्राप्त होती हैं। यह योग का ही प्रभाव था कि सनत्कुमार जैसे योगी को अपने योग-प्रभाव से कफबिन्दुओं द्वारा सब रोग मिटाने की शक्ति प्राप्त हुई। नीचे हम सनत्कुमार चक्रवर्ती का दृष्टान्त दे रहे हैं :—

सनत्कुमार चक्रवर्ती की कथा

हस्तिनापुर नगर में षट्खण्डाधिपति सनत्कुमार नामक चौथा चक्रवर्ती राज्य करता था। एक बार सुधर्मा नाम की देवसभा में इन्द्र महाराज ने विस्मत होकर उसकी अप्रतिम रूपसम्पदा की प्रशंसा की—"कुरुवंश-शिरोमणि सनत्कुमार चक्रवर्ती का जिस प्रकार का रूप है, वैसा आज देवलोक में या मनुष्यलोक में किसी का भी नहीं है।" इस प्रकार की रूप-प्रशंसा पर विश्वास न करके विजय और वैजयन्त नाम के दो देव सनत्कुमार की परीक्षा करने के लिए मर्त्यलोक में आए। उन दोनों देवों ने यहाँ आ कर ब्राह्मण का रूप बनाया और सनत्कुमार के रूप को देखने के लिये उसके राजमहल के द्वार पर द्वारपाल के पास आए। सनत्कुमार भी उस समय स्नान करने की तैयारी में था। सभी पोशाक खोल कर वह केवल एक कटिवस्त्र पहने हुए तेल मालिश करवा रहा था। द्वारपाल ने दरवाजे पर खडे दो ब्राह्मणों के आगमन के बारे में सनत्कुमार चक्रवर्ती से निवेदन किया। अत: न्यायसम्पन्न चक्रवर्ती ने उसी समय उनका प्रवेश कराया। सनत्कुमार को देख कर विस्मय से आँखे तरेरते हुए वे दोनों देव सिर हिलाते हुए विचार करने लगे— अहो! अष्टमी की रात्रि के चन्द्र-सदृश इसका ललाट है, कान तक पहुंचे हुए दो नेत्र हैं, नील-कमल को मात करने वाली इसकी शरीर-कान्ति है? पक्के बिम्बफल के समान कान्तिमय दो ओठ हैं, सीप के समान दो कान हैं, पाँचजन्य शंख से भी श्रेष्ठ इसकी गर्दन है, हाथी की सूंड को मात करने वाले दो हाथ हैं, मेरुपर्वत की शोभा को भी हरण करने वाला इसका

वक्षःस्थल है, सिंह-शिशु के उदर के समान इस की कमर है; अधिक क्या कहें, इसके पूर्ण शरीर की शोभा वर्णनातीत है। अहो ! चन्द्रमा की चांदनी के समान इसके लावण्य को नदी के प्रवाह में स्नान करके शरीर को स्वच्छ करने वाले हम नहीं जान सकते। इन्द्रमहाराज ने इसके रूप का जैसा वर्णन किया था, उससे भी अधिक उत्तम इसका रूप है। महापुरुष कभी असत्य नहीं बोलते। इतने में चक्रवर्ती बोला—'विप्रवरो, आप दोनों यहाँ किस प्रयोजन से आये हैं ?' तब उन्होंने कहा 'हे नरसिंह ! इस चराचर जगत् में तुम्हारा रूप लोकोत्तर और आश्चर्यकारी है। दूर-दूर से तुम्हारे रूप का वर्णन सुन कर हमारे मन में इसे देखने का कुतूहल पैदा हुआ, इस कारण हम यहां आए हैं। आज तक हमने आपके अद्भुतरूप का वर्णन सुना था, आँखों से देखा नहीं था ; परन्तु आज आपका रूप देख कर आँखों को तृप्ति हुई। तब मुस्करा कर सनत्कुमार ने कहा—'विप्रवरो ! तेल मालिश किये हुए शरीर की कान्ति तो कुछ भी नहीं है; कुछ देर ठहरो, बैठो और मेरा स्नान हो जाय तब तक जरा इन्तजार करो। देखो, जब मैं अनेक आश्चर्यकारी विविध वेष-भूषा और बहुमूल्य आभूषणों से सुसज्जित हो जाऊँ, तब रत्नजटित सुवर्ण के समान मेरा रूप देखना'। यों कह कर सनत्कुमार स्नान करके वेष-भूषा एवं अलंकार आदि धारण करके आकाश में चन्द्र की तरह सुशोभित हो कर सभाजनों में सिंहासन पर बैठे। राजा ने उसी समय दोनों ब्राह्मणों को बुलाया। अतः राजा के सामने आ कर राजा के रूप को निहार कर दोनों विचार करने लगे—'कहां वह रूप एवं कान्ति और कहां अब का यह फीका रूप और लावण्य ! सचमुच संसार के सभी पदार्थ क्षणिक हैं।' राजा ने पूछा—'विप्रवरो ! पहले मुझे देख कर आप हर्षित हुए थे; अब आपका मुख विषाद से एकदम मलिन क्यों हो गया ?' तब अमृतोपम वचनों से वे कहने लगे—'हे महाभाग ! हम दोनों सौधर्म देवलोक के निवासी देव हैं। इन्द्रमहाराज ने देवसभा में आपके रूप की प्रशंसा की थी ! उनके कथन पर हमें विश्वास नहीं हुआ। अतः हम मनुष्य का रूप बना कर आपका रूप देखने के लिए यहां आये हैं। इन्द्रमहाराज द्वारा वर्णित आपका रूप पहले हमने यथार्थ रूप में देखा था; परन्तु वर्तमान में वह रूप वैसा नहीं रहा है। जैसे निःश्वास से दर्पण मलिन हो जाता है, वैसे ही अब आपकी शरीर की कान्ति मलिन हो गई है। आपका रूप विकृत हो गया है; लावण्य फीका पड़ गया है। अब आपका शरीर अनेक रोगों से घिरा हुआ है।' इस तरह सच-सच बात बता कर वे दोनों देव अदृश्य हो गये।

राजा ने कोहरे से झुलसे हुए वृक्ष के समान अपने निस्तेज शरीर को देखा। वह विचार करने लगा— सदैव रोग के घर के समान इस शरीर को धिक्कार है ! मन्दबुद्धि मूर्ख व्यर्थ ही इस पर ममता करते हैं। जैसे बड़े लक्कड़ को भयंकर घुन खाते हैं; वैसे ही शरीर में उत्पन्न हुए विविध प्रकार के भयंकर रोग इस शरीर को खा जाते हैं। बाहर से यह शरीर चाहे कितना ही अच्छा दीखे, मगर बड़ के फल के समान अन्दर से तो कीड़ों से व्याप्त होता है। जैसे सुशोभित महासरोवर के पानी पर शैवाल छा जाने से उसकी शोभा नष्ट हो जाती है, वैसे ही इस शरीर पर रोग छा जाने से वह इसकी रूपसंपत्ति को बर्बाद कर देता है। शरीर शिथिल हो जाता है, मगर आशा शिथिल नहीं होती; रूप चला जाता है, परन्तु पापबुद्धि नहीं जाती; वृद्धावस्था बढ़ती जाती है, परन्तु ज्ञानवृद्धि नहीं होती। धिक्कार है, संसारी जीवों के ऐसे स्वरूप को ! घास की नोक पर पड़े ओसबिन्दु के समान इस संसार में रूप, लावण्य, कान्ति, शरीर, धन आदि सभी पदार्थ चंचल हैं। शरीर का स्वभाव आज था, वह कल नहीं रहता। अतः इस शरीर से तपस्या करके कर्मों की सकाम निर्जरा करना (क्षीण करना) यही महाफल-प्राप्ति का कारण है। इस प्रकार वैराग्यभावना में डूबे हुए चक्रवर्ती को मुनिदीक्षा लेने की अभिलाषा

जागृत हुई। उसने तत्काल अपने पुत्र को राज्याभिषिक्त करके राजपाट सौंप दिया और स्वयं विनयपूर्वक उद्यान में जा कर विनयधरसूरिजी के पास मुनि दीक्षा ले कर सर्वसावद्यविरतिरूप संयम अंगीकार किया।

महाव्रतों और उत्तरगुणों को धारण कर राजर्षि एक गांव से दूसरे गांव समताभाव से एकाग्रचित्त हो कर विहार करते थे। हाथियों के यूथपति के पीछे-पीछे जैसे उसका समुदाय चलता है, वैसे ही राजर्षि के पीछे-पीछे गाढ़-अनुराग से प्रजामण्डल चलने लगा। उन कषायरहित, उदासीन, ममत्वरहित, निष्परिग्रह राजर्षि की प्रजा ने छह महीने तक सेवा की। अब किसी प्रकार भी वापस लौटने का उसका मन नहीं होता था। वे यथाविधि भिक्षा ग्रहण करते थे। भोजन समय पर न मिलने से तथा अपथ्य भोजन करने से अनेक व्याधियों ने उनके शरीर में डेरा जमा लिया। खुजली, सूजन, बुखार, श्वास, अरुचि, पेट में दर्द और आंखों में वेदना, इन सात प्रकार की व्याधियों की वेदना को सातसौ वर्ष तक राजर्षि ने समतापूर्वक सहन किया। समग्र दुःस्सह परिषहों के सहन करने से तथा उनके निवारण का उपाय नहीं करने से उन्हें अनेक लब्धियां प्राप्त हो गईं। उस समय हृदय में आश्चर्य होने से इन्द्रमहाराज ने देवों के सामने उस मुनि की प्रशंसा की—"जलते हुए घास के पुले के समान चक्रवर्ती-पन का वैभव छोड़ कर यह सनत्कुमार मुनि दुष्कर तप कर रहे हैं, तप के प्रभाव से उन्हें समस्त लब्धियां प्राप्त हुई हैं; फिर भी वे अपने शरीर के प्रति निरपेक्ष हैं। यहां तक कि अपने रोगों की चिकित्सा भी नहीं करते।" इन्द्र के इस वचन पर विजय और वैजयन्त नामक देवों को विश्वास न होने से वे वैद्य का रूप बना कर सनत्कुमारमुनि के पास आये और कहने लगे—'भाग्यशाली मुनिवर! आप रोग से क्यों दुःखी होते हैं? हम दोनों वैद्य हैं। हम सारे विश्व के रोगियों की चिकित्सा करते हैं, और आप रोगग्रस्त हैं तो हमें आज्ञा दीजिये न! हम एक ही दिन में आपका रोग मिटा देते हैं।" यह सुन कर सनत्कुमारमुनि ने प्रत्युत्तर दिया—"चिकित्सको! इस जीव को दो प्रकार के रोग होते हैं—एक तो द्रव्यरोग और दूसरा भावरोग। क्रोध, मान, माया और लोभ आदि भावरोग हैं, जो शरीरधारी आत्माओं को होते हैं और हजारों जन्मों तक जीव के साथ चलते हैं और असीम दुःख देते हैं। अगर आप उन रोगों को मिटा सकते हों तो चिकित्सा कीजिए। किन्तु यदि केवल शरीर के द्रव्यरोग मिटाते हों तो ऐसे रोग मिटाने की शक्ति तो मेरे पास भी है।" यों कह कर उन्होंने मवाद से भरी अपनी सड़ी उंगली पर अपने कफ का लेप किया। सिद्धरस का लेप करते ही जैसे तांबा चमकने लगता है, वैसे ही वह अंगुली कफ का लेप करते ही सोने-सी चमकने लगी। सोने की सलाई के समान अंगुली देख कर वे देव उनके चरणों में गिर पड़े, और कहने लगे—'मुनिवर! हम वे ही देव हैं, जो पहले आपका रूप देखने आये थे। इन्द्रमहाराज ने कहा था कि 'लब्धियां प्राप्त होने पर भी सनत्कुमार राजर्षि स्वेच्छा से व्याधि की पीड़ा सहन करते हुए अद्भुत तप कर रहे हैं।' इसी कारण हम यहाँ आये हैं। हमने यहाँ आ कर आपकी प्रत्यक्ष परीक्षा की। उसमें आप उत्तीर्ण हुए।' यों कह कर वे दोनों देवता उन्हें नमस्कार करके अदृश्य हो गये। उनको प्राप्त कफलब्धि का तो एक उदाहरण हमने दिया है। उन्हें दूसरी अनेक लब्धियाँ प्राप्त थीं, परन्तु ग्रन्थ बढ़ जाने के डर से हम उनका वर्णन यहाँ नहीं करते।

योग के प्रभाव से प्राप्त अन्य लब्धियाँ

योग के प्रभाव से योगी पुरुष की विष्ठा भी रोग का नाश करने में समर्थ होती है, और उसमें कमल की-सी महक भी आती है। सभी देहधारियों का मल दो प्रकार का माना है। एक तो कान, नेत्र आदि से निकलने वाला, और दूसरा शरीर से निकलने वाला मल, मूत्र, पसीना आदि। योगियों के

योग का इतना जबर्दस्त प्रभाव होता है कि उनके पूर्वोक्त दोनों प्रकार के मल समस्त रोगियों के रोग को मिटा देते हैं। उक्त दोनों प्रकार के मलों में कस्तूरी की-सी सुगन्धि आती है। अमृतरस के सिंचन की तरह योगियों के शरीर का स्पर्श भी तत्क्षण सर्व रोगों का विनाश करने में समर्थ होता है। योगियों के शरीर के नख, बाल, दांत आदि विभिन्न अवयव भी औषधिमय बन जाते हैं। इसीलिये उन्हें भी **सर्वोषधि-लब्धि** मान कहा है। इसी कारण तीर्थंकरदेवों और योग धारण करने वाले चक्रवर्तियों के शरीर के हड्डी आदि सर्व अवयव देवलोक में सर्वत्र प्रतिष्ठित किये जाते हैं, पूजे जाते हैं। इसके अतिरिक्त योगियों के शरीर में और भी अनेक लब्धियां प्रगट हो जाती हैं।

योगी के शरीर के स्पर्शमात्र से वर्षा का पानी, नदियों, सरोवरों या जलाशयों का पानी सभी रोगों को हरण करने वाला बन जाता है। उनके शरीर-स्पर्श से विषाक्त वायु निर्विष हो जाती है; मूर्च्छित प्राणी होश में आ जाता है। विष-मिश्रित अन्न योगी के मुख में प्रवेश करते ही निर्विष बन जाता है। महाविष या महाव्याधि से पीड़ित व्यक्ति भी उनके वचन-श्रवण-मात्र से या दर्शन-मात्र से भी विषरहित व रोगरहित हो जाता है। सर्वोषधि का यही रहस्य है। कहने का तात्पर्य यह है कि योगियों के कफ आदि महान् ऋद्धियों के समान हैं, अथवा ऋद्धियों के अलग-अलग भेद हैं। वैक्रियलब्धि भी अनेक प्रकार की है। उसके अणुत्व, महत्व, लघुत्व, गुरुत्व प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व, अप्रतिघा-घातित्व, अन्तर्धान, कामरूपित्व आदि अनेक भेद हैं। **अणुत्व** का अर्थ है—अणु जितना शरीर बना कर बारीक से बारीक छेद में प्रवेश करने का सामर्थ्य। **महत्व**=मेरुपर्वत से भी महान् बनने का सामर्थ्य। **लघुत्व**=वायु से भी हल्का शरीर बनाने की शक्ति। **गुरुत्व**=इन्द्रादि के लिए दुःसह तथा वज्र से भी अधिक वजनदार शरीर बनाने की शक्ति। **प्राप्ति**=धरती पर रहे हुए ही अंगुली के अग्रभाग से मेरुपर्वत के सिरे को और सूर्य को भी स्पर्श कर सकने का सामर्थ्य। **प्राकाम्य**=भूमि पर चलने की तरह पानी पर चलने की और पानी पर तैरने की तरह भूमि पर तैरने व डूबने की शक्ति। **ईशित्व**=तीन लोक की प्रभुता, तीर्थंकर और इन्द्र की-सी ऋद्धि पाने की शक्ति और **कामरूपित्व**=एक साथ ही अनेक रूप धारण करने की शक्ति। ये सब वैक्रिय-लब्धियां भी महाऋद्धियों के अन्तर्गत हैं। इसके अतिरिक्त विद्या और बुद्धि से सम्बन्धित अनेक लब्धियाँ हैं, जो योगाभ्यास से प्राप्त होती हैं। जैसे श्रुतज्ञानावरणीय एवं वीर्यान्तराय कर्म के प्रकर्ष क्षयोपशम से साधक को असाधारण महाप्रज्ञा—ऋद्धि प्राप्त होती है, जिसके प्रभाव से वह द्वादशांग और चतुर्दशपूर्व का विधिवत् अध्ययन न होने पर भी बारह अगों और चतुर्दशपूर्वों के ज्ञान का निरूपण कर सकता है। तथा उस महाप्राज्ञ श्रमण की बुद्धि गंभीर से गंभीर और कठिन से कठिन अर्थ का स्पष्ट विवेचन कर सकती है। कोई विद्याधारी श्रमण विद्यालब्धि प्राप्त कर दस पूर्व तक पढ़ता है; कोई रोहणी, प्रज्ञप्ति आदि महाविद्याओं व अंगुष्ठप्रश्न आदि अल्पविद्याओं के जानकार हो जाते हैं, फिर वे किसी ऋद्धिमान के वश नहीं होते। कई साधक पढ़ हुए विषय के अतिरिक्त विषयों का प्रतिपादन एवं विश्लेषण करने में कुशल होते हैं। उक्त विद्याधर-श्रमणों में से कइयों को बीज, कोष्ठ व पदानुसारी बुद्धि की लब्धि प्राप्त होती है। बीजबुद्धि के लब्धिधारी वे कहलाते हैं, जो ज्ञाना-वरणीयादि कर्मों के अतिशय क्षयोपशम से एक अर्थरूपी बीज को सुन कर अनेक अर्थ वाले बहुत से बीजों को उसी तरह प्राप्त कर लेता है जिस तरह एक किसान अच्छी तरह जोती हुई जमीन में वर्षा या सिंचाई के जल, सूर्य की धूप, हवा आदि के संयोग से एक बीज बो कर अनेक बीज प्राप्त कर लेता है। जैसे—कोष्ठागार (कोठार) में रखे हुए विविध धान्य एक दूसरे में मिल न जायं, सड़ कर बिगड़ न जायं, इस

दृष्टि से कुशल बुद्धि वाला किसान बहुत-सा धान्य कोठारों में अच्छी तरह संभाल कर सुरक्षित रखता है; वैसे ही दूसरे से सुन कर अवधारण किये हुए श्रुत (शास्त्र) के अनेक अर्थों को या बार-बार आवृत्ति किये बिना ही विभिन्न अर्थों को भलीभांति याद रखता है, भूलता नहीं है, इस प्रकार मस्तिष्करूपी कोष्ठागार में का अर्थ सुरक्षित रखता है, वह कोष्ठबुद्धि कहलाता है। पदानुसारी बुद्धि वाले तीन प्रकार के होते हैं—अनुस्रोत, प्रतिस्रोत और उभयपद। (१) जिनकी बुद्धि ग्रन्थ के प्रथम पद के अर्थ को दूसरे से सुन कर अन्तिम पद तक के सम्पूर्ण ग्रन्थ का विचार (स्मरण) करने में समर्थ अत्यन्त तीव्र होती है, वह अनुस्रोत-पदानुसारी-बुद्धि कहलाता है। (२) जिसकी बुद्धि अन्तिम पद के अर्थ या ग्रन्थ को दूसरे से सुन कर, आदि पद तक के अर्थ या ग्रन्थ को स्मरण कर सकने में समर्थ हो, वह प्रतिस्रोत-पदानुसारी बुद्धि कहलाता है और (३) जिसकी बुद्धि ग्रन्थ के बीच के अर्थ या पद को दूसरे से जान कर आदि से अन्त तक के तमाम पद-समूह और उनका प्रतिनियत अर्थ करके सारे ग्रन्थ-समुद्र को पार करने में समर्थ असाधारण तीव्र हो, वह उभयपदानुसारी बुद्धि कहलाता है। बीजबुद्धि और पदानुसारीबुद्धि में यही अन्तर है कि बीजबुद्धि तो एक पद का अर्थ बताने पर अनेक पदों का अर्थ बताने में कुशल होती है जबकि पदानुसारीबुद्धि एक पद को जान कर दूसरे तमाम पदों को जानने में समर्थ होती है।

इसी प्रकार मनोबली, वचनबली, कायबली भी एक प्रकार के लब्धिधारी होते हैं। जिसका निर्मल मन मतिज्ञानावरणीय और वीर्यान्तराय कर्म के अतिशय क्षयोपशम की विशेषता से अंतर्मुहूर्त में सारभूत तत्व उद्धृत करके सारे श्रुत-समुद्र में अवगाहन करने में समर्थ हो, वह साधक मनोबली-लब्धिमान कहलाता है। जिसका वचनबल एक अन्तर्मुहूर्त में सारी श्रुतवस्तु को बोलने में समर्थ हो, वह वाग्बली-लब्धिमान कहलाता है; अथवा पद, वाक्य और अलंकार—सहित वचनों का उच्चारण करते समय जिसकी वाणी का प्रवाह अखण्ड अस्खलित चलता रहे, कंठ में जरा भी रुकावट न आए, वह भी वाग्बली कहलाता है। वीर्यान्तरायकर्म के क्षयोपशम से जिसमें असाधारण कायाबल-योग प्रगट हो गया हो कि कायोत्सर्ग में चिरकाल तक खड़े रहने पर भी थकावट और बेचैनी न हो, वह कायबलीलब्धिमान कहलाता है। उदाहरणार्थ—बाहुबलि मुनि जैसे एक वर्ष तक कायोत्सर्ग-प्रतिमा धारण करके खड़े रहे थे, वे कायबली थे। इसी प्रकार क्षीरलब्धि, मधुलब्धि, घृतलब्धि और अमृतलब्धि वाले भी योगी होते हैं। जिनके पात्र में पड़ा हुआ खराब अन्न भी दूध, मधु, घी और अमृत के रस के समान बन कर शक्तिवर्द्धक हो जाता है, अथवा वाचिक, शारीरिक और मानसिक दुःख प्राप्त हुए आत्माओं को खीर आदि की तरह जो आनन्ददायक होते हैं; वे क्रमशः क्षीरास्रव, मध्वास्रव, सर्पिरास्रव, और अमृतास्रव लब्धि वाले कहलाते हैं। वे दो प्रकार के होते हैं एक होते हैं, अक्षीण-महानसलब्धिमान और दूसरे होते हैं, अक्षीणमहालयलब्धिधर। असाधारण अन्तराय कर्म के क्षयोपशम होने से जिनके पात्र में दिया हुआ अल्प आहार भी गौतमस्वामी की तरह अनेकों को दे दिया जाय, फिर भी समाप्त नहीं होता; वे अक्षीणमहानस—लब्धिमान कहलाते हैं। जिस परिमित भूमिभाग में असंख्यात देव, तिर्यंच और मनुष्य सपरिवार खचाखच भरे हों, बैठने की सुविधा न हो, वहां अक्षीणमहालय-लब्धिधारी के उपस्थित होते ही इतनी जगह हो जाती है कि तीर्थंकर के समवसरण की तरह सभी लोग सुखपूर्वक बैठ सकते हैं। इसी तरह प्राज्ञश्रमण आदि साधकों में महाप्रज्ञा आदि लब्धियां भी प्राप्त होती बताई हैं; जिनके प्रभाव से वे एक ही इन्द्रिय से सभी इन्द्रियों के विषयों की जानकारी कर सकते हैं; ऐसी महाऋद्धि सभिन्न-स्रोतोलब्धि कहलाती हैं। और भी कई लब्धियाँ बताते हैं :—

चारणाशीविषावधि–मनः–पर्यायसम्पदः ।
योगकल्पद्रुमस्यैताः विकासिकुसुमश्रियः ।।९।।

अर्थ

चारणविद्या, आशीविषलब्धि, अवधिज्ञान और मनःपर्यायज्ञान की सम्पदाएं; ये सब योगरूपी कल्पवृक्ष की ही विकसित पुष्पश्री हैं ।

व्याख्या

जिस लब्धि के प्रभाव से जल, स्थल या नभ में निराबाध गति हो सके, उस अतिशय शक्ति को चारणलब्धि कहते हैं । जिस लब्धि के प्रभाव से साधक दूसरे पर अपकार (शाप) या उपकार (वरदान) करने में समर्थ हो; वह आशीविषलब्धि कहलाती है । जिस लब्धि के प्रभाव से इन्द्रियों से अज्ञेय परोक्ष रूपीद्रव्य का ज्ञान इन्द्रियों की सहायता के बिना ही प्रत्यक्ष किया जा सके, उसे अवधिज्ञान-लब्धि कहते हैं । दूसरे के मनोद्रव्य की पर्यायों को प्रत्यक्ष देखने की शक्ति जिस लब्धि के प्रभाव से हो जाय, उसे मनःपर्यायज्ञानलब्धि कहते हैं । ये सारी लब्धियां योगरूपी कल्पवृक्ष के ही पुष्प समान हैं । इनसे फल की प्राप्ति हो तो केवलज्ञान अथवा मोक्षप्राप्ति होती है; जिसे हम भरतचक्रवर्ती और मरुदेवी के उदाहरण से आगे बताएंगे ।

चारणलब्धि दो प्रकार की होती है—जंघाचारणलब्धि और विद्याचारणलब्धि । ये दोनों लब्धियां मुनियों को ही प्राप्त होती हैं । उनमें जंघाचारण-लब्धिधारी मुनि सुगमता से उड़ कर एक कदम में सीधे रुचकद्वीप में पहुंच जाते हैं; वापिस आते समय भी रूचकद्वीप से एक कदम में उड़ कर नंदीश्वरद्वीप में आ जाते हैं और दूसरे कदम में जहाँ से गये हों, वहीं मूल स्थान पर वापस आ जाते हैं, और वे ऊर्ध्वगति से उड़ कर एक कदम में मेरुपर्वत के शिखर पर ठहर कर पांडुवन में पहुंच जाते हैं; वहाँ से भी वापस आते समय एक कदम में नंदनवन में आ जाते हैं और दूसरे कदम में उड़ कर जहाँ से पहले उड़े थे, उसी मूल स्थान पर आ जाते है । विद्याचारणलब्धिधर मुनि तो एक कदम से उड़ कर मानुषोत्तर पर्वत पर पहुंच जाते हैं और दूसरे कदम से नंदीश्वरद्वीप में जाते हैं, वहाँ से एक ही कदम में उड़ कर, जहाँ से गये थे, वहीं वापस आ जाते हैं । कई चारणलब्धिधारी मुनि तिर्यग्गति में भी उसी क्रम से ऊर्ध्व गमनागमन कर सकते हैं ।

इसके अलावा और भी अनेक प्रकार के चारणमुनि होते हैं । कई पल्हथी मार कर, बैठे हुए और कायोत्सर्ग किये हुए पैरों को ऊंचे-नीचे किये बिना आकाश में गमन कर सकते हैं । कितनेक तो जल, जंघा, फल, फूल, पत्र-श्रेणी, अग्निशिखा, धूम, हिम-तुषार, मेघ-जलधारा, मकड़ी का जाला, ज्योतिष्-किरण, वायु आदि का आलंबन ले कर गति करने में कुशल होते हैं । उसमें कई चारणलब्धि वाले मुनि बावड़ी, नदी, समुद्र आदि जलाशयों में जलकायिक आदि जीवों की विराधना किये बिना पानी पर जमीन की तरह पैर ऊँचे-नीचे करते हुए रखने में कुशल होते हैं; वे जलचारणलब्धिमान् मुनि कहलाते हैं । जो जमीन से चार अंगुलि-प्रमाण ऊपर अधर आकाश में चलने में और पैरों को ऊँचे-नीचे करने में कुशल होते हैं, वे भी जंघाचारणलब्धिधारी मुनि कहलाते हैं । कई भिन्न-भिन्न वृक्षों के फलों को ले कर फल के आश्रित रहे हुए जीवों को पीड़ा न देते हुए फल के तल पर पैर ऊँचे-नीचे रखने में कुशल होते हैं, वे फलचारणलब्धि-धारी मुनि कहलाते हैं । इसी प्रकार विभिन्न प्रकार के वृक्षों, लताओं, पौधों या फूलों को पकड़ कर

उनके आश्रित सूक्ष्म जीवों की विराधना किये बिना सिर्फ फूल की पंखुड़ियों का आलंबन ले कर गति कर सकते हैं, वे **पुष्पचारणलब्धिधर** मुनि कहलाते हैं। विविध प्रकार के पौधों, बेलों, विविध अंकुरों, नई कोंपलों, पल्लवों या पत्तों आदि का अवलंबन ले कर सूक्ष्मजीवों को पीड़ा दिये बिना अपने चरणों को ऊंचे-नीचे रखने और चलने में कुशल होते हैं, वे **पत्रचारणलब्धिधारी** मुनि कहलाते है। चार सौ योजन ऊंचाई वाले निषध अथवा नील पर्वत की शिखर-श्रेणि का अवलम्बन ले कर जो ऊपर या नीचे चढ़ने-उतरने में निपुण होते हैं, वे **श्रेणीचारणलब्धिमान मुनि** कहलाते है। जो अग्निज्वाला की शिखा ग्रहण करके अग्निकायिक जीवों की विराधना किये बिना और स्वयं जले बिना बिहार करने की शक्ति रखते है, वे, **अग्निशिखाचारणलब्धियुक्त** मुनि कहलाते हैं, धुंए की ऊंची या तिरछी श्रेणि का अवलम्बन ले कर अस्खलितरूप से गमन कर सकने वाले **धूमचारणलब्धिप्राप्त मुनि** कहलाते हैं। बर्फ का सहारा ले कर अपकाय की विराधना किये बिना अस्खलित गति कर सकने वाले **नीहारचारणलब्धि मुनि** कहलाते है। कोहरे के आश्रित जीवों की विराधना किये बिना उसका आश्रय ले कर गति कर सकने की लब्धि वाले **अवश्यायचारणमुनि** कहलाते हैं। आकाश मार्ग मे विस्तृत मेघ-समूह में जीवों को पीड़ा न देते हुए चलने की शक्ति वाले **मेघचारणमुनि** कहलाते हैं। वर्षाकाल में वर्षा आदि की जलधारा का अवलम्बन ले कर जीवों को पीड़ा दिये बिना चलने की शक्ति वाले **वारिधाराचारण मुनि** कहलाते हैं। विचित्र और पुराने वृक्षों के कोटर मे बने मकड़ी के जाले के तंतु का आलम्बन ले कर उन तंतुओं को टूटने न देते हुए पैर उठा कर चलने मे जो कुशल होते है, वे **मर्कटकतन्तुचारणलब्धिधारी** मुनि कहलाते है। चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र आदि किसी भी ज्योति की किरणों का आश्रय ले कर नभस्तल में जमीन की तरह पैर से चलने की शक्ति वाले **ज्योतिरश्मिचारण मुनि** कहलाते हैं। अनेक दिशाओं में प्रतिकूल या अनुकूल चाहे जितनी तेज हवा में, वायु का आधार ले कर अस्खलित गति से पैर रख कर चलने की कुशलता वाले **वायुचारणलब्धिप्राप्त मुनि** कहलाते हैं।

तप और चारित्र के प्रभाव के बिना, दूसरे गुणों के अतिशय से भी लब्धियाँ और ऋद्धियाँ प्राप्त होती हैं। **आशीविषलब्धि वाला** अपकार और उपकार करने में समर्थ होता है। अमुक सीमा में रहे हुए सभी प्रकार के इन्द्रियपरोक्ष द्रव्यों का हस्तामलकवत प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करने की लब्धि **अवधिज्ञान लब्धि** कहलाती है।

मनुष्यक्षेत्रवर्ती ढाई द्वीप में स्थित जीवों के मनोगत पर्यायों या मनोगत द्रव्यों को प्रकाशित करने वाली लब्धि **मनःपर्यायज्ञानलब्धि** कहलाती है। इसके दो भेद हैं —**ऋजुमति और विपुलमति।** विपुलमति-मनःपर्यायज्ञान एक बार प्राप्त होने पर फिर नष्ट नहीं होता और विशुद्धतर होता है। ऋजुमति कम विशुद्ध होता है। अब योग का माहात्म्य एवं उसके फलस्वरूप प्राप्त होने वाले केवलज्ञानरूपी फल का निरूपण करते हैं—

अहो ! योगस्य माहात्म्यं प्राज्यं साम्राज्यमुद्वहन् ।
अवाप केवलज्ञानं, भरतो भरताधिप ॥१०॥

अर्थ

अहो ! योग का कितना माहात्म्य है कि विशाल साम्राज्य का दायित्व निभाने वाले भरतक्षेत्र के अधिपति श्रीभरत चक्रवर्ती ने भी केवलज्ञान प्राप्त कर लिया।

व्याख्या

भरत चक्रवर्ती का वह प्रसंग इस प्रकार है—

भरत चक्रवर्ती का आद्योपान्त विस्तृत आख्यान

ऋषभदेव प्रभु का जन्म एवं जन्माभिषेक - इस अवसर्पिणीकाल के सुषम-सुषमा नामक चार कोटाकोटि सागरोपम प्रमाण वाले पहले आरे के बीतने के बाद, तीन कोटाकोटि सागरोपम प्रमाण वाले, सुषम नामक दूसरे आरे और दो कोटाकोटि सागरोपम प्रमाण वाले सुषम-दुःषम नामक तीसरे आरे का पल्योपम के आठवें भाग न्यून समय व्यतीत हो जाने के बाद दक्षिणार्द्ध भरत में (१) विमलवाहन, (२) चक्षुष्मान, (३) यशस्वी, (४) अभिचन्द्र, (५) प्रसेनजित, (६) मरुदेव और (७) नाभि नाम के क्रमशः सात कुलकर हुए। उनमें नाभिकुलकर की पत्नी तीन जगत् को उत्तमशील से पवित्र करने वाली मरुदेवी थी। जब तीसरे आरे के चौरासी लाख पूर्व, तीन वर्ष साढ़े आठ महीने शेष रहे तब सर्वार्थ-सिद्ध विमान से च्यव कर मरुदेवी माता की कुक्षि में चौदह महास्वप्नों को सूचित करते हुए प्रथम जिनेश्वर उत्पन्न हुए। उस समय उन १४ स्वप्नों के अर्थ को नाभिराजा और मरुदेवी यथार्थरूप से नहीं जान सके। अतः इन्द्र ने आ कर हर्षपूर्वक उनके अर्थ सुनाये। उसके बाद एक शुभदिन को ऋषभदेव का जन्म हुआ। छप्पन दिक्कुमारियों ने आ कर प्रसवकर्म किया। इन्द्र ने प्रभु को मेरुपर्वत पर ले जा कर अपनी गोद में बिठाया और तीर्थजल से प्रभु का तथा हर्षाश्रु जल से अपना अभिषेक किया। बाद में इन्द्र ने प्रभु को ले जाकर उनकी माता को सौंप दिया। प्रभु का सभी धात्रीकर्म देवियों ने किया। प्रभु की दाहिनी जंघा में वृषभ का आकार-लांछन देख कर माता-पिता ने प्रसन्नतापूर्वक उन का नाम ऋषभ रखा। प्रभु ऋषभ चन्द्रकिरण के समान अतिशय आनन्द उत्पन्न करते हुए एवं दिव्य आहार से पोषण पाते हुए क्रमशः बढ़ने लगे।

प्रभु के वंश का नामकरण - एक बार इन्द्र प्रभु की सेवा में उपस्थित हुए, तब विचार करने लगे कि आदिनाथ ऋषभदेव भगवान् के वंश का क्या नाम रखा जाय? प्रभु ने अवधिज्ञान से इन्द्र का विचार जान कर उसके हाथ से इक्षुदण्ड लेने के लिए हाथी की सूंड-सा अपना हाथ लम्बा किया। इन्द्र ने प्रभु को इक्षु अर्पण करके नमस्कार किया और तभी प्रभु के वंश का नाम इक्ष्वाकु रखा।

प्रभु के अंगों का आलंकारिक वर्णन बाल्यकाल बिता कर मध्याह्न के सूर्य के समान प्रभु ने यौवनवय मे पदार्पण किया। यौवनवय से प्रभु के दोनों पैरों के तलुए समतल, लाल और कमल के समान कोमल थे। उष्ण व कंपन-रहित होने से उनमें पसीना नहीं होता था। प्रभु के चरणों में चक्र, अभिषेकयुक्त लक्ष्मीदेवी, हाथी, पुष्प, पुष्पमाला अंकुश एवं ध्वज के चिह्न थे। मानो, ये चरणों में नमन करने वालों के दुःखों को मिटाने के लिये ही हों। लक्ष्मी-देवी के क्रीड़ागृह के समान भगवान् के दोनों चरणतलों में शख, कलश, मत्स्य और स्वस्तिक सुशोभित हो रहे थे। स्वामी के अंगूठे भरावदार, पुष्ट, गोल और ऊँचे थे, वे सर्प के फन के समान, वत्स के समान श्रीवत्सचिह्न से युक्त थे। प्रभु के चरणकमल की अँगुलियाँ छिद्ररहित सीधी, वायु प्रवेश-रहित होने से निष्कम्प, चमकती दीपशिखा के समान तथा कमल की पंखुड़ियों के समान थीं। प्रभु के चरणों की उंगलियों के नीचे नन्द्यावर्त ऐसे सुशोभित होते थे कि जमीन पर पड़ने वाले प्रतिबिम्ब धर्म-प्रतिष्ठा के कारणभूत प्रतीत हो रहे थे। अंगुली के पर्व बावड़ी के समान शोभा देते थे। वे ऐसे मालूम होते थे, मानो विश्व-प्रभु के विश्व-लक्ष्मी के साथ होने वाले विवाह के लिए जौ बोए गए हो। प्रभु के चरण-कमल की एड़ी कन्द के समान गोल व प्रमाणोपेत लम्बी-चौड़ी थी। और उनके नख ऐसे प्रतीत होते

थे, मानो, अंगूठों और अंगुलियोंरूपी सर्पों की मस्तकमणियाँ हों। प्रभु के पैर के गट्टे सुवर्णकमल के अर्द्ध-विकसित दल की तरह सुशोभित थे। प्रभु के दोनों पैर ऊपर से नीचे तक क्रमशः कछुए के समान उन्नत थे। उनमें नसें नहीं दिखती थी। उनके रोम अपनी कान्ति से चमकते थे। जगत्पति की जांघें हिरनी की जांघों के समान क्रमशः गोल, गौरवर्ण की एवं मांस से ऐसी पुष्ट थी कि अन्दर की हड्डियाँ मांस से लिपटी होने के कारण दिखती नहीं थीं। उनकी कोमल, चमकीली, पुष्ट जंघाएँ केले के स्तम्भ की तरह शोभायमान थी। गोलाकार मांसल घुटने ऐसे लगते थे, मानो रुई से भरे तकिए में दर्पण जड़ा हुआ हो। स्वामी के दो वृषण (अण्डकोष) हाथी के वृषण के समान गुप्त थे। कुलीन घोड़े के लिंग के समान प्रभु का पुरुष-चिह्न अति गुप्त था, तथा उसमें नसें जरा भी नहीं दिखती थीं। और वह नीचा, ऊँचा-लम्बा या ढीला नहीं था, अपितु सरल कोमल, रोम-रहित, गोल, सुगन्धित जननेन्द्रिययुक्त, शीतल, प्रदक्षिणावर्त-शंखसदृश, एकधारयुक्त, वीभत्सतारहित, आवर्ताकार था। लिंग का आवरण कोश के समान था। उनकी कमर लम्बी, मोटी, मांसल (भरी हुई) विशाल व कठोर थी। कटि का मध्यभाग पतला होने से ऐसा मालूम होता था इन्द्र के वज्र का मध्यभाग हो। उनकी नाभि गभीर नदी के आवर्त की तरह सुशोभित हो रही थी। उनकी कुक्षि स्निग्ध, मांसल, कोमल, सरल और समान थी। स्वर्ण-शिला के समान विशाल और उन्नत उनका वक्षस्थल ऐसा मालूम होता था, मानो श्रीवत्सरत्न की पीठिका हो अथवा लक्ष्मीदेवी के क्रीड़ा करने की वेदिका हो। उनके कंधे बैल के कन्धों के समान उन्नत मजबूत व पुष्ट थे, और दोनों कन्धों के नीचे उनकी कांख रोम वाले दुर्गन्ध, पसीनों और मल से रहित थी। सर्प के फन के समान पुष्ट एवं घुटने तक लम्बी दो बाहें ऐसी लगती थीं, मानो चंचल लक्ष्मी को वश में करने के लिये नागपाश हो। प्रभु की हथेली आम्रवृक्ष के नवीन पल्लव के समान लाल बिना श्रम किये भी कठोर, पसीने से रहित, छिद्ररहित और उष्ण थी। उसके मध्यभाग में दंड, चक्र, धनुष, मत्स्य, श्रीवत्स, वज्र, अंकुश, ध्वज, कमल, चामर, छत्र, शंख, कलश, समुद्र, मेरुपर्वत, मगरमच्छ, वृषभ, सिंह, घोड़ा, रथ, स्वस्तिक, दिग्गज, प्रासाद, तोरण आदि लक्षण और चिह्न थे। लाल, सरल एवं रक्तिम नखों से युक्त उनके अंगूठे और उंगलियां ऐसी लगती थीं, मानो कल्पवृक्ष के सिरे पर माणिक्य-रूप पुष्पों के अंकुर हों। स्वामी के अंगूठे पर पूर्ण यव (जौ) प्रकटरूप से ऐसे शोभायमान थे, मानो वे उनके यशरूपी उत्तम-अश्व को विशेष पुष्ट कर रहे हों। प्रभु की अंगुलि के ऊर्ध्वभाग में दक्षिणावर्त शंख की-सी सर्वसम्पत्तिदायिनी रेखाएं थीं। हाथ के मूल में मणिबन्ध पर अंकित तीन रेखाएँ तीन जगत को कष्टों से उबारना सूचित कर रही थीं। उनका कण्ठ गोल, लम्बा, तीन रेखाओं से पवित्र, मधुर एवं गंभीर आवाज वाला और शंख के सदृश लगता था। प्रभु का निर्मल, गोल और तेजस्वी मुख ऐसा लगता था, मानो लांछन-रहित दूसरा चन्द्रमा हो। मांस से पुष्ट, कोमल और चमकीले प्रभु के दोनों गाल ऐसे लगते थे, मानो सरस्वती और लक्ष्मी के साथ-साथ रहने वाले दो स्वर्ण-दर्पण हों। अपने भीतर के आवर्त्त के कारण कन्धे तक लटकते हुए प्रभु के दोनों कान ऐसे शोभायमान हो रहे थे, मानो प्रभु के मुख की प्रभा रूपी दो सीप हों, जो समुद्र के किनारे पड़ी हों। प्रभु के दोनों ओठ बिम्बफल के समान थे। उनके बत्तीस उज्जवल दांत मोगरे के फूल के समान सुशोभित थे। क्रमशः ऊंची व विस्तारयुक्त उनकी नाक बांस के समान लगती थी। प्रभु की ठुड्डी न बहुत लम्बी थी, और न बहुत छोटी, अपितु सम, मांसपरिपूर्ण, गोल एवं कोमल थी। तथा उनकी दाढ़ी-मूंछें घने काले केशों से भरावदार, चमकीली, काली एवं कोमल थीं। प्रभु की जीभ कल्पवृक्ष के नए पैदा हुए पल्लव के समान लाल और कोमल थी। वह न तो अत्यन्त

लम्बी थी और न स्थूल। वह बारह अंगुल परिमाण थी। बीच में काली और उज्ज्वल तथा दोनों सिरों पर लाल एव कान के आखिरी सिरे तक लम्बी प्रभु की आंखें, ऐसी मालूम होती थी, मानो वे नील-स्फटिक और माणिक्यरत्न से निर्मित हों। उनकी अंजन के समान श्याम पलकें ऐसी मालूम होती थीं, मानो विकस्वर कमलों पर भौंरे बैठे हों। प्रभु की श्याम और वक्र भौंहे दृष्टिरूपी वापिका के किनारे उत्पन्न हुई लता की-सी शोभा दे रही थीं। प्रभु का भाल-स्थल अष्टमी के चन्द्रमा के समान विशाल, कोमल, गोल, सुहावना और कठोर था। छत्र के समान उन्नत एवं गोलाकार प्रभु का मस्तक तीनों लोकों के स्वामित्व को सूचित करता था। मस्तक के मध्यभाग को सहारा देने वाली प्रभु के मस्तक पर रखी हुई पगड़ी मस्तक पर रखे हुए कलश की-सी शोभा बढा रही थी। प्रभु के मस्तक के बाल भौंरे के समान श्याम, घुंघराले, कोमल व चिकने थे, वे यमुनानदी की तरंगों के समान प्रतीत हो रहे थे। गोरोचन के गर्भ के समान गोरी और चिकनी, त्रिलोकीनाथ के शरीर की चमड़ी (त्वचा) ऐसी प्रतीत हो रही थी, मानो वह सोने के तरलरस से लिप्त हो। स्वामी के शरीर पर कमलतन्तु से भी पतले, कोमल भौंरे के रंग के सदृश श्याम अद्वितीय रोम उगे हुए थे। प्रभु का श्वास विकसित कमल की सुगन्धि के समान दुर्गन्ध-रहित था और मांस लाल था और खून था—गाय के दूध की धारा के समान सफेद। इस प्रकार रत्नों के कारण जैसे रत्नाकर सेव्य हो जाता है, वैसे ही असाधारण विविध गुणरत्नों से गुणरत्नाकर बने हुए प्रभु किसके लिए सेव्य न थे?

ऋषभदेव के विवाह का वर्णन—एक बार बाल्यावस्था के कारण सहजरूप से क्रीड़ा करता-करता कोई यौगलिक बालक एक ताड़ के पेड़ के नीचे आ गया। जैसे एरंड के पेड़ पर अचानक बिजली गिर गई हो, वैसे ही दुर्दैव से उस यौगलिक के सिर पर उस समय एक बड़ा-सा ताल-फल गिर पड़ा। इस कारण वह तुरंत अकाल के मरण-शरण हो गया। उस बालक के मर जाने से उसकी साथिन बाला अपने जोड़े का अकस्मात् वियोग हो जाने से हिरणी के समान किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो गई। अकाल में वज्रपात के समान उसकी कुमृत्यु से दूसरे युगलिये भी मूर्छित और किंकर्तव्यविमूढ़ हो गए। वे लोग पुरुष रहित उस कन्या को आगे करके नाभिकुलकर से परामर्श लेने आए कि "अब इस कन्या का क्या किया जाए?" उन्होंने सुझाव दिया—"यह कन्या वृषभनाथ की धर्मपत्नी बनेगी।" यह सुन कर सबके चेहरे पर प्रसन्नता छा गई। जब उस कन्या को स्वीकार कर लिया तो उसका मुखचंद्र भी चन्द्रिका के समान खिल उठा; उसके नेत्र भी कमल के समान विकसित हो उठे। पूर्वभव में प्रभु द्वारा बांधे हुए शुभकार्यों के उदयरूप सुफल जान कर शुभ मुहूर्त देख कर एक दिन देवपरिवारसहित इन्द्र प्रभु का विवाह करने हेतु आये। देवताओं ने उसी समय सुवर्णमय स्तम्भ पर शोभायमान रत्नपुत्तलियों वाला, प्रवेशद्वार और बाहर जाने के अनेक द्वार वाला मध्यमण्डप तैयार किया। वह मण्डप श्वेत और दिव्य वस्त्र के चंदोवे से इतना भव्य लगता था मानो मण्डप की शोभा निहारने की इच्छा से आकाशगंगा आकाश से धरती पर उतर आई हो। चारों दिशाओं में वृक्षों के पत्तों की कतार से बने तोरण ऐसे बांधे गये थे, मानों कामदेव द्वारा निर्मित धनुष हों। आकाश में बहुत ऊंचाई पर पहुंचे हुए रति-निधान-से पंक्तिबद्ध चार रत्न-कलश चारों दिशाओं में देवियों द्वारा स्थापित किए गए थे। मंडप के द्वार पर मेघ सुगन्धित वस्त्रों की वर्षा करते थे और देवियां मंडप के मध्यभाग की भूमि पर चंदनरस का लेप कर रही थीं और बाजे बजा रही थीं तथा मगलगीत गा रही थीं। दिगंगनाएं प्रतिध्वनि के रूप में उसी तरह गाने और बजाने लगीं। इन्द्रमहाराज ने सुमगला और सुनंदा कन्या के साथ प्रभु के पाणिग्रहण का महोत्सव सम्पन्न किया।

उसके बाद देवों द्वारा मांगल्य की हुई सुमंगलादेवी ने भरत और ब्राह्मी के जोड़े को जन्म दिया। तीनों लोक को आनंदित करने वाली सुनंदादेवी ने महाबलशाली बाहुबलि और अतिसुन्दर रूप वाली सुन्दरी को युगलरूप में जन्म दिया। इसके बाद भी सुमंगला और सुनंदा देवी दोनों ने प्रत्येक ने उनचास, उनचास बलवान युगलों को जन्म दिया। सभी संतान साक्षात् देवों के रूपों को मात करने वाली थी।

ऋषभदेव का राज्याभिषेक—एक दिन सभी युगलिये एकत्रित हो कर हाथ ऊँचे करके नाभिकुलकर से पुकार करने लगे—"अन्याय हुआ, अन्याय हुआ'। अब तो अकार्य करने वाले लोग हकार, मकार और धिक्कार नाम की सुन्दर नीतियों को भी नही मानते।" यह सुन कर नाभि कुलकर ने युगलियों से कहा—"इस अकार्य से तुम्हारी रक्षा ऋषभ करेगा। अतः अब उसकी आज्ञानुसार चलो।" उस समय नाभिकुलकर की आज्ञा से राज्य की स्थिति प्रशस्त करने हेतु तीन ज्ञानधारी प्रभु ने उन्हें शिक्षा दी कि "मर्यादाभंग करने वाले अपराधी को अगर कोई रोक सकता है, तो राजा ही। अतः उसे ऊँचे आसन पर बिठा कर उसका जल से अभिषेक करना चाहिए।" प्रभु की बात सुन कर उनके कहने के अनुसार सभी युगलिये पत्तों के दौने बना कर उसमें जल लेने के लिए जलाशय में गए। उस समय इन्द्र का आसन चलायमान हुआ। उसने अवधिज्ञान से जाना कि भगवान् के राज्याभिषेक का समय हो गया है। अतः इन्द्रमहाराज वहां आए। उसने प्रभु को रत्नजटित सिंहासन पर बिठा कर राज्याभिषेक किया। मुकुट आदि आभूषणों से उन्हें सुसज्जित किया। इधर हाथ जोड़ कर और कमलपत्र के दोनों में अपने मन के समान स्वच्छ जल ले कर युगलिये भी पहुंचे। उस समय अभिषिक्त, एवं वस्त्राभूषणों से सुसज्जित मुकुट सिर पर धारण किये हुए सिंहासनासीन प्रभु ऐसे प्रतीत हो रहे थे मानो उदयाचल पर्वत पर सूर्य विराजमान हो। शुभ्र वस्त्रों से वे आकाश में शरद्ऋतु के मेघ-के-से सुशोभित हो रहे थे। प्रभु के दोनों ओर शरदऋतु के नवनीत एवं हंस के समान मनोहर उज्ज्वल चामर ढुल रहे थे।

विनीता नगरी का निर्माण एवं वर्णन— अभिषेक किये हुए प्रभु को देख कर युगलिये आश्चर्य में पड़ गए। उन विनीत युगलियों ने यह सोच कर कि ऐसे अलंकृत भगवान् के मस्तक पर जल डालना योग्य नहीं है अतः प्रभु के चरणकमलों पर जल डाल दिया। यह देख कर इन्द्रमहाराज ने खुश होकर नौ योजन चौड़ी बारह योजन लम्बी विनीता नगरी बनाने की कुबेरदेव को आज्ञा दी। इन्द्र वहां से अपने स्थान पर लौट आए। उधर कुबेर ने भी माणिक्य-मुकुट के समान रत्नमय और धरती पर अजेय **विनीता नगरी** बसाई, जो बाद में अयोध्या, नाम से प्रसिद्ध हुई।

उस नगरी का निर्माण कर सरलस्वभावी कुबेर ने अक्षय रत्न, वस्त्र और धन-धान्य से उसे भर दी। हीरों, नीलम और वैडूर्यरत्न से बनाये हुए महल की विविध रंग की किरणों से आकाश में बिना दीवार के ही चित्र बन गये थे। उसके किले पर तेजस्वी माणिक्य के बनाये हुए कंगूरे खेचरों के लिये अनायास दर्पण का काम करते थे। उस नगरी के घर-घर में धन आ गया। मोतियों के स्वस्तिक बना दिये थे, जिनसे बालिकाएँ स्वेच्छा से कंकड़ों की तरह खेलती थी। उस नगरी के उद्यान में लगे हुए ऊँचे वृक्षों की चोटी से टकरा कर खेचरियों के विमान थोड़ी देर के लिए पक्षियों के घोसले से लगते थे। उस नगरी के बाजारों में और महलों में बड़े बड़े ऊँचे रत्नों के ढेर को देख कर रोहणाचल पर्वत भी कीचड़ के ढेर जैसा लगता था। वहाँ गृहवापिकाएँ जल-क्रीड़ा में एकाग्र बनी स्त्रियों के टूटे हुए हार के मोतियों

के कारण ताम्रपर्णी की तरह शोभायमान होती थीं। नगरी में बड़े-बड़े धनाढ्य रहते थे। ऐसा प्रतीत होता था, मानो उनमें से किसी एकाध के पास वणिक्पुत्र कुबेर भी व्यवसाय करने के लिए गया हो। चन्द्रकांतमणि की बनी महलों की दीवारों में से रात को झरते हुए जल से मार्ग की धूल जमा दी जाती थी। उसी नगरी में अमृतोपम मधुर जल की लाखों की संख्या में बावड़ी, कुंए सरोवर, नवीन अमृतकुंड वाले नागलोक को भी मात कर रहे थे।

राज्यव्यवस्था का वर्णन--राजा ऋषभ उस नगरी को विभूषित करते हुए अपनी प्रजा का पुत्रवत् पालन करते थे। लोकोपकार की दृष्टि से ऋषभ राजा ने पांच शिल्पकलाएँ, जो प्रत्येक २०-२० प्रकार की थीं, प्रजा को सिखाई। राज्य की स्थिरता के लिए गाय, घोड़े हाथी आदि एकत्रित करके उन्हें पालतू बनाए और सामदाम आदि उपायों वाली राजनीति भी बताई। अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को बहत्तर कलाएँ सिखाई। भरत ने भी अपने भाइयों, अपने पुत्रों एवं अन्य पुरुषों को वे कलाएँ सिखाई। ऋषभ राजा ने बाहुबलि को हाथी, घोड़े, स्त्री और पुरुष के विविध लक्षण सिखाए। अपनी पुत्री ब्राह्मी को दाहिने हाथ से अठारह लिपियां और पुत्री सुन्दरी को बांये हाथ से गणित विद्या सिखाई। उसके बाद वर्ण-व्यवस्था करके न्यायमार्ग प्रवर्त्तित किया। इस तरह नाभिपुत्र श्रीऋषभदेव ने अपनी जिंदगी के तिरासी लाख पूर्व वर्ष पूर्ण किए।

एक बार वैशाख के महीने में परिवार के आग्रह से प्रभु कामदेव के द्वारा अपने लिये बनाये गये आवास के तुल्य उद्यान में पधारे। वहाँ विकसित आम्र-मंजरी देख कर प्रभु आनन्दमग्न हुए। भौंरे गुनगुना कर मानो प्रभु का स्वागत कर रहे थे। उद्यान में मानो वसंतलक्ष्मी प्रगट हो चुकी थी। कोयल पंचमस्वर से गा कर मानो नाटक की सूत्रधार बन कर प्रस्तावना कर रही थी। वायु लताओं को नृत्य करा रही थी। मन्द, सुगन्ध मलयानिल से मानो पुष्पों के वासगृह में बैठे, पुष्प के आभूषणों से भूषित, प्रभु पुष्पदण्डयुक्त हस्त वाले लगते थे। वृक्ष की डालियों के आसपास कुतूहलवश फूल चुनने के लिए एकत्रित हुए नारीसमूह को देख कर ऐसा लगता था मानो ये पेड़ स्त्रीरूपी फलों से युक्त हों। इस प्रकार उस उद्यान में प्रभु ऐसे सुशोभित होने लगे मानो साक्षात् वसन्त हो। वहीं भरत आदि बालक आनन्द से खेल रहे थे। उन्हें देख कर प्रभु ने विचार किया -क्या दोगुन्दक देवों को क्रीड़ा इसी प्रकार होती होगी? उस समय प्रभु अवधिज्ञान के प्रयोग से अनुत्तर देवलोक के पूर्वजन्मभुक्त सुखों पर चिन्तन करते हुए आगे से आगे के देवलोक के ज्ञात-सुखों के अनुभव की गहराई में उतर गए। प्रभु के मोहबन्धन नष्ट हो गये थे, इसलिए एक ही झटके में विचारों को नया मोड़ दिया कि इन स्वर्गीय विषयसुखों में वही फँसता है, जो अपना आत्महित नहीं समझता। धिक्कार है उस आत्मा को, जो इस संसाररूपी कुए में रेंहट की घटिकाओं की तरह कर्मवश विविध ऊँचे-नीचे स्थानो में चढ़ाव-उतार की क्रिया करता रहता है।' यों विचारसागर में गोते लगाते हुए प्रभु का मन संसार से पराङ्मुख हो गया। इतने में तो सारस्वत आदि लोकान्तिक देव प्रभु की सेवा में आ पहुँचे। मस्तक पर अजलि करके उन्होंने नमस्कार किया और प्रभु से प्रार्थना की—'प्रभो! अब तीर्थ-रचना कीजिए।' उन देवों के जाने के बाद नंदन नामक उद्यान से नगरी में लौट कर प्रभु ने राजाओं को बुलाए। एक समारोह का आयोजन करके सभी राजाओं के समक्ष बड़े पुत्र भरत का राज्याभिषेक किया। उसके बाद प्रभु ने बाहुबलि आदि पुत्रों को राज्य वितरित किया। फिर संवत्सरी (वर्षभर तक) दान दे कर पृथ्वी को इस प्रकार तृप्त की, जिससे कहीं पर भी 'मुझे दो' इस प्रकार के याचना के दीनवचन न रहें। सभी इन्द्रों के आसन कंपायमान होने से वे वहां आए

और जैसे वृष्टि पर्वत पर पानी बरसाती है, वैसे ही उन्होंने प्रभु का अभिषेक किया। पुष्पमाला, सुगन्धित अंगराग और देवों द्वारा स्थापित सुगन्धित पुष्पसमूह से प्रभु ऐसे सुशोभित हो रहे थे, मानो अपने धवल यश से शोभायमान हो रहे हों। विविध वस्त्र पहन कर तथा रत्नजटित आभूषणों से सुसज्जित होकर प्रभु संध्यासमय के बादल से सुशोभित आकाश के समान या तारागण से प्रकाशमान आकाश के समान शोभायमान होने लगे। इन्द्र ने आकाश में दुन्दुभि बजाई, तो ऐसा मालूम होने लगा, मानो अपनी आत्मा में से उछलता हुआ आनन्द जगत् को बांट रहा हो। ऊर्ध्वगति का मार्ग जगत् को बतलाने के बहाने देवों, दानवों और मनुष्यों द्वारा उठाई गई शिविका में प्रभु का दीक्षा-निष्क्रमण-महोत्सव किया; जिसे निर्निमेष दृष्टि से देख कर दर्शकों ने अपने नेत्रों को कृतार्थ किया।

वहाँ से सिद्धार्थ नामक उद्यान में पहुंच कर प्रभु ने कषायों की तरह पुष्पों और आभूषणों का सर्वथा त्याग करके चार मुष्टि से बालों का लोच किया, बाद में पाँचवी मुष्टि से लोच करने लगे, तब इन्द्र ने प्रार्थना की—"प्रभो! आपके स्वर्णकान्तिमय अवर्णनीय केश की जुल्फें शोभा देती हैं, इसलिये इन्हें ऐसे ही रहने दीजिए।" यह सुन कर भगवान् ने उन्हें वैसे ही रहने दी। सौधर्म इन्द्र ने अपने उत्तरासंग वस्त्र में प्रभु के बालों को ग्रहण किए और उन्हें क्षीरसमुद्र में डाल कर वापिस आए। सभा में होने वाले कोलाहल को नाटकाचार्य की तरह इन्द्र ने मुष्टि एवं चपत का इशारा करके बंद कराया। "मैं यावज्जीवन सर्वसावद्य (सदोष) प्रवृत्तियों का प्रत्याख्यान (त्याग) करता हूं", यों बोल कर प्रभु मोक्ष-मार्ग में प्रयाण करने के लिये उत्तम चारित्ररूपी रथ पर आरूढ़ हुए। उस समय प्रभु को मनःपर्यायज्ञान प्राप्त हुआ, जिससे वे सभी जीवों के मनोगत द्रव्यों को जान सकते थे। अपने स्वामी का अनुसरण करने वाले चार हजार राजाओं ने भी भक्तिभाव से इसी चारित्रपथ को अंगीकार किया; क्योंकि कुलीन पुरुषों का यही आचार है। इसके बाद सभी इन्द्र अपने-अपने स्थान को लौट गए। जैसे यूथपति हाथियों को साथ लिये हुए चलता है, वैसे ही भगवान उन चार हजार मुनियों को साथ लिए हुए विचरण करने लगे। उस समय भद्रजन प्रभु को भिक्षा देने की विधि से अनभिज्ञ थे, इसलिए जब वे घरों में भिक्षा के लिए जाते तो भावुक नर-नारी मोती, रत्न, हाथी, घोड़े आदि वस्तुएं उनके समक्ष हाजिर करते थे। सच है, सरलता भी कभी तिरस्कार करने वाली बन जाती है।' भोले भावुक लोगों की सरलता एवं अनभिज्ञता के कारण प्रभु को अनुकूल भिक्षा न मिलने के कारण वे उन अकल्पनीय वस्तुओं का स्वीकार नहीं करते थे, बल्कि वापिस लौट आते थे। प्रभु अदीनभाव से मौन रह कर इस परिषह को सहन कर रहे थे। परन्तु प्रभु की मौनावलम्बन-युक्त इस कठोर एवं असह्य चर्या को देख कर उनके साथ विचरण करने वाले उनके ४००० क्षुधापीड़ित साधु उन्हें छोड़कर चले गये। वे सबके सब तापसवेष धारण करके वन्य फल-मूल खा कर अपना निर्वाह करने लगे। भगवान् जैसे सत्त्वशाली अन्य कौन हो सकते हैं? इस प्रकार कष्टों से घबरा कर उन्होंने मोक्ष का राजमार्ग छोड़ कर उत्पथ पर पैर रख दिया था।

इधर प्रभु की आज्ञा से गये हुए कच्छ और महाकच्छ के पुत्र नमि और विनमि ध्यानस्थप्रभु के पास आये और दोनों ने प्रभु को नमस्कार करके उनसे प्रार्थना की—'प्रभो! हमारा स्वामी आपके सिवाय और कोई नहीं है; अतः आप हमें हमारा राज्य वापिस दीजिये।' प्रभु के मौन होने से उन दोनों को कुछ भी जवाब नहीं दिया। निःस्पृह, निर्ममत्व महापुरुष इस जगत् के प्रपंच से दूर ही रहते हैं। प्रभु को मौन देख कर दोनों उसी दिन से हाथ में नंगी तलवार लिए स्वामी की सेवा में पहरेदार बन कर रहने लगे। वे ऐसे मालूम होते थे, जैसे मेरुपर्वत के इर्दगिर्द सूर्य और चन्द्रमा हों। उस समय प्रभु के

वन्दनार्थ धरणेन्द्र आए। उन्होंने उन दोनों से पूछा— तुम्हारे यहाँ आने का क्या प्रयोजन है ?' उत्तर में उन्होंने कहा—'यह हमारे स्वामी हैं। हम इनके सेवक हैं। जब ये राजा थे तो हमें इन्होंने किसी कार्य-वश बाहर भेजा था। पीछे से इन्होंने अपने सभी पुत्रों को राज्य बांट दिया। हम वापिस लौट कर आए, तब तक तो यह मुनि बन गये। अब हमें यह साफ दिखाई देता है कि इन्होंने सर्वस्व त्याग दिया है तो हमें राज्य कहाँ से दे देगें ? "इनके पास अब कुछ भी है या नही ?" इसकी हमे जरा भी चिन्ता नहीं है। सेवक को तो हमेशा स्वामी की सेवा करनी होती है। इसलिए हम इनकी सेवा में तैनात हैं।' धरणेन्द्र ने कहा—"यह स्वामी तो ममता-रहित और अपरिग्रही हैं। अच्छा होता, आप भरतजी के पास जा कर राज्य की मांग करते। यह साधु आपको क्या दे सकेंगे ?" इस पर उन्होने जवाब दिया—"विश्व के स्वामी प्रभु के मिल जाने पर अब हम दूसरे किसी को भी अपना स्वामी नहीं बनाना चाहते। कल्पवृक्ष मिल जाने पर करीर (कैर) वृक्ष का आश्रय कौन लेना चाहेगा ? परमेश्वर को छोड़ कर हम दूसरे किसी के पास मांगने नहीं जाते। चातक वर्षाकण को छोड़ कर दूसरे के पास जल की याचना नहीं करता। अस्तु, भरतादि का कल्याण हो ! आप हमारी चिन्ता न करें। इन्हीं स्वामी से हमें जो कुछ मिलना होगा, वह मिल जाएगा। हमें दूसरे से क्या लेना-देना है ?" उनका निःस्पृहतापूर्ण प्रत्युत्तर सुन कर धरणेन्द्र विस्मित और प्रसन्न हो कर बोले—"मैं भी इन्हीं स्वामी का सेवक पातालपति धरणेन्द्र हूँ। आप दोनों की यह प्रतिज्ञा बहुत उत्तम है। आपको इन्ही स्वामी की सेवा करनी चाहिए। लो, मैं आप दोनों की स्वामिभक्ति से प्रसन्न होकर स्वामिसेवा के फल के रूप में विद्याधरों का ऐश्वर्य प्रदान करता हूं। ऐसा ही समझना कि यह आपको स्वामी की सेवा से ही मिला है। ऐसा मत सोचना कि यह और किसी से मिला है।" यों दोनों को समझा कर धरणेन्द्र ने उन्हें प्रज्ञप्ति आदि विद्याएँ सिखाईं। इससे वे दोनों प्रसन्न हो कर स्वामी की आज्ञा ले कर पचास योजन विस्तृत एवं पच्चीस योजन ऊँचे वैताढ्य पर्वत पर आए; जहाँ नमिकुमार ने उक्त विद्याबल से दक्षिणश्रेणि के मध्य भूभाग में दस-दस योजन विस्तृत ५० नगर बसाये। इसी तरह विद्याधरपति विनमिकुमार ने उत्तरश्रेणि में दस-दस योजन विस्तृत ६० नगरियां बसाईं। वहाँ चिरकाल तक वे दोनों विद्याधरों के राजा चक्रवर्ती बन कर सुखपूर्वक राज्य करते रहे। सच है—'स्वामिसेवा निष्फल नहीं जाती।'

ऋषभदेव भगवान् को मौन एवं निराहार रहते हुए एक वर्ष होगया था। वे कल्पनीय आहार की शोध में विचरण करते-करते पारणे की इच्छा से हस्तिनापुर पधारे। उस समय सोमयश के पुत्र श्रेयांसकुमार ने स्वप्न देखा कि "मैंने काले बने हुए मेरुपर्वत को अमृतकलशों से प्रक्षलित कर उज्ज्वल बनाया।" सुबुद्धि नामक सेठ ने भी स्वप्न देखा कि 'सूर्य से गिरी हुई हजारों किरणें श्रेयांसकुमार ने अपने यहाँ पुनः स्थापित कीं, जिससे वह सूर्य पुनः तेजस्वी हो उठा।' सोमयश राजा ने भी स्वप्न देखा कि 'एक राजा बहुत से शत्रुओं से घिरा हुआ था, परन्तु श्रेयांस की सहायता से उसकी जीत हुई।' तीनों ने अपना-अपना स्वप्न राजसभा में एक दूसरे के सामने निवेदन किया। परन्तु उन्हें अपने-अपने स्वप्न के फल का ज्ञान न होने से वे अपने अपने स्थान पर लौट आए। उसी समय उस स्वप्न-फल का प्रत्यक्ष निर्णय देने के लिए ही मानो भगवान् श्रेयांस के यहां भिक्षार्थ पधारे। चन्द्रमा को देख कर जैसे समुद्र उछलने लगता है, वैसे ही भगवान् को देख कर कल्याणभाजन श्रेयांस हर्ष से नाच उठा। श्रेयांसकुमार ने स्वामी के दर्शन पाते ही मन में ऊहापोह किया, इससे उसे पहले के खोए हुए निधान के समान जाति-स्मरणज्ञान पैदा हुआ। पूर्वजन्म की वे सब बातें चलचित्र की तरह उसके सामने आने लगी कि पूर्वजन्म

में वे वज्रनाभ चक्रवर्ती थे, तब वह इनका सारथी था। इन्होंने उस समय दीक्षा भी ग्रहण की थी। अतः बुद्धिशाली श्रेयांसकुमार को निर्दोष भिक्षा देने की विधि का स्मरण हो आया। उसने प्रभु को पारणे मे लेने योग्य प्रासुक इक्षु-रस दिया। रस बहुत था तो भगवान् के कर पात्र में वह समा गया। उस समय श्रेयांस के हृदय में हर्ष नहीं समाया। वहां रस मानो अजंलि में जम कर स्थिर हो कर ऊँची शिखा वाला बन कर आकाश मे (उच्चलोक में) ले जाने वाला बना; क्योंकि महापुरुषों का प्रभाव अचिन्त्य शक्तिशाली होता है। प्रभु ने इक्षुरस से पारणा किया। देवो, असुरो तथा मनुष्यों ने भी नेत्रों से प्रभु के दर्शनामृत से पारणा किया। आकाश में देवों ने मेघ के समान दुन्दुभि-नाद और जलवृष्टि के समान रत्नों और पुष्पों की वृष्टि की। इसके पश्चात् प्रभु विहार करके बाहुबलि राजा की राजधानी तक्षशिला पधारे। नगर के बाहर उद्यान में वे एक रात्रि तक ध्यानस्थ रहे।

बाहुबली ने विचार किया कि "मैं सुबह होते ही स्वामी के दर्शन करूंगा तथा और लोगों को दर्शन करा कर नेत्र पवित्र कराऊगा। कब प्रातःकाल हो और कब मैं प्रभु के दर्शनार्थ पहुंचूं।" इसी चिन्ता ही चिन्ता मे रात्रि एक महीने-सी प्रतीत हुई। प्रातःकाल जब बाहुबली वहां पहुंचा तो प्रभु अन्यत्र विहार कर गये। चन्द्ररहित आकाश के समान उद्यान को निस्तेज देख कर मन में विचार किया कि जैसे ऊबड़खाबड़ जमीन पर बीज नष्ट हो जाता है, वैसे ही मेरे हृदय के मनोरथ नष्ट हो गये। धिक्कार है मुझ प्रमादी को!' यों कह कर बाहुबली आत्म-निंदा करने लगा। जिस स्थान पर प्रभु ध्यानस्थ खड़े थे, उस स्थान पर बाहुबली ने रत्नों की एक वेदिका और सूर्य के समान हजार आंखों वाला तेजस्वी धर्मचक्र बनाया। विविध अभिग्रह धारण करते हुए स्वामी आर्यदेश की ही तरह अधार्मिक म्लेच्छदेश में भी विचरण करते रहे। योगिजन सदैव समभावी होते हैं। प्रभु के विचरण करने से वहाँ के पापकर्मी लोग भी और अधिक दृढ़धर्मी बन गये। इस तरह विहार करते हुए प्रभु को एक वर्ष हो चुके, तब विचरण करते हुए एक बार स्वामी पुरिमताल नगर में पधारे। नगर के ईशानकोण में शकटाल नामक उपवन था। वहाँ वटवृक्ष के नीचे, प्रभु अट्ठमतप करके कायोत्सर्ग (ध्यान) में स्थिर रहे। प्रभु क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ हो कर अपूर्वकरण के क्रम से निर्मल शुक्लध्यान के मध्य में आ पहुंचे और तभी उन्होंने अपने घातिकर्मों को बादलों की तरह छिन्न-भिन्न कर दिया, जिससे स्वामी को केवलज्ञानरूपी सूर्य प्रकट हुआ।

उस समय आकाश मार्ग में अत्यन्त भीड़ हो जाने के कारण विमान परस्पर टकरा जाते थे। इस प्रकार अनेक देवों के साथ चौसठ इन्द्र वहाँ आये। भूमि-सम्मार्जन करने वाले वायुकुमारदेवों ने प्रभु के समवसरण का स्थान साफ करके समतल बना दिया। मेघकुमारदेवों ने वहाँ सुगन्धित जल की वृष्टि की, जिससे वहाँ की धूल जम गई। छह ऋतुओं ने पृथ्वी पर घुटनों तक फूल बिछा दिये। सच है, पूज्यों का संसर्ग पूजा के लिए ही होता है। वह्निकुमारदेवों ने समवसरण की भूमि को सुगन्धित धूप से सुगन्धमय बना कर सारे आकाश को भी सुरभित कर दिया। इन्द्र और देवों द्वारा रंगबिरंगी रत्नकान्ति से सुसज्जित समवसरण की रचना ऐसी लग रही थी, मानो एक साथ सैकड़ों इन्द्रधनुष हो गए हों। भवनपति, ज्योतिष्क और वैमानिक देवों ने चांदी, सोने और माणिक्य के तीन किले वहां बनाए। किले पर फहराती हुई पताकाएँ मानो जीवों को सूचित कर रही थीं कि यह मार्ग स्वर्ग का है, यह मार्ग मोक्ष का है। किले पर विद्याधारियों की रत्ननिर्मित पुतलियाँ सुशोभित हो रही थी। देवताओं ने समवसरण में यह सोच कर प्रवेश नहीं किया कि शायद हमारा समावेश अन्दर नहीं हो सकेगा। मुग्ध देवांगनाएँ

हर्षित हो कर चिरकाल तक माणिक्य के कंगूरे देखती रहीं। चार प्रकार के चार गवाक्षों की तरह प्रत्येक किले के चार दरवाजे सुशोभित हो रहे थे। देवों ने समवसरण की भूमि पर तीन कोस ऊँचा एक कल्पवृक्ष बनाया, जो मानो सम्यग्दर्शन आदि तीन रत्नों को सूचित कर रहा था। उसी वृक्ष के नीचे पूर्वदिशा में श्रेष्ठ पादपीठ से युक्त रत्नजटित सिंहासन बनाया; जो स्वर्ग की-सी शोभा दे रहा था। पूर्वदिशा से प्रभु ने प्रवेश किया और **'नमो तित्थस्स'** कह कर तीर्थ (संघ) को नमस्कार किया। पूर्वाचल पर अंधकार को दूर करने वाले सूर्य के समान प्रभु पूर्वदिशा में स्थापित उस सिंहासन पर विराजमान हुए। उसी समय देवों ने शेष तीन दिशाओं में भगवान् का प्रतिबिम्ब सिंहासन पर स्थापित किया। प्रभु के ऊपर पूर्णिमा के चंद्रमंडल की शोभा का हरण करने वाले एवं तीन लोक के स्वामित्व के चिह्न-रूप छत्र सुशोभित हो रहे थे। प्रभु के सन्मुख रत्नमय इन्द्रध्वज ऐसा शोभायमान हो रहा था, मानो इन्द्र एक हाथ ऊँचा किए हुए यह सूचित कर रहा हो कि भगवान् ही एकमात्र हमारे स्वामी हैं। अतीव अद्भुत प्रभासमूह से युक्त धर्मचक्र प्रभु के आगे ऐसा सुशोभित हो रहा था, मानो वह केवलज्ञानियों पर प्रभु का चक्रवर्तित्व सूचित कर रहा हो। गंगानदी की श्वेत तरंगों के समान उज्ज्वल एवं मनोहर दो चामर प्रभु के मुख-कमल की ओर दौड़ते हुए हंस के समान प्रतीत हो रहे थे। प्रभु के शरीर के पीछे प्रकट हुए भामंडल के समक्ष सूर्यमण्डल भी जुगनू के बच्चे की तरह प्रतीत हो रहा था। आकाश में बज रही दुंदुभि मेघगर्जना के समान गम्भीर थी। वह अपनी प्रतिध्वनि से दशों दिशाओं को गुंजा रही थी। देवों ने उस समय चारों ओर पंखुड़ियों सहित फूलों की वर्षा की। वह ऐसी मालूम होती थी मानो शक्तिप्राप्त लोगों पर कामदेव ने अपने दूसरे अस्त्रों को छोड़ा हो। भगवान् ने तीनों लोकों का उपकार करने वाली पैंतीस गुणों से युक्त वाणी से धर्मदेशना आरम्भ की।

उसी समय एक दूत ने आ कर भरत राजा से निवेदन किया—'स्वामिन्! ऋषभ प्रभु को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है।' दूसरे दूत ने आ कर सूचना दी—'आपकी आयुधशाला में चक्ररत्न प्रकट हुआ है।' "एक ओर पिताजी को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है, दूसरी ओर मुझे चक्ररत्न की प्राप्ति हुई इन दोनों में से पहले किसकी पूजा करूँ?" भरतनृप क्षणभर इसी उधेड़बुन में पड़े रहे। दूसरे ही क्षण उन्होंने स्पष्ट चिन्तन किया कि कहाँ विश्व के जीवों को अभयदान देने वाले पिताजी और कहाँ जीवों का संहार करने वाला यह चक्र! यों निश्चय कर उन्होंने अपने परिवार को प्रभु की पूजा के लिए चलने की आज्ञा दे दी। पुत्र पर आने वाले परिषहों के समाचार सुन-सुन कर निरन्तर दुःखाश्रु बहाने के कारण नेत्ररोगी बनी हुई मातामही मरुदेवी के पास आ कर भरत ने नमन किया और प्रार्थना की— "दादी-मां! आप मुझे सदा उपालंभ दिया करती थी कि मेरा सुकुमार पुत्र चौमासे में पद्मवन की तरह जल का उपद्रव सहन करता है और शर्दी में वन में हिमपात होने से मालती के स्तम्भ की तरह परिक्लेश-अवस्था का सदा अनुभव करता है और गर्मी में सूर्य की अतिभयंकर उष्ण किरणों से हाथी के समान अधिक संताप अनुभव करता है। इस तरह मेरा वनवासी पुत्र सभी ऋतुओं में सदैव अकेला, आश्रवरहित, तुच्छ जन की तरह कष्ट उठा रहा है। अतः आज तीन लोक के स्वामित्व को प्राप्त हुए अपने पुत्र की समृद्धि देखना हो तो चलो।" यों कह कर साक्षात् लक्ष्मी के समान परमप्रसन्न मातामही को हाथी पर बिठा कर सोने, हीरे एवं माणिक्य के आभूषणों से विभूषित होकर हाथी, घोड़े, रथ और पैदल सेना के साथ भरत ने समवसरण की ओर प्रस्थान किया। सैन्य के साथ जाते हुए भरत राजा ने दूर से ही सामने आभूषणों को एकत्रित किये हुए जंगम तोरण के समान एक रत्नध्वज देखा। देखते ही भरत

ने माता मरुदेवी से कहा—"दादी मां ! देखो, यह सामने देवताओं द्वारा तैयार किया हुआ प्रभु का समवसरण ! यहां पिताजी के चरण-कमलों की सेवा में उत्सव मनाने के लिये आए हुए देवों के जयजयनाद के नारे सुनाई दे रहे हैं और यह मालकोश आदि ग्रामरागों से पवित्र एवं कर्णामृत-समान भगवान् की देशना-वाणी सुनाई दे रही है। मोर, सारस, क्रौंच, हंस आदि पक्षियों की आवाज से भी अधिक मधुर स्वर वाली भगवान् की वाणी, विस्मयपूर्वक एकाग्रता से कान दे कर सुनो। दादी-मां ! मेरे पिताजी की मेघ-ध्वनि के समान गम्भीर योजनगामिनी वाणी सुन कर मन बादल के समान बलवान् हो कर उसी तरफ दौड़ता है।" मरुदेवी माता ने संसार-तारक, निर्वात दीपक के समान स्थिर, त्रिलोकीनाथ की गम्भीर वाणी हर्ष से सुनी तो उनके नेत्रपटल आनन्दाश्रुजल से धुल कर साफ हो गये। उनकी आंखों से दिखाई देने लगा। उन्होंने अतिशययुक्त तीर्थंकर ऋषभदेव की ऋद्धि देखी। उसे देखने से उनका मोह समाप्त हो गया। आनन्द की स्थिरता से उनके कर्म खत्म हो गये। उसी समय उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो गया। इस अवसर्पिणी-काल में मरुदेवी माता सर्वप्रथम मुक्त-सिद्ध हुई। उसके बाद देवों ने उनके पार्थिव शरीर को भी समुद्र में बहा दिया और वहीं निर्वाण-महोत्सव किया। दादी-मां को मोक्ष हुआ जान कर भरत राजा को हर्ष और शोक दोनों उसी तरह साथ-साथ हुए, जैसे शरत्कालीन बादलों की छाया और सूर्य का ताप दोनों हों।

तदनन्तर भरतचक्रवर्ती राजचिह्नों का परित्याग कर सपरिवार पैदल चल कर समवसरण में प्रविष्ट हुए। चारों देवनिकायों से घिरे हुए प्रभु को दृष्टिरूपी चकोर से चन्द्रमा की तरह भरत राजा ने टकटकी लगा कर देखा और भगवान् को तीन बार प्रदक्षिणा करके नमस्कार किया। फिर मस्तक पर अंजलि करके वह इस तरह प्रभु की स्तुति करने लगा :—

"हे सम्पूर्ण जगत् के नाथ ! आपकी जय हो; सम्पूर्ण विश्व को अभयदान देने वाले ! आपकी जय हो; हे प्रथम जिनेश्वर ! आपकी जय हो, हे संसार के तारक ! आपकी जय हो ! इस अवसर्पिणी-काल के भव्यजीवरूपी कमल को प्रतिबोधित करने के लिये सूर्यसमान प्रभो ! आज आपके दर्शन होने से अन्धकार का नाश हुआ है, प्रभात का उदय हुआ है। हे नाथ ! निर्मली के समान भव्यजीवों के मनरूपी जल को निर्मल करने वाली आपकी वाणी है। करुणा के क्षीरसमुद्र ! आपके शासनरूपी महारथ में जो चढ़ गया, उसके लिए फिर लोकाग्र मोक्ष दूर नहीं रहता। देव ! अकारण जगद्बन्धु के साक्षात्दर्शन जिस भूमि पर हो जाते हैं, उस संसार को भी हम लोकाग्र मोक्ष से बढ़कर समझते हैं। स्वामिन ! आपके दर्शन से महानन्दरस में स्थिर हुई आँखों में संसार में भी मोक्ष-सुख के आस्वादन का-सा अनुभव होता है। हे अभयदाता नाथ ! रागद्वेष-कषायरूपी शत्रुओं से घिरे हुए जगत् का उद्धार आप ही से होगा। हे नाथ ! आप स्वयं तत्त्व को समझते हैं। आप ही मोक्षमार्ग बतलाते हैं। स्वयं विश्व का रक्षण करते हैं। इसलिये प्रभो ! अब आपको छोड़ कर मैं और किसकी स्तुति करूं ?" इस तरह भरत-चक्रवर्ती ने प्रभु की स्तुति करके दोनों कर्णपुटों को प्याला बना कर देशना के रूप में अमृतवाणी का पान किया। उस समय ऋषभसेन आदि चौरासी गणधरों को भी श्रीऋषभदेव भगवान् ने दीक्षा दी। उसके बाद ब्राह्मी और भरत-चक्रवर्ती के पांच पुत्रों तथा सात सौ पौत्रों को भगवान् ने भागवती दीक्षा दी। इस तरह उस समय प्रभु ने चतुर्विध श्रीसंघ की स्थापना की। भगवान् ऋषभदेव के चतुर्विध संघ में पुंडरीक आदि साधु, ब्राह्मी आदि साध्वियां श्रेयांस आदि श्रावक, और सुन्दरी आदि श्राविकाएँ प्रमुख हुईं। उस समय से ले कर आज तक उसी तरह यह संघ-व्यवस्था चलती रही है। तत्पश्चात् प्रभु ने भव्यजीवों को

प्रतिबोध देने के लिये शिष्यपरिवार-सहित अन्यत्र विहार किया। भरतनरेश भी प्रभु को नमस्कार कर अयोध्या लौट आए।

ऋषभदेव-वंशरूपी समुद्र को चन्द्र के समान आह्लादित करने वाले, साक्षात् मूर्तिमान न्याय श्रीभरतनरेश ने पृथ्वी का यथार्थरूप से पालन किया। उनकी रूप-संपत्ति के समक्ष लक्ष्मीदेवी दासीरूप थी। उनके चौसठ हजार रानियां थीं। जिस समय भरतनरेश इन्द्र के साथ अर्धासन पर बैठते थे, उस समय अन्तर को नहीं समझने वाले देव संशय में पड़ जाते थे।

जगत्प्रकाशक सूर्य जैसे पूर्व में उदय होता है, वैसे ही अपने तेज से दूसरों के तेज को पराजित करने वाले तेजस्वी भरतराजा ने दिग्विजय करने लिए पूर्वदिशा से प्रस्थान प्रारम्भ किया; और वह वहां आ पहुँचा, जहां गंगा के संगम से मनोहर बना हुआ पूर्वीय समुद्रतट अपने कल्लोलरूपी करों से प्रवाह को उछालते हुए ऐसा लग रहा था, मानो धन उछाल रहा हो। वहाँ मागधतीर्थ के कुमारदेव का मन में स्मरण कर चक्रवर्ती ने अर्थसिद्धि के प्रथमद्वाररूप अट्ठमतप को अङ्गीकार किया। तदनन्तर रथ में बैठ कर महाभुजा वाले भरत चक्रवर्ती ने मेरु के समान विशाल समुद्र में प्रवेश किया। रथ को धुरी तक जल में खड़ा रख कर अपने दूत के समान अपने नाम से अंकित बाण को बारह योजन स्थित मागध की ओर भेजा। बाण मागध में गिरा। उसे देखते ही मागधपति देव भ्रुकुटि चढ़ा कर अत्यन्त क्रोधाविष्ट हो गया। लेकिन ज्यों ही नागकुमार ने बाण पर मन्त्राक्षर के समान भरत के नामाक्षरों को देखा; त्योंही उसका मन अत्यन्त शान्त हो गया। हो न हो, यह प्रथम चक्रवर्ती पैदा हुआ है; यों विचार कर वह मूर्तिमान विजय की तरह भरत के पास आया। वह अपने मस्तक के मणि एवं चिरकाल से उपार्जित तेज के समान बाण चक्रवर्ती के पास वापस ले आया और कहने लगा—'मैं आपका सेवक हू। पूर्वदिशा का पालक हूँ। अतः बतलाइये, मैं आपका कौन-सा कार्य करू।' इस प्रकार की विनति सुन कर महापराक्रमी भरत ने उसे जयस्तम्भ के समान मागधाधिपति के रूप में स्वीकार किया। वहाँ से पूर्वी समुद्रतट से भरत-नरेश फिर एक पृथ्वी से दूसरी पृथ्वी एवं एक पर्वत से दूसरे पर्वत को कम्पित करते हुए चतुरंगिणी सेना के साथ दक्षिण-समुद्र पहुंचे। महाभुजबली भरत ने इस समुद्रतट पर सेना का पड़ाव डाला, तटवर्ती द्वीप में पिश्ते, काजू आदि वस्तुएं प्रचुर मात्रा में पैदा होती हैं। अपने गुप्त तेज से दूसरे सूर्य के समान तेजस्वी भरतेश घोड़े जुते हुए एक महारथ में आरूढ़ हुए। उसके बाद उछलते तरंग के समान ऊँचे घोड़ों से जुते हुए रथ में बैठ कर उसी रथ को वह समुद्र में नाभि तक पानी में ले गये। फिर भरतेश ने बाण तयार करके कान तक प्रत्यंचा खींच कर धनुर्वेद के ओंकार के समान धनुष्टंकार किया। उसके बाद इन्द्र के समान बलशाली भरतेश ने सोने के कुंडल के समान, कमलनाल के समान स्वनामांकित स्वर्णबाण धनुष पर चढ़ाया और वरदाम तीर्थ के स्वामी की ओर छोड़ा। वरदाम तीर्थ के स्वामी ने बाण को देखा और उसे ग्रहण किया। वह उसका उपाय जानने वाला था। अतः भेंट ले कर भरतेश के पास पहुंचा। भरताधिप से उसने हाथ जोड़ कर कहा कि 'आप मेरे यहां पधारें, इससे मैं कृतार्थ हुआ। आप जैसे नाथ को पा कर अब मैं सनाथ बना।' इसके बाद अपना अधीनस्थ राजा बना कर, कार्य की कदर करने वाले भरतेश्वर सैन्य से पृथ्वीतल को कंपाते हुए पश्चिमी दिशा की ओर चल पड़े। पश्चिमी समुद्रतट पर पहुंच कर भरतनरेश ने भी प्रभासतीर्थ के स्वामी की ओर विद्युद्दण्ड के समान प्रज्वलित बाण फैंका। प्रभासपति ने उस बाण पर अंकित वाक्य—'यदि सुख से

जीना चाहते हो तो मेरी आज्ञा का पालन करो और मेरा दण्ड (कर) भी दो ;' अक्षर पढ़े। पढ़ते ही भरतराजा को प्रसन्न करने के लिये वह आश्चर्यकारी प्रचुर भेंट के साथ उस वाण को ले कर भरतेश के समीप आया। अपने चिरकाल मे उपार्जित यश एवं हिम के समान उज्ज्वल मनोहर हार और मणियों में श्रेष्ठ कौस्तुभ मणि तथा अद्वितीय मणिरत्न नरशिरोमणि भरत को अर्पण किये और कौस्तुभरत्न व सुवर्ण आदि से देदीप्यमान, मूर्तिमान तेज की तरह मुकुट अर्पण कर अपनी निष्कपटभक्ति से उसने भरत को प्रसन्न किया। वहां से भरतनरेश ने उत्तरद्वार की देहली के समान सिन्धुनदी की ओर प्रस्थान किया। वहा सिन्धुदेवी के मन्दिर के पास राजा ने सेना की छावनी डाली।

सिन्धुदेवी को आह्वान करने के उद्देश्य से उन्होंने अट्ठम तप किया। सिन्धुदेवी ने अपना आसन कपायमान होने से जाना कि कोई चक्रवर्ती आया है। अतः वह दिव्य भेंट ले कर आई। और भरत महाराजा की पूजा की। भरतनरेश ने स्वीकार कर उसे विदा दी और तप का पारणा किया। फिर आठ दिन तक उसका विजय-महोत्सव किया। उसके बाद चक्र का अनुसरण करते हुए वे उत्तर पूर्व की ईशान विदिशा मे जाते हुए भरतक्षेत्र के दो विभागों को जोड़ने वाले वैताढ्य पर्वत के निकट पहुंचे। वहां भरतेश ने दक्षिण-विभाग की तलहटी में सेना का पड़ाव डाला। यहा भी वैताढ्यकुमार देव को उद्देश्य करके भरत राजा ने अट्ठम तप किया। अवधिज्ञान से उसे ज्ञान हुआ तो अपनी शक्ति के अनुसार भेंट ले कर पहुंचा और भरत की आज्ञाधीनता स्वीकार की। उसे विदा करके राजा ने अट्ठम तप का पारण किया और उसके नाम का यथाविधि अष्टाह्निक महोत्सव किया। तत्पश्चात् कान्ति में सूर्य के समान राजा भरत तमिस्रा नाम की गुफा के पास आया और वहीं पास मे ही सैन्य का पड़ाव डाला। कृतमाल नाम के देव को लक्ष्य करके वहां उन्होंने अट्ठम तप किया। उस देव का आसन कंपित होने से वह वहां आया और राजा की अधीनता स्वीकार की। उसे भी विदा (रवाना) करके भरतेश ने अट्ठम तप का पारण किया और उसका आष्टाह्निक महोत्सव किया। भरत की आज्ञा से सुषेण नाम के सेनापति ने चर्मरत्न की सहायता से सिन्धुनदी को पार कर दक्षिणसिन्धु के अधिपति के निष्कुट को उसी समय जीत लिया : वैताढ्य पर्वत में वज्र-कपाट से अवरुद्ध तमिस्रा गुफा को खोलने के लिये सुषेण सेनापति को ऋषभपुत्र भरत ने आज्ञा दी। सुषेण स्वामी की आज्ञा शिरोधार्य कर तमिस्रा गुफा के निकटवर्ती प्रदेश मे गया। उसके अधिष्ठायक कृतमालदेव का स्मरण करने हेतु विशुद्धबुद्धि सुषेण ने पौषधशाला मे अट्ठम किया। अट्ठम तप के अन्त में स्नान कर बाह्य-आभ्यन्तर शौच से निवृत्त हो कर उसने पवित्र वस्त्र और विविध आभूषण धारण किए। उसके बाद होमकुंड के समान जलती अग्नि वाली धूपदानी मे स्वार्थ-साधना की आहुति की तरह मुष्टियों से धूप डालता हुआ भण्डार के द्वार की तरह गुफा के द्वार की ओर सावधानी से गया और जल्दी मे गुफाद्वार खोलने को उद्यत हुआ। उसने कपाटयुगल देखते ही नेता को नमन की तरह नमस्कार किया ; अन्यथा अन्दर प्रवेश कैसे करता ? फिर गुफा के द्वार पर आठ-आठ मंगलों का आलेखन कर अठाई-महोत्सव किया। तत्पश्चात् अपने गौरव के अनुरूप सेनापति ने सर्व-शत्रुओं के नाशक वज्र की तरह दंडरत्न ग्रहण किया, और वक्रग्रह के समान कुछ कदम पीछे हट कर दण्डरत्न से दरवाजे को तीन बार प्रताड़ित किया। अत. जैसे वज्र पर्वत के पंख काट देता है, वैसे ही दण्डरत्न से तड़ तड़ करते हुए दोनों कपाट अलग-अलग हो गये। गुफाद्वार के खुलते ही सुषेण प्रसन्नता से उछल पड़ा। उसने भरत-सम्राट् के पास आ कर नमस्कार-पूर्वक निवेदन किया 'राजन् ! जैसे अधिक तप से यति के मुक्तिद्वार खुल जाते हैं, वैसे ही आपके प्रभाव से आज गुफा का द्वार अर्गला-

रहित होकर खुल गया है। यह सुनते ही ऐरावण—हाथी पर इन्द्र की तरह भरतनरेश गंधहस्ती पर सवार हुए और गुफाद्वार की ओर चले। राजा ने गुफा के अन्धकार को दूर करने के लिये पूर्वाचल पर सूर्य के समान, हाथी के दाहिने कुंभस्थल पर मणिरत्न रखा और उसके प्रकाश में एक एक योजन तक दोनों तरफ देखते हुए बादलों में सूर्य की तरह भरतनरेश भी गुफा में प्रवेश कर रहे थे। उनके पीछे-पीछे सेना चल रही थी और आगे-आगे चल रहा था—चक्र। भरतेश के सेवकों ने गुफा में अंधकार-निवारण के लिए एक-एक योजन पर दोनों तरफ गोमूत्रिका के आकार वाले मण्डल काकिणीरत्न से आलेखित किए, जो सूर्य-मंडल के समान उद्योत करते थे। इस प्रकार से प्रकाशमान ४६ मण्डलों के प्रकाश से चक्रवर्ती भरत की सेना सुखपूर्वक आगे बढ़ रही थी। रास्ते में गुफा में राजा ने उन्मन्ना और निमग्ना नाम की दो नदियाँ देखीं। जिनमें से एक नदी में पत्थर भी तैर रहा था; जबकि दूसरी नदी में तूंबा भी डूब रहा था। अतिकठिनता से पार कर सकने योग्य नदियों को उन्होंने वर्द्धकी-रत्न से पैदल चलने योग्य पगडंडी नदी में बना कर दोनों नदियां पार की; और गुफा से इस प्रकार बाहर निकले जैसे महामेघमंडल से सूर्य निकलता है। वहाँ से भरतेश ने भरतक्षेत्र के उत्तराखंड में प्रवेश किया। जैसे इन्द्र दानवों के साथ युद्ध करता है, वैसे ही भरतेश ने वहां म्लेच्छों के साथ युद्ध करके उन्हें पराजित किया। म्लेच्छों ने भरत-चक्रवर्ती को जीतने के उद्देश्य से मेघकुमार आदि अपने कुल-देवताओं की उपासना की। उसके प्रभाव से प्रलय-काल के समान चारों तरफ मूसलधार वृष्टि होने लगी। भरत-महाराजा ने उससे बचाव के लिए नीचे बारह योजन तक चर्मरत्न बिछा दिया और उसके ऊपर रखवाया छत्ररत्न; उसके बीच में अपनी सेना रखी। वहाँ अन्धड़ से हुए महा-अन्धकार को नष्ट करने के लिये पूर्वाचल पर सूर्य के समान छत्रदंड पर मणिरत्न रखवाया। चर्म-रत्न और छत्ररत्न दोनों रत्न-संपुट तैरते हुए अंडे के समान प्रतीत हो रहे थे; लोक में ब्रह्मांड की कल्पना भी शायद इसी कारण प्रारम्भ हुई हो। भरतचक्रवर्ती के पास गृहपति-रत्न एक ऐसा था, जिसके प्रभाव से सुबह बोया हुआ अनाज शाम को ऊग कर तैयार हो जाता था। इस कारण भरतचक्रवर्ती अपने काफिले के प्रत्येक व्यक्ति को भोजन मुहैया कर देता था। इधर वर्षा करते-करते थक कर म्लेच्छों के दुष्ट देवता मेघकुमार ने उनसे कहा—'यह भरतचक्रवर्ती है। इसे हमारे जैसे नहीं जीत सकते।' मेघकुमार की इस बात से निराश हो कर म्लेच्छ लोग भरतेश की शरण में आए। सच है, **अग्नि से प्रज्वलित के लिए अग्नि ही महौषधि होती है**'। उसके बाद योगी जैसे संसार को जीत लेता, है वैसे ही सिन्धुनदी से उत्तर में स्थित अजेय निष्कुट को स्वामी की आज्ञा से सेना ने जीत लिया। ऐरावत हाथी के समान मस्ती से प्रयाण करते हुए भरतेश क्षुद्रहिमवान पर्वत की दक्षिण तलहटी पहुंचा। वहाँ क्षुद्रहिमवत्कुमार देव के उद्देश्य से उन्होंने अट्ठम तप किया। '**तप कार्यसिद्धि का प्रथम मंगल है**।' नृपशिरोमणि भरत ने अपने अट्ठमतप के पश्चात् हिमवान् पर्वत जा कर अपने रथ पर बैठे बैठे ही रथ के अन्तिम छोर से पर्वत पर तीन बार ताड़ना की। और पर्वत-शिखर पर ७२ योजन दूर स्वनामांकित बाण छोड़ा। बाण को देखते ही हिमवत्कुमार भरतेश के सामने स्वयं उपस्थित हुआ। उनकी आज्ञा मुकुट के समान शिरोधार्य की। फिर ऋषभपुत्र भरतेश ऋषभकूट पर्वत पहुंचे और निकट जा कर ऐरावत हाथी के दन्तशूल की तरह रथ के अन्तिम छोर से तीन बार द्वार खटखटाया; और उस पर्वत के पर्व के बीच में काकिणीरत्न से लिखा—"मैं अवसर्पिणी काल के तीसरे आरे के अन्तिम भाग में उत्पन्न भारत का भरतचक्रवर्ती हूं। तत्पश्चात् वहां से लौट कर अपनी छावनी में आ कर भरतेश ने अट्ठम तप का पारणा किया। फिर चक्रवर्ती ने अपनी सम्पत्ति के अनुरूप क्षुद्र हिमवत्कुमार देव के आश्रित अठाई महोत्सव किया। उसके बाद चक्रवर्ती भरत अपने चक्र के मार्ग का अनुसरण करते हुए महासेना

के साथ चलते-चलते सिन्धु और गंगा का अन्तर दूर-सा करके वापस घूमे। और क्रमशः वैताढ्य-पर्वत के उत्तर की तलहटी के पास पहुंचे। वहां सैन्य-परिवार ने स्वस्थ हो कर डेरा जमा दिया। कुछ ही दिनों बाद उन्होने वहां के राज्याधिप विद्याधरों से अपने स्वामी का दण्ड मांगने हेतु बाण भेजा। दण्ड मांगने की बात से कुपित होकर दोनों विद्याधर वैताढ्य पर्वत के नीचे उतर कर अपने सैन्य के साथ भरतेश से युद्ध करने आए। उस समय भरत ने देखा कि विद्याधरसैन्य द्वारा मणिरत्न-निर्मित विमानों मे छोड़े जाते हुए प्रक्षेपणास्त्रों से विद्युन्मय बना हुआ आकाश अनेक सूर्यों का-सा प्रकाशमान एवं प्रचण्ड दुंदुभिनाद से मेघगर्जनामय हो रहा है। साथ ही उन्होंने भरत को युद्ध के लिये ललकारा —"अय दण्डार्थी ! अगर हमसे दण्ड लेना है, तो, आ जाओ मैदान में।" अपनी विशाल सेना युद्ध में झोंक कर भरतेश ने भी उनके साथ एक साथ विविध युद्ध किए। युद्ध किये बिना जयश्री प्राप्त नहीं होती। आखिर १२ वर्ष तक युद्ध करने के बाद विद्याधरपति नमि-विनमि हार गये। अपनी पराजय के बाद वे हाथ जोड़ कर नमस्कार करके भरतराजा से कहने लगे—'जैसे सूर्य से बढ़ कर कोई तेजस्वी नहीं होता, वायु से बढ़ कर कोई वेगवान नहीं होता ; मोक्ष से अधिक सुख कही भी नहीं होता ; इसी प्रकार आप से बढ़ कर और कौन शूरवीर है ? हे भरतनरेश ! आज आपको देख कर हमें साक्षात् ऋषभदेव भगवान् के ही मानो दर्शन हो गये हैं। स्वामिन् ! अज्ञानता से हमने आपके साथ युद्ध किया। उसके लिए हमें क्षमा कीजिए। अब आप की आज्ञा मुकुट के समान हमारे सिर-माथे पर होगी। यह धन, भण्डार, शरीर, पुत्र आदि सब आपका ही है। इस तरह भक्तिपूर्ण वचन कह कर अतिविनयी विनमि ने अपनी पुत्री (स्त्रीरत्न) और नमि ने रत्नराशि अर्पित की और आज्ञा ले कर दोनों ने अपने पुत्रों को राज्याभिषिक्त करके वैराग्यभाव से भगवान् ऋषभदेव के पास जा कर दीक्षा अंगीकार की।

उसके बाद चक्ररत्न का अनुसरण करते हुए चलते-चलते वे गंगानदी के तट पर आए। सेनापति सुषेण ने गंगानटवर्ती उत्तर-प्रदेश जीत लिया। महान् आत्मा के लिए कौन-सी बात असाध्य है ? राजा ने अट्ठम तप कर गंगादेवी की आराधना की, देवी ने भी दिव्य भेंट प्रस्तुत कर भरत का सत्कार किया। सारा गंगातट कमल की सुगन्ध से महक रहा था। भरतेश ने गंगातट पर ही अपने महल का-सा पटभवन बनवाया और वहां निवास करने लगा। भरत का कामदेव-सा रूपलावण्य देख कर गंगानदी को रोमांच हो उठा। मौक्तिक आभूषणों एवं केले के अंदर की पतली झिल्ली के समान बारीक वस्त्रों से सुसज्जित हो कर चन्द्रमुखी गंगादेवी भरतेश के पास पहुंची। जलप्रवाहमय विचित्र रूप धारण करके अंगविन्यास एवं हावभाव करती हुई गंगादेवी ने नरेश से प्रेमगद्गद् स्वर में प्रार्थना की। तत्पश्चात् काम-क्रीड़ा करने की अभिलाषा से वह उन्हें अपने भवन में ले गई। वहां भरतनरेश के साथ विविध भोग-विलास में चांदी से दिन और सोने-सी रातें कटने लगीं। एक हजार वर्ष एक दिन के समान प्रतीत होते थे। जैसे हाथी एक वन से दूसरे वन में जाता है, वैसे ही भरतराजा गंगादेवी से विदा ले कर खण्डप्रपात गुफा में पहुंचा। वहां पर भी कृतमाल्यक्ष की तरह अट्ठम तप करके नाट्यमाल की आराधना की और उसी तरह उसका आठ दिन का महोत्सव किया। फिर सुषेण सेनापति द्वार का कपाट खोल कर उस गुफा में प्रविष्ट हुए। अतः दक्षिण का द्वार अपने आप खुल गया। उस गुफा के मध्य-भाग में से भरतचक्रवर्ती ऐसे ही बाहर निकले जैसे केसरीसिंह निकला हो। उन्होंने गंगा के पश्चिम तट पर सेना का पड़ाव डाला। जिस समय चक्रवर्ती गंगा के किनारे पहुंचा। उस समय नागकुमारदेव द्वारा अधिष्ठित नौ निधियां प्रकट हो कर कहने लगी—'हे महाभाग ! गंगा के मुहाने पर मागधदेश में हम रहती हैं और आपके भाग्य से आकृष्ट हो कर हम यहां आपके पास आई हैं।

आप अपनी इच्छानुसार हमारा उपयोग कीजिये या हमें दान में दीजिए। समुद्र में तो कदाचित् जल खत्म हो सकता है ; लेकिन हमारा धन कदापि क्षय नहीं हो सकता। हमारी लम्बाई १२ योजन और चौड़ाई ९ योजन है। इतनी विस्तृत हो कर भी हम सदा चौकीदार सेवक की तरह आपकी सेवा में रहेंगी। हम भूगर्भ में भी आपके साथ चलेंगीं। हम आठ चक्रों पर प्रतिष्ठित हैं और आपको आश्वासन देती हैं कि हमारे ९ हजार आज्ञापालक यक्ष सदा आपकी निधियों को भरते रहेंगे। वायु जैसे महावन को वीरान बना देती है, वैसे ही सुषेण सेनापति गंगा के दक्षिण प्रदेश को वीरान-सा बना कर लौट आया। इस तरह साठ हजार वर्ष में छह खंड पृथ्वी को जीत कर चक्रनिर्दिष्ट मार्ग से उसके पीछे-पीछे चलते हुए ससैन्य भरतचक्रवर्ती अयोध्यानगरी में पहुंचे। दूर-सुदूर भूभागों से बारह वर्ष तक राजाओं ने आ-आ कर भरत महाराजा का चक्रवर्तित्व स्वीकार किया।

एक दिन भरत-चक्रवर्ती ने अपने परिवार की सारसंभाल करने वाली बहन सुन्दरी के अंग-अंग दुर्बल और हड्डियां निकली हुई देख कर अपने निकटवर्ती सेवकों से कुपित होकर कहा —'सेवको! क्या मेरे यहाँ भोजन की कमी है? फिर क्या कारण है कि मेरे परिवार की यह महिला अस्थिपंजर मात्र रह गई है। क्या इसे पोषक खुराक नहीं दिया जाता?' सेवकों ने उत्तर दिया – स्वामिन! आप जब से विजययात्रा करने गये हैं, तब से अब तक यह पारणारहित आचाम्ल (आयंबिल) तप कर रही है। उसी समय यह समाचार मिला कि 'ऋषभदेव भगवान् भूमंडल में विचरण करते-करते अष्टापद-पर्वत पर पधारे गये हैं।' यह सुनते ही चक्रवर्ती भरत सुन्दरी को साथ ले कर प्रभु के वंदनार्थ गये। प्रभु के उपदेश से संसारविरक्त हो कर सुन्दरी ने दीक्षा ग्रहण की। इधर चक्रवर्तीपद के राज्याभिषेक-महोत्सव की तैयारियाँ हो रही थी। भरतेश ने सभी सम्बन्धित राजाओं के पास दूत भेज कर संदेश कहलवाया कि 'अगर वे अपना राज्य सहीसलामत चाहते हैं तो चक्रवर्ती भरत की अधीनता स्वीकार करें। और सेवा में पहुँचें।' यह सुन कर और सब राजाओं ने तो अधीनता स्वीकार कर ली, लेकिन भरत के ९८ भाइयों ने उसकी अधीनता स्वीकार करने से इन्कार कर दिया। उन्होंने परस्पर विचारविनिमय करके दूत द्वारा भरत को कहलवाया कि, "हम भाई के नाते उनकी सेवा करने को तैयार हैं, परन्तु उनकी अधीनता स्वीकार करके राज्य देने को तैयार नहीं। राज्य हमें और उन्हें हमारे पिताजी ने दिया है। भरत की सेवा करने से हमें अधिक क्या मिलेगा? जब यमराज आयेगा तब क्या वह उसे रोक सकेगा? शरीर को दुर्बल करने वाली जरा-राक्षसी का क्या वह निग्रह कर लेगा? दुःख देने वाले रोगरूपी शिकार को क्या वह मिटा सकेगा! बढ़ती हुई तृष्णा-पिशाची का क्या वह मर्दन कर सकेगा? हमारे द्वारा की गई सेवा का फल इस रूप में देने में जब भरत समर्थ नहीं है तो हम और वह समान हैं। हम उनसे किस बात में कम हैं? अतः हम दोनों का मनुष्यत्व समान हैं ; तो फिर कौन किसके लिए सेव्य है? क्या अपने निजी असंतोष के कारण वह हमसे जबरन राज्य छीन कर राज्यवृद्धि करना चाहता है? बराबरी के भाइयों में यह स्पर्धा ठीक नहीं। हम जिस पिता के पुत्र हैं, वह भी उन्हीं का पुत्र है। अतः संदेशवाहक दूत! आप अपने स्वामी से कह देना—'पिताजी के कहे बिना अपने सहोदर बड़े भाई के साथ हम युद्ध तो करेंगे नहीं; लेकिन हम अपना अपमान सहन नही करेंगे?" यों कह कर वे ९८ भाई श्री ऋषभदेव भगवान् के पास आये और नमस्कार करके भरत ने दूत द्वारा जो संदेश भिजवाया था, उसके बारे में निवेदन करके कहा कि 'पिताजी! राज्य हमें आपने दिया है; आपका दिया हुआ राज्य भरत को हम कैसे सौप दें? आगे आप जैसा भी मार्गदर्शन करेंगे, तदनुसार आपकी आज्ञा का पालन

करेंगे ?'' भगवान् ऋषभदेव को तो केवलज्ञानरूपी दर्पण में सारा चराचर जगत् स्पष्ट प्रतिभासित हो रहा था, उनसे यह बात कब छिपी रह सकती थी ! अतः कृपानाथ श्रीआदीश्वर भगवान् ने पुत्रों को सम्बोधित करते हुए कहा—'पुत्रो ! मैं तुम्हारे लिए अद्भुत अध्यात्मराज्यलक्ष्मी लाया हूं ! भौतिक राज्यलक्ष्मी तो चंचल है और अहंकार पैदा करने वाली है । अंत में अपने अनर्थकर स्वभाव के कारण वह राज्यकर्ता को नरक में ले जाती है । यह जन्म-मरण का चक्र बढ़ाने वाली है । भौतिक-राज्यलक्ष्मी पा कर भी कदाचित् स्वर्ग-सुख मिल जाय तो भी उस सुख की तृष्णा बढ़ती रहेगी और जैसे अंगारदाहक की प्यास शान्त न हुई, वैसे अगले जन्म में भी भोगलिप्सा शान्त नहीं होगी; स्वर्ग के सुख से यदि तृष्णा अगले भव में शान्त नहीं हुई तो वह तृष्णा अंगारदाहक के समान मनुष्य के भोग से कैसे शान्त हो सकती है ?

अंगारदाहक का दृष्टान्त

अंगारदाहक नाम का एक मूर्ख तालाब से पानी की मशक भर कर कोयले बनाने के लिए निर्जन जंगल में गया । अग्नि का ताप और तपती दुपहरी के सूर्य की चिलचिलाती धूप से उसकी प्यास दुगुनी हो उठी । इस कारण वहाँ मशक की थैली में जितना पानी था, उतना पी गया । फिर भी उसकी प्यास शान्त नहीं हुई; तब वह सो गया । उसे एक स्वप्न दिखाई दिया, जिसमें उसने देखा कि वह घर गया और घर में रखे हुए घड़ों, मटकों और पानी के भरे बर्तनों का सारा का सारा पानी पी गया । जैसे तेल से आग शान्त नहीं होती, वैसे ही इतना पानी पी जाने पर भी उसकी प्यास कम न हुई । तब उसने बावड़ी, कुए, तालाब आदि का पानी पी कर उन्हें खाली कर दिया । फिर भी वह वह तृप्त न हुआ । अतः वह नदी पर गया; समुद्र पर गया, उसका पानी भी पी गया; फिर भी नारकीय जीव की वेदना की तरह उसकी प्यास कम नहीं हुई । बाद में वह जिस जलाशय को देखता, उसी का पानी पी कर उसे खाली कर देता । फिर वह मारवाड़ के कुए का पानी पीने के लिए पहुँचा। उसने कुए से पानी निकालने के लिए रस्सी के साथ घास का एक पूला बांधा और उसे कुए में उतारा । परेशान मनुष्य क्या नहीं करता ?' मारवाड़ के कुए का पानी गहरा था और गहराई से बहुत नीचे से पानी खींचने के कारण बहुत-सा पानी तो ऊपर आते-आते निचुड़ जाता था । फिर भी वह पूले के तिनकों पर लगे जलबिन्दुओं को निचोड़ कर पीने लगा । जिसकी प्यास समुद्र के जल से भी शान्त नहीं हुई; वह भला पूले के पानी से कैसे शान्त होती ? मतलब यह है कि उसकी प्यास किसी भी तरह से नहीं बुझी ।

इसी तरह जिसे स्वर्ग के सुख से शान्ति नहीं हुई, उसकी तृष्णा राज्यलक्ष्मी के ले लेने से कैसे शान्त हो जायगी ? अतः वत्सो ! आनंदरस देने वाला और निर्वाणप्राप्ति का कारणरूप संयम-साम्राज्य प्राप्त करना ही तुम जैसे विवेकियों के लिए उचित है ।' इस प्रकार प्रभु का वैराग्यमय उपदेश सुन कर उन ९८ भाइयों को भी उसी समय वैराग्य हो जाने से उन्होंने भगवान् के पास दीक्षा धारण की । उधर दूत उन ९८ भाइयों के धैर्य, सत्य और वैराग्यवृद्धि की मन ही मन प्रशंसा करता हुआ भरत-नरेश के पास पहुँचा । उनसे ९८ भाइयों की सारी बातें निवेदन कीं । उसे सुन कर भरतनृप ने उन ९८ भाइयों का राज्य अपने अधिकार में कर लिया । सच है, लाभ (धनप्राप्ति) से लोभ बढ़ता जाता है । राजनीति में सदा से ही प्रायः ऐसा होता आया है ।

सेनापति ने व्याकुल हो कर भरतचक्रवर्ती से सविनय निवेदन किया—''चक्रीश ! अभी तक आप की आयुधशाला में चक्ररत्न प्रवेश नहीं कर रहा है । इसलिये मालूम होता है कि कोई न कोई ऐसा राजा

बचा है, जो आपकी आज्ञाधीनता स्वीकार नहीं करता। और जब तक सभी राजा आपका आज्ञाधीनता स्वीकार न कर लें तब तक चक्रवर्तित्व के लिए, आपकी दिग्विजय अधूरी है।' भरत ने इसके उत्तर में कहा 'हाँ ! मैं जानता हूं कि लोकोत्तर-पराक्रमी महाबाहु महाबलशाली मेरे लघुबन्धु बाहुबलि को जीतना अभी बाकी है। मेरी स्थिति इस समय उस व्यक्ति की-सी बनी हुई है, जिसके एक ओर गरुड़ हो और दूसरी ओर सर्पों का झुंड। मैं जानता हूं कि बाहुबलि सिंह के समान अकेला ही हजारों व्यक्तियों को परास्त कर सकता है; क्योंकि जैसा पराक्रम अकेला सिंह दिखलाता है, वैसा पराकम हजारों हिरण मिल कर भी नहीं दिखला सकते। एकाकी अजेय बाहुबलि को जीतने में प्रतिमल्ल या देव, दानव या मानव समर्थ नहीं है। मेरे सामने बहुत बड़ा धर्मसंकट पैदा हो गया है। एक ओर मैं चक्रवर्ती बनना चाहता हूं, लेकिन मेरी आयुध-शाला में चक्ररत्न प्रवेश नहीं कर रहा है, दूसरी ओर बाहुबलि किसी की आज्ञाधीनता स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं। क्या यह बाहुबली किसी भी तरह से आज्ञा मानने को तैयार होगा ? क्या सिंह अपनी पीठ पर पलाण का लादना सहन करता है ?' भरत ऐसे विचारसागर में गोते लगा रहा था, तभी उसके सेनापति ने कहा--'स्वामिन् ! आपके पराक्रम के सामने तीन जगत् भी तिनके के समान है।'' भरत ने अपने सौतेले छोटे भाई बाहुबली की राजधानी तक्षशिला में दूत भेज कर संदेश कहलवाया। चतुर दूत ने ऊँचे सिंहासन पर बैठे बाहुबलि को प्रणाम किया और भरतेश का संदेश युक्तिपूर्वक कह सुनाया— 'राजन् ! 'आप वास्तव में एक प्रशंसनीय व्यक्ति हैं, जिनके बड़े भाई जगत् को जीतने वाले, भारत के छह खण्ड के स्वामी और लोकोत्तर पराक्रमशाली है। आपके बड़े भाई के चक्रवर्तित्व के राज्याभिषेक-उत्सव में मंगलमय भेंट ले कर और आज्ञाधीन बन कर कौन राजा नहीं आता ? अर्थात् प्रत्येक राजा आये हैं ! सूर्योदय से जैसे कमलवन सुशोभायमान होता है, वैसे ही भरत का उदय आपकी ही शोभा के लिये है। परन्तु हमें आश्चर्य होता है कि आप उनके राज्याभिषेक में क्यों नहीं पधारे ? 'कुमार ! आपके नहीं आने का कारण जानने के उद्देश्य से ही नीतिज्ञ राजा ने मुझे आपकी सेवा में पहुंचने की आज्ञा दी है; और इसी हेतु से मैं आपकी सेवा में उपस्थित हुआ हूँ। हो सकता है कि आप स्वाभाविक रूप से नहीं पधारे हों; परन्तु इतने बड़े उत्सव में एक लघुबन्धु के नाते आपके न पधारने से कितने ही लोग इसे आपकी अवनीतता समझते हैं। क्योंकि नीच पुरुष सदा छिद्र ढूंढा करते हैं। हम चाहते हैं कि ऐसे नीच लोगों को बोलने की कतई गुंजाइश न रहे। इस बात पर आपको भलीभांति ध्यान देना चाहिये और पहले से ही इसका बचाव करके चलना चाहिए। अतः आपसे हमारा नम्र निवेदन है कि आपको अपने बड़े भैया की सेवा में पधारना चाहिए। बड़ा भाई महाराजा होता है, उसकी उपासना करने में कौन-सी लज्जा की बात है ? आप कदाचित् यह सोच कर नहीं पधारें कि मैं तो उनके बराबरी का भाई हूँ; कैसे जाऊँ ? तो इससे आपकी धृष्टता ही प्रगट होगी। आज्ञापालक राजा नाते-रिश्तेदारी का खयाल नहीं रखते। लोहचुम्बक के निकट रखते ही जैसे लोहा खिंचा चला आता है, वैसे ही भरतनरेश के तेज और पराक्रम से देव, दानव और मनुष्य सभी खिंचे चले आते हैं। वर्तमान में तो सभी राजा एकमात्र भरत का ही अनुसरण करते हैं। इन्द्र-महाराज भी उन्हें आधा आसन दे कर उनसे मित्रता बांधे हुए हैं। फिर समझ में नहीं आता कि आप उनकी सेवा में जाने से क्यों पीछे हट रहे हैं ? शायद आप अपने आपको अधिक वीर समझ कर राजा की अवज्ञा कर रहे हैं, तो यह आपकी बड़ी भ्रान्ति होगी। उनकी सेना के सामने आपकी मुट्ठीभर सेना ऐसी लगती है, जैसे समुद्र के सामने एक छोटा-सा नाला। और उनके पास ऐरावण जैसे चौरासी लाख हाथी हैं, जिन्हें जंगम पर्वत के समान चलायमान करने में कौन समर्थ है ? उतनी ही संख्या में घोड़े और रथ हैं, जिनका वेग प्रलय-

कालीन समुद्र के तूफान के समान है। उनके वेग को रोकने में भला कौन समर्थ है ? फिर उस चक्रवर्ती के अधीन ६६ करोड़ गांव हैं और सिंह के समान ८६ कोटि पैदल सेना है; जिनसे वह चाहे जिसको व्यथित कर सकता है तथा उनके पास हाथ में दण्डरत्नधारक यमराज-सा सुषेण नामक एक सेनापति भी है; जि के दण्ड को देव और असुर भी सहन नहीं कर सकते। साथ ही अमोघ चक्ररत्न उस भरत चक्रवर्ती के आगे-आगे ऐसे चलता है; मानों सूर्य का मण्डल चल रहा हो। सूर्य के सामने अन्धकार—समूह टिक नहीं सकता, वैसे ही तीन लोक में कोई भी उसके तेज के सामने कैसे टिक सकता है ? अत: हे बाहुबलि ! भरत महाराजा बल, वीर्य और तेज में समस्त राजाओं से बढ़कर हैं। इसलिए अगर आप अपने राज्य और जीवन की सुरक्षा चाहते हों तो आपको उनका आश्रय ग्रहण करना चाहिए।" अपनी बाहुओं से जगत के बल को परास्त करने वाले बाहुबलि ने अपनी भ्रुकुटि, चढ़ा कर समुद्र की तरह गर्जती हुई गम्भीर वाणी में कहा 'दूत ! तुमने ऐसे वचन कहे हैं, जो लोभ से लिप्त और क्षुब्ध करने वाले है। दूत तो सदा स्वामी के वचन को यथार्थ संदेश के रूप में पहुंचाने वाले होते हैं। ऐ दूत ! सुरों, असुरों और नरेन्द्रों के पूज्य, उत्तम-पराक्रमी पिताजी ही मेरे लिए पूजनीय और प्रशसनीय नहीं, अपितु भरत भी मेरे लिए पूजनीय व प्रशंसनीय है, यह बात ही तुमने नई सुनाई। कर देने वाले राजा चाहे उनसे दूर रहें, परन्तु जिसका बलवान भाई बाहुबलि है, वह क्षेत्र से दूर रहते हुए भी अपने भाई के निकट ही है। सूर्य और कमलवन के समान हम दोनों की परस्पर गाढ़ प्रीति है। अपने भाई का मेरे हृदय में स्थान है। फिर वहां जाने से क्या प्रयोजन है ? हमारी प्रीति तो जन्म से ही स्वाभाविक है। हम सहज-भाव से भैया के पास नहीं पहुँचे, यह बात सत्य है। परन्तु इसे भैया भरत के प्रति मेरी कुटिलता क्यों समझी जाय ? विचारपूर्वक कार्य करने वाले सज्जन दुर्जनों के वचनों से बहकते नहीं। भगवान् ऋषभदेव स्वामी ही हम दोनों के स्वामी हैं। वे स्वामी ही एकमात्र विजयी हैं, तो फिर मुझे दूसरे स्वामी की क्या आवश्यकता है ? वे मुझे अपना भाई समझते हैं तो भाई को भाई से डर क्यों ? आज्ञा करने वाले तो स्वामी हैं; वे आज्ञा दें चाहे न दें। रिश्ते-नातेदारी का सम्बन्ध हो, इसमें क्या विशेषता है ? क्या हीरा हीरे को नही काटता ? यदि भरत देव, दानव और मानव के द्वारा सेव्य हो और उनके प्रति उनकी विशेष प्रीति हो, इससे मुझे क्या लेना-देना ? सीधे मार्ग पर चलने वाले रथ को कोई हानि नहीं होती, मगर उत्पथ पर चलने वाला अच्छा से अच्छा रथ किसी ठूंठ या पेड़ से टकरा कर चकनाचूर हो जाता है। इन्द्र पिताजी के भक्त है, वे पिताजी के लिहाज से कदाचित् भरत को अपने आधे आसन पर बैठने का अधिकार दे दें। इतने मात्र में उनमें अहंकार आ जाना ठीक नहीं है। तुमने कहा कि समुद्र के समान उसकी सेना के सामने दूसरे राजाओं की सेना आटे में नमक के जितनी है, परन्तु मैं उससे भी बढ़कर दु:सह वड़वानल के समान हूँ। सूर्य के तेज में दूसरे तेज विलीन हो जाते हैं, वैसे ही मेरी सेना में भरत की पैदल, रथ, घोड़े, हाथी, सेनापति और भरत भी प्रलीन हो जायेगा। अतः हे दूत ! तुम जाओ और अपने स्वामी से कहो कि यदि वह अपने राज्य और जीवन को लड़ाई से सहीसलामत रखना चाहता है, तो खुशी से लड़ने आए। मुझे उसका राज्य लेने की ख्वाहिश नहीं है। पिताजी के दिये हुए राज्य से ही मुझे सन्तोष है।"

दूत ने वहां से वापिस आ कर बाहुबलि का सारा वृत्तान्त भरतनरेश को सुनाया। अतः भरत ने भी बाहुबलि के साथ युद्ध करने की अभिलाषा से सेना के साथ कूच किया। चातुर्मास में जैसे बादलों से आकाश ढक जाता है, वैसे ही पराक्रमी बाहुबलि भी अपनी सेना के कूच करने से उड़ती हुई धूलि से पृथ्वीतल को आच्छादित करता हुआ भरत से युद्ध करने के लिए आ पहुंचा। युद्ध के मैदान में युद्ध के

लिए उद्यत आमने-सामने खड़े दोनों पक्षों के वीरो, महासुभटों और सैनिकों के शस्त्रास्त्रों की टक्कर ऐसी लगती थी, मानो जलजन्तुओं की सामुद्रिक तरंगों के साथ परस्पर टक्कर हो रही हो। भाले वालों का भाले वालों और बाण वालों का बाण वालों के साथ संग्राम ऐसा प्रतीत होता था, मानो साक्षात् यमराज ही उपस्थित हो गये हों। तत्पश्चात् महाबलशाली बाहुबली ने समग्र सेना को रुई की पूनी के समान दूर हटा कर भरत से कहा—'अरे भाई! यों ही हाथी, घोड़ों, रथ और पैदल सेना का संहार करवा कर व्यर्थ पाप क्यों उपार्जन कर रहे हो? अगर तुम अकेले ही लड़ने में समर्थ हो तो आ जाओ; हम तुम दोनों ही आपस में लड़ कर फैसला कर लें। बेचारी सेना को व्यर्थ ही क्यों संहार के लिये झौंक रहे हो?" यह सुन कर दोनों ने अपने-अपने सैनिकों को युद्धक्षेत्र से हट जाने को कहा। इस कारण वे साक्षी के रूप में रणक्षेत्र के दोनों ओर दर्शक के तौर पर खड़े हो गये। देव भी इसमें साक्षीरूप थे। दोनों भाइयों ने स्वयं ही परस्पर द्वन्द्वयुद्ध करने का निश्चय किया। सर्वप्रथम दृष्टियुद्ध प्रारम्भ हुआ। आमने-सामने पलक झपाए बिना खड़े दोनों नरदेवों को देख कर देवों को भी भ्रम हो गया कि ये दोनों अनिमेष दृष्टि वाले देव तो नहीं हैं। दोनों के दृष्टि-युद्ध में भरत की पराजय हुई। अत. वाग्युद्ध हुआ, जिसमें पक्ष और प्रतिपक्ष की स्थापना करके वाद-विवाद किया जाता है। इसमें भी भरत की हार हुई। अतः महा-भुजबली दोनों बलवानों ने बाहुयुद्ध प्रारम्भ किया। बाहुबलि ने अपनी बांह लम्बी की, भरत उसे झुकाने लगा। परन्तु भरत ऐसा मालूम होता था कि महावृक्ष की शाखा पर बन्दर लटक रहा हो। तत्पश्चात् बाहुबलि की बारी आई तो महाबलशाली बाहुबलि ने भरत की भुजा को एक ही हाथ से लता की नाल की तरह नमा दी। उसके बाद मुष्टियुद्ध हुआ। बाहुबलि पर भरत ने प्रथम मुष्टिप्रहार किया, परन्तु जैसे सागर की लहरें तटवर्ती पर्वत पर टकराती हैं, उसी प्रकार उसकी मुष्टि सिर्फ टकरा कर रह गई। बाहुबलि का कुछ भी न कर सकी। उसके बाद बाहुबलि की बारी आई तो उसने भरत पर वज्र के समान प्रहार किया; जिससे भरत गश खा कर नीचे गिर पड़ा। सेना की आंखों में आसू थे। मूर्छा दूर होते ही जैसे हाथी दंतशूल से पर्वत पर ताड़न करता है, वैसे ही दंड से भरत ने बाहुबलि को ताड़न करना शुरू किया। बाहुबलि ने भी भरत पर दण्ड-प्रहार किया। जिससे वह भूमि में खोदे हुए गड्ढे की तरह घुटनों तक जमीन में धंस गया। भरत को जरा संशय हुआ कि यह बाहुबली कहीं चक्रवर्ती तो नहीं होगा। इतना याद करते ही चक्र भरत के हाथ में आ गया। क्रोध से हुंकारते हुए भरत जमीन से बाहर निकले और प्रचण्ड चकाचौंध वाला चक्र बाहुबलि पर फेंका। सेना हाहाकार कर उठी। किन्तु यह क्या! चक्र बाहुबलि की परिक्रमा करके वापस भरत के पास लौट आया। क्योंकि देवताओं से अधि-ष्ठित शस्त्र एक गोत्र वाले स्वजन का पराभव नहीं कर सकता। भाई भरत को अनीति करते देख कर क्रोध से आंखें लाल करते हुए बाहुबलि ने सोचा "चक्र ही से इसे क्यों न चूर-चूर कर दूं!" इस विचार के साथ बाहुबलि ने अपनी मुट्ठी बांध कर मारने के लिए उठाई।

तत्क्षण बाहुबलि के दिमाग में एक विचार बिजली की तरह कौंध उठा—"कषायों के वशी-भूत हो कर बड़े भाई को मारने से कितना अनर्थ हो जायेगा? इससे तो अच्छा यह होगा कि जो मुष्टि मैंने भाई को मारने के लिए तानी है, उससे कषायों को मारने के लिये पंचमौष्टिक लोच क्यों न कर लूं।" इस प्रकार चिन्तन-मनन-अनुप्रेक्षण करते-करते बाहुबलि को संसार से विरक्ति उत्पन्न हो गई और उन्होंने तत्काल ही उठाई हुई मुष्टि से सिर के बालों का लोच कर लिया। वे क्षमाशील मुनि बन

गये। अचानक यह परिवर्तन देख कर "बहुत ही श्रेष्ठ किया, बहुत ही सुन्दर किया", यों प्रशंसा करते हुए देवों ने हर्ष से जयध्वनि की और बाहुबलि पर पुष्पवृष्टि की।

मुनि बन कर बाहुबलि ने मन मे विचार किया—"भगवान् के पास जा कर मुझसे पहले मुनि बने हुए अपने रत्नाधिक किन्तु लघुवयस्क भाइयों को मैं बड़ा भाई होकर कैसे वंदना करूं ? अच्छा तो यही होगा कि जब मुझे केवलज्ञान हो जायेगा, तभी सीधा भगवान् की धर्मसभा में जा कर केवलज्ञानियों की पर्षदा मे बैठ जाऊंगा। न किसी को वन्दना करनी पड़ेगी और न कुछ और।'

यों सोच कर अपने कृत त्याग के अभियान में स्वसतुष्ट होकर बाहुबलि मुनि वहीं कायोत्सर्ग-प्रतिमा धारण कर मौनसहित ध्यान में स्थिर खड़े हो गये। बाहुबलि की ऐसी स्थिति देख कर अपने अनुचित आचरण से भरत को पश्चात्ताप हुआ। शर्म से वह मानो पृथ्वी मे गड़ा जा रहा था। उसने शान्तरस की मूर्ति मुनि बने हुए अपने बन्धु को नमस्कार किया। भरत की आंखों से पश्चात्ताप के गर्म अश्रुबिन्दु टपक पड़े। मानो रहा-सहा क्रोध भी आंसुओं के रूप मे बाहर निकल रहा था। भरतनरेश जिस समय बाहुबलि के चरणो मे झुक रहे थे, उस समय बाहुबलि के पैरों के नखरूपी दर्पण में प्रतिबिम्ब पड़ने से भरत के मन मे उठ हुए सेवा, भक्ति, पश्चात्ताप आदि अनेक भावों के विविध रूप दिखाई दे रहे थे। भरतनरेश बाहुबलि के सामने अपने अपराधरूप रोग की औषधि के समान आत्मनिन्दा और बाहुबलि मुनि की गुणस्तुति करने लगा—'मुनिवर, धन्य है आपको ! आपने मुझ पर अनुकम्पा करके तिनके की तरह राज्यत्याग कर दिया। 'मैं वास्तव में अधम, पापी, असंतोषी और मिथ्या-अहंकारी हूं ; जिससे मैंने आपको दुःखित किया। जो अपनी शक्ति को नहीं पहिचानते, अन्यायमार्ग में प्रवृत्त होते है और लोभ के वशीभूत हो जाते है, उन सब मे मैं अगुआ हूँ। राज्य वास्तव में संसारवृक्ष को बढ़ाने वाला बीज है। इस बात को जो नही समझते, वे अधन्य हैं। राज्य को इस तरह का जानता हुआ भी मैं उसे नहीं छोड़ सका, इस कारण मैं अधम में भी अधम हूं। सच्चा पुत्र वही कहलाता है, जो पिताजी के मार्ग पर चले। मैं भी आपकी तरह भगवान् ऋषभदेव का सच्चा पुत्र बनूं, ऐसी अभिलाषा है। यों पश्चात्तापरूपी पानी मे विषादरूपी कीचड़ को साफ करके भरत महाराज ने बाहुबलि के पुत्र सोमयशा को उसकी राजगद्दी पर बिठा कर उसका राज्याभिषेक किया। उस समय से ले कर आज तक सोमवंश चला आ रहा है, जिसकी सैकड़ों शाखाएँ आज भी विद्यमान हैं ; जो अनेक महापुरुषों को जन्म देने वाला हुआ है। इस प्रकार भरतेश बाहुबली मुनि को नमस्कार कर परिवार-सहित राज्य-लक्ष्मी के समान अपनी अयोध्यानगरी में आये।

बाहुबलि मुनि को दुष्कर तप करते एवं पूर्वजन्मोपार्जित कर्मों को नष्ट करते हुए एक वर्ष व्यतीत हो गया। भ० ऋषभदेव को बाहुबलि की अभिमानजनक स्थिति ज्ञात हुई। उन्होंने ब्राह्मी और सुन्दरी को बाहुबलि के पास जा कर अभिमानमुक्त होने की प्रेरणा देने की आज्ञा दी। अतः भगवान् की आज्ञा से वे दोनों महासाध्वियाँ बाहुबलिमुनि के पास आ कर कहने लगीं—'हे महासत्व ! स्वर्ण और पाषाण में समचित्त ! संगत्यागी भ्राता मुनिवर ! हाथी के कन्धे से नीचे उतरो ; हाथी पर चढ़े रहना उचित नहीं है। इससे आपको केवलज्ञान कैसे प्राप्त होगा ? नीचे लिंडियों की आग प्रज्वलित हो तो वृक्ष के नव पल्लव नष्ट होने से बच नहीं सकते ! भ्रातामुनिवर ! यदि आप संसार-समुद्र से तरना चाहते है तो आप स्वयं ही विचार करें और और लोहे की नौका के समान इस हाथी पर से नीचे उतरें।" बाहुबलि मुनि विचार करने लगे—"मैं कौन-से हाथी पर चढ़ा हुआ हूं। मेरा हाथी के साथ

क्या वास्ता ? वृक्ष पर बेलें चढ़ सकती हैं, मेरे शरीर पर नहीं। वैसे ही हाथी मेरे शरीर से कैसे सम्पर्क कर सकता है ? समुद्र कदाचित् अपनी मर्यादा छोड़ दे, पर्वत चलायमान हो जाय, फिर भी भगवान् की शिष्या साध्वी कभी असत्य नहीं बोल सकतीं। अरे हां ! मैंने जान लिया, मैं तो इस मानरूपी हाथी पर चढ़ा हूं और इसी ने मेरे केवलज्ञानरूपी ज्ञान-फल वाले विनयवृक्ष का नाश किया है। मेरे पूर्व-दीक्षित छोटे भाइयो को मैं कैसे वंदन करू ? यही विचार मुझे अभिमान के हाथी पर चढ़ाए हुए थे। धिक्कार है, ऐसे विचारों को। वे चाहे मुझसे उम्र में छोटे हों, मगर ज्ञान, दर्शन और चारित्र में तो वे मेरे से बड़े हैं, मेरे से पहले दीक्षित हैं। मेरा यह दुष्कृत (पापमय विचार) मिथ्या हो। अभी जा कर उन छोटे भाइयों को और उनके शिष्यों तक को परमाणु-समान बन कर मैं वंदन करू ;" यों विचार करते हुए ज्यों ही बाहुबलि मुनि ने भगवान् के पास जाने के लिए कदम उठाया ; त्योंही उनको निर्वाण-भवन के द्वार के समान केवलज्ञान प्राप्त हुआ। केवलज्ञान-लक्ष्मी से समस्त विश्व को वे हस्तामलकवत् देखने लगे। और भगवान् के पास जाकर केवलज्ञानियों की परिषदा में जा बैठे।

इधर चौदह महारत्नों, चौसठ हजार अन्तःपुर की स्त्रियां और नौ निधानों से सम्पन्न होने पर भी भरत चक्रवर्ती साम्राज्य-सम्पत्ति का उपयोग धर्म, अर्थ और काम का अविरुद्धरूप से यथासमय सेवन करते हुए निर्लिप्त भाव से करते थे।

एक बार विहार करते हुए प्रभु अष्टापद पर्वत पर पधारे। प्रभु के चरणों में वन्दन करने की उत्कंठा से भरत चक्रवर्ती वहां पहुँचे। देवों और दानवों के द्वारा पूजनीय विश्वपति भगवान् ऋषभदेव समवसरण में बैठे थे। भरतेश ने उनकी तीन बार प्रदक्षिणा की और नमस्कार करके स्तुति करने लगे -

'प्रभो ! आप साक्षात् विश्वास की मूर्ति हैं। पुंजीभूत सदाचार हैं ; समग्र जगत् के लिए एकान्त प्रमादरूप है। प्रत्यक्षज्ञान के पुंजरूप हैं। पुण्य के समूह-स्वरूप है। एक ही स्थान पर एकत्रीभूत देहधारी समस्त लोक के सर्वस्व हैं। संयमस्वरूप हैं। अकारण विश्वोपकारी है। जंगम शील के समान हैं। देहधारी होते हुए भी विदेह हैं। क्षमावान हैं, योग के रहस्य-समान हैं। जगत् के एकत्र पुंजीभूत वीर्य हैं। सिद्धि के सफल उपायभूत हैं। आप सर्वतोभद्र हैं। आप सर्वमंगलरूप हैं। मूर्तिमान मध्यस्थ हैं। एकत्रित तप, प्रशम सद्ज्ञान, योग आदि रूप हैं। साक्षात् विनय-रूप हैं। असाधारण सिद्धि के समान हैं। सकल शास्त्र-सम्पत्तियों के प्रति व्यापक हृदय-समान हैं। **'नमः स्वस्ति, स्वधा, स्वाहा, वषट्'** आदि मन्त्रों के अभिन्न अर्थ-समान हैं। विशुद्ध धर्ममूर्ति हैं, निर्माण के अतिशय-समान है। पिंडीभूत समग्र तप हैं। समग्र फल-स्वरूप हैं। समस्त शाश्वतगुण-समूह हैं। गुणोत्कर्ष-स्वरूप मोक्ष-लक्ष्मी के निर्विघ्न उपाय हैं। प्रभावना के अद्वितीय स्थान हैं। मोक्ष के प्रतिबिम्ब स्वरूप हैं। विद्वानों के मानो कुलगृह हैं। समस्त आशीर्वादों के फलरूप हैं। आर्यों के श्रेष्ठ चरित्र का दर्शन करने के लिये श्रेष्ठ दर्पण के समान हैं। जगत के द्रष्टा हैं। कूटस्थ प्रशमरूप हैं। दुःखो के लिए शान्ति के द्वार के समान हैं। जीते-जागते ब्रह्मचर्य हैं। उज्ज्वल पुण्य से उपार्जित जीवलोक के अपूर्व जीवित हैं। मृत्युरूपी सिंह के मुख से खींच कर जगत् के जीवों के बचाने के लिए मानो लम्बे हाथ किए हुए कृपालु हैं। ज्ञेय समुद्र में से ज्ञानरूपी मेरुपर्वत को मंथनदंड बना कर मंथनदण्ड से मंथन करके निकाले हुए साक्षात् अमृत हैं। तथा जीवों की अमरणता के कारण-स्वरूप हैं। सारे विश्व को अभयदान देने वाले हैं। तीन लोक को आश्वासन देने वाले हैं। हे परमेश्वर ! मैं आपकी शरण ग्रहण करता हूं। मुझ पर प्रसन्न हों। इस

तरह त्रिलोकीनाथ श्री ऋषभदेव स्वामी के सामने एकाग्रचित्त हो कर चिरकाल तक भरत महाराज ने उनकी उपासना की।

दीक्षा लेने के बाद लाख पूर्व काल व्यतीत होने पर प्रभु ने दस हजार साधुओं के साथ अष्टापद-पर्वत पर मोक्ष प्राप्त किया। उस समय इन्द्र आदि देवताओं ने प्रभु का निर्वाण-महोत्सव किया। महाशोकमग्न भरत को इन्द्रमहाराज ने आश्वासन दे कर समझाया। बाद में अष्टापद-पर्वत पर भरतमहाराज ने दूसरे अष्टापद के समान निषद्य नाम का रत्नजटित प्रासादमय-मंदिर बनवाया। उसमें भरत चक्रवर्ती ने श्री ऋषभदेव भगवान् के शरीर, वर्ण और संस्थान की आकृति से सुशोभित रत्न-पाषाणमय प्रतिमा की स्थापना की। उसके बाद उन्होंने निन्यानवे भ्रातृ-मुनिवर्गों के भी रत्नपाषाणमय अनुपम स्तूप बनवाये। फिर अपनी राजधानी में आ कर प्रजा का पालन करने के लिये कटिबद्ध हो कर राज्य करने लगे। भरतेश भोगावली कर्म के फलस्वरूप उदयप्राप्त विविध भोगो का इन्द्र के समान सदा उपभोग करते थे।

एक दिन वस्त्र, आभूषण आदि पहन कर सुसज्जित होने के लिए भरत चक्रवर्ती अपने शीश-महल में पहुंचे। उस समय वे अन्तःपुर की अंगनाओं के बीच में ऐसे सुशोभित हो रहे थे, जैसे तारों के बीच में चन्द्रमा सुशोभित होता है। शीशमहल में जब भरत नरेश शीशे के सामने खड़े होकर अपना चेहरा व अंग देखने लगे तो सारे अंगों में पहने हुए रत्नजटित आभूषण का प्रतिबिम्ब उसमें पड़ रहा था। अचानक उनके हाथ की एक उंगली में से अंगूठी गिर पड़ी। उसके गिरने से निस्तेज चन्द्रकला-सी शोभारहित अंगुलि दिखाई देने लगी। उनके मन में मंथन जागा। जब एक अंगूठी के निकाल देने से अंगुलि की शोभा कम हो गई है तो और आभूषणों के उतार देने से पता नहीं क्या होगा ? यों सोच कर उन्होंने अपना प्रतिबिम्ब देखा तो पत्तों से रहित वृक्ष के समान अपना शरीर शोभारहित जान पड़ा। भरत चिन्तन की गहराई में डूब गए, कि 'क्या इस शरीर की शोभा आभूषणों से है ? अतः इस शरीर को गहनों से सजाने की अपेक्षा अपनी आत्मा को ही ज्ञानादि गुणरूपी और आभूषणों से क्यों न सजा लूं ! वे आभूषण स्थायी होंगे, उनकी चमक कभी फीकी न होगी। विष्ठा आदि मलों से भरे हुए इस बाह्यस्रोत वाले शरीर को सजाने से क्या लाभ ? यह तो अन्दर से खोखली दीवार पर पलस्तर करके उसकी शोभा को बढ़ाने जैसा होगा। जैसे उत्पथ (ऊपर) भूमि में हुई वर्षा व्यर्थ ही जल को बिगाड़ती है वैसे ही कपूर, कस्तूरी आदि पदार्थों से शृंगारित यह शरीर भी सुन्दर पदार्थों को दूषित ही करता है। इसलिए परिणाम में दुःखद विषयसुखसाधनों की आसक्ति का त्याग करके मोक्षफल देने वाले तप-संयम का सेवन करने से ही यह शरीर सार्थक हो सकता है। इसी प्रकार इससे उत्तम फल प्राप्त किया जा सकता है।' इस प्रकार वैराग्यरस से सराबोर हो कर भरत ने अनित्यभावना पर अनुप्रेक्षण किया। इस प्रकार के शुक्लध्यान के योग से उन्हें केवलज्ञान उत्पन्न हुआ। यह है योग का अद्भुत सामर्थ्य !

उसी समय भक्तिमान इन्द्र ने उन्हें रजोहरण आदि मुनिवेश अर्पण किया, बाद मे वंदन किया और भरत के स्थान पर उनके पुत्र आदित्ययशा को राजगद्दी पर बिठाया। तब से ले कर आज तक के राजाओं का सूर्यवंश चल रहा है।

यहाँ पर शंका पैदा होती है कि 'भरत चक्रवती ने पूर्वजन्म में मुनिदीक्षा ले कर योग का अनुभव किया था और उस योगसमृद्धि के बल से अशुभ कर्म नष्ट करने में तथा कर्मक्लेश को मिटाने में योग के प्रभाव से उन्हें अधिक आयास नहीं करना पड़ा। इस दृष्टि से योग का माहात्म्य बताने हेतु

भरत महाराजा का उदाहरण देना उचित है। परन्तु जिस जोव ने जन्मान्तर में दर्शनादि तीन रत्नों को प्राप्त नहीं किया और कर्मक्षय नहीं किया है; जिसने पूर्वजन्म में मनुष्यत्व प्राप्त नहीं किया, वह जीव अनन्तकाल तक एकत्रित किए हुए कर्मों का समूल नाश कैसे कर सकता है? इसका उत्तर निम्नोक्त श्लोक द्वारा देते हैं :—

पूर्वमप्राप्तधर्माऽपि परमानन्दनन्दिता।
योगप्रभावतः प्राप्ता मरुदेवी परं पदम् ॥११॥

अर्थ

पहले किसी भी जन्म में धर्म-सम्पत्ति प्राप्त न करने पर भी योग के प्रभाव से परम आनन्द से मुदित (प्रसन्न) मरुदेवी माता ने परमपद मोक्ष प्राप्त किया है।

व्याख्या

श्रीमरुदेवी माता ने किसी भी जन्म में सद्धर्म प्राप्त नहीं किया था और न त्रसयोनि प्राप्त की थी और न मनुष्यत्व का ही अनुभव किया था। केवल मरुदेवी के भव में योगबल से समृद्ध शुक्ल-ध्यान-रूपी महानल से दीर्घकाल संचित कर्मरूपी ईन्धन को जला कर भस्म कर दिया था। कहा भी है— "**जहा मरुदेवी अच्चंतं थावरा सिद्धा**" अर्थात् जैसे अकेली मरुदेवी ने दूसरी किसी गति में गए बिना व संसार-परिभ्रमण किये बिना सीधे अनन्तकालिक स्थावर (अनादि निगोद) पर्याय से निकल कर मोक्ष प्राप्त कर लिया। मरुदेवी का चरित्र संक्षेप में पहले कहा गया है।

मरुदेवी माता ने पूर्वजन्म में तीव्र कर्म नहीं किये थे, इसलिये योग की थोड़ी-सी साधना से अनायास ही मोक्षपद प्राप्त कर लिया था। मगर जो अत्यन्त क्रूरकर्मी है, क्या वह भी योग के प्रभाव से सफलता प्राप्त कर सकता है? इस प्रश्न का समाधान निम्नोक्त श्लोक द्वारा प्रस्तुत करते हैं—

ब्रह्म-स्त्री-भ्रूण-गो-घात-पातकान्नरकातिथेः।
दृढ़प्रहारि-प्रभृतेर्योगो हस्तावलम्बनम् ॥१२॥

अर्थ

ब्राह्मण, स्त्री, गर्भहत्या (बालहत्या) और गाय की हत्या के महापाप करने से नरक के अतिथि-समान दृढ़प्रहारी आदि को योग ही आलम्बन था।

व्याख्या

ब्राह्मण, नारी, गर्भस्थ बालक और गाय इन चारों की हत्या लोक में महापाप मानी जाती है। यद्यपि सभी आत्माएँ समान मानने वाले के लिये ब्राह्मण हो या अब्राह्मण, स्त्री हो या पुरुष, गर्भस्थ बालक हो अथवा युवक, गाय हो या अन्य पशु, किसी भी पंचेन्द्रिय प्राणी की हत्या का पाप तो प्रायः समान ही होता है। कहा भी है कि—'**किसी की भी हिंसा नहीं करनी चाहिए, राजा हो या पानी भरने वाला नौकर।**' अभयदानव्रती (अहिंसाव्रती) को किसी भी जीव की हिंसा नहीं करनी चाहिए। फिर भी लोकव्यवहार में ब्राह्मण, स्त्री, बालक और गाय इन चारों की हत्या करने वाला महापापी माना जाता है। दूसरे लोग अन्य जीवों का वध करने में उतना पाप नहीं मानते, जितना पाप इन चारों के वध में मानते हैं। इसलिये यहाँ पर इन चारों की हत्या को महापातक कहा है। ऐसे महापातक के फल-

स्वरूप नरकगमन के अधिकारी बने हुए दृढ़प्रहारी आदि को योगबल प्राप्त होने से वे उसी जन्म में मोक्ष के अधिकारी बन जाते हैं। इसी प्रकार दूसरे महापापी भी जिन्होंने जिनवचन को समझा है और उससे योगसम्पत्ति प्राप्त की है ; उन्होंने नरकगमन-योग्य कर्मों का निर्मूल करके परमपद—मोक्षसम्पति प्राप्त की है। कहा भी है—'कोई व्यक्ति स्वभाव से क्रूर हो गया हो, अत्यन्त विषयासक्त हो गया हो, किंतु अगर उसका चित्त जिनवचन के प्रति भक्तियुक्त हो जाय तो वह भी तीनों लोकों के सुख का भागी बन सकता है।

दृढ़प्रहारी का हृदय-परिवर्तन

किसी नगर में अत्यन्त उद्दण्ड स्वभाव का एक ब्राह्मण रहता था। वह इतना पापबुद्धि था कि जब देखो, तभी निर्दोष जनता को हैरान करता था, उन पर जुल्म ढहाता था। राज्य-रक्षक पुरुषों ने उसे नगर से बाहर निकाल दिया। अतः बाजपक्षी जैसे शिकारी के हाथ में चला जाता है, वैसे ही वह चोरपल्ली में पहुँच गया। वहाँ चोरों के सेनापति (अगुआ) ने उसके निर्दय-व्यवहारों और हिंसक आचरण से प्रभावित हो कर तथा उसे अपने काम के लिये योग्य समझ कर पुत्ररूप में स्वीकार कर लिया। एक दिन अकस्मात् किसी जगह मुठभेड़ में चोरों का सेनापति मारा गया। अतः उस क्रूर युवक को उसका पुत्र समझ कर तथा पराक्रमी जान कर सेनापति की जगह स्वीकार कर लिया। वह निर्दयतापूर्वक जीवहत्या करने में जरा भी संकोच एवं विलम्ब नहीं करता था। इस कारण लोगों में वह दृढ़प्रहारी नाम से प्रसिद्ध हो गया। एक दिन लूटपाट करने में साहसी कुछ वीर सुभटों को साथ लेकर वह कुशस्थल नामक गांव को लूटने गया। उस गांव में देवशर्मा नाम का एक महादरिद्र ब्राह्मण रहता था। उसके बच्चों ने एक दिन फलरहित वृक्ष से फल की आशा रखने के समान अपने पिता के सामने खीर खाने की इच्छा प्रगट की। ब्राह्मण ने सारे गाँव में घूम कर कहीं से चावल मांगा, कहीं से दूध और कहीं से खांड मांगी। यों खीर की सामग्री इकट्ठी करके घर में खीर बनाने को कह कर स्वयं नदी पर स्नान करने चला गया। इतने में वे ही चोर उसी के घर पर आ धमके। "दैव भी दुर्बल को ही मारता है," इस न्याय से उन चोरों में से एक चोर तैयार की हुई खीर को देख कर क्षुधातुर प्रेत के समान लपक कर खीर की हंडिया उठा कर ले भागा। अपने प्राण के समान खीर लुट जाने से ब्राह्मणपुत्रों ने अपने पिता से रोते-चिल्लाते हुए सारी शिकायत की—"हम तो मुंह बाए हुए खीर खाने की इंतजार कर ही रहे थे, इतने में तो जैसे फटी हुई आँख वाले के काजल को वायु हरण कर लेता है, वैसे ही हमारे देखते-देखते एक चोर आ कर हमारी खीर उठा ले गया।" बच्चों की बात सुन कर क्रोधाग्नि में जलता हुआ ब्राह्मण एकदम अर्गला ले कर यमदूत-सा दौड़ा। अपना सारा साहस और बल बटोर कर राक्षस की तरह अर्गला से वह चोरों पर टूट पड़ा और चोरों को धड़ाधड़ पीटने लगा। अपने साथी चोरों को पिटते देख कर दृढ़प्रहारी उसका सामना करने के लिए दौड़ा। जब वह दौड़ रहा था तब, दैवयोग से रास्ते में उसकी गति को रोकने के लिए एक गाय बीच में आ गई। मानों वह गाय उसके दुर्गतिपथ को रोकने आई हो। अधम चोरों के इस अगुआ ने आव देखा न ताव, बेचारी गाय को कसाई के समान तलवार के एक ही झटके में मार डाली। दरिद्र ब्राह्मण, जो उक्त चोर से मुकाबला करने आया था, उसके मस्तक को भी तलवार के एक ही प्रहार से अनन्नास के पेड़ के समान काट कर जमीन पर गिरा दिया। उस समय उसकी गर्भवती पत्नी उसके सामने आकर चिल्ला उठी—"ओ निर्दय पापी यह क्या कर डाला तूने ?" परन्तु उसने उसकी एक न सुनी और जैसे भेड़िया गर्भवती बकरी पर सहसा हमला कर

देता है, वैसे ही उस क्रूर ने उस गर्भवती स्त्री पर हमला करके तलवार से उसके दो टुकडे कर डाले। उसके गर्भ में जो बालक था, उसके अंग के भी टुकड़े-टुकड़े हो गए। बेल के पत्तों की तरह थर-थर कांपते, तड़फड़ाते और छटपटाते हुए उस बालक को देख कर पत्थर-से हृदय में भी करुणा के अंकूर फूटने लगे, ऐसा अत्यन्त करुण दृश्य था। ठीक उसी समय ब्राह्मण के पुत्र जोर-जोर से करुण स्वर से "हाय पिताजी, हाय पिताजी ! इस प्रकार विलाप करते हुए वहां आए। भूखे, नगधड़ंग, दुबले और शरीर पर मैल जमा होने से कालेकलूट बालकों को देखकर, दृढ़प्रहारी पश्चात्ताप करने लगा और विचार करने लगा—'हाय ! मैंने निर्दयी बन कर इस ब्राह्मण-दम्पती का वध कर डाला ! इन बेचारे अभागे बालकों का अब क्या होगा ? जैसे जलाशय में पानी के बिना मछलियां जीवित नहीं रह सकती हैं, वैसे ही ये बच्चे माता-पिता के बिना कैसे जीवित रह सकेंगे ? ओफ ! यह क्रूर कर्म अब न मालूम मुझे किस दुर्गति में ले जायेगा ? इस पाप के फल से मुझे कौन बचाएगा ? अब मैं किसकी शरण लूँ ?" इस तरह चिन्तन करते-करते वैराग्यभाव जागृत हो गया। अतः गांव में न जा कर गांव के बाहर ही एक उद्यान में पहुँचा। वहां पापरूपी रोग के निवारण के औषध के समान एक साधु-मुनिराज को देखा। हत्यारे दृढ़प्रहारी ने उन्हें नमस्कार किया और कहा—'भगवन ! मैं महापापी हूँ। इतना ही नहीं, मेरे साथ वार्तालाप करने वाला भी पापी हो जाता है। क्योंकि कीचड़ से लथपथ व्यक्ति को जो मनुष्य स्पर्श करता है, उसके भी कीचड़ लग जाती है। लोकमान्यता यह है कि बालक, स्त्री, ब्राह्मण और गाय इनमें से जो एक की भी हत्या करता है, वह अवश्य ही नरक का अधिकारी बनता है। मैंने तो निर्दय बन कर इन चारों की हत्या की है। प्रभो ! मुझ सरीखे निर्दय एवं पापी की रक्षा आप सरीखे पवित्र साधु ही कर सकते है। वर्षा जब बरसती है, तब विचार नहीं करती कि यह उपजाऊ जमीन है या ऊषरभूमि ?" उस पतितपावन मुनिवर ने उसे पाप से सर्वथा मुक्त होने के लिए तप-संयममय साधुधर्म का उपदेश दिया। सुन कर अतीव जिज्ञासा से पापताप-भय से छुटकारा पाने हेतु उसी तरह साधुधर्म अंगीकार किया, जिस तरह कोई गर्मी से घबराया हुआ मनुष्य छाता धारण करता है। साथ ही यह अभिग्रह भी धारण किया कि जब तक यह पाप मुझे याद आएगा, तब तक मैं भोजन नहीं करूंगा और सर्वथा क्षमा रखूंगा।" जिस कुशस्थल गाव में उसने पहले आतंक मचाया था, विहार करते हुए कर्मक्षय की इच्छा से महामना दृढ़प्रहारी मुनि उसी गांव के निकट पहुंच गये। गांव के लोगों ने जब उसे देखा तो वे उसे पहचान गये और कहने लगे कि यह तो वही पापियों का शिरोमणि है, महापापी है, धूर्त ने अब कपट से साधुवेष पहन लिया है। मार भगाओ इसे।" कई लोग कहने लगे—'यह तो वही गौ, ब्राह्मण, बालक और स्त्री का हत्यारा है। ढोंगी कहीं का ! आने दो इसे मजा चखाएंगे !" यों कई दिनों तक लोग तरह-तरह से उस महात्मा को कोसते, डांटते, फटकारते एवं निंदा करते रहे। जहां कहीं भी वह भिक्षा के लिए जाता था, वहीं पर लोग उसको उसी प्रकार ढेले से मारते थे, जैसे कुत्तों को ढेले से मारा जाता है। इस प्रकार दृढ़प्रहारी मुनि प्रतिदिन गांव में भिक्षा आदि के लिए जब जाता तो ये निन्दामय बातें सुनता रहता था, इस कारण उसे अपने पाप याद आ जाते थे और वह अपनी प्रतिज्ञानुसार किसी को प्रत्युत्तर न दे कर क्षमाभाव रखता था; आहार भी नहीं करता था। सच है साहसी आत्मा के लिए कुछ भी दुष्कर नहीं है। किसी समय प्रातःकाल, किसी समय दोपहर को और किसी समय संध्या को जब भी उसे गांव के लोग मिलते, उसके पूर्वपापों का स्मरण दिला देते थे। अतः एक दिन भी उसने भोजन नहीं किया। लोग उस मुनि को ढेले, लाठी, मुष्टि इत्यादि से मारते थे, उस पर धूल उछालते थे; फिर भी वह उन सारे उपद्रवों को समभाव से सहन करता था और ऐसी भावना किया

करता था—आत्मन् ! तूने जिस प्रकार से पाप किये हैं, उसी प्रकार से पाप-फल को भोग ! जैसा बीज बोया है, वैसा ही तो फल मिलता है। यह तो बहुत ही अच्छा है कि ये लोग मुझ पर आक्रोश करके अनायास ही मुझे सकामनिर्जरा की सिद्धि का अवसर दे रहे हैं। मुझ पर आक्रोश करने वालों के दिल में हर्ष उमड़ता है तो भले ही उमड़े; मैं उनके कटुवचनों को प्रेम से सहन करता हूं। इस कारण मेरे कर्म कटते हैं। यह तो मेरे लिए आनन्द का कारण है। ये लोग मुझे परेशान करके सुखी होते हैं; उन्हें भी आज सुखी होने दो, क्योंकि संसार में सुखप्राप्ति हो तो दुर्लभ है। जैसे चिकित्सा करने वाले वैद्य क्षार से रोग मिटाते हैं; वैसे ही ये लोग मुझे कठोर वचन कह कर मेरे दुष्कर्म को क्षय करने का प्रयत्न करते हैं। इसलिये ये मेरे वास्तविक हितैषी मित्र हैं। अग्नि की आंच सोने पर चढ़े हुए मैल को दूर करके सोने को उज्ज्वल एवं चमकदार बना देती है, वैसे ही ये लोग भी मुझे मारपीट कर या आक्रोश आदि करके मेरी आत्मा को कर्ममुक्त बना कर उज्ज्वल बनाते हैं। मुझ पर प्रहार करके दुर्गतिरूपी कारागार में पड़े हुए मुझ को बाहर खींच रहे हैं; क्या मैं ऐसे उपकारी पर कोप करूं ? ये तो अपना पुण्य दे कर भी मेरे पाप दूर कर रहे हैं। इससे अधिक अकारण महान् बन्धु और कौन होंगे ? संसार से मुक्त कराने में कारणभूत ऐसा वध या पीड़ा आदि मेरे लिये तो आनन्ददायी है। परन्तु इन गांव वालों के लिए मुझे दी जाने वाली यातना अनंत-संसार-वृद्धि की कारणरूप होगी, इसका मुझे दुःख है। इस संसार में कितने ही लोग दूसरों के आनंद के लिए अपने धन और तन तक का भी त्याग कर देते हैं तो इनके सामने तो इन्हें आनंद देने वाला आक्रोश या वध आदि कुछ भी नहीं है। मेरा किन्हीं लोगों ने तिरस्कार ही तो किया मुझे पीटा तो नहीं। कइयों ने मुझे पीटा जरूर पर, मुझे जीवन से रहित तो नहीं किया। कुछ लोग मुझे जीवन से मुक्त करने पर तुले हुए थे, परन्तु उन्होंने मुझे अपने परमबधु धर्म से तो दूर नहीं किया। अतः कल्याण हो इनका; सद्बुद्धि मिले इन्हें। श्रेयार्थी साधक को क्रोध करने वाले, दुर्वचन कहने वाले, रस्सी से बांधने वाले, हथियार से परेशान करने वाले, या मौत का कहर बरसाने वाले, इन सभी पर मैत्रीभाव रख कर समभाव से सहन करना चाहिए; क्योंकि कल्याण-मार्ग में अनेक विघ्न आते ही हैं।" इस प्रकार सुन्दर भावनाओं में डूबते-उतराते हुए मुनि अपने दुष्कृत कर्मों की निन्दा करने लगे। जैसे अग्नि घास के सारे पूलों को जला देती है, वैसे ही दृढ़प्रहारी मुनि ने अपनी समस्त कर्मराशि को पश्चात्ताप की आग में जला दिया और अतिदुर्लभ, निर्मल केवलज्ञान प्राप्त करके अयोगिकेवली नामक नामक गुणस्थानक तक पहुंच कर मोक्षपद भी प्राप्त किया।

जिस तरह दृढ़प्रहारी मुनि ने नरक का मेहमान बनना छोड़ कर योग के प्रभाव से अनन्त शाश्वत-सुख-रूप परमपद (मोक्ष) प्राप्त कर लिया; इसी तरह दूसरे को भी असंदिग्ध हो कर इस योग में प्रयत्न करना चाहिए।

अब हम दूसरे उदाहरण दे कर योग के प्रति श्रद्धा में ही वृद्धि करते हैं :—

तत्कालकृत दुष्कर्म - कर्मठस्य - दुरात्मनः ।
गोप्त्रे चिलातिपुत्रस्य योगाय स्पृहयन्न कः ? ॥१३॥

अर्थ

कुछ ही समय पहले दुष्कर्म करने में अतिसाहसी दुरात्मा चिलातीपुत्र की रक्षा करने वाले योग की स्पृहा कौन नहीं करेगा ?

व्याख्या

तत्काल स्त्रीहत्यारूप महापाप करने में शूरवीर, दुरात्मा चिलातीपुत्र को दुर्गति से बचाने वाले योग की कौन स्पृहा (अभिलाषा) नहीं करेगा ? अर्थात् ऐसे योग-साधन की सभी इच्छा करेंगे। नीचे हम चिलाती पुत्र की कथा दे रहे हैं—

चिलातीपुत्र की कथा

क्षितिप्रतिष्ठित नगर में यज्ञदेव नाम का एक ब्राह्मण रहता था। वह अपने आपको पंडित मानता था, किन्तु जैनधर्म की सदैव निंदा करता था। एक शिष्य (मुनि) को यह बात सहन नहीं हुई। उसके गुरु के रोकने पर भी उसने उस ब्राह्मण को हराने की दृष्टि से वाद-विवाद के लिए ललकारा। दोनों में ऐसी शर्त तय हुई कि वादविवाद में जो हारेगा, वह विजेता का शिष्य बन जायेगा। जैनवादी बुद्धिकौशल मुनि ने शास्त्रार्थ में अपने प्रतिवादी ब्राह्मण को निरुत्तर कर दिया। यज्ञदेव को अपनी हार माननी पड़ी और विजेता जैनमुनि ने प्रतिज्ञानुसार यज्ञदेव-ब्राह्मण को जैनदीक्षा देदी। दीक्षा लेने के बाद शासनदेवी ने यज्ञदेव को समझाया कि अब आपने चारित्र (पंचमहाव्रत) प्राप्त कर लिया है, अतः आप ज्ञानी और श्रद्धावान् बन गये हैं। अब चारित्र की विराधना मत करना। लेकिन यज्ञदेवमुनि चरित्रपालन तो यथार्थरूप से करता था; मगर पूर्वसंस्कारवश वस्त्र और शरीर पर जम जाने वाले मैल के प्रति घृणा करता था। सच है, **'पूर्व संस्कार छोड़ना अतिकठिन है।'** इस महामुनि के संसर्ग से यज्ञदेवमुनि की सज्जनता भी उसी प्रकार शान्त न हुई, जैसे वर्षाऋतु के मेघ के सम्पर्क से सूर्यकिरण शान्त नहीं होती। जिसके साथ उसका विवाह हुआ था, वह भी उस पर अत्यन्त अनुरक्त थी। जैसे नीले रंग से रंगी हुई साड़ी का रंग नहीं छूटता, वैसे ही उसका यज्ञदेव पर से राग नहीं छूटा। उसने यज्ञदेवमुनि को वश करने के विचार से पारणे के भोजन में कोई ऐसा वशीकरण चूर्ण डाल दिया, जिसके प्रभाव से कृष्ण-पक्ष के चन्द्रमा की तरह यज्ञदेवमुनि का शरीर दिनोंदिन क्षीण होता गया। चन्द्र जैसे अस्त होने पर सूर्यमण्डल में प्रविष्ट हो जाता है, वैसे ही एक दिन देहावसान होने पर वह मुनि वहाँ से स्वर्ग में गया। सच है, कामिनी रागी या वैरागी किसी को नष्ट किये बिना नहीं छोड़ती। मुनि (पति) की मृत्यु हो जाने से उसकी पत्नी ने संसारविरक्त हो कर मनुष्य-रूपी वृक्ष के फलस्वरूप संयम (साध्वीदीक्षा) अंगीकार लिया। पति पर अपने द्वारा किये गये वशीकरण-प्रयोग के पाप की आलोचना किये बिना ही वह मर कर देवलोक में उत्पन्न हुई। सचमुच, **'तप-संयम निष्फल नहीं जाता।'** उधर यज्ञदेव के जीव ने देवलोक से च्यव कर राजगृह नगर में धन्य सार्थपति के यहाँ चिलाती नाम की दासी के पुत्ररूप में जन्म लिया। चिलातीदासी का पुत्र होने से लोगों में वह चिलातीपुत्र के नाम से पुकारा जाने लगा। इसलिये उसका दूसरा नाम नहीं रखा गया। पुत्रजन्मोत्सव तो दासी के पुत्र का होता ही क्या ! यज्ञदेव की पत्नी स्वर्ग से च्यव कर धन्य सार्थपति की पत्नी भद्रा की कुक्षि से पाँच पुत्रों के बाद सुषमा नाम की पुत्री के रूप में पैदा हुई। उस पुत्री की देखभाल रखने के लिए सेठ ने चिलातीपुत्र को नियुक्त कर दिया। चिलातीपुत्र सयाना होते ही बड़ा उद्दण्ड हो गया। वह लोगों को सताने लगा। उसकी शिकायत राजा तक पहुंची। सेठ को राजभय लगा। क्योंकि उसे यह खतरा दिखाई देता था कि 'सेवक के अपराध से स्वामी ही दंड का भागी होता है।' अतः सेठ ने समझदारी से सतत उपद्रवी उस दासीपुत्र (चिलातीपुत्र) को उसी तरह घर से चुपचाप निकाल दिया, जैसे सपेरा सांप को पिटारे से बाहर निकाल देता है। इससे चिलातीपुत्र के मन में भयंकर प्रतिक्रिया जागी। वह उद्दण्ड तो था ही। अपनी उद्दण्डता को सार्थक करने के लिए

बड़े-बड़े अपराधों की लता के समान सिंहगुफा नामक चोरपल्ली में पहुंचा। कहावत है—**'एक सरीखी आदत और प्रकृति वाले व्यक्तियों में जल्दी ही मित्रता हो जाती है।'** इसी न्याय के अनुसार वहां के चोरों के साथ उसकी झटपट मित्रता हो गई। इस कारण जैसे हवा के सम्पर्क से आग बढ़ती जाती है; वैसे ही उन चोरों के सहवास से उसके अपराध बढ़ते ही गये। कुछ दिनों के बाद सिंहगुफा का स्वामी चोर-सेनापति मर गया। उसके रिक्त स्थान की पूर्ति के लिये ही मानो इसे तैयार किया गया हो, इस दृष्टि से चिलातीपुत्र को चोरों का सेनापति बना दिया गया।

इधर रूप, लावण्य आदि गुणों से सुशोभित हो कर सुषमा यौवन के सिंहद्वार पर पहुँच गई थी। वह सुसज्जित होने पर ऐसी मालुम होती थी, मानो पृथ्वी की देवी हो। अनेक कलाओं में भी वह निपुण हो गई थी। नये चोर-सेनापति चिलातीपुत्र ने जब यह जाना कि सुषमा मुझे चाहती है, तब उसने अपने सेवकों से कहा—"चलो, हम सब राजगृह चलें। वहाँ धन्यसार्थपति बहुत ही धनाढ्य व्यक्ति है। उसके यहां पर छापा मार कर जितना धन लूटा जा सके उसे लूट कर आप सब लोग बांट लेना। और मैं उसकी सुषमा नामक कन्या को ले लूंगा।" इस प्रकार आपस में समझौता करके चिलातीपुत्र चोर साथियों के साथ उसी रात को धन्य सार्थपति के यहाँ पहुँचा। उसने वहां अवस्वापिनी-विद्या का प्रयोग करके घर के सभी लोगों को निद्राधीन कर दिया। अपने आने की घोषणा करके उसने चोरो से प्रचुर-मात्रा में धन-ग्रहण करवाया और सुषमा को स्वयं ने पकड़ लिया। पांचों पुत्रों सहित धन्यसार्थपति का सारा परिवार जब सोया हुआ था। अतः कुछ देर तक वह वहीं एक कोने में दुबक कर खड़ा रहा। फिर 'इसके लिए यही न्याययुक्त है', यों कहता हुआ जी-जान से सुषमा को लिए हुए चल पड़ा। उसके साथी चोर चुराये हुए धन को ले कर चिलातीपुत्र के साथ नौ-दो-ग्यारह हो गये। सार्थपति धन्य जागा तो उसे सारी स्थिति समझते देर न लगी। उसे इस बात का बहुत ही रंज हुआ कि चिलातीपुत्र, जो उसके घर में रहने वाली दासी का ही पुत्र था, उसकी लड़की और सम्पत्ति दोनों को ले कर भाग गया। उसने फौरन ही कोतवाल आदि नगररक्षक पुरुषों को बुला कर कहा कि 'चोरों द्वारा लूटे हुए धन और सुषमा का पता लगाओ और उन्हें वापिस ले आओ!' तत्पश्चात् कोतवाल तथा कुछ रक्षकपुरुषों को साथ ले कर धन्यसार्थपति स्वयं अपने पुत्रों के साथ हथियारों से लैस हो कर चोरों का पीछा करने के लिए मनोवेग की तरह फुर्ती से दौड़ा। जैसे धतूरा पीने वाले को नशा चढ़ जाने से जल, स्थल, लता, वृक्ष या रास्ते में पड़ने वाली प्रत्येक वस्तु में सर्वत्र पीले रंग के सोने का आभास होता है, वैसे ही धन्यसार्थपति को भी सर्वत्र सुषमा ही सुषमा नजर आती थी। उसी की धुन में वह बेतहाशा दौड़ा चला जा रहा था। रास्ते में जहाँ-जहाँ उन्हें पैरों के या और कोई चिह्न मिलते, वहाँ वे बोल उठते—'देखो! यहाँ उन्होंने पानी पीया है; यहाँ भोजन किया है; यहाँ वे बैठे हैं; यहाँ से वे गुजरे हैं।' यों बात करते करते लम्बे-लम्बे कदम रखते हुए चोरों के पैरों का पता लगाते हुए उनका पीछा करते हुए वे सब उनके पास पहुंच गये। चोरों को देखते ही राजपुरुषों ने कहा—"पकड़ो-पकड़ो! मारो इन्हें! कहीं ये भाग न जायँ!" यह आवाज सुन कर चोर गिरफ्तारी के भय से धनमाल सब वहीं छोड़ कर जान बचा कर अलग-अलग दिशाओं में भागे। परन्तु सिंह जैसे पकड़ी हुई हिरनी को नहीं छोड़ता, वैसे ही चिलातीपुत्र ने सुषमा को नहीं छोड़ा। कोतवाल वगैरह राज्याधिकारी रिश्वत के रूप में बहुत-सा धन मिल जाने पर वापिस लौट गए। सच है—**'स्वार्थ सिद्ध होने पर सभी की बुद्धि बिगड़ जाती है।'** हाथी जैसे लता को उठा ले जाता है; वैसे ही चिलातीपुत्र सुषमा को अपने कन्धे पर उठाए भागता हुआ एक महाभयंकर जंगल में जा पहुंचा। धन्यसार्थपति के लिए चोर के हाथ से पुत्री को छुड़ाना उतना ही कठिन कार्य था, जितना

राहु के मुख से चन्द्रकला को छुड़ाना। फिर भी धन्यसार्थपति साहस करके अपने पांचो पुत्रों सहित सिंह की तरह उसका पीछा करता रहा। इधर चिलातीपुत्र ने भी इस बुद्धि से सुषमा का सिर काट डाला कि कहीं धन्यसार्थपति मेरे पास आ गया तो मेरी सुषमा को वह अपने कब्जे में कर लेगा। अब वह एक हाथ में नंगी तलवार और एक हाथ में सुषमा का कटा मस्तक लिए बेतहाशा दौड़ा जा रहा था। उस समय वह ऐसा लग रहा था, मानो यमपुरी का क्षेत्रपाल हो। इधर धन्यसार्थपति सुषमा के अलग पड़े हुए धड़ के पास आ कर रुदन करने लगा। मानो वह सुषमा को आंसुओं की अंजलि अर्पण कर रहा हो। तत्पश्चात् उसने सोचा—'अब यहाँ रुकना व्यर्थ है। बेटी सुषमा गई। धन भी गया।' अतः वह सुषमा के कटे हुए धड़ को वहीं छोड़ कर अपने पुत्रों के साथ भारी कदमों से वापिस चल पड़ा। शोक के कांटों से बींधा हुआ धन्यसार्थपति भयंकर जंगल में भटक रहा था। ग्रीष्मऋतु की दोपहरी का सूर्य तप रहा था। उसकी चिलचिलाती सख्त धूप उनके ललाट को तपा रही थी। कहीं छाया का नामोनिशान भी नहीं था। शोक, थकान, भूख, प्यास और मध्याह्न के ताप से पीड़ित धन्यसार्थपति और उसके पांचों पुत्र ऐसे लगते थे मानो वे पंचाग्नि तप कर रहे हों। उस बीहड़ में उन्हें रास्ते में कहीं पानी, खाने लायक फल या जीवन को देने वाली कोई भी औषधि नजर नहीं आई; प्रत्युत फाड़ खाने वाले हिंसक जंगली जानवर जरूर दिखाई दिए; मानो वे मौत का न्यौता ले कर आए हों। अपनी और पुत्रों की ऐसी विषम-अवस्था देख कर धन्यसार्थपति ने लम्बे मार्ग में चलते-चलते विचार किया कि 'हाय मेरी सारी सम्पत्ति नष्ट हो गई; प्राणाधिका पुत्री भी मर गई और अब हम भी मृत्यु के किनारे पहुंचे हुए हैं। अहो! धिक्कार है दैव के इस क्रूर विलास को! पुरुषार्थ करने से या बौद्धिक वैभव से जहाँ मनुष्य अपने ईष्ट पदार्थ को नहीं साध सकता; वहाँ अटवी में दैव (भाग्य) ही एकमात्र सहारा है। वह बड़ा बलवान् है। मगर यह दैव दान से प्रसन्न नहीं होता, विनय से इसे वश में नहीं किया जा सकता, सेवा से इसे काबू में नहीं किया जा सकता। यह दैव-वशीकरण-साधना कितनी मुश्किल है? पण्डित भी इसका मर्म नहीं समझ सकते। पराक्रमी भी इसकी विषम प्रक्रियाओं को रोक नहीं सकते। ऐसे दैव को जीतने वाला इसके जोड़ का और कौन होगा? और यह भी है कि यह दैव किसी समय मित्र के समान कृपा करता है, तो कभी शत्रु के समान बेधड़क नाश भी कर देता है। कभी पिता के समान सर्वथा रक्षा करता है, तो किसी समय दुष्टों के समान पीड़ा देता है। कभी दैव उन्मार्ग पर चढ़े हुए को सन्मार्ग पर ले आता है, तो कभी अच्छे मार्ग से गलत मार्ग में जाने की प्रेरणा देता है। किसी समय दूरस्थ वस्तु को निकट ले आता है, तो कभी हाथ आई हुई वस्तु भी छीन लेता है। माया और इन्द्रजाल के समान दैव की गति अतीव गहन और विचित्र होती है। दैव की अनुकूलता से विष अमृत बन जाता है और प्रतिकूलता से अमृत भी विष बन जाता है।' यों चिन्ताचक्र पर चढ़ा हुआ शोकमग्न धन्यसार्थपति जैसे-तैसे अपने पुत्रों के साथ राजगृह पहुंचा। अपनी पुत्री सुषमा के शरीर की उत्तरक्रिया की। बाद में संसार से विरक्त हो जाने से उसने श्री महावीर प्रभु के पास दीक्षा स्वीकार की और दुष्कर तप करके आयु पूर्ण कर स्वर्ग में गया।

इधर चिलातीपुत्र भी सुषमा पर गाढ़ अनुराग के कारण बार-बार उसका मुख देखता हुआ मार्ग की थकान की परवाह न करके दक्षिणदिशा की ओर चला जा रहा था। मार्ग में उसे सब प्रकार के संताप को दूर करने वाले छायादार वृक्ष के समान कायोत्सर्ग (ध्यान) में स्थिर एक साधु के दर्शन हुए। चिलातीपुत्र के मन को अपना अकार्य बार-बार कचोट रहा था। अतः मुनि की शान्त मुखमुद्रा

देख कर वह बहुत ही प्रभावित हुआ। ध्यान खोलते ही उसने मुनि से कहा—'मुझे झटपट संक्षेप में धर्म कहो ; नहीं तो इसी तलवार से इस सुषमा की तरह केले के पेड़ के समान तुम्हारा भी सिर उड़ा दूंगा। मुनि ने ज्ञानबल से जाना कि—'इस आत्मा में बोधि-बीज बोने से धर्मरूपी अंकुर फूटने की अवश्य संभावना है।' अतः उन्होंने कहा—'उपशम, विवेक और संवर की अच्छी तरह आराधना करनी चाहिए।' यों कह कर वे पक्षी के समान आकाश में उड़ गए। चिलातीपुत्र उन तीनों पदों को सुनते ही भलीभांति ग्रहण करके बार-बार उनको स्मरण करने लगा। धीरे-धीरे उन तीनों पदों का भावार्थ उसे इस प्रकार समझ में आया— 'समझदार पुरुषों को क्रोधादि कषायों का उपशम करना चाहिए। परन्तु अफसोस है, सर्पों से जैसे चन्दनवृक्ष घिरा रहता है, वैसे मैं भी कषायरूपी सर्पों से घिरा हुआ हूँ। अतः इस कषायरूपी महारोग की यथार्थ चिकित्सा के लिए मुझे इन कषायों से दूर ही रहना है। कषायों के उपशम के लिए मेरा पहला संकल्प है कि आज से मैं क्षमा, नम्रता, सरलता और सन्तोषरूपी महौषधियों का सेवन करूंगा। मेरा दूसरा संकल्प यह होगा कि मैं आज से धन, सोना आदि पदार्थों के त्यागरूपी विवेक का ; जो ज्ञानरूपी महावृक्ष का बेजोड़ बीज है, स्वीकार करूंगा तथा पापमय सम्पत्ति की ध्वजा के समान इस सुषमा का मस्तक और हाथ में पकड़ी हुई तलवार एवं अनर्थरूप समस्त अर्थ का भी त्याग करता हूँ। मेरा तीसरा सकल्प यह है कि आज से मैं इन्द्रियों और मन के विषयों से निवृत्तिरूपी त्याग तथा संयम-लक्ष्मी के मुकुट-समान संवर अंगीकार करता हूँ।' इस प्रकार समस्त इन्द्रियों को वश करके वस्तुतत्त्व का चिन्तन-मनन करते-करते वह इतनी गहराई में डूब गया कि उसका मन एकाग्र हो गया ; वह समाधिस्थ और निश्चेष्ट हो गया। इधर चिलातीपुत्र के शरीर पर लिपटे हुए खून की दुर्गन्ध से वहाँ हजारों चींटियाँ आ गईं और वे कवच के समान शरीर के चारों ओर लिपट गईं। उन चींटियों ने मिल कर चिलातीपुत्र के शरीर में सैकड़ों छेद कर डाले। चींटियों का इतना असह्य उपसर्ग (कष्ट) शरीर पर आ पड़ने पर भी चिलातीपुत्र स्तम्भ के समान निश्चल रहा। ढाई दिनों तक इस घोर कष्ट को समभावपूर्वक सहन करते हुए उसने शरीर छोड़ा। वहां से मर कर वह देवलोक में गया।

दूसरे सूत्रों में भी चिलातीपुत्र का आख्यान है। वहां बताया गया है कि तीन पदों का श्रवण करके धर्म को भलीभांति समझ कर संयम को स्वीकार करने वाले, उपशम, विवेक और संवर पद के आराधक चिलातीपुत्र को मैं नमस्कार करता हूं। खून की गन्ध से चींटियों ने जिनके पैरों से चढ़ कर मस्तक तक पहुंच कर सारे शरीर को कुरेद-कुरेद कर नोच खाया, फिर भी जो समाधिस्थ रहे, ऐसे दुष्कर तपस्वी को वंदन करता हूं। चींटियों ने जिसके शरीर को चलनी-सा छिद्रयुक्त बना दिया और जगह-जगह से काटा; फिर भी जो समभाव की साधना के पथ पर स्थिर रहे ऐसे धीर चिलातीपुत्र ने तो सिर्फ ढाई दिन में ही योग के प्रभाव से अप्सराओं से रमणीय बने हुए देवभव को प्राप्त किया। वास्तव में देखा जाय तो चिलातीपुत्र अपने चांडाल-सम व्यवहार से धिक्कार का भागी और नरक का अधिकारी था, लेकिन योग का आलम्बन लेने से ही वह देवलोक के सुख का अधिकारी बन गया। इसी तरह समग्र-सुख का मूल कारण योग ही है, जिसके प्रभाव से मनुष्य सर्वत्र विजय प्राप्त करता है।

पुनः योग की ही प्रशंसा में कहते हैं—

तस्याजननिरेवाऽस्तु, नृपशोर्मोघजन्मनः ।
अविद्धकर्णो यो 'योग' इत्यक्षर-शलाकया ॥१४॥

अर्थ

जिस मनुष्य के कान 'योग' के ढाई अक्षररूपी शलाका (सलाई) से नहीं बींधे हैं, ऐसे मनुष्य का जन्म पशु की तरह निरर्थक है। ऐसे व्यक्ति का जन्म ही नहीं होना चाहिए था।

आशय

चाहे लोहे की सलाई से कान बींधे हों, परन्तु 'योग' के ढाई अक्षर रूपी शलाका से जिसके कान पवित्र नहीं हुए अथवा 'योग' जिसके कान में नहीं पड़ा; वह मनुष्यों में मनुष्य कहलाने योग्य नहीं है। उसका जन्म पशु के समान निष्फल और विडम्बना-रूप है। इससे बेहतर तो यह था कि वह मनुष्य-जन्म में ही नहीं आता।

अब फिर आधे श्लोक से योग की स्तुति करके शेष आधे श्लोक से योग का स्वरूप बताते हैं :—

चतुर्वर्गेऽग्रणीर्मोक्षो,योगस्तस्य च कारणम् ।
ज्ञान-श्रद्धान-चारित्ररूपं रत्नत्रयं च सः ॥१५॥

अर्थ

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष-रूप चार पुरुषार्थों में मोक्ष अग्रणी है। और उस मोक्ष की प्राप्ति का कारण योग है। तथा वह योग ज्ञान, श्रद्धा तथा चरित्र रूपी रत्नत्रय-रूप है।

व्याख्या

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार वर्गों में मोक्ष प्रधान है। अर्थ के उपार्जन करने में, उसकी रक्षा करने में तथा उसके नाश होने पर दुःख होता है। इसलिए दुःख के संसर्ग से दूषित होने के कारण चार वर्गों में अर्थ अग्रसर नहीं है। काम तो इन्द्रिय-जनित सुख है, जो क्षणिक और तुच्छ है। वह अर्थ से कुछ अच्छा है, लेकिन अन्त (परिणाम) में महान् दुखदायी है। कामसेवन से मनुष्य की तृप्ति तो होती नहीं, बल्कि काम-सेवन प्रायः दुर्गति का साधन होने से वह भी प्रधान नहीं है। धर्म तो इस लोक और परलोक के सुख का कारणरूप होने से अर्थ और काम दोनों से अधिक श्रेष्ठ है। फिर भी सोने की बेड़ी के समान[1] पुण्य कर्म बन्धन का कारण है। पुण्य से सुख मिलता है, परन्तु आत्मिक सुख नहीं मिलता। पौद्गलिक सुख तो सांयोगिक-वियोगिक है। कुछ ही अर्से तक रह कर नष्ट हो जाता है। इसलिये धर्म भी मुख्य नहीं है। आत्मिक सुख की परिपूर्णता मोक्ष में है। मोक्ष तो पुण्य पाप के क्षय होने पर होता है; इसलिए अधिक क्लेशकर नहीं। मोक्ष विष-मिश्रित भोजन के समान भोग के समय मनोहर और परिणाम में दुखदायक नहीं है और इस लोक या परलोक के फल की इच्छा के दोष से दूषित भी नहीं है। इस कारण परमानन्दमय मोक्ष इन चारों वर्गों में सर्वश्रेष्ठ है। उसी मोक्ष को प्राप्त कराने का कारण योग है। योग से मोक्ष मिलता है। उस योग का क्या स्वरूप है? इसके उत्तर में आचार्य भगवान् कहते हैं—वह मोक्ष ज्ञान, श्रद्धा और चारित्र-रूपी रत्नत्रय-स्वरूप है?

१—धर्मशब्द यहां 'पुण्य' के अर्थ में, लिया गया है ; आत्मा की शुद्धपरिणति या संवर-निर्जरा के अर्थ में नहीं। —संशोधक

अब सर्वप्रथम मोक्ष के हेतुभूत ज्ञानयोग का स्वरूप बतलाते हैं—

ज्ञान-योग

यथावस्थिततत्वानां संक्षेपाद् विस्तरेण वा ।
योऽवबोधस्तमत्राहुः सम्यग्ज्ञानं मनीषिणः ॥ १६ ॥

अर्थ

जो तत्व जैसी (यथा) स्थिति में हैं, उन तत्वों के स्वरूप को संक्षेप से या विस्तार से अवबोध या जानने को मनीषियों (विचारकों) ने सम्यग्ज्ञान कहा है ।

व्याख्या

जिनका स्वरूप नय, निक्षेप और प्रमाण आदि से सिद्ध है, वे तत्व कहलाते हैं । वे तत्व जीव, अजीव, आश्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष-रूप हैं । उनका वास्तविक बोध (ज्ञान) किसी को संक्षेप से और किसी को कर्म क्षयोपक्षम के कारण विस्तार से होता है । वह इस प्रकार है –जीव, अजीव, आश्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष ; ये सात तत्व[1] पंडित-पुरुषों ने बताए हैं ।

जीवतत्व

उनमें से जीव के दो भेद हैं—मुक्त और संसारी । सभी जीव अनादि-अनंत ज्ञान-दर्शन-स्वरूप होते हैं । कर्म से सर्वथा मुक्त जीवों का स्वरूप एक सरीखा होता है । वे सदा के लिए जन्म-मरणादि क्लेशों और दुःखों से रहित हो जाते हैं; तथा अनन्त दर्शन-ज्ञान-शक्ति और आनन्दमय-स्वरूप बन जाते हैं ।

संसारी जीवों के त्रस और स्थावर ये दो भेद हैं । इन दोनों के भी दो भेद हैं- पर्याप्त और अपर्याप्त । पर्याप्तियां ६ प्रकार की होती हैं—(१) आहारपर्याप्ति, (२) शरीरपर्याप्ति, (३) इन्द्रिय-पर्याप्ति, (४) श्वासोच्छ्वास-पर्याप्ति, (५) भाषापर्याप्ति और (६) मनःपर्याप्ति । एकेन्द्रिय जीव के चार, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय (विकलेन्द्रिय) जीवों के पांच तथा पंचेन्द्रिय जीवों के छह पर्याप्तियां होती है । एकेन्द्रिय स्थावर-जीव के ५ भेद हैं—पृथ्वीकाय, अप (जल) काय, तेऊ (अग्नि) काय, वायुकाय और वनस्पतिकाय । इनमें से प्रथम चारों के सूक्ष्म और बादर दो-दो भेद होते हैं । और वनस्पति के प्रत्येक और साधारण दो भेद होते हैं । प्रत्येक वनस्पति बादर होती है और साधारण वनस्पति के सूक्ष्म और बादर ये दो भेद होते हैं । दो, तीन, चार और पांच इन्द्रिय वाले त्रसजीव कहलाते हैं ; वे चार प्रकार के हैं । इनमें पंचेन्द्रिय जीवों के दो भेद होते हैं :—(१) संज्ञी और (२) असंज्ञी । जो शिक्षा उपदेश, आलाप आदि समझते हैं या जानते हैं, वे संज्ञी कहलाते हैं और जिसके मन-प्राण न हो, वे असंज्ञी पंचेन्द्रिय कहलाते हैं । स्पर्श, जीभ, नासिका, आंख और कान; ये पांच इन्द्रियां हैं । स्पर्श, स्वाद, रस, गंध, रूप और शब्द ये क्रमशः इनके पांच विषय हैं । कृमि, शंख, कौड़ी, सीप, जौंक आदि अनेक प्रकार के द्वीन्द्रिय जीव होते हैं । चींटी, खटमल, जूं, मकोड़ा आदि त्रीन्द्रिय जीव होते हैं । टिड्डी, पतंगा, मक्खी, मच्छर, भौंरे, बिच्छू आदि चतुरिन्द्रिय जीव होते हैं । शेष तिर्यंच-योनि में हुए जलचर, स्थलचर,

१—अधिकांश आचार्यों ने 'पुण्य' और 'पाप' ये दो तत्त्व और मिला कर नौ तत्त्व माने हैं ।
—संशोधक

और खेचर, नारकी, मनुष्य और देव ये सभी पंचेन्द्रिय जीव होते हैं। मन, वचन और काया-रूप तीन बल, पांच इन्द्रियां, आयुष्य और श्वासोच्छ्वास ये १० प्राण कहलाते हैं। एकेन्द्रिय जीवों के शरीर (काया) आयुष्य, श्वासोच्छ्वास और इन्द्रिय ये ४ प्राण होते हैं। द्वीन्दिय के ५, त्रीन्द्रिय के ६, चतुरिन्द्रिय के ७ असंज्ञी पंचेन्द्रिय के ६ और संज्ञी पंचेन्द्रिय के १० प्राण होते हैं। पंचेन्द्रियों में देव और नारक उपपात जन्म वाले तथा मनुष्यों और तिर्यंचों में प्रायः गर्भ से जन्म लेने वाले तथा तिर्यंचों में जरायुज, पोतज और अंडज (अंडे से होने वाले) ये सब संज्ञी पंचेन्द्रिय होते हैं और शेष संमूर्च्छिमरूप से उत्पन्न होने वाले असंज्ञी पंचेन्द्रिय कहलाते हैं। संमूर्च्छिम जीव और नरक के प्राणी जीव नपुंसक होते हैं। वेद तीन हैं—स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद। देवों में स्त्रीवेद और पुरुषवेद; ये दोनों वेद होते हैं। मनुष्यों और तिर्यंचों के तीन वेद होते हैं। सभी जीवों के व्यवहार-राशि और अव्यवहार-राशि, ये दो भेद होते हैं। सूक्ष्म निगोद के जीव अव्यवहार-राशिगत माने जाते हैं, और शेष समस्त जीव व्यवहारराशि-गत कहलाते हैं। सचित्त, अचित्त, मिश्र, संवृत, विवृत और मिश्र, शीत, उष्ण और शीतोष्ण, इस प्रकार जीव के नौ प्रकार की योनियां हैं। अर्थात् उत्पत्ति होने के स्थान हैं। पृथ्वीकाय, जलकाय, वायुकाय और अग्निकाय जीवों के प्रत्येक के सात लाख योनियां हैं। प्रत्येक वनस्पतिकाय के दस लाख और साधारण वनस्पतिकाय अनंतकाय के चौदह लाख, दो, तीन और चार इन्द्रिय वाले विकलेन्द्रिय जीवों के प्रत्येक के दो-दो लाख, नारक तिर्यंच और देवता के प्रत्येक के दो-दो लाख और मनुष्य के १४ लाख योनियां है। कुल मिला कर ये चौरासी लाख जीवयोनियां सर्वज्ञों ने कही हैं। एकेन्द्रिय जीव सूक्ष्म और बादर, पंचेन्द्रिय-जीव संज्ञी और असंज्ञी, दो तीन और चार इन्द्रियों वाले जीव पर्याप्तक और अपर्याप्तक होते हैं। इस तरह जिनेश्वरदेवों ने जीवों के चौदह-स्थान बताए हैं। जीवों के इन १४ स्थानों (संक्षिप्त भेदों) पर निम्नोक्त १४ मार्गणाद्वारों की भी प्ररूपणा सर्वज्ञों ने की है। १४ मार्गणाएं इस प्रकार हैं— (१) गति, (२) इन्द्रिय, (३) शरीर, (४) योग, (५) वेद, (६) ज्ञान, (७) कषाय, (८) संयम, (९) आहार, (१०) दर्शन, (११) लेश्या, (१२) भव्यत्व, (१३) सम्यक्त्व तथा (१४) संज्ञी।

जीव के चौदह गुणस्थान

(१) मिथ्यात्व, (२) सास्वादन, (३) सम्यक्त्व-मिथ्यात्व, (मिश्र) (४) अविरति सम्यग्दृष्टि, (५) देशविरति (श्रावक), (६) प्रमत्तसंयत, (७) अप्रमत्तसंयत, (८) निवृत्तिबादर, (९) अनिवृत्ति बादर, (१०) सूक्ष्मसम्पराय, (११) उपशांतमोह, (१२) क्षीणमोह, (१३) सयोगी केवली और (१४) अयोगी केवली ; ये चौदह गुणस्थान हैं। (१) मिथ्यादर्शन का उदय हो तब तक मिथ्यादृष्टि गुणस्थानक कहलाता है, (२) मिथ्यात्व का उदय न हो, किन्तु अनंतानुबन्धी कषाय की चौकड़ी (क्रोध, मान, माया, और लोभ) का उदय हो तो उत्कृष्ट छह आवलिका तक रहने वाला गुणस्थान सास्वादन-गुणस्थानक कहलाता है। (३) सम्यक्त्व और मिथ्यात्व दोनों का योग होने से तीसरा (मिश्र) गुणस्थानक कहलाता है; जो अन्तर्मुहूर्त होता है। (४) अप्रत्याख्यानावरणीय चौकड़ी के उदय होने पर अविरत सम्यग्दृष्टि होता है। (५) प्रत्याख्यानावरणीय कषाय के उदय में होने देशविरति (श्रावक) गुणस्थान होता है। (६) संयम प्राप्त होने के बाद यदि प्रमाद-सेवन करे तो उसका गुणस्थान प्रमत्त-संयत कहलाता है। (७) जो संयमी प्रमाद-सेवन नहीं करता, उसका गुणस्थान अप्रमत्त-संयत कहलाता है। छठा और सातवां ये दोनों गुणस्थान क्रमशः अन्तर्मुहूर्त समय वाले हैं। (८) जिसमें कर्मों की अपूर्व-स्थिति का घात आदि करे, उसे अपूर्वकरण नामक आठवां गुणस्थानक कहते हैं। इस गुणस्थान से दो श्रेणियां प्रारम्भ होती है —

उपशम श्रेणी और क्षपकश्रेणी। उदय में आए हुए स्थूल कषाय के परिणाम को अन्दर ही अन्दर निवर्तन (उपशान्त) करने वाले साधक का गुणस्थान निवृत्तिबादर कहलाता है। (९) जिसमें प्रयत्नपूर्वक अंदर ही अंदर परिणामों की निवृत्ति (उपशम) न हो, वह अनिवृत्तिबादर नाम का नौवां गुणस्थानक कहलाता है। इसमें दोनों श्रेणियां रहती हैं। (१०) लोभ नामक कषाय जहां सूक्ष्मरूप में रहता हो, वहां दसवां सूक्ष्म-सम्पराय-गुणस्थान कहलाता है। इसमें भी दोनों श्रेणियां होती हैं। (११) जहां मोह उपशान्तदशा में रहता हो, सर्वथा क्षीण न हुआ हो, वहां उपशान्त-मोह नामक गुणस्थान होता है। (१२) जहां मोह सर्वथा क्षीण (निर्मूल) हो जाय, वहां क्षीणमोह नामक बारहवां गुणस्थान होता है। (१३) आत्मगुणों का घात करने वाले ४ घाती (ज्ञानावरण दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय) कर्मों का क्षय हो जाय; वहां तेरहवां सयोगी केवली गुणस्थान कहलाता है। (१४) मन-वचन-काया के योग का जहां क्षय हो जाय, वहां अयोगी-केवली नामक चौदहवां गुणस्थानक होता है। इस तरह जीवतत्व का स्वरूप समझना।

अजीव-तत्त्व

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय पुद्गलास्तिकाय और काल इन पदार्थों को अजीव कहा है। सर्वज्ञों ने इन पाँचों के साथ जीव को मिला कर षट्द्रव्य की प्ररूपणा की है। इनमें से काल को छोड़ कर शेष सभी पदार्थ प्रदेशों के रूप में इकट्ठे होते हैं; इसलिए ये द्रव्य-स्वरूप हैं और जीव के सिवाय शेष द्रव्य चेतना-रहित और अकर्ता-रूप माने गये हैं। काल अस्तिकायरहित है। पुद्गलास्तिकाय को छोड़ कर शेष द्रव्य अमूर्तस्वरूप अथवा अरूपी माने जाते हैं। ये सभी द्रव्य उत्पन्न होते हैं; नष्ट होते हैं, और स्थिर रहते हैं। पुद्गल का लक्षण है—जो स्पर्श, रस, गंध और वर्ण वाला हो। पुद्गल के दो प्रकार हैं—अणुरूप और स्कन्धरूप। इसमें अणु बहुत ही सूक्ष्म होता है, और अनन्त अणुओं के समूह को स्कन्ध कहते हैं। और गन्ध, शब्द, सूक्ष्मता, स्थूलता आदि आकृति वाले तथा अंधकार, आतप उद्योत, खण्ड, छाया, कर्म-वर्गणा, औदारिकादि शरीर, मन, भाषा-वर्गणा, स्वासोच्छ्वास देने वाला, सुख-दुःख व जीवन-मृत्यु में सहायता देने वाला पुद्गल स्कन्ध कहलाता है। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय, ये तीनों द्रव्य अलग-अलग हैं। तथा ये तीन द्रव्य सदा अमूर्त, निष्क्रिय और स्थिर होते हैं। एक जीवद्रव्य के असंख्यात प्रदेश होते हैं। जितना लोकाकाश का प्रदेश है, उतने में ही धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय होते हैं। इन दोनों में प्रदेश अधिक या कम नहीं होता। जलचर जीवों को जैसे जल में गति करने में पानी सहायता करता है, वैसे ही जीव या अजीव को चारों तरफ गमनागमन की प्रवृत्ति करने में धर्मास्तिकाय सहायता करता है। जैसे पथिक के लिए स्थिर होने में छाया सहायक बनती है, वैसे ही जीव और पुद्गल जो स्वयं स्थिर बनते हैं, उनको जो सहायता दे कर स्थिर करता है वह अधर्मास्तिकाय है। अपने स्थान पर रहते हुए स्वयं में प्रतिष्ठित हो कर जो जीवों और पुद्गलों को अवकाश (स्थान) देता है, वह आकाशास्तिकाय कहलाता है। वह अनंत-प्रदेश-स्वरूप है, लोक और आलोक दोनों में व्याप्त है। लोकाकाश के प्रदेश में रहे हुए द्रव्यों से भिन्न द्रव्य काल है; जो अण्ड पदार्थों को परिवर्तन करने में समर्थ है, वही काल कहलाता है। जैसे नये को पुराना करना, युवक से वृद्ध बनाना ; यह सब काल का ही काम है। ज्योतिषशास्त्र में समय, पल, विपल, घड़ी, मुहूर्त, प्रहर, दिन, रात, महीना, वर्ष, युग इत्यादि जो समयसूचक शब्द हैं, इन सबको काल का ही परिमाण कहा है। उस काल के तत्वज्ञों ने उसे व्यवहारिक काल की संज्ञा दी है। नवीन, जीर्ण आदि के रूप में पुकारे जाने वाले पदार्थ जगत् में

परिवर्तन होते रहते हैं ; यह सब काल का ही सामर्थ्य है। काल के ही कारण वर्तमान पदार्थ भूतकाल की संज्ञा को और भावी पदार्थ वर्तमानभाव को प्राप्त करता है। इस तरह अजीवतत्व पूर्ण हुआ।

आश्रवतत्व

मन, वचन और काया के योग से जीवरूपी जलाशय में कर्मरूपी जल का आना आश्रव कहलाता है। शुभकर्म के कारण शुभ आश्रव अथवा पुण्य और अशुभकर्म के कारण अशुभ आश्रव अर्थात् पाप कहलाता है। इस प्रकार जीवरूपी तालाब में कर्मरूपी पानी का आना आश्रव है।

संवरतत्व और निर्जरातत्व

आश्रवों को रोकना संवर कहलाता है। संसार के जन्ममरण के हेतुभूत कर्मों को आत्मा से अंशत: अलग करना निर्जरा है। इस तरह दोनों तत्वों का स्वरूप एक साथ बतला दिया है। आश्रव, संवर और निर्जरा तत्व का स्वरूप यहां विस्तृतरूप से नहीं बता रहे हैं; क्योंकि आगे चल कर भावना के प्रकरण में इन्हें विस्तार से बताया जाएगा। पाठक वहीं पर विस्तृत रूप से जान लें। यहां पर पुनरुक्ति होने के भय से तीन तत्वों को संक्षेप में ही बता दिया है।

बन्धतत्व

कषायों के कारण जीव, कर्मयोग्य पुद्‌गलों को ग्रहण करता है ; जीव को इस प्रकार परतंत्रता से डालने का कारणभूत तत्व बन्ध कहलाता है। जैसे बेड़ी से जकड़ा हुआ कैदी पराधीन हो जाता है, वैसे ही कर्मरूपी बेड़ी में जकड़ा हुआ स्वतंत्र आत्मा भी पराधीन हो जाता है। बन्ध के प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध। ये चार भेद हैं ; प्रकृति का अर्थ है—कर्म का स्वभाव। इसके (प्रकृतिबंध के) ज्ञानावरणीय आदि निम्नोक्त आठ भेद होते हैं—(१) ज्ञानावरणीय, (२) दर्शनावरणीय, (३) वेदनीय, (४) मोहनीय, (५) आयुष्य, (६) नाम, (७) गोत्र और (८) अन्तराय। कर्म की ये मूल आठ प्रकृतियां कहलाती हैं। अधिक या कम कर्मों की स्थिति अर्थात कर्म भोगने की अवधि या काल-नियम को कर्मस्थिति (स्थितिबन्ध) कहते हैं। अनुभाग विपाकरस को और प्रदेश कर्मों के दलों को कहते हैं। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग इन पांच कारणों से जीव कर्म-बन्धन करता है। इस तरह बन्धतत्व का स्वरूप बताया गया है।

मोक्षतत्व

सम्पूर्ण कर्मों का सर्वथा क्षय हो जाना या कर्मबन्ध के कारणों का सर्वथा अभाव हो जाना मोक्ष कहलाता है। मोक्ष से पहले चार घातीकर्मों के क्षय होने से केवलज्ञान होता है। उसके बाद शेष रहे कारणों का क्षय होने से जीव को मोक्ष होता है। तीनों लोकों में देवों, असुरों और चक्रवर्तियों को जो सुख है, वह मोक्षसुखसम्पत्ति के अनंतवें भाग में भी नहीं है। अपनी आत्मा में स्थिरतारूप या आत्म-स्वरूप में रमणतारूप जो सुख है, वही अतीन्द्रिय है, नित्य है और उसका कभी अन्त नहीं होता। इस प्रकार का असीम सुख होने से मोक्ष को चारों वर्गों में अग्रसर कहा है। इस तरह मोक्षतत्व का कथन किया गया।

पांच ज्ञानों का स्वरूप

सम्यग्ज्ञान के मुख्य पांच प्रकार हैं—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान। ये पांचों ज्ञान उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं। इनके पांच भेदों के प्रत्येक के उत्तर भेद भी हैं।

अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा, बहु, बहुविध आदि भेदयुक्त, इन्द्रिय और मन से होने वाले ज्ञान को **मतिज्ञान** कहते हैं। **श्रुतज्ञान**— अंग, उपांग, प्रकीर्ण, आदि को विस्तारयुक्त स्याद्वाद से युक्त ज्ञान को श्रुतज्ञान कहते हैं। श्रुतज्ञान के अनेक भेद हैं। इन्द्रियों और मन की सहायता के बिना आत्मा से अमुक अवधि तक रूपी द्रव्यों का ज्ञान होता रहे **अवधिज्ञान** है। अवधिज्ञान के दो प्रकार हैं—भवप्रत्ययिक और (२) गुण-प्रत्ययिक (क्षयोपशमजन्य)। देवता और नारकों को जन्म से ही अवधिज्ञान होता है; किन्तु मनुष्यों और तिर्यंचों को यह ज्ञान क्षयोपशम से होता है। वह छह प्रकार का होता है—अनुगामि, अननुगामि, वर्धमान, हीयमान, प्रतिपाति और अप्रतिपाति। **मनःपर्यवज्ञान** के ऋजुमति और विपुलमति ये दो भेद हैं। ऋजुमति साधारणतः प्रतिपाति होता है; परन्तु विपुलमति मनःपर्यवज्ञान एक बार प्राप्त होने पर कदापि नहीं जाता। जगत् के सर्वकालों, सर्वद्रव्यों, सर्वपर्यायों का आत्मा से सीधा होने वाला विश्वलोचन के समान अनन्त, अतीन्द्रिय, अपूर्वज्ञान केवलज्ञान कहलाता है। इस तरह पांच ज्ञान से सभी तत्व जाने जा सकते हैं। ज्ञान से साधक, मोक्ष के कारणरूप रत्नत्रय के प्रथम भेद का ज्ञाता बन सकता है। संसार-रूपी वृक्ष के समूल उन्मूलन के लिए मदोन्मत्त हाथी के समान, अज्ञान-अंधकार को नष्ट करने के लिए सूर्य के समान, जगत् के तत्वों को प्रकाशित करने के लिये अपूर्व नेत्रसमान तथा इन्द्रियों रूपी हिरनियों को वश करने हेतु जाल के समान यह सम्यग्-ज्ञान ही है।

अब दूसरे दर्शनरत्न के सम्बन्ध में कहते हैं—

रुचिर्जिनोक्ततत्वेषु, सम्यक्श्रद्धानमुच्यते।
जायते तन्निसर्गेण, गुरोरधिगमेन वा ॥१९॥

अर्थ

श्री जिनेश्वर भगवान् के द्वारा कथित तत्वों में रुचि होना सम्यक्श्रद्धा कहलाती है। वह सम्यक्श्रद्धा निसर्ग से (स्वभावतः) तथा गुरु महाराज के उपदेश से होती है।

व्याख्या

श्री जिनेश्वर-कथित जीवादि तत्वों में रुचि होना सम्यक्-श्रद्धा (दर्शन) है। सम्यक्श्रद्धा के बिना फलसिद्धि नहीं होती। साग, अनाज आदि के स्वरूप के ज्ञात होने पर भी रुचि के बिना मनुष्य उसकी तृप्ति अथवा स्वाद का फल प्राप्त नहीं कर सकता। श्रुतज्ञान वाले अंगारमर्दक आदि, अभव्य जीव अथवा दुर्भव्य जीव को जिनोक्त तत्व पर रुचि नहीं होने से वे तप-अनुष्ठानादि का फल प्राप्त नहीं कर सके। वह सम्यग्दर्शन दो प्रकार का होता है। गुरु महाराज के उपदेश के बिना जो स्वाभाविक, होता है; उसे प्रथम निसर्ग-सम्यक्त्व कहते है; और जो गुरु महाराज के उपदेश से अथवा प्रतिमा, स्तम्भ, स्त्री आदि किसी भी वस्तु को देख कर होता है, उसे अधिगम-सम्यक्त्व कहते हैं।

अनादि-अनंत संसार के भंवरजाल में परिभ्रमण करते हुए जीवों के साथ लगे हुए ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय वेदनीय और अन्तरायकर्मों की उत्कृष्ट स्थिति तीन कोटाकोटि सागरोपम की है, गोत्र और नामकर्म की बीस कोटाकोटि तथा मोहनीयकर्म की सत्तर कोटाकोटि सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति है। इस स्थिति में जिस प्रकार पर्वत पर से बहती नदी में लुढ़कते-टकराते हुए कितने ही बेडौल पत्थर अपने आप गोलाकार बन जाते हैं; उसी प्रकार अनायास ही स्वयमेव प्रत्येक कर्म की स्थिति उसी प्रकार के

परिणामों के योग से कम हो जाती है और जब सिर्फ एक कोटाकोटि सागरोपम स्थिति बाकी रह जाती है; तब प्रत्येक संसारी जीव यथाप्रवृत्तिकरण के योग से ग्रन्थि-प्रदेश के नजदीक आता है। अत्यन्त कठिनाई से भेदन हो सकने योग्य रागद्वेष के परिणामों को ग्रन्थी कहते हैं। जो सदा रायण की मूलगांठ के समान अत्यन्त कठिनता से छिन्न हो सकती है। ग्रन्थि-स्थान तक पहुंचा हुआ यह जीव भी रागादि से प्रेरित हो कर फिर कर्म की उत्कृष्ट स्थिति बांधता है और उसके फलस्वरूप चार गतियों में भ्रमण करता रहता है। उसमें कई भविष्य में कल्याण प्राप्त करने वाले भव्यजीव होते हैं, वे अपने महावीर्य को प्रगट करते हुए कठिनता से उल्लंघन की जा सकने वाली ग्रन्थि का एकदम उल्लंघन करके उसी प्रकार आगे पहुंच जाते हैं, जिस प्रकार कोई पथिक लम्बे पथ को पार करके झटपट ईष्ट स्थान पर पहुँच जाता है; इसे अपूर्वकरण कहते हैं। इसके बाद अनिवृत्तिकरण करने पर छिन्न करने योग्य मिथ्यात्व के दलों को छिन्न कर उसी समय अन्तर्मुहूर्त की स्थिति वाला औपशमिक सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है। यह सम्यग्दर्शन निसर्ग-सम्यक्त्व कहलाता है। आम जीवों को गुरुमहाराज के उपदेश से अथवा किसी प्रकार के आलंबन से सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है। जिसे अधिगम-सम्यक्त्व कहा जाता है। यह सम्यग्दर्शन यम और प्रशम के औषध-समान, ज्ञान और चारित्र का बीज तथा तप एवं श्रुतादि का हेतु है। जो सम्यक्त्व ज्ञान और चारित्र से रहित होता है, वह तो प्रशंसनीय है; लेकिन मिथ्यात्वरूपी विष से दूषित ज्ञान और चारित्र प्रशंसनीय नहीं हैं। ज्ञान और चारित्र से रहित होने पर भी सम्राट् श्रेणिक ने सम्यक्त्व के प्रभाव से अनुपम सुखनिधान के समान मुक्ति का-सा सुख प्राप्त किया। संसार-समुद्र में डूबते हुए के लिए यह नौका के समान है। दुःखरूपी वन को जलाने के लिए दावानल के समान है। अतः सम्यदर्शनरूपी रत्न को इसी लोक में ग्रहण (प्राप्त) करना चाहिए।

अब तीसरे चारित्ररत्न का वर्णन करते हैं—

सर्व-सावद्य-योगानां, त्यागश्चारित्रमिष्यते ।
कीर्तितं तदहिंसादि-व्रतभेदेन पञ्चधा ॥१८॥

अर्थ

समस्त पापयुक्त (सदोष) योगों का त्याग करना चारित्र कहलाता है। यह चारित्र अहिंसा आदि व्रत के भेद से पांच प्रकार का कहा है।

व्याख्या

समस्त सावद्य-सपाप व्यापारों-मन-वचन-काया के योगों-का ज्ञान-पूर्वक त्याग करना चारित्र कहलाता है। ज्ञान और श्रद्धा के बिना चारित्र सम्यग्चारित्र नहीं कहलाता। यहां देशविरतिचारित्र से इसकी पृथक्ता बताने के लिए 'सर्व' शब्द का ग्रहण किया गया है। चारित्र के दो भेद किये गए हैं—मूलगुण और उत्तरगुण। मूलगुणरूप चारित्र से पंचमहाव्रतों का ग्रहण करना चाहिए।

अब चारित्र के पंचमहाव्रतरूप मूलगुणों का वर्णन करते हैं :—

अहिंसा-सूनृतास्तेय-ब्रह्मचर्याऽपरिग्रहाः ।
पञ्चभिः पञ्चभिर्युक्ता भावनाभिर्विमुक्तये ॥१९॥

अर्थ

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पांच महाव्रत हैं और इन पांचों महाव्रतो में से प्रत्येक महाव्रत पांच-पांच भावनाओं से युक्त होता है। ये भावनाएं मुक्ति के लिए (सहायक) होती हैं।

व्याख्या

अहिंसा आदि पांच महाव्रतों की प्रत्येक की पांच-पांच भावनाएं हैं। इसीलिए कहा गया है कि यदि भावना की सतत जागृति रहे तो साधक उससे मुक्ति प्राप्त कर सकता है।

अब अहिंसारूप प्रथम महाव्रत का स्वरूप करते हैं—

न यत् प्रमादयोगेन जीवित-व्यपरोपणम्।
त्रसानां स्थावराणां च तदहिंसाव्रतं मतम् ॥२०॥

अर्थ

प्रमाद के योग से त्रस या स्थावर जीवों के प्राणों का हनन न करना, प्रथम अहिंसा महाव्रत माना गया है।

व्याख्या

प्रमाद का अर्थ है—अज्ञान, संशय, विपर्यय, राग, द्वेष, स्मृतिभ्रंश, मन, वचन और काया के योगों के प्रतिकूल आचरण करना और धर्म का अनादर करना। इसप्रकार प्रमाद आठ प्रकार का कहा गया है। उक्त प्रमाद के योग से त्रस (द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय) अथवा स्थावर (पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पतिकाय के) जीवों के प्राणों का नाश करना हिंसा है, और हिंसा के निषेध या जीवों के रक्षण को ही प्रथम अहिंसा-व्रत कहा गया है।

अब दूसरे महाव्रत का स्वरूप कहते हैं—

प्रियं पथ्यं वचस्तथ्यं, सूनृतव्रतमुच्यते।
तत् तथ्यमपि नो तथ्यम्, अप्रियं चाहितं च यत् ॥२१॥

अर्थ

दूसरे को प्रिय, हितकारी और यथार्थ वचन बोलना सत्यव्रत कहलाता है। परन्तु जो वचन अप्रिय या अहितकर है, वह तथ्यवचन होने पर भी सत्यवचन नहीं कहलाता।

व्याख्या

अमृपास्वरूप सत्यवचन सूनृतव्रत कहलाता है। सुनने मात्र से जो आनन्द दे, वह प्रिय वचन है और भविष्य में जो हितकारी हो वह पथ्य वचन है। जो वस्तु जैसी है उसे वैसी ही कहना तथ्य है; वही यथार्थ वचन कहलाता है। यहां सत्यव्रत का अधिकार होने से तथ्य उसका एक विशेषण है। यहां शंका होती है कि सत्य के साथ प्रिय और पथ्य इन विशेषणों के कहने का क्या प्रयोजन है? इसके उत्तर में कहते हैं कि, "कई बार व्यवहार से तथ्य होने पर भी चोर को चोर या कोढ़ी को कोढ़ी आदि

कहना अप्रिय (आघातकारी) वचन होने से वह सत्य नहीं कहलाता। इसी प्रकार कोई बात तथ्ययुक्त होने पर भी अहितकारी होगी तो वह भी सत्य नहीं कहलाएगी। शिकारी जंगल में किसी सत्यव्रती से पूछते हैं कि 'हिरण किस ओर गया है ? क्या तुमने देखा है ?' अगर सत्यव्रती उस समय कहता है कि 'हाँ, मैंने हिरण को इस ओर जाते देखा है।' तो इस प्रकार के कथन में प्राणिहिंसा की संभावना रही हुई है। अतः ऐसा वचन हिंसाकारक होने से यथार्थ वचन होते हुए भी प्राणिहितकारी (पथ्य) न होने के कारण सत्य नहीं कहा जा सकता।

निष्कर्ष यह है कि दूसरों को खेद पहुंचाने वाला और परिणाम में अनर्थकर सत्य वचन भी सत्य नहीं है ; अपितु प्रिय और हितकर तथ्य वचन ही वास्तविक सत्य है।[1]

अब तीसरे महाव्रत का वर्णन करते हैं :—

अनादानमदत्तस्यास्तेयव्रतमुदीरितम् ।
बाह्यः प्राणो नृणामर्थो, हरता तं हता हिते ॥२२॥

अर्थ

वस्तु के स्वामी की आज्ञा के बिना किसी भी वस्तु को ग्रहण नहीं करना, अस्तेय (अचौर्य) व्रत कहा गया है। धन मनुष्यों का बाह्य प्राण है ; उसके हरण करने से उसके प्राण का हनन हो गया, समझो।

व्याख्या

धन या किसी भी चीज को स्वामी के दिये बिना या उसकी आज्ञा के बिना ग्रहण न करना तीसरा अदत्तादान महाव्रत कहा है। वह त्यागियों के लिए (१) स्वामी-अदत्त, (२) जीव-अदत्त, (३) तीर्थंकर-अदत्त और (४) गुरु-अदत्त ; इस तरह चार प्रकार का बताया है। घास, तृण, पत्थर, लकड़ी आदि पदार्थ उसके स्वामी ने नहीं दिये हों अथवा लेने की आज्ञा न दी हो ; उसे ग्रहण करना स्वामी-अदत्त है। स्वामी की आज्ञा तो हो, परन्तु स्वयं जीव की आज्ञा न हो, जैसे कि दीक्षा के परिणाम-रहित जीव (मनुष्य) को उसके माता-पिता, गुरु को दे दें ; परन्तु उस व्यक्ति (जीव) की स्वयं की इच्छा के बिना दीक्षा देना जीव-अदत्त है। तीर्थंकर भगवान् के द्वारा निषिद्ध आधाकर्मादि दोषयुक्त आहार ग्रहण करना ; तीर्थंकर-अदत्त है। किसी वस्तु के लेने की स्वामी ने आज्ञा दे दी ; वह वस्तु आधाकर्म आदि दोष से भी रहित है, किन्तु गुरु की आज्ञा उस वस्तु को ग्रहण करने की नहीं है, तो गुरु की आज्ञा के बिना उस वस्तु को लेना गुरु-अदत्त (चोरी) है। अहिंसा से आगे के सभी व्रत प्रथम अहिंसाव्रत की रक्षा के हेतु हैं। यहां शंका होती है कि अदत्तादान में हिंसा कैसे संभव है ? इसके उत्तर में कहते हैं कि धन को ११ वाँ बाह्य-प्राण लोक-व्यवहार में कहा है। धन पर ममत्वभाव अधिक होने से वह प्राणसमान है। उसके चुराये जाने अथवा चले जाने से जीव का हृदय फट जाता है, बड़ा आघात पहुंचता है और मृत्यु तक भी हो जाती है। इसलिए शास्त्रकार ने धन को बाह्य प्राण कहा है। इस दृष्टि से धनहरण करने वाला वास्तव में उसके मालिक के प्राण-हरण करता है।

१—इसीलिए महाभारत में सत्य की परिभाषा की गई है—'यद् भूतहितमत्यन्तमेतत्सत्यं मतं मम' जिसमें प्राणियों का एकान्त हित हो उसे ही मैंने सत्य माना है। संशोधक

अब चौथे महाव्रत के विषय में कहते हैं—

दिव्यौदारिककामानां, कृतानुमतिकारितैः ।
मनो-वाक्-कायतस्त्यागो, ब्रह्माष्टादशधा मतम् ॥३३॥

अर्थ

दिव्य (देव-सम्बन्धी) और औदारिक कामों (मदनकामों-मैथुनों) का मन, वचन और शरीर से करने, कराने और अनुमोदन का त्याग करना ब्रह्मचर्य है, जो अठारह प्रकार का है ।

व्याख्या

देवताओं के वक्रिय-शरीर तथा मनुष्यजाति और तिर्यञ्चजाति के औदारिक शरीर से सम्बन्धित काम-भोगों (मैथुनों) का मन, वचन और काया से सेवन करने, कराने और अनुमोदन का त्याग करना ब्रह्मचर्य है, जो अठारह प्रकार के मैथुन-त्याग रूप होने से १८ प्रकार का कहा है । देवता-सम्बन्धी रतिसुख, मन, वचन और काया से तथा कृत कारित और अनुमोदन के भेद से त्रिविध-त्रिविध (३ × ३ = ६) विरतिरूप होने से ६ प्रकार का होता है । तथा औदारिक सम्बन्धी काम के भी उसी तरह त्रिविध-त्रिविध त्याग होने से नौ भेद होते हैं, कुल मिला कर १८ प्रकार का ब्रह्मचर्य महाव्रत होता है । करना, कराना और अनुमोदन के मन, वचन और काया के भेद से ६ भेद जैसे वीच के व्रत मे बताए हैं ; वैसे ही सबसे पहले के और बाद के महाव्रतों के भी समझ लेने चाहिए ।

अब पांचवें महाव्रत के सम्बन्ध में कहते हैं—

सर्वभावेसु मूर्च्छायास्त्यागः स्यादपरिग्रहः ।
यदसत्स्वपि जायेत, मूर्च्छया चित्तविप्लवः ॥२४॥

अर्थ

संसार के सारे (सजीव-निर्जीव) पदार्थों पर मूर्च्छा का त्याग करना अपरिग्रह महाव्रत है । पास में वस्तु नहीं होने पर भी आसक्ति से मन में विचारों को उथल-पुथल होती रहती है ।

व्याख्या

मन, वचन और काया से तथा कृत, कारित और अनुमोदित-रूप से द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव-रूप सर्व भावों में मूर्छा या आसक्ति का त्याग करना अपरिग्रह महाव्रत कहलाता है । केवल पदार्थ का त्याग कर देना ही त्याग नहीं कहलाता । उस पदार्थ के प्रति मूर्च्छा, मोह, इच्छा, राग, आसक्ति या स्नेह का त्याग करना ही वास्तव में अपरिग्रह महाव्रत कहलाता है । यहां शंका होती है कि 'परिग्रह' का त्याग करने से अपरिग्रह व्रत हो ही गया, फिर इसका लक्षण मूर्छा-त्याग-रूप क्यों बताया ? इसके उत्तर में कहते हैं कि अविद्यमान पदार्थों में भी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से मूर्च्छा होने से मन में अशान्ति रहती है और मन में अनेक प्रकार के विकल्प-जाल अथवा विकार उठते हैं । इस प्रकार के अस्थिर मन वाला साधक प्रशमसुख का अनुभव नहीं कर सकता । धन न होने पर भी धन की तृष्णा राजगृह के द्रमुक नामक भिखारी के समान चित्त में मलिनता पैदा करती है और वह दुर्गति में गिराने का कारणभूत है ।

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावरूप लक्षणों से युक्त विशेष सामग्री होने पर भी जिसका मन तृष्णा-रूपी काले सर्प के उपद्रव से रहित हो, उसी को प्रशम-सुख-प्राप्ति होती है और उसी के चित्त में पूर्ण स्थिरता होती है। इसी कारण से धर्मोपकरण रखने वाले साधुओं को शरीर और उपकरणों पर ममता नहीं होने से, अपरिग्रही की कोटि में बताया है। कहा भी है--

''यद्वत्तुरगः सत्स्वप्याभरणभूषणेष्वभिषक्तः।
तद्वदुपग्रहवानपि न सगमुपयाति निर्ग्रन्थः॥

जैसे आभूषणों से विभूषित होने पर भी घोड़े को उन आभूषणों पर ममता नहीं होती, इसी प्रकार धर्मोपकरण के रूप में कुछ वस्तुएँ रखने पर भी निर्ग्रन्थ मुनि उन पर ममत्व नहीं रखता। जिस तरह मूर्छा-रहित हो कर धर्मोपकरण रखने से मुनि को दोष नहीं लगता, उसी तरह महाव्रतधारिणी रत्नत्रयाराधिका, निर्ग्रन्थ-साध्वियां भी गुरु के उपदेशानुसार ममत्वभाव से रहित हो कर धर्मोपकरण रखती हैं तो, उन्हें भी परिग्रहत्व का दोष नहीं लगता। इस कारण से निर्ग्रन्थ-साध्वियों के लिए धर्मोपकरण परिग्रहरूप हैं और परिग्रह रखने के कारण स्त्रियों को मोक्ष नहीं होता, ऐसा कथन कहने वालों का प्रलापमात्र है।

अब प्रत्येक महाव्रत की पांच-पांच भावनाओं, (जो मुक्तिप्राप्ति में सहायक हैं) की महिमा बताते हैं—

भावनाभिर्भावितानि पञ्चभिः पञ्चभिः क्रमात्।
म[ह]ाव्रतानि नो कस्य साधयन्त्यव्ययं पदम् ॥२५॥

अर्थ

क्रमशः पांच-पांच भावनाओं से वासित (अनुप्राणित) महाव्रतों से कौन अव्यय (मोक्ष) पद प्राप्त नहीं कर सकता? अर्थात् इन महाव्रतों की भावना-सहित आराधना करने वाले अवश्यमेव मोक्ष पद प्राप्त करते हैं।

अब प्रथम महाव्रत की पांच भावनाएँ बताते हैं—

मनोगुप्त्येषणादानेर्याभिः समितिभिः सदा।
दृष्टान्न-पानग्रहणेनाहिंसां भावयेत् सुधीः ॥२६॥

अर्थ

मनोगुप्ति, एषणासमिति आदानभांड-निक्षेपणसमिति, ईर्यासमिति तथा प्रेक्षित (देखकर) अन्न-जल ग्रहण करना, इन पांचों भावनाओं से बुद्धिमान् साधु को अहिंसाव्रत को पुष्ट करना चाहिए।

व्याख्या

(१) पहली मनोगुप्तिभावना के लक्षण आगे कहेंगे। (२) जिस आहार-पानी या वस्त्र-पात्र आदि के लेने में किसी भी जीव को दुःख न पहुँचे, ऐसा निर्दोष आहार आदि लेना एषणासमिति है। (३) पाद, पादपीठ, वस्त्र, पात्र आदि उपकरण लेने-रखने में जीव की विराधना न हो, इस प्रकार की

यतना (उपयोग) सहित प्रवृत्ति करना **आदानसमिति है** (४) रास्ते में जाते-आते नीची और सम्यक् दृष्टि रख कर किसी जीव की विराधना किये बिना यतनापूर्वक गमनागमन करना **ईर्यासमिति है।** (५) आहार-पानी देख कर लेना और उपलक्षण से आहार के समय भी अहिंसा-भाव रखना, जिससे चींटी, कुंथु आदि जीवों की विराधना न हो, यह **दृष्टान्नपानग्रहण-भावना** कहलाती है। यहाँ पर गुप्तियों और समितियों को महाव्रत की भावनारूप समझना। तीन गुप्ति आदि का आगे इसी ग्रन्थ में विस्तार से वर्णन किया जायेगा, इसलिये गुप्तियों और समितियों को उत्तरगुण के रूप में भी समझा जा सकता है।

कहा भी है—'पिंड-विशुद्धि, पांच समितियां, भावना, दो प्रकार का तप, प्रतिमा और अभिग्रह ये उत्तर गुण के भेद हैं। अब मनोगुप्ति की भावना देखिए। जितनी भी हिंसा है, वह सबसे पहले मन में पैदा होती है। यानी हिंसा में मनोव्यापार की प्रधानता है। सुना जाता है कि राजर्षि प्रसन्नचन्द्र ने अहिंसा महाव्रत की मनोगुप्तिरूप-भावना नहीं की, इस कारण बाहर से हिंसा नहीं करने पर भी एक दफा तो उन्होंने सातवें नरक के योग्य पापकर्मदल इकट्ठे कर लिये थे। एषणासमिति, आदानसमिति और ईर्यासमिति; ये अहिंसा महाव्रत के लिए अत्यन्त उपकारी हैं। इसलिए इन भावनाओं से अन्तःकरण सुवासित करना चाहिए, दृष्टान्नपानग्रहण (देखकर अन्न पानी ग्रहण करने की, भावना से एवं त्रसादि जीवों सहित आहार-पानी का त्याग करने से यह भी अहिंसा-महाव्रत की उपकारिणी होती है। इस प्रकार अहिंसा-महाव्रत की पांच भावनाओं का वर्णन पूर्ण हुआ।

अब दूसरे महाव्रत की पांच भावनाएँ देखिए—

हास्य-लोभ-भय-क्रोध-प्रत्याख्यानैर्निरन्तरम् ।
आलोच्य भाषणेनापि भावयेत सूनृतव्रतम् ॥२७॥

अर्थ

हास्य, लोभ, भय और क्रोध के त्याग (नियंत्रण) पूर्वक एवं विचार करके बोले; इस प्रकार (पांच भावनाओं द्वारा) सत्यव्रत को सुदृढ़ करे।

व्याख्या

मनुष्य एक दूसरे की हँसीमजाक करते समय झूठ बोल देता है, लोभाधीन बन कर धन की आकांक्षा से झूठ बोल देता है, प्राणों की रक्षा या प्रतिष्ठा जाने आदि के भय से और क्रोध से मनचलित होने के कारण झूठ बोलता है। इन हास्य आदि चारों के त्याग के नियमरूप चार भावनाएँ हैं और अज्ञानतापूर्वक अंधाधुंध अंटसंट न बोल कर सम्यग्ज्ञान से युक्त अच्छी तरह विचार कर बोला जाय, यह पांचवीं भावना है। मोह मृषावाद का कारण है, यह जगत्-प्रसिद्ध ही है। कहा भी है—"**रागाद्वा, द्वेषाद्वा, मोहाद्वा, वाक्यमुच्यते तद् यनृतम् ।**" 'राग से, द्वेष से, अथवा मोह से जो वाक्य बोला जाता है, वह असत्य कहलाता है।

अब तीसरे महाव्रत की ५ भावनाओं का वर्णन करते हैं—

आलोच्यावग्रहयाञ्चाऽभीक्ष्णवग्रह-याचनम् ।
एतावन्मात्रमेवैतदित्यवग्रह-धारणम् ॥२८॥

समानधार्मिकेभ्यश्च तथावग्रह-याचनम् ।
अनुज्ञापितपानान्नाशनमस्तेय–भावनाः ॥२९॥ [युग्मम्]

अर्थ

मन से विचार करके अवग्रह (रहने की जगह) की याचना करना; मालिक से बार-बार अवग्रह की याचना करना; जितनी जगह की आवश्यकता हो, उतनी ही जगह को रखना; स्वधर्मी साधु से भी अवग्रह की याचना करके रहना या ठहरना, गुरु की आज्ञा से आहार-पानी का उपयोग करना, ये पांच अस्तेय (अचौर्य) महाव्रत की भावनाएँ हैं।

व्याख्या

साधुसाध्वियों को किसी भी स्थान पर रहने या ठहरने से पूर्व उस स्थान व स्थान के मालिक आदि के विषय में मन में भलीभांति चिन्तन करके उससे रहने या ठहरने की याचना करनी चाहिए। इन्द्र, चक्रवर्ती, राजा, गृहपति और सार्धमिक साधु; इस तरह पांच प्रकार के व्यक्तियों के अवग्रह कहे हैं। आगे-आगे का अवग्रह बाध्य है और पीछे-पीछे के अवग्रह बाधक हैं। इसमें देवेन्द्र का अवग्रह इस तरह समझना—जैसे सौधर्माधिपति देवेन्द्र, दक्षिण-लोकार्ध का और ईशानाधिपति शकेन्द्र उत्तर-लोकार्ध का स्वामी माना जाता है। इसलिए जिस स्थान का कोई भी मालिक लोकव्यवहार में न हो, उस अवग्रह का मालिक पूर्वोक्त न्याय से देवेन्द्र माना जाता है। जिस चक्रवर्ती या सामान्य राजा के अधिकार में जितना राज्य हो, उतना (भरत आदि) क्षेत्र उसका अवग्रह माना जाता है। जिस घर का जो मालिक हो, वह उस घर का गृहपति माना जाता है। उसका अवग्रह गृहपति-अवग्रह कहलाता है। इसे शास्त्रीय परिभाषा में शय्यातर (वस्ती या मकान का मालिक भी कहते हैं। अगर किसी स्थान या मकान में पहले से साधु ठहरे हुए हों और गृहस्थों ने उन्हें स्थान दिया हुआ है, तो वहाँ सार्धमिक-अवग्रह होता है, उन्हीं से याचना करके नये आने वाले साधु को ठहरना चाहिए। इस प्रकार प्रत्येक अवग्रह को जान कर विधियुक्त क्रम से रहने की याचना करनी चाहिए (१) मालिक से याचना नहीं करने से परस्पर विरोध पैदा होने पर अकारण ही लड़ाई-झगड़ा या किसी प्रकार का क्लेश, झंझट आदि इह-लोक-सम्बन्धी दोष पैदा होते हैं, और बिना दिये हुए स्थान का सेवन करने से पापकर्म का बन्ध होता है। परलोक में भी दुःख पाता है। इस प्रकार पहली भावना हुई (२) मालिक के द्वारा एकबार अनुज्ञात (आज्ञा दिये) स्थान (अवग्रह, की बार बार याचना करते रहना चाहिए; संभव है, पहले प्राप्त हुए स्थान में और रोगी, ग्लान, वृद्ध, अशक्त साधु या साध्वी के मलमूत्र आदि परठने देने में गृहपति ऐतराज मानता हो; इसलिए उसके सामने पूरा स्पष्टीकरण करके हाथ—पैर या पात्र धोने अथवा मल-मूत्र परठने आदि के लिए जगह की याचना करके अनुमति प्राप्त करनी चाहिए, ताकि अवग्रह-दाता के चित्त में क्लेश न हो, प्रसन्नता रहे। इस प्रकार की यह दूसरी भावना पूर्ण हुई। (३) तीसरी भावना यह है कि साधु को यह विचार करना चाहिए कि मुझे अपने ध्यान, स्वाध्याय, आहार आदि करने के लिए इतनी सीमा (हद) तक ही जगह की जरूरत है। इससे अधिक जरूरत नहीं है, तो उतने ही अवग्रह की याचना व व्यवस्था करूं। इस तरह अवग्रह धारण करने से और उसके अदर ही कायोत्सर्ग, स्वाध्याय, आहार आदि क्रिया कर लेने से दाता को परेशानी नहीं होती। नहीं तो, कई बार दाता के अपने उपयोग के लिए जगह थोड़ी रहने से उसे परेशानी होती है, साधु को भी जरूरत से ज्यादा जगह

दाता से लेने पर उसके प्रतिलेखन-प्रमार्जन (पूंजन) आदि में असावधानी होने की संभावना रहती है। दाता के मन में उद्विग्नता आने की संभावना रहती है, और स्वयं को भी अदत्त-परिभोग के कारण कर्मबन्ध होता है, यही तीसरी भावना है। (४) जो एक समान धर्म का पालन करते हों या एक ही धर्मपथ के पथिक हों, वे साधर्मिक कहलाते हैं। साधर्मिक साधु-वेष से भी सम होते हैं, आचार विचार से भी सम होते हैं, ऐसे साधर्मी साधुओं ने पहले का जो क्षेत्र (स्थान) स्वीकार किया हो; बाद में आने वाले साधुओं को उनसे आज्ञा ले कर रहना चाहिए; नहीं तो उनकी चोरी मानी जाती है। यह चौथी भावना हुई। (५) शास्त्रोक्त विधि-अनुसार दोषरहित अचित्त, एषणीय और कल्पनीय आहार-पानी मिले उसे ही भिक्षारूप में ला कर आलोचना करके गुरु महाराज को निवेदन करे। तत्पश्चात् गुरु की आज्ञा लेकर मंडली में अथवा अकेला आहार करे। उपलक्षण से इसके साथ यह ध्यान रखना चाहिए कि 'जो कुछ औधिक औपग्रहिक भेद वाले उपकरण अर्थात् धर्म-साधनरूप उपकरण हों, उन सभी का उपयोग गुरु की आज्ञा प्राप्त करने के बाद ही करना चाहिए। ऐसा करने से तीसरे महाव्रत का उल्लंघन नहीं होता। इस तरह तीसरे महाव्रत की ये पांच भावनाएँ समझनी चाहिए।

अब चौथे महाव्रत की पांच भावनाओं का वर्णन करते हैं—

स्त्री-षण्ढ-पशुमद्वेश्मासनकुड्यान्तरोज्झनात् ।
सरागस्त्रीकथात्यागात् प्राग्रतस्मृतिवर्जनात् ॥३०॥
स्त्रीरम्यांगेक्षण-स्वाङ्ग-संस्कारपरिवर्जनात् ।
प्रणीतात्यशन-त्यागाद् ब्रह्मचर्यं तु भावयेत् ॥३१॥ [युग्मम्]

अर्थ

ब्रह्मचारी साधक, स्त्री, नपुंसक और पशुओं के रहने के स्थान (तथा उनके बैठे हुए आसन या आसन वाले स्थान) का त्याग करे। इसी प्रकार जहां कामोत्तेजक या रतिसहवास के शब्द सुनाई दें, बीच में केवल एक पर्दा, टट्टी या दीवार हो, ऐसे स्थान में भी न रहे। और राग पैदा करने वाली स्त्री-कथाओं का त्याग करे। पूर्व-अवस्था में अनुभव की हुई रति-क्रीड़ा के स्मरण का त्याग करे। स्त्रियों के मनोहर अंगोपांगों को नहीं देखे। अपने शरीर पर शोभावर्द्धक श्रृंगार-प्रसाधन या सजावट का त्याग करे और अतिस्वादिष्ट तथा प्रमाण से अधिक आहार का त्याग करे। इस प्रकार इन दस ब्रह्मचर्यगुप्तियों के अन्तर्गत पंचभावनाओं द्वारा ब्रह्मचर्य-व्रत की सुरक्षा करनी चाहिए।

व्याख्या

ब्रह्मचारी पुरुष को नारीजाति से, नारी को पुरुषजाति से सावधान रहना अनिवार्य है। संसार में स्त्रीजाति के दो प्रकार हैं :—देव-स्त्री और मनुष्य-स्त्री। ये दोनों सजीव हैं। किन्तु चित्र के रूप में या पुतली के रूप में बनी हुई (काष्ठ या मिट्टी आदि की) स्त्री निर्जीव है। इन दोनों प्रकार की स्त्रियों का संसर्ग कामविकारोत्पादक होता है; तथैव नपुंसक (तीसरे वेद के उदय वाला) महामोहकर्म से युक्त और स्त्री और पुरुष के सेवन में आसक्त होता है। तिर्यंचयोनि वाले गाय, भैंस, घोड़ी, गधी, बकरी, भेड़ आदि में भी मैथुनसंज्ञा की संभावना रहती है। इसलिए पहली भावना

बताई गई है कि स्त्री, नपुंसक और पशु जहां रात-दिन रहते हों, ऐसे स्थान का त्याग करना चाहिए। ये जहां आसन लगा कर बैठे हों अथवा उन्होंने जिस बिछौने (संथारे) या तख्त आदि आसनों का उपयोग किया हो, उस पर भी अन्तर्मुहूर्त तक बैठना वर्जित है। अथवा जिस स्थान में रहने पर दीवार, टट्टी या पर्दे के पीछे रहने वाले दम्पति के मोहोत्पादक शब्द सुने जाएं, ऐसे स्थान का ब्रह्मचर्य-भंग की संभावना से त्याग करना चाहिए। यह प्रथम भावना हुई। राग-पूर्वक स्त्रियों के साथ बातें करने अथवा स्त्री-विकथा करने का त्याग करना। स्त्रियों से सम्बन्धित देश, जाति, कुल, वेशभूषा, भाषा, चाल-ढाल, हाव-भाव, मन, परीक्षा, हास्य, लीला, कटाक्ष, प्रणय-कलह या शृंगार-रसवाली बातें भी वायुवेग के समान चित्त-समुद्र में राग और मोह का तूफान पैदा कर देती हैं। अतः इनसे दूर रहना आवश्यक है। यह दूसरी भावना हुई। जिसने साधुदीक्षा या ब्रह्मचर्यव्रत धारण किया हो, उसने पूर्व-अवस्था में स्त्री के साथ जो रति-क्रीड़ा, आलिंगन आदि किया हो, उसका स्मरण नहीं करना चाहिए। कदाचित् स्मरण हो जाय तो फौरन उसका त्याग करना चाहिए। क्योंकि पूर्व की रतिक्रीड़ा के स्मरण-रूप-ईन्धन से कामाग्नि अधिक प्रदीप्त होती है। अतः इसका त्याग करना चाहिए। यह तीसरी भावना हुई। स्त्रियों के मनोहर, मन में कामाभिलाषा पैदा करने वाले, आकर्षक मुख, नेत्र स्तन, जंघा आदि अंगोपांगों को अपूर्व विस्मयरस की दृष्टि से या विकार की दृष्टि से ताक-ताक कर या आंखें फाड़ कर नहीं देखना चाहिए; क्योंकि स्त्रियों के सौन्दर्य एवं लावण्य से युक्त मनोहर अंगोपांगों के देखने से मन चलायमान हो जाता है: जैसे पतंगा दीपशिखा पर गिरने से नष्ट हो जाता है, वैसे ही रागपूर्वक देखने वाला कामाग्नि-शिखा में भस्म हो जाता है। राग-द्वेष-रहित भाव से यदि देखा जाय तो उसमें कोई दोष नहीं है। कहा भी है—"**चक्षु के दृष्टिपथ में आए हुए रूपविषय का न देखना अशक्य है। परन्तु विवेकी पुरुष को उस रूप में राग-द्वेष नहीं करना चाहिए।**" इसी प्रकार अपने शरीर को स्नान, विलेपन, शृंगार आदि से विभूषित करने, सजाने, धूप देने, नख, दांत आदि चमकीले बनाने; केशों को भलीभांति संवारने या प्रसाधन आदि करने, विविध रूपों से साजसज्जा का, शृंगार-संस्कारित करने का त्याग करना चाहिए। अपवित्र शरीर के संस्कार में मूढ़ बना हुआ मनुष्य उन्मादपूर्ण विचारों से अपनी आत्मा को व्यर्थ ही क्लेश के गर्त में गिराता है। इस प्रकार स्त्रियों के रम्य अंगों की ओर रागपूर्ण दृष्टि करने तथा अपने अंग को शृंगारित करने का त्याग करना चौथी भावना के अन्तर्गत है। इसी प्रकार स्वादिष्ट, वीर्यवर्द्धक, पुष्टिकारक, मधुर रस-संयुक्त आहार का तथा रसरहित आहार होने पर भी अधिक मात्रा में करने का त्याग करना चाहिए। अर्थात् रूखा-सूखा भोजन भी गले तक ठूंस कर नहीं खाना चाहिए। इस तरह ब्रह्मचारी को दोनों प्रकार के आहार का त्याग करना चाहिए। सदा पुष्टिकारक, वीर्यवर्द्धक, स्वादिष्ट, स्निग्ध, रसदार आहार सेवन करने से, वह शरीर में प्रधान धातु को विशेष पुष्ट करता है और उससे वेदोदय जाग्रत होता है; जिसके कारण अब्रह्मचर्य-सेवन की संभावना रहती है। अधिक मात्रा में भोजन करने से ब्रह्मचर्य का ही नाश नहीं होता, अपितु शरीर की भी हानि होती है। शरीर में भी अजीर्ण, आदि अनेक रोग पैदा हो जाते हैं। इसलिए इसका त्याग करना चाहिए। आयुर्वेद-शास्त्र में कहा है कि मनुष्य को पेट में आधा हिस्सा व्यंजन (साग) सहित भोजन के लिए, दो हिस्से पानी के लिए और छठा हिस्सा वायु-संचार के लिए रखना चाहिए। इस प्रकार पांचवीं भावना हुई। इस तरह दस प्रकार की ब्रह्मचर्य-गुप्ति का समावेश करके ब्रह्मचर्य की पांचों भावनाएं बताई गई है।

अब पांचवें महाव्रत की ५ भावनाओं का वर्णन करते हैं—

स्पर्शे रसे च गन्धे च रूपे शब्दे च हारिणि ।
पञ्चस्वपोन्द्रियार्थेषु गाढं गार्ध्यस्य वर्जनम् ॥३२॥
एतेष्वेवामनोज्ञेषु सर्व्वथा द्वेषवर्जनम् ।
आकिञ्चन्यव्रतस्यैवं भावनाः पञ्च कीर्तिताः ॥३३॥

अर्थ

मनोहर स्पर्श, रस, गन्ध, रूप शब्द इन पांचों इन्द्रियों के विषयों में अतिगाढ़ आसक्ति का त्याग करना और इन्हीं पांचों इन्द्रियों के बुरे विषयों में सर्वथा द्वेष का त्याग करना. ये आकिंचन्य (अपरिग्रह या निर्ममत्व) महाव्रत की पांच भावनाएं कही हैं ।

व्याख्या

स्पर्श आदि जो विषय मनोज्ञ हों, उन पर राग का त्याग करना चाहिए। इन्द्रियों के प्रतिकूल जो स्पर्शादि-विषय अप्रिय हों, उन पर द्वेष (घृणा) नहीं करे। आसक्तिमान व्यक्ति मनोहर विषयों पर राग और अनिष्ट विषयों पर द्वेष करते हैं। जो मध्यस्थ होता है, उसको विषयो पर मूर्च्छा नहीं होने से कहीं पर भी इनसे प्रीति-आसक्ति नहीं होती और न अप्रीति (घृणा) होती है। राग के साथ द्वेष अवश्यम्भावी होता है। इसलिए बाद में ग्रहण किया गया है। किंचन कहते हैं—बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह को, वह जिसके नहीं है ; वह अकिंचन कहलाता है। आशय यह है कि अकिंचनता का ही दूसरा नाम अपरिग्रह है। वह पंचममहाव्रतरूप है। उसकी यह पांच भावनाएं समझना चाहिए।

मूलगुणरूप चारित्र का वर्णन करने के बाद अब उत्तरगुणरूप चारित्र का वर्णन करते हैं :—

अथवा पञ्चसमिति-गुप्तित्रय-पवित्रितम् ।
चारित्रं सम्यक्चारित्रमित्याहुर्मुनिपुंगवाः ॥३४॥

अर्थ

अथवा पांच समितियों और तीन गुप्तियों से पवित्र बने हुए मुनिपुंगवों के चारित्र को भी तीर्थंकर देवों ने सम्यक्चारित्र कहा है ।

व्याख्या

समिति का अर्थ है—सम्यक् प्रवृत्ति। अर्थात् पांच प्रकार की चेष्टाओं की तांत्रिक संज्ञा को, अथवा अर्हत्प्रवचनानुसार प्रशस्त चेष्टा को समिति कहते है। गुप्ति अर्थात् आत्मा का संरक्षण। मुमुक्षु के मन, वचन, काया के योग (मन, वचन, काया के व्यापार) निग्रह को गुप्ति कहा है। इन पांच समितियों और तीन गुप्तियों से पवित्र साधुओं की चेष्टा को सम्यक्चारित्र कहा है। समिति सम्यक्प्रवृत्ति-स्वरूप है और गुप्ति का लक्षण है · प्रवृत्ति से निवृत्ति। इन दोनों में इतनी ही विशेषता है।

अब समिति और गुप्ति के नाम कहते हैं—

ईर्या-भाषैषणा-ऽऽदान-निक्षेपोत्सर्ग-संज्ञिकाः ।
पञ्चाहुः समितीस्तिस्रो गुप्तीस्त्रियोगनिग्रहात् ॥३५॥

अर्थ

ईर्या-समिति, भाषा-समिति, एषणा-समिति, आदान-निक्षेप-समिति और उच्चार-प्रस्रवणखेलजल्लसिंघाणपरिष्ठापनिका (उत्सर्ग) समिति ; ये पांच समितियां हैं और तीन योगों का निग्रह करने वाली गुप्ति है; जो मनोगुप्ति, वचनगुप्ति तथा कायगुप्ति के भेद से तीन प्रकार की कही है।

व्याख्या

उपर्युक्त पांच समितियां सम्यक् प्रवृत्तियां है। मन, वचन और काया के व्यापार का प्रवचन (आगम) विधि से निरोध करने अर्थात् उन्मार्ग में जाते हुए मन, वचन और काया के योग की प्रवृत्ति रोकने को श्रीतीर्थंकर भगवान् ने गुप्ति कहा है।

अब ईर्यासमिति का लक्षण कहते हैं :—

लोकातिवाहिते मार्गे चुम्बिते भास्वदंशुभिः।
जन्तुरक्षार्थमालोक्य गतिरीर्या मता सताम् ॥३६॥

अर्थ

जिस मार्ग पर लोगों का आना-जाना होता हो तथा जिस मार्ग पर सूर्य की किरणें पड़ती हों, जीवों की रक्षा के लिए ऐसे मार्ग पर नीचे दृष्टि रख कर साधु पुरुषों द्वारा की जाने वाली गति को ईर्यासमिति माना है।

व्याख्या

त्रस और स्थावर जीवमात्र को अभयदान देने के लिए दीक्षित साधु का आवश्यक कार्य के लिए गमनागमन करते समय जीवों की रक्षा के लिए तथा अपने शरीर की रक्षा के लिए पैरों के अग्रभाग से ले कर धूसर-प्रमाण क्षेत्र तक दृष्टि रख कर चलना ईर्यासमिति कहलाता है. ईर्या का अर्थ है—चर्या-गति और समिति का अर्थ है— सम्यग् प्रवृत्ति करना। अर्थात् गमन-क्रिया में सम्यक् प्रवृत्ति करने को ईर्या-समिति कहते हैं। तात्पर्य यह है कि मुनि युगमात्र भूमि को देखते हुए बीज, हरियाली, जीव, जल, पृथ्वीकाय आदि जीवों को बचाते हुए जमीन पर चलते हैं। शक्ति हो तो भी उस मार्ग का संक्रमण करके नहीं चलते। गति मार्ग पर की जाती है, अतः उस मार्ग की ही विशेषता बताते हैं 'लोगों के आने-जाने से बहुत चालू और अविरत जिस मार्ग पर सूर्य की किरणें स्पर्श करती हों अर्थात् मार्ग भलीभांति दिखाई देता हो, उसी पर गमन करने का विधान है। प्रथम विशेषणोक्त मार्ग से आने-जाने वाले मुनि से षट्कायिक जीव की विराधना नहीं होती। खराब मार्ग में भी नहीं जाना चाहिए, इसी हेतु से कहते हैं कि लोक-प्रचलित उक्त मार्ग पर भी रात को चलने से उड़ कर आये हुए संपातिम जीवों की विराधना होती है। अन्धकार में जीव-जंतुओं के पैर के नीचे आने से उनकी तथा किसी जहरीले जन्तु द्वारा अपनी भी हानि होने की संभावना है। अतः ऐसे मार्ग से चलने का निषेध करने हेतु दूसरे विशेषण में 'सूर्य की किरण में चलने' को कहा है, इस प्रकार के उपयोग वाले मुनि को चलते-चलते यदि जीव की विराधना हो भी जाय तो भी जीव-वध का पाप नहीं लगता। कहा है कि:—

उच्चालियम्मि पाए इरियासमियस्स संकमट्ठाए।
वावज्जेज्ज कुलिंगी मरेज्ज वा तं जोगमासज्ज ॥१॥

न य तस्स तन्निमित्तो बंधो सुहुमोवि देसिओ समये ।
अणवज्जो उवओगेण सव्वभावेण सो जम्हा ॥२॥

ईर्यासमितिपूर्वक यतना से चलता हुआ मुनि चलते समय पैर ऊँचा करे, उसमें कदाचित् कोई द्वीन्द्रियादि जीव मर जाय तो उसके लिए शास्त्र में कहा है कि उस निमित्त से उसे जरा-सा भी कर्मबन्धन नहीं होता, क्योंकि समभाव से सर्वथा उपयोगपूर्वक की हुई यह निरवद्य प्रवृत्ति है तथा अयतना एवं अवद्यपूर्वक प्रवृत्ति करने से जीव मरे या न मरे तो भी उसे हिंसा का पाप अवश्य लगता है। और जो सम्यक् प्रकार से उपयोगपूर्वक एवं यतनापूर्वक गमनागमन करता है, उस साधक से कदाचित् हिंसा हो भी जाय तो भी उस हिंसा से कर्म-बन्धन नहीं होता।

अब दूसरी भाषासमिति के सम्बन्ध में कहते हैं :—

अवद्यत्यागतः सार्वजनीनं मितभाषणम् ।
प्रिया वाचंयमानां सा भाषासमितिरुच्यते ॥३७॥

अर्थ

वचन पर संयम रखने वाले या प्रायः मौनी साधकों द्वारा निर्दोष, सर्वहितकर एवं परिमित, प्रिय एवं सावधानीपूर्वक बोलना भाषासमिति कहलाता है।

व्याख्या

वाक्यशुद्धि नामक (दशवैकालिकसूत्र के सातवें) अध्ययन में प्रतिपादित भाषा-दोष के अनुसार 'तू धूर्त है, तू कामी है, तू मांस खाने वाला है, तू चोर है या नास्तिक है', इत्यादि दुर्वचनों का निष्कपट-भाव से त्याग करना चाहिए और वचनशुद्धि-युक्त भाषा बोलनी चाहिए। सभी लोगों के लिए हितकारी, प्रिय, परिमित वाणी भी ऐसी बोले, जो पर्याप्त प्रयोजन को सिद्ध करने वाली हो। कहा भी है—"वही वचन बोलना चाहिए, जो मधुर हो, बुद्धियुक्त हो, अल्प हो, कार्यसाधन के लिए यथावश्यक, गर्व-रहित, उदार, आशायुक्त, बुद्धि से पहले धारण किया हुआ और धर्म-युक्त हो। इस प्रकार की वाणी को भाषा-समिति कहते है, अथवा बोलने में सम्यक् प्रकार से सावधानी रखना, भाषासमिति है। इस तरह की भाषा मुनियों को इष्ट होती है। शास्त्रों में बताया गया है कि बुद्धिशाली साधक उस भाषा को न बोले जो सत्यामृषा हो, या मृषा हो और पंडितों द्वारा आचरित न हो।

अब तीसरी एषणासमिति का वर्णन करते हैं :—

द्विचत्वारिंशद्-भिक्षादोषैर्नित्यमदूषितम् ।
मुनिर्यदन्नमादत्ते, सैषणा-समितिर्मता ॥३८॥

अर्थ

मुनि हमेशा भिक्षा के ४२ दोषों से रहित जो आहार-पानी ग्रहण करता है, उसे एषणा-समिति कहते हैं।

व्याख्या

भिक्षा में लगने वाले ४२ दोषों को तीन विभागों में बांटा गया है—(अ) उद्गम-दोष, (ब) उत्पादनदोष और (स) एषणा-दोष।

इसमें प्रथम उद्गम के सोलह दोष गृहस्थों द्वारा लगते हैं। वे इस प्रकार से हैं—

(१) आधाकर्म, (२) औद्देशिक, (३) पूतिकर्म, (४) मिश्रजात, (५) स्थापना, (६) प्राभृतिका, (७) प्रादुष्कर, (८) क्रीत, (९) प्रामित्यक, (१०) परिवर्तित, (११) अभ्याहृत, (१२) उद्भिन्न, (१३) मालापहृत, (१४) आच्छेद्य (१५) अनिसृष्ट और (१६) अध्यवपूरक।

(१) **आधाकर्म**—मन में साधु मुनिराज का संकल्प करके सचित्त को अचित्त बनाए अथवा अचित्त पदार्थ भी साधु के लिए पकाए और इस प्रकार का आहार साधु ग्रहण करे तो वहाँ आधाकर्मी दोष लगता है।

(२) **औद्देशिक**—अमुक साधु को ही उद्देश्य करके बनाने का संकल्प करे और तैयार किए हुए लड्डू, चावल, रोटी, दाल आदि को गृहस्थ घी, शक्कर, दही, मसाले आदि से विशेष स्वादिष्ट बनाए, ऐसे आहार को लेने से औद्देशिक दोष लगता है।

(३) **पूतिकर्म**—शुद्ध निर्दोष आहार को साधुओं को देने की इच्छा से आधाकर्मी आहार में मिलाए, वहाँ पूतिकर्म दोष होता है।

(४) **मिश्रजात**- अपने और साधुओं के उद्देश्य से यह सोच कर कि हम भी खाएँगे और साधु भी खाएँगे ; इस विचार से बनाए आहार को लेने से मिश्रदोष माना है।

(५) **स्थापना**—खीर, लड्डू, पेड़े आदि बना कर साधुओं के देने की भावना से अलग रखे, उसे ले ले तो वहां स्थापित दोष लगता है।

(६) **प्राभृतिका** –उत्सव, विवाह आदि कुछ दिनों बाद होने वाला है ; किन्तु अभी साधु यहां है, उनके भी उपयोग में आ जाएगा ; इस बुद्धि से उस उत्सव आदि के प्रसंग को अभी चालू करके ले लें ; इस नीयत से जहां आहारादि बना कर साधु को दिया जाय उसे आगम-परिभाषा में प्राभृतिका दोष कहा है। अथवा उत्सव-प्रसंग निकट आ गया हो, लेकिन यह सोच कर कि जब साधु आएँगे, तभी यह उत्सव मनाएँगे, ताकि आहारादि देने का लाभ मिलेगा, ऐसा विचार कर उस प्रसंग को आगे ठेल दे, वहां भी यह दोष लगता है।

(७) **प्रादुष्करण**—अंधेरे में पड़ी हुई वस्तु को आग या दीपक के प्रकाश से ढूंढ कर अथवा दीवार या पर्दे को तोड़ कर बाहर लाना या प्रगट करना प्रादुष्करण दोष है।

(८) **क्रीत**—साधुओं के लिए मूल्य से खरीद कर वस्तुएं ला कर उन्हें दे दे, वहाँ क्रीतदोष होता है।

(९) **प्रामित्यक** – साधुओं को देने के लिए उधार ला कर आहार देना प्रामित्यक दोष है।

(१०) **परिवर्तित**—अपनी एक वस्तु को किसी दूसरे की वस्तु के साथ अदलाबदली करके साधुओं को देने पर परिवर्तित दोष होता है।

(११) **अभ्याहृत**—साधुओं को तकलीफ न हो, इस दृष्टि से अथवा दूसरे गांव से आहार आदि सामने ला कर उनको देना अभ्याहृत दोष है।

(१२) **उद्भिन्न**—घी, तेल आदि के बर्तनों पर लगे हुए मिट्टी आदि के लेप या आच्छादन आदि साधुओं के निमित्त दूर करके या उतार कर उनमें से साधुओं को देना, उद्भिन्न दोष है।

(१३) **मालापहृत**—निश्रेणी आदि रख कर उस पर चढ़ कर या नीचे नलघर आदि में उतर कर आहार आदि वस्तु देना; बहुत ऊपर से अथवा बहुत नीचे भोंयरे आदि से अथवा छींका आदि से उतार कर साधु को आहार देना मालापहृत दोष है।

(१४) **आच्छेद्य**- सेठ, राजा या चोर आदि से या अन्य किसी से उसकी वस्तु को छीन कर साधुओं को दे, उसे लेने से आच्छेद्य दोष लगता है।

(१५) **अनिःसृष्ट**—भोजन आदि कोई भी बहुत-से मनुष्यों की अथवा समूह की है। उन सब मनुष्यों या समूह की अनुमति लिए बिना कोई एक व्यक्ति अपनी मर्जी से ही साधुओं को भोजन आदि देता है तो वहाँ अनिःसृष्ट दोष लगता है।

(१६) **अध्यवपूरक**—अपने लिए खेत में धान बोया हो परन्तु साधु-महाराज का गांव में आगमन सुन कर उनके लिए भी धान आदि बोये, वहाँ अध्यवपूरक दोष लगता है। अथवा अपने लिए थोड़ा-सा पकाया हो, लेकिन साधुओं को देख कर हांडी आदि बर्तन मे और अधिक डाला गया हो, वहाँ भी यह दोष है।

इस प्रकार प्रथम उद्गम-दोष पूर्ण हुए।

(ब) **उत्पादन-दोष**— ये सोलह प्रकार के दोष साधुओं से लगते हैं। वे निम्नलिखित हैं—

(१) धात्रीपिंड (२) दूतिपिंड (३) निमित्तपिंड (४) आजीवपिंड (५) वनीपकपिंड (६) चिकित्सा पिंड (७) क्रोधपिंड (८) मानपिंड (९) मायापिंड (१०) लोभपिंड (११) पूर्वपश्चात् संस्तवपिंड (१२) विद्यापिंड (१३) मंत्रपिंड (१४) चूर्णपिंड (१५) योगपिंड और (१६) मूलकर्मपिंड।

इनका वर्णन निम्न प्रकार से है—

(१) **धात्रीपिंड**—साधु या साध्वी भिक्षा प्राप्त करने के लिए गृहस्थी के बालबच्चों को दूध पिला कर, स्नान करवा कर, वस्त्र, या आभूषण पहना कर, लाड-प्यार करके या उनको खिला कर तथा गोद में बिठा कर, ये और इस प्रकार के अन्य धात्रीकर्म (धायमाता की तरह का काम) करके भिक्षा प्राप्त करें तो वहाँ धात्रीपिंड दोष लगता है।

(२) **दूतिपिंड**—दूती की तरह एक दूसरे के संदेश पहुंचा कर आहार ले तो वहाँ दूतिपिंड दोष लगता है।

(३) **निमित्तपिंड** भूत, भविष्य और वर्तमानकाल के व्यापार-सम्बन्धी या अन्य सांसारिक लाभहानि बता कर निमित्त-कथन करके भिक्षा ग्रहण करे वहां निमित्तपिंड दोष लगता है।

(४) **आजीवपिंड**—अपनी जाति, कुल, गण, कर्म, व्यापार, शिल्प, कला आदि की बड़ाई करके आहार लेना या गृहस्थ के यहाँ नौकर की तरह कोई काम करके भिक्षा लेना आजीवपिंड दोष है।

(५) **वनीपकपिंड**—श्रमण, ब्राह्मण, क्षपण, अतिथि, श्वान, आदि के भक्तों के सामने अपने को भी उसका भक्त बता कर आहार के लिए स्वयं दर्शन दे और आहार ले वहाँ वनीपक-पिंड दोष होता है।

(६) **चिकित्सापिंड** -वैद्य बन कर वमन, विरेचन आदि रोग की औषधि बता कर आहार ले, वहां चिकित्सापिंड दोष लगता है।

(७) **क्रोधपिंड**—विद्या, तप आदि का प्रभाव बता कर या मेरी पूजा राजा की ओर से होती है, ऐसा कह कर गृहस्थों पर कोप करके या आहार नहीं दोगे तो मैं श्राप दे दूंगा इत्यादि प्रकार से धौंस बता कर आहार आदि लेना क्रोधपिंड दोष कहलाता है।

(८) **मानपिंड**—अपनी लब्धि, विद्या, प्रभाव आदि की प्रशंसा करके और छिछोरपन से, अगंभीररूप से या क्षुद्ररूप से दूसरों से प्रशंसा करवा कर अथवा अमुक गृहस्थ की निन्दा कर या करवा कर, अभिमान करके लिया हुआ आहार मानपिण्डदोष कहलाता है।

(९) **मायापिंड**—भिक्षा के लिए अलग-अलग वेश धारण करके या भाषा को बदल कर आहार लेना मायापिंडदोष है।

(१०) **लोभपिंड**—स्वादिष्ट आहार की अतिलालसा से भिक्षा के लिए इधर-उधर घूमना लोभपिंडदोष माना गया है।

(११) **पूर्वपश्चात्संस्तवपिंड**—साधु जहां आहार आदि लेने जाए, वहाँ उसके पूर्व परिचय वाले माता-पिता और पश्चात् परिचय वाले सास, श्वसुर आदि की प्रशंसा करके या अपने साथ उनके सम्बन्ध का परिचय दे कर लिया हुआ आहार पूर्व-पश्चातसंस्तव-पिंड है। विद्या, मन्त्र, चूर्ण और योग इन चारों का भिक्षाप्राप्ति के लिए उपयोग करे तो वह विद्यादिपिंड कहलाता है।

(१२) **विद्यापिंड**—स्त्री-देवता से अधिष्ठित मंत्र, जप, या होमादि से जो सिद्ध किया जाय, वह विद्या कहलाती है। इस प्रकार की विद्या का उपयोग करके आहार लेना विद्यापिंड-दोष है।

(१३) **मन्त्र-पिंड**—उच्चारणमात्र से सिद्ध होने वाला पुरुष-देवता-अधिष्ठित शब्द समूह मंत्र कहलाता है। अतः मंत्र का प्रयोग करके आहार लेना मंत्रपिंड कहलाता है।

(१४) **चूर्णपिंड**—जिस चूर्ण के प्रभाव से आखों में अंजन करने से अदृश्य हो जाय या और कोई प्रभाव हो ; ऐसे चूर्ण को लगा कर या गृहस्थ को ऐसा चूर्ण दे कर आहारादि लेना चूर्णपिंड दोष कहलाता है।

(१५) **योगपिंड**—सौभाग्य या दुर्भाग्य करने वाला लेप पैरों पर लगा कर विस्मय पैदा करना योग कहलाता है ; उसका प्रयोग करके आहारादि ग्रहण करना, योगपिंड कहलाता है।

(१६) **मूलकर्मपिंड**—गर्भ-स्तंभन, गर्भधारण, प्रसव, रक्षाबन्धन (कवच) आदि करके आहार आदि लेना मूलकर्मपिंड दोष है।

कुछ दोष गृहस्थ और साधु दोनों के निमित्त से लगते हैं; उन्हें एषणा-दोष कहते हैं।

एषणादोष के दस भेद हैं—

(१) शंकित (२) म्रक्षित, (३) निक्षिप्त, (४) पिहित (५) संहृत (६) दायक (७) उन्मिश्र (८) अपरिणत (९) लिप्त (१०) छर्दित।

इनका वर्णन इस प्रकार से है—

(१) **शंकित**—आधाकर्मादिक दोष की शंका होने पर भी आहार आदि ग्रहण करे तो वहाँ शंकित दोष लगता है।

(२) **म्रक्षित**—पृथ्वी, जल, वनस्पति आदि सचित्त पदार्थों का रक्त, मद्य, मांस, चर्बी आदि खराब अचित्त पदार्थों के साथ मिश्रित किये हुए अथवा उनसे लिप्त आहारादि जान कर ले तो वहाँ म्रक्षित दोष है।

(३) **निक्षिप्त**—पृथ्वीकायादि छह काय से युक्त सचित्त पदार्थों पर रखा हुआ आहारादि ले तो वहाँ निक्षिप्त दोष होता है।

(४) **पिहित**—सचित्त फल-फूल आदि से ढका हुआ आहार आदि ले, तो वहां पिहित दोष होता है।

(५) **संहृत**—देने के बर्तन में से जो खाद्य बेकार व अयोग्य हो उसे निकाल कर अथवा सचित्त पृथ्वी आदि में डाला हुआ भोजनादि दूसरे बर्तन में डाल कर दे और साधु ले ले तो वहाँ संहृत दोष माना गया है।

(६) **दायक**—अत्यन्त छोटा बालक हो, बूढ़ा हो, नपुंसक हो या जिसके हाथ-पैर कांप रहे हों, बुखार आ रहा हो, अंधा हो, अहंकारी या पागल हो या जिसके हाथ पैर कटे हुए हों, बेड़ी से जकड़ा हो, जो कूट रहा हो, पीस रहा हो, भुन रहा हो, सागभाजी आदि सुधार रहा हो, रुई आदि पींज रहा हो, बीज बो रहा हो, भोजन कर रहा हो, षड्जीवनिकाय की विराधना कर रहा हो। ऐसे दाता से साधु आहारादि तो दायक-दोष लगता है। थोड़े समय में प्रसूति होने वाली स्त्री, बालक को गोद में उठाई हुई स्त्री, बालक को दूध पिलाती स्त्री इत्यादि के हाथों से आहारादि ले तो भी दायकदोष लगता है।

(७) **उन्मिश्र**—देने योग्य द्रव्य, खांड, शक्कर आदि पदार्थ सचित्त धान्य आदि से मिला हो और उस आहार को लेवे तो वह उन्मिश्र दोष है।

(८) **अपरिणत**—पूरी तरह से अचित्त हुए बिना कोई भी पदार्थ साधु को देने पर वह ले ले तो, वहाँ अपरिणत दोष लगता है।

(९) **लिप्त**—चर्बी आदि से लिप्त हाथ या भोजन आदि से देवे तो वहां लिप्त दोष होता है।

(१०) **छर्दित**—तेल, घी, दूध, दही आदि के छींटे जमीन पर गिराते हुए दाता आहार दे और साधु ले ले तो वहां छर्दितदोष होता है; क्योंकि मधुबिन्दु की तरह नीचे गिरने से वहां कई जीवों की विराधना होने की संभावना है।

इस प्रकार उद्गम, उत्पादन और एषणा के दोष कुल मिला कर बयालीस होते हैं। इन दोषों से अदूषित, अशन, खाद्य आदि ग्रहण करना; उपलक्षण से सौवीर आदि का पानी तथा रजोहरण, मुखस्त्रिका, चोलपट्ट, आदि वस्त्र-पात्र वगैरह स्थविरकल्पियों के योग्य चौदह प्रकार की औघिक उपधि (उपकरण) जिनकल्पियों के योग्य बारह प्रकार की उपाधि, साध्वियों के योग्य पच्चीस प्रकार की और औपग्रहिक संथारा (आसन), पाट, पट्टे, बाजोट, चर्मदण्ड, दण्डासन आदि उक्त दोषों से अदूषित हों, उन्हें ग्रहण करना एषणासमिति है। रजोहरण आदि औधिक उपकरण तथा पट्टे, पाट, पटला, बाजोट, शय्या, चौकी आदि औपग्रहिक उपकरण के बिना सर्दी, गर्मी और वर्षाकाल में ठंड, धूप, वर्षा आदि से गीली या नम भूमि पर महाव्रत का रक्षण करना अशक्य है। अतः आहारादिसहित ये सब जीवनोपयोगी आवश्यक वस्तुएँ पूर्वोक्त दोषों से रहित हों, निर्दोष, कल्पनीय और विशुद्ध हों; उन्हें ही ग्रहण करने हेतु मुनि शोध करे उसे एषणा कहते हैं। आगम में कथित विधि के अनुसार आहारादि का अन्वेषण करना; उसके विषय में सम्यक् प्रकार के उपयोगपूर्वक यतना से प्रवृत्ति करना भी एषणा-समिति है। गवेषणा और ग्रासैषणा के भेद से यह एषणा दो प्रकार की है। ग्रासैषणा का अर्थ है—आहार-मंडली में बैठ कर साधु-साध्वी आहार का ग्रास मुह में लें; उस समय भी निम्नोक्त पांच दोष वर्जित करने चाहिए। वे पांच दोष इस प्रकार से हैं—

(१) संयोजना, (२) प्रामाणातिरिक्तता (अप्रमाण), (३) अंगार, (४) धूम और (५) कारणाभाव ।

आहार को स्वादिष्ट और चटपटा या रसदार बनाने के लोभ से गोचरी में आई हुई खाद्य-वस्तुओं के साथ खांड, घी या गर्म मसाला आदि (स्वादिष्ट बनाने के योग्य) दूसरे पदार्थ उपाश्रय में या बाहर मिला कर उन्हें स्वादिष्ट अथवा चटपटी बनाना प्रथम **संयोजना-दोष** है। धृति, बल, संयम तथा मन, वचन और काया का योग स्थिर रहे ; शरीर का निर्वाह हो सके, उतनी ही मात्रा में आहार करना चाहिए । मात्रा से अधिक आहार करने पर वमन आदि अनेकों व्याधियां और किसी समय मृत्यु तक हो जाती है । अतः प्रमाण से अधिक आहार करने पर दूसरा **प्रमाणातिरिक्तता या अप्रमाण** दोष लगता है । भोजन करते समय मिष्टान्न आदि स्वादिष्ट पदार्थों की या उन पदार्थों के दाता की प्रशंसा करना कि अहा ! यह कितना सुन्दर है ! कैसा स्वादिष्ट है ! वह दाता कितना उदार है !, इस प्रकार के कथन में रागरूपी आग पालन किये हुए चारित्ररूपी इन्धन को अंगार बना देती है; इस कारण तीसरे दोष को **अंगारदोष** बताया है । अस्वादिष्ट या नीरस आहार की या उसके देने वाले की निंदा करते हुए आहार करे तो साधु को चौथा **धूम्रदोष** लगता है । जिस प्रकार धुंआ महल की चित्रशाला को काला कर देता है, वैसे ही साधु निन्दारूपी धुंए से चारित्ररूपी महल या चित्रशाला को दूषित कर देता है । साधु को छह कारणों से आहार करना चाहिए – (१) क्षुधा—भूख सहन न होने पर (२) आचार्यादि बड़ों की सेवाभक्ति करने के लिए, (३) **ईर्या-समिति** आदि आठ प्रवचन-माता का अच्छी तरह पालन करने के लिये, (४) प्रेक्षा-उत्प्रेक्षा-संयम के पालन के लिए, (५) **प्रबाध**—जठराग्नि के उदय से प्राणों की रक्षा के लिए, (६) आर्त्तरौद्रध्यान का त्याग करके धर्मध्यान में स्थिरता लाने के लिये । इन ६ कारणों से साधु आहार करे । इनके अलावा और किसी कारण से आहार करे तो उसे पांचवां **कारणाभाव** नाम का दोष लगता है । कहा भी है कि—"उद्गम, उत्पादन, एषणा, संयोजन, अप्रमाण, अंगार, धूम्र और कारणाभाव नामक आहार-दोषों से रहित पिंड (आहार) का शोधन, अन्वेषण और बारीकी से विश्लेषण करते हुए आहारादि में प्रवृत्ति करने हेतु मुनियों के लिए एषणासमिति बताई है ।

अब चौथी आदान-निक्षेप-समिति का निरूपण करते हैं—

आसनादीनि संवीक्ष्य, प्रतिलेख्य च यत्नतः ।
गृह्णीयान् निक्षिपेद्वा यत् सादानसमितिः स्मृता ॥२६॥

अर्थ

आसनादि को दृष्टि से भलीभांति देख कर और रजोहरण आदि से प्रमार्जन कर यतनापूर्वक लेना अथवा रखना आदाननिक्षेपसमिति कहलाती है ।

व्याख्या

बैठने की भूमि या पाट ये आसन कहलाते हैं । आदि शब्द से वस्त्र, पात्र, पट्टा, दण्ड आदि उपकरणों का ग्रहण करना चाहिए । आशय यह है कि साधु के पास जो भी धर्मोपकरण हों ; उन्हें आंखों से भलीभांति दिन में देख कर, रात्रि को आंखों से जीवजन्तु न दीखें तो रजोहरण से या गुच्छक आदि से यतना पूर्वक प्रमार्जन करके उठाना या रखना चाहिए । इस तरह न किया जाय तो अच्छी तरह प्रति-लेखना नहीं होती । शास्त्र में कहा है कि—"प्रतिलेखन करते समय परस्पर बातें करे, देशकथादि करे, प्रत्याख्यान कराए, स्वयं वाचना दे या दूसरे से वाचना ले, तो वह साधक पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु,

वनस्पति और त्रस काय के जीवों का विराधक है और प्रतिलेखना में प्रमादी है ।" इसलिए जो कुछ भी उपकरण उठाए या रखे जांय, पहले उस पर दृष्टिपात करे, बाद में ओघे (रजोहरण) से उसका प्रमार्जन फिर उसे ग्रहण करे या रखे । इस प्रकार की प्रवृत्ति को आदान-निक्षेप-समिति कहते हैं । जैसे भीमसेन का संक्षेप में 'भीम' नाम से प्रयोग किया जाता है ; वैसे ही यहां इस समिति के विस्तृत नाम का संक्षिप्त 'आदान' शब्द से प्रयोग किया गया है ।

अब पांचवीं उत्सर्ग-समिति का विवरण प्रस्तुत करते हैं—

कफ-मूत्र-मलप्रायं, निर्जन्तु-जगतीतले ।
यत्नाद् उत्सृजेत्, साधुः सोत्सर्गसमितिर्भवेत् ॥४०॥

अर्थ

साधु जो कफ, मल, मूत्र आदि परिष्ठापन करने (डालने या फेंकने) योग्य पदार्थों को जीव-जन्तु-रहित जमीन पर यतना विधिपूर्वक त्याग (परिष्ठापन) करते हैं, वह उत्सर्ग-समिति है ।

व्याख्या

मुख, नाक आदि में से निकलने वाले कफ और श्लेष्म, मूत्र, विष्ठा आदि प्रायः शरीर के दूषित व फेंकने या डालने योग्य पदार्थ हैं । 'प्रायः' शब्द से परिष्ठापन-योग्य टूटे-फूटे या अवशिष्ट वस्त्र, पात्र, भोजन पानी आदि समझने चाहिए । इन सबका त्रस-स्थावर-जन्तु से रहित अचित्त पृथ्वीतल पर धूल या रेती में यतना से उपयोगपूर्वक उत्सर्ग करना ; उत्सर्गसमिति कहलाती है ।

अब तीन गुप्तियों में से प्रथम मनोगुप्ति के सम्बन्ध में कहते हैं—

विमुक्तकल्पनाजालं समत्वे सुप्रतिष्ठितम् ।
आत्मारामं मनस्तज्ज्ञैर्मनोगुप्तिरुदाहृता ॥४१॥

अर्थ

मन की कल्पना-जाल से मुक्ति, समभाव में स्थिरता और आत्मस्वरूप के चिन्तन में रमणता के रूप में रक्षा करने को पण्डितपुरुषों ने मनोगुप्ति कहा है ।

व्याख्या

यहां मनोगुप्ति (मन की दुष्प्रवृत्तियों से रक्षा) तीन प्रकार की बताई गई है—(१) आर्त्त-ध्यान और रौद्रध्यान के फलस्वरूप उठने वाले कल्पनाजाल से मन का वियोग कराना, (२) शास्त्रानुसारी, परलोक-साधक, धर्म-ध्यान करने वाली मध्यस्थ-परिणति या समता में मन को प्रतिष्ठापित करना, (३) कुशल-अकुशल मनोवृत्ति को रोक कर योग-निरोध अवस्था पैदा करने वाली आत्मरमणता अर्थात् आत्म-भाव में मन को लीन करना । इस दृष्टि से मनोगुप्ति के तीन विशेषण बता कर कहते हैं कि "आर्त्त-रौद्र-ध्यान से मन को मुक्त करके आत्मसमभाव में उसे स्थापित करना और आत्मगुणों में रमण कराना ही मनोनिग्रह के वास्तविक उपाय हैं । इन्हें ही मनोगुप्ति कहा है ।

अब वाग्गुप्ति का निरूपण करते हैं—

संज्ञादि-परिहारेण यन्मौनस्यावलम्बनम् ।
वाग्वृत्तेः संवृतिर्वा या सा वाग्गुप्तिरिहोच्यते ॥४२॥

अर्थ

संज्ञादि (इशारे आदि) का त्याग करके मौन का आलम्बन करना अथवा वचन की प्रवृत्तियों को रोकना या सम्यक् वचन की ही प्रवृत्ति करना, वचनगुप्ति कहलाती है।

व्याख्या

संज्ञा का अर्थ है—दूसरों को अभिप्राय सूचित करने हेतु मुख, नेत्र, भृकुटि चढ़ाने, अंगुली से बताने या चुटकी बजाने की चेष्टा करना ; आदि शब्द से कंकड़ फेंकना, उच्च स्वर से खांसना, हुं शब्द प्रगट करना इत्यादि चेष्टाएँ भी संज्ञा के अन्तर्गत समझना। इन सब संज्ञाओं का त्याग करके, बोलने की क्रिया बंद करके मौन धारण करना, अथवा वाणी की प्रवृत्ति को रोकना या कम करना तथा वैसा अभिग्रह करना **वचन-गुप्ति** है। यदि मौनावलम्बी साधक संज्ञा आदि से अपना अभिप्राय सूचित करता है; तो उसका मौन निष्फल हो जाता है। हाँ, आगम-सूत्रादि की वाचना देनी हो, तत्सम्बन्धी शंका पूछनी हो, अथवा शंका का उत्तर देना हो तो उस वागुप्ति में लोक या आगम से विरोध नहीं आता। इसी तरह मुख पर वस्त्रिका रख कर बोलना अथवा वाणी पर नियन्त्रण करना भी **वाग्गुप्ति का दूसरा प्रकार** है। इन दोनों प्रकारों से दूषित वाणी के सर्वथा निरोध का, दूषित वाणी से वागिन्द्रिय की रक्षा करने का अथवा मौन रखने का, इन तीनों रूपों का प्रतिपादन किया है। भाषासमिति सम्यक्-प्रकार से बोलना है और वाग्गुप्ति वाणी की दूषणों से सम्यक् प्रकार से रक्षा करना है। इस तरह वागुप्ति और भाषा-समिति में इतना-सा भेद है। इसीलिए कहा है कि—"समिति वाला निश्चय ही गुप्ति वाला होता है ; किन्तु गुप्ति वाला समिति वाला होता भी है और नहीं भी (भजना वाला) होता है। कुशल वाणी को बोलते समय साधक वाग्गुप्ति और भाषासमिति दोनों से युक्त होता है।

उपसर्ग-प्रसंगेऽपि कायोत्सर्गजुषो मुनेः ।
स्थिरीभावः शरीरस्य कायगुप्तिर्निगद्यते ॥४३॥

अर्थ

कायोत्सर्ग (ध्यान) से युक्त मुनि के द्वारा उपसर्ग के प्रसंग में भी शरीर को स्थिर या निश्चल रखना काय-गुप्ति (प्रथम) कहलाती है।

व्याख्या

देवता, मनुष्य और तिर्यंचों द्वारा किये गए उपद्रव उपसर्ग कहलाते हैं। यहां 'अपि' शब्द से उपलक्षण से क्षुधा, तृषा आदि बाईस परिषहों या दुष्कर्मोदय-जनित संकटों या अभावों को भी समझ लेना चाहिए। फलितार्थ यह हुआ कि इन सब उपसर्ग आदि प्रसंगों पर मुनि द्वारा काया के प्रति निरपेक्ष हो कर उसे निश्चल या स्थिर रखना अथवा योगों की चपलता का निरोध करना कायागुप्ति कहलाती है।

अब दूसरी कायागुप्ति का निरूपण करते हैं—

शयनासन-निक्षेपादान-चंक्रमणेषु यः ।
स्थानेषु चेष्टानियमः कायगुप्तिस्तु साऽपरा ॥४४॥

अर्थ

सोना, बैठना, रखना, लेना और चलना आदि कार्यों की क्रियाओं या चेष्टाओं पर नियंत्रण (नियमन) रखना व स्वच्छंद प्रवृत्ति का त्याग करना, दूसरे प्रकार की कायगुप्ति है।

व्याख्या

आगम में रात को ही निद्रा-काल बताया गया है। इस दृष्टि से साधु को मुख्यतया दिन में शयन करने का निषेध किया है। बीमारी, अशक्ति या विहार की थकावट अथवा वृद्धावस्था आदि के सिवाय साधक को दिन में सोना नहीं चाहिए। रात को भी पहर बीत जाने के बाद, गुरुमहाराज के सो जाने पर सीमित (अपने कद के अनुसार मर्यादित) जगह देख कर जमीन को पूंज कर संस्तारक (बिछाने का आसन) और उत्तरपट्टा खोल कर और बिछा कर काया का सिर से पैर तक (ऊपर से नीचे तक) मुखवस्त्रिका, प्रमार्जनिका, एवं रजोहरण से प्रमार्जन कर संस्तारक (बिछौना) करने के लिए गुरुमहाराज की आज्ञा ले कर, 'नमस्कारमंत्र' और सामायिक सूत्र ('करेमि भंते सामाइयं') पढ़ कर, दाहिने हाथ का तकिया बना कर, पैरों को सिकोड़ कर अथवा मुर्गे के समान आकाश में पैर रख कर प्रमार्जन करके फिर भूमि पर रखे। फिर संकोच करने के समय प्रमार्जनिका से या रजोहरण की फलियों से प्रमार्जन करे और करवट लेते समय मुखवस्त्रिका से शरीर प्रमार्जन करे, किन्तु दोनों समय में अति-तीव्र निद्रा से शयन न करे। जहां रहे, वहां प्रमाणोपेत वसति में से तीन हाथ परिमाण वाले प्रदेश में प्रत्येक साधु अपने पात्रादि तमाम उपकरणों को समाविष्ट कर दे। जिस आसन या स्थान पर बैठने की इच्छा हो, पहले उसे चक्षु से निरीक्षण कर रजोहरण से प्रमार्जन करे। बाहर का रजोहरण-सम्बन्धी निशिथिया बिछा कर बैठे, बैठने के बाद भी पैर लम्बे करने हों या सिकोड़ने हों तो पहले कहे अनुसार निरीक्षण व प्रमार्जन करे। चौमासे के काल में चटाई, दर्भासन व पट्टे आदि पर उपर्युक्त समाचारी से बैठे। दण्ड आदि उपकरण का भी निरीक्षण करके प्रमार्जन करे। आवश्यक कार्य के लिए साधु को बाहर जाना हो तो आगे धूसर-प्रमाण प्रदेश में दृष्टि डाल कर अप्रमाद-भाव से त्रस और स्थावर जीवों का रक्षण करते हुए धीमी-धीमी गति से गमन करना प्रशस्त है, कायोत्सर्गस्थ हो कर खड़े रहने के या सहारा ले कर बैठने के संस्तारक को पहले नजर डाल कर पडिलेखन और फिर दण्डासन से प्रमार्जन करना चाहिए। इन सभी चेष्टाओं पर नियंत्रण रखना, और स्वच्छन्द चेष्टाओं का त्याग करना, दूसरे प्रकार की कायागुप्ति है।

अब पांच समितियों और तीन गुप्तियों का आगम-प्रसिद्ध मातृत्व बताते हैं—

एताश्चारित्रगात्रस्य जननात् परिपालनात्।
संशोधनाच्च साधूनां मातरोऽष्टौ प्रकीर्त्तिता ॥४५॥

अर्थ

उपर्युक्त पांच समितियां और तीन गुप्तियां साधुओं के चारित्र-रूपी शरीर को माता की तरह जन्म देने से, उसका परिपालन करने से तथा उसकी अशुद्धियों को दूर करने के कारण व उसे स्वच्छ निर्मल रखने के कारण 'आठ प्रवचन-माता' के नाम से प्रसिद्ध हैं।

व्याख्या

समितियां और गुप्तियां शास्त्र में आठ माताओं के नाम से प्रसिद्ध हैं। मातृत्व के कारण ये हैं—जैसे माता पुत्र के शरीर को जन्म देती है, दुग्धादि पिला कर शरीर का रक्षण करती है और

मल-मूत्र साफ करके बालकों को स्वच्छ रखती है ; वैसे ही साधुओं के चारित्ररूपी शरीर को जन्म देने वाली, उपद्रव का निवारण करके पालन करने वाली, पोषण करके बढ़ाने वाली अतिचार से मलिन हो तो उसे साफ करके निर्मल करने वाली ये अष्टप्रवचनमाताएँ हैं।

अब चारित्र का वर्णन करके उपसंहार करते हैं—

सर्वात्मना यतीन्द्राणामेतच्चारित्रमीरितम् ।
यति-धर्मानुरक्तानां देशतः स्यादगारिणाम् ॥४६॥

अर्थ

उपरिवर्णित महाव्रत और अष्ट प्रवचन माताएं सर्वविरतिचरित्र धारण करने वाले मुनीन्द्रों के लिए हैं और यति (साधु) धर्म पर अति-अनुराग रखने वाले श्रमणोपासकों गृहस्थों के लिए तो देश से (आंशिक) चरित्र होता है।

व्याख्या

सर्वविरति और देशविरति ये चारित्र के दो प्रकार कहे हैं। समस्त सावद्य (पापकारी) व्यापारों का सर्वथा त्याग करना सर्वविरतिचारित्र है। वह सर्वविरतिचारित्र (श्रेष्ठ साधुधर्म) मूलगुण और उत्तरगुण-स्वरूप होता है। देश-चारित्र के अधिकारी कौन है ? इसके उत्तर में कहते हैं कि—धातुओं के अनेक अर्थ होने से यहां यह अर्थ भी गृहीत है कि देशविरति-गृहस्थ, देशविरतिचारित्रधारक होते हुए भी सर्वविरतिचारित्र में अत्यन्त अनुरागी होना चाहिए। गृहस्थों का एक देश से (आंशिक) चारित्र होता है। गृहस्थ कैसा होता है ? गृहस्थाश्रम में रहने से परिवार के पालन-पोषण, आजीविका, आदि प्रपंचों में ग्रस्त होने के कारण व संघयण आदि दोष के कारण वह सर्वविरति की आराधना नहीं कर सकता। कहा भी है—"देशविरति-परिणाम वाला श्रावक सर्व-विरति का अभिलाषी होता है। यतिधर्म के प्रति अनुराग के बिना गृहस्थ-श्रावकों का श्रावकव्रत तो सम्भव है, लेकिन समय-समय पर उनके व्रतों में अतिचार (दोष) लगने पर उसकी शुद्धि के लिए आलोचना, प्रायश्चित्त आदि तथा चेतावनी एवं अतिथिसंविभागव्रत का पालन भी सर्वविरति श्रमण के होने पर ही संभव है। इसलिए श्रमणोपासकों का श्रमणों से अनुबद्ध होना अनिवार्य है।

देशविरति-चारित्र वाला गृहस्थ धर्माधिकारी कैसे बन सकता है ? इसे बताने के लिए 'तथाहि' कह कर उसकी प्रस्तावना करते हैं—

धर्माधिकारी-मार्गानुसारी की योग्यता

न्या[illegible]सम्पन्नविभवः [illegible]शिष्टाचा[illegible]-प्रशंसकः ।
कुलशीलसमैः सार्द्धं कृतोद्वाहोऽन्यगोत्रजैः ॥४७॥
अवर्णवादी न क्वाऽपि राजादिषु विशेषतः ।
अनतिव्यक्तगुप्ते च स्थाने [illegible]प्रातिवेश्मिके ॥४८॥
अनेकनिर्गम[illegible]रविवर्जितनिकेतनः ॥४९॥
कृतसंगः स[illegible]चारैर्माता-पित्रोश्च पूजकः ।
त्यजन्नुपप्लुतं स्थानमप्रवृत्तश्[illegible] गर्हिते ॥५०॥

व्ययमायोचितं कुर्वन् वेषं वित्तानुसारतः ।
अष्टभिर्धीगुणैर्युक्तः शृण्वानो धर्ममन्वहम् ॥५१॥
अजीर्णे भोजनत्यागी काले भोक्ता च सात्म्यतः ।
अन्योन्याऽप्रतिबन्धेन त्रिवर्गमपि साधयन् ॥५२॥
यथावदतिथौ साधौ दीने च प्रतिपत्तिकृत् ।
सदाऽनभिनिविष्टश्च पक्षपाती गुणेषु च ॥५३॥
अदे[illegible]श्चर्यां त्यजन् जानन् बलाबलम् ।
वृत्तस्थज्ञानवृद्धानां पूजकः पोष्य-पोषकः ॥५४॥
[illegible]र्घदर्शी विशेषज्ञः कृतज्ञो लोकवल्लभः ।
सलज्जः सदयः सौम्यः परोपकृतिकर्मठः ॥५५॥
अ[illegible]रंगारिषड्वर्ग-परिहार-परायणः ।
वशीकृतेन्द्रियग्रामो गृहिधर्माय कल्पते ॥५६॥
(दशभिः कुलकम्)

अर्थ

(१) जिसका धन-वैभव न्याय से उपार्जित हो (२) शिष्टाचार (उत्तम आचरण) का प्रशंसक (३) समान कुल-शील वाले अन्य गोत्र के साथ विवाह करने वाला, (४) पापभीरु (५) प्रसिद्ध देशाचार का पालक, (६) किसी का भी अवर्णवादी नहीं; विशेषकर राजादि के अवर्णवाद का त्यागी (७) उसका घर न अतिगुप्त होगा और न अतिप्रगट तथा उसका पड़ौस अच्छा होगा और उसके मकान में जाने-आने के अनेकद्वार नहीं होंगे। (८) सदाचारी का सत्संग करने वाला, (९) माता-पिता का पूजक, (१०) उपद्रव वाले स्थान को छोड़ देने वाला (११) निंदनीय कार्य में प्रवृत्ति नहीं करने वाले, (१२) आय के अनुसार व्यय करने वाला, (१३) वैभव के अनुसार पोशाक धारण करने वाला, (१४) बुद्धि के आठ गुणों से युक्त, (१५) हमेशा धर्मश्रवणकर्ता, (१६) अजीर्ण के समय भोजन का त्यागी, (१६) भोजनकाल में स्वस्थता से पथ्ययुक्त भोजन करने वाला, (१८) धर्म, अर्थ और काम तीन वर्गों का परस्पर, अबाधकरूप से साधक, (१९) अपनी शक्ति के अनुसार अतिथि, साधु एवं दीन-दुखियों की सेवा करने वाला, (२०) मिथ्या-आग्रह से सदा दूर (२१) गुणों का पक्षपाती, (२२) निषिद्ध देशाचार एवं निषिद्ध कालाचार का त्यागी, (२३) बलाबल का सम्यक् ज्ञाता, (२४) व्रत-नियम में स्थिर ज्ञानवृद्धों का पूजक (२५) आश्रितों का पोषक (२६) दीर्घदर्शी (२७) विशेषज्ञ (२८) कृतज्ञ (२९) लोकप्रिय (३०) लज्जावान (३१) दयालु (३२) शान्तस्वभावी (३३) परोपकार करने में कर्मठ (३४) कामक्रोधादि अंतरंग छह शत्रुओं को दूर करने में तत्पर (३५) इन्द्रिय-समूह को वश में करने वाला ; इन पूर्वोक्त ३५ गुणों से युक्त व्यक्ति गृहस्थधर्म (देशविरतिचारित्र) पालन करने के योग्य बन सकता है।

व्याख्या

(१) **न्यायसम्पन्न-विभव**—नीतिमान गृहस्थ को सर्वप्रथम स्वामिद्रोह, मित्रद्रोह, विश्वास-घात तथा चोरी आदि निंदनीय उपायों का त्याग करके अपने-अपने वर्ण के अनुसार सदाचार और न्याय-नीति से ही उपार्जित धन-वैभव से सम्पन्न होना चाहिए। न्याय से उपार्जित किया हुआ धन-वैभव ही इस लोक में हितकारी हो सकता है। जिसका धन न्यायोपार्जित होता है; वह निःशंक हो कर अपने शरीर से उसका फलोपभोग भी कर सकता है; और मित्रों एवं स्वजनों को भी यथायोग्य बांट सकता है। कहा है—"अपने पुरुषार्थ और बल से उपार्जित करने वाला धीर पुरुष स्वाभिमानी और प्रत्येक स्थान में पवित्र तथा निःशङ्क होता है और बुरा कार्य करने वाला तथा अपनी आत्मा को कुकर्म से मलिन करने वाला पापी प्रत्येक स्थान पर शंकाशील होता है।" नीतिमान गृहस्थ परलोक के हित के लिए अपने न्यायार्जित धन का विनियोग सप्त-क्षेत्ररूपी सत्पात्र में कर सकता है तथा दीनों, अनाथों आदि पर अनुकम्पा करके उन्हें दान दे सकता है; किन्तु अन्याय से इकट्ठे किए हुए धन से तो दोनों लोकों में अहित ही होता है। अन्याययुक्त कार्य लोकविरुद्ध होने से उसके कर्ता को इस लोक में वध, बंधन, अपकीर्ति आदि मिलते हैं; और परलोक में भी उक्त पाप से नरकादि दुर्गति में भ्रमण करना पड़ता है। कदाचित् किसी अन्याय-अनीतिमान व्यक्ति को पापानुबन्धी पुण्यकर्म के योग से इस लोक में विपत्ति नजर न आए; परन्तु भविष्य में या आगामी भव में तो उस पर अवश्य ही विपत्ति आती है। कहा भी है—"अर्थ के मोह में अन्धा बना हुआ जीव पापकर्म करके किसी भी समय उसका फल अवश्य प्राप्त करता है। कांटे में पिरोये हुए मांस के समान उसका नाश किये बिना उस पाप का अन्त नहीं आता।" इसलिए न्यायवृत्ति एवं परमार्थदृष्टि से धन-उपार्जन करना ही श्रेष्ठ उपाय है, जिसके लिए कहा है—'जैसे मेंढक जलाशयों की ओर एवं पक्षी पूर्ण सरोवर की तरफ स्वतः खिंचे चले आते हैं, वैसे ही शुभकर्म वाले व्यक्ति के पास सभी संपत्तियां वशीभूत हो कर चली आती हैं।' "गृहस्थ-जीवन में धन-वैभव प्रधान कारण होने से प्रथम '**न्यायसम्पन्नविभव**' नाम का गुण बताया है।

(२) **शिष्टाचार-प्रशंसक**—शिष्ट पुरुष वह कहलाता है, जो व्रत, तप आदि करता हो, ज्ञान वृद्धों की सेवा से जिसे विशुद्ध शिक्षा मिली हो, विशेषतः जिसका सुन्दर आचरण हो, उदाहरण के तौर पर वह लोकापवाद से डरता हो, दीन-दुखियों का उद्धार करने वाला हो, प्रत्येक मनुष्य का आदर करता हो, कृतज्ञ हो और दाक्षिण्य-गुणों से युक्त हो। इन सब गुणों से युक्त पुरुष को सदाचारी (शिष्ट) कहा जाता है। सद्गृहस्थ को उसके आचार-विचार का प्रशंसक—समर्थक होना चाहिए। शिष्ट पुरुषों के आचार में ऐसा होता है—आपत्तिकाल में उत्तम स्थान को न छोड़ें, महापुरुषों का अनुसरण करे, जन-प्रिय एवं प्रामाणिक (न्यायनीतियुक्त) वृत्ति से जीवन-निर्वाह करे; प्राणत्याग करने का अवसर आए तो भी निन्दनीय कार्य नहीं करे, दुर्जन से कभी याचना न करे, मित्रों से जरा भी धन नहीं मांगे। सच-मुच इस तरह का दुष्कर एवं असिधारा के समान कठोर व्रत सज्जनों को किसने सिखाया होगा?

(३) **समानकुल और शील वाले भिन्नगोत्रीय के साथ विवाह-सम्बन्ध**—पिता, दादा आदि पूर्वजों के वंश के समान (खानदानी) वंश हो; मद्य, मांस आदि दुर्व्यसनों के त्यागरूपी शील-सदाचार भी समान हो, उसे समानकुलशील कहते हैं। उस प्रकार के कुलशीलयुक्त वंश के एक पुरुष से जन्मे हुए स्त्री-पुरुष एकगोत्रीय कहलाते हैं, जबकि उनसे भिन्न गोत्र में जन्मे हुए भिन्नगोत्रीय कहलाते हैं। तात्पर्य

यह है कि पूर्वोक्त लक्षण के अनुसार समानकुलशील वाले भिन्न-गोत्रीय के साथ ही सद्गृहस्थ को विवाह-सम्बन्ध करना चाहिए। अग्नि (एवं पंचों) की साक्षी से पाणिग्रहण करना विवाह कहलाता है। वह विवाह लोकव्यवहार में आठ प्रकार का कहा है—(१) वस्त्राभूषण से सुसज्जित करके कन्यादान करना ब्राह्म विवाह कहलाता है। (२) वैभव का विनियोग करके कन्यादान करना प्राजापत्य विवाह है। (३) गाय, बैल आदि के दानपूर्वक कन्यादान करना आर्ष विवाह है। (४) जिस विवाह में यज्ञ करने के हेतु यजमान याज्ञिक को दक्षिणा में कन्यादान दे, वह दैव-विवाह है। ये चारों धर्म्यविवाह कहलाते हैं। (५) माता-पिता या भाई की अनुमति के बिना परस्पर के अनुराग से गुप्तरूप से प्रेम-सम्बन्ध जोड़ लेना गांधर्वविवाह कहलाता है। (६) किसी शर्त के बन्धन में आ कर कन्यादान देना, असुर-विवाह है। (७) बलात्कार से कन्या का अपहरण करके विवाह करना राक्षस-विवाह है और (८) सोई हुई अथवा प्रमत्त-दशा में पड़ी हुई कन्या का अपहरण करके विवाह कर लेना पिशाच-विवाह है। ये चारों अधार्मिक विवाह हैं। यदि वर और कन्या दोनों की सम्मति से प्रसन्नतापूर्वक विवाह हो तो वह अधार्मिक विवाह भी धार्मिक विवाह बन जाता है। उत्तम-कुलशील वाली शुद्ध कन्या के साथ विवाह लाभदायक और सफल होता है। किन्तु बुरी स्त्री के साथ विवाह-सम्बन्ध से इस लोक में भी क्लेश-कलह होता है, परलोक में भी नरक मिलता है। सच्चरित्र शुद्ध कुलीन गृहिणी के किसी परिवार में आने के सुफल ये है-- (१) वह वधू की रक्षा करती है, (२) सुपुत्रों को जन्म देती है, उन्हें संस्कारी बनाती है, (३) चित्त मे अखण्ड शान्ति रहती है, (४) गृहकार्यों की सुव्यवस्था रखती है। (५) उससे श्रेष्ठ कुलाचार की विशुद्धि की सुरक्षा होती है। (६) देव, गुरु, अतिथि, बन्धु-बान्धव, सगे-सम्बन्धी, मित्र आदि का घर में सत्कार होता है। इसी तरह वधू की रक्षा के उपाय बताते हैं—(१) उसे घर के कार्यों में नियुक्त करना, (२) उसे यथोचित धन सौंपना, (३) उसे स्वच्छन्दता से रोकना, स्वतंत्रता की ओर मोड़ना, (४) उस नारीजनसमूह में मातृत्वतुल्य वात्सल्य देना और वैसा वात्सल्य-व्यवहार करना सिखाना।

(४) **पापभीरु**—दृष्ट और अदृष्ट दुःख के कारणरूप कर्मों (पापो) से डरने वाला पापभीरु कहलाता है। उसमें चोरी, परदारागमन, जुआ, आदि लोक-प्रसिद्ध पापकर्म है, जो इस लोक में प्रत्यक्ष हानि पहुंचाने वाले हैं। सांसारिक विडम्बनाएँ पैदा करने के कारण हैं। मद्यपान से अपार वेदना भोगनी पड़ता है, यह शास्त्रों में बताया गया है। हानि पहुँचाने के ये परोक्ष कारण है।

(५) **प्रसिद्ध देशाचार का पालक**—सद्गृहस्थ को शिष्ट-पुरुषों द्वारा मान्य, चिरकाल से चले आते हुए परम्परागत वेश-भूषा, भाषा, पोशाक, भोजन आदि सहसा नहीं छोड़ने चाहिए। अपने समग्र ज्ञातिमंडल के द्वारा मान्य प्रचलित विविध रीतिरिवाजों व क्रियाओं का अच्छी तरह पालन करना चाहिए। देश या जाति के आचारों का उल्लंघन करने से उस देश और जाति के लोगों का विरोध होने से व्यक्ति उनका कोपभाजन तथा अकल्याण का कारण-भूत बनता है।

(६) **अवर्णवादी न होना** अवर्णवाद का अर्थ है—निन्दा। सद्गृहस्थ को किसी का भी अवर्णवाद नहीं करना चाहिए; चाहे वह व्यक्ति जघन्य हो, मध्यम हो या उत्तम। दूसरे की निन्दा करने से मन में घृणा, द्वेष, वैरविरोध तो होगा ही; इससे अनेक दोषों के बढ़ने की भी सम्भावना है। दूसरे की निंदा और अपनी प्रशंसा करने से व्यक्ति नीच-गोत्र कर्मबन्ध करता है। जो अनेक जन्मों में उदय में आता है। वह नीचगोत्र करोड़ों जन्मों में भी नहीं छूटता। इस प्रकार सामान्य जनसम्बन्धी अवर्णवाद (निंदा) जब हानिकारक है, तो फिर बहुजनमान्य राजा, मन्त्री, पुरोहित आदि का तो कहना ही क्या?

अतः ऐसे विशिष्ट लोगों की निन्दा का खासतौर से त्याग करना चाहिए ; क्योंकि उससे तत्काल विपरीत परिणाम आता है।

(७) **सद्गृहस्थ के रहने का स्थान**—सद्गृहस्थ के रहने का घर ऐसा हो, जहाँ आने-जाने के द्वार अधिक न हो; क्योंकि अनेकों द्वार होने से चोरी, जारी आदि का भय होता है। इसलिए अनेक द्वारों का निषेध करते हुए कहते हैं कि 'गृहस्थ को कम द्वार वाले एवं सुरक्षित घर में रहना चाहिए और घर भी योग्य स्थान में हो। जहां हड्डियों आदि का ढेर न हो, तीक्ष्ण कांटे न हो तथा घर के आस-पास बहुत-सी दूब, घास, प्रवाल, पौधे, प्रशस्त वनस्पति उगी हुई हो। जहाँ मिट्टी अच्छे रंग की और सुगन्धित हो, जहां का पानी स्वादिष्ट हो, ऐसे स्थान को प्रशस्त माना गया है। स्थान के गुण-दोष शकुनशास्त्र, स्वप्नशास्त्र, या उस विषय के शास्त्र आदि के बल से जाने जा सकते हैं। इसी तरह स्थान का और भी विशेष वर्णन करते हैं—'वह मकान न अतिप्रकट हो और न अतिगुप्त हो। अतिप्रकट होने से अर्थात् बिल्कुल खुली जगह में होने से उपद्रव की सम्भावना रहती है। और अतिगुप्त होने से चारों तरफ से घरों के कारण घिरा रहने से घर की शोभा छिप जाती है। आग लगने पर ऐसे मकान से बाहर निकलना बड़ा कठिन होता है। तो फिर स्थान कैसा होना चाहिए ? तीसरी बात, जो घर के सम्बन्ध में देखनी चाहिए, वह है—अच्छे सदाचारी पड़ौसी का होना। बुरे या गंदे आचरण वाले पड़ौसी, जिस घर के पास होंगे, वहां उनका वार्तालाप सुन कर, उनकी चेष्टाएँ देख कर, गुणी लोगों के गुणों की भी हानि हो जाएगी। शास्त्र में खराब पड़ौसी इस प्रकार के बताए गए हैं—वेश्या, दासी, नपुंसक, नर्तक, भिक्षुक, मंगता, कंगाल, चांडाल, मछुआ, शिकारी, मांत्रिक-तांत्रिक (अघोरी), नीचजातीय भील आदि। इस प्रकार के पड़ोसियों का होना अच्छा नहीं होता। इसलिए ऐसे पड़ौसियों से दूर रहना चाहिए।

(८) **सदाचारी के साथ संगति**—सद्गृहस्थ के लिए सत्संग का बड़ा महत्व है। जो इस लोक और परलोक में हितकर प्रवृत्ति करते हों, उन्हीं की संगति अच्छी मानी गई है, जो खल, ठग, जार, भाट, क्रूर, सैनिक, नट आदि हों उनकी संगति करने से अपने शील का नाश होता है। नीतिकारों ने कहा है—"यदि तुम सज्जन पुरुषों की संगति करोगे तो तुम्हारा भविष्य सुधर जायेगा और दुर्जन का सहवास करोगे तो भविष्य नष्ट हो जाएगा। अव्वल तो संग (आसक्ति) सर्वथा त्याज्य है, लेकिन करना ही है तो सज्जन पुरुषों का सग करना चाहिए, क्योंकि सत्पुरुषों का संग औषधरूप होता है।

(९) **माता-पिता का पूजक**—वही सद्गृहस्थ उत्तम माना जाता है, जो तीनों समय माता-पिता को नमस्कार करता है ; उनको परलोक-हितकारी धर्मानुष्ठान में लगाता है ; उनका सत्कार-सम्मान करता है तथा प्रत्येक कार्य में उनकी आज्ञा का पालन करता है। अच्छे रंग और सुगन्ध वाले पुष्प-फलादि पहले उन्हें दे कर बाद में स्वयं उपयोग करता है। उनको पहले भोजन करवा कर फिर स्वयं भोजन करता है। जो ऐसा नहीं करता उसके परिवार में विनय की परम्परा नहीं पड़ सकेगी, तथा वहाँ प्रायः उच्छृंखल, अविनीत, बहुत बकझक करने वाले, कलहकारी बढ़ेंगे। इसलिए माता-पिता की सेवा-भक्ति-पूजा प्रत्येक गृहस्थ को करनी चाहिए। माता को पहला स्थान इसलिए दिया गया है कि पिता की अपेक्षा माता अधिक पूजनीय होती है। इसलिए "पिता-माता" नहीं कह कर "माता-पिता" कहा जाता है और मां को प्रथम स्थान दिया जाता है। मनुस्मृति में कहा है कि "दस उपाध्यायों के बराबर आचार्य होता है, सौ आचार्यों के बराबर एक पिता और हजार पिताओं के बराबर एक माता होती है। इस कारण माता का गौरव अधिक है।

(१०) **जो उपद्रव वाले स्थान को शीघ्र छोड़ देता है**—अपने राज्य या दूसरे देश के राज्य की ओर से भय हो, दुष्काल हो, महामारी आदि रोग का उपद्रव हो, महायुद्ध छिड़ गया हो, लोगों के विरोध होने से उस स्थान, गांव या नगर आदि में सर्वत्र अशान्ति पैदा हो गई हो, रात-दिन लड़ाई-झगड़ा रहता हो तो सद्गृहस्थ को वह स्थान शीघ्र छोड़ देना चाहिए। यदि वह उस स्थान का त्याग नहीं करता है तो पहले के कमाये हुए धर्म, अर्थ और काम का भी विनाश कर बैठता है और नवीन उपार्जन नहीं कर सकने से अपने दोनों लोक बिगाड़ता है।

(११) **निन्दनीय कार्य का त्यागी** सद्गृहस्थ को देश, जाति एवं कुल की दृष्टि से गर्हित-निन्दित कार्य में प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिए। उदाहरण के तौर पर, देश की दृष्टि से गर्हित जैसे सौवीर देश में खेती और लाटदेश में मदिरापान, निन्दनीय माने जाते हैं। जाति की अपेक्षा से 'ब्राह्मण का सुरापान करना, तिल, नमक आदि का व्यापार करना निन्द्य माना जाता है। कुल की अपेक्षा से चौलुक्य वंश में मदिरापान निन्द्य समझा जाता है। इस प्रकार देश, कुल और जाति की दृष्टि से ऐसे निन्दनीय कार्य करने वाले लोग अन्य अच्छे धार्मिक कार्य करते हैं तो भी लोगों में हंसी के पात्र समझे जाते हैं।

(१२) **आय के अनुसार व्यय करना**—सद्गृहस्थ को सदा यह सोच कर ही खर्च करना चाहिए कि मेरी आय कितनी है ? उसे अपने परिवार के लिए, आश्रितों के भरण-पोषण के लिए, अपने निजी उपयोग के लिए तथा देवता और अतिथियों के पूजन-सत्कार में द्रव्य खर्च करने से पहले यह देखना चाहिए कि मुझे अपनी खेती, पशुपालन या व्यापार आदि से कितनी आय है ? यह देख कर ही तदनुसार खर्च करना चाहिए। नीतिशास्त्र में कहा गया है—"व्यापार आदि में जो कमाई हुई हो, तदनुसार ही दान देना, लाभ के अनुसार उपभोग करना और उचित रकम बचा कर अमानत (सुरक्षित) निधि के रूप में (संकट के अवसरों पर) रखना चाहिए।" कई नीतिकारों ने कहा है—'कमाई के अनुसार चार विभाग करने चाहिए। अपनी आय का चौथा भाग भंडार में रखना चाहिए। चौथा भाग ब्याज या व्यापार में, चौथा भाग धर्मकार्य और उपभोग में और चौथा भाग आश्रितों के भरण-पोषण में लगाए।' कुछ नीतिकारों का कहना है कि, 'कमाई हुई रकम में से आधी से अधिक रकम धार्मिक कार्यों में लगाए और शेष बची हुई थोड़ी रकम सक्रिय होकर इस लोक के कार्य में लगाए। यदि गृहस्थ अनुचितरूप से अनापसनाप खर्च करता है, तो जैसे दिनोंदिन बढ़ता हुआ रोग शरीर को दुर्बल बना देता है वैसे ही समग्र वैभव भी प्रतिदिन के अत्यधिक अव्यय से पुरुष को सभी सुव्यवहारों के लिए असमर्थ बना देता है। और भी कहा है—कि आय और व्यय का हिसाब किये बिना जो कुबेर के समान अत्यधिक खर्च करता है, वह थोड़े ही समय में भिखारी बन जाता है।

(१३) **संपत्ति के अनुसार वेशधारण**·सद्गृहस्थ को अपनी सम्पत्ति, हैसियत, वैभव, अवस्था देश, काल और जाति के अनुसार ही वस्त्र, अलंकार आदि धारण करना चाहिए। जो अपनी हैसियत या सम्पत्ति के अनुसार पोशाक धारण नहीं करता; प्रत्युत तड़कीली-भड़कीली पोशाक पहन कर दिखावा करता है, वह लोगों में हंसी का पात्र होता है। लोग उसकी चटकीली या बहुमूल्य पोशाक पर से अनुमान लगा लेते हैं कि इसने बेईमानी, अन्याय, अत्याचार या निन्दनीय कर्म करके पैसा कमाया होगा। अथवा लोग उसके बारे में शंका करने लगते हैं कि आज-कल तो इसके बहुत कमाई होती होगी; तभी तो इतना अफलातून खर्च करता है और ऐसी बढ़िया वेशकीमती पोशाक पहनता है! इसका एक दूसरा अर्थ यह भी है कि आमदनी

होती हो, फिर भी कंजूसी से खर्च नहीं करता; वैभव होने पर भी खराब, गंदे, फटे-टूटे कपड़े पहनता है, तो वह भी लोगों में निंदा का पात्र बनता है और वह धर्म का अधिकारी भी नहीं बन सकता।

(१४) **बुद्धि के आठ गुणों का धनी**—सद्गृहस्थ में बुद्धि के निम्नलिखित आठ गुण होने आवश्यक हैं:—(१) शुश्रूषा, (२) श्रवण, (३) ग्रहण, (४) धारण, (५) ऊह, (६) अपोह, (७) अर्थ-विज्ञान और (८) तत्वज्ञान। इनका अर्थ क्रमशः इस प्रकार है—(१) **शुश्रूषा**—धर्मशास्त्र सुनने की अभिलाषा; (२) **श्रवण**—धर्म-श्रवण करना। (३) **ग्रहण**—श्रवण करके ग्रहण करना। (४) **धारण**—सुनी हुई बात को भूल न जाए, इसतरह उसे धारण करके मन में रखना। (५) **ऊह**—जाने हुए अर्थ के अलावा दूसरे अर्थों के सम्बन्ध में तर्क करना। (६) **अपोह**—उक्ति (श्रुति), युक्ति और अनुभूति से विरुद्ध अर्थ से हटना अथवा हिंसा आदि आत्मा को हानि पहुंचाने वाले पदार्थों से पृथक् हो जाना या अपने को पृथक् कर लेना। अथवा ऊह यानी सामान्यज्ञान का और अपोह यानी विशेषज्ञान का व्यावर्तन (विश्लेषण) करना। (७) **अर्थ-विज्ञान**—उहापोह के योग से मोह और संदेह दूर करके वस्तु का विशिष्ट सम्यग्ज्ञान प्राप्त करना और (८) **तत्वज्ञान**—उहा-पोह के विशेष प्रकार के ज्ञान से विशुद्ध निश्चित ज्ञान प्राप्त करना। इस प्रकार शुश्रूषा से ले कर तत्वज्ञान तक के बौद्धिक गुण जो गृहस्थ प्राप्त कर लेता है; वह कभी अपना अकल्याण नहीं करता। अतः सद्गृहस्थ को यथासंभव इन आठों बुद्धि-गुणों को अपनाने चाहिए।

(१५) **प्रतिदिन धर्म-श्रवण-कर्ता**—सद्गृहस्थ को प्रतिदिन अभ्युदय और निःश्रेयस (मोक्ष) के कारणरूप धर्म के श्रवण में उद्यत रहना चाहिए। प्रतिदिन धर्म-श्रवण करने वालों का मन अशांति से अत्यंत दूर रह कर आनन्द का अनुभव करता है। इसके लाभ बताए हैं कि धर्म-व्याख्यान का श्रवण उपयोगी है, यह सुभाषित है, घबड़ाए हुए व्यक्ति की व्याकुलता दूर करता है, त्रिविध ताप से तपे हुए को शांत करता है, मूढ़ को इससे बोध प्राप्त होता है और अव्यवस्थित चंचल मन स्थिर हो जाता है। अतः प्रतिदिन धर्म-श्रवण जीवन में उत्तरोत्तर गुणों की वृद्धि में सहायक है। बुद्धि के गुणों में बताए हुए श्रवण में इतना-सा अंतर है।

(१६) **अजीर्ण के समय भोजन छोड़ देना**—सद्गृहस्थ को अजीर्ण के समय भोजन छोड़ देना चाहिए। पहले किया हुआ भोजन जब तक हजम न हो, तब तक नया भोजन नहीं करना चाहिए। क्योंकि वैद्यकशास्त्र में बताया है कि अजीर्ण सब रोगों का मूल है और अजीर्ण (बदहजमी) के समय भोजन करने पर वह रोग को बढ़ाता है।" अजीर्ण उसके चिह्नों से जाना जा सकता है। मल और अपानवायु की सड़ान से उनमें बदबू आना, शरीर का भारी हो जाना, भोजन में अरुचि होना खट्टी और खराब डकारें आना, ये अजीर्ण के चिह्न हैं।

(१७) **समय पर पथ्य-भोजन करना**—सद्गृहस्थ के लिए यह आवश्यक है कि वह भूख लगने पर आसक्ति-रहित हो कर अपनी प्रकृति, रुचि, जठराग्नि एवं खुराक के अनुसार उचितमात्रा में भोजन करे। यदि वह मात्रा से अधिक भोजन करेगा तो उसे वमन, अतिसार या अजीर्ण आदि रोग होंगे और कभी मृत्यु भी हो सकती है। इसलिए मात्रा से अधिक खाना उचित नहीं है; परन्तु भूख के बिना अमृत भी खाता है, तब भी वह जहर हो जाता है और क्षुधाकाल समाप्त होने के बाद भोजन करेगा तो उसे भोजन पर अरुचि और घृणा होगी और शरीर में भी पीड़ा होगी। **'आग बुझ जाने के बाद ईंधन झोंकना व्यर्थ होता है।** आहार-पानी भी अपने शरीर की प्रकृति एवं खुराक के अनुकूल पथ्य-

कारक तथा सुखपूर्वक ग्रहण करना 'सात्म्य' कहलाता है। इस प्रकार के सात्म्य-रूप में जिंदगीभर मात्रा के अनुसार किया हुआ भोजन अगर विष भी हो तो वह एक बार तो हितकारी होता है। अतिसात्म्य खाद्य-वस्तु भी जो पथ्य-रूप हो, उसी का सेवन करे। रुचि के अनुकूल अपथ्य और अहितकारी वस्तु को सात्म्य समझ कर भी सेवन न करे। 'शक्तिशाली के लिए सभी वस्तु हितकारी हैं'; ऐसा मान कर काल कूट विष न खाये। विषतन्त्रज्ञाता और अत्यन्त दक्ष व्यक्ति की भी किसी समय विष से मृत्यु भी हो जाती है।

(१८) **परस्पर अबाधितरूप से तीनो वर्गों की साधना**—धर्म, अर्थ और काम; ये तीन वर्ग कहलाते हैं। जिससे अभ्युदय और मोक्ष की सिद्धि हो, वह धर्म है। जिससे लौकिक सर्व-प्रयोजन सिद्ध होते हों, वह अर्थ है और अभिमान से उत्पन्न, समस्त इन्द्रिय-सुखों से सम्बन्धित रसयुक्त प्रीति काम है। सद्गृहस्थ को इन तीनों वर्गों की साधना इस प्रकार से करनी चाहिए, ये तीनों वर्ग एक दूसरे के लिए परस्पर बाधक न बनें। परन्तु तीनों में से केवल किसी एक की या किन्हीं दो की साधना करना उचित नहीं है। नीतिकार भी कहते हैं—'त्रिवर्ग अर्थात् धर्म, अर्थ और काम इन तीनों वर्गों की परस्पर अविरोधी-रूप से साधना किये बिना जिसका दिन व्यतीत होता है, वह पुरुष लोहार की धोंकनी के समान श्वास लेते हुए भी जीवित नही हैं। यदि कोई इन तीनों में धर्म की उपेक्षा करके केवल तत्वहीन (अतथ्य) सांसारिक विषय-सुखों में लुब्ध बनता है, वह जंगली हाथी के समान आफत का शिकार बनता है, क्योंकि जो धर्म और अर्थ से उदासीन हो कर केवल विषयभोगों में ही असक्त आतन्त रहेगा ; वह धर्म, अर्थ और शरीर तीनों को खो कर पराधीन एवं दुःखी हो जाएगा। इसी प्रकार जो धर्म और काम का अतिक्रमण करके केवल अर्थोपार्जन में ही लगा रहता है, वह जीवन का सच्चा आनन्द नहीं प्राप्त कर पाता, न ही मानसिक शान्ति पाता है। अन्ततोगत्वा, उसके धन का उपभोग दूसरे करते है। दामाद, हिस्सेदार, सरकार या अन्य लोग उसके धन पर कब्जा जमा लेते हैं। उसके तो सिर्फ मेहनत ही पल्ले पड़ती है। जैसे सिंह, हाथी का वध करके केवल पाप का भागी बनता है, वैसे वह भी केवल पाप का अधिकारी बनता है। अर्थ और काम का अतिक्रमण करके केवल धर्म का सेवन भी गृहस्थ के लिए उचित नहीं, क्योंकि उसे अपने सारे परिवार, समाज व देश के प्रति कर्तव्यों का भी पालन करना है। यदि वह एकान्त धर्मक्रिया में लग जाएगा तो गैरजिम्मेदार बन कर दुःखी होगा। अपनी रोटी के लिए भी उसे दूसरों का मुंह ताकना पड़ेगा। इसलिए साधु तो सर्वथा धर्म का सेवन कर सकते हैं ; लेकिन गृहस्थ सर्वथा धर्म का पालन करने में प्रायः असमर्थ होता है। वह श्रमणों की उपासना व सेवाभक्ति कर सकता है। इसलिए धर्म में रुकावट न आए, इस प्रकार अर्थ और काम का सेवन करे। बोने के लिए सुरक्षित बीजों को खा जाने वाला किसान समय पर बीज न रहने के कारण सपरिवार दुखी होता है, वैसे ही वर्तमान में धर्माचरण न करने वाला व्यक्ति भविष्य में सुखद फल या कल्याण नही प्राप्त कर पाता। वास्तव में वही व्यक्ति सुखी कहलाता है; जो अगले जन्म के सुख में बाधा न पहुंचे, इस प्रकार से इस लोक के सुख का अनुभव करे। इस तरह अर्थोपाजन करना बंद करके जो धर्म और काम का ही सेवन करता है ; वह कर्जदार बन जाता है। काम को छोड़ कर जो केवल धर्म और अर्थ का सेवन करता है, वह गृहस्थ मनहूस बन जाता है, उसके घर के लोग असंतुष्ट रहते हैं। इस कारण काम-पुरुषार्थ की सर्वथा उपेक्षा करने वाला गृहस्थ-अवस्था में टिक नहीं सकता। धर्म, अर्थ और काम इन तीनों में से प्रत्येक के एकान्तसेवी गृहस्थ तादात्विक, मूलहर और कदर्य के समान अपने जीवन के विकास में स्वयं रुकावट डालते हैं। तादात्विक उसे कहते हैं, जो बिना सोचे-विचारे उपार्जित धन को खर्च कर डालता

है। मूलहर उसे कहते हैं जो बाप-दादों या अन्य पूर्वजों से प्राप्त धन का अनीति-पूर्ण ढंग से उपभोग करके खत्म कर देता है। कदर्य उसे कहते हैं, जो नौकरों को और खुद को परेशान करके धन को इकट्ठा कर लेता है, परन्तु उसका उचित स्थान पर व्यय नहीं करता। तादात्विक के पास अर्थ (धन) का नाश होने से और मूलहर के पास धर्म और काम का विनाश होने से दोनों का कल्याण नहीं होता। कदर्य का धन सरकार, राजकर्मचारी या चोर ले जाते हैं। वह धन उसके धर्म और काम के लिए नहीं रहता। इसलिए यहां यह प्रतिपादन किया गया है कि गृहस्थ को त्रिवर्ग के अबाधितरूप से सेवन में अन्तराय नहीं डालना चाहिए। कदाचित् दैवयोग से इनमें से किसी भी पुरुषार्थ के सेवन में बाधा उपस्थित होने का समय आ जाए तो उत्तरोत्तर का सेवन छोड़ कर पूर्व के पुरुषार्थ की बाधा से रक्षा करना चाहिए। जैसे काम में बाधा उपस्थित हो तो धर्म और अर्थ में बाधा की रक्षा करना चाहिए। क्योंकि धर्म और अर्थ के होने पर काम की प्राप्ति भी आसानी से हो सकती है। काम और अर्थ में बाधा आए तो धर्म की रक्षा करनी चाहिए। क्योंकि अर्थ और काम का मूल धर्म है। एक नीतिज्ञ ने कहा है—"भिक्षा मांग कर निर्वाह करने से भी अगर धर्म की रक्षा होती है, तो मैं अपने को सम्पत्तिशाली मानता हूं।" वास्तव में सज्जन धर्मरूपी धन से धनाढ्य होते हैं।

(१९) **अतिथि आदि का सत्कार**—सद्गृहस्थ को घर आए हुए अतिथि का स्वागत करना आवश्यक है। अतिथि उसे कहते हैं—सतत स्वपर-कल्याण की सुन्दर प्रवृत्ति में एकाग्र होने से जिसकी कोई निश्चित तिथि न हो। नीतिकारों ने कहा है—"जिस महात्मा ने तिथि और पर्वों के उत्सव का त्याग किया है; उसे अतिथि समझना चाहिए और शेष को अभ्यागत।" साधु-साध्वीगण कोई एक तिथि या पर्व निश्चित न करके सदा ही समग्र लोक में प्रशंसनीय होते हैं। इसलिए वह उत्कृष्ट अतिथि है। तात्पर्य यह है जिसकी धर्म अर्थ और काम की आराधना करने की समग्र शक्ति क्षीण हो गई हो, उस अतिथि, साधु और दीनों का यथायोग्य सत्कार करना चाहिए। उत्कृष्ट अतिथिरूप साधुओं की आहार-पानी आदि से उचितरूप से सत्कार-भक्ति करनी चाहिए। तिथि का पर्यायवाची शब्द दिन है। दिन और दीन दोनों शब्द 'दो अवखंडने' (क्षयार्थक) धातु से बने हैं। इसलिए दीन भी अतिथि अर्थ में गृहीत हो जाता है, एक तरफ केवल एक गुना औचित्य हो और दूसरी ओर अनेक गुना औचित्य-रहित गुण-समुद्र हो; फिर भी वह विष-समान है। अर्थात् गुणवान अतिथि साधु को भक्तिपूर्वक और दीन-दुखी एवं अनाथ-पंगुओं को अनुकंपापूर्वक देना; यही उचित रीति है।

(२०) **अभिनिवेश से दूर**—सद्गृहस्थ को मिथ्या-आग्रह से सदा दूर रहना चाहिए। **अभिनिवेश कहते हैं—मिथ्या आग्रह को।** मिथ्याभिनिवेशी वही व्यक्ति होता है, जो नीतिमार्ग से अनभिज्ञ होता है और दूसरों को नीचा दिखाने या पराभूत करने के लिए किसी कार्य को जिद् पकड़ कर आरम्भ करता है। इसलिए कहा है—अहंकार नीच पुरुषों को निष्फलता दिलाता है, उसमें अनीति, दुर्गुण और कार्यारम्भ से खेद पैदा करता है। उलटे प्रवाह में तैरने का व्यसन जलचर मछलियों के समान व्यर्थ परिश्रम है। वास्तव में अभिनिवेशयुक्त व्यक्ति जिद्दी और अभिमानी होता है। वह अपने ही दुर्गुणों से दुःखी होता है। इसलिए सद्गृहस्थ को अभिनिवेश से रहित होना चाहिए। चूंकि कदाग्रह से रहित भाव नीच व्यक्तियों में भी यदाकदा दिखाई देता है, किन्तु वह होता है कपटयुक्त। इसलिए यहां 'सदा' शब्द का प्रयोग किया है।

(२१) **गुण का पक्षपाती**—सद्गृहस्थ गुणों का और उपलक्षण से गुणीजनों का पक्षपाती होना चाहिए। आशय यह है कि गुणीजन जब भी उसके संपर्क में आएँ, वह उनके साथ सौजन्य,

दाक्षिण्य, औदार्य तथा गम्भीर्य का व्यवहार करे। 'आओ पधारो' जैसे प्रिय शब्दों से स्वागत करे ; साथ ही गुणीजनों का समय-समय पर बहुमान करे, उनकी प्रशंसा करे, उन्हें प्रतिष्ठा दे ; उनके कार्यों में सहायक बने, उनका पक्ष ले ; इत्यादि प्रकार से गुणीजनों के अनुकूल प्रवृत्ति करे। ऐसा गुणीजनों के प्रति एवं स्वपर-कल्याणकारी आत्मधर्मरूप आत्मगुणों के प्रति पक्षपाती व्यक्ति निश्चय ही पुण्य का बीज बो कर परलोक में गुणसमूह-सम्पत्ति प्राप्त करता है।

(२२) **निषिद्ध देश-काल-चर्या का त्याग**—जिस देश और काल में जिस आचार का निषेध किया गया हो, उसे सद्गृहस्थ को छोड़ देना चाहिए। अगर कोई हठवश निषिद्ध देशाचार या वर्जित कालाचार को अपनाता है, तो उसे प्रायः चोर, डाकू आदि के उपद्रव का सामना करना पड़ता है ; उससे धर्म की हानि भी होती है।

(२३) **बलाबल का ज्ञाता**—सद्गृहस्थ को अपनी अथवा दूसरे की द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की शक्ति जान कर तथा अपनी निर्बलता-सबलता का विचार करके सभी कार्य प्रारंभ करना चाहिए। ऐसा न करने पर प्रायः परिणाम विपरीत आता है। कहा भी है—"शक्ति होने पर भी सहन करने वाला शक्ति मे उसी तरह वृद्धि करता है, जैसे शक्ति के अनुसार शरीर की पुष्टि होती है। परन्तु बलाबल का विचार किये बिना किया हुआ कार्यारंभ शरीर, धन आदि संपत्तियों का क्षय करता है।

(२४) **वृत्तस्थों और ज्ञानवृद्धों का पूजक**—अनाचार को छोड़ कर सम्यक् आचार के पालन में दृढ़ता से स्थिर रहने वालों को वृत्तस्थ कहते हैं। गृहस्थ को उनका हर तरह से आदर करना चाहिए। वस्तुत्व के निश्चयात्मक ज्ञान से जो महान् हो अथवा वृत्तस्थ के सहचारी, जो ज्ञानवृद्ध हों, उनकी पूजा करनी चाहिए। पूजा का अर्थ है—सेवा करना, दोनों हाथ जोड़ कर नमस्कार करना, आसन देना उनके आते ही खड़े हो कर आदर देना, सत्कार-सम्मान देना आदि। वृत्तस्थ और ज्ञानवृद्धों-पुरुषों की पूजा करने से अवश्य ही कल्पवृक्ष के समान उनके सदुपदेश आदि फल प्राप्त होते हैं।

(२५) **पोष्य का पोषक करना**—सद्गृहस्थ का यह उत्तरदायित्व है कि परिवार में माता, पिता पत्नी, पुत्र, पुत्री आदि जो व्यक्ति उसके आश्रित हों या सम्बन्धित हों, उनका भरण-पोषण करे। उनका योगक्षेम वहन करे। इससे उन सबका सद्भाव व सहयोग प्राप्त होगा। भविष्य में वे सब उपयोगी बनेंगे।

(२६) **दीर्घदर्शी**—सद्गृहस्थ को किसी भी कार्य के करने से पूर्व दूरदर्शी बन कर उस कार्य के प्रारंभ से पूर्ण होने तक के अर्थ-अनर्थ का विचार करके कार्य करना चाहिए। दूरदर्शी का अर्थ है—हर कार्य पर दूर की सोचने वाला।

(२७) **विशेषज्ञ**—सद्गृहस्थ को विशेषज्ञ भी होना चाहिए। विशेषज्ञ वह होता है—जो वस्तु-अवस्तु कृत्य-अकृत्य, स्व-पर आदि का अन्तर जानता हो। वस्तुतत्व का निश्चय करने वाला ही वास्तव में विशेषज्ञ कहलाता है। और अविशेषज्ञ व्यक्ति पुरुष और पशु में कोई अन्तर नहीं समझता। अथवा विशेषतः आत्मा के गुणों और दोषों को जो जानता है, वही विशेषज्ञ कहलाता है। कहा है कि "मनुष्य को प्रतिदिन अपने चरित्र का अवलोकन करना चाहिए कि मेरा आचरण पशु के समान है या सत्पुरुषों के समान है ?

(२८) **कृतज्ञ**- सद्गृहस्थ को कृतज्ञ होना चाहिए। कृतज्ञ का अर्थ है—जो दूसरों के किए उपकार को जानता हो। कृतज्ञ मनुष्य दूसरों के उपकार को भूलता नहीं। इस प्रकार उपकारी की ओर

से जो कल्याण का लाभ होता है, उसके बदले उसका बहुमान करना चाहिए। कृतज्ञता का बदला नही चुकाया जा सकता। कहा भी है—"कृतघ्ने नास्ति निष्कृतिः।" कृतघ्न किए हुए उपकार को भूल जाता है।

(२९) **लोकवल्लभ**—सद्गृहस्थ का लोकप्रिय होना जरूरी है। लोकप्रिय वही हो सकता है—जो विनय, नम्रता, सेवा, सरलता सहानुभूति, दया आदि गुणों से युक्त हो। गुणों के प्रति किसे प्रीति नही होती ? सभी लोग गुणों से आकृष्ट होते हैं। जिनमें लोकप्रियता नहीं होती, वे जनता से घृणा, द्वेष, वैर, संघर्ष या विरोध करके अपना धर्मानुष्ठान तो दूषित कर ही लेते हैं ; दूसरों को भी उकसा एवं भड़का कर व स्वार्थभावना भर कर बोधिलाभ से भ्रष्ट करने में निमित्त बनते हैं।

(३०) **लज्जावान**- सद्गृहस्थ के लिए लज्जा का गुण परमावश्यक है। लज्जावान व्यक्ति किसी भी पापकर्म को करते हुए सकोच करेगा, शर्मायेगा और प्राण चले जाएँ, मगर अंगीकार किए हुए व्रत-नियमों का त्याग नही करेगा। नीतिज्ञ कहते हैं कि लज्जा अनेक गुणों की जननी है। वह अत्यन्त शुद्ध हृदय वाली आर्यमाता के समान है। अनेक गुणों की जन्मदात्री लज्जा को पा कर साधक सत्य-सिद्धान्त पर डटा रहता है। लज्जाशील सत्वशाली महापुरुष सुखसुविधाओं और प्राणों का भी परित्याग कर देते हैं, परन्तु अंगीकृत प्रतिज्ञा को कदापि नहीं छोड़ते।

(३१) **दयावान**—दया सद्गृहस्थ का महत्वपूर्ण गुण है। दुःखी जीवों का दुःख दूर करने की अभिलाषा दया कहलाती है। कहा भी है—'व्यक्ति को जैसे अपने प्राण प्रिय हैं, वैसे ही सभी जीवों को भी अपने प्राण उतने ही प्रिय हैं। इसलिए धर्मात्मा गृहस्थ दया के अवसर कदापि न चूके।' मनुष्य अपनी आत्मा पर संकट के समय दया चाहता है, वैसे ही समस्त प्रत्येक जीवों पर दया करे।

(३२) **सौम्य**—सद्गृहस्थ की प्रकृति और आकृति सौम्य होनी चाहिए। क्रूर आकृति और भयंकर स्वभाव वाला व्यक्ति लोगों में उद्वेग पैदा कर देता है, उसका प्रभाव क्षणिक होता है ; जबकि सौम्य व्यक्ति से सभी आकृष्ट होते हैं, कोई भयभीत नही होता ; बल्कि प्रभावित हो जाता है।

(३३) **परोपकार करने में कर्मठ**—सद्गृहस्थ को परोपकार के कार्य भी करने चाहिए। उसे केवल अपने ही स्वार्थ में रचापचा नहीं रहना चाहिए। परोपकारवीर एवं परोपकारकर्मठ मनुष्य सभी के नेत्रों में अमृतांजन के समान होता है।

(३४) **षट् अन्तरंग शत्रुओं के त्याग में उद्यत**—सद्गृहस्थ सदा छह अन्तरंग शत्रुओं को मिटाने में उद्यत रहता है। शिष्ट गृहस्थों के लिए काम, क्रोध, लोभ, मान, मद और हर्ष या मत्सर ; ये ६ अंतरंग शत्रु कहे हैं। दूसरे की परिणीता अथवा अपरिणीता स्त्री के साथ सहवास की इच्छा करना काम है। अपनी अथवा पराई हानि का सोच-विचार किए बिना कोप करना क्रोध है। दान देने योग्य व्यक्ति को दान न देना तथा अकारण पराया धन ग्रहण करना लोभ है। किसी के योग्य उपदेश को दुराग्रहवश नहीं मानना मान है। बिना कारण दुःख दे कर तथा जुआ, शिकार आदि अनर्थकारी कार्यों में आनन्द मानना हर्ष कहलाता है। किसी की उन्नति देख कर कुढ़ना, उससे डाह करना, मत्सर है। ये छहों हानिकारक होने से इनका त्याग करना चाहिए। कहा है कि—(१) काम से ब्राह्मण-कन्या को बलात्कार से सताने वाला दांडक्य नाम का भोज बन्धुओं और राज्य के सहित नष्ट हुआ। तथा वैदेह कराल भी नष्ट हुआ। (२) क्रोध से ब्राह्मणों पर आक्रमण करने वाला जनमेजय और भृगुओं

पर आतंक ढहाने वाले तालजंघ का भी विनाश हुआ। (३) लोभ से चारों वर्णों का सर्वस्व हड़प जाने वाले ऐल (पुरूरवा) और सौवीरदेश के अजबिन्दु का विनाश हुआ। (४) मान से परस्त्री को वापिस न करने के कारण रावण और दुर्योधन का विनाश हुआ। (५) मद से अम्भोद्भव, और भूतावमानी कार्तवीर्य अर्जुन का विनाश हुआ। (६) हर्ष से अगस्त्य को प्राप्त न करने से वातापि और द्वैपायन को प्राप्त न करने के कारण श्रीकृष्णजी के समुदाय का नाश हुआ।

(३५) **इन्द्रिय-समूह को वश करने में तत्पर**—सद्गृहस्थ को अपने इन्द्रिय-समूह को यथोचित मात्रा में वश में करने का अभ्यास करना चाहिए। जो इन्द्रियों की स्वच्छन्दता का त्याग करता है; उन पर अत्यन्त आसक्ति को छोड़ता है, तथा स्पर्शादि विकारों को रोकता है; वही इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करता है। ऐसा व्यक्ति महासंपत्ति को प्राप्त करता है। कहा भी है—

"आपदां कथितः पन्था इन्द्रियाणामसंयमः।
तज्जयः सम्पदां मार्गो, येनेष्टं तेन गम्यताम् ॥"

"इन्द्रियों का असंयम विपत्तियों का मार्ग है और उन पर विजय प्राप्त करना संपत्तियों का मार्ग है। इन दोनों में से जो मार्ग ईष्ट (हितकर) लगे, उसी मार्ग से जाओ।" ये इन्द्रियाँ जीवन-सर्वस्व हैं। ये ही स्वर्ग और ये ही नरक हैं। दोनों ये ही हैं। जो इन्हें वश में कर लेता है, उसे स्वर्ग मिलता है और जो स्वच्छन्दतापूर्वक इनको विपरीतमार्ग पर जाने देता है, उसे नरक मिलता है। सर्वथा इन्द्रियनिरोध-धर्म तो साधुओं के लिए ही सम्भव है। यहाँ तो श्रावकधर्म की भूमिका प्राप्त करने से पहले धर्ममार्गानुसारी सद्गृहस्थ का प्रसंग है। इसलिए यथोचित मात्रा में इन्द्रिय-संयम करना उसके लिए आवश्यक बताया है।

इन उपर्युक्त पैंतीस गुणों से युक्त सद्गृहस्थ श्रावकधर्म के योग्य अधिकारी बनता है।

इस प्रकार परमार्हत श्रीकुमारपाल राजा की जिज्ञासा से आचार्यश्री
हेमचन्द्र-सूरीश्वररचित 'अध्यात्मोपनिषद्' नामक
पट्टबद्ध अपरनाम 'योगशास्त्र' का स्वोपज्ञ-
विवरणसहित प्रथम प्रकाश
सम्पूर्ण हुआ।

ॐ अर्हते नमः

२ : द्वितीय प्रकाश

सम्यक्त्व का स्वरूप

इससे पहले श्रावकधर्म के योग्य अधिकारी—मार्गानुसारी सद्गृहस्थ का वर्णन किया गया। किन्तु श्रावकधर्म पंच-अणुव्रतादि १२ व्रतों से युक्त विशेष योग्य गृहस्थ के लिए होता है। वह द्वादशव्रत-युक्त श्रावकधर्म सम्यक्त्वमूलक होता है।

इसलिए अब हम श्रावकधर्म के मूल-सम्यक्त्व का स्वरूप बताते हैं—

सम्यक्त्वमूलानि पंचाणुव्रतानि गुणास्त्रयः ।
शिक्षापदानि चत्वारि, व्रतानि गृहमेधिनाम् ॥१॥

अर्थ

पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत ; यों मिला कर गृहस्थ (श्रावक) धर्म के बारह व्रत सम्यक्त्वमूलक होते हैं।

व्याख्या

श्रावकव्रतों का मूल कारण सम्यक्त्व है। यानी बारह व्रतों की जड़ सम्यक्त्व है। महाव्रतों की अपेक्षा से छोटे होने से अहिंसादि पांच अणुव्रत कहलाते हैं, वे ही मूलगुण हैं। दिशापरिमाणादि तीन उत्तरगुणरूप होने से गुणव्रत हैं। सदैव पुनः पुनः अभ्यास करने योग्य होने से सामायिक आदि ४ शिक्षाव्रत कहलाते हैं। इसी कारण शिक्षाव्रतों को गुणव्रतों से अलग बताये हैं। इन बारह व्रतों में से पांच अणुव्रत और तीन गुणव्रत गृहस्थश्रावक के लिए प्रायः जीवनभर के लिए होते हैं।

बारहव्रतों को सम्यक्त्वमूलक कहा है, इसलिए अब सम्यक्त्व का स्वरूप बताते हैं—

या देवे देवताबुद्धिर्गुरौ च गुरुतामतिः ।
धर्मे च धर्मधीः शुद्धा, सम्यक्त्वमिदमुच्यते ॥२॥

अर्थ

साधक की देव (र्हन्त आदि वीतराग) में जो देवत्वबुद्धि, गुरु में जो गुरुत्वबुद्धि और धर्म में शुद्ध धर्म की बुद्धि होती है, उसे ही सम्यक्त्व कहा जाता है।

व्याख्या

देवत्व, गुरुत्व और धर्मत्व का लक्षण हम आगे बतायेंगे। मूल में तो देव, गुरु और धर्म में अज्ञान, संशय और विपर्यय से रहित निश्चयपूर्वक निर्मल श्रद्धा को सम्यक्त्व कहा है। यद्यपि साधुओं और श्रावकों की जिनोक्त तत्वों पर समान रुचि भी सम्यक्त्व का लक्षण है; तथापि गृहस्थों के लिए देव, गुरु और धर्मतत्त्व में पूज्यत्व स्थापित करके उनकी उपासना और तद्योग्य अनुष्ठान करना उपयुक्त होने से उसके लिए देव, गुरु और धर्मतत्त्व के प्रति प्रतिपत्तिलक्षण सम्यक्त्व कहा है।

सम्यक्त्व के तीन भेद होते हैं औपशमिक, क्षायोपमिक और क्षायिक। उपशम कहते हैं—राख से ढकी हुई अग्नि के समान मिथ्यात्वमोहनीय कर्म तथा अनुन्तानुवन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ की अनुदयावस्था को। इस प्रकार के उपशम से युक्त सम्यक्त्व को औपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं। वह अनादिकालीन मिथ्यादृष्टि आत्मा को तीनकरणपूर्वक अन्तर्मुहूर्त-परिमित काल के लिए होता है; और चारगति में रहने वाले जीवों को होता है। अथवा उपशमश्रेणि पर चढ़े हुए साधक को होता है। इसीलिए शास्त्र में कहा है —उपशमश्रेणि पर आरूढ़ व्यक्ति को औपशमिक सम्यक्त्व होता है। अथवा तीन पुंज नहीं किये हों, किन्तु मिथ्यात्व नष्ट कर दिया हो, वह उपशम सम्यक्त्व प्राप्त करता है। दूसरा **क्षायोपशमिक सम्यक्त्व** उदय में आए हुए मिथ्यात्व-मोहनीय और अनुन्तानुवन्धी चार कषायों को अंशतः (देश से) समूल-नाशरूप क्षय कर देना और उदय में नहीं आए हुए का उपशम करना; इस प्रकार क्षय से युक्त उपशम --क्षयोपशम कहलाता है और क्षायोपशम से सम्बन्धित सम्यक्त्व क्षयोपशमिक कहलाता है। इस सम्यक्त्व में शुभकर्मों का वेदन होने से इसे **वेदक-सम्यक्त्व** भी कहते हैं। जबकि औपशमिक सम्यक्त्व शुभकर्मों के वेदन से रहित होना है। यही औपशमिक और क्षायोपशमिक में अन्तर है। तत्वज्ञों ने कहा है—'क्षायोपशमिक में तो जीव किसी अंश तक सत्कर्मों का क्षेदन (क्षय) कर भी लेता है, हालांकि रसोदय से नहीं करता; मगर औपशमिक सम्यक्त्व में उपशान्तकपाययुक्त जीव तो सत्कर्म का क्षेदन (क्षय) बिलकुल नहीं कर पाता। इसलिए क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की स्थिति ६६ सागरोपम की होती है। कहा है कि क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी विजयादिक देवलोक में दो बार जाता है और अधिकतर मनुष्यजन्म प्राप्त करके उपर्युक्त स्थिति को पूर्ण करता है। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व समस्त जीवों की अपेक्षा से सर्वकाल में रहता है। तीसरा **क्षायिक-सम्यक्त्व** – मिथ्यात्व मोहनीय और अनन्तानुबन्धी चार कषायों का समूल नष्ट होना क्षय कहलाता है, और क्षय से सम्बन्धित सम्यक्त्व क्षायिक कहलाता है। यह सादि अनन्त है।

अब कुछ आन्तरश्लोकों में सम्यक्त्व की महिमा बतलाते हैं—'सम्यक्त्व बोधिवृक्ष का मूल है; पुण्यनगर का द्वार है; निर्वाण-महल की पीठिका है; सर्वसम्पत्तियों का भंडार है। जैसे सब रत्नों का आधार समुद्र है, वैसे ही सम्यक्त्व गुणरत्नों का आधार है और चारित्ररूपी धन का पात्र है। जैसे पात्र (आधार) के बिना धन रह नहीं सकता, वैसे ही सम्यक्त्व के बिना चारित्ररूपी धन रह नहीं सकता। ऐसे उत्तम सम्यक्त्व की कौन प्रशंसा नहीं करेगा ? जैसे सूर्योदय होने से अंधेरा टिक नहीं सकता, वैसे ही सम्यक्त्व-सुवासित व्यक्ति में अज्ञानान्धकार टिक नहीं सकता। तिर्यञ्चगति और नरकगति के द्वार बंद करने के लिए सम्यक्त्व अर्गला (आगल) के समान है। देवलोक, मानवलोक तथा मोक्ष के सुख के द्वार खोलने के लिए सम्यक्त्व कुंजी के समान है। सम्यक्त्व प्राप्त करने से पहले अगर आयुष्यबन्ध न हुआ हो, और आयुष्यबन्ध होने से पहले सम्यक्त्व का त्याग न किया हो तो वह जीव सिवाय वैमानिक देव के दूसरा आयुष्य नहीं बांधता। जिसने सिर्फ अन्तर्मुहूर्तभर यदि इस सम्यक्त्व का सेवन करके

इसका त्याग कर दिया हो तो भी वह जीव चतुर्गतिरूप संसार में अधिक समय तक परिभ्रमण नहीं करता। और जो मनुष्य इसका दीर्घकाल तक सेवन करता है, सदा ही इसे धारण करता है, उसके लिए तो कहना ही क्या ? तात्पर्य यह है कि ऐसा सम्यक्त्वी जीव अल्पसमय में ही मोक्ष-सुख का अधिकारी बन जाता है।

उस सम्यक्त्व का वास्तविक स्वरूप उसके विपक्ष का ज्ञान होने से ही भलीभांति समझा जा सकता है, इसलिए सम्यक्त्व के विपक्षी मिथ्यात्व का स्वरूप बताते हैं—

अदेवे देवबुद्धिर्या गुरुधीरगुरौ च या।
अधर्मे धर्मबुद्धिश्च मिथ्यात्वं तद्विपर्ययात् ॥२॥

अर्थ

जिसमें देव के गुण न हों, उसमें देवत्वबुद्धि, गुरु के गुण न हों, उसमें गुरुत्वबुद्धि और अधर्म में धर्मबुद्धि रखना मिथ्यात्व है। सम्यक्त्व से विपरीत होने के कारण यह मिथ्यात्व कहलाता है।

व्याख्या

जिस व्यक्ति की अदेव में देवबुद्धि हो, अगुरु में गुरुबुद्धि और अधर्म में धर्मबुद्धि हो, वहाँ मिथ्यात्व कहलाता है। यह सम्यक्त्व से विपरीत-तत्त्वरूप होने से (जिसका लक्षण आगे बताया जायगा) अदेव, अगुरु और अधर्म की मान्यतारूप मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व का सीधा लक्षण सम्यक्त्व से विपरीत होने से सम्यक्त्व से विपरीत स्वरूप का समझना चाहिए। यहाँ मिथ्यात्व का यह लक्षण भी ग्रहण कर लेना चाहिए कि देव में अदेवत्व, गुरु में अगुरुत्व और धर्म में अधर्मत्व की मान्यता रखना।

वह मिथ्यात्व पांच प्रकार का है—आभिग्रहिक, अनाभिग्रहिक, आभिनिवेशिक, सांशयिक और अनाभोगिक।

(१) **आभिग्रहिक**—जहाँ पाखंडी की तरह अपने माने हुए (असत्) शास्त्र के ज्ञाता हो कर परपक्ष का प्रतीकार करने में दक्षता होती है, वहाँ आभिग्रहिक मिथ्यात्व होता है।

(२) **अनाभिग्रहिक**—साधारण अशिक्षित लोगों की तरह तत्त्वविवेक किये बिना ही बहकावे में आ कर सभी देवों को वंदनीय मानना; सभी गुरुओं और धर्मों के तत्त्व की छानबीन किये बिना ही समान मानना, अनाभिग्रहिक है। या अपने माने हुए देव, गुरु, धर्म के सिवाय सभी को निन्दनीय मानना, उनसे द्वेष या घृणा करना भी अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व है।

(३) **आभिनिवेशिक**- अन्तर से यथार्थ वस्तु को समझते हुए भी मिथ्या कदाग्रह (झूठी पकड़) के वश हो कर जामालि की तरह सत्य को झुठलाने या मिथ्या को पकड़े रखने का कदाग्रह करना, आभिनिवेशिक मिथ्यात्व है।

(४) **सांशयिक**—देव, गुरु और धर्म के सम्बन्ध में व्यक्ति की संशय की स्थिति बनी रहना कि 'यह सत्य है या वह सत्य है ?', वहाँ सांशयिक मिथ्यात्व होता है।

(५) **अनाभोगिक**—जैसे एकेन्द्रियादि जीव विचार से शून्य और विशेषज्ञान से रहित होते हैं, वैसे ही व्यक्ति भी जब विचारजड़ हो जाता है, सम्यक्त्व या मिथ्यात्व के बारे में कुछ भी सोचता नहीं है, तब वहाँ अनाभोगिक मिथ्यात्व होता है। इस तरह यह पांच प्रकार का मिथ्यात्व है।

मिथ्यात्व के सम्बन्ध में कुछ श्लोक यहाँ प्रस्तुत किये गये हैं—'मिथ्यात्व महारोग है, मिथ्यात्व महान् अन्धकार है, मिथ्यात्व जीव का महाशत्रु है ; मिथ्यात्व महाविष है। रोग, अन्धकार और विष तो जिंदगी में एकबार ही दुःख देते हैं, परन्तु मिथ्यात्वरोग की चिकित्सा न की जाय तो यह हजारों जन्मों तक पीड़ा देता रहता है। गाढ़-मिथ्यात्व से जिसका चित्त घिरा रहता है, वह जीव तत्व-अतत्व का भेद नहीं जानता। जो जन्म से अंधा हो, वह भला किसी भी वस्तु की मनोहरता या अमनोहरता कैसे जान सकता है ?

अब देव और अदेव, गुरु और अगुरु तथा धर्म और अधर्म का लक्षण बताते हुए सर्वप्रथम देव का स्वरूप बताते हैं—

सर्वज्ञो जितरागादि-दोषस्त्रैलोक्यपूजितः ।
यथास्थितार्थवादी च देवोऽर्हन् परमेश्वरः ॥४॥

अर्थ

सर्वभाव को जानने वाले, राग-द्वेषादि दोषों को जीतने वाले, तीन लोक के पूजनीय और पदार्थ के यथार्थ स्वरूप को कहने वाले देव अर्हन् अथवा परमेश्वर कहलाते हैं।

व्याख्या

देव में देवत्व के लिए चार अतिशय आवश्यक बताए हैं। वे इस प्रकार हैं—(१) ज्ञानातिशय, (२) अपायापगमातिशय, (३) पूजातिशय और (४) वचनातिशय। देवाधिदेव अर्हन् का पहला विशेषण 'सर्वज्ञ' बता कर, समग्र जीव-अजीवादि तत्त्व को जानने वाले होने में उनका **ज्ञानातिशय** सूचित किया है। परन्तु उनका ज्ञान अपने रचे हुए शास्त्र में परस्पर-विरुद्ध कथन वाले अन्य दार्शनिकों का-सा नहीं है। अन्य दार्शनिकों का कहना है—'संसार की सभी वस्तुएँ देखो, चाहे न देखो ; इष्ट तत्त्व को देखो। कीड़ों के दर में कितने कीट हैं ? यह ज्ञान हमारे किस काम का ? दूर-सुदूर तक देखो या न देखो ; हमें प्रयोजन हो, तभी देखना चाहिए। यदि दूर तक देखने वालों को प्रमाणभूत मानना है तो दूरदृष्टि वाले गिद्धों की उपासना करो।' परन्तु जैनदर्शन का कहना है 'विवक्षित एक इष्ट पदार्थ का (सर्वथा) ज्ञान समग्रपदार्थ के ज्ञान के बिना नहीं हो सकता। प्रत्येक भाव के दूसरे भावों के साथ साधारण और असाधारण रूप से समग्र ज्ञान के बिना एक भी पदार्थ लक्षणसहित तथा उसके विपरीत अन्वय-व्यतिरेक के रूप में नहीं जाना जा सकता। कहा भी है—'जिसने सर्व प्रकार से एक भाव देखा है, वह तत्त्वतः सर्वभावों (द्रव्य-गुण-पर्यायरूप सर्वभावों) को जानता है ; जिसने सर्वभावों को सर्वप्रकार से देखा है ; उसने तत्त्वतः एकभाव को (सर्वथा) देखा है।

दूसरा '**जितरागादिदोषः**' (जिसने राग-द्वेष आदि दोषों को जीत लिया है) विशेषण भगवान् देवाधिदेव अर्हन्त के **अपायापगमातिशय** को सूचित करता है। अपाय का अर्थ है विघ्न या दोष। सारे संसार में यह बात प्रसिद्ध है कि—राग, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि विकार आत्म-साधना में विघ्नरूप हैं, ये आत्मा को दूषित करने वाले हैं, इसलिए ये दोषरूप हैं। इसलिए भगवान् देवाधिदेव इनसे जूझ कर इन्हें जीत चुके होते है। तात्पर्य यह है कि अर्हन्तदेव ने इन सभी अपायभूत दोषों को सदा के लिए खदेड़ दिया है। इस तत्त्व से अनभिज्ञ कई लोग कहते है—कोई पुरुष रागादि रहित है, ऐसा कहना सिर्फ वाणी विलास है।' लेकिन यह कथन भ्रान्तिपूर्ण है। रागादि विकारों को नहीं जीतने

वाला वह कैसे देवाधिदेवत्व को प्राप्त कर सकता है ? इसलिए अर्हन्तदेव के लिए रागादि से युक्त होने की कल्पना भी नहीं की जा सकती ।

अरिहन्तदेव का तीसरा 'त्रैलोक्यपूजितः' विशेषण उनके **पूजातिशय** को व्यक्त करता है। कुछ थोड़े-से ठगे गए भद्रबुद्धि जीवों के द्वारा की गई पूजा-भक्ति से ही किसी व्यक्ति में देवत्व नहीं माना जा सकता ; अपितु देवत्व का सही पता तो तब लगता है, जब चलितासन देव, असुर और विविध देशों की भाषा बोलने वाले बुद्धिशाली मनुष्य पारस्परिक जातिवैर छोड़ कर मैत्रीभाव से अतिप्रोत हो जाते हैं, तिर्यंचों में भी जिनके समवसरण में प्रवेश करने की होड़ लग जाती है तथा प्रभु की भक्ति करने, अंजलिपूजा, गुणस्तुति करने एव धर्मदेशनारूपी अमृत के आस्वादन करने की लोगों में होड़-सी लग जाती है । तिर्यंचों और मनुष्यों से तो क्या, देवों से भी जब वे पुजते देखे जाते हैं ; तभी उनके देवाधिदेवत्व के वास्तविक दर्शन होते हैं ।

'**यथास्थितार्थवादी**' (जो पदार्थ जिस रूप मे है, उसका उसी रूप में यथार्थ कथन करने वाले) विशेपण से प्रभु का **वचनातिशय** परिलक्षित होता है। जिस पदार्थ का जो स्वरूप हो, उस सद्भूत पदार्थ का वैसे ही रूप में कथन करने वाला ही यथास्थितार्थवादी कहा जा सकता है। जैसा कि वीतरागस्तुति में कहा गया है -- आपकी हम पक्षपातरहित परीक्षा करना चाहें तो भी हम प्रतीतिपूर्वक जानते हैं कि— रागी-द्वेषी देवकी और आप वीतरागदेव की ; दोनों की तुलना हम नहीं कर सकते ; क्योंकि आपका यथावस्थित अर्थकथनरूप गुण दूसरे देवों की योग्यता पर स्वतः प्रतिबन्ध लगाने वाला निर्बन्धरस माना जाता है। सुरेन्द्र जैसों द्वारा नमन को आपकी ओर से दूसरों की अवगणना समझी जाय या आपका दूसरा के समान माना जाय । वस्तुतः आपके इस यथास्थित-वस्तुकथनरूप गुण से अन्य लोग भी आपकी अवगणना कैसे कर सकते हैं ? **देवाधिदेव अर्हन्**—'दिवु क्रीड़ा विजीगीषु ... ...' धातु से देव-शब्द बना है ; जिसकी शब्दशास्त्र के अनुसार व्युत्पत्ति होती है—'**दिव्यते इति देवः**'—अर्थात् जिसकी पूजा या स्तुति होती है, वह देव है । ऐसे देव पूर्वोक्त सामर्थ्य एवं लक्षण वाले परमेश्वर, देवाधिदेव अर्हन् ही हो सकते हैं ; दूसरे नहीं ।

अब इस प्रकार के चार अतिशय वाले देवों की उपासना—सेवा-भक्ति करना, उनके शासन (धर्मसंघ) का स्वीकार करना, उनको सामने रख कर ध्यान-धारणा करना, उनकी शरण स्वीकार करना आदि बातों के लिए साग्रह अनुरोध कर रहे हैं --

ध्यातव्योऽयमुपास्योऽयमयं शरणमिष्यताम् ।
अस्यैव प्रतिपत्तव्यं शासनं, चेतनाऽस्ति चेत् ॥५॥

अर्थ

अगर आप में सद्-असद् का विचार करने की चेतना-बुद्धि है ; तो ऐसे देव का ध्यान करना, उपासना करना, शरण में जाना और इनके ही शासन (धर्मसंघ) का स्वीकार करना चाहिए।

व्याख्या

इस प्रकार के अतिशय वाले देवाधिदेव का राजा श्रेणिक के समान पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत रूप में ध्यान करना चाहिए । श्रेणिक राजा श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के वर्ण, प्रमाण, संस्थान, संहनन, चौतीस अतिशय वाले योग गुण आदि गुणों के माध्यम से उनका ध्यान करता था ;

जिसके प्रभाव से ही वह आगामी चौबीसी में उन्हीं के वर्ण, प्रमाण, संस्थान, संहनन और अतिशयों से युक्त पद्मनाभ नामक प्रथम तीर्थंकर बनेंगे। आगे हमने स्तुति करते हुए कहा भी है—'आपने पहले तन्मयचित्त हो कर महावीर परमात्मा का ध्यान किया है, जिससे आप उनके समान स्वरूप वाले तीर्थंकर अवश्य ही होंगे। सचमुच, योग का प्रभाव अद्भुत है! आगम में भी कहा है —'अरिहन्त श्रीमहावीर भगवान् जिस प्रकार के शील-सदाचार से युक्त हैं (थे); आप उसी प्रकार के शील-सदाचार से युक्त श्रीपद्मनाभ-अरिहन्त के रूप में होंगे। इसलिए इसी देव की सेवा और उपासना करनी चाहिए। हमारे द्वारा दुष्कृत की निन्दा और सुकृत की अनुमोदना इसी देव के सहारे से संसार के भय और दुःखों से हमें बचा सकती हैं। इसलिए इन्हीं की शरण लेने की अभिलाषा करो। पूर्वोक्त अतिशयरहित पुरुषों द्वारा वर्णित (उपदिष्ट) अन्य शासन (धर्मसंघ) का स्वीकार न करके, पूर्वोक्त लक्षणों से युक्त देवाधिदेव वीतराग के शासन को स्वीकार करो। यदि तुममें चेतना (सद्-असद् का विवेक करने की ज्ञानशक्ति) है तो पूर्वोक्त-लक्षणयुक्त देव का ध्यान आदि करो। वास्तव में, चेतनावान् को दिया हुआ उपदेश सफल होता है, चेतना (विवेकबुद्धि) से रहित व्यक्ति को दिया गया उपदेश निष्फल होता है। कहा भी है—अरण्य में रुदन, मुर्दे के शरीर पर मालिश, कुत्ते की टेढ़ी पूंछ को सीधी करने का प्रयत्न, बहरे को संगीत सुनाना, जमीन में कमल का बीज बोना एवं ऊषरभूमि पर हुई वर्षा ; ये सब बातें निष्फल हो जाती हैं, वैसे ही अज्ञानी व्यक्ति को दिया गया उपदेश व्यर्थ जाता है।

अब अदेव का लक्षण कहते हैं—

ये स्त्री-शस्त्राक्षसूत्रादि रागाद्यङ्ककलंकिताः।
निग्रहानुग्रहपरास्ते देवाः स्युर्न मुक्तये ॥६॥

अर्थ

जो देव स्त्री, शस्त्र, जपमाला आदि रागादिसूचक चिह्नों से दूषित हैं, तथा शाप और वरदान देने वाले हैं, ऐसे देवों की उपासना आदि मुक्ति का प्रयोजन सिद्ध नहीं करती।

व्याख्या

कामिनी स्त्री, त्रिशूल आदि अस्त्र-शस्त्र, जपमाला, डमरू आदि वस्तुओं को धारण करने वाले देव इनसे ताण्डवनृत्य, संहार, अट्टहास या आडम्बर करके लोकपूजित बन जाते हैं, लेकिन सच कहा जाय तो ये स्त्री, शस्त्र, जपमाला आदि सब चिह्न उनके राग, द्वेष, मोह आदि के सूचक हैं। स्त्री राग का कारण है, यदि वह स्वयं विरागी है तो फिर स्त्री रखने का क्या प्रयोजन? संसार में साधारण मनुष्य भी स्त्री रखता है और वे तथाकथित देव भी रखते हैं तो साधारण मनुष्यों से उनमें क्या विशेषता है? शस्त्र द्वेष का चिह्न है, वह भी किसी शत्रु या विरोधी के भय से अथवा अपनी दुर्बलता से रखा जाता है। जपमाला अपनी अज्ञता की निशानी है। माला अपने से किसी महान् व्यक्ति की ही फिराई जाती है। इसलिए माला रखने वाले तथाकथित देवों का भी उनसे बढ़कर कोई महान् देव होना चाहिए। जो वीतरागदेव होते हैं, राग-मोहरहित होने से उनके स्त्री का संग नहीं होता ; द्वेषरहित होने से वे विस्मृति की सूचक अथवा महत्पूजा की चिह्नरूप जपमाला भी नहीं रखते। राग, द्वेष और मोह से ही आत्मा में समस्त दोष आ कर जमा हो जाते हैं। समस्त दोषों के मूल ये तीन ही हैं। वध,

बन्धन, शाप या प्रहाररूप निग्रह, एवं पापों की सजा माफ करना व वरदानादिरूप अनुग्रह इन दोनों में तत्पर रहना भी राग-द्वेष के कारण होता है। अगर परमदेव भी इस प्रकार के हों तो वे मुक्ति के कारणभूत नहीं हो सकते। वैसे तो संसार में भूत, प्रेत, पिशाच आदि क्रीड़ा करने वालों में भी देवत्व माना जाता है, उनके उस देवत्व को कोई रोक भी नहीं सकता।

उन सामान्य देवों में मुक्ति के कारण का अभाव सूचित करते हैं—

नाट्याट्टहाससंगीताद्युपप्लवविसंस्थुलाः ।
लम्भयेयुः पदं शान्तं प्रपन्नान् प्राणिनः कथम् ?॥७॥

अर्थ

जो देव नाटक, अट्टहास, संगीत आदि राग (मोह)—वर्द्धक कार्यों में अस्थिर चित्त वाले हैं, वे अपनी शरण में आए हुए जीवों को शान्तपदरूप मुक्तिस्थान कैसे प्राप्त करायेंगे?

व्याख्या

यहाँ सकल सांसारिक प्रपंचजाल से रहित मुक्ति, केवलज्ञान आदि शब्दों से समझा जा सके, ऐसा शान्त मोक्षपद नाटक, अट्टहास, संगीत आदि सांसारिक उपाधि से डांवाडोल चित्तवृत्ति वाले देव अपने आश्रय में आए हुए भक्त वर्ग को कैसे प्राप्त करा सकते हैं? एरंड का पेड़ कल्पवृक्ष की समानता नहीं कर सकता। इसलिए राग, द्वेष और मोह के दोष से रहित एकमात्र वीतरागदेव ही मुक्ति को प्राप्त कराने वाले हो सकते हैं; दोपों से दूपित अन्य देव नहीं। इसके लिए यहाँ कई उपयोगी श्लोक (श्लोकार्थ) प्रस्तुत करते हैं—

'गलत एवं अयोग्य प्रवृत्तियाँ करने वाले होने से सामान्य जन से निम्न भूमिका के रुद्र, विरंचि एवं माधव सर्वज्ञ या वीतराग कैसे हो सकते हैं? स्त्री का संग काम का सूचक है, हथियार का ग्रहण द्वेष का द्योतक है। जपमाला अज्ञान का सूचक है और कमंडलु अशौच का द्योतक है। रुद्र के रुद्राणी, वृहस्पति के तारा, विरंचि के सावित्री, पुंडरीकाक्ष के पद्मालया, इन्द्र के शची सूर्य के रत्नादेवी, चन्द्र के दक्षपुत्री रोहिणी, अग्नि के स्वाहा, कामदेव के रति, यमदेव के धूमोर्णा नाम की स्त्री है। इस तरह देवों के साथ स्त्रियों का संग प्रगट है, और प्रत्येक के पास शस्त्र भी है, तथा प्रत्येक के पास मोह-विलास होने से उनके देवाधिदेवत्त्व में संदेह है ही। अतः निःसंदेह कहा जा सकता है कि देवाधिदेव पद का स्पर्श उन्होंने नहीं किया। अज्ञानतापूर्वक सारे संसार को शून्य बतलाने वाले सुगत में भी देवत्त्व घटित नहीं होता। शून्यत्त्व प्रमाण से सिद्ध होने के बाद शून्यवाद का कथन करना वृथा है और प्रमाण होने पर भी प्रमाण के बिना (प्रमाण के भी शून्य हो जाने पर) परपक्ष की भी शून्यसिद्धि नहीं हो सकती; तो फिर अपने पक्ष की सिद्धि किस तरह हो सकती है? सुगत सर्वपदार्थों में क्षणिकत्व मानते हैं तो साधक का अपनी क्रिया के फल के साथ सम्बन्ध कैसे जुड़ सकता है? क्षणिकवादियों का वध करने वाला भी फिर उस हिंसा का कारण कैसे होगा? इसी प्रकार क्षणिकवादी की स्मृति भी उसे कैसे पहिचान पाएगी या कैसे व्यवहार कर सकेगी? कृमियों आदि जीवों से भरा हुआ अपना शरीर व्याघ्र को सौंप देना; यह भी देय-अदेय-विवेक से शून्य कैसी विचित्र सौगत-दया है? अपने जन्म के समय ही माता के उदर को चीरने तथा मांस खाने के उपदेश

को सौगत दया कैसे कहा जा सकता है ? प्रकृति के धर्म की निरर्थकता को ज्ञान मान कर आत्मा (पुरुष) को निर्गुण, निष्क्रिय मानते हैं, ऐसे विवेकविकल कपिल को देव मानना कैसे सुसंगत हो सकता है ? समस्त दोषों के आश्रय के समान गणाधिप, स्कन्द, कार्तिकेय, पवन आदि को भी (परम) देव कैसे कहा जा सकता है ? गाय पशु है प्रायः विष्ठा भी खाती है, कई दफा अपने ही पुत्र के साथ मैथुन-सेवन करती है, मौका आने पर अपने सींगों से जीवों का घात भी कर डालती है, अतः वह वंदनीय कैसे हो सकती है ? 'वह दूध देती है' इसलिए उसे वन्दनीय माना जाय तो भैंस भी दूध देने वाली होने से वन्दनीय क्यों नहीं ? भैंस से गाय में खास विशेषता नहीं है। यदि गाय को प्रत्येक तीर्थ, ऋषि और देव का आश्रय-स्थान मानते हो तो उसे दूहते क्यों हो ? मारते और बेचते क्यों हो ? और मूसल, ऊखल, चूल्हा, चौखट, पीपल, नीम, वट, आक और जल आदि को देवता मानते हो, इनमें से किसका किसने त्याग किया ? इनमें देवत्व की मान्यता होने पर तो इनका इस्तेमाल करना ही छोड़ देना चाहिए, इन्हें सिर्फ पूजना ही चाहिये न ? इसी कारण वीतरागस्तोत्र में हमने कहा है—"उदर और उपस्थरूप इन्द्रियवर्ग में विड-म्बित देवों से कृतकृत्य बने हुए, हम देवों को मानने वाले देवास्तिक हैं, इस प्रकार की अहंबुद्धि वाले कुतीर्थी आप (वीतराग) जैसों का (देवत्वहीन मान कर) अपलाप करते हैं, सचमुच यह दुःख का विषय है।"

अब सुगुरु का लक्षण बताते हैं—

महाव्रतधरा धीरा भैक्षमात्रोपजीविनः ।
सामायिकस्था धर्मोपदेशका गुरवो मताः ॥८॥

अर्थ

पंच महाव्रत धारण करने वाले, उपसर्गों और परिषहों के समय धैर्य धारण करने वाले, भिक्षामात्र से अपना निर्वाह करने वाले, सामायिकचारित्री एवं शुद्धधर्म के उपदेष्टा गुरु माने गए हैं।

व्याख्या

अहिंसा आदि पांच महाव्रतों के धारक, आपत्काल में, उपसर्ग या परिषह आने पर उन्हें कायरता से रहित हो कर धैर्यपूर्वक सह कर अपने महाव्रतों को अखण्डित रखने वाले मुनि ही गुरु के योग्य हैं। गुरु में मूलगुणों का प्रतिपादन करके अब उनमें उत्तरगुणों का भी अस्तित्व बताने की दृष्टि से कहते हैं— **'भैक्षमात्रोपजीविनः'** अर्थात् वे गुरु आहार-पानी या आवश्यक धर्मोपकरण सिर्फ दातागृहस्थों से भिक्षा के रूप में प्राप्त कर एकमात्र भिक्षावृत्ति से निर्वाह करते हैं, न कि अपने पास उक्त पदार्थों की पूर्ति के लिए धन, धान्य, सोना-चांदी, गाँव या नगर आदि पर स्वामित्व-(ममत्व) रूप परिग्रह रखते हैं। अब गुरु में मूलगुण और उत्तरगुण को धारण करने में कारणभूत गुण बताते हैं— **'सामायिकस्थाः'** वे सामायिक चारित्र में स्थिर रहते हैं। सामायिक में स्थित हो कर ही वे मूलगुण और उत्तरगुणरूप चारित्र का पालन करने में समर्थ हो सकते हैं। यह सभी मुनियों का साधारण लक्षण है। अब गुरु का असाधारण लक्षण बताते हैं— **'धर्मोपदेशकाः'** सच्चे गुरु होते है वे शुद्ध धर्म—सूत्रचारित्ररूप, संवर-निर्जरामय, अथवा साधु-श्रावक-सम्बन्धिभेदयुक्त धर्म का उपदेश करते हैं। इसी कारण **'अभिधानचिन्तामणि'** कोश में हमने बताया है—'गुरुर्धर्मोपदेशकः ; गुरु वह है, जो धर्मोपदेश देता है।' सुशास्त्र के यथार्थ (सद्भूत) अर्थ का बोध देने वाला भी गुरु कहलाता है।

अब कुगुरु का लक्षण बताते हैं—

सर्वाभिलाषिणः सर्वभोजिनः सपरिग्रहाः ।
अब्रह्मचारिणो मिथ्योपदेशा गुरवो न तु ॥९॥

अर्थ

सभी वस्तुओं की चाह वाले, सभी प्रकार का भोजन कर लेने वाले; समस्त परिग्रहधारी, अब्रह्मचारी एवं मिथ्या उपदेश देने वाले गुरु नहीं हो सकते ।

व्याख्या

उपदेश आदि दे कर बदले में स्त्री, धन, धान्य, स्वर्ण, क्षेत्र, मकान, चौपाये पशु आदि सभी चीजें बटोरने के अभिलाषी, आवश्यक-अनावश्यक सभी प्रकार की वस्तुएँ संग्रह करके अपने अधिकार और स्वामित्व में रखने वाले, मांस, मदिरा, नशीली चीजें, सड़ी-बासी, अनन्तकाय आदि जो भी चीज मिल जाय उसे खा-पी लेने वाले सर्वभोजी, जमीनजायदाद, स्त्रीपुत्र आदि परिग्रह रखने वाले तथा उक्त परिग्रह के कारण अब्रह्मचारी अगुरु होते है । पूर्वोक्त महादोषों के कारण उन्हें अब्रह्मचारी (आत्मा से बाह्य पुद्‌गलों में रमण करने वाला—पुद्‌गलानन्दी) बतलाया है । अन्त में अगुरुत्व का एक असाधारण कारण बताया है—'मिथ्योपदेशाः' अगुरु का उपदेश शुद्ध धर्म से युक्त नहीं होता ; उसमें हिंसा, कामना, असत्य, मद्य या नशीली चीजो के सेवन आदि के पोषक वचन अधिक होते हैं । वह उपदेश आप्तपुरुषों के उपदेश से रहित होता है, इसलिए उसे धर्मोपदेश नहीं कहा जा सकता ।

यहाँ प्रश्न होता है कि धर्मोपदेश देने से ही उनका गुरुत्व सिद्ध हो गया, फिर उनमें निष्परिग्रहत्व आदि गुणों को खोजने की क्या आवश्यकता रह जाती है ? इसी के उत्तर में कहते हैं—

परिग्रहाऽरम्भमग्नास्तारयेयुः कथं परान् ।
स्वयं दरिद्रो न परमीश्वरीकर्तुमीश्वरः ॥१०॥

अर्थ

स्वयं परिग्रह और आरम्भ में गले तक डूबा हुआ, दूसरों को कैसे तार सकता है ? जो स्वयं दरिद्र हो, वह दूसरे को धनाढ्य कैसे बना सकता है ?

व्याख्या

स्त्री-पुत्र, धन-धान्य, जमीन-जायदाद आदि के परिग्रह के कारण जीवहिंसा आदि अनेक आरम्भों में डूबा रहने वाला, सभी पदार्थों को पाने की लालसा करने वाला एवं सर्वभोजी, होने से स्वयं ही संसारसमुद्र में डूबा हुआ है तो फिर दूसरों को भवसमुद्र से पार करने में कैसे समर्थ हो सकता है ? इसे ही साधक दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं—'जो स्वयं कंगाल हो, वह दूसरों को श्रीमान् कैसे बना सकता है ?'

अब धर्म का लक्षण बताते हैं—

दुर्गतिप्रपतत्प्राणिधारणाद् धर्म उच्यते ।
संयमादिदशविधः सर्वज्ञोक्तो विमुक्तये ॥११॥

अर्थ

दुर्गति में गिरते हुए जीवों को धारण-रक्षण करने के कारण ही उसे 'धर्म' कहते हैं। वह संयम आदि दश प्रकार का है, सर्वज्ञों द्वारा कथित है, और मोक्ष के लिए है।

व्याख्या

नरकगति और तिर्यंचगति ये दोनों दुर्गति हैं। दुर्गति में गिरते हुए जीवों का धारण करके रखने वाला— अर्थात् दुर्गति से बचाने वाला धर्म कहलाता है। यही धर्मशब्द का (व्युत्पत्ति से) अर्थ होता है, यही धर्म का लक्षण है। अथवा प्रकारान्तर से निरुक्तार्थ यह भी होता है कि जो सद्गतियों देवगति, मनुष्यगति या मोक्ष में जीवों को धारण - स्थापित करे वह धर्म है। पूर्वाचार्यों ने भी कहा है—**'यह दुर्गति में गिरते हुए जीवों को धारण करता है और शुभ स्थान में स्थापित करता है, इसी कारण इसे धर्म कहा जाता है।'** वह संयमादि दस प्रकार का धर्म सर्वज्ञकथित होने से मुक्ति के प्रयोजन को सिद्ध करता है। इस सम्बन्ध मे हम आगे बताएँगे। दूसरे देवों के असर्वज्ञ होने के कारण उनका कथन प्रमाणभूत नहीं माना जा सकता।

यहाँ प्रतिपक्षी की यह शंका हो सकती है कि सर्वज्ञ के कहे हुए तो कोई वचन हैं ही नहीं; क्योंकि वेद तो नित्य अपौरुषेय (पुरुष-कर्तृत्व से रहित) है, इसलिए उसके वचन तो किसी पुरुष के द्वारा कहे हुए हैं ही नहीं। अतः वेदवाक्य से ही तत्त्व का निर्णय कर लिया जायगा अथवा धर्म का स्वरूप जान लिया जायगा, फिर सर्वज्ञोक्त धर्म या तत्वनिर्णय की क्या जरूरत है? कहा भी है—'नोदना (वेद-प्रेरणा) से हर व्यक्ति भूत, भविष्य और वर्तमान, स्थूल और सूक्ष्म, दूर और निकट के पदार्थों को जान सकेगा; केवल इन्द्रियाँ तो कुछ भी नहीं जान सकतीं। वेद अपौरुषेय होने से उसकी प्रेरणा (नोदना) में पुरुष-सम्बन्धी किसी भी दोष के प्रवेश की सम्भावना नहीं है। इसलिए वही प्रमाणभूत होना चाहिए। न्यायशास्त्र में भी कहा है—शब्द वक्ता के अधीन होता है; वक्ता में दोष की सम्भावना है। जब गुणवान वक्ता में भी किसी समय निर्दोषता का अभाव हो सकता है, तब गुणों से रहित वक्ता के शब्द में दोषों के आने (संक्रमण) की सम्भावना तो अवश्यमेव है। अथवा किसी वचन में दोष है या नहीं, इस प्रकार की शंका पुरुष के वचनों में ही हो सकती है, जिसका वक्ता कोई पुरुष हो न हो, वहाँ वक्ता के अभाव में आश्रय के बिना दोष हो ही नहीं सकते। इसलिए अपौरुषेय वेद के वचनों में कर्तृत्व का अभाव होने किसी दोष के होने की कथमपि शंका नहीं हो सकती। उक्त शका का समाधान करते हुए कहते हैं—

अपौरुषेयं वचनमसम्भवि भवेद् यदि।
न प्रमाणं भवेद् वाचां ह्याप्ताधीना प्रमाणता ॥१२॥

अर्थ

पुरुष के बिना कोई भी वचन संभव नहीं होता, यानी असम्भव माना जाता है। कदाचित् ऐसा वचन हो तो भी वह प्रमाणरूप नहीं है। क्योंकि वचनों को प्रामाणिकता यथार्थ वक्ता-आप्तपुरुष के अधीन है।

व्याख्या

किसी पुरुष के द्वारा कहा हुआ वचन पौरुषेय वचन कहलाता है। कंठ, तालु आदि स्थानों एवं करणों के आघातपूर्वक जो बोला जाय, वह वचन कहलाता है। इसलिए जो भी वचन होगा वह

पौरुषेय—पुरुष-प्रयत्नकृत होगा। अपौरुषेय वचन परस्परविरुद्ध, आकाशकुसुम (या नभत्रसरेणु) के समान असंभव हैं तथा यह किसी प्रमाण से भी सिद्ध नही होता और न ही उसे अमूर्त कह कर अदृश्य कहा जा सकता है। क्योंकि शब्द तो मूर्त हैं, उन्हें मूर्त और शरीरधारी ही कह सकेगा; अशरीरी या अमूर्त नहीं। हाथ से ताली बजाने के शब्द की तरह शब्द-श्रवण को ही यदि प्रमाण मानते हो तो यह कथन भी यथार्थ नहीं है। क्योंकि ताली बजाने या चुटकी बजाने आदि से शब्द की उत्पत्ति मानने पर तो उल्टा अपौरुषेय दोष आता है। एक शब्द के लिए ही जब कण्ठ, तालु आदि स्थान, करण एवं अभिघात की आवश्यकता महसूस होती है, तब उसके जैसे अन्य अनेक शब्दों को प्रगट करने के लिए भी स्थान, करण आदि की आवश्यकता पड़ेगी। और फिर व्यंग्यशब्दों में भले ही स्थान आदि नहीं दिखाई देते हों, लेकिन शब्दों को अपौरुषेय मान लेने पर उनकी प्रतिनियम व्यंजक-व्यंग्यता कैसे सम्भव होगी। किसी गृहस्थ के घर में दही और घड़े के देखने के लिए दीपक जलाया तो वह दही आदि की तरह रोटी को भी बता देता है। इसलिए पूर्वोक्त युक्ति से वचन का अपौरुषेयत्व सिद्ध नहीं होता। यदि अप्रमाणिकता की आदत के बल पर वचन को आकाशकुसुम आदि के समान अपौरुषेय मान भी लें तो भी वह प्रमाणभूत नहीं माना जायगा; क्योंकि आप्तपुरुष के मुख से निकले हुए वचन ही प्रमाणभूत माने जाते हैं; अन्य वचन नहीं। चूंकि शब्द में गुण पैदा करना तो बोलने वाले के अधीन होता है। किसी दोषयुक्त वक्ता के शब्दों में गुणों का सङ्क्रमण (आरोपण) कैसे हो सकता है? ऐसे शब्दों की कोई प्रतीति नही होती; जिनका कोई कहने वाला न हो अथवा किसी कहने वाले के न होने से शब्दों में भी आश्रय के बिना गुण रह नहीं सकते। तथा इन वचनों में गुण हैं या नही? इसका निश्चय भी पौरुषेय वचनों से ही किया जा सकता है। वेदवचन तो किसी पुरुषकर्त्ता के न होने से उनमें गुण है या नहीं, ऐसी शंका नहीं होती।

इस प्रकार अपौरुषेय कथन की असंभावना बता कर विविध युक्तियों से उसके अभाव का प्रतिपादन करने के बाद अब असर्वज्ञ पुरुष के द्वारा कथित धर्म की अप्रमाणिकता बताते हैं—

मिथ्यादृष्टिभिराम्नातो, हिंसाद्यैः कलुषीकृतः।
स धर्म इति वित्तोऽपि, भवभ्रमणकारणम् ॥१३॥

अर्थ

मिथ्यादृष्टियों द्वारा प्रतिपादित तथा हिंसा आदि दोषों से दूषित धर्म संसार में धर्म के रूप में प्रसिद्ध होने पर भी वह संसार-परिभ्रमण का कारण है।

व्याख्या

रुद्र, दैत्यारि, विरंचि, कपिल, सुगत आदि विपरीत (एकान्तवाद के कारण दूषित) दृष्टि वालों से प्रतिपादित और भोले-भाले मंदबुद्धि लोगों द्वारा स्वीकृत धर्म, चाहे दुनिया में प्रसिद्ध हो गया हो, फिर भी चतुर्गतिक संसार में जन्म-मरण का कारण होने से एक तरह से अधर्म है ही। वह क्यों और कैसे? इसके उत्तर में कहते हैं कि वह धर्म हिंसा आदि दोषों से दूषित है। और मिथ्यादृष्टिप्रणीत शास्त्र प्रायः हिंसादि दोषों से दूषित हैं।

अब कुदेव, कुगुरु और कुधर्म की भर्त्सना करते हुए उनके मानने से हानि का प्रतिपादन करते हैं -

सरागोऽपि देवश्चेत्, गुरुरब्रह्मचार्यपि ।
कृपाहीनोऽपि धर्मः स्यात्, कष्टं नष्टं ह हा ! जगत् ।।१४।।

अर्थ

देवाधिदेव यदि सरागी हो, धर्मगुरु अब्रह्मचारी हो और दयारहित धर्म को अगर धर्म कहा जाय तो, बड़ा अफसोस है ! इनसे ही तो संसार की लुटिया डूबी है ।

व्याख्या

राग, द्वेष और मोह से युक्त देव हों, प्राणातिपात आदि पांच महापापों का सेवन करने वाले अब्रह्मचारी गुरु हों, दयारहित एवं मूलगुण-उत्तरगुणरहित धर्म का ही संसार में बोलबाला हो ; इसे देख कर हमें अपार खेद होता है ! अफसोस है कि ऐसे देव, गुरु और धर्म के कारण दुर्गतिगमन बढ़ जाने के कारण जगत् विनाश के गर्त में चला जा रहा है । किसी ने कहा है— यदि आराध्य माने जाने वाले देव ही रागी-द्वेषी हों ; या शून्यवादी हों, मदिरा पीना मांस खाना और जीव हिंसा करना ही धर्म हो, तथा तथाकथित धर्मगुरु ही विषयों में आसक्त हों, काम में मग्न हों, कान्ता में अनुरक्त हों, फिर भी पूजनीय माने जाते हों तो महादुःख की बात है । क्योंकि यत्र-तत्र-सर्वत्र बहक जाने वाले भोले भाले लोग इनका आश्रय ले कर पतन और विनाश के मार्ग पर बढ़े जा रहे हैं ।

इस प्रकार कुदेव, कुगुरु और कुधर्म का परित्याग कर सुदेव, सुगुरु और सुधर्म की प्रतीतिस्वरूप सम्यक्त्व की सुन्दर व्याख्या की गई है । किन्तु निश्चयदृष्टि से सम्यक्त्व शुभ आत्मा का शुद्ध परिणाम-रूप है ; जो अपने आप में अमूर्त है, जिसे हम देख नहीं सकते, किन्तु उस (परिणाम) के ५ चिह्नों से हम उसे (सम्यक्त्व को) जान सकते हैं । अतः अब उन ५-५ चिह्नों का वर्णन करते हैं—

शम-संवेग-निर्वेदाऽनुकम्पाऽऽस्तिक्यलक्षणैः ।
लक्षणैः पंचभिः सम्यक् सम्यक्त्वमुपलक्ष्यते ।।१५।।

अर्थ

शम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्यरूप पांच लक्षणों से सम्यक्त्व को भलीभांति पहचान सकते हैं ।

व्याख्या

अपनी आत्मा में रहा हुआ अथवा दूसरे की आत्मा में रहा हुआ परोक्ष सम्यक्त्व भी शम, संवेग, निर्वेद अनुकम्पा और आस्तिक्यरूपी पांच चिह्नों - बाह्य व्यवहारों से जाना जा सकता है । उन पाँचों का स्वरूप क्रमशः इस प्रकार है—

(१) **शम**—शम का अर्थ है—प्रशम अथवा क्रूर अनन्तानुबंधी कषायों का अनुदय ; कषायों को स्वभाव से या कषायपरिणति के कटुफल जान-देख कर उन्हें उदयावस्था में रोकना । कहा है कि— कर्मप्रकृतियों के अशुभ विपाक (कर्मफल) जान कर आत्मा का उपशमभाव का अभ्यास हो जाने से अप-राधी पर भी कभी क्रोध न करना प्रशम है । कई आचार्य क्रोधरूप खुजली और विषयतृष्णा के उपशम को शम कहते हैं । सवाल यह होता है कि सम्यग्दर्शनप्राप्त और साधुओं की सेवा करने वाले जीव के तो क्रोधकंडू (खाज) और विषयतृष्णा हो नहीं सकती । तब फिर निरपराधी और अपराधी पर क्रोध करने

वाले सम्राट् श्रेणिक और श्रीकृष्णजी, जिनमें विषयतृष्णा एवं क्रोधकंडू प्रत्यक्ष परिलक्षित होते थे, अतः उनमें पूर्वोक्त लक्षण वाला शम था, यह कैसे माना जाय ? और शम नहीं था तो उनमें सम्यक्त्व का अस्तित्व भी कैसे माना जाय ? इसका समाधान यों करते हैं ऐसी बात नहीं है कि उनमें शम का अभाव था, इसलिए सम्यक्त्व नहीं था। जैसे लुहार की भट्टी में धुंए से रहित राख से ढकी हुई आग होती है। उस आग में धुंआ जरा भी नहीं होता। उस सम्बन्ध में न्यायशास्त्रानुसार नियम (व्याप्ति) ऐसा है कि जहाँ जहाँ धुंआ है वहाँ-वहाँ अग्नि जरूर होती है, क्योंकि जहाँ लिंग (चिह्न) होता है, वहाँ लिंगी अवश्य होता है, बशर्ते कि लिंग का परीक्षा के द्वारा निश्चय कर लिया गया हो। इसीलिए कहते हैं कि धुंआ—चिह्न (लिंग) हो, वहाँ चिह्न वाला—अग्नि (लिंगी) अवश्य होता है। परन्तु जहाँ-जहाँ चिह्न वाला (लिंगी) हो, वहाँ वहाँ चिह्न (लिंग) का होना अनिवार्य नहीं है। जैसे कहीं कहीं लाल अंगारों वाली अग्नि धुंए से रहित भी होती है; वहाँ (लिंगी में) धुंएरूप लिंग (चिह्न) के होने का नियम नहीं है। लिंग-लिंगी का सम्बन्ध नियम के विपर्यास में होता है। इसी दृष्टि से श्री कृष्ण और श्रेणिक राजा दोनों निश्चितरूप से सम्यक्त्वी थे, लेकिन सम्यक्त्व के चिह्नरूप प्रशम कथंचित् था, कथंचित् नहीं। अनन्तानुबन्धी आदि कषायों की तीन चौकड़ी की अपेक्षा से उनका कषाय प्रशम था लेकिन संज्वलन कषाय की चौकड़ी की अपेक्षा से क्रोधादि प्रशम नहीं हुए थे। इसलिए उस अपेक्षा से उक्त दोनों महानुभावों के सम्यक्त्वी होते हुए भी उसमें संज्वलन क्रोधकडू तथा सूक्ष्म विषयतृष्णा का अस्तित्व था। कभी-कभी संज्वलनकषाय भी तीव्रता से अनन्तानुबन्धी के समान विपाक वाला होता है, यह बात भी स्पष्ट है।

(२) **संवेग**—संवेग का अर्थ है—मोक्ष की अभिलाषा। सम्यग्दृष्टि जीव राजा और इन्द्र के वैषयिक सुख को भी दुःखमिश्रित होने के कारण दुःखरूप मानते हैं; वे मोक्षसुख को ही एकमात्र सुख रूप मानते हैं। कहा भी है—सम्यक्त्वी मनुष्यों और इन्द्र के सुख को भाव (अन्तर) से दुःख मानता है और संवेग से मोक्ष के बिना और किसी वस्तु की प्रार्थना नहीं करता; वही संवेगवान होता है।

(३) **निर्वेद**—संसार से वैराग्य होना, निर्वेद है। सम्यग्दृष्टि आत्मा दुःख और दुर्गति से गहन बने हुए जन्म-मरणरूपी कैदखाने में कर्मरूपी डंड (दंडपाशक) से उन-उन यातनाओं को सहते हुए, उनके प्रतीकार करने से असमर्थ होता है; इसलिए निर्ममत्वभाव को स्वीकार करता हुआ दुःख से व्याकुल होता है, कहा भी है—"नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देवभव में परलोक की साधना किये बिना ममत्व के विष से रहित होकर वेगरहित निर्वेद (वैराग्य) पूर्वक दुःख का वेदन करता रहता है। कई आचार्यों ने संवेग और निर्वेद का अर्थ उक्त अर्थ से विपरीत किया है—संवेग यानी संसार से वैराग्य और निर्वेद यानी मोक्ष की अभिलाषा।

(४) **अनुकम्पा**— दुःखी जीवों पर दया करने की इच्छा अनुकम्पा है। पक्षपातरहित हो कर दुःखी जनों के दुःख को मिटाने की भावना ही वस्तुतः अनुकम्पा है। पक्षपातपूर्ण करुणा तो बाघ, सिंह आदि की भी अपने बच्चों पर होती है। वह अनुकम्पा द्रव्य और भाव से दो प्रकार की है। द्रव्य से अनुकम्पा कहते हैं—अपनी शक्ति के अनुसार दुःखी व्यक्ति के दुःख का प्रतीकार करके उसका दुःख दूर करना और भाव से दुःखी के प्रति कोमल हृदय रख कर दया से परिपूर्ण होना। कहा भी है—संसार-समुद्र में दुःखानुभव करते हुए जीवों को देख कर पक्षपातरहित हो कर अपनी शक्ति के अनुसार द्रव्य से और भाव से उन्हें धर्माचरण में जोड़ना ही वस्तुतः उनके दुःखों को निर्मूल करना है।

(५) **आस्तिक्य**—आत्मा है, आत्मा को अपनी शुभाशुभ प्रवृत्तियों के अनुसार फलस्वरूप मिलने वाला देवलोक, नरकगति, परलोक आदि है ; संसार में प्राणियों की विभिन्नता का कारण कर्म है, कर्मफल है, इस प्रकार जो मानता है, वह आस्तिक है उसका भाव (गुण) या कर्म (क्रिया) आस्तिक्य है। अन्यान्य धर्मतत्त्वों का स्वरूप सुनने-जानने पर भी जो कभी जिनोक्त धर्मतत्त्व को छोड़ कर दूसरे धर्मतत्त्व को स्वीकार करने की इच्छा नहीं करता, जिनोक्त धर्मतत्त्व पर ही जिसकी दृढ़ श्रद्धा होती है, वही सच्चा आस्तिक है। ऐसे आस्तिक की पहिचान धर्म और सम्यकत्व के प्रत्यक्ष न दिखाई देने (परोक्ष होने) पर भी आस्तिक्य से की जा सकती है। ऐसे आस्तिक्यलक्षणयुक्त सम्यक्त्वी के लिए कहा है—"जिनेश्वरों ने जो कहा है, वही सत्य और शंकारहित हैं, ऐसे शुभ परिणामों से युक्त और शंका, कांक्षा आदि दोषों से रहित हो, वह सम्यक्त्वी माना जाता है।

कतिपय आचार्यों ने शम आदि सम्यक्त्व के चिह्नों (लिंगों) की व्याख्या और ही रूप से की है। उनके मत से **शम** का अर्थ है—भलीभाँति परीक्षा किये हुए वक्ता (आप्त) के द्वारा रचित आगमों के तत्त्वों में आग्रह रख कर मिथ्याभिनिवेश का उपशम (शान्त) करना। यह सम्यग्दर्शन का (प्रथम) लक्षण है। संक्षेप में कहें तो, अतत्त्व का त्याग करके तत्त्व (सत्य) को ग्रहण करने वाला ही सम्यग्दर्शनी है। **संवेग** का अर्थ है—नरकादिगतियों में जन्म-मरण एवं दुःखों के भय से जिन प्रवचनों के अनुसार धर्माचरण करना और उनके प्रति श्रद्धा रखना। संवेगवान सम्यग्दृष्टि आत्मा नरकों में प्राप्त होने वाली शारीरिक, मानसिक यंत्रणाओं, शीत, उष्ण आदि वेदनाओं तथा वहाँ के क्लिष्टपरिणामी परमाधार्मिक असुरों द्वारा पूर्व वैर का स्मरण करा कर परस्पर असीम क्लेश की उदीरणा से होने वाली पीड़ाओं, तिर्यञ्चगति में बोझ उठाने की पराधीनता, लकड़ी, चाबुक आदि से मार खाते रहने आदि दुःखों, मनुष्य गति में दरिद्रता, दौर्भाग्य, रोग, चिन्ता आदि नाना विडम्बनाओं के विषय में चिन्तन करके उनसे डर कर उनका निवारण करने और उक्त दुःखों से शान्ति प्राप्त करने के उपायभूत सद्धर्माचरण करते है, तभी उनका संवेगरूप चिह्न दृष्टिगोचर होता है। अथवा सम्यग्दर्शन में उत्साह का वेग उत्तरोत्तर बढ़ते जाना—वर्धमान होना—सम्यक्त्व का संवेगरूप चिह्न है। **निर्वेद** का अर्थ है—विषयों के प्रति अनासक्ति-भाव। जैसे निर्वेदवान आत्मा विचार करता है—'संसार में कठिनता से अन्त आ सकने वाले कामभोगों के प्रति जीवों की जो आसक्ति है, वह इस लोक में अनेक उपद्रवरूप फल देने वाली है, परलोक में भी नरक-तिर्यञ्च-मनुष्य-जन्मरूपी अत्यन्त कटुफल देने वाले हैं। इसलिए ऐसे कामभोगों से क्या लाभ ? ये अवश्य ही त्याज्य है। इस प्रकार के निर्वेद (वैराग्य) से भी आत्मा के सम्यग्दर्शन की अवश्य पहिचान हो जाती है। **अनुकम्पा** का अर्थ है दूसरे के दुःख को देख कर हृदय में उसके अनुकूल कम्पन होना। उसकी क्रिया दया के रूप में होती है। अनुकम्पावान सोचता है—संसार में सभी जीव सुख के अभिलाषी है, दुःख से वे दूर भागते हैं, इसलिए मुझे किसी को भी पीड़ा नहीं देनी चाहिए। उसका जैसा दुःख है, वैसा ही मुझे दुःख है, इस प्रकार की सहानुभूतिरूप अनुकम्पा से सम्यक्त्वी की पहिचान हो जाती है। इसी प्रकार जिनेन्द्र-प्रवचनों में उपदिष्ट अतीन्द्रिय (इन्द्रियपरोक्ष) वस्तु-जीव (आत्मा), कर्म, कर्मफल, परलोक, पुण्य, पाप आदि भाव अवश्य हैं, इस प्रकार का परिणाम हो तो समझा जा सकता है कि इस आत्मा में आस्तिक्य है। इस आस्तिक्य के कारण भी सम्यक्त्वी की पहिचान हो सकती है।

इस प्रकार पूर्वोक्त पांच चिह्नों से किसी आत्मा में सम्यग्दर्शन के होने का निश्चय किया जा सकता है।

अब सम्यक्त्व के ५ भूषण बताते हैं—

स्थैर्यं, प्रभावना, भक्तिः ; कौशलं जिनशासने ।
तीर्थसेवा च पञ्चाऽस्य भूषणानि प्रचक्षते ॥१६॥

अर्थ

(१) जिनशासन (धर्मसंघ) में स्थिरता, (२) उसकी प्रभावना (प्रचार-प्रसार), (३) भक्ति, (४) उसमें कुशलता और (५) तीर्थसेवा ये पांच उक्त सम्यक्त्व के भूषण (शोभावर्द्धक) कहे गये हैं ।

व्याख्या

सम्यक्त्व के साथ जिनके जुड़ने से उसकी शोभा बढ़े, उसे सम्यक्त्वभूषण कहते हैं । ये जिन शासन (धर्मसंघ) की शोभा बढ़ाने वाले भूषण पांच हैं—

(१) **जिनोक्त धर्म (संघ) में स्थिरता**—किसी का मन आपत्ति, शंका आदि कारणों से धर्म से चलायमान हो रहा हो, कोई व्यक्ति धर्म से डिग रहा हो या पतित हो रहा हो, उसे समझा-बुझा कर उपदेश या प्रेरणा दे कर धर्म में स्थिर करना अथवा अन्यसम्प्रदायीय (दर्शनीय) ऋद्धि-समृद्धि, आडम्बर या चमत्कार देख कर स्वयं भी जिनशासन के प्रति अस्थिर न होना स्थिरता है ।

(२) **धर्म (शासन) प्रभावना**—जिसे जिनशासन नहीं प्राप्त हुआ, उसे विभिन्न प्रभावनाओं प्रचार-प्रसार के विभिन्न निमित्तों द्वारा शासन की ओर प्रभावित करना । प्रभावना करने वाले ८ प्रकार है—प्रावचनिक, धर्मकथाकार, वादी, नैमित्तिक, तपस्वी, विद्यावान, सिद्धिप्राप्त और कवि ।

प्रावचनिक या प्रवचन-प्रभावक—जो द्वादशांगीरूप प्रवचनों या गणिपिटकों के अतिशय ज्ञान द्वारा युगप्रधान शैली में जनता को प्रभावित करता है, जनता में आगमज्ञान के प्रति प्रकर्ष भावना पैदा करता है ; अपने युगलक्षी प्रवचनों से जनजीवन को धर्माचरण के लिए प्रेरित करता है, वह प्रवचन-प्रभावक कहलाता है ।

धर्मकथा-प्रभावक— जो विविध युक्ति, दृष्टान्त आदि के द्वारा जनता को सुन्दर धर्मोपदेश देने की शक्ति रखता हो और जनता को धर्मकथा से प्रभावित करके धर्मबोध देता हो, वह धर्मकथा प्रभावक कहलाता है ।

वाद-प्रभावक—जो वादी, प्रतिवादी, सभ्य और सभापति-रूप चतुरंगिणी सभा में प्रतिपक्ष की युक्तियों का खण्डन करके स्वपक्ष की स्थापना करने में समर्थ हो । इस प्रकार अपनी वाद (तर्क) शक्ति से लोगों को प्रभावित करता हो, उसे वादप्रभावक कहते हैं ।

निमित्त-प्रभावक—जो भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों काल-सम्बन्धी लाभालाभ का विज्ञ हो तथा निमित्तशास्त्रज्ञ हो ; और अपने उक्त ज्ञान से जनता को उसके भूत, भविष्य एवं वर्तमान के जीवन से धर्मबोध दे कर धर्मसाधना की ओर आकर्षित करता हो, वह निमित्त-प्रभावक होता है ।

तपस्या-प्रभावक (तपस्वी)—अट्ठम आदि विविध कठोर तपस्या करके जनता को आत्मशक्ति

का परिचय देने तथा तपस्या करके आत्मशुद्धि द्वारा आत्मशक्ति प्रगट करने के लिए प्रभावित करने वाला तपस्या-प्रभावक होता है।

विद्याप्रभावक—प्रज्ञप्ति, रोहिणी आदि विविध विद्यादेवियाँ सिद्ध करके तदधिष्ठित विद्याएँ प्राप्त करने वाला विद्याप्रभावक होता है। विद्याप्रभावक अपनी विद्या के प्रयोग द्वारा शासन पर आए हुए विविध उपसर्गों, कष्टों और आफतों को दूर करता है।

सिद्धि-प्रभावक—वैक्रिय आदि विविध लब्धियाँ तथा अणिमा आदि विविध सिद्धियाँ, तथा अंजन, पादलेप आदि आकर्षक तन्त्रप्रयोग जिसे प्राप्त हो और संघ की प्रभावना के लिए ही उनका प्रयोग करता हो, वह सिद्धिप्रभावक कहलाता है।

काव्य प्रभावक (कवि)—गद्य, पद्य आदि में विविध वर्णनात्मक प्रबन्ध या कविता आदि की रचना करके जनता को उस लेख, निबन्ध, कथा या कविता आदि के द्वारा धर्माचरण मे प्रेरित ; धर्म के प्रति प्रभावित करने वाला काव्यप्रभावक कहलाता है।

प्रावचनिक आदि आठों प्रकार के प्रभावक अपनी शक्ति के अनुसार देश, काल आदि के अनुरूप जिनशासन के प्रचार-प्रसार मे योगदान दे कर प्रभावना करते है। इसलिए प्रभावना को सम्यग्दर्शन का द्वितीय भूषणरूप बताया है।

(३) **भक्ति**—संघ की सेवा (वैयावृत्य), विनय करना भक्ति है। साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविकारूप चतुर्विध धर्मसंघ (शासन) कहलाता है। संघ मे प्रधान ईकाई साधु या साध्वी है। अतः अपने से ज्ञान और चारित्र से अधिक गुण वाले आएं, तब खड़े हो कर, सामने स्वागत के लिए जा कर, मस्तक पर अंजलि करके, अथवा उन्हें आसन दे कर उनका सत्कार करना, गुणाधिक चारित्रात्मा के आसन स्वीकार कर लेने पर स्वयं आसन ग्रहण करना, उनका बहुमान तथा उनकी उपासना करना, उनको वन्दन करना, उनके पीछे-पीछे चलना ; यों आठ प्रकार से उपचारविनय करना भक्ति है, जो आठ कर्मों को नष्ट करने वाली है। इसी प्रकार आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, नवदीक्षित साधु, रुग्ण, कुल, गण, संघ, साधु, ज्ञानवान आदि संघस्थ व्यक्तियों की सेवा (वैयावृत्य) करना। वैयावृत्य के उत्कृष्ट पात्रों को आहार-पानी, वस्त्र, पात्र उपाश्रय, पट्टे, चौकी, पटरा, आसन (संस्तारक) आदि धर्म-साधन देना, उनकी औषध भैषज्य आदि द्वारा सेवा करना, कठिन मार्ग में उनके सहायक बनना। चतुर्विध संघ पर आए हुए विघ्नों या उपसर्गों का निवारण करना ; ये सब प्रकार सेवाभक्ति के हैं। इनमें शासन की शोभा बढ़ती है, इसलिए भक्ति को सम्यक्त्व का तीसरा भूषण बताया है।

(४) **जिनशासन में कुशलता**—धर्म के सिद्धान्तों को समझाने तथा धार्मिकों पर आई हुई उलझनों का सुलझाने, समस्या हल करने की कुशलता भी अनेक व्यक्तियों को धर्मसंघ में स्थिर रखती है, संघसेवा के लिए प्रेरित करती है। जैसे श्रेणिकपुत्र अभयकुमार की कुशलता से अनार्यदेशवासी आर्द्रक कुमार को प्रतिबोध मिला ; वैसी ही कुशलता प्राप्त करनी चाहिए।

(५) **तीर्थसेवा**—नदी आदि में सुखपूर्वक उतरने के लिए घाट (तीर्थ) होता है, वैसे ही संसार से सुखपूर्वक पार उतरने के लिए तीर्थ (धर्म-संघ) होता है। यह तीर्थ दो प्रकार का होता है—जिस भूमि पर तीर्थंकरों का जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान और निर्वाण हुआ, उस स्थान को लोकप्रचलित भाषा में 'तीर्थ' कहा जाता है ; इसे जैन परिभाषा में द्रव्यतीर्थ कहते हैं। यह भी दर्शनीय होता है।

मगर भावतीर्थ तो साधु, साध्वी श्रावक, श्राविकारूप चतुर्विध श्रमणसंघ होता है। इसके माहात्म्य के सम्बन्ध में भगवान् महावीर और गणधर गौतम का एक संवाद मिलता है – गणधर गौतम ने पूछा— "भगवन् ! तीर्थंकर तीर्थ है अथवा तीर्थ तीर्थ है ?" तब भगवान् ने उत्तर दिया—'गौतम ! तीर्थंकर तो तीर्थ (स्वरूप) हैं ही, परन्तु चार वर्ण (साधु साध्वी-श्रावक-श्राविका) वाला श्रमणसंघ भी तीर्थ है।" इस दृष्टि से प्रथम गणधर आदि भी तीर्थरूप हैं। ऐसे तीर्थ की सेवा (पूर्वोक्त प्रकार से) करना तीर्थसेवा है, जो सम्यक्त्व की शोभा में चार चांद लगाने वाली है। इस प्रकार सम्यक्त्व के पाँच भूषण बता कर अब उसके ५ दूषण बताते हैं —

शंका कांक्षा विचिकित्सा मिथ्यादृष्टिप्रशंसनम् ।
तत्संस्तवश्च पञ्चापि सम्यक्त्वं दूषयन्त्यलम् ॥१७॥

अर्थ

शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, मिथ्यादृष्टि की प्रशंसा और उसका गाढ़ परिचय (संसर्ग), ये पांचों सम्यक्त्व को अत्यन्त दूषित करते हैं।

व्याख्या

शंका आदि पांच दूषण निर्दोष सम्यक्त्व को बहुत दूषित करते हैं, इसलिए इन्हें दूषण कहा है। क्रमशः इनका लक्षण यों है—

शंका—संदेह करना शंका है। शंका सर्वविषयक (सर्वांश की) भी होती है, देशविषयक (आंशिक) भी। सर्वविषयक शंका यथा—'पता नहीं, यह धर्म होगा या नहीं ? देशविषयक शंका धर्म के किसी एक अंग के सम्बन्ध में होती है, जैसे—यह जीव तो है, परन्तु सर्वगत है या असर्वगत ? प्रदेश वाला है या अप्रदेशी ? ये दोनों प्रकार की शंकाएँ वीतरागकथित प्रवचन पर अविश्वासरूप होने से सम्यक्त्व को दूषित-मलिन बना देती है ; उसमें चल, मल या अगाढ दोष पैदा कर देती है। जिज्ञासा के रूप में किसी के सामने कोई शंका प्रस्तुत करना दोषयुक्त नहीं, किन्तु विजिगीषा या अश्रद्धा से प्रेरित हो कर शंका करना दोषपूर्ण है। कदाचित् मोहवश कोई संशय पैदा हो जाय तो श्रद्धा एवं विनय के साथ अर्गला के समान उसे धारण करके रखे और यथावसर ज्ञानवान महानुभावों के समक्ष प्रगट करे। किसी गंभीर विषय में अपनी दुर्बलमति के कारण अथवा उसका समाधान करने वाले आचार्यों का संयोग न मिलने से या अपने ज्ञानावरणीय कर्म के उदय के कारण समझने योग्य विषय को अत्यन्त गहन होने से या उदाहरण संभव न होने से उसका यथार्थ अर्थ समझ में न आए तो बुद्धिमान श्रद्धालु व्यक्ति यों विचार करे कि वीतराग सर्वज्ञ प्रभु तो यथार्थ कथन करते हैं, वे किसी की ओर से उपकार की आशा-स्पृहा से निरपेक्ष, निःस्वार्थ परोपकारपरायण, जगत् में सर्वश्रेष्ठ त्यागी, रागद्वेष-मोह-विजेता होते हैं। वे कदापि विपरीत कथन नहीं करते ! इसलिए ऐसे आप्त (विश्वस्त) पुरुष द्वारा कथित होने से श्रद्धारहित शंका करना उचित नहीं है। उनके वचन तो सर्वथा सत्य हैं, परन्तु मेरी बुद्धिमन्दता या अज्ञानता के कारण समझ में नहीं आ रहे है, तो मुझे धैर्य के साथ श्रद्धापूर्वक उस सत्य को मान लेना चाहिए। क्योंकि आगम से जाने जा सकें, ऐसे पदार्थ की हम सरीखे सामान्य व्यक्ति परीक्षा नहीं कर सकते। इसलिए आगमोक्त अक्षर (सत्य) के प्रति हमें अश्रद्धा नहीं लानी चाहिए, अश्रद्धा से ही व्यक्ति मिथ्यादृष्टि बनता है। अतः जिनोक्त शास्त्र हमारे लिए प्रमाण हैं।

कांक्षा - किसी के आडम्बर या प्रलोभन से आकृष्ट हो कर उस दर्शन को स्वीकार करने की इच्छा करना कांक्षा कहलाती है। यह भी देश और सर्व के भेद से दो प्रकार की है। सर्वविषयक कांक्षा है सभी मतों या धर्म-समुदायों की कांक्षा होना। देशकांक्षा है—किसी एक मत, पथ या सम्प्रदाय-विषयक कांक्षा होना ; उदाहरण के तौर पर—'कोई यह कहे कि सुगत ने भिक्षुओं के लिए कष्टरहित धर्म का उपदेश दिया है। वहाँ तो भिक्षुओं के लिए स्नान है, प्रिय स्वादिष्ट भोजन, पान व बढ़िया वस्त्र विहित है, गुदगुदी कोमल शय्या का विधान है। इस तरह सभी प्रकार की सुख-सुविधाओं का उपभोग बता कर धर्ममार्ग सर्वसुलभ बना दिया है। उनके किसी धर्मग्रन्थ मे कहा है—"कोमल शय्या पर शयन करना, सुबह उठते ही मधुर पेय पीना, मध्याह्न में स्वादिष्ट भोजन करना, शाम को फिर पेय पीना और मध्यरात्रि में द्राक्षा और शक्कर का आहार करना, इन सबके परिणामस्वरूप शाक्यसिंह ने मोक्ष देखा है।" यह बात सर्वसाधारण के अनुकूल होने से झटपट उस तरफ झुकाव हो जाता है। परिव्राजक, भौत, ब्राह्मण आदि के मत में बताया है कि यहाँ विषय-सुख का आस्वादन करने वाले ही परलोक में सुखोपभोग करते हैं। इसलिए इस मत की साधना भी करके देखनी चाहिए। इस प्रकार की कांक्षा वीतराग-प्रभु के बताये हुए आगमों में अविश्वास की जननी होने से सम्यक्त्व को दूषित करती है।

विचिकित्सा—धर्माचरण के फल में सन्देह रखना विचिकित्सा है। चित्त की अस्थिरता से से, आगमोक्त महातप, सम्यक्-चारित्र, सम्यग्दर्शन या सम्यग्ज्ञान की साधना ; तो बहुत ही रूक्ष, बालू के कौर के समान स्वादरहित और नीरस है, पता नहीं, इतना सब महाकष्टों के सहने के बाद भी इनका फल मिलेगा या नहीं ? ओफ ! यह तप तो बहुत ही क्लेशदायी और निर्जराफल से रहित मालूम होता है ! किसान चौमासा लगते ही वर्षा का निश्चय न होने पर भी जैसे जमीन जोतने आदि की मेहनत करता है, वैसे ही इस तपस्या वगैरह के लिए किया गया कठोर श्रम निष्फल ही प्रतीत होता है और सफल भी। कहा भी है—'पूर्वकालीन साधक पुरुष यथोचित मार्ग पर चलने वाले थे, इसलिए उनको तो योग्य फल मिल सकता था परन्तु हम इस निकृष्ट युग के तथा बुद्धि और संघयण से हीन जीव है, हमें उनके समान फल की प्राप्ति कैसे हो सकती है ?' इस प्रकार की विचिकित्सा भी भगवद्वचनों के प्रति अश्रद्धारूप होने से सम्यक्त्व का दोष है। शंका और विचिकित्सा में अन्तर है। शंका हमेशा समग्र और असमग्र पदार्थ-विषयक द्रव्य-गुण-सम्बन्धी होती है ; जबकि विचिकित्सा क्रिया के फल से सम्बन्धित होती है। अथवा विचिकित्सा का यह अर्थ भी है—सदाचारी मुनियों के आचार के सम्बन्ध में निन्दा करना। जैसे ये मुनि शरीर पर पसीने के कारण बड़े दुर्गन्धित और मलिन क्यों रहते हैं, क्यों नहीं अच्छी तरह स्नान कर लेते ? अचित्त पानी से स्नान करने में कौन-सा दोष लग जाता है ? इस प्रकार भगवदुक्त धर्म के सम्बन्ध में अश्रद्धारूप होने से तत्त्वतः सम्यक्त्व का दोष है।

मिथ्यादृष्टिप्रशंसा—विपरीत दर्शन वालों-मिथ्यादृष्टियों की प्रशंसा करना मिथ्यादृष्टिप्रशंसा है। यह भी देशतः और सर्वतः दो प्रकार की होती है। सर्वतः प्रशंसा, जैसे कोई कहे कि 'कपिल आदि सबके दर्शन युक्तियुक्त हैं।' इस प्रकार माध्यस्थभाववाली प्रशंसा करना सम्यक्त्वदूषण है। जैसा कि एक स्तुति में कहा है—"हे नाथ ! परमत वाले आपसे मत्सर करते हैं, लोगों की आकृति से आपकी आकृति अतिशयसम्पन्न है, इस बात को वे नहीं मानते। इस प्रकार माध्यस्थ्य अंगीकार करके वे मणि और कांच के टुकड़े का अन्तर नहीं जानते।" देशतः प्रशंसा, यथा— यह सुगतवचन अथवा सांख्यवचन या कणादवचन ही यथार्थ हैं। यह तो स्पष्टतः सम्यक्त्व का दोष है।

मिथ्यादृष्टि का गाढ़ परिचय— ऐसे मिथ्यादृष्टियों के साथ एक स्थान में रहना, परस्पर वार्तालाप आदि व्यवहार बढ़ा कर उनका अतिपरिचय करना। एक जगह साथ रहने से या बारबार उनके सम्पर्क में आने से, उनकी प्रक्रिया के सुनने-देखने से दृढ़सम्यक्त्वी की दृष्टि में भी शिथिलता आना सम्भव है ; तब मन्दबुद्धि वाले, धर्म का स्वीकार करने वाले नवागन्तुकों के मन में भिन्नता आ जाय इसमें तो कहना ही क्या ? इस दृष्टि से मिथ्यादृष्टि के गाढ़परिचय को सम्यक्त्व का दूषण बताया गया है।

अत: यह आवश्यक है कि जिसे विशिष्ट द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप सम्यक्त्वसामग्री प्राप्त हुई हो, वह उसे टिकाने और यथार्थरूप से पालन करने हेतु गुरुदेव से विधिपूर्वक सम्यक्त्व ग्रहण करे। कहा भी है – दोष की सम्भावना की स्थिति में श्रमणोपासक मिथ्यात्व से वापिस हटने की दृष्टि से पहले द्रव्य और भाव से पुन: सम्यक्त्व अंगीकार करे। तत्पश्चात् उसे परमतीय देवों या देवालयों में प्रभावना, वन्दना-पूजा आदि कार्य नहीं करना चाहिए और न ही लोकप्रवाह में बह कर लौकिक तीर्थों में (पूज्य-बुद्धि से) स्नान, दान, पिंडदान यज्ञ, व्रत, तप, संक्रान्ति, चन्द्रग्रहण, सूर्यग्रहण आदि के अनुष्ठान इत्यादि करना चाहिए।

जब मिथ्यात्वमोहनीय कर्म की कुछ कम एक सागरोपम कोटाकोटि स्थिति शेष रह जाती है, तब जीव सम्यक्त्व प्राप्त करता है। और शेष रही हुई स्थिति में से दो से नौ पल्योपम की स्थिति जब पूर्ण करता है तब देशविरतिश्रावकगुणस्थान प्राप्त करता है। कहा भी है—"सम्यक्त्वप्राप्ति के बाद पल्योपम पृथक्त्व में अर्थात् ऊपर कहे अनुसार दो से नौ पल्योपम की स्थिति और पूर्ण करने पर व्रतधारी श्रावक होता है।

हमने पहले कहा था —'पांच अणुव्रत सम्यक्त्वमूलक होते हैं। इनमें से सम्यक्त्व का स्वरूप विस्तार से बता कर अब अणुव्रतों का स्वरूप बताते हैं—

विरतिः स्थूल हिंसादेर्द्विविध-त्रिविधादिना।
अहिंसादीनि पंचाणुव्रतानि जगदुर्जिनाः ॥१८॥

अर्थ

स्थूल हिंसा आदि से द्विविध त्रिविध आदि यानी ६ प्रकार आदि रूप से विरत होने को श्रीजिनेश्वरदेवों ने अहिंसादि पांच अणुव्रत कहे हैं।

व्याख्या

मिथ्यादृष्टियों अथवा स्थूलदृष्टि वालों में भी जो हिंसारूप से प्रसिद्ध है, उसे स्थूलहिंसा या त्रस जीवों की हिंसा कहते हैं। स्थूलशब्द से उपलक्षण से निरपराधी त्रसजीवों की संकल्पपूर्वक हिंसा का अर्थ भी गृहीत होता है। आदि शब्द से स्थूल झूठ, स्थूल चोरी, स्थूल अब्रह्मचर्य और स्थूल अपरिग्रह का भी समावेश हो जाता है। स्थूलरूप से हिंसा आदि का त्याग करना या इनसे निवृत्त होना ही पंचाणुव्रत हैं ; जिनके अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह नाम लोकप्रसिद्ध हैं। इन पांच अणुव्रतों का प्रतिपादन तीर्थंकर भगवन्तों ने किया है। प्रश्न होता है कि तीर्थंकरों ने सर्व (सामान्यत:)-विरति (त्याग) श्रमणोपासकों के लिए क्यों नहीं बताई ? द्विविध-त्रिविधरूप से ही क्यों बताई ?

इसके समाधान में कहते हैं—चूंकि गृहस्थ अपने परिवार के साथ रहता है, साथ ही इसके लिए धन-धान्य आदि परिग्रह का भी उसे स्वीकार करना पड़ता है, ऐसी दशा मे परिवार में से कोई व्यक्ति हिंसा, परिग्रह आदि करें तो उसमें उक्त व्रती गृहस्थ की अनुमति-अनुमोदना आ ही जाती है; इस दृष्टि से उसे अनुमोदना का दोष लगता ही है। अन्यथा परिग्रही और अपरिग्रही मे कोई अन्तर न रहने से दीक्षित (श्रमण) और अदीक्षित (श्रमणोपासक) का भेद ही समाप्त हो जायगा। इसलिए द्विविध-त्रिविधरूप से ही हिंसा आदि के त्याग का श्रावक के लिए आम विधान है। जिसका अर्थ यों है—द्विविध यानी दो करण—करना और कराना, त्रिविध यानी तीन योग मन, वचन और काया। इसका अर्थ यों हुआ कि मैं मन, वचन, और काया से, स्थूल हिंसा नही करूंगा, न ही कराऊंगा। तीसरा करण अनुमोदन खुल्ला है। यहाँ शंका होती है कि भगवतीसूत्र आदि आगमों मे श्रावक के लिए त्रिविध त्रिविध (तीन करण तीन योग से) प्रत्याख्यान करना विहित है। शास्त्र मे प्रतिपादित होने से वह अनवद्य (निर्दोष) ही है, तब उसका प्रतिपादन यहाँ क्यों नही करते ? इसके समाधान मे कहते हैं—किसी विशेष परिस्थिति में ही श्रावक के लिए यह विहित है ; जैसे कोई श्रावक मुनिदीक्षा लेने का अभिलाषी हो, किन्तु पुत्रादि परिवार के पालन करने हेतु प्रतिमा धारण करके रहता है, वह; अथवा जो श्रावक स्वयम्भूरमण आदि समुद्रों में रहे हुए मत्स्य आदि की स्थूल हिंसा आदि का विशेष परिस्थिति मे प्रत्याख्यान करता है, वह, पूर्वोक्त त्रिविध-त्रिविधरूप प्रत्याख्यान कर लेता है ; उनकी अपेक्षा से भगवतीसूत्रादि मे वैसा विधान किया गया है। और उसका समावेश करने की दृष्टि से ही यहाँ द्विविध-त्रिविध' शब्द के आगे 'आदि' शब्द का प्रयोग किया है। मगर इस प्रकार के आराधक श्रावक बहुत ही विरले होते है। इसलिए हमने यहा नही बताया। आमतौर पर श्रावक के लिए द्विविध-त्रिविध रूप से प्रत्याख्यान विहित है।

श्लोक के दूसरे चरण मे द्विविध के आगे 'आदि' शब्द पड़ा है, अतः द्विविध त्रिविध के अलावा जो विकल्प (भंग) होते हैं, वे इस प्रकार हैं—

द्विविध-द्विविध—स्थूलहिंसा न करे, न कराये ; मन और वचन से, अथवा मन और काया से, या वचन और काया से। यह दूसरा प्रकार है। जब मन और वचन से करने-कराने का प्रत्याख्यान करता है, तब मन से अभिप्राय न दे कर वचन से भी हिंसा के लिए कथन नही करता; काया से भी असंज्ञी की तरह पापचेष्टा करता है। मन और काया से हिंसा न करने न कराने का अर्थ यह है कि मन मे हिंसा का अभिप्राय नही रखना, काया मे भी हिंसा-प्रवृत्ति का त्याग करता है। परन्तु अनुपयोग (अज्ञान) अवस्था में ही वाणी से कभी हिंसा-प्रवृत्ति कर बैठता है। वचन और काया से करने-कराने के त्याग का अर्थ तो स्पष्ट है, लेकिन इस प्रकार के भंग मे त्याग करने पर मन से अभिप्राय करके हिंसा करने-कराने की छूट रहती है अनुमोदन-त्याग तो उक्त तीनों में नही है। इस प्रकार अन्य विकल्पों का भी विचार कर लेना चाहिए।

द्विविध-एकविध करने और कराने का सिर्फ मन से या सिर्फ वचन से या सिर्फ काया से त्याग करना। यह तीसरा प्रकार है।

एकविध-त्रिविध—हिंसादि करने या कराने का मन से वचन से, और काया से त्याग करना। यह चौथा प्रकार है।

एकविध-द्विविध —हिंसादि करने या कराने का मन और वचन से या मन और काया से, अथवा वचन और काया से त्याग करना। यह पांचवां विकल्प है।

एकविध-एकविध—हिंसादि करने या कराने का सिर्फ मन से या सिर्फ वचन से या सिर्फ काया से त्याग करना यह छठा प्रकार है।

इसे एक श्लोक में यों संगृहीत किया गया है—प्रथम भेद—द्विविधत्रिविध, द्वितीय भेद—द्विविध-द्विविध, तृतीय भेद—द्विविध-एकविध, चतुर्थ भेद—एकविध-त्रिविध, पांचवां भेद—एकविध-द्विविध और छठा भेद—एकविध-एकविध है। इन सब विकल्पों (भंगों) की तीन करण और तीन योग के साथ गणना की जाय तो इनके कुल ४६ भेद होते हैं। वे इस प्रकार हैं—

हिंसा न करने के करण (कृत) की अपेक्षा से ७ विकल्प—(१) मन, वचन, काया से, (२) मन और वचन से, (३) मन और काया से, (४) वचन और काया से, (५) सिर्फ मन से (६) सिर्फ काया से। इसी तरह हिंसा न कराने (कारित) की अपेक्षा से ७ विकल्प होते हैं। तथा अनुमोदन की अपेक्षा से भी सात विकल्प होते है—हिंसा न करे, न करावे, मन से, वचन से, काया से, मन-वचन से मन-काया से, वचन-काया से, मन, वचन और काया से यह करण और कारण से होने वाले सात भंग हुए। इसी तरह करण के अनुमोदन से सात भग, कारण (कारित) के अनुमोदन से सात भंग, तथा करना, कराना और अनुमोदन से होने वाले सात भंग। ये सब मिला कर ४६ विकल्प-भग होते ह। और ये त्रिकाल-विषयक होने से प्रत्याख्यान के कुल १४७ भग होते हैं। ग्रन्थों में कहा है कि—'जिसने प्रत्याख्यान (पच्चक्खान) के १४७ विकल्प (भंग) हस्तगत कर लिये, वह प्रत्याख्यान-कुशल माना जाता है। उससे कम भंगों वाला सर्व भंगों से प्रत्याख्यान के रूप में अकुशल समझा जाता है। त्रिकाल-विषयक इस प्रकार से है : अतीतकाल में जो पाप हुए हों, उनकी निंदा करना, वर्तमानकाल के पापों का संवर करना (रोकना) और भविष्यकाल के पापों का प्रत्याख्यान करना। कहा भी है—"श्रमणोपासक भूतकाल के पापों के लिए आत्मनिंदा (पश्चात्तापमय) करता है, वर्तमान के पापों का निरोध करता है और भविष्यकाल के पापो का प्रत्याख्यान करता है।" ये भंग (विकल्प) अहिंसा-अणुव्रत की अपेक्षा से कहे हैं। दूसरे अणुव्रतों के लिए भी इसी तरह विकल्प (भंग) जाल समझ लना।

इस तरह सामान्यरूप से हिंसादि से सम्बन्धित विरति बता कर अब हिंसा आदि प्रत्येक का स्वरूप बताने की इच्छा से सर्वप्रथम हिंसा से किन-किन परिणामों का अनुभव करना पड़ता है, यह बताते है—

पंगु-कुष्ठि-कुणित्वादि दृष्ट्वा हिंसाफलं सुधीः।
निरागस्त्रसजन्तूनां हिंसा संकल्पतस्त्यजेत् ॥१९॥

अर्थ

हिंसा का फल लगड़ापन, कोढ़ीपन, हाथ-पैर आदि अंगों की विकलता आदि मिलता है। इसे देख कर बुद्धिमान पुरुष निरपराध त्रस जीवों की संकल्पपूर्वक हिंसा का त्याग करे।

व्याख्या

जब तक जीव पाप का फल अपनी आंखों से नहीं देख लेता, तब तक पाप से वह प्रायः नहीं हटता। इसलिये यहां पाप का फल बता कर हिंसा से विरत होने का उपदेश दिया गया है। पैर होने पर भी चलने में असमर्थ हो, उसे लंगड़ा, कुष्ट रोग वाले को कोढ़िया, हाथ-पैर आदि से रहित को लूला कहते

हैं। आदि शब्द से शरीर के नीचे का भाग खराब हो, अथवा दूसरे अंग अनेक प्रकार के रोग से ग्रस्त हों, काया के ऊपर के भाग में—अंगविकलता हो, तो इन सब को हिंसा का फल समझना चाहिए। ऐसा देख कर बुद्धिमान पुरुष शास्त्रबल से यह निश्चित जान कर कि यह बेचारा हिंसा के फल भोग रहा है, हिंसा का त्याग करता है। त्याग किसका और किस प्रकार का करे ? इसके उत्तर में बताया गया है कि निरपराधी द्वीन्द्रियादि जीवों की संकल्पपूर्वक हिंसा न करने का नियम करे।" अपराधी जीवों के लिये ऐसा नियम नहीं बताया है। त्रस-जीवों की हिंसा का त्याग कह कर यहां सूचित किया गया है कि गृहस्थ एकेन्द्रिय-विषयक हिंसा का त्याग करने में असमर्थ है और संकल्पत इसलिये कहा है कि इरादे से हिंसा छोड़े। खेती आदि आरम्भजनक प्रवृत्ति से लाचारी में संकल्प यानी इरादे के बिना जो हिंसा हो जाती, है वह श्रावक के लिये वर्जित नहीं है। मतलब यह है कि त्रस जीवों की संकल्पजा हिंसा का त्याग करे। एकेन्द्रिय स्थावर जीवों की हिंसा का जहां तक हो सके त्याग करना चाहिए, जहां त्याग अशक्य हो, वहाँ हमेशा यतना करनी चाहिए। इस सम्बन्ध मे कुछ श्लोक प्रस्तुत है जिनका अर्थ इस प्रकार है—

जो आत्मा और शरीर को सर्वथा पृथक् मानते हैं, उनके मत मे शरीर का विनाश होने पर भी आत्मा का विनाश नहीं होता व तज्जनित हिंसा नहीं लगती। इसी प्रकार आत्मा और शरीर को सर्वथा अभिन्न मानने पर शरीर के नाश होने पर आत्मा का भी नाश हो जाता है। अतः उनकी दृष्टि में परलोक का कोई अस्तित्व नहीं है। इसलिये अनेकान्तदृष्टि से आत्मा को शरीर से भिन्न भी माना जाता है, अभिन्न भी। इस दृष्टि से शरीर को क्षति पहुँचाने पर या नष्ट करने पर जो पीड़ा उक्त शरीर-धारी को होती है, उसी के कारण वहां वधकर्ता को हिंसा लगती है। इसलिए जिस हिंसा से मरने वाले जीव को दुःख हो, उसके मन को क्लेश हो, उसे नई योनि में उत्पन्न होना पड़े, उसकी पूर्वपर्याय का नाश हो, ऐसी हिंसा का पण्डित-पुरुष प्रयत्नपूर्वक त्याग करे। जो प्रमाद से दूसरे जीवों का नाश करता है, उसे ज्ञानी पुरुषों ने संसारवृक्ष की बीजभूत हिंसा कहा है। जीव मरे या ना मरे तो भी प्रमाद करने वाले को अवश्य ही हिंसा लगती है। परन्तु प्रमाद से रहित व्यक्ति के निमित्त से यदि किसी जीव का प्राणनाश हो भी जाता है ; तो भी हिंसा नहीं लगती। प्रश्न होता है—जीव (आत्मा) जब सर्वथा नित्य है, अपरि-णामी है, तो ऐसी दशा में जीव की हिंसा हो ही नहीं सकती, और सर्वथा क्षणिक (एकान्त अनित्य) माने तो जीव के क्षणभर में नष्ट होने से उसकी भी हिंसा कैसे लग सकती है ? क्योंकि उनके मत से वह जीव, जिसे मारने वाले ने मारा था, क्षण-विध्वंसी था ही, उस क्षण में वह ध्वस्त होता ही ; जिसका प्राणनाश किया है, वह तो अब रहा ही नहीं। इसलिये जीव नित्यानित्य और परिणामी मान कर काया या किसी भी प्राण के वियोग से पीड़ा होने के कारण पाप की कारणभूत हिंसा हो जाती है।

कितनों का यह भी कहना है कि प्राणियों के घात करने वाले बाघ, सिंह, सर्प आदि जन्तुओं को तो देखते ही मार डालना चाहिए, क्योंकि ऐसे एक हिंसक जीव का घात कर देने से अनेक जीवों की रक्षा हो जायगी। यह कथन भी भ्रान्तिपूर्ण है।

'सभी जीव दूसरे का नाश करके जीते हैं ;' इस मत को माना जाय तो अपने जीने के लिए सभी दूसरों को मारने लगेंगे। 'जिसकी लाठी उसकी भैंस, वाली कहावत चरितार्थ हो जायगी। इसमें लाभ बहुत हो थोड़ा हो तो भी मूलधन का स्पष्टतः विनाश है। अहिंसा से होने वाला धर्म हिंसा से कैसे हो सकता है ?

जल में उत्पन्न होने वाला कमल आग में कैसे हो सकता है ? पाप की हेतुभूत हिंसा पाप को मिटाने वाली कैसे बन सकती है ? मृत्यु का कारणरूप कालकूट विष जीवन देने वाला कदापि नहीं होता।

दुःखमोचक नामक एक नास्तिकमत है। उसका कहना है कि—संसार में बहुत से आदमी रोगादि विविध दुःख पा रहे हैं। उन दुःखियों का वध होना ही ईष्ट है। क्योंकि दुःखियों को खत्म कर देने से उनके दुःख अवश्य मिट जायेंगे ; उन्हें दुःखों से छुटकारा मिल जाएगा। यह कथन भी यथार्थ नहीं है। क्योंकि ऐसे जीव मरने के बाद प्रायः नरकगामी होते हैं। वे अल्पदुःख वाले जीव यों मर कर अनंत दुःख के भागी बनते हैं। इसी तरह एक मत और है, जो मानता है—सुखी जीवों का घात कर देने से वे पाप करने से रुक (बच) जायेंगे। कुधार्मिकों के ऐसे वचन भी त्याज्य हैं।

चार्वाक नाम का नास्तिक भी कहता है कि 'मूल में आत्मा ही किसी प्रकार से सिद्ध नहीं होती है, तो फिर आत्मा के बिना हिंसा किसकी होगी ? और उस हिंसा का फल कौन भोगेगा ? सड़े हुए आटे आदि से जैसे पिष्टादि मद्य तैयार हो जाता है, वैसे ही पांचभूतों के एकत्र होने से चैतन्य प्रगट हो जाता है, और पांचभूतों के समूह के नष्ट होने पर उसका नाश हो जाता है। फिर वे यों भी कहते हैं कि आत्मा जब यहीं समाप्त हो जाती है, तो उसके परलोकगमन की तो बात हो नहीं रहती। और परलोक-गमन के अभाव में पुण्य-पाप की चर्चा करना व्यर्थ है। इसके लिए फिर विविध तपस्याएँ करना, सिर्फ कष्ट भोगने का अद्भुत तरीका है। संयम मिले हुए भोगविलासों से वंचित होने के समान है। इस प्रकार वे नास्तिकता के ऐसे विचार दूसरों के गले उतार देते हैं।

अतः उनकी बातों का युक्तियुक्त उत्तर दे कर उन्हें निरुत्तर करते हैं। "मैं सुखी हूं, मैं दुःखी हूँ, इस प्रकार की प्रतीति शरीर, इन्द्रियों या मन को नहीं हो सकती ; वह तो आत्मा को ही हो सकती है। इस दृष्टि से आत्मा सिद्ध होती है। मैं घट को जानता हूँ' इस वाक्य में तीन वस्तुओं का ज्ञान होता है : कर्म, क्रिया और कर्ता। इन तीनों में कर्ता का निषेध कैसे होगा ? यदि शरीर को ही कर्त्ता मानें तो वह भी ठीक नहीं ; क्योंकि अचेतन कर्त्ता नहीं हो सकता। अगर पंचभूत एवं चैतन्य के योग से उत्पन्न चेतन को कर्ता माना जाय तो वह भी संगत नहीं है; क्योंकि ऐसे चेतन में एककर्तृत्व का अभाव होने से—'मैंने देखा, मैंने सुना, स्पर्श किया, सूंघा, चखा या याद किया, इत्यादि कथन पंचभूत और चैतन्य को अभिन्न मानने पर घटित नहीं हो सकता।

इस तरह जैसे स्वानुभव से अपने शरीर में भी चेतनास्वरूप आत्मा सिद्ध हुआ, वैसे दूसरों के शरीर में आत्मा की सिद्धि अनुमान से की जा सकती है। और अपने शरीर में बुद्धिपूर्वक होती हुई क्रिया को देख कर दूसरों के शरीर में भी उसी तरह जान लेनी चाहिए। इस तरह प्रमाणसिद्ध क्रिया को कौन रोक सकता है ? इसलिए जीव का जब परलोकगमन भी सिद्ध हो चुका है ; तब परलोक मानना असंगत नहीं है। उसी तरह पुण्य-पाप का स्वीकार तो अपने आप हो ही जाता है। तपस्या को कष्ट बताना इत्यादि कथन भी उन्मत्तप्रलाप की तरह अविवेकी का कथन है। ऐसे चैतन्ययुक्त पुरुष के कथन को स्वकल्पित बताना हास्यास्पद क्यों नहीं होगा ? इसलिये आत्मा निराबाध तथा स्थिति, उत्पाद और व्ययस्वरूप है और ज्ञाता, द्रष्टा गुणी, भोक्ता, कर्त्ता और अपनी-अपनी काया के प्रमाण जितना है। इस तरह आत्मा की सिद्धि हो जाने पर हिंसा करना योग्य नहीं है। हिंसा का परिहार ही त्याग-रूप अहिंसा-व्रत कहलाता है।

अब हिंसा के नियम को स्पष्टता से समझाने के लिए दृष्टान्त देते हैं—

आत्मवत् सर्वभूतेषु सुखदुःखे प्रियाप्रिये ।
चिन्त›आत्मनाऽनिष्टां िसामन्यस्य नाचरेत् ॥२०॥

अर्थ

जैसे स्वयं को सुख प्रिय है और दुःख अप्रिय है, वैसे ही, जीवों को भी सुख प्रिय और दुख अप्रिय है, ऐसा विचार कर स्वयं के लिये अनिष्टरूप हिंसा का आचरण दूसरे के लिए भी न करे ।

व्याख्या

यहां सुख-शब्द से सुख के साधन अन्न, जल, पुष्पमाला चन्दन आदि तथा दुख-शब्द से दुःख के साधन—वध, बंधन, मरण आदि का ग्रहण कर लेना चाहिए। दुख के साधन स्वयं की तरह दूसरे को भी अप्रिय हैं ; इसलिये हिंसादि (दुःखोत्पादक क्रिया) नहीं करनी चाहिए। यहां सुख और दुःख की एक सरीखी अनुभूति को दृष्टान्त से समझाने के लिए कहते हैं—जैसे स्वयं को सुख के साधन प्रिय हैं, और दुःख अप्रिय है, वैसे ही दूसरे सभी प्रकार के जीवों को ये प्रिय और अप्रिय हैं। अन्य धर्मग्रन्थों में भी इसी बात की पुष्टि की है—"धर्म का सार सुनो और सुन कर उसे मन में यथार्थरूप से धारण करो, फिर जो बात अपनी आत्मा के प्रतिकूल हो, उसे दूसरों के लिए भी मत करो।"

यहाँ एक शंका प्रस्तुत करते हैं कि—"शास्त्र द्वारा निषिद्ध वस्तु का आचरण किया जाए तो दोष लगता है, किंतु यहां त्रसजीवों की हिंसा का तो निषेध किया है, लेकिन स्थावरजीवों की हिंसा का तो निषेध नहीं किया है ; अतः गृहस्थ श्रावक किसी भी रूप में स्थावरजीवों की हिंसा में स्वेच्छा से प्रवृत्ति करे तो क्या दोष है ? इसी का समाधान देते हैं—

निरर्थिकां न कुर्वीत जीवेषु स्थावरेष्वपि ।
हिंसामहिंसाधर्मज्ञः काङ्क्षन् मोक्षमुपासकः ॥२१॥

अर्थ

अहिंसाधर्म को जानने वाला मुमुक्षु श्रमणोपासक स्थावरजीवों की भी निरर्थक हिंसा न करे ।

व्याख्या

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति के जीवों (स्थावरों) की भी निरर्थक हिंसा नहीं करनी चाहिए। शरीर और कुटुम्ब के निर्वाह के लिए अनावश्यक हिंसा का यहां निषेध किया गया है। वस्तुतः विवेकी श्रावक शरीर एवं कुटुम्ब आदि के प्रयोजन के अतिरिक्त व्यर्थ हिंसा नहीं करता। अहिंसा-धर्म को जानने वाला यह भली-भांति जानता है कि निषिद्ध वस्तु तक ही अहिंसाधर्म सीमित नहीं है ; अपितु अनिषिद्ध वस्तु में भी यतनारूप अहिंसा-धर्म है। इसलिए वह उस धर्म को भलीभांति समझ कर बगैर प्रयोजन स्थावरजीवों की भी निरर्थक हिंसा नहीं करता। अतः जो शंका उठाई गई थी कि निषिद्ध अहिंसा का आचरण इतनी सूक्ष्मदृष्टि से श्रावक क्यों करे ? इसके समाधान के रूप में कहा गया है—मोक्षाभिलाषी श्रावक साधु की तरह निरर्थक हिंसा का आचरण कतई न करे। यहां पुनः एक शंका उठाई जाती है कि जो व्यक्ति निरंतर हिंसा करने में तत्पर रहता है, वह अपना सर्वस्व धन और सर्वस्व

प्राण तक दे कर भी उस हिंसाजनित पाप की शुद्धि करता है तो फिर ऐसी हिंसा के त्याग करने के क्लेश से क्या लाभ ? इसके उत्तर में कहते हैं—

प्राणी प्राणितलोभेन यो राज्यमपि मुञ्चति ।
तद्वधोत्थमघं सर्वोर्वीदानेऽपि न शाम्यति ॥२२॥

अर्थ

यह जीव जीने के लोभ से राज्य का भी त्याग कर देता है। उस जीव का वध करने से उत्पन्न हिंसा के पाप का शमन (पाप से छुटकारा) सारी पृथ्वी का दान करने पर भी नहीं हो सकता।

व्याख्या

मरते हुए जीव को चाहे जितने सोने के पर्वत या राज्य दिये जांय, फिर भी वह (जीव) स्वर्ण आदि वस्तुओं को अनिच्छनीय समझ कर उनको स्वीकार नहीं करता। बल्कि वह एकमात्र जीने की ही अभिलाषा करता है। इसलिए जीवन (जीना) को प्रिय मानने वाले जीवों का वध करने से उत्पन्न हिंसा के पाप का शमन समग्र पृथ्वी का दान कर देने पर भी नहीं होता। श्रुति में भी कहा है—'समग्र दानों में अभयदान प्रधान है।'

हिंसा करने वालों का जीवन कितना निन्दनीय है ? इसे अब चार श्लोकों में बताते हैं—

वने निरपराधानां, वायु-तोय-तृणाशिनाम् ।
निघ्नन् मृगाणां मांसार्थी, विशिष्येत कथं शुनः ॥२३॥

अर्थ

वन में रहने वाले, वायु, जल और हरी घास सेवन करने वाले निरपराध, वनचारी हिरणों को मारने वाले में मांसार्थी कुत्ते से अधिक क्या विशेषता है ?

व्याख्या

वन में निवास करने वाले न कि किसी के स्वामित्व की भूमि पर रहने वाले वनचारी जीव क्या कभी अपराधी हो सकते हैं ? इसीलिये कहते हैं कि—वे वनचारी मृग परधन-हरण करने, दूसरे के घर में सेंध लगा कर फोड़ने, दूसरे को मारने, लूटने आदि अपराधों से रहित होते हैं। उनके निरपराधी होने के और भी कारण बताते हैं कि वे वायु, जल और घास का सेवन करने वाले होते हैं। और ये तीनों चीजें दूसरे की नहीं होने से इनका भक्षण करने वाले अपराधी नहीं होते। मांसार्थी का अर्थ यहां प्रसंगवश मृग के मांस का अर्थी (लोलुप) समझना चाहिए। मृग कहने से यहां तृण, घास आदि खा कर वन में विचरण करने वाले सभी जीवों का ग्रहण कर लेना चाहिए। इस तरह से निरपराध मृगों का वध करने में तत्पर मृगमांसलोलुप मनुष्य मांस में लुब्ध कुत्ते से किस प्रकार कम समझा जा सकता है ? अर्थात् उसे कुत्ते से भी गया बीता समझना चाहिए।

दीर्यमाणः कुशेनापि यः स्वांगे हन्त ! दूयते ।
निर्मन्तून् स कथं जन्तूनन्तयेन्निशितायुधैः ?॥२४॥

अर्थ

अपने शरीर के किसी भी अंग में यदि डाभ की जरा-सी नोक भी चुभ जाय तो उससे मनुष्य दुःखी हो उठता है। अफसोस है, वह तीखे हथियारों से निरपराध जीवों का प्राणान्त कैसे कर डालता है ? उस समय वह उससे खुद को होने वाली पीड़ा का विचार क्यों नहीं करता ?

व्याख्या

वास्तव में, जो अपनी पीड़ा के समान परपीड़ा को नहीं जानता, वह लोक में निन्दनीय समझा जाता है। पशुओं के शिकार करने के दुर्व्यसनी क्षत्रियों को किसी ने साफ-साफ सुना दिया रसातल में जाय तुम्हारा यह हिंसा में पराक्रम ! जो अधिक बलवान हो कर भी अशरण, निर्दोष और अतिनिर्बल का वध करता है। यह कैसी दुर्नीति है, तुम्हारी ? कैसा अन्याय है, निर्दोष प्राणियों पर ? बहुत अफसोस है कि यह सारा जगत् अराजक बन गया है।

निर्मातुं क्रूरकर्म्माणः [illegible]मात्मना धृतिम् ।
समापयन्ति सकलजन्मान्यस्य शरीरिणः ॥२५॥

अर्थ

क्रूर कर्म करने वाले शिकारी अपनी क्षणिक तृप्ति के लिए दूसरे जीव के समस्त जन्मों का नाश कर देते हैं।

व्याख्या

हिंसादि रौद्रकर्म करने वाले शिकारी आदि अपनी जिह्वा की क्षणिक तृप्ति के लिए, जरा सी जिह्वालालसा की शान्ति के लिए दूसरे जीवों के जन्म समाप्त कर देते हैं। कहने का अर्थ है कि दूसरे जीवों के मांस से होने वाली अपनी क्षणिक तृप्ति के कारण दूसरे जीव का तो सारा जीवन ही समाप्त हो जाता है। यह बड़ी भारी क्रूरता है। स्मृतिकार भी कहते हैं—वह प्राणी, जिसका मांस क्रूर मनुष्य खाता है और वह क्रूर मनुष्य, इन दोनो के अन्तर पर विचार करें तो एक की क्षणभर के लिए तृप्ति होती है, जबकि दूसरे के प्राणों का सर्वथा वियोग हो जाता है।

म्रियस्वेत्युच्यमानोऽपि देही भवति दुःखितः ।
मार्यमाणः प्रहरणैर्दारुणैः, स कथं भवेत् ?॥२६॥

अर्थ

अरे ! मर जा तू ! इतना कहने मात्र से भी जब जीव दुःखी हो जाता है तो भयंकर हथियारों से मारे जाते हुए जीव को कितना दुःख होता है ?

व्याख्या

मार देने से ही नहीं, अपितु सिर्फ 'मर जा तू' इतना कहने से ही जीव को मृत्यु के समान दुःख महसूस होता है। सभी जीवों के लिये यह बात अनुभवसिद्ध है; तो फिर भाले, बर्छी आदि शस्त्रों से मारे जाते हुए उस बेचारे जीव को कितना दुःख होता होगा ? सचमुच उसे बड़ा दुःख होता है। जहां

मरने की बात कहने से भी दुःख होता है, तो फिर कौन समझदार ऐसा होगा जो तीखे शस्त्रों से किसी प्राणी को मारेगा ?

अब दृष्टान्तों द्वारा हिंसा के फल के सम्बन्ध में समझाते हैं :—

श्रूयते प्राणिघातेन, रौद्रध्यानपरायणौ ।
सुभूमो ब्रह्मदत्तश्च सप्तमं नरकं गतौ ॥२९॥

अर्थ

आगम में ऐसा सुना जाता है कि प्राणियों की हत्या से रौद्रध्यानपरायण हो कर सुभूम और ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती सातवीं नरक में गए ।

व्याख्या

रौद्रध्यान के बिना अकेली हिंसा नरक-गमन का कारण नहीं होती । अन्यथा, सिंह का वध करने वाला तपस्वी साधु भी नरक में जाता । इसलिये रौद्रध्यान में तत्पर यानी हिंसानुबन्धी रौद्रध्यान-परस्त सुभूम और ब्रह्मदत्त ये दोनों चक्रवर्ती सातवीं नरक में गए । वे दोनों किस तरह नरक में गये ? यह कथानक द्वारा क्रमशः बताते हैं—

सुभूम चक्रवर्ती की कथा

वसन्तपुर नामक नगर में अग्निक नाम का बालक रहता था । उसके वंश में कोई भी न रहने के कारण ऐसा मालुम होता था मानो वह आकाश से ही सीधा टपक पड़ा हो । एक दिन वह वहां आए हुए एक सार्थ के साथ दूसरे देश की ओर चल पड़ा । किन्तु एक दिन अचानक ही अपने काफले में बिछुड़ कर वह अकेला घूमता-घूमता एक तापस के आश्रम में आ पहुंचा । जमद् नाम के कुलपति ने उस अग्निक को पुत्ररूप में स्वीकार कर लिया । तब से लोगों में वह 'जमदग्नि' नाम से प्रसिद्ध हुआ । साक्षात् अग्नि के समान प्रचण्ड तप करने से वह भूतल में दुःसह तेजोराशि से युक्त बना । एक बार वहाँ वैश्वानर नाम का महाश्रावक देव और तापसभक्त धन्वन्तरि दोनों में विवाद छिड़ गया कि 'किसका धर्म प्रमाणभूत है ?' श्रावकदेव ने कहा—'अरिहंत का धर्म प्रमाणभूत है ।' इस पर तापसभक्त देव ने कहा कि 'तापसधर्म प्रमाण है ।' इस विवाद के अन्त में दोनों ने यह निर्णय किया कि 'जैनसाधु और तापस में से किसमें अधिकता या न्यूनता है ? इन दोनों में से गुणों में अग्रगण्य कौन है ? इसकी परीक्षा की जाय ।

इधर उस समय मिथिला में नवीन धर्मप्राप्त पद्मरथ राजा श्री वासुपूज्यस्वामी के पास दीक्षा लेने हेतु भावसाधु बन (साधुवेष धारण) कर वहां से प्रस्थान करके चम्पापुरी की ओर जा रहा था । उसे जाते हुए मार्ग में उन दोनों ने देखा और उसकी परीक्षा लेने की नीयत से उन दोनों देवों ने राजा से आहार-पानी ग्रहण करने की प्रार्थना की । किन्तु क्षुधातृषातुर होते हुए भी राजा से साधु के भिक्षानियमों के अनुकूल आहार-पानी न होने के कारण लेने से इन्कार कर दिया । सच है, **वीर पुरुष अपने सत्य से कभी विचलित नहीं होते** । तब उन दोनों परीक्षक देवों ने मनुष्यों में देव-समान उस राजा के कोमल चरण-कमलों में चुभें, इस प्रकार के करवत के समान पैनी नोंक वाले कंकर और कांटे सारे रास्ते में बिखेर दिये । जिनसे उन्हें अतीव पीड़ा हुई ; पैर छिद गये, उनमें से रक्त की धारा बहने लगी । फिर भी वे उस कठोरमार्ग को कमल के समान कोमल समझ कर चलते रहे । फिर उन देवों

ने राजा को विचलित करने के लिए रास्ते पर ही नृत्य, गीत आदि का आयोजन किया ; परन्तु वे वहां ठिठके नहीं। जैसे समानगोत्रीय पर दिव्यचक्र का प्रभाव नहीं होता, वैसे ही उनका वह उपाय भी निष्फल हुआ। अतः देवों ने अब सिद्धपुत्र का रूप बनाया। और उसके सामने आ कर कहा हे महा-भाग्यशाली ! अभी तो तू बहुत लम्बी उम्र वाला युवक है। अत तू अपनी इच्छानुसार सुखोपभोग कर। इस यौवनवय में तुझे तप करने की कैसे सूझी ? उद्यमी पुरुष भी रात का काम प्रातःकाल नहीं करता। इसलिये हे भाई ! यौवन वय पूर्ण होने के बाद जब शरीर दुर्बल हो जाय और बुढ़ापा आ जाय' तब तप करना।' इस पर राजा ने कहा—'यदि मेरी आयु लम्बी होगी तो मुझे कर्मक्षय करने या पुण्योपार्जन करने का सुन्दर अवसर मिलेगा। जितनी मात्रा में पानी होगा, उसी के अनुसार उतनी मात्रा में कमल की नाल भी बढ़ेगी। यौवनवय में इन्द्रियाँ चंचल होती हैं। अतः इसी उम्र में तप करना वास्तव में तप है। दोनों ओर से भयंकर शस्त्रास्त्रों का प्रहार हो रहा हो, उस युद्ध में जो टिका रह कर जौहर दिखाये, वही वस्तुतः शूरवीर कहलाता है।" जब राजा अपने सत्य से किसी भी उपाय से जरा भी चलायमान नहीं हुआ, तो दोनों देव—"धन्य है—धन्य है", इस प्रकार धन्यवाद देते हुए वहां से तापस जमदग्नि की परीक्षा लेने चल पड़े।

तापस के आश्रम में पहुँच कर उन्होंने देखा कि वटवृक्ष की तरह विस्तृत और भूतल को छूती हुई उसकी लम्बी जटाएँ हैं, उसके पैर दीमकों के टीलों से ढके हुए थे। उसकी दाढ़ीरूपी लता-जाल में देव-माया से उन देवों ने घोंसला बना कर स्वयं चकवे के जोड़े के रूप में उसमें घुस गये। फिर चकवे ने चकवी से कहा—"मैं हिमवान् पर्वत पर जा रहा हूं।' तब चकवी ने कहा—'तुम वहां जा कर दूसरी चकवी के प्रेम में फंस जाओगे ; वापस नहीं आओगे। इसलिए मैं तुम्हें जाने की अनुमति नही दूंगी।' तब चकवा बोला—'प्रिये ! यदि मैं वापस न आऊँ तो मुझे गोहत्या का पाप लगे'। इस तरह शपथबद्ध चकवे से चकवी ने कहा—प्रिय ! यदि इस ऋषि के पाप की सौगन्ध खाओ तो मैं तुम्हें जाने की अनुमति दे सकती हूँ। तुम्हारा मार्ग कल्याणकारी बने।' यह वचन सुनते ही क्रोध से आग-बबूला हो कर तापस ने दोनों पक्षियों को दोनों हाथों से पकड़ लिया और उन्हें कहा—मैं इतना दुष्कर तप करता हूँ कि सूर्य के होने से जैसे अन्धकार नहीं रहता, वैसे ही मेरे तप के रहते मेरे पाप कैसे टिक सकते है ? इस पर चकवे ने ऋषि से कहा—'आप क्रोध न करें। सच बात यह है कि आपका तप सफल नहीं है; क्योंकि 'अपुत्रस्य गतिर्नास्ति' 'पुत्र के बिना मनुष्य की सुगति नहीं होती; यह श्रुति-वाक्य क्या आपने नहीं सुना ?' पक्षियों की बात यथार्थ मान कर तापस ने विचार किया कि "मैं स्त्री और पुत्र से रहित हूँ, इस कारण मेरा तप भी व्यर्थ ही पानी में बह गया है। तापस को इस प्रकार विचलित देख कर धन्वन्तरीदेव सोचने लगा—'अरे इस तापस ने मुझे बहका दिया था। धिक्कार है, इसको ! इसका संग छोड़ना चाहिए।' यह सोच कर वह भी श्रावक बन गया। 'प्रतीति हो जाने पर किसे विश्वास नहीं होता ? अर्थात् सभी को होता है। उसके बाद वे दोनों देव अदृश्य हो गये।

इधर जमदग्नि तापस वहां से नेमिकोष्टक नामक नगर में पहुंचा। वहां अनेक कन्याओं का पिता जितशत्रु राजा राज्य करता था। महादेवजी जैसे कन्याप्राप्ति के लिए दक्ष-प्रजापति के पास गये थे, वैसे ही वह तापस एक कन्या की प्राप्ति की इच्छा से राजा के पास गया। राजा ने खड़े हो कर उनका सत्कार किया और हाथ जोड़ कर पूछा—"भगवान् ! आप आप किसलिये पधारे हैं ? जो आज्ञा हो, फरमाइये, मैं सेवा करने को तैयार हूँ !" इस पर तापस ने कहा—"मैं एक कन्या की याचना के

लिए तुम्हारे पास आया हूं।" राजा ने कहा - 'मेरी ये सो कन्याएँ हैं ; इनमें से जो आपको चाहे, उसे आप ग्रहण कीजिए।" उस तापस ने कन्याओं अन्तःपुर में जा कर राजकुमारियों से कहा—'तुममें से कौन मेरी धर्मपत्नी बनने को तैयार है ?' कन्यों ने इस अप्रत्याशित प्रस्ताव को सुन कर तापस की ओर देखते हुए कहा – 'अरे जटाधारी ! सफेद बाल वाले ! दुर्बल ! भिक्षाजीवी बूढ़े ! तुझे हम जवान कन्याओं से ऐसा कहते हुए शर्म नहीं आती ! यों कहते हुए राजकन्याओं ने उस पर थूका। अतः हवा से जैसे आग भड़क उठती है वैसे ही इस बात से जमदग्नि की क्रोधाग्नि भड़क उठी। उसने अपने तपोबल से से राजकन्याओं को खींचे हुए कमान की तरह कुबड़ी बना दिया। उस समय वहीं आंगन में धूल के ढेर पर क्रीड़ा करती हुई एक कन्या को देख कर तापस ने उसे पास बुला कर कहा—'अरी रेणुके ! क्या तू मुझे चाहती है ? यों कह कर उसे बीजोरे का फल बताया। उसने भी पाणिग्रहण-सूचक हाथ लम्बा किया। दरिद्र जैसे धन को कस कर पकड़ लेता है वैसे ही तापस ने उक्त बालिका को छाती से पकड़ लिया। अतः राजा ने विधि-पूर्वक गायें दान में दे कर उक्त कन्या को भी साथ में दे दी। राजा की शेष ६६ कन्याओं के साथ साली का स्नेह-पूर्ण रिश्ता होने से तापस ने अपनी तपःशक्ति से उन्हें पहले की तरह पुनः सुन्दर बना दिया। धिक्कार है, मूढ़ों के द्वारा इस प्रकार के तपोव्यय को ! राजकन्या अभी अल्पवयस्क, भोली और सुन्दर थी। अतः तापस उसे अपने आश्रम में ले गया। हिरनी की तरह चचलनयना उस कन्या को तापस ने आश्रम में प्रेम से पालन-पोषण कर बड़ी की। तपस्वी के ये दिन शीघ्र व्यतीत हो गए। कन्या अब कामदेव के क्रीड़ावन के समान मनोहर यौवन के सिंहद्वार पर पहुंची। पार्वती के साथ जैसे महादेव ने विधिवत् पाणिग्रहण किया था, वैसे ही उस कन्या के साथ जमदग्नि तापस ने अग्नि की साक्षी-पूर्वक विवाह किया। ऋतुमती होने पर ऋषि ने उससे कहा—'प्रिये ! मैं तेरे लिये एक चरु मंत्रित करके तैयार कर रहा हूं ! यदि तू उसका भक्षण करेगी तो उसके प्रभाव से तुझे ब्राह्मणों में श्रेष्ठ पुत्र प्राप्त होगा।' इस पर रेणुका ने अपने पति तापस से कहा—'प्रिय ! हस्तिनापुर में मेरी बहन अनन्तवीर्य राजा की पत्नी है ; उसके लिये भी एक मंत्रसाधित क्षात्र-चरु तैयार कर दीजिए। तापस ने अपनी पत्नी के लिये ब्रह्मचरु तैयार किया और अपनी साली के लिये क्षत्रियपुत्र उत्पन्न करने हेतु एक मंत्रसाधित क्षात्रचरु तैयार किया। जब दोनों चरु मंत्रसाधना से तैयार हो गए तब तापस ने रेणुका को दे दिये। रेणुका ने सोचा कि—'मैं यहां पर इस घोर जंगल में हिरणी के समान अरक्षित बनी हुई हूँ। मेरे कोई क्षत्रियपुत्र हो तो अच्छा ; जो मेरी रक्षा कर सके। यों विचार कर उसने ब्रह्मचरु के बदले क्षात्रचरु का भक्षण कर लिया। और ब्रह्मचरु अपनी बहन को दे दिया। समय पर दोनों के पुत्र हुए। रेणुका के पुत्र का नाम 'राम' रखा और उसकी बहन के पुत्र का नाम 'कृतवीर्य' रखा गया। पिता ऋषि होने पर भी जल में बडवानल की तरह तापस जमदग्नि के यहां उनका पुत्र 'राम' क्षात्रतेज के साथ क्रमशः बढ़ने लगा। एक दिन आश्रम में एक विद्याधर आया। वह अतिसार-रोग से पीड़ित होने से आकाशगामी विद्या भूल गया था। राम ने भाई की तरह उसे औषधि आदि दे कर उसकी सेवा की। अतः अपनी सेवा के बदले में उसने राम को परशु-सम्बन्धी पारशवी नामक विद्या दी। शरवन में अन्दर जा कर उसने पारशवी विद्या की साधना की। इस कारण बाद में राम परशुराम के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

एक बार अपनी बहन से मिलने की उत्कंठा से रेणुका पति से पूछ कर हस्तिनापुर चली गई। प्रेमियों के लिए कोई चीज दूर नहीं है। अपनी साली चपलनेत्रा रेणुका को आए देख कर लाड़-प्यार करते हुए अनंतवीर्य ने उसके कोमल अंगों पर हाथ फिराते-फिराते उसके

साथ कामक्रीड़ा की। सचमुच, **काम बड़ा निरंकुश है।** अहिल्या के साथ इन्द्र ने जैसे कामसुख का अनुभव किया था, वैसे ही अनन्तवीर्य ने तापसपत्नी के साथ इच्छानुसार विषयसुख-सम्पदा का अनुभव किया। जैसे ममता-पत्नी से बृहस्पति को उतथ्य नामक पुत्र हुआ वैसे ही अनंतवीर्य से रेणुका को पुत्र हुआ। ऋषि रेणुका को उस पुत्र के साथ अपने घर ले आया। सच है, **स्त्री के मोह में आसक्त मनुष्य प्रायः दोष नहीं देखता।** अकाल में फलित लता के समान पुत्र-सहित रेणुका को देख कर वह एकदम क्रुद्ध हो उठा। उसने आव देखा न ताव, शीघ्र ही अपने परशु से उस बालक को मार डाला। रेणुका ने यह बात अपनी बहिन के द्वारा अनन्तवीर्य को कहलाई। यह सुनते ही हवा से आग की तरह अनन्तवीर्य का क्रोध भड़क उठा। अतिपराक्रमी बाहुबली अनन्तवीर्य राजा फौरन जमदग्नि के आश्रम में आ पहुंचा। वहां जाते ही मदोन्मत्त हाथी की तरह उसने जमदग्नि के आश्रम के पेड़ों को उखाड़ कर उसे नष्ट-भ्रष्ट कर डाला। वहां के तापसों को परेशान करके उनकी गायें बछड़े आदि सब छीन लिए और केसरी-सिंह की तरह मस्ती से झूमता हुआ अनन्तवीर्यनृप हस्तिनापुर लौटा। दुःखित तपस्वियों का आर्त्तनाद और उनके साथ हुई ज्यादती व संघर्ष का कोलाहल सुन कर एवं आश्रम को उजाड़ने की बात जान कर क्रुद्ध परशुराम साक्षात् यमराज के समान परशु ले कर दौड़ा। अनेक सुभटों का युद्ध देखने के उत्सुक जमदग्नि-पुत्र परशुराम ने भयंकर परशु (कुल्हाड़) से काष्ठ के समान अनंतवीर्य के टुकड़े-टुकड़े कर डाले। अनन्तवीर्य की मृत्यु हो जाने पर प्रजा के अग्रगण्यों ने उसके पुत्र को राजगद्दी पर बिठाया। अभी वह छोटी उम्र का ही था। अपनी माता से एक दिन अपने पिता की मृत्यु की बात सुन कर और माता से आज्ञा प्राप्त करके वह चला और सर्प के समान जमदग्नि को मार कर बदला लिया। पिता की हत्या की बात से परशुराम का क्रोध अति उग्र हो गया। वह तत्काल हस्तिनापुर पहुंचा और उसने परशु के एक ही प्रहार से कृतवीर्य का खात्मा कर दिया। यमराज के लिये कौन-सी बात असाध्य है? कृतवीर्य के मरने के बाद परशुराम स्वयं उसकी गद्दी पर बैठा। **राज्य सदा पराक्रमाधीन होता है; उसमें परम्परागत क्रम नहीं होता।**' जैसे हिरनी सिंह से डर कर भागती है, उसी प्रकार कृतवीर्य की गर्भवती पत्नी हस्तिनापुर को अपने काबू में कर लेने के बाद परशुराम के डर से तापसों के एक आश्रम में पहुंची। तापसों ने उसे निधान की तरह भूमिगृह (तलघर) में रखी और क्रूर परशुराम से उसकी रक्षा की।

एक दिन रानी ने चौदह महास्वप्न देखे और ठीक समय पर एक सुन्दर स्वस्थ पुत्र को जन्म दिया। सुख से भूमिगृह में रखने के कारण उसकी माता ने उसका नाम 'सुभूम' रखा। परशुराम का परशु जहां-जहां क्षत्रिय थे, वहां-वहां साक्षात् मूर्तिमान कोपाग्नि हो कर जलने लगा और हजारों क्षत्रियों को मारने लगा। एक दिन अनायास ही परशुराम उस आश्रम में जा चढ़ा, जहां सुभूम का पालन-पोषण हो रहा था। जहां-जहां धुंआ होता है, वहां-वहां अग्नि अवश्य होती है; इस न्याय से परशुराम का क्षत्रियसूचक परशु वहां जलने लगा। अतः उसने तुरंत तापसों से पूछा—'क्या यहां कोई क्षत्रिय है? उन्होंने कहा—हम क्षत्रिय ही तापस बने हैं।' दावानल जैसे पर्वतशिखरों को घासरहित बना देता है, वैसे ही उसके पश्चात् परशुराम ने अपनी कोपाग्नि से पृथ्वी को सात बार निःक्षत्रिय बना दी। अतः परशुराम ने अपनी पूर्ण हुई आशाओं के समान यमराज के पूर्णपात्र के समान शोभायमान थाल को विनष्ट हुए क्षत्रियों की दाढ़ियों से पूर्ण भर दिया। एक बार उसने कुछ निमित्तज्ञों से पूछा—'मेरा वध किसके हाथों से होगा? वैर-विरोध रखने वाले को शत्रुओं से अपनी मृत्यु की सदा आशंका बनी रहती है। उन निमित्तज्ञों ने कहा—'ये दाढ़ियां जब खीर के रूप में परिणत हो जायेंगी और उस सिंहासन पर बैठ कर जो उस खीर को खाएगा; वही भविष्य में आपका वध करेगा।' परशुराम ने एक

ऐसी दानशाला बनाई, जिसमें कोई भी व्यक्ति बेरोकटोक आ कर दान ग्रहण कर सके। उसके अग्रभाग में सिंहासन स्थापित करके उस पर दाढ़ियों से भरे उस थाल को रखा।

इधर आश्रम में प्रतिदिन तापसों से लालित-पालित सुभूम आंगन में बोये हुए पेड़ के समान दिनोंदिन बढ़ने लगा। एक दिन मेघनाद नाम के विद्याधर ने किसी निमित्तज्ञ से पूछा—"मेरी यह कन्या पदमश्री सयानी हो गई है, इसे किसको दूं ?" तब उसने गणित करके कहा—'सुडौल कंधों वाले सुभूम को ही इसका वर बनाओ।' मेघनाद ने शुभ मुहूर्त देख कर सुभूम के साथ अपनी कन्या का पाणिग्रहण कर दिया और स्वयं उसका पारिपार्श्विक सेवक बन कर रहने लगा। कुंए के मेंढक के समान अन्य स्थानों से अनभिज्ञ सुभूम ने एक दिन अपनी माता से पूछा— 'मां ! क्या लोक इतना ही है ? इससे आगे कुछ नही है ?" माता ने कहा --"बेटा ! लोक का तो अन्त ही नहीं है ? हमारा आश्रम तो इस लोक के बीच में मक्खी के पैर टिकाने जितने स्थान में है। इस लोक में प्रसिद्ध हस्तिनापुर नामका नगर है। वहां तेरे पिता महापराक्रमी कृतवीर्य राजा राज्य करते थे। एक दिन परशुराम तेरे पिता को मार कर उनके राज्य पर स्वयं अधिकार जमा कर बैठ गया। उसने इस पृथ्वी को क्षत्रिय-रहित बना दी है। उसके भय से ही तो हम यहां रह रहे हैं।" यह सुनते ही मंगलग्रह के समान वैरी पर क्रोध करता हुआ सुभूम तत्काल हस्तिनापुर पहुँचा। **सचमुच, क्षत्रियतेज दुर्द्धर होता है।**' वह सिंह के समान सीधा परशुराम की दानशाला में पहुंचा और सिंहासन पर जा बैठा। दाढ़ियां क्षण भर में खीर रूप में परिणत हो गईं। पराक्रमी सुभूम उस खीर को खा गया। सिंह जैसे हिरणों को मार डालता है, वैसे ही युद्ध के हेतु उद्यत जो भी ब्राह्मण वहां रक्षा के लिये तैनात थे, उन्हें मेघनाद विद्याधर ने मार डाले। दाढ़ी और केश फर-फरा रहा परशुराम दांतों से होठ काटता हुआ क्रोध से कालपाश की तरह द्रुतगति से वहां आया ; जहां सुभूम था। आते ही उसने सुभूम पर अपना परशु फैंका। परन्तु जल में अग्नि के समान वह तत्काल शांत हो गया। उस समय दूसरा कोई शस्त्र न देख कर सुभूम ने भी दाढ़ियों वाला वह थाल उठाया और उसे चक्र की तरह घुमाने लगा। वह भी तत्काल चक्ररत्न बन गया। सच है, **पुण्यसंपत्ति हो तो कौन-सी चीज असाध्य है ?** अब सुभूम आठवें चक्रवर्ती के रूप में प्रगट हो गया था। अतः उसने उस तेजस्वी चक्र से कमल की तरह परशुराम का मस्तक काट डाला। जैसे परशुराम ने पृथ्वी को सात बार क्षत्रियरहित बना दी थी ; वैसे ही सुभूम ने २१ बार पृथ्वी को ब्राह्मणरहित बनाई। तत्पश्चात् भूतपूर्व राजा के हाथी, घोड़े रथ और पैदल सेना को मार कर रक्त की अभिनव सरिता बहाते हुए नवीन सेना के साथ सुभूम ने सर्वप्रथम पूर्व-दिशा का दिग्विजय किया। तत्पश्चात् अनेक सुभटों के छिन्नमस्तकों से पृथ्वी को सुशोभित करने वाले सुभूम ने दक्षिणदिशा-पति की तरह दक्षिणदिशा में विजय-अभियान करके वहां भी विजय प्राप्त की। विजय प्राप्त करके उसने वहां सर्वत्र विजयपताका फहरा दी। फिर अनायास ही वैताढ्य गुफा को उघाड़ कर मेरुपर्वत के समान पराक्रमी सुभूम ने म्लेच्छों को जीतने के लिये भारत के उत्तराखंड में प्रवेश किया। इस तरह चारों दिशाओं में भ्रमण करते हुए सुभूम ने सुभटों तथा पृथ्वी का उसी तरह चूर-चूर कर दिया, जैसे चक्की के दो पाट चनों को कर देते हैं। इसी प्रकार उसने पश्चिम दिशा की विजय के चिह्नस्वरूप सुभटों की हड्डियों को पश्चिमी समुद्र तट पर ऐसे बिखेर दीं, मानो समुद्रतट पर चारों ओर सीप और शंख फैले हों। इस प्रकार सुभूम ने छह खण्डों की साधना की। निरन्तर पंचेन्द्रियजीवों की हत्या करते हुए एवं रौद्रध्यानरूपी अग्नि से अन्तरात्मा को सतत जलाते हुए सुभूम चक्रवर्ती मर कर सातवीं नरकभूमि में गया।

ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती की कथा

प्राचीनकाल में साकेत नगर में चंद्रावतंसक राजा राज्य करता था। उसके चन्द्र-समान मनोहर आकृति वाला मुनिचन्द्र नाम का एक पुत्र था। भारवाही जैसे भार से घबराता है, वैसे ही काम-भोगों से विरक्त हो कर उसने सागरचन्द्र मुनि के पास दीक्षा अंगीकार की। जगत्पूजनीय प्रव्रज्या का पालन करते हुए एक बार उसने अपने गुरु के साथ देशान्तर में विचरण करने हेतु बिहार किया। मार्ग में वह एक गांव में भिक्षा के लिए गया। परन्तु वह लौट कर आया तब तक सार्थ वहां से चल पड़ा था। वह सार्थ से अलग हो गया। अतः सार्थभ्रष्ट हिरन के समान वह अकेला ही अटवी में भ्रमण करने लगा। भूख-प्यास से परेशान हो कर वह वहां बीमार पड़ गया। वहीं चार ग्वालों ने बान्धव की तरह उसकी सेवा की। ग्वालों के इस उपकार का बदला चुकाने की दृष्टि से मुनि ने उन्हें धर्मोपदेश दिया। सच है, **सज्जनपुरुष अपकार करने वाले पर भी दया करते हैं तो उपकारी पर क्यों न करेंगे?** उपदेश सुन कर उन्हें संसार से विरक्ति हुई और मुनि से उन्होंने दीक्षा अंगीकार की। मुनि बने हुए वे चारों ऐसे प्रतीत होते थे, मानो चार प्रकार का धर्म ही मूर्तिमान हो। उनमें से दो तो सम्यक् प्रकार से चारित्र की आराधना करते थे, परन्तु शेष दो धर्म से घृणा करते थे। '**जीवों की मनोवृत्ति बड़ी विचित्र होती है।**' धर्म की निंदा करने वाले वे दोनों साधु भी एक दिन मर कर देवलोक में गये। 'सच है, एक दिन के तप से भी जीव अवश्य स्वर्ग में चला जाता है। देवलोक से आयुष्य पूर्ण कर वे दोनों दशपुर नगर में शांडिल्य ब्राह्मण की जयवंती नाम की दासी के गर्भ से जोड़े से पुत्ररूप में पैदा हुए। धीरे-धीरे बड़े हुए। यौवन अवस्था प्राप्त की। सयाने होने पर वे दोनों पिता की आज्ञानुसार खेत की रखवाली करने लगे। दासी-पुत्रों को तो ऐसा ही कार्य सौंपा जाता है। एक दिन वे दोनों खेत में सोये हुए थे कि रात को अचानक एक काला सर्प बड़ के खोखले में से निकला और यमराज के सहोदर के समान उसने दोनों में से एक को डस लिया। दूसरे भाई को जागने पर पता लगा तो वह उस सर्प को ढूंढने के लिए वहीं इधर-उधर घूम रहा था कि अचानक शत्रु की तरह झपट कर उस दुष्ट सर्प ने तत्काल ही दूसरे भाई को भी डस लिया। उस समय वहां उनका जहर उतारने वाला कोई नहीं था। इस कारण वे बेचारे वहीं पर काल-कवलित हो गये। वे दोनों संसार में जैसे आये थे, वैसे ही चले गये। संसार में ऐसे निष्फल जन्म वाले को धिक्कार है। मृत्यु के बाद वे दोनों कालिंजर पर्वत के मैदान में एक हिरणी के गर्भ से जोड़े से मृगरूप में पैदा हुए; और साथ ही साथ बढ़ने लगे। एक दिन दोनों हिरन प्रेम से साथ-साथ चर रहे थे कि अचानक किसी शिकारी ने एक ही बाण से उन दोनों को बींध डाला। अत: दोनों वहीं मर कर मृतगंगा नदी में एक राजहंसी के गर्भ से पूर्व-जन्मों की तरह युगल हंस-रूप में उत्पन्न हुए। एक बार वे दोनों हंस एक जलाशय में क्रीड़ा कर रहे थे कि एक जलपारधि ने उन्हें जल में ही पकड़ा और उनकी गर्दन मरोड़ कर मार डाला। वास्तव में धर्महीन की गति ऐसी ही होती है। मर कर उन दोनों ने वाराणसी में प्रचुर धनसमृद्ध मातंगाधिपति भूतदत्त के यहां पुत्ररूप में जन्म लिया। उन दोनों का नाम चित्र और संभूति रखा गया। यहां भी वे दोनों परस्पर अत्यन्त स्नेही थे। नख और मांस के अभिन्न सम्बन्ध की तरह वे दोनों एक दूसरे से कभी अलग नहीं होते थे।

वाराणसी में उस समय शंख नामक राजा राज्य करता था। उसका प्रधानमंत्री लोकप्रसिद्ध नमुचि था। एक दिन शंख राजा ने नमुचि को किसी घोर अपराध के कारण वध करने हेतु भूतदत्त चांडाल को सौंपा। उसने नमुचि से कहा—'यदि तुम मेरे दोनों पुत्रों को गुप्तरूप से भूमिगृह (तलघर) में रह कर

पढ़ा दोगे तो मैं तुम्हें अपने बन्धु के समान मान कर तुम्हारी रक्षा करूंगा। नमुचि ने मातंग के वचन को स्वीकार किया, क्योंकि जीवितार्थी मनुष्य के लिए ऐसी कोई बात नहीं, जिसे वह न करे।' अब नमुचि चित्र और संभूति दोनों को अनेक प्रकार की विद्याएँ पढ़ाने लगा। इसी दरम्यान मातंगाधिपति की पत्नी से उसका अनुचित सम्बन्ध हो गया। वह उसके साथ अनुरक्त हो कर रतिक्रीड़ा करने लगा। भूतदत्त को जब यह पता चला तो वह उसे मारने के लिए उद्यत हुआ। 'अपनी पत्नी के साथ जारकर्म (दुराचार कौन सहन कर सकता है ? मातंग-पुत्रों को यह मालूम पड़ा तो उन्होंने नमुचि को चुपके से वहां से भगाया और उसे प्राणरक्षा रूपदक्षिणा दी। वहां से भाग कर नमुचि हस्तिनापुर में आ गया। वहां वह सनत्कुमारचक्री का मन्त्री बन गया। इधर युवावस्था आने पर चित्र और सम्भूति अश्विनीकुमार देवों की तरह बेस्वटके भूमण्डल में भ्रमण करने लगे। वे दोनों हा-हा, हू-हू देव-गन्धर्वों से भी बढ़कर मधुर गीत गाने लगे। और तम्बूरा तथा वीणा बजाने में नारद से भी बाजी मारने लगे। गीत-प्रबन्ध में उल्लिखित स्पष्ट सात स्वरों से जब वे वीणा बजाते थे, तब किन्नरदेव भी उनके सामने नगण्य लगते थे। और धीर-घोष वाले वे दोनों जब मृदंग बजाते थे, तब मुरदैत्य के अस्थिपंजरमय वाद्य को लिये हुए कृष्ण का स्मरण हो आता था। नाटक भी वे ऐसा करते थे, जिससे महादेव (शिव) उर्वशी, रंभा, मुंज, केशी, तिलोत्तमा आदि भी अनभिज्ञ थे। ऐसा मालूम होता था, मानो ये दोनों गान्धर्वविद्या के सर्वस्व और विश्वकर्मा के दूसरे अवतार हों। सचमुच, प्रत्यक्ष में अभिव्यक्त होने वाला उनका संगीत भला किसके मन को हरण नहीं करता ?

एक बार उस नगर में मदन-महोत्सव हो रहा था। तब नगर की संगीतप्रवीण सुन्दर गीत-मंडलियां चित्र और संभूति के निकट से गुजरीं। बहुत से नागरिक नर नारी इनके गीतों से आकर्षित हो कर हिरणों के समान झुंड के झुंड आ कर इनके पास जमा होने लगे। यह देख कर कुछ नागरिकों ने राजा से जा कर यह शिकायत की, कि "नगर के बाहर दो मातंग आए हुए हैं। सुन्दर गीत गा-बजा कर अपनी ओर आकर्षित कर लेते है और अपनी तरह सभी को दूषित कर रहे हैं। "यह सुनते ही राजा ने नगर के बड़े कोतवाल को उलाहना देते हुए आज्ञा दी—'खबरदार! ये दोनों नगर में कदापि प्रविष्ट न होने पाएँ।' इस राजाज्ञा के कारण वे दोनों तभी से वाराणसी के बाहर रहने लगे। नगरी में एक दिन कौमुदी-महोत्सव हुआ। उस दिन इन दोनों चंचलेन्द्रिय मातंगपुत्रों ने राजाज्ञा का उल्लंघन कर हाथी के गंडस्थल में भ्रमण की तरह नगर में प्रवेश किया। सारे शरीर पर बुर्का डाले हुए दोनों मातंगपुत्र वेष बदल कर चोरों की भांति गुपचुप उत्सव देखते हुए नगर में घूम रहे थे। जैसे एक सियार की आवाज सुन कर दूसरा सियार बोल उठता है, वैसे ही नगर के संगीतज्ञों का स्वर सुन कर ये दोनों भी अत्यंत मधुरकंठ से गीत गाने लगे। 'भवितव्यता का उल्लंघन नहीं किया जा सकता। उनके कर्णप्रिय मधुरगीत सुन कर नगर के युवक इस प्रकार मंडराने लगे, जैसे मधुमक्खियां अपने छत्ते पर मंडराती हैं। लोगों ने यह जानने के लिये कि ये कौन है ? उनका बुर्का खींचा। बुर्का खींचते ही उन्हें देख कर लोग बोल उठे —'अरे ये तो वे ही दोनों चाण्डाल हैं! 'दुष्टो! खड़े रहो;' यों कह कर लोग एकदम उन पर टूट पड़े। कइयों ने लाठी, ढेले, पत्थरों आदि से उन्हें मारा-पीटा और उनका भयंकर अपमान किया। इससे वे दोनों गर्दन झुकाए शर्मिन्दा हो कर उसी तरह नगरी से बाहर निकल गये, जैसे कुत्ते गर्दन नीची किए घर से चले जाते हैं। एक ओर जनता की विशाल भीड़ उनके पीछे लगी थी; दूसरी ओर, वे दोनों ही थे। उस समय वे ऐसे लगते थे, मानो एक छोटे-से खरगोश पर सारी सेना टूट पड़ी हो। कदम-कदम पर ठोकर खाते हुए भागते-दौड़ते बड़ी कठिनता से वे गम्भीर नामक उद्यान

में पहुंचे। वहां पहुंच कर दोनों भाइयों ने विचार किया—'सर्प द्वारा सूंघा हुआ दूध जैसे दूषित हो जाता है, वैसे ही खराब (चांडाल) जाति से दूषित होने के कारण अब हमारे कला-कौशल, रूप आदि को धिक्कार है। हमारे गुणों से उपकृत हो कर हमारी कद्र करना तो दूर रहा; उल्टे हम पर कहर बरसा कर हमारा अपकार किया जाता है।' अत. ऐसी कायरता की शान्ति धारण करने से तो विषमता उत्पन्न होती है। कला, लावण्य और रूप ये सब शरीर के साथ जुड़े हुए हैं और जब शरीर ही अनर्थ का घर हो गया है, तब उसे तिनके की तरह झटपट छोड़ देना चाहिए। यों निश्चय करके वे दोनों प्राण-त्याग करने को उद्यत हुए। उस समय वे दोनो दक्षिण-दिशा में उसी तरह चले जा रहे थे, मानो मृत्यु से साक्षात्कार करने जा रहे हों। आगे चलते-चलते उन्होंने एक पर्वत देखा। उस पर चढ़ कर नीचे देखा तो उन्हें हाथी सूअर के बच्चे जितना नजर आता था। अत: उन्होंने इसी पर्वत से कूद कर आत्महत्या करने की इच्छा से भृगुपात करने की ठानी। किन्तु पर्वत पर चढ़ते समय जंगम गुणपर्वत सरीखे एक महामुनि मिले। पर्वत के शिखर पर वर्षाऋतु के बादलों के समान मुनि को देख कर वे दोनों शोक-संताप से मुक्त हुए। उनकी आखों से हर्षाश्रु उमड़ पड़े, मानों अश्रुत्याग के बहाने वे पूर्वदुःखों का त्याग कर रहे थे। वे दोनों उन मुनिवर के चरण-कमलों में ऐसे गिर पड़े, जैसे भौंरा कमल पर गिरता है। मुनि ने ध्यान पूर्ण करके उनसे पूछा—"वत्स ! तुम कौन हो ? यहां कैसे और क्यों आये हो ?" उन्होंने आद्योपान्त अपनी सारी रामकहानी सुनाई। मुनि ने उनसे कहा—'वत्स, भृगुपात करने से शरीर का विनाश जरूर किया जा सकता है ; मगर सैकड़ों जन्मों में उपार्जित अशुभ-कर्मों का विनाश नहीं। यदि तुम्हें इस शरीर का ही त्याग करना है तो फिर शरीर का फल प्राप्त करो, और मोक्ष एवं स्वर्ग आदि के महान् कारणरूप तप की आराधना करो। वही तुम्हें शारीरिक और मानसिक सभी दु:खों से मुक्त कर सकेगा।" इस प्रकार उपदेशामृत के पान से उन दोनों निर्मल-हृदय युवकों ने उक्त मुनिवर के पास साधुधर्म अंगीकार किया।

मुनि बन कर शास्त्रों का गम्भीर अध्ययन करके वे क्रमश: गीतार्थ हुए। 'चतुरपुरुष जिस बात को आदरपूर्वक अपना लेते हैं, उससे क्या नहीं प्राप्त कर सकते।' षष्ट-अष्टम, (बेला-तेला) आदि अत्यंत कठोर तपस्याएं करके उन्होंने पूर्वकर्मों को क्षीण करने के साथ-साथ शरीर को भी कृश कर डाला। एक गांव से दूसरे गांव और एक नगर से दूसरे नगर में विचरण करते हुए एक बार वे दोनों हस्तिनापुर में पधारे। वहां वे दोनों रुचिर नाम के उद्यान में निवास कर दुष्कर तप की आराधना करने लगे। "शान्तचित्त व्यक्ति के लिए भोगभूमि भी तपोभूमि बन जाती है।" एक दिन संभूतिमुनि मासक्षपण (मासिक तप) के पारणे के हेतु भिक्षाटन करते हुए राजमार्ग से हो कर जा रहे थे, कि अचानक नमुचिमन्त्री ने उन्हें देखा। और देखते ही पहिचान कर सोचा—'यह तो वही मातंगपुत्र है। शायद किसी के सामने मेरी पोल न खोल दे। **'पापी हमेशा शंकाशील होता है।'** यह मेरी गुप्त बात यहां किसी के सामने प्रगट न कर दे, उससे पहले ही मैं इसे नगर से बाहर निकाल दूं। यों विचार करके मंत्री ने एक सैनिक को चुपचाप बुला कर यह कार्य सौंपा। जीवनदान देने वाले अपने पूर्व-उपकारी पर भी दुष्ट नमुचि कहर बरसाने लगा। सच है, **दुर्जन पर किया गया उपकार सर्प को दूध पिलाने के समान ही है'**। अनाज के दानों पर जैसे डंडे पड़ते जाते हैं, वैसे संभूति मुनि पर तड़ातड़ डंडे पड़ने लगे। अत: मुनि भिक्षा लिए बिना ही उस स्थान से बहुत दूर आगे निकल गये। यद्यपि वे नगर के बाहर निकल गये। फिर भी पीटने वाले उन्हें पीटते ही रहे। मुनि जब आश्वस्त हो कर एक जगह बैठे तो उनके मुंह से बादल के रंग का-सा धुंआ निकला, जो चारों और फैलता हुआ ऐसा लगता

था, मानो असमय में ही आकाश में बादल छाये हों। धीरे-धीरे धुंए ने आकाश की ओर तेजी से आगे बढ़ते हुए तेजोलेश्या का रूप ले लिया। अब वह ऐसा मालूम होता था मानो विद्युन्मण्डल से ज्वाला-जाल निकल रहा। भयभीत और कौतूहलप्रिय नागरिक, विष्णुकुमार से भी अधिक तेजोलेश्याधारी मुनि सम्भूति को प्रसन्न करने के लिए दल के दल वहां पर आने लगे।

राजा सनत्कुमार भी वहां पर आया। क्योंकि समझदार व्यक्ति जहां से अग्नि प्रगट होती है, वहीं से उसे बुझाने का प्रयत्न करता है। राजा ने मुनि को नमस्कार कर कहा—'भगवन्! क्या ऐसा करना आपके लिए उचित है? सूर्यकिरणों से तपे हुए होने पर भी चन्द्रकान्तमणि से कभी आग पैदा नहीं होती। इन सभी ने आपका अपराध किया है। इससे आपको क्रोध उत्पन्न हुआ है। क्षीर-समुद्र का मंथन करते समय क्या काल-कूट विष उसके अंदर से प्राप्त नहीं होता। सज्जन-पुरुषों का क्रोध भी दुर्जन के स्नेह के समान नहीं होता। कदाचित् हो भी जाय, तो भी चिरकाल तक नहीं टिकता। यदि चिरकाल तक टिक भी जाए तो भी तथारूप फलदायी नहीं बनता। इस विषय में आप सरीखे विचक्षण से हम क्या कहें? फिर भी आपसे प्रार्थना करता हूँ कि नाथ! आप इस अधमोचित क्रोध का त्याग करें। आप सरीखे महानुभाव की तो अपकारी और उपकारी पर समानदृष्टि होती है।' चित्रमुनि ने जब यह बात जानी तो श्रीसंभूतिमुनि को शान्त करने के लिए वह भी वहां आ पहुंचे। भद्र हाथी की तरह मधुरवचनों से शास्त्रानुकूल बात सुनते ही उनका कोप उसी तरह शान्त हो गया, जिस तरह मेघवृष्टि से पर्वतीय दावानल शान्त हो जाता है। महाकोपरूपी अंधकार से मुक्त बने महामुनि संभूति क्षणभर में पूर्णिमा के चन्द्र के समान प्रसन्न हो गए। अतः जनसमूह उन्हें वन्दन करके क्षमायाचना करता हुआ अपने स्थान को लौट गया। चित्रमुनि और संभूतिमुनि वहां से उद्यान में पहुँचे। वहां वे दोनों मुनि पश्चात्ताप करने लगे—'आहार के लिए घर-घर घूमने से महादुःख होता है, किन्तु यह शरीर आहार के पोषण से ही चलता है। मगर योगियों को इस शरीर और आहार की क्या आवश्यकता है?" इस प्रकार मन में निश्चय करके दोनों मुनियों ने संलेखनापूर्वक चतुर्विध-आहारत्यागरूप आमरण अनशन (संथारा) स्वीकार किया।

एक दिन राजा ने सोचा—'मैं भूमि का परिपालक हूं। मेरे राज्य में साधुओं को इस प्रकार से साधुओं को परेशान करके किसने अपमानित किया? इसका पता लगाना चाहिए।' किसी गुप्तचर से राजा को पता लगा कि मन्त्री नमुचि के ये कारनामे हैं! जो पूजनीय की पूजा नहीं करता, वह पापी कहलाता है, तो जो पूजनीय पुरुष को मारता है, उसे कितना भयंकर पापी कहना चाहिए?" अतः आरक्षकों ने चक्रवर्ती के आदेश से नमुचि मंत्री को गिरफ्तार करके उसके सामने पेश किया। भविष्य में और कोई इस तरह साधु को परेशान न करे, इस शुद्धबुद्धि से राजा ने अपराधी मन्त्री को नगर में सर्वत्र घुमाया। अन्त में, दोनों मुनियों के चरणों में मणिमय मुकुटसहित मस्तक झुका कर चक्रवर्ती ने वन्दन किया उस समय वे दोनों मुनिचरण ऐसे लगते थे, मानो राजा मस्तकस्थ मुकुटमणि से पृथ्वी को जलमय बना रहा हो। बांये हाथ से मुखवस्त्रिका से ढके मुंह से मुनियों ने दाहिना हाथ ऊँचा करके राजा को धर्मलाभरूपी आशीर्वाद दे कर उसकी गुणग्राहिता की प्रशंसा की। राजा ने नम्रतापूर्वक निवेदन किया—"मुनिवर! आपका जो अपराधी है, उसे अपने कृत अपराध (दुष्कर्म) का फल मिलना ही चाहिए।" यों कह कर सम्राट् सनत्कुमार ने नमुचि की ओर इशारा किया। मुनिवरों द्वारा क्षमा करने का निर्देश हुआ। अतः वध करने योग्य होने पर भी गुरु-आज्ञा मान कर राजा ने उसे छोड़ दिया। सर्प गरुड़ के

पास नहीं टिकता, उसी प्रकार सनत्कुमार और मुनि के से अलग हो कर दुष्कर्म चाण्डाल मृतवत् जीवन-यापन करने वाले नमुचि को नगर और देश से निष्कासित कर दिया।

सनत्कुमार चक्रवर्ती की मुख्य पटरानी सुनन्दा भावभक्ति से प्रेरित हो कर अपनी ६४ हजार सौतों को साथ ले कर दोनों मुनिवरों को वंदन करने गई। सम्भूति मुनि को वंदन करते समय वह श्रेष्ठ नारी उनके चरणकमलों से अपने बालों को स्पर्श कराती हुई-सी उनके चरणों में झुकी, उस समय ऐसा प्रतीत होता था, मानो वह पृथ्वी को चन्द्रमयी बना रही हो। उस स्त्रीरत्न के सुकोमल बालों का स्पर्श होते ही संभूतिमुनि को रोमांच हो उठा। सच है, **'कामदेव सदा छिद्र ढूंढता रहता है।'** जब पटरानी ने उनकी आज्ञा ले कर, अन्तःपुर-सहित जाने की इच्छा प्रगट की, तब राग से पराजित संभूतिमुनि ने मन ही मन इस प्रकार का निदान (दृढ़ संकल्प) किया—यदि मेरे दुष्करतप का कोई फल प्राप्त हो तो यही हो कि आगामी जन्म में मैं ऐसी स्त्रीरत्न का पति बनूँ। उस समय चित्रमुनि ने उन्हें रोकते हुए कहा—"भाई! मोक्षफलदायक तप से तुम ऐसे निकृष्ट फल की इच्छा क्यों करते हो? मस्तक में धारण करने योग्य रत्न को पादपीठ में क्यों लगा रहे हो? मोहवश किये हुए निदान (नियाणे) का अब भी त्याग कर दो। तुम जैसे महामुनि के द्वारा ऐसा विचार करना उचित प्रतीत नहीं होता। इसी समय इसके लिये 'मिच्छामि दुक्कड़' (मेरा यह दुष्कृत मिथ्या हो) कह दो। इस प्रकार चित्रमुनि के रोकने पर भी संभूतिमुनि ने नियाणे का त्याग नहीं किया। सचमुच, **विषयेच्छा अतिबलवती होती है।'** अनशन की भली-भांति विधिपूर्वक आराधना करके दोनों मुनि आयुष्य पूर्ण कर सौधर्म नामक सुन्दर विमान में देवरूप में उत्पन्न हुए।

चित्र के जीव ने प्रथम देवलोक से च्यवन कर पुरिमताल नामक नगर में एक सेठ के यहां पुत्र रूप में जन्म लिया। संभूति का जीव भी देवलोक से च्यव कर कांपिल्यनगर में ब्रह्मराजा की भार्या चुलनीदेवी की कुक्षि में आया। माता ने चौदह महास्वप्न देखे। शुभतर वैभवसूचक भविष्य जान कर चुलनी रानी ने उसी तरह पुत्र को जन्म दिया, जैसे पूर्वदिशा सूर्य को जन्म देती है। आनन्द से ब्रह्म में मग्न ब्रह्मराजा ने पुत्र का नाम ब्रह्माण्ड में प्रसिद्ध ब्रह्मदत्त रखा। जगत् के नेत्रों को आनन्द देता हुआ एवं अनेक कलाओं को ग्रहण करता हुआ निर्मलचन्द्र के समान वह दिनोंदिन बढ़ने लगा। ब्रह्मा के चार मुख के समान ब्रह्मराजा के चार प्रिय मित्र थे, उनमें से एक काशी देश का राजा कटक था, दूसरा हस्तिनापुर का राजा कणेरदत्त था, तीसरा, कोशल का राजा दीर्घ और चौथा चंपा का राजा पुष्पचूलक था। ये पांचों मित्रराजा एक दूसरे के स्नेह-वश एक-एक वर्ष तक बारी-बारी से एक-एक राजा के नगर में नंदनवन और कल्पवृक्ष की तरह साथ-साथ रहते थे। एक बार ब्रह्म राजा के नगर में पांचों राजाओं के एकत्रित रहने की बारी आई। इस कारण शेष चारों राजा वहाँ आए हुए थे। वे सभी वहाँ मस्ती से क्रीड़ा करते हुए अपना अधिकांश समय व्यतीत कर चुके थे। परन्तु इधर जब ब्रह्मदत्त बारह वर्ष का हुआ, तभी अचानक ब्रह्मराजा के मस्तक में अपार वेदना पैदा हो पड़ी, और उसी से पीड़ित हो कर वह मर गया। ब्रह्मराजा की मरणोत्तर क्रिया करने के बाद मूर्त उपाय के समान कटक आदि चारों राजाओं ने मिल कर ठोस और आवश्यक मंत्रणा की कि "ब्रह्मदत्त अभी बालक है। जब तक वह वयस्क न हो जाय, तब तक हममें से किसी एक को यहां पहरेदार की तरह राज्यरक्षा के लिए रहना चाहिए।" मित्र-राजाओं को यह बात जंच गई और राज्य की रक्षा के लिये दीर्घराजा को वहां पर नियुक्त किया। शेष तीनों मित्र राजा अपने-अपने स्थान लौट गये। जैसे खेत को अरक्षित देख कर खेत में घुस जाता

है और सभी चर जाता है। उसी प्रकार तुच्छबुद्धिवाला दीर्घ भी राज्यलक्ष्मी को अरक्षित समझ कर उसका बेखटके मनमाना उपभोग करने लगा। दुर्जन जैसे दीर्घकाल के सहवास से दूसरे के छिद्र को ढूंढ़ निकालता है, वैसे ही दुर्बुद्धि दीर्घ ने चिरकाल से गुप्त धनभडार ढूंढ निकाला। पूर्वपरिचय के कारण वह ब्रह्मराजा के अत.पुर में भी बेरोकटोक घूमने लगा। सचमुच, आधिपत्य मनुष्य से प्रायः अन्धकार्य करा देता है। अतः दीर्घ अब चूलनी देवी के साथ एकान्त में अकेला और प्रेमभरे वचनों से विनोद और हास्य करने लगा। यह गुप्तमंत्रणा कामवाणों से उसे बींधने वाली थी। इस प्रकार दीर्घराजा अपने कर्तृव्य, ब्रह्म राजा के उपकार और लोक मर्यादा की अवगणना करके चूलनीरानी में अत्यन्त आसक्त हो गया। "सचमुच, **इन्द्रियों को वश करना अतिकठिन हैं**। चूलनी रानी ने भी ब्रह्मराजा के प्रति पति-भक्ति का तथा पति के मित्र होने के नाते दीर्घ राजा के प्रति मित्रस्नेह का त्याग कर दिया। वास्तव में '**कामदेव सर्वविनाशक होता है**।' इच्छानुसार सुख-विलास करते हुए लम्बा अर्सा भी मुहूर्त के समान बीत गया। ब्रह्म राजा के अभिन्न हृदय मन्त्री धनु को जब दीर्घराजा और चूलनीरानी के गुप्त दुराचार का पता लगा तो वह विचार में पड़ गया कि चूलनी देवी स्वभाव से ही पतिव्रतधर्मविरुद्ध दुराचार का सेवन कर रही है। वास्तव में '**सती स्त्रियां विरली ही होती हैं**।' जिसे दीर्घराजा को राज्य, कोष और अन्तःपुर की रक्षा करने और संभालने का काम विश्वासपूर्वक सौंपा था; वही दीर्घराजा आज विश्वास घात करके ब्रह्मराजा की रानी के साथ स्वच्छन्द हो कर रंगरेलियाँ कर रहा है। इसके लिए आज कुछ भी अकार्य नहीं रहा। सम्भव है, वह अब कुमार का भी कुछ अनिष्ट कर बैठे। दुर्जन मनुष्य बिलाव की तरह पोषण करने वाले को भी अपना नहीं समझता।' यों विचार करके उसने अपने पुत्र वरधनु को आदेश दिया—'बेटा! तू ब्रह्मदत्तकुमार की सेवा में रहना और कोई गलत बात या नया समाचार हो तो मुझे सूचित करते रहना।"

मंत्रीपुत्र ने जब ब्रह्मदत्त कुमार को अन्तःपुर में हो रही अघटित घटना की बात सुनाई तो उसे सुन कर ब्रह्मदत्त भी मतवाले हाथी की तरह धीरे-धीरे क्रोध से झल्लाने लगा। माता के दुश्चरित्र की बात जब असह्य हो उठी तो एक दिन ब्रह्मदत्त एक कौए और कोयल को साथ ले कर अंतःपुर में पहुँचा। अपनी माता और दीर्घराज को उद्देश्य करके वह इस प्रकार कहने लगा—'वर्णसंकरता फैलाने वाले इन दोनों तथा और भी ऐसे कोई हों तो वे मार डालने के लायक हैं। मैं ऐसों को अवश्य ही दंड दूंगा। यह बात सुन कर दीर्घ राजा ने चूलनी से कहा—'सुन ली न तुम्हारे बेटे की बात? वह मुझे कौआ और तुम्हें कोयल बता रहा है और मौका मिलते ही वह हम दोनों को अवश्य ही कैदी बनाएगा। इस पर रानी ने कहा—'बालक के कथन पर तुम्हें जरा भी भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है। एक बार भद्र हथिनी के साथ सूअर को अन्त.पुर में ले जा कर दीर्घराजा और माता को प्रेरणा देने के बहाने उन दोनों पशुओं को पहले की तरह उपालम्भ देते हुए फटकारने लगा। यह सुनते ही दीर्घ राजा के कान खड़े हो गये। उसने फिर रानी से कहा—'देखो न, फिर यह बालक हमें लक्ष्य करके कह रहा है।" इस पर चूलनी रानी ने उससे कहा—अभी वह, नादान बच्चा है, चाहे जो कहे, हमें उसके कहने पर ध्यान नहीं देना चाहिए।" एक दिन हंसनी के साथ बगुले को बांध कर ब्रह्मदत्त अन्तःपुर में ले गया और दोनों को लक्ष्य करके सुनाने लगा—'खबरदार'! जैसे इस हंसनी के साथ बगुला क्रीड़ा करता है, वैसे किसी ने किया तो मैं जरा भी सहन नहीं करूंगा।" तब दीर्घ ने रानी से कहा—"देवी! देख फिर यह तेरा पुत्र धुंआ उगलती हुई आग की तरह रोषाग्नि से भरी वाणी उगल रहा है। यह ज्यों-ज्यों उम्र में

बड़ा होता जायेगा त्यों-त्यों हम दोनों के लिए उसी तरह खतरनाक हो जायेगा, जिस तरह केसरी-सिंह हाथी-हथिनी के लिए होता है। इसलिए जवान एवं पराक्रमी होने से पहले ही इस जहरीले पेड़ को समूल उखाड़ फैंकना चाहिए।' रानी यह बात सुनते ही सिहर उठी। वह बोली —"न, न प्रिय ! यह मुझसे कैसे हो सकेगा ? तिर्यंच पशु-पक्षी भी अपने पुत्रों की भी प्राण रक्षा करते हैं, तब मुझे तो मानव जाति की और इसकी मां होने के नाते इसकी रक्षा करनी चाहिए। फिर यह तो राज्य लक्ष्मी का अधिकारी है। इसका विनाश करते हुए मेरा दिल कांप उठता है।" इस पर दीर्घराजा ने कहा — "अब तेरा पुत्रोत्पत्ति का समय तो आ ही रहा है। फिर व्यर्थ ही चिन्ता क्यों करती है ? मैं हूँ जब तक तेरे लिए पुत्रप्राप्ति दुर्लभ नहीं है।" यह सुन कर शाकिनी के समान चूलनी भी रतिक्रीड़ामूढ़ और स्नेह-परवश हो कर पुत्रवात्सल्य को तिलांजलि दे कर दीर्घराजा की बात से सहमत हो गई। परन्तु साथ ही उसे बदनामी का भी भय था। इसलिए उसने दीर्घराजा से कहा—'प्रिय ! कोई ऐसा षडयंत्र रचो, जिससे हमारी बदनामी भी न हो और उसका विनाश भी हो जाय। मुझे तो यह काम एक ओर से आम्रवन सींचने और दूसरी ओर से, पितृतर्पण करने सरीखा अटपटा-सा लगता है। अथवा यों करें, कुमार का विवाह कर दिया जाय और वासगृह के बहाने इसके लिए एक ऐसा लाक्षागृह तैयार करवाया जाय, जिसमें गुप्तरूप से प्रवेश करने और निकलने के दरवाजे हों। विवाह हो जाने पर राजकुमार को पत्नी के साथ उसी लाक्षागृह में प्रवेश कराया जाय। रात में जब वे दोनों सो जाएं, तब आग लगा दी जाय ; ताकि अन्दर ही अन्दर जल कर मर जायेंगे। न हमारी बदनामी होगी और न हमारे लिए फिर कोई खतरा ही रहेगा।" इस प्रकार दोनों ने गुप्तमंत्रणा की। दूसरे ही दिन राजकुमार की सगाई पुष्पचूल राजा की कन्या के साथ तय कर दी गई और जोर-शोर से विवाह की तमाम तैयारियां होने लगीं।

इधर धनुमंत्री ने इन दोनों की बदनीयत जान कर दीर्घराजा से हाथ जोड़ कर विनति की, 'राजन् ! मेरा पुत्र वरधनु सब कलाओं में पारंगत और नीतिकुशल हो गया है। अतः अब वही जवान बैल के समान आपकी आज्ञारूपी रथधुरा को उठाने में समर्थ है। मैं तो बूढ़ बैल के समान कहीं आने-जाने एवं राजाज्ञा के भार को उठाने में असमर्थ हूँ। यदि आपकी अनुमति हो तो मैं किसी शान्त स्थल पर जा कर अन्तिम समय में धर्मानुष्ठान करूँ।' यह सुन कर दीर्घराजा को ऐसी आशंका हुई कि यह मायावी कहीं अन्यत्र जा कर कुछ अनर्थ करेगा ; या हमारा भंडाफोड़ करेगा।" दीर्घराजा ने कपटभरे शब्दों में धनुमंत्री से कहा—'अजी ! बुद्धिनिधान प्रधानमन्त्रीजी ! जैसे चन्द्र के बिना रात शोभा नहीं देती ; वैसे ही आपके बिना यह राज्य शोभा नहीं देता। इसलिए आप अब अन्यत्र नहीं भी न जाइये। यहीं दानशाला बना कर धर्म कीजिए। दूर जाने की क्या आवश्यकता है ? सुन्दर वृक्षों से जैसे बाग शोभायमान होता है, वैसे ही आपसे यह राज्य शोभायमान रहेगा।" इस पर बुद्धिशाली धनुमंत्री ने भागीरथी नदी के तट पर धर्म का महाछत्र-सा एक पवित्र दानमंडप बनाया। वहीं दानशाला बना कर गंगा के प्रवाह के समान दान का अखण्डप्रवाह जारी किया। इसमें पथिकों को भोजन-पानी आदि दिया जाता था। साथ ही धनुमंत्री ने दान, सम्मान और उपकार से उपकृत और विश्वस्त बनाए हुए पुरुषों से दानशाला से ले कर नवनिर्मित लाक्षागृह तक दो कोस लम्बी सुरंग खुदवाई। उधर उसने मैत्रीवृक्ष को सींचने के लिए जल के सदृश एक गुप्तलेख से वहाँ दीर्घ द्वारा हो रहे षड्यन्त्र का सारा वृत्तान्त पुष्पचूल को अवगत कराया। बुद्धिशाली पुष्पचूल भी यह बात सच्ची

जान कर अपनी पुत्री के बदले हंसनी के स्थान में बगुली की तरह एक दासीपुत्री को रत्नमणि-जटित आभूषणों से सुसज्जित करके भेजा। उस दासीपुत्री ने पुष्पचूल की पुत्री के रूप में नगर में प्रवेश किया। सच है, भोले-भाले लोग पीतल को देख कर उसे सोना समझ लेते हैं। मंगलमय मधुगीतों और वाद्यों से आकाशतल गूंज उठा। शहनाइयां बज उठीं। बहुत ही धूमधाम से हर्षपूर्वक उस कन्या के साथ ब्रह्मदत्त का विवाह हो गया। अन्य सभी परिवार को विदा करके चूलनी ने नववधू-सहित कुमार को रात्रि के प्रारम्भ होते ही लाक्षागृह में भेज दिया। अन्य परिवार-सहित नववधू, कुमार और उसकी छाया के समान वरधनु साथ-साथ वहां पर आए। ब्रह्मदत्तकुमार को मन्त्रीपुत्र के साथ बातें करते-करते आधीरात बीत चुकी। 'महात्माओं की आंखों में ऐसे समय नींद कहां?' चूलनी ने विश्वस्त सेवकों को लाक्षागृह जलाने की आज्ञा दी। सेवकों ने उस लाख के बने महल में आग लगा दी। आग लगते ही धू-धू करके कुछ ही क्षणों में वासगृह में अग्नि-ज्वालाएँ फैल गई। धीरे-धीरे उसका काला धुंआ चारों ओर से सारे आकाशमण्डल में इस तरह फैल गया, मानो चूलनी के चिरकालीन दुष्कर्म की अपकीर्ति फैल रही हो। आज सप्तजिह्वा वाली भूखी अग्नि अपनी लपलपाती हुई ज्वालाओं से करोड़ों जिह्वा वाली सर्वभक्षिणी बन गई। जब ब्रह्मदत्त ने मन्त्रीपुत्र से पूछा—'यह क्या है?' तो इसके उत्तर में चूलनी के दुष्ट आचरणों का सारा कच्चा चिट्ठा खोल कर रख दिया। और अन्त में इससे बचने का उपाय बताते हुए कहा—"हाथी की सूंड से सुन्दरी को बचा कर निकालने की तरह आपको यहां से बाहर निकालने के लिए दानशाला तक एक सुरंग मेरे पिताजी ने बनवाई है। अतः यहीं पर जोर से लात मार कर इसका दरवाजा खोलो और योगी जैसे योगबल से छिद्र में प्रवेश कर जाता है, उसी प्रकार सुरंग में प्रवेश करो।" मिट्टी के सकोरे के-से बनाए हुए सम्पुट-वाद्ययन्त्रों के समान दरवाजे पर जोर से कुमार के पैर मारते ही सुरंग का दरवाजा झनझना कर खुल गया। अपने मित्र के साथ ब्रह्मदत्तकुमार सुरंग के रास्ते से वैसे ही निकल गया, जैसे रत्न के छेद में से धागा निकल जाता है। सुरंग पार करते ही बाहर धनुमन्त्री द्वारा जीन कसे हुए सुसज्जित दो घोड़े तैयार खड़े थे। उन पर राजकुमार और मन्त्रीपुत्र दोनों आरूढ़ हुए, मानो दो सूर्यपुत्र हों। दोनों घोडे पंचमधारागति से इतनी तेजी से दौड़ रहे थे कि उनके लिए पचास योजन एक कोस के समान था। किन्तु अफसोस! वे दोनों घोड़े बीच में ही थक कर मर गये। अतः वहां से आगे वे दोनों पैदल चल कर अपने प्राणों की रक्षा करते हुए मुश्किल से कोष्ठकगांव के निकट पहुंचे।

तभी ब्रह्मदत्त ने अपने मित्रवर धनु से कहा—'मित्र! क्या अब भी परस्पर प्रतिस्पर्धा करनी है? मुझे तो कड़ाके की भूख और तीव्र प्यास लगी है। इनके मारे मेरे प्राण निकले जा रहे है।' मंत्रीपुत्र ने राजकुमार के कान में कुछ कहा और फिर—'क्षणभर तुम यहां रुक जाओ।' यों कह कर वह आगे चल पड़ा। राजकुमार का मस्तक मुंडाने के हेतु मत्रीपुत्र गाँव से वह एक नाई को बुला लाया। मन्त्रीपुत्र के कहने से ब्रह्मदत्त ने सिर्फ एक चोटी रखवा कर बाकी के सारे बाल कटवा दिये। फिर उसने भगवें रंग के पवित्र वस्त्र धारण कर लिये। उस समय वह ऐसा लगता था मानो सन्ध्याकालीन रंग-बिरंगे बादलों में सूर्य छिपा हो। मंत्रीपुत्र वरधनु ने उसके गले में एक ब्रह्मसूत्र डाल दिया। अब तो वह ब्रह्मराजा का पुत्र यथार्थ रूप में अपने ब्रह्मपुत्र नाम को सार्थक कर रहा था। वर्षाऋतु मे मेघ से जैसे सूर्य ढक जाता है, वैसे ही मन्त्रीपुत्र ने ब्रह्मदत्त के श्रीवत्सयुक्त वक्षःस्थल को उत्तरीय पट से ढक

दिया। इस तरह सूत्रधार के समान ब्रह्मपुत्र का वेश बदलवा कर स्वयं मंत्रीपुत्र ने भी वैसा ही वेश बदला। यों पूर्णिमा के चन्द्रमा और सूर्य के समान दोनों मित्रों ने गांव में प्रवेश किया। वहां किसी ब्राह्मण ने उन्हें भोजन के लिये आमंत्रण दिया। उसने राजा के अनुरूप भक्ति से उन्हें भोजन कराया। 'प्रायः मुख के तेज के अनुसार सत्कार हुआ करता है। भोजनोपरांत ब्राह्मणपत्नी श्वेतवस्त्रयुगल से सुसज्जित कर अप्सरा के समान रूपवती एक कन्या को ले कर उपस्थित हुई ; जो कुमार के मस्तक पर अक्षत डालने लगी। यह देख कर वरधनु ने ब्राह्मण से कहा 'विचारमूढ़ ! साड के गले में गाय के समान कलाहीन इस बटुक के गले में इस लड़की को क्यों बांध रही हो ?" इसके उत्तर में विप्रवर ने कहा—' यह गुणों से मनोहर बन्धुमती नाम की मेरी कन्या है। मुझे इसके योग्य वर इसके सिवाय और कोई नजर नहीं आता। निमित्तज्ञों ने मुझे बताया था कि इसका पति छह खण्ड पृथ्वी का पालक चक्रवर्ती होगा। और यह वही है। उन्होंने मुझे यह भी कहा था कि उसका श्रीवत्सचिह्न पट से ढका होगा और वह तेरे घर पर ही भोजन करेगा। उसे ही यह कन्या दे देना।" उसी समय ब्राह्मण ने ब्रह्मदत्त के साथ उस कन्या का विवाह कर दिया। भाग्यशाली भोगियों को बिना किसी प्रकार का चिन्तन किये अनायास ही प्रचुर भोग मिल जाते हैं।" ब्रह्मदत्त उस रात को वहीं रह कर और बन्धुमती को आश्वासन दे कर अन्यत्र चल पड़ा। जिसके पीछे शत्रु लगे हों, वह एक स्थान पर डेरा जमा कर कैसे रह सकता है ? वहां से चल कर वे दोनों सुबह-सुबह एक गांव में पहुंचे, जहां उन्होंने सुना कि दीर्घराजा ने ब्रह्मदत्त को पकड़ने के लिए सभी मार्गों पर चौकी-पहरे बिठा दिये है। अतः वे टेढ़ेमेढ़े मार्ग से चलने लगे। दौड़ते-भागते वे दीर्घराजा के भयंकर सैनिकों के सरीखे हिंस्र जानवरों से भरे घोर जंगल में आए। वहां प्यासे कुमार को एक वटवृक्ष के नीचे छोड़ कर वरधनु मन के समान फुर्ती से जल लेने गया। वहां पर पहचान लिया गया कि 'यह वरधनु है, अतः सूअर के बच्चे को जैसे कुत्ते घेर लेते हैं, वैसे ही दीर्घराजा के क्रुद्ध सैनिकों ने उसे घेर लिया। फिर वे जोर-जोर से चिल्लाने लगे—'अरे ! पकड़ो, पकड़ो इसे ! मार डालो, मार डालो !" यों भयंकर रूप से बोलते हुए उन्होंने वरधनु को पकड़ कर बांध दिया। वरधनु ने ब्रह्मदत्त को भाग जाने का इशारा किया। अतः ब्रह्मदत्तकुमार वहां से नौ-दो-ग्यारह हो गया। 'पराक्रम की परीक्षा समय आने पर ही होती है।' कुमार भी वहा से एक के बाद दूसरी बड़ी अटवी को तेजी से पार करता हुआ बिना थके बेतहाशा मुट्ठी बांधे आगे बढ़ा जा रहा था। इसी तरह वह एक आश्रम से दूसरे आश्रम में पहुंचा। वहां उसने बेस्वाद एवं अरुचिकर फल खाये। वहां से चल कर तीसरे दिन उसने एक तापस को देखा ! उससे पूछा - भगवन् ! आपका आश्रम कहां है ?' तापस कुमार को अपने आश्रम में ले गया। क्योंकि तापसों को अतिथि प्रिय होते हैं। कुमार ने आश्रम के कुलपति को देखते ही पितातुल्य मान कर उन्हें हर्ष से नमस्कार किया। अज्ञात वस्तु के लिये अन्तःकरण ही प्रमाण माना जाता है। कुलपति ने उससे पूछा—'वत्स ! मरुभूमि में कल्पवृक्ष के समान तुम सुन्दर आकृति वाले पुरुष यहां कैसे चले आये ?' ब्रह्मपुत्र ने महात्मा पर विश्वास रख कर अथ से इति तक अपना सारा वृत्तान्त कह सुनाया। क्योंकि प्रायः ऐसे पुरुषों से बात छिपाई नहीं जाती। सुनते ही हर्षित हो कर कुलपति ने गद्गद स्वर से कहा—'वत्स ! मैं तुम्हारे पिता का छोटा भाई हूं। हम दोनों शरीर से भिन्न थे, परन्तु हृदय से अभिन्न थे। इसलिये तुम आश्रम को अपना घर समझ कर जितने दिन तुम्हारी इच्छा हो, उतने दिन खुशी से यहीं रहो और हमारे मनोरथों के साथ हमारे तप में भी वृद्धि करो।' जननयनों को आनन्दित करता हुआ सर्ववल्लभ कुमार भी उस आश्रम में रहने लगा। इतने में वर्षाकाल आ पहुंचा। कुलपति ने अपने आश्रम में रहते हुए कुमार को सभी शास्त्र एवं

शस्त्र-अस्त्रविद्याएँ उसी प्रकार पढ़ा दीं, जैसे बलदेव ने श्रीकृष्ण को पढ़ाई थीं। सारसपक्षियों के कलरव से परिपूर्ण एवं बन्धु-समान वर्षाकाल पूर्ण होने के बाद शरदऋतु के आते ही आश्रम के तापस फल तोड़ कर लाने के लिए निकटवर्ती वन में चले। कुलपति के द्वारा आदर-पूर्वक रोके जाने पर भी ब्रह्मपुत्र तापसों के साथ वन में उसी प्रकार चला जिस प्रकार हाथी अपने बच्चों के साथ चलता है। वन में इधर-उधर घूमते हुए ब्रह्मपुत्र ने एक जगह किसी हाथी का ताजा मल-मूत्र देखा। इस पर उसने सोचा—'यहां से कुछ ही दूर कोई हाथी होना चाहिए।' तापसों ने उसे आगे जाने से बहुत मना किया। फिर भी वह हाथी के पैरों के चिह्न देखता हुआ पांच योजन तक जा पहुंचा; जहां उसने पर्वत के समान एक हाथी को देखा। तुरन्त ही लगोट कस कर कुमार ने गर्जना की। एक मल्ल जैसे दूसरे मल्ल को ललकारता है, वैसे ही मनुष्यों में हाथी के समान ब्रह्मदत्त ने हाथी को ललकारा। अतः लाल मुंह वाला हाथी कोपायमान हो कर सभी अंगो को कपाता हुआ सूंड लम्बी करके कान को स्थिर करता हुआ कुमार की ओर झपटा। हाथी ज्यों ही कुमार के पास आया, त्यों ही बालक को फुसलाने की तरह हाथी को बहकाने के लिए उसने बीच मे ही एक वस्त्र फैंका। मानो आकाश से आकाशखण्ड टूट कर पड़ा हो, इस दृष्टि से अतिरोपवश हो कर हाथी ने उस वस्त्र को अपने दोनों दंतशूलों से क्षणभर में कस कर पकड़ लिया। जिस प्रकार मदारी सांप को नचाता है, उसी प्रकार कुमार ने विविध चेष्टाओं से हाथी को चारों ओर घुमाया। ठीक उसी समय ब्रह्मदत्त के दूसरे मित्र की तरह बादल गर्जने के साथ वर्षा अपनी जलधारा से हाथी पर आक्रमण करने लगी। अतः हाथी चिंघाड़ता हुआ मृगगति से भाग गया। कुमार भी पर्वत की ओर घूमता-घामता एक नदी के पास पहुंचा। उसने आपत्ति की तरह वह नदी पार की। नदी के किनारे उसने एक पुराना उजड़ा हुआ नगर देखा। उसमें प्रवेश करते ही उसने बांसों के ढेर में पड़ी हुई तलवार और ढाल को देखा; मानो उत्पातकारी केतु और सुरक्षाकारी चन्द्रमा हो। उन दोनों को शस्त्रचालनकौतुकी कुमार ने कुतुहलवश उठाए और सर्वप्रथम तलवार से उस बांस के बड़े ढेर को केले के पेड़ की तरह काट डाला। बांस के ढेर में उसे पृथ्वी में स्थलकमल के समान एक मानव-मस्तक दिखाई दिया, जिसके ओठ फड़फड़ा रहे थे। गौर से देखने पर उसे ज्ञात हुआ कि उलटा सिर किये किसी धूम्रपान करते हुए आदमी का ताजा कटा हुआ धड़ पड़ा है। यह वीभत्सदृश्य देखते ही वह पश्चात्तापयुक्त स्वर में बोल उठा—'अफसोस! मैंने किसी निरपराध विद्यासाधक को मार डाला है, धिक्कार है मुझे!' यों आत्मनिंदा करते हुए कुमार ने ज्यों ही कदम आगे बढ़ाए, त्यों ही स्वर्ग से भूतल पर उतरे हुए नंदनवन के समान एक उद्यान देखा। उसमें प्रवेश करते ही सामने सातमंजला महल देखा, मानो वह सात लोक की शोभा से मूर्च्छित हो कर यहां पड़ा हो। उस गगनचुम्बी महल में चढ़ते हुए कुमार को खेचरी-सी एक नारी दिखाई दी; जो हथेली पर मुंह रखे चिन्तितमुद्रा में बैठी थी। कुमार ने जरा आगे बढ़ कर उत्सुकतापूर्वक स्पष्ट आवाज में उससे पूछा—'भद्रे! तुम यहां अकेली कैसे बैठी हो? तुम्हारी मुखमुद्रा से ऐसा प्रतीत होता है कि तुम्हे कोई गहरी चिन्ता है। अगर मुझे बताने में कोई हर्ज न हो तो, बताओ—'तुम्हारी चिन्ता का क्या कारण है?' उस भयविह्वल नारी ने गद्‌गद्‌स्वर में उत्तर दिया—'भद्र! मेरी रामकहानी बहुत लम्बी है! परन्तु पहले यह बताइए कि आप कौन हैं? जरा अपना परिचय दीजिए।' कुमार ने अपना परिचय देते हुए कहा—'मैं पांचालदेश के ब्रह्मराजा का पुत्र ब्रह्मदत्तकुमार हूं।' इतना सुनते ही वह हर्ष से उछल पड़ी और उसके नेत्रों से हर्षाश्रु टपक पड़े। उनसे कुमार के चरणों को पखारती हुई-सी वह नारी उसके चरणों में गिर पड़ी और रोती-रोती कहने लगी—'कुमार! समुद्र में डूबते हुए को नौका की तरह

मुझ अशरण अबला को आपकी शरण मिल गई है।' कुमार के द्वारा आश्वासन दे कर पूछे जाने पर उसने कहा —'भद्र ! मैं आपकी माताजी के भाई पुष्पचूल की पुत्री पुष्पवती नाम की कन्या हूं। मेरे माता-पिता द्वारा मैं आपको दी हुई हूं। विवाह के दिन की प्रतीक्षा करती हुई मैं एक दिन बावड़ी के किनारे स्थित उद्यान में हंसनी के सदृश क्रीड़ा करने गई थी। जिस प्रकार रावण सीता को बलात् अपहरण करके लंका ले आया था उसी भांति नाट्योन्मत्त नामक दुष्ट विद्याधर मुझे यहां अपहरण करके ले आया है। मेरी दृष्टि सहन न होने से शूर्पणखा-सुत की तरह विद्यासाधन के लिये उसने इस वेणुवन में प्रवेश किया है। वहां वह धूम्रपान करते हुए पैर ऊपर को करके विद्यासाधन कर रहा है। यदि आज उसे विद्या सिद्ध हो जायेगी तो आज ही वह मेरे साथ विधिवत् विवाह कर लेगा। मैं इसी चिन्ता में हूं कि उसके चंगुल से कैसे छुटकारा पाऊं !' यह सुन कर कुमार ने बांस के ढेर में स्थित उस व्यक्ति को खत्म कर देने का सारा वृत्तान्त बताया। प्रिय की प्राप्ति और अप्रिय का विनाश होने से पुष्पवती के हर्ष का पार न रहा। परम्परानुरागी इस युगल ने वहीं गांधर्व-विवाह कर लिया। मंत्रविधि के बिना भी स्वेच्छा से किये हुए ऐसे विवाह को क्षत्रियों में उत्तम माना जाता है। विविध प्रकार के मधुर वचनों से उसके साथ संलाप व रतिक्रीड़ा करते हुए वह रात एक पहर के समान झटपट बीत गई। प्रात:काल होते ही ब्रह्मदत्त ने आकाश मे खेचर-स्त्रियों की भेड़ों की-सी आवाज सुनी। उसने आश्चर्यमुद्रा में पुष्पवती से पूछा—'बिना मेघों के अकालवृष्टि के समान आकाश में अचानक यह आवाज कहां और कैसे हो रही है ?' उसने घबराते हुए कहा 'प्रियतम ! यह आवाज तो नाट्योन्मत्त की दो बहिनें खण्डा और विशाखा नामक विद्याधर-कुमारियों के आगमन की है। वे व्यर्थ ही उसके लिये विवाह-सामग्री ले कर आ रही है। सच है, **प्राणी मन में कुछ और ही सोचता है और दैव कुछ और ही घटना घटित करता है।**' मेरे ख्याल से आप कुछ समय के लिए यहाँ से अन्यत्र चले जाइये। मैं आपके गुणों का बखान करके यह जान लूं कि विद्याधारियों के मन में उसकी क्या प्रतिक्रिया होती है ? उन्हें आपके प्रति अनुराग होता है या विराग ? जब मैं देखूंगी कि उनमें आपके प्रति अनुराग है तो लालझण्डी दिखा दूंगी, उसे देखते ही आप वापस लौट आना। अगर उनमें आपके प्रति विराग होगा तो मैं सफेद झण्डी बताऊंगी। जिसे देख कर आप अन्यत्र चले जाना।'

यह सुन कर ब्रह्मदत्त ने कहा—"प्रिये ! तुम जरा भी मत घबराओ। क्या मैं इतना कायर हूँ कि उनसे डर कर भाग जाऊं ? वे रुष्ट या तुष्ट होंगी तो मेरा क्या कर सकेंगी ?" पुष्पवती ने कहा—'प्रियतम ! आपको उनसे भय है, यह मैं नहीं कहती। परन्तु शायद उनसे सम्बन्धित विद्याधर आपके विरोधी बन कर व्यर्थ ही कोई विघ्न खड़ा कर दें। अत: उनकी मनोवृत्ति जान लेने में हर्ज ही क्या है ? आप जरा देर के लिये दूसरी जगह एक कोने में छिप कर देखते रहें।" इस बात से सहमत हो कर कुमार एक ओर छिप गया। पुष्पवती ने उन विद्याधारियों को कुमार के अनुकूल जान कर भूल से लाल के बदले सफेद झंडी हिलाई। कुमार भी उसे देख कर भक्तिवश वहां से पुष्पवती के पास लौट आया। प्रिया के आग्रह से कुछ दिन वहां रह कर वह आगे चल पड़ा। **साहसी मनुष्यों को किसी का भी भय नहीं होता।** ऐरावत हस्ती जैसे मानसरोवर में प्रवेश करता है, उसी प्रकार कुमार ने भी उसमें प्रवेश किया। उसमें स्नान करके और इच्छानुसार अमृतसम जल पी कर ब्रह्मदत्त उस विकट अरण्य को पार करके शाम को एक महासरोवर के तीर पर उसी तरह पहुंचा, जैसे दिनभर आकाश में घूम कर पक्षी शाम को अपने घोसलों में आ पहुंचते हैं, सूर्य जैसे दिनभर आकाश में घूम कर शाम को समुद्र में घुस जाता है। वहां से प्रातःकाल चल कर कुमार दोपहर तक एक सरोवर के तट पर पहुँचा। वहां अच्छी

तरह नहा-धो कर, पीयूष-सा मधुर जल पी कर वह उसमें से बाहर निकला। फिर वायव्य दिशा में एक किनारे खड़ी पेड़ों और बेलों की झाड़ियों में फूल चुनती हुई साक्षात् वनदेवी के समान एक सुन्दरी को देखा ; जो मानो, वहाँ गुंजार करते हुए भौंरों की आवाज के जरिये पूछ रही थी—'आपने सरोवर में अच्छी तरह स्नान किया ?" उसे देख कर कुमार सोचने लगा—ब्रह्माजी ने जन्म से ले कर आज तक अनेक रूप बनाने का अभ्यास किया होगा ; तभी तो इस नारी में वे इतना रूपकौशल प्रगट कर सके हैं। अपनी दासी के साथ बात करती हुई मोगरे के फूल के समान उज्ज्वल कनखियों से देखती हुई, वह वहाँ से इस तरह चली गई मानो कुमार के गले में वरमाला डाल कर चल पड़ी हो। कुमार ने भी उसे देखा और शीघ्र ही दूसरी ओर प्रस्थान कर रहा था कि एक दासी हाथ में वस्त्र, आभूषण, ताम्बूल आदि ले कर वहाँ आई। उसने राजकुमार को वस्त्रादि अर्पित करते हुए कहा—"आपने यहाँ जिसे देखा था, वह हमारी स्वामिनी है। उसने मुझे एक स्वार्थसिद्धि के बहाने आपके पास भेजा है। और मुझे यह आदेश दिया है कि मैं आपको पिताजी के मन्त्री के यहाँ अतिथि के रूप में ले जाऊँ। सच्ची हकीकत तो स्वामिनी ही यथार्थरूप से जानती हैं।"

यह सुन कर कुमार भी उस दासी के साथ नागदेव मंत्री के यहां चला गया। मन्त्री भी कुमार के आते ही स्वागत के लिये खड़ा हो गया, मानो वह पहले से ही उसके गुणों से आकर्षित हो। दासी ने मन्त्री से कहा—'राजकुमारी श्रीकान्ता ने आपके यहाँ रहने के लिये इस भाग्यशाली कुमार को आपके पास भेजा है।" दासी यह संदेश दे कर चली गई। मन्त्री ने मानिक की तरह कुमार की विविध प्रकार से आवभगत की। वह सारी रात पलक मारते ही बीत गई। फिर मंत्री कुमार को राजमहल में ले गया। वहाँ राजा ने बालसूर्य के समान अर्घ्य आदि से उसका स्वागत-सत्कार किया। उसके बाद राजा ने कुमार का वंश आदि पूछे बिना ही उसे अपनी पुत्री दे दी। 'आकृति से ही पुरुष के गुण आदि सब जाने जा सकते हैं।' कुमार और राजकुमारी ने एक दूसरे के प्रति अनुराग-समर्पण-सूचक परस्पर हस्त-मिलाप करके विवाह किया। एक बार एकान्त में क्रीड़ा करते हुए ब्रह्मदत्त ने राजकुमारी से पूछा—'प्रिये ! तुम्हारे पिताजी ने वंश आदि जाने बिना ही मुझ सरीखे अज्ञात व्यक्ति को तुम्हें कैसे दे दी ? मनोहर दंतावली की किरणों से स्वच्छ ओष्ठदल वाली श्रीकान्ता ने इसके उत्तर में कहा—'प्रियतम ! वसंतपुर नगर में शबरसेन नाम का राजा था। उसके पुत्र ने क्रूरगोत्र वाले राजाओं के साथ मिल कर मेरे पिताजी को राजगद्दी से उतार दिया। तब से मेरे पिता ने बल-वाहन-सहित इस पल्ली में आश्रय लिया है। जैसे बेंत को झटपट झुका दिया जाता है, वैसे ही यहाँ रह कर मेरे पिताजी ने वन्य भीलों को झुका दिया है। उनके सहयोग से डाका डाल कर गाँवों को उजाड़ते हुए वे अपने परिवार का भरण-पोषण करते हैं। सम्पत्ति मिलने के चार उपायों के समान इनके चार पुत्र हैं। चार पुत्रों के बाद इनके यहां एक अतिप्रिय पुत्री का जन्म हुआ ; वह मैं हूं।' यौवन की चौखट पर पैर रखते ही पिताजी ने मुझ से कहा—"बेटी ! सभी राजा मेरे शत्रु बने हुए हैं। अतः तुम यहीं रह कर अपने वर की तलाश करते रहना और तुम्हें जो वर पसंद हो, उसके लिए मुझे कह देना।" तब से ले कर अब तक मैं चकवी के समान सदा सरोवर के तट पर रह कर इस मार्ग से आते-जाते अनेक यात्रियों को देखती रहती थी। किये हुए मनोरथ की प्राप्ति तो स्वप्न में भी दुर्लभ होती है। मगर आर्यपुत्र ! मेरे भाग्य की प्रबलता से ही आप यहाँ पधारे हैं। इसके बाद का हाल तो आप जानते ही हैं।"

एक दिन पल्लीपति राजा एक गाँव को लूटने के लिए गया। उसने साथ कुमार भी गया। क्योंकि क्षत्रियों का यही क्रम होता है। जब गांव लूटा जा रहा था, तभी सरोवर के किनारे वरधनु

ब्रह्मदत्त के चरणकमलों में आ कर हंस की तरह गिरा। कुमार के गले से गला लगा कर वरधनु मुक्तकंठ से रोने लगा। सच है, प्रिय व्यक्ति के मिलने से सारा दुःख अंदर से उभर कर बाहर आ जाता है। कुमार ने उसे अमृत की घूंट के समान अतिमधुर वार्तालाप से आश्वासन दे कर अब तक का सारा वृत्तान्त आद्योपान्त सुनाने को कहा। वरधनु ने कहना प्रारम्भ किया—"स्वामिन्! उस समय बड के पेड़ के नीचे आपको छोड़ कर मैं आपके लिए पानी की तलाश में जा रहा था। कुछ आगे बढ़ा ही था कि मैंने अमृत-कुण्ड के समान एक सरोवर देखा। मैं आपके लिए कमलिनी-पत्र के सपुट (दोने) में सरोवर से पानी भर कर ले कर आ ही रहा था कि अचानक यमदूत के समान बख्तर पहने हुए कुछ सुभटों ने आ कर मुझे घेर लिया और पूछने लगे—'वरधनु! सच-सच बताओ ब्रह्मदत्त कहाँ है?' मैंने उनका आशय भांप कर कहा—"मुझे पता नहीं है।" यह कहते ही वे मुझे चोर की भांति बेखटके धड़ाधड़ मारने लगे। मैंने बात बनाते हुए कहा—'ब्रह्मदत्त को तो कभी का सिंह मार कर खा गया है।' उन्होंने कहा—'तो उसका स्थान बताओ कि सिंह ने उसे कहाँ मारा है?' तब मैं इधर-उधर घूम कर आपको ढूंढने के बहाने से आपके सामने आया और आपको वहां से भागने का संकेत किया। उन्हें बताया कि सिंह ने उसे यहीं मारा था। फिर मैंने परिव्राजक द्वारा दी हुई जादूई गोली मुंह में रखी, जिसके प्रभाव से मैं बिल्कुल निश्चेष्ट और मूर्च्छित हो गया। मुझे मरा हुआ समझ कर उन्होंने वही छोड़ दिया। उनके चले जाने के काफी देर बाद मैंने मुंह में से वह गोली बाहर निकाली और खोये हुए निधान को ढूंढने की तरह आपको ढूंढने चल पड़ा। कई गांवों में भटकने के बाद मैंने साक्षात् मूर्तिमान तपःपुंज-से एक परिव्राजक महात्मा के दर्शन किये। उन्हें नमस्कार करके मैं बैठा ही था कि उन्होंने मुझ से पूछा—'वरधनु! मैं धनु का मित्र वसुभाग हूं। यह तो बता कि ब्रह्मदत्त इस समय इस पृथ्वी पर कहां रहता है?" मैंने भी उन पर विश्वास करके उन्हें सारी बातें ज्यों की त्यों कह दीं। मेरी दुःखकथा सुन कर धुंए से म्लान हुए मुख की तरह उदास-मुद्रा मे उन्होंने मुझे बताया कि—जब लाक्षागृह जल कर खाक हो गया था, तब दीर्घराजा ने सुबह निरीक्षण कराया तो वहां एक शव मिला। परन्तु बाकी के दो शव नहीं मिले। मगर वहां पर सुरंग जरूर मिली; जिसके अन्त में घोड़े के पैरों की निशानी थी। हो न हो वे धनुमंत्री की सूझबूझ से भाग गये हैं; यह जान कर दीर्घराजा ने मन्त्री पर कोपायमान हो कर आज्ञा दी—'सूर्य की किरणों के समान अबाधगति से कूच करने वाली सेना प्रत्येक दिशा में भेजो, ताकि वह उन दोनो को बांध कर यहां ले आए।' धनुमंत्री वहां से चुपके से भागने में सफल हो गये। उनके जाने के बाद तुम्हारी माता को दीर्घराजा ने नरक के समान चांडालों के मोहल्ले में एक घर मे डाल दिया है। जैसे एक फुंसी के बाद दूसरी फुंसी से पीड़ा बढ़ जाती है, वैसे ही उस बात को सुन कर मेरे मन में दुःख पर दुःख बढ़ जाने से मैं चिन्तातुर हो कर वहाँ से काम्पिल्यपुर की ओर गया। मैंने नकली कापालिक साधु का वेष बनाया और चांडालों के मोहल्ले में घुसा। वहाँ खरगोश के समान घर-घर में घूम कर अपनी माता की तलाश करने लगा। लोगों ने मुझे उस मोहल्ले में रोज फेरी लगाने का कारण पूछा तो मैंने कहा—'मेरी मातंगी विद्या की साधना ही कुछ इसी प्रकार की है कि इसमें मुझे घर-घर प्रवेश करना पड़ता है। इस प्रकार भ्रमण करते हुए वहां एक विश्वसनीय कोतवाल के साथ मेरी दोस्ती हो गई। 'माया से कौन-सा काम नहीं बनता?' एक दिन उस विश्वस्त कोतवाल के द्वारा मैंने माता को कहलवाया कि "तुम्हारे पुत्र का मित्र महाव्रती कौण्डिन्य तापस आपको वंदन करता है।' मेरी माता समझ गई। पुत्रमिलन के लिए आतुर माता ने मिलने के लिए मुझ से कहलवाया। अतः दूसरे दिन मैं स्वयं वहां गया और माता को गुटिका-सहित एक बीजोरा दिया, उसे खाते ही वह जड़-सी निश्चेतन बन गई। उसकी ऐसी हालत देख

कर कोतवाल ने राजा से जा कर कहा —"देव ! धनुमंत्री की पत्नी मर गई है। राजा ने अपने सेवकों को उसका अग्नि-संस्कार करने का आदेश दिया। यह सुन कर मैं भी तत्काल वहाँ पहुंचा। मैंने अग्नि संस्कार करने के लिए आए हुए सेवकों से कहा - भाई ! इस समय तुम इसका अग्नि-संस्कार करोगे तो तुम्हारे राजा का बड़ा भारी अनिष्ट होगा।" यह सुन कर वे राज सेवक उसे ज्यों की त्यों वहाँ छोड़ कर चले गये। तब मैंने कोतवाल से कहा—'यदि तुम सहायता करो तो मैं इस सर्व-लक्षणयुक्त शव से एक मन्त्र सिद्ध कर लूँ।' कोतवाल ने मेरी बात मान ली। मैं भी सन्ध्या समय माता को श्मशान से दूर ले गया। वहां पर एक जगह कपट से मैंने एक मंडलाकार यंत्र लिख कर नगर की देवियों को बलि देने के लिए कोतवाल को भेजा। इधर तो वह गया और उधर मैंने माता को दूसरी गुटिका दी ; जिससे वह होश में आ कर इस प्रकार उठ खड़ी हुई जैसे कोई नींद से जम्हाई लेते हुए उठ खड़ा होता है। मैंने उसे अपना यथार्थ परिचय दिया। सुनते ही उसकी तो हिचकियां बंध गई। मैंने उसे ढाढस बंधा कर उसका रोना बंद कराया। फिर उसे कच्छ गाव में अपने पिताजी के मित्र देवशर्मा के यहाँ ले गया। उनके यहाँ उसे छोड़ कर मैं तुम्हें ढूंढने के लिए इधर-उधर घूमता हुआ यहां पर आया हूं। मेरे अहोभाग्य से साक्षात् पुण्यराशि के समान अभी मुझे आपके दर्शन हुए। स्वामिन् ! अब आप बतलाइये कि मेरे से बिछुड़ने के बाद आप कहाँ-कहाँ गये ? और कहाँ-कहाँ ठहरे ? कहाँ क्या हाल रहा ?' कुमार ने भी अपनी राम कहानी सुनाई।

वहां से वे दोनों साथ-साथ जा रहे थे कि किसी ने आ कर धीमे से कहा - "गाँव में दीर्घ-राजा के सुभट तुम-सी आकृति वाला चित्र (हुलिया) बता कर पूछते हुए घूम रहे हैं कि 'क्या ऐसी आकृति वाले कोई दो आदमी यहां आये किसी ने देखे हैं ?" उनकी बातें सुन कर मैं आप दोनों को देखते ही सूचित करने आया हूं।' अब आपको जैसा उचित लगे वैसा करें। यों कह कर वह चल दिया। यह सुन कर वे दोनों साथी उस जगल में हाथी के बच्चे के समान भागते हुए एक दिन कौशाम्बी पहुंचे। वहां नगरी के बाहर उद्यान में उन्होंने सागरदत्त और बुद्धिल को एक लाख रुपये की शर्त पर मुर्गे लड़ाते देखा। वे मुर्गे उड़-उड़ कर प्राण नाशक हथियार की नोक के समान अपने नखों और चोंचों से परस्पर लड़ रहे थे। लड़ते-लड़ते उन दोनों में से भद्रहस्ती-सदृश उत्तमजाति के सशक्त मुर्गे को मध्यम-प्रकार के हाथी के समान बुद्धिल के मरियल मुर्गे ने हरा दिया। यह देख कर वरधनु ने कहा—'सागर ! तेरा उत्तम जाति का मुर्गा होते हुए भी क्यों हार गया ? अगर तू इसका कारण जानना चाहता है तो मैं उसका पता लगाऊँ ?' सागर के सहमत हो जाने पर वरधनु ने बुद्धिल के मुर्गे को गौर से देखा तो उसके पैर में यमदूती के समान लोहे की सुई लगी हुई थी। बुद्धिल भी मन हो मन समझ गया कि यह मेरे कपट को जान गया है; अतः वरधनु के कान में गुपचुप ५० हजार रुपये देने की पेशकश की। वरधनु ने भी ब्रह्मकुमार से यह बात एकान्त में कही। ब्रह्मदत्त ने चुपके से बुद्धिल के मुर्गे के पैर में लगी हुई लोहे की सुई निकाल दी। और उसे फिर सागरदत्त के मुर्गे के साथ लड़ाया। सुई के निकाल लेने से बुद्धिल का मुर्गा पहले ही मोर्चे में जरा-सी देर में हार गया। 'कपट करने वाले नीच मनुष्य की विजय हो ही कैसे सकती है ?' इससे सागरदत्त प्रसन्न हो कर विजय दिलाने वाले दोनों कुमारों को अपने रथ में बिठा कर अपने घर ले गया। वहां वे दोनों अपने घर की तरह रहने लगे। एक दिन वरधनु के पास आ कर बुद्धिल के नौकर ने कान में कुछ कहा। उसके चले जाने के बाद वरधनु ने ब्रह्मदत्त से कहा "भाई ! उस दिन बुद्धिल ने ५० हजार रुपये देने की पेशकश की थी। आज उस बात को आप देखना।" उसके बाद शुक्रग्रह की तरह शोभायमान गोल बड़े-बड़े मोतियों का एक हार कुमार को बताया। कुमार ने हार पर

बंधा हुआ अपने नाम का लेख देखा। इतने में मानो साक्षात् वाचिक लेख हो, इस रूप में वत्सा नाम की एक तापसी आई। उसने दोनों के मस्तक पर अक्षत डाल कर आशीर्वाद दिया। फिर वरधनु को एक ओर ले जा कर उसके कान में कुछ कह कर वह चली गई। मंत्रीपुत्र ने वह बात ब्रह्मदत्त से कही कि वह तापसी हार के साथ बंधे हुए लेख का प्रतिलेख मांगती थी। यह श्रीब्रह्मदत्त-नामांकित लेख उसने दिया है।' मैंने उससे पूछा —'यह ब्रह्मदत्त कौन है ? तब उसने कहा—''इस भूमण्डल पर मानो रति ही कुमारिका के रूप में रूप बदल कर आई हो, ऐसी इस नगर की श्रेष्ठिपुत्री रत्नवती है। उसने अपने भाई सागरदत्त और बुद्धिल के मुर्गों की लड़ाई के दिन ब्रह्मदत्त को देखा था। उसी समय से वह कामज्वर से पीडित है। उसे किसी भी प्रकार से चैन नहीं मिल रहा है। दिनोंदिन दुबली होती जा रही है। रात-दिन वह यही रटन किया करती है कि 'मुझे ब्रह्मदत्त का शरण है।' एक दिन मुझे अपने हाथ से पत्र लिख कर ब्रह्मदत्त को हार अर्पण करने के साथ उसे पहुंचाने को कहा। मैंने सेवक द्वारा वह पत्र भेजा था।' यों कह कर वह खड़ी रही। मैंने भी प्रत्युत्तर के रूप में पत्र लिख कर उसे चली जाने की आज्ञा दी। उस दिन से ब्रह्मदत्तकुमार भी मध्याह्न के सूर्य की प्रखर किरणों से तपे हुए हाथी के समान दुर्निवार्य कामसंताप से तप्त रहने लगा। सचमुच, कामज्वर के ताप से तप्त मनुष्य सुखानुभव नहीं कर सकता।

दूसरी ओर दीर्घराजा द्वारा भेजे हुए राजसेवकों ने सारी कौशाम्बी नगरी छान डाली। शरीर में जड़े हुए तीखे कांटों के समान इन दोनों की खोज में वे अब भी इधर-उधर भाग-दौड़ कर रहे थे। कौशाम्बीनरेश की आज्ञा से भी नगरी में उन दोनों की खोज होने लगी। तब सागरदत्त सेठ ने निधान के समान अपने तलघर में उन्हें छिपा कर उनकी रक्षा की। रात में जब उनकी बाहर जाने की इच्छा हुई तो सागरसेठ उन्हें रथ में बिठा कर कुछ दूर तक साथ गया। बाद में वह वापिस लौट आया। सागरसेठ ने जाने के बाद जब वे आगे बढ़ने लगे तो एक उद्यान में नंदनवन की देवी के समान घोड़े जुते हुए रथ में बैठी हुई एक सुन्दरी को देखा। उसी ने उन्हें आदरपूर्वक पूछा—''आपको इतनी लगन क्यों लगी ?' उन दोनों ने भी उससे पूछा—'भद्रे ! तुम हमसे कैसे परिचित हो ? जानती हो, हम कौन है ?'' इस पर उसने उत्तर दिया—''इस नगर में कुबेर के दूसरे भाई के समान महाधनी धनप्रवर नाम का सेठ है। बुद्धि के आठ गुणों पर सर्वोपरि विवेक के समान उस सेठ के आठ पुत्रों उपर मैं विवेकश्री नाम की उनकी पुत्री हूँ। युवावस्था आते ही मैंने अत्युत्तम वर प्राप्त होने की कामना से इस उद्यान में अधिष्ठित यक्ष की बहुत आराधना की। अधिकांश स्त्रियों का इसके सिवाय और कोई मनोरथ नहीं होता।' भक्ति से तुष्ट हो कर यक्षप्रवर ने वरदान दिया—'ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती तेरा पति होगा।' और यह भी बता दिया कि सागरदत्त और बुद्धिल सेठ के मुर्गों की लड़ाई में श्रीवत्स चिह्नवाला तुम्हारे समान रूपवान जो व्यक्ति अपने मित्र के साथ आएगा, उसे तुम अपना पति समझना। जिस समय ब्रह्मदत्त मेरे यक्षायतन में होगा, तभी उसके साथ तेरा प्रथम मिलन होगा। इसलिये हे सुन्दर! मैंने जान लिया है कि आप वही हैं। अतः अब आप पधारो। जैसे ताप से पीड़ित व्यक्ति को जलसंस्पर्श शान्ति देता है, उसी तरह दीर्घकाल से मुझ विरहताप पीड़ित को आप संगमस्पर्श से शान्ति दो।' 'अच्छा, ऐसा ही होगा' यों कह कर कुमार ने उस अनुरक्ता को स्वीकार किया। उसके आग्रह पर दोनों उसके रथ में बैठे। 'कहां चलना है ?' यह पूछने पर उस सुन्दरी ने बताया कि 'मगधपुर में, मेरा चचेरा भाई धनावह है। वह हमारा बहुत सत्कार करेगा। इसलिये वहीं चलें तो अच्छा है।' इस प्रकार रत्नवती के कहने पर मंत्रीपुत्र ने सारथी बन कर घोड़ों की लगाम उसी ओर मोड़ी।

ब्रह्मदत्त कौशाम्बी को पार कर ज्यों ही यमराज की क्रीड़ाभूमि-सी एक भयंकर अटवी में आया, त्यों ही उसने अपने सामने भयंकर सुकंटक और कंटक नामक दो भयंकर चोर सेनापतियों को देखा। बड़े सूअर को जैसे कुत्ते रोक लेते हैं, उसी प्रकार उन्होंने ब्रह्मदत्त को रोक लिया। और कालरात्रि के पुत्र सरीखे उन दोनों भाइयों ने साहसपूर्वक उत्तेजित हो कर सेना के सहित ब्रह्मदत्त पर एकदम बाणवर्षा कर दी। बाणों से सारा आकाशमंडल छा गया। कुमार ने भी धनुष-बाण धारण कर सिंह-गर्जना करते हुए बाणों की अखण्डधारा से चोरसेना को उसी तरह स्तम्भित कर दी, जिस तरह मेघधारा अग्नि को स्तम्भित कर देती है। कुमार द्वारा की गई उस बाणवृष्टि से उभय चोरसेनापति और उनकी सेना तितर-बितर हो कर भाग गई। **सामने प्रहार करने वाला सिंह हो तो वहां हिरण कैसे टिक सकता है?** मन्त्री-पुत्र ने कुमार से कहा—'स्वामिन्! युद्ध करके आप बहुत थक गये होंगे। अतः घड़ीभर इस रथ पर ही सो जाइये। पर्वत की तलहटी में जैसे जवान हथिनी के साथ हाथी सो जाता है, वैसे ही ब्रह्मदत्त भी रथ में रत्नवती के साथ सो गया।

कुछ समय बाद जब राजकुमार जागा तो रथ के सारथी के रूप में मंत्रीपुत्र को उसने नहीं देखा। अतः 'पानी लेने गया होगा'; ऐसा विचार कर बहुत देर तक आवाज दी। परन्तु सामने से कोई उत्तर नहीं मिला और रथ के आगे का भाग खून से सना देखा तो कुमार सहसा चिल्ला उठा—"हाय मैं मारा गया!" यों विलाप करते-करते वह मूर्च्छित हो कर रथ में गिर पड़ा। कुछ देर बाद होश आने पर वह खड़ा हुआ। फिर कुछ स्मरण कर साधारण मनुष्यों की तरह सिसकियां भर कर रोने लगा। 'मित्र, वरधनु! हाय! तुम कहां चले गये, मुझे छोड़ कर!" इस प्रकार वह विलाप करने लगा। रत्नवती ने ढाढस बंधाते हुए समझाया—"मुझे नहीं लगता कि आपके मित्र की मृत्यु हुई है। अतः नाथ! उसके लिए ऐसे अमांगलिक शब्द बोलना योग्य नहीं है। आपके कार्य के निमित्त से वह यहीं कहीं पर गया होगा। यह निःसंदेह बात है कि स्वामी के कार्य के लिये कभी-कभी बिना पूछे भी सेवक जाते हैं। मेरा मन कहता है, वह आपकी भक्ति के प्रभाव से सुरक्षित ही है और अवश्य ही वापिस आयेगा। स्वामी-भक्ति का प्रभाव ही ऐसा है कि वह सेवकों के लिए कवच के समान कार्य करती है। स्थान पर पहुंच कर हम सेवकों के द्वारा उसकी खोज करायेंगे। अब यमराज सरीखे इस भयंकर वन में जरा भी रुकना ठीक नहीं है। रत्नवती के कथन से आश्वस्त हो कर कुमार ने घोड़ों को आगे चलाया और मगधराज्य के सीमावर्ती एक गांव में पहुंचे। **"घोड़े और वायु के लिये दूर ही क्या है?"** अपने घर में बैठे हुए गांव के मुखिया ने उन्हें जाते देखा तो स्वागतपूर्वक अपने घर ले आया। **'आकृति के देखने मात्र से ही अज्ञात महापुरुषों की पूजा होती है।'** जब कुमार कुछ स्वस्थ हुआ तो गांव के मुखिया ने उससे पूछा—आपके चेहरे से मालूम होता है, आप शोकातुर हैं। अगर कोई आपत्ति न हो तो मुझे अपनी चिन्ता का कारण बताइये।" कुमार ने कहा—"चोरों के साथ युद्ध करते हुए मेरा मित्र कहीं गायब हो गया है। उसका पता नहीं चला रहा है। इसलिए हम चिन्तित हैं।" इस पर मुखिया ने कहा—"जैसे हनुमानजी ने सीता का पता लगाया था, वैसे हम भी उसका पता लगा कर लायेंगे।" यह कह कर गांव की जनता के साथ मुखिया ने सारी अटवी छान डाली; मगर उसका कहीं पता नहीं चला। गांव के नेता ने लौट कर कहा—'इस महावन में तो प्रहार से घायल हुआ कोई नजर नहीं आया; हां! यह एक बाण जरूर वहां मिला है। मालुम होता है, वरधनु अवश्य मर गया है।' यह सुनते ही ब्रह्मदत्त और अधिक शोकान्धकार में डूब गया। थोड़ी ही देर में उस शोकान्धकार को प्रत्यक्ष बनाने के हेतु रात्रि का आगमन हुआ। रात

के चौथे पहर में वहाँ अचानक चोर चढ़ आये। परन्तु कुमार के ललकारने पर वे सब उलटे पैरों भाग गये। उसके बाद गांव के नेता के पथप्रदर्शन में चलते हुए कुमार और रत्नवती दोनों राजगृह पहुंचे। वहां नगर के बाहर एक तापस के आश्रम में रत्नवती को ठहरा दिया। कुमार के वहाँ से चल कर नगर में प्रविष्ट होते ही उसने महल के झरोखे में खड़ी हुई दो नवयौवना कामिनियाँ देखीं ; मानो वे साक्षात् रति और प्रीति हों। उन दोनों ने कुमार से कहा—'कुमार ! प्रीतिपरायणजनों के प्रेम को छोड़ कर चले जाना क्या आपके लिये उचित है ?' कुमार ने कहा—ऐसे प्रेमपरायण कौन हैं ? और कब मैंने उनका त्याग किया है ? यह तो बताओ कि तुम कौन हो ? यों पूछते ही उन्होंने स्वागत करते हुए कहा—"नाथ ! पहले आप यहाँ पधारिए और विश्राम करिये। आप प्रसन्न तो हैं न ?" यों मधुरवचनों से सत्कार करती हुई वे दोनों ब्रह्मदत्त को घर में ले गईं। उसे स्नान, भोजन आदि कराने के पश्चात् अपनी यथार्थ कथा इस प्रकार कहने लगी—

'विद्याधरों के आवास से युक्त स्वर्णशिलामयी पृथ्वी के तिलक-समान वैताढ्य-पर्वत की दक्षिण श्रेणी में शिवमन्दिर नामक नगर में अलका पुरी में गुह्यक की तरह ज्वलनशिख नाम का राजा राज्य करता था। उस विद्याधर राजा के तेजस्वी मुखकान्ति वाली, विद्युत्प्रभा के समान विद्युत्शिखा नाम की पत्नी थी। उनसे नाट्योन्मत्त नामक पुत्र के बाद खंडा और विशाखा नाम की हम दोनों प्राणाधिका पुत्रियाँ हुईं। एक बार पिताजी अपने मित्र अग्निशिख और हम सबको साथ ले कर तीर्थयात्रा के लिये चले। '**स्नेहीजन को धर्मकार्य में लगाना चाहिये**। हम वहाँ से अष्टापद-पर्वत पर पहुंचे। वहां मणिरत्न से निर्मित, प्रमाणोपेत वर्णयुक्त श्री तीर्थंकर-प्रतिमाओं के दर्शन किये तथा विधिवत् अभिषेक, विलेपन एवं पूजा करके, उनकी प्रदक्षिणा दे कर एकाग्र चित्त से हमने भक्तियुक्त चैत्य-वदन किया। वहां से बाहर निकलते ही रक्तवर्णीय वृक्ष के नीचे दो चारणमुनियों को देखा ; मानो वे मूर्तिमान तप और शम हों। उन्हें वन्दन करके हमने श्रद्धापूर्वक अपना अज्ञानान्धकार दूर करने वाली साक्षात् चन्द्र-ज्योत्सना के समान उनकी धर्मदेशना सुनी। उसके बाद अग्निशिख ने मुनिवर से पूछा—"इन दोनों कन्याओं का पति कौन होगा ?" उन्होंने कहा—'इन दोनों के भाई को जो मारेगा, वही इनका पति होगा' इस बात को सुनते ही हिमपात से जैसे चन्द्रमा फीका पड़ जाता है, वैसे ही पिताजी और हम दोनों का चेहरा फीका पड़ गया। फिर हमने वैराग्यगर्भित वचनों से उन्हें कहा—'पिताजी ! आज ही तो आपने मुनिवर से संसार की असारता का उपदेश सुना है, और आज ही आप विषादरूपी निषाद से इतने पराभूत हो रहे हैं ? इस प्रकार के विषयोत्पन्न सुख में डूबने से क्या लाभ ?' तब से हम मन अपने भाई की सुरक्षा का ध्यान रखते थे। एक बार हमारे भाई ने भ्रमण करते हुए आपके मामा पुष्प-चूल की पुत्री पुष्पवती को देखा। उसके अद्भुत रूप-लावण्य को देख कर वह मोहित हो गया। फिर उस दुर्बुद्धि ने उस कन्या का जबर्दस्ती अपहरण किया। '**बुद्धि सदा कर्मानुसारिणी होती है**।' कन्या की दृष्टि सहन नहीं होने से वह स्वयं विद्या साधन करने गया। उसके बाद का सारा हाल आप जानते ही हैं। उस समय पुष्पवती ने हमारे भाई के मरण-सम्बन्धी दुःख को दूर करने के लिए धर्म की बातें कहीं और यह भी बताया कि तुम्हारा ईष्ट भर्ता ब्रह्मदत्त यहीं पर आया हुआ है। मुनि की वाणी कभी मिथ्या नहीं होती। हमने उस बात को स्वीकार किया। परन्तु उतावल में पुष्पवती ने लाल के बदले सफेद झंडी हिला दी ; जिससे आप हमें छोड़ कर चले गये। हमारे भाग्य की प्रतिकूलता के कारण आप नहीं पधारे। हमने आपकी वहां बहुत खोज की। पर आप कहीं दिखाई न दिये। आखिर हार-थक कर हम वापिस यहाँ आईं। हमारे अहोभाग्य से आप यहां पधारे हैं। पुष्पवती के कथन के अनुसार हम आपको पहले ही स्वीकृत कर चुकी हैं। अतः अब आप

ही हम दोनों की गति हैं। कुमार ने दोनों नारियों को अनुरक्त जान कर उनके साथ गान्धर्व-विवाह किया। सरिताओं को सागर का संगम प्रिय होता है, वैसे ही स्त्रियों को अपने पतियों का संगम प्रिय होता है। गंगा और पार्वती के साथ जैसे महादेव क्रीड़ा करते थे, वैसे उन दोनों कामिनियों के साथ क्रीड़ा करते हुए ब्रह्मदत्त ने वह रात वहीं पर बिताई। प्रातः कुमार ने प्रस्थान करते समय उन दोनों को सस्नेह आज्ञा दी कि जब तक मुझे राज्य न मिले, तब तक तुम दोनों पुष्पवती के पास ही रहना। दोनों ने कुमार की आज्ञा शिरोधार्य की।

कुमार के वहां से प्रस्थान करते ही वह मन्दिर और घर आदि सब गन्धर्वनगर के समान अदृश्य हो गये। वहां से लौट कर ब्रह्मदत्त रत्नवती की तलाश करने के लिए उस तापस-आश्रम में पहुँचा। परन्तु वहां उसे न पा कर वहां खड़े एक शुभाकृतिमान पुरुष से पूछा—"महाभाग! दिव्य वस्त्र पहनी हुई, रत्नाभूषणों से सुशोभित किसी स्त्री को आपने आज या कल देखी है?" उसने उत्तर दिया—'हां, महानुभाव। कल मैंने 'हे नाथ, हे नाथ!' इस प्रकार रुदन और विलाप करती हुई एक स्त्री देखी थी। परन्तु उसका चाचा उसे पहिचान कर अपने साथ ले गया है।" रत्नवती के चाचा को ब्रह्मदत्त का पता लगा तो उसे अपने यहां बुला लिया। **महान ऋद्धि वाले भाग्यशालियों को सभी वस्तु नई मालुम होती है।** उसके साथ विषयसुखानुभव करते हुए काफी समय व्यतीत हो गया। एक दिन कुमार ने वरधनु का मरणोत्तर कार्य प्रारम्भ किया। दूसरे दिन कुमार ब्राह्मणों को भोजन दे रहा था कि वरधनु की-सी आकृति का एक ब्राह्मण-वेषधारी व्यक्ति वहाँ आ कर कहने लगा—'यदि मुझे भोजन दोगे तो साक्षात् वरधनु को दोगे।' कानों को अमृतसम ऐसे प्रियवचन ब्रह्मपुत्र ने सुने और उसे सिर से पैर तक गौर से देख कर इस तरह छाती से लगाया, मानो अपनी आत्मा को उसकी आत्मा के साथ एकरूप बना लिया हो। फिर हर्षाश्रु से उसे स्नान करा कर कुमार घर में ले गया। स्वस्थ होने पर कुमार के द्वारा पूछने पर उसने अपना सारा वृत्तान्त इस प्रकार सुनाया—

"आपके सो जाने के बाद दीर्घराजा के सैनिक-से लगते चोरों ने मुझे घेर लिया। वहीं वृक्ष के बीच में छिपे एक चोर ने इतने जोर से बाण मारा कि मैं आहत हो कर वहीं जमीन पर गिर पड़ा। होश में आने पर धीरे से सरक कर लताओं के बीच में मैंने अपने आपको छिपा लिया। चोरों के चले जाने के बाद मैं वृक्ष के खोखले में इस प्रकार छिप गया; जैसे पानी में अतिपक्षी छिप जाता है। जब चारों ओर सन्नाटा छा गया, तब इधर-उधर देखते हुए बड़ी मुश्किल से मैं गांव में पहुंचा। गांव के मुखिया से आपके समाचार जान कर खोजते-खोजते मैं यहां तक आया हूँ। मोर को जैसे मेघ देखने पर हर्ष होता है वैसे ही मुझे आपको देख कर अत्यन्त हर्ष हुआ है। ब्रह्मदत्त ने अत्यन्त प्रसन्नता प्रगट करते हुए उससे कहा—"अब हम कब तक पुरुषार्थहीन हो कर कायर बने बैठे रहेंगे?"

उसी दौरान कामदेव को आधिपत्य दिलाने वाला, मद्य के समान जवानों को मदोन्मत्त बनाने वाला वसंतोत्सव आ गया। तब यमराज का सहोदर-सा राजा का एक मतवाला हाथी खम्भा तोड़ कर शृंखलाबन्धनमुक्त हो कर सब लोगों को त्रास देता हुआ बाहर निकला। नितम्बभार से लड़खड़ाती हुई एक युवती राजमार्ग पर जा रही थी, कि उस हाथी ने कमलिनी की तरह उसे सूंड में पकड़ कर उठाई। लाचार बनी हुई, आंसू बहाती वह कन्या दीनतापूर्वक करुणक्रन्दन करने लगी—'अरे मातंग, ओ मातंग! (अर्थात् तेरा मातग-(चांडाल) नाम सार्थक है) एक अबला को पकड़ते हुए तुझे शर्म नहीं आती?' यह सुनते ही हाथी के चंगुल से छुड़ाने के लिए कुमार उसके सामने आया। कुमार एकदम उछल कर सीढ़ी पर पैर रखने के समान उसके दांत पर पैर रख कर आसानी से हाथी की पीठ पर चढ़ गया। और

वहां आसन जमा कर बैठ गया। जैसे योगी योगबल से इन्द्रियों और मन को वश में कर लेता है, वैसे ही कुमार ने वाणी और पैर के दबाव के अंकुश से हाथी को वश में कर लिया। वहां खड़े हुए दर्शक लोग सहसा बोल उठे—'शाबाश ! शाबाश ! वाह ! वाह ! बहुत अच्छा किया'। इस प्रकार सब लोग कुमार की जय-जयकार करने लगे। कुमार ने भी हाथी को खंभे के पास ले जा कर हथिनी के समान बांध दिया। जब राजा के कानों में यह बात पहुंची तो वह तुरंत घटनास्थल पर आया और कुमार को विस्मित नेत्रों से देख कर कहने लगा "इसकी आकृति और पराक्रम से कौन आश्चर्यचकित नहीं होता ? यह गुप्तवेश में पराक्रमी पुरुष कौन है ? कहां से आया ? अथवा यह कोई सूर्य या इन्द्र है ?" यह सुन कर रत्नवती ने राजा को सारा वृत्तान्त सुनाया। कुमार के गुणों से आकृष्ट होकर भाग्यशाली राजा ने उत्सवपूर्वक ब्रह्मदत्त को उसी तरह अपनी कन्याएँ दीं ; जिस तरह दक्ष राजा ने चन्द्र को दी थीं। राजकन्याओं के साथ विवाह के बाद कुमार वहीं सुखपूर्वक रहने लगा। एक दिन वस्त्र का एक सिरा घूमाती हुई एक बुढ़िया ने आ कर कुमार से कहा—"इस नगर में पृथ्वी पर दूसरे धनकुबेर के समान धनाढ्य वैश्रमण नामक सेठ रहता है। समुद्रोत्पन्न लक्ष्मी की तरह उसके श्रीमती नाम की एक पुत्री है। राहु के पंजे से चन्द्रकला की तरह आपने जिस दिन उसे हाथी के पंजे से छुड़ाई है, उसी दिन से उसने आप को मन से पतिरूप में स्वीकार कर लिया है। तभी से वह आपकी याद में बेचैन और दुबली हो रही है। आपको जैसे उसने हृदय में ग्रहण किया है, उसी तरह आप उसे हाथ से ग्रहण करें।" बुढ़िया के बहुत अनुरोध करने पर कुमार ने अपनी स्वीकृति दे दी। तत्पश्चात् खूब धूमधाम से गाजे-बाजे व विविध मंगलों के साथ कुमार ने श्रीमती के साथ शादी की। साथ ही उसी समय सुबुद्धि मन्त्री की नन्दा नाम की कन्या से वरधनु ने शादी की। इस तरह अपने पराक्रम से देश-विदेश में ख्याति प्राप्त करते हुए और परोपकार में उद्यम करते हुए वे दोनों आगे से आगे बढ़ते जा रहे थे।

ब्रह्मदत्त को वाराणसी की ओर आते हुए सुन कर वहाँ के राजा कटक ब्रह्मा के समान उसकी महिमा जान कर अगवानी के लिये उसके सामने गया और उत्सवसहित उसे अपने यहां ले आया। ब्रह्मदत्त के गुणों से आकर्षित हो कर राजा ने उसे कटकवती नाम की अपनी पुत्री दी और दहेज में साक्षात् जयलक्ष्मीसदृश चतुरंगिणी सेना दी। इसी तरह चम्पानगरी के करेणुदत्त, धनुमंत्री और भागदत्त आदि राजा उसका आगमन सुन कर स्वागतार्थ सम्मुख आये। भरतचक्रवर्ती ने जैसे सुषेण को सेनापति बनाया था, वैसे ही ब्रह्मदत्त ने वरधनु को सेनाधिपति बना कर दीर्घराजा को परलोक का अतिथि बनाने के लिए उसके साथ युद्ध के लिये कूच किया। इसी दौरान दीर्घराजा के एक दूत ने कटकराजा के पास आ कर कहा—'दीर्घराजा के साथ बाल्य-काल से बंधी हुई मित्रता छोड़ना आपके लिये उचित नहीं है।' इस पर कटक राजा ने कहा—ब्रह्मराजा सहित हम पांचों सगे भाइयों की तरह मित्र थे। ब्रह्मराजा के मरते समय पुत्र और राज्य की रक्षा करने की जिम्मेवारी दीर्घराजा को सौंपी गई थी। लेकिन उन्होंने न तो ब्रह्मराजा के पुत्र के भविष्य का दीर्घदृष्टि से विचार किया और न उसके राज्य का ही। प्रत्युत भ्रष्ट बन कर इतने अधिक पापों का आचरण किया है, जितने एक चांडाल भी नहीं करता। अतः तू जा और दीर्घराजा से कहना कि ब्रह्मदत्त आ रहा है, या तो उसके साथ युद्ध कर या अपना काला मुंह ले कर यहां से भाग जा। यों कह कर दूत को वापिस भेज दिया। तदनन्तर ब्रह्मदत्त अबाध गति से आगे बढ़ता हुआ काम्पिल्यपुर आया। वहां पहुंचते ही जैसे मेघ सूर्य-सहित आकाश को घेर लेता है, वैसे ही उसने दीर्घराजा सहित सारे नगर को चारों ओर से घेर लिया। बांबी पर डंड की चोट लगाने

पर जैसे महासर्प बांबी से बाहर निकलता है, वैसे ही दीर्घराजा अपने सारे परिवार के साथ युद्धसामग्री-सहित नगर से बाहर निकला। इधर चूलनी रानी को संसार से अत्यन्त वैराग्य हो जाने से उसने पूर्णा नाम की प्रवर्तिनी साध्वी से दीक्षा ग्रहण करली और क्रमशः मुक्ति की अधिकारिणी बनी। नदी के जलचर जैसे समुद्र के जलचरों से भिड़ जाते हैं, वैसे ही उधर दीर्घराजा के सैनिक ब्रह्मदत्त के सैनिकों से भिड़ गये! दीर्घराजा के बहुत से सैनिक घायल हो कर गिर पड़े। तब दीर्घराजा स्वयं क्रोध से दांत पीसता हुआ सूअर के समान भयंकर मुखाकृति बना कर शत्रु को मारने के लिये दौड़ा। लेकिन ब्रह्मदत्त की पैदल-सेना, रथ-सेना और अश्वारोही सेना नदी के तेज प्रवाह की तरह तेजी से चारों ओर फैल गई। उसके बाद ब्रह्मदत्त भी क्रोध से लाल-लाल आँखें करके हाथी के साथ जैसे हाथी भिड़ता है, वैसे ही गर्जना करता हुआ दीर्घराजा के साथ स्वयं भिड़ गया। प्रलयकाल के समुद्र की तरंगों के समान वे दोनों परस्पर एक दूसरे पर अस्त्र-शस्त्रों से प्रहार करने लगे। इसी बीच अवसर आया है, ऐसा जान कर सेवक के समान चारों ओर प्रकाश फैंकता हुआ एवं सर्वदिग्विजयशाली एक चक्ररत्न ब्रह्मदत्त की सेवा में प्रगट हुआ। ब्रह्मदत्त ने उस चक्ररत्न से उसी समय दीर्घराजा का काम तमाम कर दिया। गोह को मारने में बिजली को कौन-सा परिश्रम करना पड़ता है? क्या देर लगती है? मागधों के समान स्तुति करते हुए देव 'ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती की जय हो', इस प्रकार बोलते हुए उस पर पुष्प-वृष्टि करने लगे। नागरिक लोग ब्रह्मदत्त को पिता, माता, या देवता के रूप में देखने लगे। इन्द्र जैसे अमरावती में प्रवेश करता है, वैसे ही उसने कांपिल्यपुर में प्रवेश किया। राज्यासीन होते ही ब्रह्मदत्त राजा ने पहले जिन-जिन के साथ विवाह किया था, उन पत्नियों को सब जगह से बुलवा ली; और उन सब में पुष्पवती को 'स्त्रीरत्न' के रूप में प्रतिष्ठित की। फिर अलग-अलग स्वामित्व की राज्यसीमाओं वाले छहों खण्डों पर विजय प्राप्त करके ब्रह्मदत्त ने पृथ्वी को एकखण्डरूप बना दी। अर्थात् एकछत्र चक्रवर्तीराज्य बना दिया। लगातार बारह वर्ष तक सब दिशाओं के राजाओं ने आ-आ कर भरत को जैसे अभिषिक्त किया था, वैसे ही उसका भी अभिषेक किया। चौसठ हजार स्त्रियों से विवाह करके उन्हें अपने अन्तःपुर में रखा। इस प्रकार ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती पूर्वजन्म में किये हुए तप रूपी वृक्ष के फलस्वरूप समग्र राज्यसुख का उपभोग कर रहा था। एक दिन महल में नाटक, संगीत, नृत्य एवं रागरंग चल रहा था; इसी बीच उसकी एक दासी ने देवांगनाओं द्वारा गूंथा हुआ एक फूलों का एक आश्चर्यकारी गुच्छा ब्रह्मदत्त के हाथ में समर्पित किया। ब्रह्मदत्त उसे गौर से देखते-देखते विचार करने लगा—"ऐसा फूलों का गुच्छा मैंने पहले भी कहीं पर देखा है।' मन में बार-बार ऊहापोह करने पर उसे इस जन्म से पहले के ५ जन्मों का स्मरण हो आया। फिर उसे याद आया कि मैंने ऐसा गुच्छा सौधर्म देवलोक में देखा था। पहले के ५ जन्मों में साथ-साथ रहे अपने सहोदर का तीव्र स्मरण होने से राजा अधीर हो उठा। वह बेहोश हो कर धड़ाम से गिर पड़ा। चक्रवर्ती की यह हालत देख कर चंदनजल के छींटे दिये; जिससे वह होश में आया। स्वस्थ होने पर वह विचार करने लगा—'मेरे पूर्वजन्म का सगा भाई मुझे कैसे और कहा मिलेगा? उसे पहिचानने के लिये **'आस्व दासो मृगौ हंसो, मातंगावमरौ तथा।'** इस प्रकार का पूर्वजन्मपरिचायक आधा श्लोक सेवक को दिया। नगर में ढिंढोरा भी पिटवा दिया कि **'मेरे इस आधे श्लोक को जो पूर्ण कर देगा, उसे मैं अपना आधा राज्य दे दूंगा।'** इस घोषणा को सुन कर नगर के लोगों में इस आधे श्लोक को जानने की बड़ी उत्सुकता जागी। सबने अपने नाम के समान इसे प्राय. कंठस्थ कर लिया। परन्तु श्लोकार्धलिखित समस्या की पूर्ति कोई भी नहीं कर सका। उस समय पुरिमताल नगर में चित्र का जीव सेठ के पुत्र के रूप में जन्मा था। उसे जातिस्मरण ज्ञान हो गया था। अतः उसने दीक्षा ले कर ग्रामानुग्राम विहार किया। एक दिन

वह भ्रमण करते-करते चित्रमुनि वहां आया। वहां किसी उद्यान में प्रासुक एवं निरवद्य स्थान में वह मुनि ठहरा हुआ था। एक दिन मुनि ने वहां रेंहट चलाते हुए किसी व्यक्ति के मुंह से वह समस्या-पूर्ति वाला आधा श्लोक सुना। सुनते ही उन्होंने शेष पदों का आधा श्लोक यों बोला "एषा नो षष्ठिकाजातिरन्योऽन्याभ्यां वियुक्तयोः।" रेंहट चलाने वाले ने वह आधा श्लोक याद कर लिया और सीधे राजा के पास जा कर आधा श्लोक उन्हें कह सुनाया। उसे श्रवण कर राजा ने पूछा —'इस पद को जोड़ने वाला कौन-सा कवि हैं ?" उसने मुनि का नाम बताया। राजा ने उसे बहुत-सा इनाम दे कर विदा किया। अब राजा उस उद्यान में उगे हुए कल्पवृक्ष-स्वरूप मुनि के दर्शन करने गया। हर्षाश्रुपूर्ण नेत्रों से राजा ने मुनि को देखते ही वंदन किया और पूर्वजन्मों की तरह स्नेहविभोर हो कर उक्त मुनि के पास बैठा। कृपारस के समुद्र मुनि ने धर्म लाभ के रूप में आशीर्वाद दे कर राजा के लिए हितकर धर्मोपदेश दिया—

"राजन् ! इस असार संसार में कुछ भी सार नहीं है। यदि कोई सारभूत वस्तु है तो कीचड़ में कमल की तरह संसाररूपी कीचड़ में कमलसमान केवल धर्म ही है। शरीर यौवन लक्ष्मी, स्वामित्व, मित्र और बन्धुवर्ग, ये सभी हवा से उड़ती हुई ध्वजा के समान चंचल हैं। जैसे चक्रवर्ती षट्खण्डरूप पृथ्वी पर दिग्विजय करके साधने के लिये तमाम बाह्य शत्रुओं को जीतना है, वैसे ही मोक्षसाधना के लिए अन्तरंग शत्रुओं पर विजय प्राप्त करो। बाह्य और आभ्यन्तर शत्रुओं का विवेक कर महाशत्रुओं के समान आभ्यन्तर-शत्रुओं का त्याग करो। राजहंस जैसे क्षीर और नीर का पृथक्करण (विवेक) करके दूध को ही ग्रहण करता है, वैसे ही तुम सारासार का विवेक करके यतिधर्म को ग्रहण करो। ब्रह्मदत्त ने कहा—'बन्धो ! आज बड़े ही भाग्य से आपके दर्शन हुए हैं। तो लो, यह सारा राज्य मैं तुम्हें सौंपता हूं। अपनी इच्छानुसार इसका उपभोग करो। तपस्या का फल मिला है ; तो उसका उपभोग करो। तप का फल जब प्राप्त हो गया है, तब और तप किसलिये किया जाय ? प्रयोजन की सिद्धि अपने आप होने पर कौन दूसरा उद्यम करता है ? मुनि ने कहा —'मुझे भी कुबेर के समान सम्पत्तियां मिली थीं। परन्तु भवभ्रमण के भय से मैंने उनका तृणवत् त्याग कर दिया है। सौधर्म देवलोक मे पुण्यक्षय होने पर तुम पृथ्वीतल पर आये हो। अतः हे राजन् ! अब ऐसा न हो कि यहां से हीनपुण्य वाली अधोगति में तुम्हें जाना पड़े। आर्यदेश में श्रेष्ठकुल में और मोक्ष देने वाली मानवता प्राप्त करके भी तुम इस जन्म में भोगों की साधना कर रहे हो, जो कि अमृत से मलद्वार की शुद्धि करने के समान है। हमने स्वर्ग से च्यव कर हीनपुण्य वाली विविध कुयोनियों में परिभ्रमण किया है, उसे याद करके अब भी तुम नादान बालक की तरह क्यों सांसारिक भूल-भुलैया में आसक्त हो रहे हो ?' इस तरह चित्रमुनि ने चक्रवर्ती को बहुत प्रतिबोध दिया, फिर भी वह समझ न सका। सच है, जिसने भोगों का निदान किया हो, उसे बोधिबीज की प्राप्ति कैसे होती ? अन्ततोगत्वा मुनि ने जब यह जान लिया कि यह राजा हर्गिज नहीं समझेगा ; तब उन्होंने वहां से अन्यत्र विहार किया। कालदृष्टि जाति के सर्प के काटने पर गारुडिक का क्या वश चल सकता है ? मुनि ने तप-संयम की आराधना करके अपने घातिकर्मों का क्षय कर उत्तम केवलज्ञान प्राप्त किया। तथा चार अघाती कर्मों का भी क्षय करके चित्र मुनि ने मुक्ति प्राप्त की।

संसार के विषयसुखानुभव में लीन ब्रह्मदत्त भी एक-एक करके सात सौ वर्ष बिता चुका था। इसी दौरान एक पूर्वपरिचित ब्राह्मण आया। उसने चक्रवर्ती से कहा—'राजन् ! आप जो भोजन करते हैं, वह मुझे भी खाने को दीजिये।' ब्रह्मदत्त ने कहा कि—"मेरे भोजन को पचाने की तुममें शक्ति नहीं

है। यह भोजन बहुत देर में हजम होता है और बहुत ही उन्मादक है।" तब उसने कहा—'मालुम होता है, आप एक ब्राह्मण को अन्नदान देने में भी कृपण हैं। धिक्कार है आपको।' तब चक्रवर्ती ने परिवार-सहित उस ब्राह्मण को अपना भोजन करवाया। उसके प्रभाव से रात को ब्राह्मण के मन में सहस्रशाखी कामोन्मादवृक्ष उत्कृष्टरूप में प्रगट हुआ। जिसके कारण वह रात भर माता, बहन, पुत्री, पुत्रवधू आदि का भी भेद न करके अंदर ही अंदर पशु के समान कामक्रीड़ा में प्रवृत्त रहा। रात बीतते ही ब्राह्मण और उसके घर के लोग शर्म के मारे एक दूसरे को मुंह नहीं बता सके। ब्राह्मण ने यह विचार किया कि 'दुष्ट राजा ने मुझे और मेरे परिवार को विडम्बना मे डाल दिया।" अतः क्रुद्ध हो कर वह नगर से बाहर चला गया। जंगल में घूमते-घूमते एक जगह उसने दूर से ही गुलेल में कंकड़ लगा कर फैंकते हुए और पीपल के पत्तों को छेदते हुए एक गड़रिये को देखा। तुरंत उसे सूझा—"बस, इस दुष्ट राजा से वैर का बदला लेने का यही उपाय ठीक रहेगा।" ब्राह्मण ने उसे बहुत कीमती सामान तथा धन दे कर सत्कार करके कहा—"देखो अब मेरा एक काम तुम्हें अवश्य करना होगा। इस राजमार्ग से जो भी आदमी छत्र-चामर सहित हाथी पर बैठ कर आए, उसकी दोनों आंखें गुलेल से फोड़ देना।" गड़रिये ने ब्राह्मण की बात मंजूर की। क्योंकि पशु के समान पशुपालक विचारपूर्वक कार्य नहीं करते। गड़रिया इसी ताक में बैठा था। इतने में ही राजा की सवारी आई। गड़रिये ने दो दीवारों के बीच खड़े हो कर निशाना बांधा और सनसनाती हुई दो गोलियां फेंकी, जिनसे राजा की दोनों आंखें फूट गईं। दैवाज्ञा सचमुच अनुल्लंघनीय होती है। बाज पक्षी जैसे कौए को पकड़ लेता है, वैसे ही राजा के सिपाहियों ने तुरन्त उस गड़रिये को पकड़ लिया। खूब पीटे जाने पर उसने इस अप्रिय-कार्यप्रेरक ब्राह्मण का नाम बताया। यह सुनते ही राजा ने क्रुद्ध हो कर कहा—"धिक्कार है, ब्राह्मणजाति को! ये पापी जिस बर्तन में भोजन करते हैं, उसे ही फोड़ते है। इससे तो कुत्ता अच्छा, जो कुछ देने पर दाता के प्रति कृतज्ञ हो कर स्वामि-भक्ति दिखाता है। ऐसे कृतघ्न ब्राह्मणों को देना कदापि उचित नही। दूसरों को ठगने वाले, क्रूर, हिंस्र-पशु, मांसाहारी तथा ब्राह्मणों के जनकों को ही सर्वप्रथम सजा देनी चाहिए।" यों कह कर अत्यन्त क्रुद्ध राजा ने उस ब्राह्मण को उसके पुत्र, मित्र और बन्धु के सहित मुट्ठी में आए हुए मच्छर की तरह मरवा डाला। उसके पश्चात् आंखों से अंधे और क्रोधवश हृदय से अंधे उस चक्रवर्ती ने पुरोहित आदि सभी निर्दोष ब्राह्मणों को भी खत्म कर दिया। फिर प्रधान को आज्ञा दी—'घायल हुए ब्राह्मणों की आंखें थाल में भर कर मेरे सामने वह थाल हाजिर करो।' राजा के रौद्र परिणाम (अध्यवसाय) जान कर बुद्धिमान मंत्री लसोड़ के फलों से थाल भर कर राजा के सामने प्रस्तुत कर देता था। 'यह थाल ब्राह्मणों की आंखों से पूर्ण भरा हुआ है।' यों कहते ही राजा उस थाल में रखे तथाकथित नेत्रों पर टूट पड़ता और दोनों हाथों से बार-बार उन्हें मसलता था। अब ब्रह्मदत्त को स्त्रीरत्न पुष्पवती के स्पर्श में इतना आनन्द नहीं आता था, जितना कि उस थाल में रखे हुए तथाकथित नेत्रों के स्पर्श में आता था। शराबी जैसे शराब का प्याला नहीं छोड़ता, वैसे ही ब्रह्मदत्त दुर्गति के कारणभूत उस थाल को कदापि अपने सामने से दूर नही छोड़ता था। अन्धा ब्रह्मदत्त प्रतिदिन श्लेष्म की तरह चिकने और नेत्र जितने बड़े लसोड़ के फलों को ब्राह्मणों की आंखें समझ कर क्रूरतापूर्वक मसलता था, मानो फलाभिमुख पापरूपी वृक्ष के पौधे तैयार कर रहा हो। इस क्रूरकार्य को नित्य जारी रखने के कारण उसके रौद्रध्यान के परिणामों में दिनानुदिन वृद्धि होने लगी। 'शुभ या अशुभ जो कोई भी कर्मबन्ध हो, मगर वह बड़े के बड़ा (विशाल) ही होता हैं।' इस न्याय के पापरूपी कीचड़ में फंसे हुए सूअर के समान ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती को रौद्रध्यान-परम्परा से

कर्म बांधते हुए सोलह वर्ष व्यतीत हो गये। इस प्रकार कुल सात सौ सोलह वर्ष का आयुष्य पूर्ण कर हिंसानुबन्धी परिणाम के फलानुरूप ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती सातवीं नरक का मेहमान बना।

हिंसा करने वाले की फिर निंदा करते हैं—

कुणिर्वरं वरं पङ्गुरशरीरी वरं पुमान्।
अपि सम्पूर्णसर्वांगो, न तु हिंसापरायणः ॥२८॥

अर्थ

हिंसा नहीं करने वाले, लूले, लंगड़े, अपाहिज (विकलांग) और कोढ़िये अच्छे, मगर सम्पूर्ण अंग वाले हिंसाकर्ता अच्छे नहीं।

व्याख्या

हाथों और पैरों से रहित लूले, लंगड़े, बेडौल, कोढी और विकलांग हो कर भी जो अहिंसक है, वह जीव अच्छा है ; लेकिन सभी अंगों से परिपूर्ण हो कर भी जो हिंसा करने में तत्पर है ; वह जीव अच्छा नहीं।

यहां यह प्रश्न होता है कि रौद्रध्यान-परायण पुरुष यदि शान्ति के लिये प्रायश्चित्त के रूप में हिंसा करे अथवा मछुए आदि अपनी-अपनी कुलाचार-परम्परा से प्रचलित मछली आदि मार कर हिंसाएँ करते है और उनके करते समय उनके परिणाम रौद्रध्यान के नहीं होते तो क्या उन्हें उक्त हिंसा से हिंसा का पाप नहीं लगेगा ?

इसके उत्तर में कहते हैं—

हिंसा विघ्नाय जायेत विघ्नशान्त्यै कृताऽपि हि।
कुलाचारधियाऽप्येषा कृता कुलविनाशिनी ॥२९॥

अर्थ

विघ्न की शान्ति के लिये की हुई हिंसा भी विघ्न के लिए होती है। कुलाचार की बुद्धि से की हुई हिंसा कुल का विनाश करने वाली होती है।

व्याख्या

अविवेक या लोभ से विघ्नशान्ति के निमित्त अथवा कुल-परम्परा से प्रचलित हिंसा चाहे रौद्र-ध्यानवश न हुई हो, लेकिन वही विघ्नशान्ति के बदले घोरविघ्नरूप बन जाती है। समरादित्य कथा में बताए अनुसार—यशोधर के जीव सुरेन्द्रदत्त ने विघ्नशान्ति के लिए सिर्फ आटे का मुर्गा बना कर उसका वध किया था। जिसके कारण उसे वह वध जन्म-मरण की परम्परा में वृद्धि के रूप में विघ्नभूत हो गया था। इसी प्रकार 'यह तो हमारा कुल परम्परागत आचार है, या रिवाज है', इस दृष्टि से की गई हिंसा भी कुलविनाशिनी ही होती है।

कुलपरम्परागत हिंसा का त्याग करने वाला पुरुष कैसे प्रशंसनीय बन जाता है ? इसे अब आगे के श्लोक द्वारा बता रहे हैं—

अपि वंशक्रमायातां यस्तु हिंसा परित्यजेत् ।
स श्रेष्ठः सुलस इव कालसौकरिकात्मजः ॥३०॥

अर्थ

वंशपरम्परा से प्रचलित हिंसा का भी जो त्याग कर देता है। वह कालसौकरिक (कसाई) के पुत्र सुलस के समान श्रेष्ठ पुरुष कहलाने लगता है।

व्याख्या

वंश अथवा कुल की परम्परा से चली आई हुई हिंसा का जो त्याग कर देता है, वह कालसौकरिक (कसाई) के पुत्र सुलस की तरह, श्रेष्ठ एवं प्रशंसनीय बन जाता है। सुलस सद्गति के मार्ग को भली-भांति जानता था। उसे स्वयं मरना मंजूर था, परन्तु दूसरों को मारना तो दूर रहा, मन से भी वह पीड़ा नहीं पहुंचाना चाहता था।

सुलस की सम्प्रदायगम्य कथा इस प्रकार से है :—

कालसौकरिक (कसाई)-पुत्र सुलस का जीवन-परिवर्तन

उन दिनों मगधदेश में राजगृह बड़ा ऋद्धिसम्पन्न नगर था। वहां श्री श्रमण भगवान् महावीर के चरणकमलों का भ्रमर एवं परमभक्त श्रेणिक राजा राज्य करता था। कृष्णपिता वासुदेव के जैसे देवकी और रोहिणी रानियां थीं, वैसे ही उसके शीलाभूषणसम्पन्न नन्दा और चेलणा नाम की दो प्रियतमाएँ थीं। नन्दारानी के कुमुद को आनन्द देने वाले चन्द्र के समान विश्व का आनन्ददायक चन्द्र, एवं कुलाभूषणरूप एक पुत्र था, जिसका नाम था अभयकुमार। राजा ने उसका उत्कृष्ट बुद्धि-कौशल जान कर उसे योग्य सर्वाधिकार प्रदान कर दिये थे। वास्तव में गुण ही गौरव का पात्र बनता है। एक बार भगवान् महावीर स्वामी राजगृह में पधारे। 'जंगमकल्पवृक्ष' रूप स्वामी पधारे हैं, यह जान कर अपने को कृतार्थ मानता और हर्षित होता हुआ राजा श्रेणिक भगवान् के दर्शनार्थ पहुंचा। वहां दानव, मानव आदि से भरी हुई धर्मसभा (समवसरण) में राजा अपने योग्य स्थान पर बैठ गया। जगद्गुरु महावीर पापनाशिनी धर्मदेशना देने लगे। ठीक उसी समय एक कोढ़िया, जिसके शरीर से मवाद निकल कर बह रही थी, उस समवसरण में आया और प्रभु को नमस्कार कर उनके निकट इस प्रकार बैठ गया जैसे कोई पागल कुत्ता हो और भगवान के दोनों चरणकमलों पर बेधड़क हो कर अपने मवाद का लेप करने लगा, मानो चंदनरस का लेप कर रहा हो। उसे देख कर राजा श्रेणिक मन ही मन कुढ़ता हुआ-सा सोचने लगा—जगद्गुरु की इस प्रकार आशातना करने वाले इस पापी को यहां से खड़ा होते ही मरवा डाला जाय। उस समय भगवान को छींक आई, तो कोढ़िये ने कहा—'मर जाओ!' इसके बाद श्रेणिक को छींक आई तो उसने कहा—'जीओ'। फिर अभयकुमार को छींक आई तब उसने कहा—'तुम जीते रहो या मर जाओ।' और अन्त में जब कालसौकरिक को छींक आई तो उसने कहा—'तुम जीओ भी मत व मरो भी मत।' इस पर प्रभु के लिए 'तुम मर जाओ' ऐसे अप्रिय वचन कहने से क्रुद्ध हुए राजा ने अपने सैनिक को आज्ञा दी कि इस स्थान से खड़ा होते ही कोढ़िये को पकड़ लेना।

देशना पूर्ण होने पर कोढ़िया भगवान को नमस्कार करके खड़ा हुआ। अतः श्रेणिक के

सैनिकों ने उसी प्रकार पकड़ लिया जैसे भील सूअर को घेर कर पकड़ लेते हैं। सूर्यबिम्ब के तुल्य तेजस्वी दिव्यरूपधारी कोढ़िया सब के देखते ही देखते क्षणभर मे आकाश में उड़ गया। राजसेवकों ने यह बात राजा को बताई। अतः राजा ने विस्मित हो कर भगवान से पूछा—'भगवन् ! यह कौन था जो इस प्रकार देखते ही देखते क्षणभर में गायब हो गया। तब प्रभु ने कहा—'यह एक देव है।' श्रेणिक ने फिर पूछा—'भगवन् ! जब यह देव है, तब यह कोढ़ी का रूप बना कर क्यों आया है ?' भगवान् ने उत्तर दिया—'राजन् ! सुनो' वत्सदेश मे कौशाम्बी नाम की नगरी में राजा शतानीक राज्य करता था। उस नगर मे जन्मदरिद्र और महामूर्ख सेडक नाम का ब्राह्मण रहता था। एक दिन उसकी गर्भवती पत्नी ने उससे कहा—'कुछ ही दिनों में मेरे प्रसव होने वाला है, अतः आप मेरे लिये घी ले आओ। नही तो, उस समय मुझ से यह प्रसवपीड़ा सहन नहीं होगी।' इस पर ब्राह्मण ने कहा--'प्रिये ! मेरे पास विद्या या कला तो है नही;' जिससे मैं कहीं भी जा कर जरा भी घी प्राप्त कर सकूं। श्रीमान् लोग तो कला से सब चीज प्राप्त कर लेते है।' तब ब्राह्मणी ने कहा—'स्वामिन् ! आप राजा की सेवा करिये। इस धरती पर राजा दूसरा कल्पवृक्ष होता है।' रत्नप्राप्ति के लिए जैसे लोग सागर की सेवा करते हैं, वैसे ही वह ब्राह्मण उसकी बात मान कर फल-फूल आदि से राजा की सेवा करने लगा। वर्षाऋतु के बादल जैसे आकाश को घेर लेते हैं, एक दिन वैसे ही चम्पापुरी के राजा ने महान सैन्य के साथ कौशाम्बी को घेर लिया। बांबी में बैठा हुआ सर्प जैसे समय की प्रतीक्षा करता रहता है, वैसे ही सैन्य सहित शतानीक कौशाम्बी में बैठा-बैठा समय की प्रतीक्षा कर रहा था। जब बहुत समय हो चुका तो शतानीक के सैनिक राजहंस की तरह ऊब कर वहाँ से जाने लगे। एक दिन सेडुक सुबह-सुबह फूल लेने के लिए उद्यान में पहुँचा। तब उसने सैनिकों एवं राजा के निस्तेजग्रहों के समान फीके चेहरे देखे। उसी समय उसने शतानीक राजा से आ कर निवेदन किया—'राजन् ! टूटे हुए दांत वाले सर्प के समान आपका शत्रु निर्वीर्य हो गया है, अतः अगर आज ही उसके साथ युद्ध करेंगे तो अनायास ही उसे पकड़ सकेंगे। कोई व्यक्ति कितना ही बलवान हो मगर खिन्न होने के बाद शत्रु से लोहा नहीं ले सकता। उसके वचन को मान कर राजा अपनी विशाल सेना और सामग्री ले कर बाणवृष्टि करता हुआ अपने शिविर से बाहर निकला। अचानक चम्पानगरी पर हमला देख कर चम्पा की राजसेना पीछे देखे बिना ही बेहताशा भागने लगी। सच है, अचानक बिजली गिरने पर उसकी आग कौन देख सकता है ?' किस दिशा में जाऊँ ? इस विचार से हक्काबक्का हो कर चम्पानरेश अकेला ही जान बचा कर भाग निकला। चम्पानरेश के भागने से पहले ही उसकी सेना में भगदड़ मच गई थी। अतः मौका देख कर कौशाम्बी नरेश ने चम्पानरेश के हाथी, घोड़े, रथ एवं खजाना आदि बहुत-सा माल लूट कर अपने कब्जे में कर लिया। बाद में हर्षयुक्त विजयी शतानीक राजा ने वहां से ससैन्य कूच करके सहर्ष कौशाम्बी में प्रवेश किया।

विजयोन्मत्त राजा ने प्रसन्न हो कर सेडुक ब्राह्मण से कहा- 'विप्र ! बोलो तुम्हें क्या दे दूँ ? उसने कहा— मैं अपने कुटुम्बियों से पूछ कर यथेष्ट वस्तु आप से मांगूगा !' गृहस्थों को गृहिणी के बिना स्वयं कोई विचार नहीं सूझता। भट्ट हर्षित होता हुआ भट्टिनी के पास पहुंचा और उससे सारी बात कही। इस पर उस बुद्धिमती ब्राह्मणी ने आगे पीछे का विचार किया—'अगर इसे राजा से गांव आदि मांगने का कहूंगी तो गांव आदि मिलने पर यह शायद दूसरी शादी कर ले। क्योंकि वैभव अहंकार का जनक होता है। अतः यही ठीक रहेगा कि चक्रवर्ती के राज्य में हमें प्रतिदिन बारीबारी से प्रत्येक

घर से भोजन कराया जाय, और दक्षिणा में एक स्वर्णमुद्रा दी जाय।' यों सोच कर उसने अपने पति को यह बात समझा दी। ब्राह्मण ने भी चक्रवर्ती से उसी तरह की मांग की। चक्रवर्ती ने ब्राह्मण की मांग स्वीकार की। समुद्र के मिल जाने पर भी घड़ा अपनी योग्यतानुसार ही जल लेता है। इसी तरह ब्राह्मण करता था। अब ब्राह्मण को प्रतिदिन भोजन, दक्षिणा और साथ-साथ आदर भी मिलता था। राज-प्रसाद मनुष्य के गौरव को बढ़ा देता है। उस ब्राह्मण को भी राजमान्य समझ कर लोग आमंत्रण देने लगे। जिस पर राजा प्रसन्न हो, उसकी सेवा कौन नहीं करता? अब ब्राह्मण को अनेक घरों मे न्यौता मिलता था, इसलिये वह पेटू बन कर पहले खाया हुआ वमन कर देता और फिर पुन: आमन्त्रणप्राप्त घरों में भोजन करने जाता। क्योंकि जितने घरों में वह भोजन करता उतने ही घरों से उसे दक्षिणा प्राप्त होती। धिक्कार है, ब्राह्मण के ऐसे लोभ को। बार-बार दक्षिणा मिलने के कारण ब्राह्मण प्रचुर धनवान बन गया। जिस प्रकार वटवृक्ष मूलशाखाओं एवं प्रशाखाओं से अधिकाधिक विस्तृत होता जाता है, वैसे ही सेडुक भी पुत्रों, और पौत्रों से विस्तृत परिवार वाला हो गया। साथ ही प्रतिदिन अजीर्ण, वमन और खाए हुए का शरीर में रस न बनने के कारण ब्राह्मण को चर्मरोग हो गया। जिससे वह ऐसा लगता था मानो पीतल के पेड़ पर लाख लगी हो। फिर भी अग्नि के समान अतृप्त सेडुक राजा के यहां जा कर उसी तरह भोजन करता और दक्षिणा लेता था। इस तरह धीरे-धीरे सेडुक को कोढ़ हो गया, उसके हाथ, पैर, नाक इत्यादि सड़ गये।

एक दिन मन्त्री ने राजा से निवेदन किया—'देव! इस ब्राह्मण को कोढ़ हो गया है और यह चेपी रोग है, इसलिये इसे यहां भोजन कराना ठीक नहीं है। इसके बजाय इसके निरोगी पुत्रों में से किसी को करवा दिया जाय। खंडित प्रतिमा के स्थान पर दूसरी प्रतिमा स्थापित की जाती है।' राजा ने मन्त्री की बात स्वीकार की। सेडुक के स्थान पर उसके पुत्र को स्थानापन्न किया। अब सेडुक घर पर ही रहने लगा। मधुमक्खियों से घिरे हुए छत्तों के समान उसके चारों ओर मक्खियां भिनभिनाती रहतीं। अत: पुत्रो ने मिल कर घर के बाहर एक झोंपड़ी बनवा दी और उसी में सेडुक को रखा। अब न तो कोई उसकी बात मानता और सुनता था, और न कोई उसके कहे अनुसार काम करता था। इतना ही नहीं, कुत्ते की तरह लकड़ी के पात्र में उसे भोजन दे दिया जाता था। पुत्रवधुएँ भी उससे घृणा करती थीं। भोजन देते समय मुंह फेर लेती थीं और नाक-मुंह सिकोड़ती थीं। यह देख कर क्षुद्राशय सेडुक ने विचार किया—इन पुत्रों को मैंने ही तो धनवान बनाया है। लेकिन आज मेरी अवज्ञा करके इन्होंने मुझे वैसे ही छोड़ दिया है, जैसे समुद्र पार करने के बाद यात्री नौका को छोड़ देता है। इतना ही नहीं, मुझे वचन से भी संतुष्ट नहीं करते। उल्टे ये मुझे कोढ़िया, क्रोधी, असंतोषी, अयोग्य आदि अनुचित शब्द कह कर चिढ़ाते व खिजाते हैं। जिस तरह ये पुत्र मुझ से घृणा करते हैं, उसी तरह ये भी घृणापात्र बन जांय, ऐसा कोई उपाय करना चाहिए। सहसा उसे एक युक्ति सूझी और मन ही मन प्रसन्न हो कर उसने ऐसा विचार कर पुत्रों को अपने पास बुला कर कहा 'पुत्रो! अब मैं इस जीवन से ऊब गया हूं। अत: अपना कुलाचार ऐसा है कि मरने की अभिलाषा वाले व्यक्ति को उसके परिवार वाले एक मंत्रित पशु ला कर दें। अत: तुम मेरे लिये एक पशु ला कर दो। यह सुन कर सबने इस बात का समर्थन किया और उन सब पशुसम बुद्धि वाले पुत्रों ने पिता को एक पशु ला कर सौंप दिया। सेडुक प्रसन्न होता हुआ अपने अंगों से बहते हुए मवाद को हाथ से ले लेकर पशु के चारे में मिलाता और उसे खिलाता। मवाद मिला हुआ चारा खाने से वह पशु भी कोढ़िया हो गया। अतः सेडुक ने वह पशु बलि (वध) के लिये अपने पुत्रों को दे दिया। पिता के आशय को न समझ कर उन भोलेभाले पुत्रों ने एक दिन उस पशु को

मार डाला और उसका मांस खा गये। इसी बीच सेडुक अपने पुत्रों से यह कहकर कि—'मैं आत्म-कल्याण के लिए तीर्थभूमि पर जाता हूं। अब मेरे लिये अरण्य ही शरण है।' ऊंचा मुंह किये कुछ सोचता हुआ-सा वह चल पड़ा। जंगल में जाते-जाते उसे बड़ी जोर की प्यास लगी। पानी की तलाश में घूमते-घूमते उसने विविध वृक्ष की घटाओं से युक्त मित्रसमान एक सरोवर देखा। उस सरोवर का पानी वृक्षों से गिरे हुए पत्तों व फूल-फलों से बेस्वाद तथा मध्याह्न की तपती हुई सूर्यकिरणों से क्वाथ के समान उत्तप्त हो गया था, उसे (गर्म) पिया। ज्यों-ज्यों वह उस पानी को पीता गया त्यों-त्यों उसकी प्यास और अधिक बढ़ती चली गई। जितनी बार वह इस उष्ण जल को पीता, उतनी बार ही उसे पतली दस्त हो जाती; जिससे उसके शरीर से कृमियां निकलती थीं। इस प्रकार प्रतिदिन उस सरोवर के जल पीने और रेच के साथ कीड़े निकल जाने से सेडुक कुछ ही दिनों में रोगमुक्त हो गया। उसके सारे अंग इस प्रकार सुन्दर हो उठे, जिस प्रकार वसन्तऋतु में वृक्ष, अपने अंगोपांगों सहित सर्वाङ्गसुन्दर बन जाता है। निरोग होने से हर्षित हो कर ब्राह्मण अपने घर की ओर वापिस चल पड़ा। जन्मभूमि में सुन्दर शरीर सभी पुरुषों के लिए विशेष शृंगाररूप होता ही है।

सेडुक ने जब अपने नगर में प्रवेश किया तो नागरिक लोग कंचुकीयुक्त सर्प के समान उसे रोगमुक्त और सुन्दर आकृतियुक्त देख कर विस्मित हो उठे। नागरिकों ने पूछा—'विप्रवर! आपका निरोग शरीर और सुन्दर आकृति देख कर मालूम होता है, अपने पुनर्जन्म पाया हो! अतः आपको निरोग और सुन्दर होने का क्या कारण हुआ?' ब्राह्मण ने कहा—"मैंने देवताओं की आराधना की; जिससे मैं रोग मुक्त हो गया हूँ।" इसके बाद वह अपने घर पर पहुंचा। वहाँ अपने पुत्रों को कोढ़िये बने देख कर हर्षित हुआ और कहने लगा—'तुमने मेरी अवज्ञा की थी, ठीक उसी का फल तुम्हें मिला है।' पुत्रों ने कहा—'पिताजी! हमने आप पर विश्वास रखा, परन्तु आपने हमारे साथ शत्रु सरीखा निर्दय कार्य क्यों किया?' यह सुन कर सेडुक चुप हो गया, लड़कों ने उसे कोई आदर नहीं दिया और न अन्य लोगों ने। अतः वह तिरस्कृत और आश्रयरहित हो गया। यह सारी कथा सुना कर भगवान् महावीर ने आगे श्रेणिक राजा से कहा—"राजन! घूमता-घामता वह सेडुक तुम्हारे नगर में आया और तुम्हारे प्रासाद के द्वारपालों से मिला। द्वारपालों ने जब यह सुना कि मैं इस समय राजगृह नगर में आया हूं तो हर्षित होकर मेरी धर्म-देशना सुनने के लिये अपने स्थान पर उस ब्राह्मण को बिठा कर आये। इस प्रकार जीविका के द्वार के समान सेडुक को द्वारापाल का आश्रय मिला। वह द्वार पर भूखा-प्यासा बैठा था। इतने में ही द्वार पर दाना चुगने के लिये आए पक्षियों को डाले हुए दाने देखते ही भूखे भेडिये की भांति उन पर टूट पड़ा। कुष्टरोग से मुक्त होने पर भूख अत्यन्त बढ़ गई थी। इस कारण से उसने डट कर गले तक ठूंस-ठूंस कर खाया। मरुभूमि के यात्री को जैसे गर्मी की मौसम में अत्यन्त प्यास लगती है, वैसे ही अतिभोजन करने से सेडुक को बहुत प्यास लगी। प्यास से वह बहुत छटपटा रहा था। फिर भी द्वारपाल के भय से उस स्थान को छोड़ कर किसी पानी के स्रोत या जलाशय की ओर नहीं गया। प्रत्युत वहां बैठा रहा और अत्यन्त तृषापीड़ित हो कर मन ही मन जलचर जीवों को धन्य मानने लगा। असह्य प्यास के कारण हाय पानी, हाय पानी चिल्लाते हुए उसने वहीं पर दम तोड़ दिया। मर कर वह इसी नगरी के दरवाजे के पास वाली बावड़ी में मेंढक के रूप में पैदा हुआ। हम विहार करते हुए फिर इस नगर में आये। अतः वन्दन करने के लिये लोग शीघ्रता से बरसाती नदी की तरह उमड़ने लगे। मेरे आगमन के समाचार पनिहारियों के मुंह से सुन कर वह मेंढक विचार करने लगा—'यह बात तो मैंने पहले भी कभी सुनी है।' उसी बात पर बारबार ऊहापोह करते हुए उसे स्वप्नों के स्मरण करने की तरह उसी क्षण जातिस्मरण-ज्ञान हो

गया ; जिसके प्रकाश में मेंढक ने जाना कि पूर्वजन्म में मुझे इसी दरवाजे पर द्वारपाल के तौर पर नियुक्त करके द्वारपाल जिन प्रभुवर को वन्दन करने गये थे, वे ही यहाँ पधारे हैं । अतः जैसे मनुष्य उन्हें वन्दन करने जाते हैं, वैसे मैं भी जाऊँ, गंगानदी का पानी तो सार्वजनिक है । इसका कोई एक मालिक नहीं होता ।" यों सोच कर वह वहाँ से फुदकता हुआ मुझे वन्दन करने के लिए आ रहा था कि मार्ग में ही तुम्हारे घोड़े के पैर के खुर से कुचल कर वह मेंढक वहीं मर गया । पर मरते समय उसके मन में मेरे प्रति भक्ति और प्रीति थी, इस कारण दर्दु रांक देव के रूप में पैदा हुआ ।

'भावना क्रियारहित हो तो भी फलदायिनी होती है ।' देवेन्द्र ने एक दिन देवसभा में कहा था कि—भारतवर्ष में श्रेणिकनृप श्रावकों में श्रेष्ठ है और दृढ़ श्रद्धावान है ; इस कारण राजन् ! यह दर्दु रांक देव तुम्हारी परीक्षा लेने आया था । उसने गोशीर्षचन्दन से मेरे चरणों की पूजा की । तुम में दृष्टिभ्रम पैदा करने के लिये इसने वैक्रियशक्ति से कोढ़िये आदि का रूप बना कर मवादलेपन मेरे चरणों पर करने का स्वांग दिखाया और चारों के लिए चार प्रकार की विभिन्न बातें कहीं ।

इस पर श्रेणिक राजा ने भगवान् से पुनः प्रश्न किया—'भगवन् ! जब आपश्री को छींक आई तो यह सर्वथा अमांगलिक शब्द और दूसरों को छींक आई तो मांगलिक और अमांगलिक शब्द क्यों बोला ?' उत्तर में भगवान् ने कहा 'मेरे लिए उसका संकेत यह था कि आप अभी तक संसार में क्यों बैठे हैं ? शीघ्र ही से मोक्ष में प्रयाण करें । इसलिए उसने मेरे लिए कहा था—**'मर जाओ ।'** और हे नरसिंह ! तुम्हें यहां पर सुख है, मरने के बाद तो तुम्हारी गति नरक है, जहाँ अपार दुःख है । इसी के संकेतस्वरूप कहा था —""**जीते रहो** ।" इसके अनन्तर अभयकुमार के लिये कहा था, **जीते रहो या मर जाओ** । वह इस दृष्टि से कहा था कि जीयेगा तो धर्माचरण करेगा और मरेगा तो अनुत्तरविमान देवलोक में जायेगा ।" और सबसे अन्त में कालसौकरिक के लिए कहा था कि 'न जीओ और न मरो," "वह इस अभिप्राय से था कि अगर वह जीवित रहेगा तो अनेक जीवों की हत्या करता रहेगा और मरेगा तो सातवीं नरक में जायेगा ।" भगवान् के श्रीमुख से यह स्पष्टीकरण सुन कर सम्राट् श्रेणिक ने नमस्कार करके प्रार्थना की —प्रभो ! आप सरीखे "कृपानाथ के होते हुए भी मुझे नरक में जाना पड़ेगा ।" भगवान ने कहा—"तुमने पहले से ही नरक का आयुष्य बांध रखा है । इस कारण वहां तो अवश्य जाना पड़ेगा ।" "पहले के बंधे हुए शुभ या अशुभ कर्मों का फल अवश्य भोगना पड़ता है, इसमें कुछ भी रद्दोबदल करने में हम सब असमर्थ हैं । लेकिन प्रसन्नता की बात यह है कि तुम आगामी चौबीसी में पद्मनाभ नाम के प्रथम तीर्थंकर बनोगे । अतः खेद मत करो ।" श्रेणिक ने फिर पूछा—"नाथ ! अंधे कुए में अंधे के समान घोर अन्धतम नरक से बचने का मेरे लिये क्या कोई उपाय भी है ?" भगवान ने उत्तर दिया—'हाँ ! दो उपाय हैं । एक तो यह कि अगर तुम्हारी दासी कपिला (ब्राह्मणी) के हाथ से सहर्ष साधु को दान दिला दो, दूसरा तुम कालसौकरिक (कसाई) से जीवों की हत्या करना छुड़वा दो तो नरक से तुम्हारा छुटकारा हो सकता है । अन्यथा अत्यन्त मुश्किल है। इस तरह का सम्यग् उपदेश हृदय में हार के समान धारण करके श्रेणिक राजा श्रीमहावीर प्रभु को वन्दना करके अपने महल की ओर चला । रास्ते में राजा के सम्यक्त्व की परीक्षा करने के लिये दर्दु रांक देव ने एक मछुए की तरह जाल कंधे पर डालते हुए साधु का स्वांग रचा और खुद को ऐसा अकार्य करने वाला साधु बताया । उसे देख कर श्रेणिक ने शासन (धर्म) की बदनामी न हो इस दृष्टि से उसे समझा कर अकार्य से रोका और आगे बढ़ा । उस देव ने फिर गर्भिणी साध्वी का रूप बना कर अपने को साध्वी बताई, तब श्रेणिक राजा

शासनभक्ति से उसे अपने घर ले आया और उसकी रक्षा की। देव ने, श्रेणिक राजा का यह रवैया देख कर सोचा—इन्द्र महाराज ने सभा में इसकी जैसी प्रशंसा की थी, वैसा ही मैंने पाया है। वास्तव में ऐसे पुरुषों के वचन मिथ्या नहीं होते। फिर इस देव ने दिन में भी प्रकाशमान नक्षत्रश्रेणि के समान एक हार और दो गोले श्रेणिक राजा को भेंट किये। वह देव देखते-देखते यह कह कर स्वप्नवत् अदृश्य हो गया कि इस हार को टूटने पर जो जोड़ देगा, वह शीघ्र मर जायेगा। राजा ने चेलणा रानी को वह दिव्य मनोहर हार दिया और दो गोले दिये। नंदारानी ने ईर्ष्यालु दृष्टि से मन ही मन विचारा कि 'क्या मैं ऐसे तुच्छ उपहार के योग्य हूं। अतः रोषवश उसने दोनों गोले खंभे के साथ टकराले। जिससे गोले टूट गये। एक गोले में से चन्द्रयुगल के समान निर्मल कुंडलों का जोड़ा निकला और दूसरे में से देदीप्यमान दिव्यवस्त्रयुगल निकला। उस दिव्य पदार्थों को देख कर नंदारानी ने हर्षित हो कर उन उपहारों को स्वीकार किया। महान आत्माओं को आचिन्त्य लाभ हो जाता है।

तत्पश्चात् श्रेणिक राजा अपने राजमहल में पहुंचा और प्रलोभन देते हुए कपिला से कहा—"भद्रे ! यदि तू एक बार भी श्रद्धापूर्वक साधुओं को आहार देगी तो तुझे मालामाल कर दूंगा और दासता से भी मुक्त कर दूंगा। तब कपिला ने उत्तर दिया - "देव ! यदि आप मुझे सारी की सारी सोने की बना दें अथवा नाराज हो कर मुझे जान से भी मार डालें तो भी मैं यह अकार्य नहीं करूंगी।" निराश राजा ने कालसौकरिक को बुला कर उससे कहा—"तू जीवों को मारने का यह धंधा छोड़ दे; अगर तू धन के लोभ से यह कार्य करता है तो मैं तुझे पर्याप्त धन दूंगा।" उसने कहा—"मेरे बाप-दादों से चले आये इस जीवों को मारने का धंधा मैं नहीं छोड़ सकता। इस पर मेरे परिवार के अनेक आदमी पलते हैं, जिससे मानव जिंदा रहे, उस हिंसा के करने में कौन-सा दोष है ?" राजा ने उसे अंधे कुए में डलवा दिया। यहां इस अंधे कुए में डालने पर हथियार न होने पर तब यह कैसे हिंसा करेगा ? अतः पूरे एक दिन और रात बंद रहेगा। यह सोच कर श्रेणिक ने भगवान से जा कर विनती की, 'भगवन् ! मैंने कालसौकरिक से एक दिन एक रात की हिंसा का काम तो बन्द करवा दिया है।' सर्वज्ञप्रभु ने कहा—"राजन् ! उसने अंधे कुए में भी अपने शरीर के मैल के पांच सौ भैंसे बना कर मारे है। वहां जा कर देखो तो सही।" राजा ने देखा तो वैसा ही पाया। अतः श्रेणिक मन ही मन खेद करने लगा। 'मेरे पूर्व कर्मों को धिक्कार है; भगवान की वाणी मिथ्या नहीं होती।

हमेशा पांच सौ भैंसों को मारता हुआ वह कसाई महापापपुंज में वृद्धि करने लगा। नरक की प्राप्ति होने से पहले तक उसके शरीर में भयंकर से भयंकर महारोग पैदा हुए। आखिर में नरकगतिप्राप्ति के समय महादारुण-पापवश वध करते हुए सूअर के समान व्याधि की पीड़ा से यातना पाते हुए इस लोक से विदा हुआ। उस समय वह हाय मां ! अरे बाप रे ! इस तरह जोर-जोर से चिल्लाता था। उसे स्त्री, शय्या, पुष्प, वीणा के शब्द या चन्दन आदि अनुकूल सुख-सामग्री, आंख, चमड़ी, नाक, कान तथा जीभ में शूल भोंकने के समान अत्यन्त कष्टकर लगती था। पिता की यह दशा देख कर कालसौकरिक-पुत्र सुलस ने जगत् में आप्त और अभयदानपरायण श्री अभयकुमार से पिता की सारी हालत कही। उसने कहा—'तुम्हारे पिताजी ने जो हिंसा आदि भयंकर क्रूर पापकार्य किये हैं, उनका फल ऐसा ही होता है। यह सच है, तीव्र पापकर्मों का फल भी तीव्र होता है। दूसरा कोई भी व्यक्ति इस पापकर्मविपाक से बचा नहीं सकता। फिर भी उसकी प्रीति के लिए ऐसा करो जिससे उसे शान्ति मिले। इसका तरीका यह है कि इन्द्रियों के विपरीत पदार्थों का सेवन कराओ। विष्टा की दुर्गन्ध मिटाने के लिए जल उसका सही उपाय नहीं है।' इस पर सुलस ने

घर आ कर अपने पिता को कड़वे और तीखे पदार्थ खिलाए, तपे हुए तांबे के रस के समान गर्मागर्म पानी पिलाया; विष्ठा ला कर उसका उसके सारे शरीर पर लेप किया, कांटों की शय्या पर उसे सुलाया, गधों और ऊँटों के कर्णकटु शब्द उसे सुनाए; राक्षस, भूत बैताल और अस्थिपंजर मनुष्य सरीखे भयंकर रूप बताए। इन और ऐसे ही अनेक प्रतिकूल विषयों के सेवन करने से कालसौकरिक को राहत मिली। उसने सुलस से कहा —'बेटा! बहुत अर्से के बाद आज स्वादिष्ट भोजन मिला है, ठंडा पानी पीया है, कोमल गुदगुदी शय्या पर लेटा हूं, सुगन्धित पदार्थ का लेप किया है, मधुर-मधुर शब्द सुने हैं और सुन्दर-सुन्दर रूप देखे हैं! क्या बताऊं, आज तक ऐसा आनन्द नहीं आया, जितना आज आया है। अब तक तुमने मुझे इन सुखों से वंचित क्यों रखा?' पिता के विस्मयोत्पादक वचन सुन कर सुलस ने मन ही मन विचार किया —'ओह! इस जन्म में ही जब यह इतने पापों का फल प्रत्यक्ष भोगता दिखाई दे रहा है तो परलोक में नरक आदि में क्या हाल होगा?' सुलस के यों सोचते-सोचते ही कालसौकरिक ने सदा के लिए आँखें मूंद लीं। वह मर कर अप्रतिष्ठान नामक सप्तम नरक में पहुंचा।

पिता की मरणोत्तरक्रिया करने के बाद स्वजनों ने सुलस से कहा—'वत्स! अब तू अपने पिता के स्थान पर बैठ कर उनके कारबार को संभाल ले, ताकि तेरे कारण हम सनाथ बने रहें।' इस पर सुलस ने उन्हें जवाब दिया—'मैं यह कार्य कदापि नहीं अपनाऊंगा। मैंने पिताजी को इसी जन्म में इन क्रूरकर्मों का कटु फल पाते देखा है, अगले जन्मों में तो उन्हें और भी घोर कटुफल मिलेगा। जैसे मुझे अपने प्राण प्रिय लगते है, वैसे ही दूसरे प्राणियों को भी अपने-अपने प्राण प्यारे हैं। अतः अपने प्राण टिकाने के लिए दूसरे जीवों के प्राणों का नाश करना बहुत ही बुरा काम है। धिक्कार है, ऐसे प्राणिशत्रुओं और अन्य घातकों को। हिंसा का ऐसा कटुफल प्रत्यक्ष देख कर हिंसामय आजीविका को कौन करने को तैयार होगा? जिस फल को खाना सीधे मौत को न्योता देना हो, भला उस किम्पाकफल को खा कर जानबूझ कर कौन मृत्यु के मुख में जाना चाहेगा? ये सुन कर वे स्वजन फिर आग्रह करने लगे—"सुलस! अगर प्राणिवध से पाप लगेगा तो तुझे अकेले को थोड़े ही लगेगा? जैसे पैतृक धन सभी पारिवारिक जन आपस में बांट लेते हैं, वैसे ही पाप का फल हम बांट लेंगे। तुम पहले सिर्फ एक भैंसे को मारो। उसके बाद और पशुओं को तो हम मार लेंगे। इससे तुम्हें बहुत ही थोड़ा-सा पाप लगेगा।" दूसरे के प्राणों को चोट पहुंचाने से कितना दुःख होता है, इसका अनुभव करने के लिए सुलस ने तीखा कुल्हाड़ा अपनी जांघ पर मारा, जिससे वह गश खा कर तुरन्त गिर पड़ा। होश में आया तब करुण विलाप करता हुआ सुलस आर्तस्वर में चिल्लाया —"हाय बाप रे! कुल्हाड़े की इस कठोर चोट से मैं घायल हो कर अभी तक बहुत बेचैन हूं इसकी पीड़ा से! अरे बन्धुओ! कोई मेरी इस वेदना को तो बांट लो, जिससे यह कम हो जाए। मेरा दुःख ले कर कोई मुझे इस दुःख से बचाओ! हाय मैं मरा रे!" सुलस को पीड़ा से आर्तनाद करते देख कर पास में खड़े हुए बन्धुओं ने उससे कहा —"भाई! क्या कोई किसी की पीड़ा ले सकता है, या किसी के दुःख में हाथ बंटा सकता है?" इस पर सुलस ने उन्हें खरी खरी सुना दी —"बन्धुओ! जब तुम सब लोग मिल कर मेरी इतनी-सी पीड़ा नहीं ले सकते तो नरक की पीड़ा में कैसे हिस्सा बंटा लोगे? सारे कुटुम्ब के लिए पापकर्म करके घोर नरक की वेदना मुझे अकेले को ही परलोक में भोगनी पड़ेगी, आप सब कुटुम्बकबीले वाले यहीं रह जायेंगे। इसलिए चाहे वंश परम्परा से मेरे परिवार में हिंसाकर्म प्रचलित हो, लेकिन मैं ऐसी हिंसा कतई नहीं करूंगा। अगर किसी का पिता अंधा हो तो क्या पुत्र को भी अंधा बन जाना चाहिए?" जिस समय सुलस पीड़ा से भरे ये उद्गार निकाल रहा था, ठीक उसी समय उससे सुखशान्ति के समाचार पूछने और उसकी संभाल लेने

राजपुत्र अभयकुमार वहां आ पहुंचे। सुलस को छाती से लगाते हुए उसने कहा—"शाबास सुलस ! तू ने बहुत ही बढ़िया काम किया है। मैंने तुम्हारी सभी बातें ध्यानपूर्वक सुनी हैं, तभी तो मैं खुश हो कर तुम्हें धन्यवाद देने के लिए यहाँ आया हूं। वंशपरम्परा के पाप-पंक में फंसने की अपेक्षा तू ने दूर से ही उसका परित्याग कर दिया है। इसलिए वास्तव में तेरा जीवन धन्य हो उठा है, तू वास्तव में प्रशंसनीय है। हम तो गुणों के पक्षपाती है।" इस प्रकार धर्मवत्सल राजकुमार अभय मधुर वचनों से उसका अभिनन्दन करके अपने स्थान को लौट गया।

इधर दुर्गतिभीरु सुलस ने अपने बन्धुवर्ग के कथन को बिल्कुल नहीं मान कर धीरे-धीरे श्रावक के १२ व्रतों का अंगीकार किया। दरिद्र को ऐश्वर्यप्राप्ति की तरह सुलस को भी धर्मधन की प्राप्ति हुई। सच है, कालसौकरिक के पुत्र सुलस की तरह कुलपरम्परा से प्रचलित हिंसाकर्म का त्याग करता है, स्वर्गसम्पत्ति उसके लिए कुछ भी दूर नहीं है। वस्तुतः वह श्रेयःकार्य का अधिकारी बनता है।

हिंसा करने वाला कितना ही इन्द्रियदमन आदि कर ले, लेकिन न तो वह नये सिरे से पुण्योपार्जन ही कर सकता है ; और न ही पाप का प्रायश्चित्त कर आत्मशुद्धि कर सकता है। इस सम्बन्ध में कहते हैं—

दमो देवगुरूपास्तिर्दानमध्ययनं तपः।
सर्वमप्येतदफलं हिंसां चेन्न परित्यजेत् ॥३१॥

अर्थ

जब तक कोई व्यक्ति हिंसा का त्याग नहीं कर देता, तब तक उसका इन्द्रियदमन, देव और गुरु की उपासना, दान शास्त्राध्ययन, और तप आदि सब बेकार हैं, निष्फल हैं।

व्याख्या

शान्ति की कारणभूत अथवा कुलपरम्परा से प्रचलित हिंसा का त्याग नहीं किया जाता, तब तक इन्द्रियदमन, देव और गुरु की उपासना, सुपात्र को दान, धर्मशास्त्रों का अध्ययन, चान्द्रायण आदि कठोर तप इत्यादि शुभ धर्मानुष्ठान भी पुण्योपार्जन और पापक्षय आदि कोई सुफल नहीं लाते, सभी निष्फल जाते हैं। इसलिए मांसलुब्ध पारिवारिक लोगों की सुखशान्ति के लिए या रूढ़ कुलाचार के पालन के लिए की जाने वाली हिंसा का निषेध किया है। अब शास्त्रजनित हिंसा का निषेध करने की दृष्टि से शास्त्र द्वारा उसका खण्डन करते हैं—

विश्वस्तो मुग्धधीर्लोकः पात्यते नरकावनौ।
अहो नृशंसैर्लोभान्धैर्हिंसाशास्त्रोपदेशकैः ॥३२॥

अर्थ

'अहो ! निर्दय और लोभान्ध हिंसाशास्त्र के उपदेशक इन बेचारे मुग्ध बुद्धि वाले भोले-भाले विश्वासी लोगों को वाग्जाल में फंसा कर या बहका कर नरक की कठोर भूमि में डाल देते हैं।

व्याख्या

दयालु व्यक्ति कभी हिंसा का उपदेश नहीं देते या हिंसा के उपदेश से परिपूर्ण शास्त्रों की रचना नहीं करते। मगर बड़ा अफसोस है कि निर्दय और लोभान्ध हिंसापरक शास्त्रों के उपदेष्टा, मनु आदि मांस खाने के लोभ में अंधे बने हुए भोलेभाले श्रद्धालु भद्रजनों को (बहका कर या उलटे-सीधे समझा कर) नरक के गर्त में डाल देते हैं।" यहाँ उन उपदेशकों को लोभ में अंधे क्यों कहा गया ? इसके उत्तर में कहते हैं—वे लोग सहज विवेकरूपी पवित्र चक्षु या विवेकी के संसर्गरूपी नेत्र से रहित हैं। कहा भी है—'एक तो, पवित्र चक्षु सहज विवेक है, दूसरा चक्षु है—उन विवेकवान व्यक्तियों के साथ सहवास (सत्संग) करना। संसार में जिसके पास ये दोनों चक्षु नहीं हैं, वह आँखें होते हुए भी वास्तव में अन्धा है। अगर ऐसा व्यक्ति विपरीत मार्ग में प्रवृत्त होता है तो इसमें दोष किसका है ? उसी का ही तो है !' चतुर बुद्धिशाली व्यक्तियों को कार्याकार्य के विवेक करने में ऐसे ठगों की मीठी-मीठी बातों के चक्कर में आ कर विश्वास नहीं कर लेना चाहिए।

जिसने हिंसापरक शास्त्र रचा है, उसका उल्लेख करके आगे उसका बखिया उधेड़ते हैं—

यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयम्भुवा ।
यज्ञोऽस्य भूत्यै सर्वस्य तस्माद्यज्ञे वधोऽवधः ॥३३॥

अर्थ

ब्रह्माजी ने यज्ञ के लिए स्वयमेव पशुओं को बनाया है; यज्ञ इस सारे चराचर विश्व के कल्याण के लिए है। इसलिए यज्ञ में होने वाली हिंसा हिंसा नहीं होती। यानी वह हिंसा पाप का कारण नहीं होती।

व्याख्या

यह पूछे जाने पर कि 'यज्ञ में होने वाली हिंसा में कोई दोष क्यों नहीं है ? उनकी ओर से यह उत्तर दिया जाता है—जिस जीव की हिंसा की जाती है, उसके प्राणवियोग से बड़ा उपकार होता है, अथवा पुत्र, स्त्री, धन आदि के वियोग से महान् उपकार होता है. यज्ञीय हिंसा से मरने वालों के लिए वह हिंसा इसलिए महोपकारिणी होती है कि अनर्थ से उत्पन्न हिंसा से, दुष्कृत से होने वाली हिंसा से तथा नरकादि फलविपाक प्राप्त कराने वाली हिंसा से यह हिंसा भिन्न है। इस हिंसा से मरने वाले नरकादि फल नहीं पाते। इसलिए यह हिंसा अपकारक नहीं, उपकारक है।

इसी के समर्थन में आगे कहते हैं—

औषध्यः पशवो वृक्षास्तिर्यञ्चः पक्षिणस्तथा ।
यज्ञार्थं निधनं प्राप्ताः प्राप्नुवन्त्युच्छ्रितिं पुनः ॥३४॥

अर्थ

डाभ आदि औषधियों, बकरा आदि पशुओं, यूप आदि वृक्षों, बैल, घोड़ा, गाय आदि तिर्यञ्चों, कपिंजल, चिड़िया आदि पक्षियों का यज्ञ के लिए जब विनाश किया जाता है, तो वे नष्ट हो (मर) कर फिर देव, गन्धर्व आदि उच्च योनियां प्राप्त करते हैं, अथवा उत्तरकुरु आदि में दीर्घायुष्य प्राप्त करता है।

मधुपर्के च यज्ञे च पितृदैवतकर्मणि ।
अत्रैव पशवो हिंस्या नान्यत्रैत्यब्रवीन्मनुः ॥३५॥

अर्थ

मधुपर्क, एक प्रकार का अनुष्ठान है, जिसमें गो वध का विधान है ; ज्योतिष्टोम यज्ञ, जिसमें पशुवध करना विहित है ; पितृश्राद्धकर्म, जिसमें माता पिता आदि पितरों के प्रति श्राद्ध किया जाता है ; एवं दैवतकर्म, जिसमें देवों के प्रति महायज्ञ आदि अनुष्ठान किया जाता है ; इन सब अनुष्ठानों में ही पशुहिंसा करनी चाहिये, इसके अतिरिक्त कामों में नहीं । अर्थात् इन्हीं कर्मों में विहित पशुहिंसा पाप नहीं है ; अन्यत्र पशुहिंसा पाप है ।

इस प्रकार मनु ने मनुस्मृति के पांचवें अध्याय में कहा है

एष्वर्थेषु पशुन् हिंसन् वेदतत्त्वार्थविद् द्विजः ।
आत्मानं पशूंश्चैव, गमयत्युत्तमां गतिम् ॥३६॥

अर्थ

उपर्युक्त कर्मों के लिए पशुहिंसा करने वाला वेद के तात्त्विक अर्थ का ज्ञाता विप्र अपने आपको और पशुओं को उत्तम गति (स्वर्ग, मोक्ष आदि) में पहुंचाता है ।

हिंसा करने की बात को एक ओर रख दें, तो भी दूसरों को हिंसा के उपदेश देने वाले कैसे हैं ? यह बताते हैं—

ये चक्रुः क्रूरकर्माणः, शास्त्रं हिंसोपदेशकम् ।
क्व ते यास्यन्ति नरके, नास्तिकेभ्योऽपि नास्तिकाः ॥३७॥

अर्थ

स्वयं हिंसा न करके जिन्होंने हिंसा का उपदेश (प्रेरणा) देने वाले शास्त्र (मनुस्मृति आदि) रचे हैं, वे क्रूर कर्म करने वाले निर्दय दीखने में आस्तिक दिखाई देते हैं, लेकिन वे नास्तिकों से भी महानास्तिक हैं । पता नहीं, वे कौन-से नरक में जायेंगे ?

आगे और कहते हैं—

वरं वराकश्चार्वाको योऽसौ प्रकटनास्तिकः ।
वेदोक्तितापसच्छद्मच्छन्नं रक्षो न जैमिनिः ॥३८॥

अर्थ

बेचारा चार्वाक, जो बिना किसी दंभ के नास्तिक के नाम से जगत् में प्रसिद्ध है, अच्छा है; मगर तापसवेष में छिपा हुआ जैमिनि राक्षस, जो 'वेद में ऐसा कहा है', इस प्रकार वेदों की दुहाई दे कर वेद के नाम से लोगों को बहकाता है (हिंसा की ओर प्रेरित करता है), अच्छा नहीं है ।

व्याख्या

बेचारा लोकायतिक या चार्वाक दंभरहित होने से जैमिनि की अपेक्षा से तो कुछ अच्छा माना जा सकता है। परन्तु वेद-वचनों को प्रस्तुत करके तापसवेष की ओट में जीवों की हिंसा का खुल्लमखुल्ला विधान करके जनता को ठगने वाला राक्षस-सरीखा जैमिनि अच्छा नहीं। उसका यह कथन कि 'यज्ञ के लिए ब्रह्मा ने पशुओं को पैदा किया है, ; केवल वाणीविलास है ; सच तो यह है कि सभी जीव अपने अपने कर्मों के अनुसार विभिन्न शुभाशुभ योनियों में उत्पन्न होते हैं। इसलिए दूसरे को उत्पन्न करने वाला बता कर सृष्टिवाद का प्ररूपण करना गलत है। 'विश्व के सभी प्राणियों की सुखशान्ति के लिए (पशुवधमूलक) यज्ञ करें ; यह कथन भी अर्थवाद है या पक्षपातयुक्त है। 'वैदिकी या याज्ञिकी हिंसा हिंसा नहीं होती', यह कथन भी हास्यास्पद है। यज्ञ के लिए मारे गये या नष्ट किये गए औषधि आदि के जीवों को उत्तमगति मिलती है यह वचन तो उस पर अन्धश्रद्धा रखने वालों का समझना चाहिए। सुकृत किये बिना यज्ञ के निमित्त वध किये जाने मात्र से उच्चगति नहीं हो सकती और मान लो, यज्ञ में मारे जाने मात्र से ही किसी को उच्चगति मिल जाती हो तो अपने माता-पिता को यज्ञ में मार कर उच्च गति में क्यों नहीं भेज देते या स्वयं यज्ञ में मर कर झटपट स्वर्ग में क्यों नहीं चले जाते ? इसीलिए बेचारा निर्दोष पशु मानो याज्ञिक से निवेदन करता है—"महाशय ! मुझे स्वर्ग में जाने की कोई ख्वाहिश नहीं है। मैं आपसे स्वर्ग या और कुछ मांग भी नहीं रहा हूं। मैं तो हमेशा घास-तिनका खा कर ही संतुष्ट रहता हूँ। इसलिए मुझे स्वर्ग का लालच दिखा कर इस प्रकार मारना उचित नहीं है। अगर यज्ञ में मारे हुए सचमुच स्वर्ग में जाते हों तो आप अपने माता, पिता या अन्य बन्धुओं को यज्ञ में होम करके स्वर्ग क्यों नहीं भेज देते ?" 'मधुपर्क आदि हिंसा कल्याणकारिणी होती है, अन्य नहीं होती' ; यह किसी स्वच्छन्दाचारी के वचन हैं। हिंसा हिंसा में कोई अन्तर कैसे हो सकता है कि एक हिंसा तो कल्याण-कारिणी हो और दूसरी हिंसा अकल्याणकारिणी हो। विष विष में क्या कोई अन्तर होता है ? इसलिए पुण्यात्माओं को सब प्रकार की हिंसाओं का त्याग करना चाहिये। जैसा कि दशवैकालिकसूत्र (जैनागम) में कहा है—सभी जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता। इसलिए निर्ग्रन्थमुनि प्राणिवध-से घोर कर्म का त्याग करते हैं।' पहले जो कहा गया था कि **'पशुवधपूर्वक किया गया यज्ञ खुद को तथा उस पशु को उत्तम गति प्रदान करता है'** यह कथन भी अतिसाहसिक के सिवाय कौन करेगा ? हो सकता है, मरने वाले अहिंसक पशु को (उसकी शुभभावना हो तो) अकाम-निर्जरा से उत्तमगति प्राप्त हो जाय, मगर यज्ञ में पशुवधकर्ता या पशुवधप्रेरक याज्ञिक ब्राह्मण को उत्तमगति कैसे सम्भव हो सकती है ?

इस विषय का उपसंहार करते हुए कहते हैं—

देवोपहारव्याजेन यज्ञव्याजेन येऽथवा।
घ्नन्ति जन्तून् गतघृणा घोरां ते यान्ति दुर्गतिम् ॥३९॥

अर्थ

देवों को बलिदान देने (भेंट चढ़ाने) के बहाने अथवा यज्ञ के बहाने जो निर्दय हो कर जीवों को मारते हैं, वे घोर दुर्गति में जाते हैं।

व्याख्या

भैरव, चण्डी आदि देव-देवियों को बलिदान देने के लिए अथवा महानवमी, माघ-अष्टमी, चैत्र-अष्टमी, श्रावण शुक्ला एकादशी आदि पर्वदिनों में देवपूजा के निमित्त से भेंट चढ़ाने के लिए जीवों का वध करते हैं, वे नरक आदि भयंकर गतियों में जाते हैं। यहां देवता को भेंट चढ़ाने आदि निमित्त का विशेषरूप से कथन किया गया है। और उपसंहार में कहा गया है—'यज्ञ के बहाने से।' जब निर्दोष और स्वाधीन धर्मसाधन मौजूद हैं तो फिर सदोष और पराधीन धर्मसाधनों को पकड़े रखना कथमपि हितावह नहीं माना जा सकता। घर के आंगन में उगे हुए आक में ही मधु मिल जाय तो पहाड़ पर जाने की फिजूल मेहनत क्यों की जाय ?

हिंसाधर्मियों का और भी बौद्धिक दिवालियापन सूचित करते है—

शमशीलदयामूलं हित्वा धर्मं जगद्धितम् ।
अहो हिंसाऽपि धर्म्माय जगदे मन्दबुद्धिभिः ॥४०॥

अर्थ

जिसकी जड़ में शम, शील, और दया है, ऐसे जगत्कल्याणकारी धर्म को छोड़ कर मंदबुद्धि लोगों ने हिंसा को भी धर्म की कारणभूत बता दी है, यह बड़े खेद की बात है।

व्याख्या

कषायों और इन्द्रियों पर विजयरूप शम, सुन्दर स्वभावरूप शील और जीवों पर अनुकम्पा-रूप दया ; ये तीनों जिस धर्म के मूल में हैं, वह धर्म अभ्युदय (इहलौकिक उन्नति) और निःश्रेयस (पारलौकिक कल्याण या मोक्ष) का कारण है। इस प्रकार का धर्म जगत् के लिए हितकर होता है। परन्तु खेद है कि ऐसे शमशीलादिमय धर्म के साधनों को छोड़ कर हिंसादि को धर्मसाधन बताते हैं, और वास्तविक धर्मसाधनों की उपेक्षा करते हैं। इस प्रकार उलटा प्रतिपादन करने वालों की बुद्धिमन्दता स्पष्ट प्रतीत होती है।

यहां तक लोभमूलक शान्ति के निमित्त से की जाने वाली लोभमूलक हिंसा, कुलपरम्परागत हिंसा, यज्ञीय हिंसा या देवबलि के निमित्त से की जाने वाली हिंसा का निषेध किया; अब पितृपूजा-विषयक हिंसा के सम्बन्ध में विवेचन बाकी है, वह दूसरे शास्त्र (मनुस्मृति के तीसरे अध्याय) से ज्यों का त्यों ले कर निम्नोक्त ६ श्लोकों में प्रस्तुत करते हैं—

हविर्यच्चिररात्राय यच्चानन्त्याय कल्पते ।
पितृभ्यो विधिवद्दत्तं, तत्प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥४१॥

तिलव्रीहियवैर्माषैरद्‌भिर्मूलफलेन च ।
दत्तेन मासं प्रीयन्ते विधिवत् पितरो नृणाम् ॥४२॥

द्वौ मासौ मत्स्यमांसेन त्रीन् मासान् हारिणेन तु ।
औरभ्रेणाऽथ चतुरः शाकुनेनेह पञ्च तु ॥४३॥

षण्मासांश्छागमांसेन पार्षतेनेह सप्त वै ।
अष्टावेणस्य मांसेन रौरवेण नवैव तु ॥४४॥

दशमासांस्तु तृप्यन्ति वराहमहिषामिषैः ।
शशकुर्मयोर्मांसेन मासानेकादशैव तु ॥४५॥

संवत्सरं तु गव्येन पयसा पायसेन तु ।
वार्ध्रीणसस्य मांसेन तृप्तिर्द्वादशवार्षिकी ॥४६॥

अर्थ

जो हवि (बलि) चिरकाल तक और किसी समय अनन्तकाल दी जाने का विधान है, इन दोनों प्रकार की बलि विधिपूर्वक पितरों को दी जाय तो उन्हें (पिता आदि पूर्वजों को) तृप्ति होती है। पितृतर्पण की विधि क्या है? यह सब मैं पूर्णरूप से कहूंगा। तिल, चावल, जौ, उड़द, जल, कन्दमूल और फल की हवि (बलि) विधिपूर्वक देने से मनुष्यों के पितर (पिता आदि पूर्वज) एक मास तक तृप्त होते हैं; मछली के मांस की बलि देने से दो मास तक, हिरण के मांस से तीन महीने तक, भेड़ के मांस से चार महीने तक, पक्षियों के मांस से ५ महीने तक, पार्षत नामक हिरण के मांस से ७ महीने तक, रौरवजाति के मृग के मांस से नौ महीने तक, सूअर और भैंसे के मांस से १० महीने तक तथा खरगोश और कछुए के मांस से ग्यारह महीने तक पितर तृप्त होते हैं। गाय के दूध और दूध की बनी हुई खीर की हवि से बारह महीने (एक वर्ष) तक पितर तृप्त हो जाते हैं। इन्द्रियबल से क्षीण बूढ़े सफेद बकरे की बलि दी जाय तो उसके मांस से पितर आदि पूर्वजों को बारह वर्ष तक तृप्ति हो जाती है। पूर्वोक्त ४६वें श्लोक में श्रुति और अनुमति इन दोनों में से श्रुति बलवती होने से 'गव्येन पयसा' एवं 'पायसेन' शब्द से क्रमशः गाय का मांस या गाय के मांस की खीर अर्थ न लगा कर, गाय का दूध और दूध की खीर अर्थ ग्रहण करना चाहिए। कई व्याख्याकार पायस शब्द की व्याख्या यों करते हैं कि मांस के साथ पका हुआ दूध अथवा दूध से बना हुआ दही आदि पायस कहलाता है। अथवा दूध में पके हुए चावल, जिसे दूधपाक या खीर कहते हैं; वह भी पायस कहलाता है।

पितृतर्पण के निमित्त से हिंसा का उपदेश देने वाले पूर्वोक्त शास्त्रवचन उद्धृत करके अब उस हिंसा से होने वाले दोष बताते हैं—

इति स्मृत्यनुसारेण पितृणां तर्पणाय या ।
मूढैर्विधीयते हिंसा, साऽपि दुर्गतिहेतवे ॥४७॥

अर्थ

इस प्रकार स्मृतिवाक्यानुसार पितरों के तर्पण के लिए मूढ़ जो हिंसा करते हैं, वह भी उनके लिए दुर्गति का कारण बनती है।

व्याख्या

पूर्वोक्त स्मृति (धर्मसंहिता) आदि में उक्त—'**पिता दादा और परदादा को पिंड अर्पण करे**', इत्यादि वचनों के अनुसार पितृवंशजों के तर्पण करने हेतु मूढ (विवेकविकल) जो हिंसा करते हैं, उसके पीछे मांसलोलुपता आदि ही कारण नहीं है, वरन् नरक आदि दुर्गति की प्राप्ति भी कारणरूप है : 'जरा-सी हिंसा नरक-जनक नहीं बनेगी, ऐसा मत समझना। मतलब यह है कि एक तो किसी को उपदेश न देकर स्वय उक्त निमित्त से हिंसा करता है, वह तो थोड़ी-सी हिंसा से स्वयं नरकादि दुर्गति में जा कर उसका फल भोग लेता है, लेकिन जो पिता आदि पूर्वजों की तृप्ति के लिए विस्तृतरूप मे दूसरों को उक्त हिंसा के लिए प्रेरित करता है, उपदेश देता है. और अनेक भोले जीवों की बुद्धि भ्रान्त कर देता है, वह अनेकों लोगों द्वारा हिंसा करवा कर भयंकर नरक में उन्हें पहुंचाता है, खुद भी घोर नरक के गड्ढे में गिरता है। तिल, चावल या मछली के मांस से जो पितरों की तृप्ति होने का विधान किया गया है, वह भी भ्रान्ति है। यदि मरे हुए जीवों की इन चीजों से तृप्ति हो जाती हो तो बुझे हुए दीपक में सिर्फ तेल डालने से उस दीपक की लौ बढ़ जानी चाहिए। हिंसा केवल दुर्गति का कारण है, इतना ही नहीं, जिन जीवों की हिंसा की जाती है, उनके साथ वैर-विरोध बधने का भी कारण है। इसीलिए हिंसक को इस लोक और परलोक में सर्वत्र हिंसा के कारण सबसे भय लगता रहता है। मगर अहिंसक तो समस्त जीवों को अभयदान देने में शूरवीर होता है, इस कारण उसे किसी भी तरफ से किसी से भय नहीं होता। इसी बात की पुष्टि करते है —

यो भूतेष्वभयं दद्यात्, भूतेभ्यस्तस्य नो भयम्।
यादृग् वितीर्यते दानं तादृगासाद्यते फलम् ॥४८॥

अर्थ

जो जीवों को अभयदान देता है, उसे उन प्राणियों की ओर से कोई भय नहीं होता, क्योंकि जो जिस प्रकार का दान देता है, वह उसी प्रकार का फल प्राप्त करता है।

व्याख्या

इस तरह यहाँ तक हिंसा में तत्पर मनुष्यों को उनकी हिंसा का नरकादि दुर्गतिरूप फल बताया। अब निन्द्यचरित्र हिंसक देवों की मूढजनों द्वारा की जाने वाली लोकप्रसिद्ध पूजा का खण्डन करते हैं—

कोदण्ड-दण्ड - चक्रासि-शूल-शक्तिधराः सुराः।
हिंसका अपि हा ! कष्टं, पूज्यन्ते देवताधिया ॥४९॥

अर्थ

'अहा ! बड़ा अफसोस है कि धनुष्य, दण्ड, चक्र, तलवार, शूल और भाला (शक्ति) रखने (धारण करने) वाले हिंसक देव देवत्व-बुद्धि (दृष्टि) से पूजे जाते हैं।'

व्याख्या

अत्यन्त खेद की बात है कि रुद्र आदि हिंसापरायण देव आज अपढ़ और सामान्य लोगों द्वारा विविध पुष्प, फल आदि (एवं मद्य-मांस आदि) से पूजे जाते है, और वह भी देवत्वबुद्धि से। उक्त देवों की हिंसकता का कारण उनके साथ रहने वाले शस्त्र-अस्त्र आदि चिह्न हैं—यानी धनुष्य, दण्ड,

चक्र, खड्ग, त्रिशूल एवं भाला आदि हथियार उनकी हिंसाकारकता प्रगट करते हैं। वे हिंसा करने वाले न भी हों, लेकिन धनुष आदि प्रतीक हिंसा के बोलते चिह्न हैं। अगर वे हिंसा नहीं करते हैं तो हथियार रखने की क्या जरूरत है? उनका शस्त्रधारण करना अनुचित है। परन्तु लोक में प्रसिद्ध है कि रुद्र धनुषधारी हैं, यमराज दण्डधारी हैं, चक्र और खड्ग के धारक विष्णु हैं, त्रिशूलधारी शिव हैं, और शक्तिधारी कार्तिकेय हैं। उपलक्षण से अन्य शस्त्रास्त्रधारी अन्यान्य देवों के विषय में भी समझ लेना चाहिए।

इस प्रकार हिंसा का विस्तृतरूप से निषेध करके अब दो श्लोकों में अहिंसा की महिमा बताते हैं –

मातेव सर्वभूतानामहिंसा हितकारिणी।
अहिंसैव हि संसारमरावमृतसारणिः ॥५०॥
अहिंसादुःख—दावाग्नि-प्रावृषेण्यघनावली।
भवभ्रमिरुगार्तानामहिंसा परमौषधी ॥५१॥

अर्थ

अहिंसा माता की तरह समस्त प्राणियों का हित करने वाली है। अहिंसा ही इस संसाररूपी मरुभूमि (रेगिस्तान) में अमृत बहाने वाली सरिता है। अहिंसा दुःखरूपी दावाग्नि को शान्त करने के लिए वर्षाऋतु की मेघघटा है, तथा भवभ्रमणरूपी रोग से पीड़ित जीवों के लिए अहिंसा परम औषधि है।

अब अहिंसापालन करने का फल बताते हैं –

दीर्घमायुः परं रूपमारोग्यं श्लाघनीयता।
अहिंसायाः फलं सर्वं, किमन्यत् कामदैव सा ॥५२॥

अर्थ

दीर्घ आयुष्य, उत्तम रूप, आरोग्य, प्रशंसनीयता; आदि सब अहिंसा के ही सुफल हैं। अधिक क्या कहें? अहिंसा कामधेनु की तरह समस्त मनोवाञ्छित फल देती है।

व्याख्या

अहिंसाव्रत के पालन में तत्पर व्यक्ति जब दूसरे के आयुष्य को बढ़ाता है तो यह निःसंदेह कहा जा सकता है कि उसे भी जन्म-जन्मान्तर में लम्बा आयुष्य मिलता है। दूसरे के रूप का नाश न करने से वह स्वतः ही उत्तम रूप पाता है। दूसरों को अस्वस्थ बना देने वाली हिंसा का त्याग करके जब अहिंसक दूसरों को स्वस्थताप्राप्ति कराता है तो वह स्वतः परमस्वास्थ्यरूप निरोगता प्राप्त करता है और समस्त जीवों को अभयदान देने से वे प्रसन्न होते हैं, और उनके द्वारा प्रशंसा प्राप्त करता है। ये सारे अहिंसा के फल हैं। इस अहिंसा का साधक जिस-जिस प्रकार की मनोवाञ्छा करता है, उसे भी अहिंसा से प्राप्त कर लेता है। उपलक्षण से अहिंसा स्वर्ग और मोक्ष का सुख देने वाली है।

अहिंसा के सम्बन्ध में और भी कहते हैं -

हेमाद्रिः पर्वतानां, हरिरमृतभुजां, चक्रवर्ती नराणाम्।
शीतांशुर्ज्योतिषां स्वस्तरुरवनिरुहां चंडरोचिर्ग्रहाणाम् ॥

सिन्धुस्तोयाशयानां, जिनपतिरसुरामर्त्यमर्त्याधिपानां,
यद्वत् तद्वत् व्रतानामधिपतिपदवीं यात्यहिंसा किमन्यत् ॥१॥

जैसे पर्वतों में सुमेरु पर्वत, देवों में इन्द्र, मनुष्यों मे चक्रवर्ती, ज्योतिषियों मे चन्द्र, वृक्षों में कल्पतरु, ग्रहों मे सूर्य, जलाशयों में समुद्र, असुरों, सुरों और मनुष्यों के अधिपति जिनपति हैं, वैसे ही सर्वव्रतों में अहिंसा अधिपति का पद प्राप्त करती है। अधिक क्या कहें ?

इस प्रकार विस्तार से अहिंसाव्रत के सम्बन्ध में कह चुके। अब उसके आगे प्रसंगवश सत्यव्रत (सत्याणुव्रत) का वर्णन करते हैं। सत्यव्रत की उपलब्धि झूठ (असत्य) के त्याग के बिना नहीं हो सकती। इसलिए असत्यवचन का दुष्परिणाम (कुफल) बता कर उसके त्याग के लिए प्रेरित करते हैं—

मन्मनत्वं काहलत्वं मूकत्वं मुखरोगिताम् ।
वीक्ष्यासत्यफलं कन्यालोकाद्यसत्यमुत्सृजेत् ॥५३॥

अर्थ

समझ में न आए, इस प्रकार के उच्चारण के कारण स्पष्ट बोलने की अक्षमता, तोतलापन, मूकता (गूंगापन), मुंह में रोग पैदा हो जाना आदि सब असत्य के फल हैं, यह जान कर कन्या आदि के सम्बन्ध में असत्य का त्याग करना चाहिए।

व्याख्या

दूसरे को अपनी बात समझ में न आए, इस प्रकार का हकलाते हुए अस्पष्ट उच्चारण करना, तुतलाते हुए बोलना, गूंगा होना, मुंह में कोई रोग पैदा हो जाना; या दूसरी जीभ पैदा हो जाना, ये सब असत्य बोलने के फल हैं। यह देख कर शास्त्रबल से असत्य का स्वरूप जान कर श्रावक को चाहिए कि वह स्थूल असत्य का त्याग करे। कहा भी है—असत्य वचन बोलने वाला गूंगा, जड़बुद्धि, अंगविकल (अपाहिज), तोतला, अथवा जिसकी बोली किसी को अच्छी न लगे, इस प्रकार की अप्रिय बोली वाला होता है, उसके मुंह से बदबू निकलती रहती है।

कन्या आदि के सम्बन्ध मे जो स्थूल असत्य है, उसका स्वरूप बताते हैं —

कन्या-गो-भूम्यलीकानि, न्यासापहरणं तथा ।
कूटसाक्ष्यं च पञ्चेति स्थूलासत्यान्यकीर्तयन् ॥५४॥

अर्थ

कन्यासम्बन्धी, गोसम्बन्धी, भूमिसम्बन्धी, धरोहर या गिरवी (बन्धक) रखी हुई वस्तु के अपलाप सम्बन्धी और कूटसाक्षी (झूठी गवाही) सम्बन्धी; ये पांच स्थूल असत्य कहे हैं।

व्याख्या

१—कन्याविषयक असत्य—कन्या के सम्बन्ध में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से असत्य बोलना। जैसे—अच्छी कन्या को खराब और खराब कन्या को अच्छी कहना, या एक कन्या के बदले दूसरी कन्या बताना, एक देश या प्रान्त की कन्या को दूसरे देश या प्रान्त की बताना, छोटी उम्र की कन्या को बड़ी उम्र की या बड़ी उम्र की कन्या को छोटी उम्र की बताना। इसी तरह अमुक गुण व

योग्यता वाली कन्या को दुर्गुणी या अयोग्य बताना अथवा अमुक दुर्गुण या अयोग्यता वाली कन्या को गुणी व योग्य बताना। कन्या शब्द से उपलक्षण में कुमार, युवक, वृद्ध आदि सभी द्विपद मनुष्यों का ग्रहण कर लेना चाहिए।

२—गो-विषयक असत्य—गाय के सम्बन्ध में भी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से असत्य बोलना। जैसे—दुबली, पतली, मरियल गाय को हृष्ट-पुष्ट, सबल और सुडौल बताना, मारवाड़ी गाय को गुजराती बताना या गुजराती आदि को मारवाड़ देश की बताना; अधिक उम्र की, बूढ़ी या अधिक बार ब्याही हुई गाय को कम उम्र की, जवान व एक-दो बार ब्याही हुई बताना या इससे विपरीत बताना, कम दूध देने वाली को बहुत दूध देने वाली या इससे विपरीत बताना; गुणवान् या सीधी गाय को दुर्गुणी या मरकनी बताना, या मरकनी एवं दुर्गुणी गाय को सीधी व गुणी बताना। गो शब्द से उपलक्षण से यहां समग्र चौपाये जानवरों सम्बन्धी असत्य समझ लेना चाहिए।

३—भूमि-विषयक असत्य—भूमि-सम्बन्धी झूठ भी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से चार प्रकार का समझ लेना चाहिए। जैसे—अपनी जमीन को पराई कहना या पराई को अपनी कहना, उपजाऊ जमीन को बंजर और बंजर को उपजाऊ कहना, एक जगह की जमीन के बदले दूसरे जगह की जमीन बताना, अधिक काल की जोती हुई या अधिकृत जमीन को कम काल की जोती हुई या अनधिकृत बताना, बढ़िया जमीन को खराब और खराब को बढ़िया बताना। जमीन के विषय में लेने, न लेने की भावना के छिपाना। यहां उपलक्षण से भूमि शब्द से भूमि पर पैदा होने वाले पदार्थ, या रुपये, धन, जायदाद, मकानात आदि सभी से सम्बन्धित असत्य के विषय में समझ लेना चाहिए।

कोई यहां शंका कर सकता है कि यहां समस्त द्विपद या समस्त चतुष्पद अथवा समस्त निर्जीव पदार्थ से सम्बन्धित असत्य को स्थूल असत्य न बता कर कन्या, गो या भूमि के सम्बन्ध में बोले जाने वाले असत्य का ही निर्देश क्यों किया? इसका समाधान यों करते हैं कि लोकव्यवहार में कन्या, गौ या भूमि के सम्बन्ध में बहुत पवित्र कल्पनाएँ है, भारतीय संस्कृति में कन्या (कुंआरी) निर्विकारी होने के कारण पवित्र मानी जाती है, गाय और पृथ्वी को 'माता' माना गया है। इसलिए लोकादरप्राप्त इन तीनों के बारे में असत्य बोलना या असत्य बोलने वाला अत्यन्त निन्द्य माना जाता है। इसलिए द्विपद; चतुष्पद या निर्जीव पदार्थों, को मुख्यरूप से नहीं बताया गया, गौणरूप से तो इन तीनों के अन्तर्गत द्विपद, चतुष्पद या समस्त निर्जीव पदार्थों का समावेश हो जाता है।

४—न्यासापहरण-विषयक असत्य किसी को प्रामाणिक या ईमानदार मान कर सुरक्षा के लिए या संकट आ पड़ने पर बदले में कुछ अर्थराशि ले कर अमानत के तौर पर किसी के पास अपना धन, मकान या कोई भी चीज रखी जाती है, उसे न्यास, धरोहर, गिरवी या बंधक कहते है। ऐसे न्यास के विषय में झूठ बोलना, या रखने वाले को कमोवेश बताना, अथवा अधिक दिन हो जाने पर लोभवश उसे हड़प जाना, अथवा धरोहर रखने वाला अपनी चीज मांगने आए, तब मुकर जाना, उलटे उसे ही झूठा बता कर बदनाम करना या डांटना-फटकारना न्यासापहरण असत्य कहलाता है। यह भी द्रव्य, क्षेत्र काल और भाव के भेद से चार प्रकार का हो सकता है।

५—कूटसाक्षी-विषयक असत्य—किसी झूठी बात को सिद्ध करने के लिए झूठी गवाही देना या झूठे गवाह तैयार करके झूठी साक्षी दिलाना कूटसाक्षी-विषयक असत्य कहलाता है। हिंसा असत्य,

दम्भ, कपट और कामोत्तेजना के पोषक शास्त्र, ग्रन्थ या वचनों को मिथ्या जानते हुए भी उनकी प्रशंसा करना, उनका समर्थन करना अथवा किसी की झूठी या पापपूर्ण बात को भी सच्ची सिद्ध करने के लिए झूठ बोल कर, झूठी सफाई देना ये सब कूटसाक्षी-विषयक असत्य के प्रकार हैं। यह द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से चार प्रकार का हो सकता है।

दूसरे धर्मों में प्रसिद्ध पापरूप लक्षणविशेष की अपेक्षा से यह पूर्वोक्त चारों असत्यों से अलग बताया गया है।

ये पांचों क्लिष्ट आशय—बुरे इरादे से उत्पन्न होने के कारण राज्य-दण्डनीय और लोक भण्डनीय – निन्द्य माने जाते हैं, इसलिए इन्हें स्थूल असत्य (मृषावाद) समझना चाहिए।

इन पांचों स्थूल असत्यों का विशेष रूप से प्रतिपादन कर इनका निषेध करते हैं—

सर्वलोकविरुद्धं यद् यद् विश्वसितघातकम्।
यद् विपक्षश्च भूतस्य, न वदेत् तदसूनृतम् ॥५५॥

अर्थ

जो सर्वलोकविरुद्ध हो, जो विश्वासघात करने वाला हो, और जो पुण्य का विपक्षी हो यानी पाप का पक्षपाती हो, ऐसा असत्य (स्थूल मृषावाद) नहीं बोलना चाहिए।

व्याख्या

कन्या, गाय और भूमि से सम्बन्धित असत्य सारे जगत् के विरुद्ध और लोक व्यवहार में अत्यन्त निन्दनीय रूप से प्रसिद्ध है, अतः ऐसा असत्य नहीं बोलना चाहिए। धरोहर के लिए असत्य बोलना विश्वासघात-कारक होने से उसका भी त्याग करना चाहिए। तथा पुण्य-धर्म से विरुद्ध अर्थात् धर्मविरुद्ध पापकारक अधर्म को प्रमाण मान कर उस पर विश्वास रखकर झूठी साक्षी नहीं देना चाहिए।

अब असत्य का दुष्फल बताते हुए असत्य के त्याग का उपदेश देते हैं --

असत्यतो लघीयस्त्वम्, असत्याद् [illegible]।
अधोगतिरसत्याच्च, तदसत्यं परित्यजेत् ॥५६॥

अर्थ

असत्य बोलने से व्यक्ति इस लोक में लघुता (बदनामी) पाता है, असत्य से यह मनुष्य झूठा है, इस तरह की निन्दा या अपकीर्ति संसार में होती है। असत्य बोलने से व्यक्ति को नीचगति प्राप्त होती है। इसलिए असत्य का त्याग करना चाहिए।

बुरे इरादे (क्लिष्ट आशय) से असत्य बोलने का चाहे निषेध किया हो, परन्तु कदाचित् प्रमादवश असत्य बोला जाय तो उससे क्या हानि है? इसके उत्तर में कहते हैं—

असत्यवचनं प्राज्ञः प्रमादेनाऽपि नो वदेत्।
श्रेयांसि येन भज्यन्ते, वात्ययेव महाद्रुमाः ॥५७॥

अर्थ

समझदार व्यक्ति प्रमादपूर्वक (अज्ञानता, मोह, अन्धविश्वास या गफलत से) भी असत्य न बोले। जैसे प्रबल अंधड़ से बड़े-बड़े वृक्ष टूट कर नष्ट हो जाते हैं, वैसे ही असत्य महाश्रेयों को नष्ट कर देता है।

व्याख्या

विनष्ट आशय (गलत अभिप्राय) से असत्य बोलने की बात तो दूर रही, अज्ञान, संशय, भ्रान्ति, मजाक, गफलत आदि प्रमाद के वश भी असत्य न बोले। प्रमाद से असत्य वचन बोलने से वह उसी तरह श्रेयस्कर कार्यों को उखाड़ फेंकता है, जिस तरह प्रचंड अंधड़ बड़े-बड़े पेड़ों को उखाड़ फेंकता है। महर्षियों ने आगम में कहा है--जिस साधक को भूतकाल की बात का, वर्तमान काल के तथ्य का और भविष्य में होने वाली घटना का यथार्थरूप से पता न हो, वह 'यह ही है' इस प्रकार की निश्चयकारी भाषा न बोले। भूत, भविष्य और वर्तमान काल में हुई, होने वाली या हो रही जिस बात के बारे में उसे शंका हो, उसे भी यह इसी तरह है' इस प्रकार की निश्चयात्मक भाषा में न कहे; अपितु अतीत, अनागत और वर्तमान काल में घटित हुए या होने वाले, या हो रहे जिस पदार्थ के बारे में शंका न हो, उसके बारे में यह ऐसा है', इस प्रकार कहे।

इस प्रकार के असत्य के चार भेद होते हैं—(१) **भूतनिह्नव**—जो पदार्थ विद्यमान है, उसका छिपाना या अपलाप करना। जैसे 'आत्मा नहीं है, 'पुण्य-पाप, परलोक आदि कुछ भी नहीं हैं। (२) **अभूतसद्भावन**—जो पदार्थ नहीं है, या जिस प्रकार का नहीं है, उसे विद्यमान या तथा प्रकार का बताना। जैसे-यह कहना कि प्रत्येक आत्मा सर्वज्ञ है', या 'सर्वव्यापक' है, अथवा 'आत्मा श्यामक चावल के दाने जितना है या वैसा है। (३) **अर्थान्तर**—एक पदार्थ को दूसरा पदार्थ बतलाना। जैसे—गाय को बैल और बैल को घोड़ा कहना। (४) **गर्हा**—सावद्य, अप्रिय और आक्रोश के वश कोई बात कहना। इस दृष्टि से गर्हा के तीन भेद होते हैं। सावद्य (पापमय) भावना से प्रेरित होकर कथन—जैसे इसे मार डालो, इसे मजा चखा दो, अप्रियभावना से प्रेरित होकर कथन—जैसे यह काना है, यह ढेढ़ है, यह चोर है, यह मुर्दा या मरियल है। आक्रोशवश बोलना—जैसे—'अरे यह तो कुलटा का पुत्र है।' लुच्चे, बदमाश, बेईमान, नीच, हरामजादे! आदि सम्बोधन भी आक्रोशसूचक है। असत्य वचन सर्वथा त्याज्य हैं', यह बता कर अब असत्य से इहलोक में होने वाले दोषों का विवरण प्रस्तुत करते हैं—

असत्यवचना- वैर-विषादाप्रत्ययादयः।
प्रादुःषन्ति न के दोषाः कुपथ्याद् व्याधयो यथा ॥५८॥

अर्थ

असत्य वचन बोलने से वैर, विरोध, पश्चात्ताप, अविश्वास, राज्य आदि में अमानता, बदनामी आदि दोष पैदा होते हैं। जैसे कुपथ्य (बदपरहेजी) करने से अनेकों रोग पैदा हो जाते हैं, वैसे ही असत्य बोलने से कौन-से दोष नहीं हैं, जो पैदा नहीं होते? अर्थात् असत्य से भी संसार में अनेक दोष पैदा होते हैं।

अब मृषावाद से परलोक में होने वाला फल बताते हैं—

निगोदेष्वथ तिर्यक्षु तथा नरकावासेषु ।
उत्पद्यन्ते मृषावादप्रसादेन शरीरिणः ।।५९।।

अर्थ

असत्य-कथन के प्रताप से प्राणी दूसरे जन्मों में अनन्तकायिक निगोद जीवयोनियों में, तिर्यंचयोनियों में, अथवा नरकावासों में उत्पन्न होते हैं ।

अब असत्य वचन का त्याग करने वाले कालिकाचार्य एवं असत्य बोलने वाले वसुराजा का दृष्टान्त दे कर असत्य से विरति की प्रेरणा देते हैं—

ब्रूयाद् भियोपरोधाद वा नासत्यं कालिकार्यवत् ।
यस्तु ब्रूते स नरकं प्रयाति वसुराजवत् ।।६०।।

अर्थ

कालिकाचार्य कतई असत्य न बोले, उसी तरह मृत्यु या जबर्दस्त आदि के भय से अथवा किसी के अनुरोध या लिहाज-मुलाहिजे में आ कर कतई असत्य न बोले। परन्तु उपर्युक्त कारणों के वशीभूत हो कर जो असत्य बोलता है, वह वसुराजा की तरह नरक में जाता है ।

दोनों दृष्टान्त क्रमशः इस प्रकार हैं—

सत्य पर दृढ़ कालिकाचार्य

प्राचीनकाल में पृथ्वीरमणी के मुकुटमणि के समान 'तुरमणी' नाम की एक नगरी थी, जहां जितशत्रु नामक राजा राज्य करता था । इसी नगरी में रुद्रा नाम की एक ब्राह्मणी रहती थी । उसके एक पुत्र था, जिसका नाम दत्त था । दत्त अत्यन्त उच्छृंखल, जुआरी और शराबी था । इन्हीं दुर्व्यसनों में मस्त रहने में वह आनन्द मानता था । स्वच्छन्दतापूर्वक अपनी इच्छानुसार बेरोकटोक प्रवृत्ति करने के उद्देश्य से वह राजा की सेवा में रहने लगा । राजा ने भी छाया के समान साथ रहने वाले अपने पारिपार्श्विक सहयोगियों में उसे मुखिया बना दिया । बढ़ती हुई जहरीली बेल को जरा-सा पेड़ का सहारा मिल जाय तो वह आगे से आगे बढ़ती या ऊपर फैलती ही जाती है ।' यही हाल दत्त का हुआ । इसने किसी न किसी युक्ति से भेदनीति से प्रजा को भड़का कर राजा को देश-निकाला दिलवा दिया । और 'पापात्मा और कबूतर दोनों अपने आश्रय को उखाड़ते ही हैं ;' राजा को इस प्रकार निर्वासित करके वह पापात्मा दत्त स्वयं राजगद्दी पर बैठ गया । नीच व्यक्ति को पैर के अग्रभाग का जरा-सा सहारा देने पर वह धीरे-धीरे सिर तक चढ़ जाता है । अब तो दत्त धर्मबुद्धि से पशुवधपूर्वक महायज्ञ करने लगा, मानो पापरूपी धुंए के सारे विश्व को मलिन कर रहा हो । एक बार मूर्तिमान संयमस्वरूप दत्त के मामा श्रीकालिकाचार्य विचरण करते हुए उस नगरी में पधारे ।

मिथ्यात्व से मूढ़ बने हुए राजा दत्त की आचार्य के पास जाने की कतई इच्छा नहीं थी, किन्तु माता के अत्यन्त दबाव से वह गृहस्थपक्षीय मामा (आचार्य) के पास अनमने भाव से पहुंचा । वहाँ जाते ही शराब के नशे में चूर उन्मत्त के समान उद्धतता-पूर्वक उसने आचार्य से पूछा—'आचार्यजी !

यदि आप ज्ञाता हों तो यज्ञ का फल बताइए। यह सुन कर श्रीकालिकाचार्य ने कहा—"भद्र! यदि तुम धर्म के विषय में पूछ रहे हो तो सुनो। जो अपने लिए अप्रिय है, वह व्यवहार दूसरों के प्रति भी नहीं करना, यही सबसे बड़ा धर्म है।" दत्त ने अपनी बात को पुनः दोहराते हुए कहा—"अजी! मैं तो यज्ञ का फल पूछ रहा हूं। आप बताने लगे धर्म की बात।" इस पर आचार्यश्री ने कहा—हिंसादिमूलक यज्ञ जीवन के लिए कल्याणकारी नहीं है, प्रत्युत उससे पापकर्म का ही बन्ध होता है।" इससे उसका समाधान हो जाना चाहिये था, लेकिन आचार्य को उत्तेजित करने की दृष्टि से दुर्बुद्धि दत्त ने फिर वही बात पूछी—"हिंसा-अहिंसा की बातें तो भोले लोगों को बहकाने की-सी हैं। मुझे तो आप दो टूक उत्तर दीजिए कि 'यज्ञ का फल क्या है?" आचार्यश्री ने सहजभाव से उत्तर दिया—'ऐसे यज्ञ का फल नरक है।' इस पर क्रुद्ध हो कर दत्त ने कहा—"मुझे कैसे विश्वास हो कि इस यज्ञ का फल नरक ही मिलेगा? तब भविष्यद्रष्टा आचार्य ने उसे उतने ही प्रेम से उत्तर दिया—'वत्स! विश्वास तो तुम्हें तब हो ही जायगा, जब आज से सातवें दिन तुम चांडाल की श्ववन-कुंभी मे पकाये जाओगे।" इस पर दत्त क्रोध से उछलता और आँखें लाल करके भौहें तानते हुए भूताविष्ट की तरह बोला—इसका क्या प्रमाण है?" कालिकाचार्य ने सज्जनतापूर्वक उत्तर दिया—"इसका प्रमाण यह है कि चांडाल की कुंभी मे पकाये जाने से पहले तुम्हारे मुंह में एकाएक विष्ठा पड़ेगी।" रोष में आ कर दत्त ने उद्दण्डता से पूछा—'तो बताओ! तुम्हारी मौत कैसे और कब होगी?" आचार्य ने कहा—"मैं किसी के हाथ से नहीं मारा जाऊँगा। मेरी मृत्यु अपने समय पर स्वाभाविक रूप से होगी; और मर कर मैं स्वर्ग में जाऊँगा।" दत्त ने आगबबूला हो कर अपने सेवकों को आदेश दिया इस दुर्बुद्धि नालायक आचार्य को गिरफ्तार कर लो और कैद में डाल दो, ताकि वहाँ पड़ा-पड़ा सड़ता रहे!" आज्ञा मिलते ही सेवकों ने कालिकाचार्य को पकड़ कर कैद में डाल दिया।

इधर पापकर्मी दत्त से क्षुब्ध एवं पीड़ित सामन्तों ने भूतपूर्व राजा को बुला कर राज्य सौंपने का निश्चय किया। आशंकाग्रस्त दत्त भी सिंहगर्जना से डर कर झाड़ियों में छिपे हुए हाथी की तरह अपने घर में छिप कर रहा। दैवयोग से दत्त ने सातवें दिन को भूल से आठवां दिन समझ कर कोतवाल आदि को पहले से ही राजमार्ग पर चौकी-पहरे की व्यवस्था का आदेश दे कर सुरक्षा का प्रबन्ध करवाया। ठीक सातवें दिन दुष्ट दत्त यह दुर्विचार करके घोड़े पर सवार हो कर बाहर निकला कि "आज उस दुष्ट मुनि को पशु की तरह मार कर मजा चखा दूंगा।" उधर दत्त से पहले ही प्रातःकाल एक माली फूलों का टोकरा लिये नगर में प्रवेश कर रहा था कि रास्ते में उसे जोर से टट्टी की हाजत हुई। उसने हाजत को रोकना उचित न समझ कर सड़क के किनारे ही जरा-सी ओट में टट्टी बैठ कर कहीं सिपाही न पकड़ लें, इस डर से उस पर कुछ फूल डाल कर उसे ढक दी, और आगे चल दिया। कुछ ही देर बाद दत्त का घोड़ा तेजी से दौड़ा आरहा था कि एकाएक दौड़ते हुए घोड़े के एक खुर से उछल कर माली की वह विष्टा दत्त के मुंह में जा पड़ी। सच है **'महाव्रती संयमी की वाणी मिथ्या नहीं होती।'** शिला से आहत की तरह दत्त भी इस अप्रत्याशित घटना से निराश और ढीला हो कर सामन्तों को कुछ कहे सुने बिना ही अपने स्थान की ओर वापिस लौट चला। दत्त को वापिस आते देख प्रजाजनों ने सोचा—'इसे अपनी गुप्तमन्त्रणा का कुछ भी पता नहीं है।' अतः अपनी पूर्वनिर्धारित योजनानुसार दत्त को घर में प्रवेश करने से पहले ही बैल की तरह उन्होंने घेर लिया और बांधकर पकड़ लिया। जैसे

रात्रि व्यतीत होने पर सूर्य अपने तेज के साथ प्रगट होता है वैसे ही भूतपूर्व राजा उसी समय प्रगट हुआ। उसे प्रजाजनों ने राजगद्दी पर पुनः बिठा दिया था। पिटारी से निकल कर भागते हुए सर्प के समान दुष्ट दत्त को देखते ही भूतपूर्व राजा की क्रोधाग्नि भड़क उठी। उसने नरककुम्भी के समान चाण्डाल की कुंभी (भट्टी) में दत्त को पकड़ कर डाला और नीचे से उसमें आग लगा दी। कुंभी गर्म होने लगी तब रोते-चिल्लाते दत्त को शिकारी कुत्तों ने झपट कर फाड़ कर उसी तरह मार डाला, जैसे नरक में परमाधार्मिक असुर नारकों को फाड़ कर मारते हैं।

इधर भूतपूर्व राजा ने कालकाचार्य जैसे सत्यवादी को कारागार से मुक्त किया। जिस तरह कालकाचार्य राजभय से, किसी के आग्रह या मुलाहिजे में आ कर झूठ नहीं बोले, न झूठी लल्लोचप्पो करे; बल्कि अपने सत्यमहाव्रत की प्रतिज्ञा पर दृढ रहे, इसी तरह बुद्धिमान पुरुष कदापि झूठ न बोले और अपने सत्यमहाव्रत को सुरक्षित रखे।

असत्य बोलने से वसुराजा की दुर्गति

चेदी देश में शुक्तिमती नदी के किनारे उस की क्रीडासखी की तरह शुक्तिमती नगरी बसी हुई थी। वहाँ अपने तेज से अद्भुत माणिक्य-रत्न के समान, पृथ्वी के मुकुट के तुल्य अभिचन्द्र राजा राज्य करता था। पाण्डुराजा के यहाँ जैसे सत्यवादी युधिष्ठिर पैदा हुए थे, वैसे ही राजा अभिचन्द्र के यहाँ सत्यवादी वसु का जन्म हुआ। किशोर-अवस्था होते ही वसुराजकुमार को क्षीरकदम्बक गुरु के पास पढ़ने भेजा। उस समय क्षीरकदम्बक उपाध्याय के पास उनका पुत्र पर्वत, राजपुत्र वसु और विद्यार्थी नारद ये तीनों साथ-साथ अध्ययन करते थे। एक बार ये तीनों विद्यार्थी अध्ययन के परिश्रम के कारण थक कर मकान की छत पर सो गए। उस समय आकाश में उड़ कर जाते हुए जंघाचारी मुनियों ने इन्हें देख कर परस्पर कहा - "इन तीनों में से एक स्वर्ग में जायगा और दो नरक में जायेंगे।" क्षीरकदम्बक उपाध्याय ने यह वार्तालाप सुना और वे गहरी चिन्ता में डूब गए। उन्हें खेद हुआ कि 'मैं इनका अध्यापक और मेरे पढ़ाए हुए विद्यार्थी नरक में जाएँ! जैसी भवितव्यता! फिर भी मुझे यह तो पता लगा लेना चाहिए कि इनमें से कौन स्वर्ग में जाएगा और कौन नरक में जाएँगे?' अतः उन्होंने अपनी सूझबूझ से कुछ विद्या और युक्ति से लाक्षारस से परिपूर्ण आटे के तीन मुर्गे बनाए। एक दिन तीनों विद्यार्थियों को अपने पास बुलाया और प्रत्येक को एक-एक मुर्गा देते हुए कहा —'इसे ले जाओ और इसका वध ऐसी जगह ले जा कर करना, जहाँ कोई न देखता हो।'

वसु और पर्वत दोनों अपने-अपने मुर्गे को ले कर नगरी के बाहर अलग-अलग दिशा में ऐसे एकान्त स्थान में पहुंचे, जहाँ मनुष्यों का आवागमन बिलकुल नहीं होता था। अतः उन्होंने यह सोच कर कि यहाँ कोई देखता नहीं है, अपने-अपने मुर्गे को खत्म कर दिया। महात्मा नारद अपने मुर्गे को ले कर एकान्त जनशून्य प्रदेश में पहुँचा, लेकिन वहाँ उसने इधर-उधर देख कर सोचा कि गुरुजी ने आज्ञा दी है कि 'जहाँ कोई न देखे वहाँ इसे मार कर लाना।' यहाँ तो यह मुर्गा मुझे देख रहा है, मैं इसे देख रहा हूं; आकाशचारी पक्षी वगैरह देख रहे हैं, लोकपाल देखते हैं, और कोई नहीं देखता है तो भी ज्ञानी तो देखते ही होंगे, उनसे तो अंधेरी से अंधेरी जगह में भी गुप्तरूप से की हुई कोई भी बात छिपी नहीं रहती। अतः मैं इस मुर्गे का वध किसी भी जगह नहीं कर सकता, तब फिर गुरुजी की आज्ञा का पालन कैसे होगा?" यों चिन्तनसागर में गोते लगाते-लगाते नारद को एकाएक ज्ञान का प्रकाश हुआ, हो न हो, सदा हिंसापराङमुख दयालु गुरुजी ने हमारी परीक्षा के लिए मुर्गा दिया है, मारना चाहते तो

वे स्वयं मार सकते थे। हम तीनों को एक-एक मुर्गा दे कर मार लाने की आज्ञा दी है, उसके पीछे गुरुजी का आशय हमारी अहिंसाबुद्धि की परीक्षा लेने का है। उनकी आज्ञा का तात्पर्य यही है – 'मुर्गे का वध न करना।' मैं इसे नहीं मारूंगा।' यों निश्चय करके नारद मुर्गे को मारे बिना ही ले कर गुरुजी के पास आया। और गुरुजी से मुर्गा न मार सकने का कारण निवेदन किया। गुरुजी ने मन ही मन निश्चय किया कि यह अवश्य ही स्वर्ग में जाएगा और नारद को स्नेहपूर्वक छाती से लगाया एव ये उद्‌गार निकाले —अच्छा, अच्छा, बहुत अच्छा किया बेटे !"

कुछ ही देर बाद वसु और पर्वत भी आ गए। उन्होंने कहा –"लीजिए गुरुजी ! हमने आपकी आज्ञा का पालन कर दिया। जहाँ कोई नहीं देखता था, उसी जगह ले जा कर अपने-अपने मुर्गे को मार कर लाये हैं। गुरु ने उपालम्भ के स्वर में कहा—'पापात्माओ ! तुमने मेरी आज्ञा पर ठीक तरह से विचार नहीं किया। जिस समय तुमने मुर्गे को मारा, क्या उस समय तुम उसे नही देखते थे ? या वह तुम्हें नहीं देख रहा था ? क्या आकाशचारी पक्षी आदि खेचर नही देखते थे ?" खैर, तुम अयोग्य हो। क्षीरकदम्बक ने निश्चय किया कि ये दोनों नरकगामी प्रतीत होते हैं। तथा उनके प्रति उदासीन हो कर उन दोनों अध्ययन कराने की रुचि खत्म हो गई। विचार करने लगे—वसु और पर्वत को पढ़ाने का श्रम व्यर्थ गया। सच्चे गुरु का उपदेश पात्र के अनुसार फलित होता है। बादलों का पानी स्थानभेद के कारण ही सीप के मुंह में पड़ कर मोती बन जाता है, और वही सांप के मुह में पड़ कर जहर बन जाता है, या ऊषर भूमि या खारी जमीन पर या समुद्र में पड़ कर खारा बन जाता है। अफसोस है, मेरा प्रिय पुत्र और पुत्र से बढ़कर प्रिय शिष्य वसु दोनों नरक में जायेंगे। अतः ऐसे गृहस्थाश्रम म रहने से क्या लाभ ? इस प्रकार विचार करते-करते क्षीरकदम्बक उपाध्याय को संसार से विरक्ति हो गई। उन्होंने तीव्र वैराग्यपूर्वक गुरु से दीक्षा ले ली। अब उनका स्थान उनके व्याख्याविचक्षण पुत्र पर्वत ने ले लिया। गुरु-कृपा से सर्वशास्त्रविशारद बन कर शरद्ऋतु के मेघ के समान निर्मलबुद्धि से युक्त नारद अपनी जन्मभूमि में चले गए। राजाओं में चन्द्र समान अभिचन्द्र राजा ने भी उचित समय पर मुनिदीक्षा ग्रहण कर ली। उनकी राजगद्दी पर वसुदेव के समान वसुराजा विराजमान हुए। वसुराजा इस भूतल पर सत्य-वादी के रूप में प्रसिद्ध हो गया। वसुराजा अपनी इस प्रसिद्धि की सुरक्षा के लिए सत्य ही बोलता था। एक दिन कोई शिकारी शिकार खेलने के लिए विन्ध्यपर्वत पर गया। उसने एक हिरन को लक्ष्य करके तीर छोड़ा ; किन्तु दुर्भाग्य से वह तीर बीच में ही रुक कर गिर पड़ा। तीर के बीच में ही गिर जाने का कारण ढूंढने के लिए वह घटनास्थल पर पहुंचा। हाथ से स्पर्श करते ही उसे मालूम हुआ कि आकाश के समान स्वच्छ कोई स्फटिकशिला है।" अतः उसने सोचा— 'जैसे चन्द्रमा में भूमि की छाया प्रति-बिम्बित होती है, इसी तरह इस शिला के दूसरी ओर प्रतिबिम्बित हिरण को मैंने कही देखा है।" हाथ से स्पर्श किये बिना किसी प्रकार जाना नही जा सकता। अतः यह शिला अवश्य ही वसु राजा के योग्य है।' यों सोच कर शिकारी ने चुपचाप वह शिला उठाई और वसुराजा के पास पहुंच कर उन्हें भेंट देते हुए शिला प्राप्त होने का सारा हाल सुनाया। राजा वसु सुन कर और गौर से शिला को क्षण भर देख कर बहुत खुश हुआ। उस शिकारी को उसने बहुत-सा इनाम दे कर विदा किया। राजा ने उस शिला की गुप्तरूप से राजसभा में बैठने योग्य एक वेदिका बनाई और वेदिका बनाने वाले कारीगर को मार दिया।" सच है, राजा कभी किसी के नहीं होते।" वेदिका पर राजा ने एक सिंहासन स्थापित कराया। इसके रहस्य से अनभिज्ञ लोग यह समझने लगे कि सत्य के प्रभाव से वसु राजा का सिंहासन अधर रहता

है। सत्य से प्रसन्न हो कर देवता भी इस राजा की सेवा मे रहते हैं।" इस प्रकार वसु राजा की उज्ज्वल कीर्ति प्रत्येक दिशा में फैल गई। उस प्रसिद्धि के कारण भयभीत बने हुए अन्य राजा वसुनृप के अधीन हो गए। '**प्रसिद्धि सच्ची हो या झूठी, राजाओं को विजय दिलाती ही है।**''

एक दिन नारद पर्वत के आश्रम में मिलने आया। तब उसने बुद्धिशाली पर्वत को अपने शिष्यों को ऋग्वेद की व्याख्या पढ़ाते हुए देखा। उस समय **"अजैर्यष्टव्यम्"** सूत्र आया तो उसकी व्याख्या करते हुए 'अज'-शब्द का अर्थ समझाया—"बकरा।' यह सुनकर नारद ने पर्वत से कहा—'बन्धुवर ! इस अर्थ के कहने में तुम्हारी कहीं भूल हो रही है। तुमने भ्रान्तिवश अज का बकरा अर्थ किया है, जो नहीं होता है। अज का वास्तविक अर्थ होता है—'तीन साल का पुराना धान्य, जो ऊग न सके। हमारे गुरुदेव ने भी अज का अर्थ धान्य ही किया था। क्या तुम उसे भूल गये ?' उस समय प्रतिवाद करते हुए पर्वत ने कहा—'तुम जो अर्थ बता रहे हो, वह अर्थ पिताजी ने नहीं किया था। उन्होंने 'अज' शब्द का अर्थ बकरा ही किया था। और कोष में भी यही अर्थ मिलता है।' तब नारद ने कहा—'भाई ! किसी भी शब्द के गौण और मुख्य दो अर्थ होते हैं। गुरुजी ने हमें 'अज' शब्द के विषय में गौण अर्थ कहा था। गुरुजी धर्मसम्मत उपदेश देने वाले थे। श्रुति भी धर्मस्वरूपा ही है। इसलिए मित्र ! श्रुतिसम्मत और गुरूपदिष्ट दोनों अर्थों के विपरीत बोल कर तुम क्यो पाप-उपार्जन कर रहे हो ?' पर्वतक ने अब इसे अपनी प्रतिष्ठा का प्रश्न बना लिया और हठाग्रहपूर्वक कहा—'गुरुजी ने **अजान्मेषान्** श्रुतिवाक्य में अज का अर्थ बकरा ही बताया है। गुरुजी के बताए हुए अर्थ का अपलाप करके क्या तुम धर्म-उपार्जन करते हो ?" अभिमानयुक्त मिथ्यावाणी मनुष्य को दण्ड या भय देने वाली नहीं होती। अत: पर्वतक ने कहा—"चलो, इस विषय में हम शर्त लगा लें। अपने पक्ष को सत्य सिद्ध करने में जो असफल होगा, उसे अपनी जीभ कटानी होगी। पहले यह शर्त मंजूर कर लो। तब हम दोनों सहपाठी वसुराजा को प्रामाणिक मान कर इस विषय में उसके पास निर्णय लेने के लिए चलेंगे। उस सत्यवादी का निर्णय दोनों को मान्य करना होगा।" नारद ने उस शर्त को और उस सम्बन्ध में वसुराजा द्वारा दिये हुए निर्णय को मानना स्वीकार किया, क्योंकि '**सांच को आंच नहीं** !' सत्य बोलने वाले को भय और क्षोभ नहीं होता। पर्वत की माता ने जब दोनों का विवाद और परस्पर शर्त लगाने की बात सुनी तो वह बहुत चिन्तित हुई और अपने पुत्र पर्वतक को एकान्त मे ले जा कर कहा—'बेटा ! जब मैं घर का कार्य कर रही थी, तब तेरे पिता के मुंह से मैंने 'अज' शब्द का अर्थ तीन साल पुराना धान्य ही सुना था। तूने जीभ कटाने की जो शर्त लगाई है, वह अहंकार और हठ से युक्त है ! यह काम तूने बहुत अनुचित किया है। बिना विचारे कार्य करने वाला अनेक संकटों से घिर जाता है।" पर्वत ने जरा सहमते हुए कहा—"माताजी ! अब तो मैं आवेश में आ कर जो कुछ कर चुका, वह कर चुका। अब आप बताइये कि फैसला हमारे पक्ष में किसी सूरत से हो सके, ऐसा कोई उपाय है या नहीं ? पर्वत पर भविष्य में आने वाले भयंकर संकट की आशंका से पीड़ित व कांटे चुभने के समान व्यथित हृदय से माता सीधी वसुराजा के पास पहुंची। पुत्र के लिये क्या-क्या नहीं किया जाता ? गुरुपत्नी को देखते ही वसुराजा ने प्रणाम करते हुए कहा—"माताजी ! आओ, पधारो ! आपको देखने से ऐसा लगता है, मानो आज मुझे, साक्षात गुरुश्री क्षीरकदम्बक के ही दर्शन हुए हैं। कहिए, मैं आपके लिये क्या करूं ? क्या दूं ?" तब ब्राह्मणी ने कहा—"पृथ्वीपति ! मुझे पुत्रभिक्षा चाहिए, केवल इसी एक चीज की जरूरत है, बेटा ! पुत्र के चले जाने पर धन-धान्य आदि दूसरे पदार्थों के होने से क्या लाभ ?" वसु ने कहा—'माताजी ! पर्वत मेरे लिये पूज्य है ; उसकी सुरक्षा मुझे करनी चाहिए ! श्रुति में कहा है—'गुरु के पुत्र के साथ गुरु के

समान बर्ताव करना चाहिए।' अकाल में रोष करने वाले यमराज ने आज किसके नाम की चिट्ठी निकाली है ? माताजी ! मुझे बताओ कि मेरे बन्धु को कौन मारना चाहता है ? मेरे रहते आप क्यों चिन्ता करती हैं ?' तब पर्वत की माता ने कहा —'अज —शब्द के अर्थ पर पर्वत और नारद दोनों में विवाद छिड़ गया। इस पर मेरे पुत्र पर्वत ने यह शर्त लगाई है कि यदि 'अज' का अर्थ बकरा न हो तो मैं जीभ कटाऊँगा और 'बकरा' हो तो तुम जीभ कटाना। इस विवाद के निर्णयकर्ता प्रमाणपुरुष के रूप में दोनों ने तुम्हें माना है। इसलिये मैं तुमसे प्रार्थना करने आई हूं कि अपने बन्धु की रक्षा करने हेतु अज' शब्द का अर्थ बकरा ही करना। महापुरुष तो प्राण दे कर भी परोपकार करने वाले होते हैं, तो फिर वाणी से तुम इतना-सा परोपकार नहीं करोगे ?" यह सुन कर वसुनृप ने कहा—'माताजी ! यह तो असत्य बोलना होगा। मैं असत्य-वचन कैसे बोल सकता हूँ ? प्राणनाश का अवसर आने पर भी सत्यवादी असत्य नहीं बोलते। दूसरे लोग कुछ भी बोलें, परन्तु पापभीरु को तो हर्गिज नहीं बोलना चाहिए और फिर गुरुवचन के विरुद्ध बोलना या झूठी साक्षी देना, यह बात भी मुझसे कैसे हो सकती है ?' पर्वत की माता ने रोष में आ कर कहा --'तो फिर दो रास्ते हैं तेरे सामने—यदि परोपकारी बनना है तो गुरुपुत्र की रक्षा करके उसका कल्याण करो और स्वार्थी ही रहना है तो सत्यवाद का आग्रह रखो।' इस प्रकार बहुत जोर दे कर कहने पर वसुराजा ने उसका वचन मान्य किया। क्षीरकदंबक की पत्नी हर्षित हो कर घर चली आई।

ठीक समय पर विद्वान् नारद और पर्वत दोनों निर्णय के लिये वसुराजा की राजसभा में आए। सभा में दोनों वादियों के सत्य-असत्यरूप क्षीर-नीरवत् भलीभांति विवेक करने वाले उज्ज्वल प्रभावान् माध्यस्थ गुण वाले सभ्य लोग एकत्रित हुए। सभापति वसुराजा एक स्वच्छ स्फटिक शिला की वेदिका पर स्थापित सिंहासन पर बैठा हुआ ऐसा सुशोभित हो रहा था, मानो पृथ्वी और आकाश के बीच में सूर्य हो। उसके बाद नारद और पर्वत ने वसुराजा के सामने 'अज' शब्द पर अपनी-अपनी व्याख्या प्रस्तुत की और कहा -'राजन् ! हम दोनों के बीच में आप निर्णायक हैं, आप इस शब्द का यथार्थ अर्थ कहिए। क्योंकि ब्राह्मणों और वृद्धों ने कहा है—'स्वर्ग और पृथ्वी इन दोनों के बीच में जैसे सूर्य है, वैसे ही हम दोनों के बीच में आप मध्यस्थ हैं ; दोनों के विवाद में निर्णायक हैं। अब आप ही प्रमाणभूत हैं। आपका जो निर्णय होगा, वही हम दोनों को मान्य होगा। सत्य या शपथ के लिये हाथ में उठाया जाने वाला गर्मागर्म दिव्य घट या लोहे का गोला वास्तव में सत्य के कारण स्थिर रहता है। सत्य पर ही पृथ्वी आधारित है, द्युलोक भी सत्य पर प्रतिष्ठित है। सत्य से हवा चलती है। सत्य से देव वश में हो जाते हैं। सत्य से ही वृष्टि होती है। सारा व्यवहार सत्य पर टिका है। आप दूसरे लोगों को सत्य पर टिकाते हैं तो आपको इस विषय में क्या कहना ? सत्यव्रत के लिये जो उचित हो, वही निर्णय दो।" वसुराजा ने मानो सत्य के सम्बन्ध में उक्त बातें सुनी-अनसुनी करके किसी प्रकार का दीर्घदृष्टि से विचार न करते हुए कहा, 'गुरुजी ने अजान्-मेषान् अर्थात् अज का अर्थ बकरा किया था'। इस प्रकार का असत्य वचन बोलते ही वेदिकाधिष्ठित देवता कोपायमान हुए। उन्होंने आकाश जैसी निर्मल स्फटिकशिलामयी वेदिका एवं उस पर स्थापित सिंहासन दोनों को चूरचूर कर दिया। वसुराज को तत्काल भूतल पर गिरा दिया, मानो उन्होंने उसे नरक में गिराने का उपक्रम किया हो। नारद भी तत्काल यों कह कर तिरस्कार करता हुआ वहां से चल दिया कि चाण्डाल के समान झूठी साक्षी देने वाले तेरा मुंह कौन देखे ? असत्य वचन बोलने से देवताओं द्वारा अपमानित वसुराजा घोर नरक में

गया। अपराधी वसुराजा का जो भी पुत्र राजगद्दी पर बैठता, देवता उसे मार गिराते थे। इस तरह वसु के आठ पुत्रों को देवों ने मार गिराये। अतः वसुराज के इस प्रकार असत्य बोलने का फल सुन कर जिनवचन-श्रवण करने वाले भव्य आत्माओं को किसी के भी आग्रह दबाव या लिहाज मुलाहिजे में आ कर अथवा प्राणों के चले जाने की आशंका हो तो भी असत्य नहीं बोलना चाहिए। यह है नारद-पर्वत-कथा का हार्द !'

सज्जनों का हित करने वाला वह सत्यवचन व्युत्पत्ति से यथार्थ होने पर भी अगर दूसरों को पीड़ा देने वाला हो तो उसे भी असत्य की कोटि में ही माना गया है। इसलिये सत्य भी ऐसा न बोले, जिससे दूसरों के हृदय को आघात पहुंचे—

न सत्यमपि भाषेत परपीड़ाकरं वचः।
लोकेऽपि श्रूयते यस्मात् कौशिको नरक गतः॥६१॥

अर्थ

जिससे दूसरों को पीड़ा हो, ऐसा सत्यवचन भी न बोलो, क्योंकि यह लोकश्रुति है कि ऐसे वचन बोलने से कौशिक नरक में गया था।

व्याख्या

कई बार किसी का वचन लोक-व्यवहार में सत्य दिखाई देता है ; लेकिन परमार्थ से विचार करने पर मालूम होता है कि वह परपीड़ाकारी है तो उसे असत्य ही मानना चाहिए। इस प्रकार का हृदय को आघात पहुँचाने वाला वचन नहीं बोलना चाहिए। ऐसे वचन बोलने से नरकगति होती है। लोकश्रुति से तथा अन्य शास्त्रों से भी ऐसा सुना जाता है कि दूसरे को पीड़ा देने वाले चुभते वचन (जो वास्तव में असत्य का ही प्रकार है) बोलने से कौशिक नरक मे गया।' कौशिक की कथा सम्प्रदाय-परम्परा से इस प्रकार है :—

प्राणिघातकरूप असत्यवचनों से कौशिक को नरकप्राप्ति

कौशिक नाम का एक धनिक तापस अपने गांव से सम्बन्ध तोड़ कर गंगानदी के किनारे अकिंचन हो कर रहता था। वहां वह कन्दमूलादि का आहार करता था। लोगों में उसकी प्रसिद्धि (शोहरत, अपरिग्रही, ममतामुक्त, व सत्यवादी के रूप में हो गई। एक बार उस तापस ने निकटवर्ती गांव को लूट कर आते हुए चोरों को देखा कि सर्प जैसे अपनी बांबी में घुसता है, वैसे ही वे चोर आश्रम के नजदीक वन की झाड़ियों में घुस गये। चोरों के पैरों के निशान के अनुसार गांव के लोग तापस के आश्रम में आए और तापस से पूछा—'महात्मन् ! आप तो सत्यवादी हैं, बताइये वे चोर कहां गये ?' धर्मतत्व के रहस्य से अनभिज्ञ कौशिक तापस ने कहा—'इन घनी झाड़ियों में चोरों ने प्रवेश किया है।' यह सुनते ही शिकारी जैसे हिरणों पर टूट पड़ते हैं, वैसे ही वे चोरों पर टूट पड़े और उन्हें मार डाला। इसलिये दूसरे को पीड़ा पहुँचाने वाले तथ्य-वचन के रूप में असत्य बोलने से कौशिक तापस अपना आयुष्य पूर्ण कर नरक में गया।

थोड़ा-सा भी असत्यवचन अनर्थकारी होने से उसका निषेध करने के बाद अब बड़े भारी असत्य बोलने वाले के लिये खेद प्रगट करते हैं—

अल्पादपि मृषावादाद् रौरवादिषु सम्भवः ।
अन्यथा वदतां जैनीं वाचं त्वहह का गतिः ॥६२॥

अर्थ

जरा-सा भी झूठ बोलने से जब नरकादि गतियों में उत्पन्न होना पड़ता है ; अरे रे ! तो फिर श्रीजिनेश्वरदेव की वाणी के विपरीत बोलने वालों की क्या गति होगी ?

व्याख्या

इस जगत् में जरा-सा लाभकारक थोड़ा-सा भी असत्य बोलने से मनुष्य रौरव, महारौरव आदि नरक में उत्पन्न होता है । रौरव शब्द नरक के अर्थ में लोक-प्रचलित है । नहीं तो, कहा जाता — 'समस्त नरकों में' । श्रीजिनेश्वरदेव के कथन से विपरीत अर्थ करने वाले और असत्यवादी कुतीर्थियों और स्वमत-निह्नवों आदि की क्या गति होगी ? वे तो नरक से भी अधिक अधम-गति प्राप्त करेंगे ! उनको प्राप्त होने वाली इस कुगति को कौन रोक सकता है ? इसीलिये कहा—'ओफ ! सचमुच वे शोक और खेद करने योग्य हैं ।' जिनोक्तमार्ग से जरा-सा भी विपरीत बोलना या पृथक् प्ररूपणा करना, अन्य सब पापों से बढ़कर भयंकर पाप है । मरीचि के भव में उपार्जित ऋषभदेव-प्ररूपित मार्ग से जरा-सी विपरीत प्ररूपणा करने के पाप के कारण ही भगवान् महावीर के भव में देवों द्वारा प्रशंसित और तीन लोकों में अद्वितीय मल्ल के समान तीर्थंकर परमात्मा होने पर भी प्रभु ने अनेकबार ग्वाले आदि द्वारा प्रदत्त असीम यातनाएँ प्राप्त की थीं । और स्त्री, गाय, ब्राह्मण और गर्भस्थ जीव की हत्या करने वाले दृढ़प्रहारी सरीखे कितने ही महापापियों ने उसी जन्म में मुक्ति प्राप्त की है ; यह बात प्रसिद्ध है ।

असत्यवाद के दुष्परिणाम बता कर अब सत्यवाद की प्रशंसा करते हैं—

ज्ञानचारित्रयोर्मूलं सत्यमेव वदन्ति ये ।
धात्री पवित्रीक्रियते तेषां चरणरेणुभिः ॥६३॥

अर्थ

जो मनुष्य ज्ञान और चरित्र के मूल कारणरूप सत्य ही बोलते हैं, उन मनुष्यों के चरणों की रज से यह पृथ्वी पवित्र होती है ।

व्याख्या

ज्ञान और चारित्र (क्रिया) का मूलकारण सत्य है । भगवद्वचन के भाष्यकारों ने उनके ही वचनों का अनुसरण करते हुए कहा है—**'नाणकिरियाहिं मोक्खो'** ज्ञानशब्द में दर्शन का भी समावेश हो जाता है । क्योंकि दर्शन के बिना ज्ञान अज्ञान माना जाता है । मिथ्यादृष्टि जीव सद्-असद्-पदार्थों को विपरीत रूप से जानता है ! उसका ज्ञान संसार-परिभ्रमण कराने वाला मनमाना अर्थ करने वाला तथा निरपेक्ष वचन का वाचक होने से सम्यग्ज्ञान के फल का दाता नहीं होता । कहा भी है—'मिथ्यादृष्टि के ज्ञान में सत्य और झूठ में अन्तर नहीं होने से वह संसार-परिभ्रमण का कारणरूप है । अपनी बौद्धिक कल्पना के अनुसार मनगढ़ंत अर्थ करने से शास्त्राधीनता अथवा शास्त्र-सापेक्षता न होने से उस (मिथ्या) ज्ञान के फलस्वरूप विरति नहीं होती । इसी कारण मिथ्यादृष्टि का ज्ञान अज्ञान माना गया है ।

सत्यवादियों का इस लोक में भी प्रभाव बताते हैं—

अलीकं ये न भाषन्ते सत्यव्रतम [illegible]धनाः ।
नापराद्धुमलं [illegible] भूत-[illegible]यः ॥६४॥

अर्थ

जो सत्यव्रत के महाधनी मनुष्य असत्य नहीं बोलते, उन्हें भूत, प्रेत, सर्प आदि कोई भी दुःख देने में समर्थ नहीं होते।

व्याख्या

भूत, प्रेत, व्यन्तर आदि अपने सम्बन्धियों को हैरान, परेशान करते हैं। उपलक्षण से सर्प, एवं सिंहादि जानना। परन्तु सत्यव्रतरूपी महाधन वाले असत्य नहीं बोलते, उन्हें भूतादि हैरान करने में असमर्थ हैं। इस सम्बन्ध में दूसरे श्लोक (अर्थसहित) कहते हैं—

जलाशय की पाल के समान अहिंसारूपी जल के रक्षक के समान सत्य दूसरा व्रत है। सत्य व्रत का भंग होने से किनारे टूट जाय तो अहिंसा रूपी जलाशय अरक्षित हो कर नष्ट हो जायेगा। अतः सज्जनपुरुषों को सभी जीवों के लिये उपकारी सत्य ही बोलना चाहिए या फिर सर्वार्थसाधक मौन का आलम्बन ले कर रहना चाहिए। किसी के पूछने पर वैर पैदा करने का कारणभूत, किसी की गुप्त बात प्रगट करने वाला, उत्कट शंका पैदा करने वाला या शंकास्पद, हिंसाकारी या परपैशुन्यकारी (चुगली खाने वाला) वचन नहीं बोलना चाहिए। परन्तु धर्म का नाश होता हो, क्रिया का लोप होता हो, या सत्सिद्धान्त के सच्चे अर्थ का लोप होता हो तो शक्तिशाली पुरुष को उसके निराकरण के लिये बिना पूछे ही बोलना चाहिए। चार्वाक, नास्तिक, कौलिक, विप्र, बौद्ध, पांचरात्र आदि ने जगत् को असत्य से आक्रान्त करके विडम्बित किया है। सचमुच, उनके मुंह से जो उद्‌गार निकलते हैं; वे नगर के नाले के प्रवाह के समान पंकमिश्रित दुर्गन्धितजल सदृश हैं। दावानल से झुलसा हुआ वृक्ष तो फिर से हरा-भरा हो सकता है, मगर दुर्वचनरूपी आग से जला हुआ व्यक्ति इस लोक में यथार्थ धर्म-मार्ग को पा कर, पल्लवित नहीं होता। चन्दन, चन्द्रिका, चन्द्रकान्त मणि, मोती की माला उतना आनन्द नहीं देती, जितना आनंद मनुष्यों की सच्ची वाणी देती है। शिखाधारी, मुंडित मस्तक, जटाधारी, निर्वस्त्र या सवस्त्र तपस्वी भी यदि असत्य बोलता है, तो वह अत्यन्त ही निन्दनीय बन जाता है। तराजू के एक पलड़े में असत्य कथन से उत्पन्न पाप को रखा जाय और दूसरे पलड़े में बाकी के सारे पाप रखे जांय और तोला जाय तो असत्य का पलड़ा ही भारी होगा। परदारागमन, चोरी आदि पापकर्म करने वालों को छुड़ाने के प्रत्युपाय तो मिल जायेंगे; लेकिन असत्यवादियों को छुड़ाने के लिये प्रतिकारक उपाय कोई नहीं है। यह सब सत्यवाणी का ही फल है कि देव भी उसका पक्ष लेते हैं; राजा भी उसकी आज्ञा मानते हैं। अग्नि आदि उपद्रव भी शान्त हो जाता है।

इस तरह गृहस्थ श्रमणोपासक के दूसरे व्रत का वर्णन पूर्ण हुआ।

अब तीसरा अस्तेयव्रत कहते हैं। अदत्तादान (चोरी) का दुष्फल बताए बिना मनुष्य चोरी से नहीं रुकता। इसलिये सर्व प्रथम इसका दुष्परिणाम बता कर चोरी का निषेध करते हैं—

दौर्भाग्यं प्रेष्यतां दास्यमंगच्छेदं दरिद्रताम् ।
अदत्तात्फलं ज्ञात्वा स्थूलस्तेयं विवर्जयेत् ॥६५॥

अर्थ

दुर्भाग्यता (भाग्य फूट जाना), किंकरता (दूसरे के घर में नौकर बन कर कार्य करना), दासता (गुलामी), शारीरिक पराधीनता, हाथ, पैर आदि अंगोपांगों का छेदन, निर्धनता आदि पूर्वजन्म में बिना दी हुई वस्तु को ग्रहण करने (अदत्तादान=चोरी) का फल है ।

इस प्रकार शास्त्र से अथवा गुरुमहाराज के श्री मुख से जान कर सुखार्थी श्रावक लोक व्यवहार में जिसे चोरी कहा जाता हो, उस स्थूल अदत्तादान का त्याग करे ।

आगे विस्तार से इसका स्वरूप बता रहे हैं :—

पतितं विस्मृतं नष्टं स्थितं स्थापितमाहितम् ।
अदत्तं नाददीत स्वं परकीयं क्वचित्सुधीः ॥६६॥

अर्थ

रास्ते चलते हुए या सवारी से जाते हुए गिरी हुई, उसके मालिक के भूल जाने से पड़ी हुई, खोई हुई, मालिक को उसका पता भी न हो, इस प्रकार रखी हुई, अथवा अमानत, धरोहर के सुरक्षित रखने के लिए रखी गई, जमीन में गाड़ी हुई, दूसरे की वस्तु को उसके मालिक की इच्छा या अनुमति के बिना ग्रहण करना चोरी है । बुद्धिमान पुरुष को चाहिए कि वह किसी भी प्रकार के संकटापन्न द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव में हो, फिर भी चोरी न करे ।

चोरी का दूषण कितना निन्दनीय है, यह बताते हैं—

अयं लोकः परलोको धर्मो धैर्यं धृतिर्मतिः ।
मुष्णता परकीयं स्वं, मुषितं सर्वमप्यदः ॥६७॥

अर्थ

दूसरे के धन की चोरी करने वाला उसके धन को ही हरण नहीं करता, अपितु इस लोक का जन्म, जन्मान्तर, धर्महीनता, धृति, मति कार्याकार्य के विवेकरूप भावधन का भी हरण कर लेता है ।

हिंसा से चोरी में अधिक दोष है, इसे बताते हैं—

एकस्यैकं क्षणं दुःखं मार्यमाणस्य जायते ।
सपुत्रपौत्रस्य पुनर्यावज्जीवं हृते धने ॥६८॥

अर्थ

जिस जीव की हिंसा की जाती है उसे चिरकाल तक दुःख नहीं होता, अपितु क्षण-भर के लिये होता है । मगर किसी का धन-हरण किया जाता है ; तो उसके पुत्र, पौत्र और

सारे परिवार का जिंदगीभर दुःख नहीं जाता। यानी पूरी जिंदगी तक उसके दुःख का घाव नहीं मिटता।

अब चोरी के दुष्परिणाम विस्तार से बताते हैं—

चौर्य्य-पापद्रुमस्येह वध-बन्धादिकं फलम्।
जायते परलोके तु फलं नरक-वेदना ॥६९॥

अर्थ

चोरी-रूप पाप-वृक्ष का फल इस जन्म में तो वध, बन्धन आदि के रूप में मिलता ही है; किन्तु अगले जन्मों में नरक की वेदना के रूप में भयंकर फल मिलता है।

व्याख्या

कदाचित् तकदीर अच्छी (सद्भाग्य) हो, या राजा या पुलिस आदि की असावधानी से नहीं पकड़ा जाय परन्तु मन में हरदम पकड़े जाने का डर, उद्वेग, अस्वस्थता, अपकीर्ति (बदनामी) आदि इस जन्म के फल हैं।

इसे ही बताते हैं—

दिवसे वा रजन्यां वा स्वप्ने वा जागरेऽपि वा।
सशल्य इव चौर्येण नैति स्वास्थ्यं नरः क्वचित् ॥७०॥

अर्थ

तीखा कांटा या तीक्ष्ण तीर चुभ जाने पर जैसे मनुष्य शान्ति का अनुभव नहीं कर पाता, वैसे ही चोर को दिन-रात, सोते, जागते किसी भी समय शान्ति महसूस नहीं होती। चोरी करने वाला केवल शान्ति से ही वंचित नहीं होता, उसका बन्धु-बान्धववर्ग भी उसे छोड़ देता है।

मित्र-पुत्र-कलत्राणि भ्रातरः पितरोऽपि हि।
संसजन्ति क्षणमपि न म्लेच्छैरिव तस्करैः ॥७१॥

अर्थ

म्लेच्छों के साथ जैसे कोई एक क्षणभर भी संसर्ग नहीं करता; वैसे ही चोरी करने वाले के साथ उसके मित्र, पुत्र, पत्नी, भाई, माता-पिता इत्यादि सगे-सम्बन्धी भी क्षणभर भी संसर्ग नहीं करते।

व्याख्या

नीतिशास्त्र में कहा है—ब्रह्महत्या, मदिरापान, चोरी, गुरुपत्नी के साथ सहवास और विश्वासघात, इन पांच पापकर्मों को करने वाले के साथ संसर्ग करना भी पांच महापातक में बताये हैं। चोरी करने वाला, चोरी कराने वाला, चोरी की सलाह देने वाला, उसकी सलाह व रहस्य के जानकार चोरी का माल खरीद करने वाला, खरीद कराने वाला, चोर को स्थान देने वाला, उसे भोजन देने वाला; ये

सातों राजदण्ड (दण्डविधानशास्त्र) की दृष्टि से चोरी के अपराधी कहे गए हैं।

चोरी करने की प्रवृत्ति में दोष और उससे निवृत्ति में जो गुण है उसे दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं।

संबन्ध्यपि निगृह्येत चौर्यान्मण्डिकवन्नृपैः ।
चौरोऽपि त्यक्तचौर्यः स्यात् स्वर्गभाग् रौहिणेयवत् ॥७२॥

अर्थ

चोरी करने वाले के सम्बन्धियों को भी मंडिक चोर के सम्बन्धियों की तरह राजा पकड़ता है और चोर होने पर भी चोरी का त्याग करने से रोहिणेय की तरह स्वर्ग-सुख का अधिकारी हो जाता है।

नीचे दोनों दृष्टान्त क्रमशः दे रहे हैं—

व्याख्या

मूलदेव और मण्डिक चोर

गौड़देश में पाटिलपुत्र नामक एक नगर था। समुद्र के जल के समान उसका मध्यभाग दृष्टिगोचर नही होता था। अनेक कलाओ का स्रोत, साहसिक बुद्धि का मूल, वहां का राजकुमार मूलदेव था। वह धूर्तविद्या में शिरोमणि, कृपण और अनाथ का बन्धु, कूटनीति में चाणक्यवत् प्रवीण, दूसरों के अन्तरंग को भांपने में चालाक, रूप और लावण्य में कामदेव के समान, चोर के साथ चोर, साधु के साथ साधु, टेढ़े के साथ टेढ़ा और सीधे के साथ सीधा, गंवारों के साथ गंवार, चतुर के साथ चतुर, जार के साथ जार, भट के साथ भट, जुआरी के साथ जुआरी, गप्प हांकने वालों के साथ गप्पी था। उसका हृदय स्फटिक रत्न के समान स्वच्छ था। इसलिये झटपट दूसरे की असलियत को जान जाता था। वह आश्चर्यजनक कौतुक दिखा कर लोगों को विस्मित करता हुआ महाबुद्धिशाली विद्याधर के समान इच्छानुसार घूमता था। उसमें जूआ खेलने का बहुत बड़ा ऐब था। इस कारण पिता ने उसे अपमानित करके घर से निकाल दिया था। अतः वह घूमता-घामता देवपुरी की तरह शोभायमान उज्जयिनी नगरी में पहुंचा। जादुई गोली के प्रयोग से वहां वह कुबड़ा और बौना बन गया। इस प्रकार के बहुत से करतब दिखा कर वह लोगों को आश्चर्य में डाल देता। धीरे-धीरे अपनी कलाओं से उसने वहां प्रसिद्धि प्राप्त कर ली। उज्जयिनी नगरी में ही रूपलावण्य और कलाविज्ञान की कुशलता में रति को लज्जित कर देने वाली देवदत्ता नाम की उत्तम गणिका रहती थी। कला के समस्त गुणों में वह निष्णात हो गई थी। उस चतुर गणिका को मनोरंजन करने वाला उसकी बराबरी का वहां कोई नहीं था। मूलदेव ने जब यह सुना तो उसे आकर्षित करने के लिये उसके घर के पास ही अपना डेरा जमाया। उससे सुबह-सुबह साक्षात् देव, गंधर्व या तुंबरु के समान संगीत की तान छेड़ी। देवदत्ता के कानों में गायन की मधुर झंकार पड़ी तो उसने पूछा—इतना मधुर स्वर किसका है? उसने अत्यन्त विस्मित हो कर अपनी दासी को इसका पता लगाने भेजा। दासी ने तुरन्त तलाश करके गणिका से कहा—"देवी! देखने में तो बौना-सा है, लेकिन कण्ठ इतना अच्छा है और स्वभाव इतना मृदु है कि इस क्षेत्र में तो उसकी जोड़ का कोई गायक नहीं है।" तब देवदत्ता ने उसे बुलाने के लिए माधवी नाम की कुबड़ी दासी भेजी। 'अधिकांश वेश्याएँ कलाप्रिय होती हैं।' कुब्जा ने उसके पास आ कर कहा 'हे महाभाग! कलाभण्डार! मेरी स्वामिनी आपको आदरपूर्वक बुला रही है।" इस पर मूलदेव ने कहा—कुब्जे! मैं नहीं आ सकता। कुट्टिनी के अधीन रहने वाली वेश्या के घर में कौन स्वतन्त्रजीवी प्रवेश कर सकता

है ? इस प्रकार कह कर मूलदेव ने उस कुब्जा को निकट बुला कर विनोद की इच्छा से अपनी कला-कुशलता के बल पर धरती पर लिटाया और क्षणभर में उसका कुबड़ापन मिटा कर कमल के नाल की तरह उसे सीधी और सुन्दर बना दी । जब वह कुब्जा दासी बदली हुई आकृति मे प्रसन्न होती हुई पहुंची तो देवदत्ता भी उसकी आकृति और चेष्टा देख कर ठगी-सी रह गई । उसे आश्चर्य हुआ कि देवों के दिये हुए वरदान को पाई हुई-सी मेरी दासी भी इतनी सुन्दर हो सकती है । अत: देवदत्ता ने उससे कहा — ऐसे चतुर कलाकार एवं उपकारी को तो अपनी उंगली काट कर अर्पण करके लाने में भी कोई हर्ज नहीं, तू जा किसी भी मूल्य पर उसे यहाँ ले आ ।' दासी मूलदेव के पास पहुंची और मधुर एवं चतुरोचित वचनों से उस धूर्तराज को वेश्या के यहाँ निर्दिष्ट मार्ग से प्रवेश करा कर ले आई । राधा के यहाँ जैसे माधव सुशोभित होते थे, वैसे ही देवदत्ता के यहाँ मूलदेव शोभायमान हो रहा था । कान्ति और लावण्य से सुशोभित उस वामन को देख कर गणिका ने उसे गुप्त देवता के समान मान कर आदरपूर्वक आसन पर बिठाया । कुशलप्रश्न के पूछने के बाद स्वस्थ होने पर दोनों के हृदय की एकतास्वरूप चातुर्यपूर्ण वार्तालाप के साथ मधुर गोष्ठी होने लगी ।

उसी समय वीणा बजाने में निपुण एक बुद्धिशाली वीणावादक आया । देवदत्ता ने उससे अतिकौतुक-युक्त वीणा बजवाई । वीणावादक ने स्पष्ट ग्राम और श्रुतिस्वर से इतनी सुन्दर ढंग से वीणा बजाई कि देवदत्ता भी झूमने और उसकी प्रशंसा करने लगी । उस समय मूलदेव ने जरा-सा विनोद करते हुए कहा—"उज्जयिनी के लोग सचमुच बड़े निपुण और गुण-अवगुण के पारखी हैं ।" देवदत्ता ने शंकाभरी दृष्टि से कहा—"इसमें क्या शक हैं ? चतुरों की चातुर्ययुक्त प्रशंसा में उपहास की शंका पैदा होती है ।" उसने कहा—"आप सरीखे वीणावादक में क्या कमी है ?, यह कहना तो आश्चर्य की बात होगी । लेकिन इतना मैं कह सकता हूं कि यह वीणा गर्भ वाली है, इसमें बांस शल्ययुक्त है ।" 'आपने कैसे जाना ?' यह उपस्थित लोगों के पूछने पर मूलदेव ने उससे वीणा लेकर उसके बांस में से पत्थर का टुकड़ा खींच कर सबको बताया । बाद मे उस वीणा को दुरुस्त करके इस प्रकार मधुर और सुरीले स्वर में बजाने लगा, मानो श्रोताओ के कानों मे अमृत घोल दिया हो । इस पर देवदत्ता ने कहा —"कलानिधे ! आप असाधारण पुरुष मालूम होते हैं, नररूप में आप साक्षात् सरस्वतीमय हैं ।' वह वीणावादक भी मूलदेव के चरणों में पड़ कर कहने लगा—"धन्य हो, स्वामिन् ! मैं आपसे वीणा बजाना सीखूंगा । आप मुझ पर कृपा करें ।' मूलदेव ने कहा --"मैं यथार्थरूप से तो वीणा बजाना नहीं जानता, परन्तु जो अच्छे ढंग से वीणा बजाना जानते है, उन्हें मैं जानता हूं ।" देवदत्ता ने पूछा—"उनका नाम क्या है ? वे कहाँ रहते हैं ?" मूलदेव ने कहा—"पूर्व दिशा में पाटलीपुत्र नामक नगर में महागुणी कलाचार्य विक्रमसेन रहते हैं, मैं उन्हीं का सेवक मूलदेव हूं, उनकी सेवा में सदा रहता हूं । इसी बीच वहाँ विश्वभूति नाम का नाट्याचार्य भी आ गया । देवदत्ता ने उसका परिचय देते हुए कहा—'यह साक्षात् भरत ही है ।" मूलदेव ने कहा—"ऐसा ही होगा । तुम जैसी ने इसे कलाओं का अध्ययन कराया होगा ।" उसके बाद विश्वभूति से भरत के नाटकों के विषय में बातें चलीं । बातचीत के सिलसिले में मूलदेव को वह घमंडी मालूम पड़ा । केवल ऊपर ऊपर से जानने वाले ऐसे ही होते हैं ।" मूलदेव ने मन ही मन सोचा —'यह अपने आपको विद्वान समझता है । लेकिन तांबे पर सोने का मुलम्मा चढ़ाने की तरह, इसे जरा अंदर की झांकी करा दूं ।" अत: उसने सफाई से वाक्चातुरी करते हुए उसके भरत-सम्बन्धी नाटक-व्याख्यान में पूर्वापर दोष बताये ।

इस पर विश्वभूति कुपित हो कर अंटसंट बकने लगा। कहावत है कि चतुर या पण्डित द्वारा पूछे गए प्रश्नों को सुन कर अनभिज्ञ उपाध्याय क्रोध करके अपनी अज्ञानता छिपाते हैं।' मूलदेव ने मुस्कराते हुए कहा –"मित्र ! ऐसा प्रतीत होता है, नाटक के सम्बन्ध में कि तुम ललनाओं के नाट्याचार्य हो, औरों के नहीं।" यह सुन कर वह निरुत्तर हो गया। देवदत्ता आँखें नचाती हुई मुस्कानभरी दृष्टि से उपाध्यायजी को झेंप मिटाने के लिए बोली—"अभी तो आप जाने की जल्दी में होंगे, अतः बाद में शान्तिपूर्वक विचार कर इस विषय में इस विशेषज्ञ को उत्तर देना। विश्वभूति बोला—'देवदत्ता ! अब तो मेरे नाटक करने का समय हो गया है, मुझे जाना है, अगर तुम चाहो तो तुम भी तैयार हो जाओ।' यों कह कर विश्वभूति चला गया।

तत्पश्चात् देवदत्ता ने अपनी दासी को आदेश दिया कि 'हम दोनों को स्नान करना है। अतः कलापूर्वक अंगमर्दन करने वाले किसी अंगमर्दक को बुला लाओ।" यह सुन कर धूर्तराज ने कहा –'सुनयने ! दूर जाने की जरूरत नहीं, मैं स्वयं अंगमर्दन कर सकता हूं।" "वह बोली –'क्या इस कला को भी जानते हो ? उसने कहा —"मैं नहीं जानता, पर मैं इसके जानकार को जानता हूं, जिनकी सेवा में मैं रहा हूँ।" देवदत्ता के आदेश से तुरंत शतपाक तेल आ गया। अत. मायावी वामन तेल मालिश करने लगा। उसने वारांगना के अंग में स्थान के उपयुक्त कोमल, मध्यम और कठोर हाथों से ऐसा मर्दन किया कि उसके शरीर में स्फूर्ति और शक्ति के अतिरिक्त सुखानुभव भी हुआ। देवदत्ता उसकी कला से प्रभावित हो कर मन ही मन सोचने लगी—"ओहो ! इसने तो सभी कलाओं में निपुणता प्राप्त की है। इतनी कला हर एक व्यक्ति में नहीं हो सकती। हो न हो, यह कोई असाधारण व्यक्ति है।' उसके कला-नैपुण्य से आकर्षित देवदत्ता भावावेश में आ कर सहसा उसके चरणों में गिर पड़ी। कहने लगी— "स्वामिन् ! हमें विश्वास है कि गुणों से आप कोई उत्तम पुरुष हैं। परन्तु आप हमसे भी कपट करके अपने असली रूप को छिपाते क्यों हैं ? कृपा करके आप अपने आपको खुल्लमखुल्ला प्रगट करें, हमें अपने असली रूप से वंचित न करें। देव भी भक्तजनों के आग्रह से प्रत्यक्ष दर्शन देते हैं।" यह सुन कर मूलदेव ने मुंह से जादुई गोली बाहर निकाली और नट के सरीखा अपना रूप बनाया। देवदत्ता विस्मयस्फारित नेत्रों से कामदेव के समान उसका अद्भुत रूप, लावण्य और मनोहर अंगोपांग देख कर बोली— "धन्यवाद ! इस प्रकार के सुन्दर शरीर के रूप में दर्शन दे कर आपने मुझ पर बड़ा उपकार किया। स्नान के योग्य एक तौलिया दे कर अनुरक्त, देवदत्ता उसके अंग पर अपने हाथ से प्रीतिपूर्वक तेलमालिश करने लगी। फिर उसके मस्तक पर सुगन्धित पदार्थ मला। तदनन्तर दोनों ने गर्म जल की धारा उड़ेल कर स्नान किया। स्नान करने के पश्चात् मूलदेव ने देवदत्ता द्वारा दिये हुए रेशमीवस्त्र पहने और दोनों ने एक साथ ही सुपाच्य, सुगन्धित-पदार्थमिश्रित, स्वादिष्ट भोजन किया। दोनों की मैत्री प्रगाढ़ होती गई। और वे प्रायः प्रतिदिन एकान्त में कला के रहस्यों की चर्चा करते थे। इस प्रकार काफी अर्सा बीत गया। एक दिन मूलदेव को प्रसन्नमुद्रा में जान कर देवदत्ता कहने लगी—'नाथ ! आपने अपने लोकोत्तर गुणों से मेरा हृदय हरण कर लिया है। अतएव मेरी प्रार्थना है कि सुन्दर ! जैसे आपने मेरे हृदय में निवास कर लिया है, वैसे ही इस घर में पधार कर सदा के लिए निवास कीजिए।" इस पर मूलदेव बोला –'मेरे सरीखे परदेशी और निर्धन के साथ मोह-ममत्व करना उचित नहीं है। और वारांगना यदि किसी निर्धन के सिर्फ गुणों पर फिदा हो कर अनुराग करने लगेगी तो उसका धंधा ही

चौपट हो जायगा, और फिर उसका परिवार भी दुःखी हो जायगा।" देवदत्ता ने कहा—'आप बात न बनाएँ। आप जैसे सिंहसम पराक्रमी पुरुष के लिए क्या देश और क्या परदेश ? गुणिजनों के लिए सर्वत्र स्वदेश हैं। जो मूर्ख हमें धन से अपना बनाना चाहते हैं, वे कम से कम मेरे हृदय से तो बाहर ही हैं। अतः गुणमंदिर ! मैं आपको साफ-साफ सुना देती हूं कि आपके सिवाय अब मेरे हृदय में दूसरा कोई प्रवेश नही कर सकता। इसलिए सौभाग्यशाली ! मेरा तन, मन और धन तीनों आपके चरणों में समर्पित हैं, इन्हे स्वीकारो" इस तरह देवदत्ता के साग्रह अनुरोध पर मूलदेव ने उसकी बात मान ली और स्नेहपूर्वक दोनों आमोद-प्रमोद करने लगे।

ठीक इसी समय द्वारपाल ने आ कर निवेदन किया—'स्वामिनी ! चलो अब राजसभा में नृत्य का समय हो गया।" देवदत्ता मूलदेव को भी प्रच्छन्नवेश में अपने साथ राजसभा में ले गई। राजा के सामने देवदत्ता ने रम्भा के समान हावभाव से उज्ज्वलकारी नृत्य प्रारम्भ किया। मूलदेव ने इन्द्र के दुन्दुभिवादक की तरह बहुत ही सुन्दर एवं प्रभावपूर्ण ढग से दुन्दुभि बजाई। राजा देवदत्ता के शास्त्रीय हावभावयुक्त नृत्य से अत्यन्त प्रभावित हो कर बोला—"वर (प्रसाद) मांगो।" देवदत्ता ने अपना वर भंडार में अमानत रखने को कहा। तत्पश्चात् उसने मूलदेव के साथ सगीत और नृत्य किये। राजा ने प्रसन्न हो कर उसे सुन्दर आभूषण और बढ़िया पोशाक ईनाम में दिये। पाटलिपुत्रनरेश के द्वारपाल बिमलसिंह ने खुश हो कर राजा से कहा—"राजन् ! पाटलिपुत्र में बुद्धिशाली कलाकार मूलदेव रहता है। हो न हो, यह कलाप्रकर्ष या तो उसका दिया हुआ है, या चुराया हुआ है। अन्य किसी में ऐसा कला-प्रकर्ष हो नहीं सकता। इसलिए मूलदेव के बाद इसे ही कलाविज्ञ का प्रमाणपत्र देना चाहिए। और नर्तकियों में श्रेष्ठ को प्रमाणपत्र के रूप में पताका दी जानी चाहिए।" राजा भी तदनुसार देने लगा। इस पर देवदत्ता ने कहा—'यह मेरे गुरु हैं। मैं इनकी आज्ञा होने पर ही प्रमाणपत्रादि स्वीकार करूंगी।' राजा ने भी कहा—'महाभागे ! तुम इससे अनुमति लेने के बजाय, इसे अनुमति दो।' धूर्त मूलदेव ने कहा—'महाराज जैसी आज्ञा कर रहे हैं, वैसे ही करो।' उस समय धूर्तराज ने इतने आकर्षक ढग से वीणा बजाई, मानो यह कोई दूसरा देवगन्धर्व हो। इसे देख कर बिमलसिंह ने कहा—"देव ! हो न हो, यह प्रच्छन्नवेष में मूलदेव ही है। ऐसी कला मूलदेव के सिवाय और किसी मे नहीं हो सकती। निश्चय ही यह वही है, ऐसा मालूम होता है।' राजा ने धूर्तराज को लक्ष्य करके कहा – 'यदि ऐसा है तो वह प्रगट हो जाए। मैं तो रत्न के समान मूलदेव के दर्शन करने को आतुर हूं।' मूलदेव ने उसी समय अपने मुंह से जादूई गोली बाहर निकाली। इससे वह अपने असली रूप में बादलों से बाहर निकलते हुए चन्द्रमा के समान अतितेजस्वी मालूम होता था। 'अब मालूम हुआ कि तुम पूरे कलाविज्ञ हो।' यों कहते हुए विमलसिंह ने धूर्तसिंह का आलिंगन किया। तत्पश्चात् मूलदेव ने राजा को नमस्कार किया। राजा ने भी प्रसन्नता से उसका सत्कार किया। पुरुरव के साथ उर्वशी के समान मूलदेव पर अनुरक्त देवदत्ता भी उसके साथ विषयसुखानुभव करती हुई जीवन व्यतीत कर रही थी। परन्तु मूलदेव द्यूतक्रीडा के बिना रह नहीं सकता था। भवितव्यता के कारण उत्तम गुण वाले में भी कोई न दोष लगा रहता है। देवदत्ता ने उससे सविनय निवेदन किया—'प्राणेश्वर ! आप जुआ खेलना छोड़ दें।" किन्तु बहुतेरा कहने पर भी मूलदेव उस दुर्व्यसन को छोड़ न सका। सच है, स्वभाव का त्याग करना अतिकठिन होता है।

इसी नगर में धनकुबेर के समान एवं रूप में साक्षात् कामदेव के समान अचल नाम का

सार्थवाह रहता था ; वह मूलदेव से पहले देवदत्ता से प्रेम करता था ; और उसके साथ सुखानुभव करता था। वह मूलदेव के साथ ईर्ष्या करता था, और किसी न किसी बहाने से दोष ढूंढ कर उपद्रव करना चाहता था। मूलदेव के कानों में इस बात की भनक पड़ी। वह भी किसी बहाने से इसके घर जाना रहता था। रागी पुरुषों का राग परवश होने पर भी प्रायः नहीं छूटता। एक दिन देवतत्ता की माता ने उससे कहा—'बेटी! इस निर्धन जुआरी मूलदेव के पास अब क्या रखा है? इससे प्रेम करना छोड़ दे। प्रतिदिन द्रव्य देने वाले इस धनकुबेर अचल में ही रम्भा की तरह दृढ़ अनुराग रख।' देवदत्ता बोली—"माताजी! मैं केवल धन की अनुरागिनी नहीं हूं, अपितु मैं गुणानुरागिनी हूं।" इस पर क्रुद्ध हो कर माता ने कहा—'भला, इस जुआरी में कोई गुण हो सकता है? सोच तो सही।" देवदत्ता ने कहा—"इसमें गुण क्यों नहीं है? यह धीर है, उदार है, प्रियभाषी है। अनेक विद्याओं और कलाओं का विशेषज्ञ है, गुणानुरागी है, स्वयं गुणज्ञ है, इसलिए इसका आश्रय मैं कैसे छोड़ सकती हूं? मुझसे इसका त्याग नहीं होगा।" तब से कपटकला प्रवीण कुट्टिटनीमाता ने मूलदेव के प्रति अपनी पुत्री की प्रीतिभंग करने के विविध उपाय अजमाने शुरू किए। जब देवदत्ता उसके लिए पुष्पमाला मांगती तो वह उसे मुर्झाए हुए बासी फूलों की माला दे देती, शरबत मांगती तो रंगीन पानी की बोतल उठा कर दे देती, ईख के टुकड़े मांगती तो वह बांस के नीरस टुकड़े दे देती ; चंदन मांगती तो कदम्ब का टुकड़ा दे देती। और ऊपर से उसे यों समझाती—'बेटी! मैं जो कुछ कर रही हूं, उससे तुम बुरा मत मानना। जैसा देव (यक्ष) होता है, तदनुसार ही उसे बलि (भेंट) दी जाती है। जैसे कंटीले पेड़ का आश्रय ले कर बेल बड़े दुःख से रहती है, वैसे ही तू इसका आश्रय क्यों लिये बैठी है? मेरी समझ से अपात्र मूलदेव को तुम्हें सर्वथा छोड़ देना चाहिए। इस पर देवदत्ता झुंझला कर बोली—"बिना ही परीक्षा किए किसे पात्र कहा जाय, किसे अपात्र?" माता भी उत्तेजित स्वर में बोली—"तो फिर परीक्षा क्यों नहीं कर लेती इनकी?" देवदत्ता ने हर्षित हो कर अपनी दासी को आदेश दे कर अचल को कहलवाया—'आज देवदत्ता ईख खाना चाहती है, अतः ईख भिजवा देना।" दासी ने जा कर अचल सार्थवाह से कही तो उसने यह बात सुनते ही अपने को धन्य माना और फौरन सहर्ष ईख की गाड़ियां भर कर ढेर-सी भिजवा दी। यह देख कर कुट्टिटनी ने अपनी पुत्री देवदत्ता से कहा—देख बेटी! अचल चिन्तामणि की तरह कितना उदार और वांछितफलदायक है। जरा इसकी ओर विचार करो।' खिन्न देवदत्ता ने माता से कहा—'क्या मैं हथिनी हूं कि मूल और पत्ते सहित अखंड ईख मेरे खाने के लिए यहाँ गाड़ी भर कर डाल दी हैं। अब आप मूलदेव को भी खाने के लिए ईख भेजने को कहलवाओ। फिर आपको मालूम हो जायगा कि दोनों में क्या अन्तर है? दासी ने मूलदेव से भी वही बात कही। चतुर मूलदेव ने ५-६ ईख ले कर उसके मूल और अग्रभाग काट कर साफ किये। पर्व की गांठें निकाल दीं और दो-दो उंगली जितने अमृतकुंडिका के बराबर टुकड़े कर के गंडेरियां बना लीं। फिर उन्हें केसर, इलायची, कपूर आदि सुगन्धित द्रव्यों से सस्कारित व सुगन्धित करके शूलों में पिरो कर कटोरों में भर कर भिजवा दीं। देवदत्ता ने देखते ही अपनी माता से कहा—'मां! देख लो सोने और पीतल का-सा मूलदेव और अचल में अन्तर!' कुट्टिनी ने सोचा—"मृगतृष्णा को पानी समझ कर जैसे प्यासा हिरन मोहवश उस ओर दौड़ता है, वैसे ही यह पुत्री भी वासना की प्यासी महामोहान्धकारवश इस धूर्तराज की ओर दौड़ रही है। अतः जैसे सांप की बांबी में गर्मागर्म खौलता हुआ पानी डालने से वह फौरन बाहर निकल भागता है, वैसे ही इस धूर्त के लिए भी कोई ऐसा उपाय करूं जिससे यह नगर से निकल कर भाग जाय।" कुट्टिटनी ने मूलदेव को नगर से निकालने के लिए अचल से मिल कर एक षड़यंत्र रचा। दोनों ने गुप्तरूप से मंत्रणा करके यह

निश्चित किया और अचल से कहा—"सार्थवाह ! तुम दूसरे गांव जाने का झूठा बहाना करना और देवदत्ता को विश्वास दिला कर यह कहते हुए चले जाना कि मैं गांव जा रहा हूं।" तुम्हें दूसरे गाँव गया हुआ जान कर धूर्त मूलदेव बेधड़क हो कर देवदत्ता के पास आएगा। जिस समय देवदत्ता के साथ निश्चित हो कर क्रीड़ा करता हो, ठीक उसी समय तुम मेरे संकेत के अनुसार सर्व सामग्री ले कर यहाँ चले आना और सीधे उसके कक्ष में पहुंच कर किसी भी रूप से उसे अपमानित करना ; जिससे तीतर-तीतरी के समान देवदत्ता के साथ फिर वह विषयसुखानुभव नहीं कर सकेगा।" अचल ने वैसा ही करना स्वीकार किया।

इस मंत्रणानुसार एक दिन अचल ने देवदत्ता से कहा—'मैं अमुक गाँव को जाता हूं।' यों कह कर द्रव्य ले कर वह चला गया। उसके जाते ही देवदत्ता ने निःशंक हो कर मूलदेव को प्रवेश कराया। कुट्टिनी ने सेवकों के साथ अचल को बुलवाया। अचल का अकस्मात् प्रवेश देख कर देवदत्ता ने मूलदेव को पलंग के नीचे उसी तरह छिपा दिया, जैसे पत्तों को टोकरी के नीचे छिपा देते हैं। अचल मुस्कराता हुआ पल्हथी मार कर पलंग पर बैठ गया और बहाना बनाते हुए बोला "देवदत्ते ! आज मैं बहुत थक गया हूं, इसलिए गर्म पानी से यहीं बैठा-बैठा स्नान करूंगा। तुम तैयार हो जाओ।' विस्मित और चकित-सी देवदत्ता कृत्रिम मुस्कराती हुई बोली—'स्नान करना है तो आप स्नानगृह में पधारें।' यों कह कर हाथ के सहारे से उसे आदरपूर्वक उठाने का प्रयत्न किया। लेकिन अचल तो पलंग पर ही आसन जमा कर बैठ गया। इसी बीच धूर्तराज न तो पलंग के नीचे से निकल सका और न ही वहाँ ठीक से बैठा रह सका। **मन जब अस्वस्थ रहता है, तब प्रायः शक्तियां भी घट जाती हैं।**' इतने में फिर अचल ने कहा—देवदत्ता ! आज मुझे स्वप्न आया था कि मैंने मालिश के समय पहने हुए वस्त्रसहित पलंग पर ही स्नान किया। अतः मैं अपने उस स्वप्न को सार्थक करने के लिए ही झटपट चला आया हूं। इस स्वप्न को यदि मैं सार्थक कर दूंगा तो मेरे पास शुभ समृद्धि बढ़ जाएगी।" यह सुनते ही कुट्टिनी ने समर्थन करते हुए कहा—"बेटी ! ऐसा ही कर ! अपने प्राणेश की आज्ञा तू क्यों नहीं मानती ? क्या तू ने नहीं सुना कि—"पतिव्रता स्त्रियाँ अपने स्वामी की इच्छानुसार कार्य करती हैं।" देवदत्ता ने अचल से कहा—'आर्य ! ऐसे रेशमी देवदूष्य वस्त्र की कीमती गद्दी को बिगाड़ना आप जैसे समझदार के लिए उचित नहीं मालूम होता।" अचल ने कहा—'भद्रे ! ऐसी कंजूसी दिखाना तेरे लिए ठीक नहीं है। तुम सरीखी स्त्रियाँ पति को जब अपना शरीर अर्पण कर देती हैं, तब इस गद्दी की चिन्ता क्यों करती हो ? जिसका स्वामी अचल है, उसे किस बात की कमी है ? जिसका मित्र समुद्र हो, उसे नमक की क्या कमी हो सकती है ?" इस पर धन के अधीन बनी हुई देवदत्ता ने पलंग पर बैठे हुए अचल के शरीर पर तेल मालिश किया और वहीं स्नान कराया। अचल को स्नान कराते समय मूलदेव स्नान के मैले पानी आदि से चारों ओर से उसी तरह तरबतर हो गया, जैसे महादेव को स्नान कराते समय उनका सेवक चंड हो गया था। कुट्टिनी ने अचल के सेवकों को आंख के इशारे से बुलाया और धूर्त को पलंग के नीचे से खींच कर निकालने की अचल को प्रेरणा दी। जैसे कौरव ने द्रौपदी के केश पकड़ कर उसे खींचा था, वैसे ही अचल ने मूलदेव के केश पकड़ कर कोपायमान हो कर खींचा। और उससे कहा—"नालायक ! तू खुद को नीतिज्ञ और बुद्धिमान समझता है, फिर आज कैसे फंस गया ? अब बता तुझे अपनी करतूत के अनुसार क्या सजा दूं ?" अगर तू धन से वश हो जाने वाली वेश्या के साथ क्रीड़ा करना चाहता है तो जिस प्रकार धनाढ्य जमींदार धन देकर गांव खरीद कर अपनी जागीरी बना लेता है, उसी प्रकार इसे

बहुत-सा धन दे कर खरीद क्यों नहीं लेता ?" मूलदेव भी हक्का-बक्का-सा आँखें मूंदे चुपचाप खड़ा रहा; वह उस समय कोई स्थानभ्रष्ट किसी भेड़िये की-सी अपनी हालत महसूस कर रहा था। अचल ने एकाएक विचार किया कि यह महात्मा दैववश ऐसी स्थिति में आ पड़ा है; इसलिए इसका निग्रह (दंड दे कर काबू में) करना उचित नहीं है। अतः उसने मूलदेव से कहा—'मूलदेव ! मैं आज तक के तेरे किये हुए अपराधों को माफ करता हूं। अगर तू कृतज्ञ है तो इसके बदले समय आने पर मेरे पर उपकार करना।' यों कह कर उसने मूलदेव को छोड़ दिया।

युद्ध में घायल हुए हाथी के समान मूलदेव वहाँ से निकल कर झटपट चल पड़ा और कुछ ही देर में गाँव के बाहर पहुँच कर उसने एक महासरोवर में स्नान किया। स्नान के बाद धोये हुए श्वेत वस्त्र पहनने पर वह शरद्ऋतु-सा शोभायमान हो रहा था। अचल पर उपकार या अपकार करने के विचाररूपी मनोरथ पर आरूढ़ मूलदेव वहाँ से वेणातट की ओर चला। रास्ते में दुर्दशा की प्रिय सखी के समान बारह योजन लम्बी और हिंस्र पशुओं से भरी हुई अटवी आ गई। वह चाहता था, महासमुद्र को पार करने के लिए जैसे नौका सहायक होती है, वैसे ही मुझे इस लंबी अटवी को पार करने में कोई सहायक मिल जाय। ठीक उसी समय मानो आकाश से टपक पड़ा हो, इसी तरह टक्क नाम का एक ब्राह्मण भोजन की पोटली हाथ में लिए यकायक वहाँ आ निकला। वृद्धपुरुष को लाठी का सहारा मिल जाने की तरह असहाय मूलदेव को भी इस ब्राह्मण का सहारा मिल जाने से वह बहुत खुश हुआ। मूलदेव ने ब्राह्मण से कहा— "विप्र ! इस अटवी में असहाय पड़े हुए मेरी छाया के समान मुझे आप भाग्य से मिल गए हैं। अतः अब हम दोनों यथेष्ट बातें करते हुए इस अटवी को शीघ्र ही पार कर लेंगे। **कथा रास्ते की थकान को मिटा देती है।** इस पर ब्राह्मण ने पूछा "महाभाग ! पहले यह तो बताओ कि तुम्हें कितनी दूर और किस जगह जाना है ? और मेरी मार्ग की मैत्री को स्वीकार करो। मुझे तो इस जंगल के उस पार ही 'वीरनिधान' नामक नगर में जाना है। तुम्हें कहाँ जाना है, वह कहो।" मूलदेव ने कहा—'मुझे वेणातट नगर में जाना है।' विप्र ने सुनते ही कहा—"तब तो ठीक है। बहुत दूर तक हमारा रास्ता एक ही है, तो लो, चलें।" सिर को अपने प्रखर ताप से तपाने वाला सूर्य मध्याह्न में आ गया, तब तक वे दोनों एक सरोवर के तट पर पहुँचे। मूलदेव उसमें हाथमुंह धो कर थकान मिटाने के लिए एक ऐसी छायादार जगह पर बैठ गया, जहां धूप नहीं लगती थी। ब्राह्मण ने भी अपनी पोटली खोली और उसमें से भोजन निकाल कर कृपण की तरह अकेला ही पानी से लगा कर खाने लगा। धूर्त ने सोचा—'पहले मुझे दिये बिना ही यह अकेला खाने बैठ गया है। मालूम होता है, इसे बहुत कड़ाके की भूख लगी है। सम्भव है, भोजन कर लेने के बाद यह मुझे देगा।' परन्तु ब्राह्मण तो उसकी इस आशा के विपरीत भोजन करते ही चटपट अपनी पोटली बांध कर खड़ा हो गया। मूलदेव ने सोचा—'आज नहीं तो कल देगा।' मगर दूसरे दिन भी ब्राह्मण ने उसी तरह अकेले ही भोजन किया। इसी आशा ही आशा में मूलदेव के तीन दिन बीत गए। '**पुरुषों के लिए आशा ही तो जीवन होता है।**' जब दोनों के मार्ग बदलने का अवसर आया तब ब्राह्मण ने धूर्तराज से कहा 'लो, भाग्यशाली ! अब मेरा और तुम्हारा रास्ता अलग-अलग है। मैं अपने मार्ग पर जाता हूँ। तुम्हारा कल्याण हो !' इस पर मूलदेव ने भी कहा—"विप्रवर ! तुम्हारे सहयोग से मैंने बारह योजन लंबी इस भयंकर अटवी को एक कोस की तरह पार कर ली। अब मैं वेणातट जाऊंगा। मेरे योग्य कोई काम हो तो जरूर कहना। मेरा नाम मूलदेव है। यह तो बताओ कि आपका नाम क्या ?' उसने कहा—'मेरा असली नाम तो सद्धड़

विप्र है, लोग मुझे निर्घृण शर्मा के नाम से पुकारते हैं।' यों कह कर साथी टक्क मूलदेव से अलग हो गया।

अब मूलदेव अकेला ही वेणातट के रास्ते पर चल पड़ा। रास्ते में प्राणियों के विश्रामस्थल की तरह एक गाँव नजर आया। भूख से व्याकुल मूलदेव के पेट से आंतें लग गयी थीं। उसने गाँव में प्रवेश किया, और भिक्षा के लिए घूमते हुए उसे एक घर से उड़द के बाकुले मिले। वह उन्हें ही ले कर गांव से बाहर निकल रहा था कि सामने से पुण्यपुंज के समान एक मासिकोपवासी मुनि आते हुए दिखाई दिए। उन्हें देख कर मूलदेव बहुत हर्षित हुआ। सोचा—' मेरे ही किसी पुण्योदय से आज समुद्र से तारने वाले यानपात्र (जहाज) के समान संसारसमुद्र से तारने वाले उत्तम तपस्वी मुनिरूपी पात्र मिले हैं।" रत्नत्रयधारी मुनिवर को पात्र में उसने वे उड़द के बाकुले भिक्षा के रूप में इस भावना से दिये कि दीर्घकाल से सिंचित विवेकवृक्ष का फल आज मुझे मिले।' दान देने के बाद मूलदेव ने कहा— 'सचमुच वे धन्य है; जिनके बाकुले साधु के पारणे के काम आते हैं।" मूलदेव की भावना से हर्षित होकर एक देव ने आकाशवाणी से कहा—"भद्र ! तुम आधा श्लोक रचकर मांगो कि मैं तुम्हें क्या दूं ?' मूलदेव ने उक्त देव से निम्न अर्द्धश्लोक रच कर प्रार्थना की—"**गणिका-देवदत्तेभ-सहस्र-राज्यमस्तु मे" अर्थात्** देवदत्ता गणिका और हजार हाथियों वाला राज्य मुझे प्राप्त हो।" देव ने कहा— 'ऐसा ही होगा।" मूलदेव भी मुनि को वन्दन करके गांव में गया और भिक्षा ला कर स्वयं ने भोजन किया। इस तरह रास्ता तय करते हुए वह क्रमश वेणातट पहुंचा। वहाँ एक धर्मशाला में ठहरा। थकान के कारण उसे गहरी नींद आगई। सुखनिद्रा मे सोते हुए रात्रि के अन्तिम पहर में उसने एक स्वप्न देखा—' पूर्णमंडलयुक्त चन्द्रमा ने मेरे मुख में प्रवेश किया है।" यही स्वप्न उस धर्मशाला के किसी अन्य यात्री को भी आया था। वह भी स्वप्न देखते ही जाग गया और उसने अन्य यात्रियों को अपना सपना कह सुनाया। उन यात्रियों में से एक ने स्वप्नशास्त्र के अनुसार विचार करके उससे कहा तुम्हें शीघ्र ही खीर और घी के मालपूए मिलेंगे।" इस सुन कर प्रसन्न हो कर यात्री ने कहा—' ऐसा ही हो।" सच है सियार को बेर भी मिल जांय तो वह महोत्सव के समान खुशियां मनाता है।" धूर्तराज ने भी स्वप्न का फल सुन लिया था, इसलिए उसने किसी को अपना स्वप्न नहीं बताया। उसने सोचा— "मूर्खों को रत्न बताने से वे उसे कंकड-पत्थर ही बताएँगे।' उस यात्री को गृहाच्छादन पर्व के दिन मालपूए खाने को मिले। स्वप्नफल प्रायः अपने विचार के अनुसार ही मिला करता है। धूर्तराज भी सुबह-सुबह एक बगीचे में पहुंचा। वहाँ फल चुनते हुए एक माली के काम में सहायता करने लगा। इससे माली खुश हो गया। 'ऐसा कार्य लोगों के लिए प्रीतिकारक होता ही है।' माली से फल-फूल ले कर स्नानादि से शुद्ध हो कर वह स्वप्नशास्त्रज्ञ पण्डित के यहाँ गया। मूलदेव ने स्वप्नशास्त्रज्ञ पण्डित को नमस्कार किया और उन्हें फल, फूल भेंट दे कर अपने स्वप्न का हाल बताया। स्वप्नशास्त्रज्ञ ने प्रसन्न हो कर कहा—'वत्स ! मैं तुम्हारे स्वप्न का फल शुभ मुहूर्त में बताऊंगा। आज तुम मेरे अतिथि बनो।' यों कह कर मूलदेव को आदरपूर्वक बिठाया, यथासमय भोजन कराया। तत्पश्चात् पण्डित ने अपनी कन्या विवाह के लिए मूलदेव के सामने ला कर प्रस्तुत की। यह देख कर मूलदेव ने कहा—'पिताजी ! आप मेरे कुल, जाति आदि से परिचित नहीं, फिर अपनी कन्या देते हुए कुछ विचार क्यों नहीं करते ?" उपाध्याय ने कहा—'वत्स ! तुम्हारी आकृति से तुम्हारे कुल और गुण नजर आ रहे हैं। इसलिए अब शीघ्र ही मेरी कन्या स्वीकार करो।' उपाध्याय के आग्रह पर मूलदेव ने उसकी कन्या के साथ विवाह किया। मानो भविष्य में होने वाली कार्यसिद्धि का मुख्य द्वार खुल गया हो। फिर उपाध्याय ने उसे स्वप्नफल बताते

हुए कहा—'आज से सातवें दिन तुम यहाँ के राजा बनोगे।' प्रसन्न हो कर मूलदेव वहीं रहा। पांचवें दिन नगर के बाहर जा कर वह एक चंपक वृक्ष के नीचे सो गया।

मूल के बिना जैसे वृक्ष नष्ट हो जाता है, वैसे ही उस नगर का राजा अचानक ही पुत्ररहित मर गया। अतः नये राजा की तलाश होने लगी। इसके लिए घोड़ा, हाथी, छत्र, चामर, और कलश मंत्रित करके राजा के सेवकों ने सारे नगर में घुमाए, परन्तु राजा के योग्य कोई व्यक्ति नहीं मिला। सचमुच राज-गुणसम्पन्न व्यक्ति विरले ही मिलते हैं। फिर नगर के बाहर उन्हें घुमाते हुए वे चम्पक-वृक्ष के पास पहुँचे, जहां मूलदेव सोया हुआ था। मूलदेव को देखते ही घोड़ा हिनहिनाने लगा, हाथी जोर से चिंघाड़ने लगा। राजसेवक मूलदेव के विषय में संकेत समझ कर तुरंत उसके पास पहुंचे और उसे जगा कर राजसी वस्त्रों से सुसज्जित करके कलश से वहीं उसका राज्याभिषेक कर दिया और जयकुंवर हाथी की पीठ पर बिठाया। बिजली के-से दण्ड के समान स्वर्ण-दण्डमण्डित दोनों चामर मूलदेव पर ढुलाए गए, जिन्होंने हवा करने का काम किया, शरदृऋतु के मेघ के समान उज्ज्वल श्वेत छत्र मस्तक पर शोभायमान होने लगा। नये राजा मिलने की खुशी में प्रजाजनों ने जय जयकार के नारे लगाए। वाद्यनिनादों ने दशों दिशाओं को गुंजा दिया। इस प्रकार खूब धूमधाम से मूलदेव ने नगर में प्रवेश किया। हाथी से नीचे उतरते ही मूलदेव को राजसेवक राजमहल में ले गए। वहां रखे हुए सिंहासन पर उसे बिठाया। उसी समय देवों द्वारा आकाशवाणी हुई—"देवप्रभाव से युक्त, कलाओं का भंडार यह विक्रम नामक नया राजा राजगद्दी पर बैठा है। जो इस नृप की आज्ञानुसार नहीं चलेगा, उसको वैसी सजा मिलेगी, जैसे पर्वत को वज्र चूर-चूर कर देता है।" इस दिव्यवाणी को सुन कर सारी प्रजा और मंत्रीगण स्तब्ध, विस्मित एवं भयभीत हो गए। जैसे मुनि के इन्द्रियगण वश हो जाते हैं, वैसे ही सारे मन्त्रीगण सदा के लिए उसके वशवर्ती हो गए। इस प्रकार धीरे-धीरे राज्य-संचालन व्यवस्थित ढंग से होने लगा। दुःख के सब बादल अब फट गए थे, सुख का सूर्योदय हो गया था। उज्जयिनी के राजा के साथ परस्पर स्नेहयुक्त व्यवहार के कारण उसकी मैत्री हो गई।

इधर देवदत्ता ने मूलदेव की अचल द्वारा जब बिडम्बना होते देखी तो उसे भी अचल के प्रति घृणा हो गई। एक दिन मौका देख कर उसने अचल को फटकारा—'अरे धनमदान्ध मूर्ख! क्या तुमने मुझे अपनी कुलगृहिणी समझ रखा है? जो उस दिन मेरे सामने मेरे ही घर में तुमने मूलदेव के साथ ऐसा तुच्छ व्यवहार किया। याद रखना, मैं तुम्हें इसके लिए क्षमा नहीं करूंगी। तुम्हें मटियामेट करके ही छोडूंगी।' बस, आज से मेरे घर में पैर रखने की जरूरत नहीं।" इस प्रकार तिरस्कारपूर्वक अचल को उसने घर से निकाल दिया। उसके बाद देवदत्ता राजा के पास पहुंची। और उनसे कहा—'देव! आपके पास मेरा जो वरदान अमानत रखा हुआ है उसे मैं आज लेना चाहती हूँ।" राजा ने कहा—"तुम जो चाहो सो वरदान मांग लो, मैं वचनबद्ध हूं।" देवदत्ता ने वरदान मांगा कि "आज से मूलदेव के सिवाय और किसी को मेरे घर पर आने की आज्ञा मत देना। खासतौर से अचल पर तो अवश्य प्रतिबन्ध लगा दें; क्योंकि वह प्रायः मेरे यहां आया करता है।' राजा बोला—'अच्छा, ऐसा ही होगा। "परन्तु यह तो बताओ, ऐसा प्रतिबन्ध लगाने का क्या कारण है?" इस पर देवदत्ता ने माधवी को आँख के इशारे से सूचित किया कि वह उसे सारा हाल बता दे। माधवी ने अथ से इति तक सारी घटना सुनाई। सुनते ही जितशत्रु राजा की भौंहें तन गई। उसने क्रुद्ध हो कर सार्थवाह अचल को बुलाया और तिरस्कारपूर्वक कहा—'मूर्ख! कान खोलकर सुन ले! मेरे राज्य के ये दोनों रत्न हैं, आभूषण हैं। तुमने अपने धन के

अभिमान में अंधे हो कर मेरे रत्न की पत्थर की तरह अवहेलना की है। इस भयंकर अपराध के बदले तुम्हें मृत्युदण्ड की सजा दी जाती हैं।" अचल तो यह सुनते ही शर्म के मारे धरती मे गड़ गया। उसका चेहरा फीका पड़ गया। वह राजा के सामने गिड़गिड़ा कर प्राणों की भिक्षा मांगने लगा। देवदत्ता से भी माफी मांगते हुए कातर दृष्टि से उसकी ओर देखने लगा। देवदत्ता को उस पर दया आ गई। उसने राजा से उसकी मृत्युदण्ड की सजा मौकूफ करवा दी। राजा ने उसे आदेश देते हुए कहा—'सार्थवाह! तेरी प्राणरक्षा तभी होगी, जब तू कहीं से ढूंढ़ कर मूलदेव को वापिस यहाँ ले आएगा।" अचल ने राजा की बात शिरोधार्य करके वहाँ से नमन करके प्रस्थान किया। एक ओर देवदत्ता द्वारा किया गया अपमान उसके हृदय को कचोट रहा था, तो दूसरी ओर खोये हुए धन की तरह वह एक ही धुन में मूलदेव की खोज में आगे से आगे तेजी से बढ़ा चला जा रहा था। परन्तु चलते-चलते कई दिन हो गए, मगर मूलदेव का कहीं पता न लगा। अचल सार्थवाह के मन में बड़ी बेचैनी रहने लगी। इसी हड़बड़ी में वह झटपट अपना सारा माल वाहनों में भरवा कर काफले के साथ पारसकुल देश की ओर रवाना हो गया।

इधर राजा बना हुआ मूलदेव सोचने लगा —'देवदत्ता के बिना इस राज्यलक्ष्मी का उपभोग मुझे लवणरहित भोजन के समान फीका लग रहा है। अतः उसने अपने चतुर दूत के साथ उज्जयिनी-नरेश जितशत्रु राजा के पास देवदत्ता के लिए उपहारसहित सन्देश भिजवाया। "देवप्रदत्त राज्यलक्ष्मी का उपभोग करते हुए मूलदेव ने जितशत्रु नृप को पत्र में यह संदेश कहलवाया है कि 'राजन्! आप शायद मेरे वर्तमान नाम से परिचित होने के कारण भूल गए होंगे। मैं वही मूलदेव हूं। आप जानते है कि देवदत्ता के प्रति मेरे हृदय में कितना प्रेम है? अतः अगर उसकी इच्छा हो तो आप उसे मेरे यहाँ भेज दें।" सन्देश सुनते ही उज्जियिनीनरेश ने दूत से कहा--"मुझ से उन्हें इतनी प्रार्थना करने की क्या आवश्यकता थी? हमारे और विक्रम राजा के तो अच्छे सम्बन्ध हैं? मेरे में और उनमें कोई भेद नहीं है। मुझे पता ही नहीं चला कि ये विक्रम राजा भूतपूर्व मूलदेव हैं। नहीं तो, मैं स्वयं उनसे मिलने जाता, देवदत्ता को भी पहले ही भेज देता।" जितशत्रु ने फौरन देवदत्ता को बुलवा कर कहा—'महाभागे! तुम्हारे भाग्य खुल गये हैं। चिरकाल के बाद तुम्हारा मनोरथ पूर्ण हो गया है। मूलदेव देव के प्रभाव से वेणातट के राजा विक्रम बन गए है। तुम्हें बुलाने के लिए उन्होंने खासतौर से अपने दूत के साथ संदेश भिजवाया है। अतः तुम्हे अब अविलम्ब वहाँ जाना चाहिए।' यह खुशखबरी सुनते ही हर्ष से देवदत्ता का मुखमंडल खिल उठा। जितशत्रु की आज्ञा से वह वहाँ से अपना दलबल एवं आवश्यक सामग्री ले कर चल पड़ी और कुछ ही दिनों में वेणातट पहुंची। उसने प्रवेश से एक दिन पहले ही विक्रम राजा को अपने आने की खबर पहुंचा दी थी। इसलिए विक्रमराजा ने बहुत ही धूमधाम से गाजे-बाजे के साथ देवदत्ता को नगर प्रवेश कराया और फिर अपने चित्त के समान सत्कारपूर्वक विशाल राजमहल में उसे ले गया। अब देवदत्ता यहीं रहने लगी। देवदत्ता के साथ सुखोपभोग से मूलदेव के चांदी-से दिन और सोने-सी रातें कटने लगीं। इधर अर्थ और काम का धर्मयुक्त पालन करते हुए और जिनभक्ति करते हुए राजा सुखपूर्वक प्रजा पालन करते हुए राज्य करने लगा।

इधर पारसकुल देश से खरीदने योग्य बहुत-सा माल ले कर जलपरिपूर्ण मेघ के समान अचल सार्थवाह वापिस लौट रहा था। संयोगवश एक दिन वह वेणातट नगर पहुंचा। नगर में उसने अपना पड़ाव डाला और एक थाल में बहुमूल्य हीरे, पन्ने, माणिक, मोती, मूंगा, मणि, रत्न आदि भर कर विक्रमराजा को भेंट देने के लिए लाया। राजा ने अचल को देखते ही पहचान लिया। चतुर पुरुष

किसी को देखते ही पूर्वजन्म के सम्बन्ध के स्मरण की तरह तुरत उसे पहिचान लेता है। परन्तु अचल मूलदेव को राजा के वेश में नहीं पहिचान सका। सच है, वेष परिवर्तन करने पर एक नट को भी अल्प-बुद्धि वाले नहीं पहिचान पाते। कुशल प्रश्न के पश्चात् राजा ने सार्थवाह से पूछा—"कहो जी! आप कहां से और किसलिए आए हैं? कौन हैं?" अपने साथ क्या-क्या माल लाए हैं?' उसने उत्तर में कहा—'राजन्! हम पारसकुल से आए हैं। कीमती माल बेचने के लिए परदेश से लाये हैं। आप, उसे देखने के लिए आज्ञा फरमावें।' कौतुकवश राजा ने कहा—"अच्छा; मैं स्वयं देखने के लिए आऊंगा।" सार्थ-वाह बोला—यदि मेरी कुटिया पावन करेंगे तो आपकी बड़ी मेहरबानी होगी।' बड़े आदमियों के क्रोध और प्रसन्नता को कौन समझ सकता है?" राजा सार्थवाह के साथ उसके डेरे पर आया। उसने भी मजीठ, कपड़ा, सूत आदि लाए हुए माल की जगात तय करने के लिए सारा माल खोल कर बताया। राजा ने माल देख कर पूछा—क्या इतना ही माल है?' 'हां, दीनदयाल! इतना ही है।' 'सच-सच बताओ, अगर ज्यादा माल निकला तो तुम्हारी पूरी खबर ली जाएगी।' सार्थवाह—'मैं सच-सच कहता हूं कि इतना ही माल है।' राजा ने अपनी बात दोहराते हुए कहा—'देखो, अच्छी तरह देख कर बताओ। हमारे राज्य में करचोरी करने वाले को भयंकर शारीरिक सजा दी जाती है।' अचल बोला—'दीननाथ! हम दूसरों के सामने भी असत्य नहीं बोलते तो आपके सामने कैसे बोल सकते हैं?' यह सुन कर राजा ने अपने कराधिकारी से कहा—"इस सत्यवादी सार्थवाह से आधा कर लेना और इसके माल की अच्छी तरह तलाशी ले लेना।" राजा के आदेश पर करदेय-वस्तुनिरीक्षक महाजनों ने बांस के लात मार कर उसे अंदर उतार कर तलाशी ली तो मामूली माल के बीच में छिपाये हुए कुछ कीमती माल की शंका हुई। शंका होने से वहां खड़े राजपुरुषों ने वहाँ चारों ओर रखे हुए किराने के स्थानों को झटपट टटोल लिया। उन्हें सार्थवाह के माल और धन दोनों पर शक हुआ। अधिकारी सदा दूसरों के दिल और नगर की तह तक पहुंच जाते हैं। अतः वे अधिकारी सार्थवाह पर कुपित हुए, उसे फटकारा और करचोरी का अपराध लगा कर उसे गिरफ्तार कर लिया। राजा के आदेश से सामन्त भी गिरफ्तार कर लिये जाते हैं तो इस व्यापारी की क्या बिसात थी! राजपुरुषों ने उसे राजमहल में राजा के सामने प्रस्तुत किया तो राजा ने कह कर उसे बन्धनमुक्त करा दिया। फिर राजा ने उसे महल में एक ओर ले जा कर पूछा—'मुझे पहिचानते हो, मैं कौन हूं?' अचल ने कहा—जगत् को प्रकाशित करने वाले सूर्य को और आपको कौन ऐसा मूर्खशिरोमणि होगा, जो नहीं पहिचानता होगा?' 'चापलूसी करना बंद कर सच-सच बताओ, तुम मुझे जानते हो या नहीं?' इस प्रकार राजा के कहने पर अचल ने कहा—'देव! मैं आपको नहीं जानता।' इस पर राजा ने देवदत्ता को बुला कर उसे अचल को बताया। अपने ईष्टजनों को देख कर व्यक्ति खुद को कृतार्थ समझता है क्योंकि इससे अभिमानी लोगों के मन को शान्ति मिलती है। देवदत्ता को देखते ही अचल एकदम शर्मा गया और मन ही मन अत्यन्त दुःख महसूस करने लगा कि एक स्त्री के सामने अपनी तौहीन होने की पीड़ा मृत्यु से भी बढ़ कर दुःखदायी होती है। देवदत्ता ने अचल से कहा—"यह वही मूलदेव है, जिन्हें तुमने संकट में डाल दिया था, और मुझे भी धर्मसंकट में डाल दिया था। दैवयोग से आज तुम संकट में पड़े हो। इस समय तुम्हारे प्राण संकट में हैं। फिर भी आर्यपुत्र तुम्हें माफ करेंगे। ऐसे महापुरुष तुच्छ बातों पर ध्यान नहीं देते। न बदला लेने जैसी इतनी नीचता पर उतरते हैं।' यह सुन कर तुरन्त ही सार्थवाह ने राजा और देवदत्ता, दोनों के चरणों में पड़ कर कहा—'उस समय मेरे द्वारा किये गए तमाम अपराधों को आप क्षमा करें। उसी अपराध के सिल-

सिले में उज्जयिनीनरेश जितशत्रु मुझ पर कोपायमान हैं। वे भी आपके कहने पर मुझे उज्जयिनी में प्रवेश करने देंगे ? मूलदेव ने कहा — 'जब देवदत्ता ने तुम पर इतनी कृपा की है तो मैं भी तुम्हें क्षमा करता हूँ। उसके बाद राजा ने उस पर दयादृष्टि रख कर अपना एक दूत उसके साथ उज्जयिनी भेजा और उज्जयिनीनरेश को अचल को प्रवेश करने की आज्ञा देने का सदेश कहलवाया। अचल को दूत के साथ उज्जयिनी जाने की आज्ञा दी। मूलदेव राजा के सन्देश से अवतिपति ने अचल को उज्जयिनी-प्रवेश की आज्ञा दी। क्योंकि क्रोध का कारण अब समाप्त हो गया था।

एक दिन दुःख से बेचैन कुछ व्यापारियों ने एकत्र हो कर राजा मूलदेव से प्रार्थना की - 'देव ! आप प्रजा की रक्षा के लिए रातदिन चिन्तित रहते हैं, लेकिन इस नगर में चोर-लुटेरे आ कर चारों ओर चोरी, लूटमार आदि करके हमें बहुत हैरान कर रहे हैं। वे चोर ऐसे उद्दण्ड है कि हर रात को किसी न किसी के यहाँ चोरी करने पहुँच जाते हैं तथा चूहे की तरह दीवार तोडते हैं। कोतवाल भी हमारे जानमाल की सुरक्षा कर सकने में लाचार है। क्या बताएँ, अपने घर में भ्रमण की तरह हमारे घर में निःशंक हो कर घूमते हैं, मानो कोई अंजनसिद्धि ही उनके पास हो।' इस पर राजा ने कहा—'प्रजाजनो ! घबराओ मत ! मैं शीघ्र ही उस अपयशकारी चोर का पता लगा कर उसे गिरफ्तार करवाऊंगा और बड़ी भारी सजा दूंगा।' यों आश्वासन दे कर राजा रवाना हुए। राजा ने राजसभा में नगराध्यक्ष को बुला कर आज्ञा दी—'नगर में जितने भी चोर हैं, उनका पता लगा कर शीघ्र ही पकड़ो और उन्हें कड़ा दण्ड दो।' नगराधिकारी ने कहा स्वामिन् ! और तो ठीक है। पर एक चोर ऐसा है जो हमारे देखते ही देखते आँख बचा कर पिशाच की तरह भाग जाता है। वह पकड़ा भी नहीं जाता।' राजा ने कहा – 'अच्छा, मैं देखूंगा उसे।' उसी रात को नीलवस्त्रधारी बलदेव की तरह राजा ने नीले वस्त्र पहने और नगरचर्या करने हेतु शहर में निकला। जहाँ जहाँ चोरो के छिपने के अड्डे थे, उन सब जगहों पर बाहुबलशाली राजा घूम लिया। दिनभर घूमते-घूमते राजा थक गया और एक टूटे-फूटे खण्डहर बने देवकुल में उसी तरह सो गया जिस तरह गुफा में केसरीसिंह सो जाता है। रात्रिचर भूत-प्रेत की तरह भयावना-सा मंडिक नाम का चोरों का सरदार रात को वहाँ आया। उसने राजा को सोये देख कर आवाज दी —'यहाँ कौन सोया हुआ है ?' सोते हुए सिंह के समान वहाँ सोए हुए राजा के उस चोरपति ने क्रोधित हो कर लात मारी। राजा ने आगन्तुक की चेष्टा, स्थान और धन का पता लगाने की दृष्टि से उत्तर दिया—'मैं एक परदेशी मुसाफिर हूं।' प्रायः ऐसे व्यक्ति आमने-सामने होशियार नहीं होते। चोर ने राजा से कहा—'मुसाफिर ! चल, आज मेरे साथ, मैं तुम्हें बहुत मालामाल बना दूंगा।' धिक्कार है, मदान्ध की अज्ञानता को ! राजा धनार्थी हो कर उस चोर-सेनापति के पीछे-पीछे पैदल चला। गर्ज पड़ने पर जनार्दन भी गधे के पैरों का मर्दन करता है। राजा को साथ में लिए हुए वह चोरनेता एक बड़े धनाढ्य के घर में घुसा। हथियार से घर में सैंध लगा कर कुंड में से अमृत ग्रहण करने वाले राहु की तरह उसने उस घर में जो भी अच्छी-अच्छी वस्तु मिली, उसे ले ली। अज्ञानी चोर द्वारा चुराया हुआ और गठरी बंधा वह सारा धनमाल राजा के सिर पर रख कर वे चले। शाकिनी जैसे अपना पेट बताती फिरती है, वैसे ही मूढ़बुद्धि चोर ने राजा को सारा धन बता दिया। राजा ने मन ही मन चोर को खत्म करने की मशा से जैसे उस चोरसेनापति ने कहा, वैसे ही बोझ उठा लिया। क्योंकि धूर्त लोग काम पड़ने पर अतिनम्र बन जाते हैं और कार्य सध जाने पर राक्षस-से बन जाते हैं। अतः जीर्ण उद्यान में पहुँच कर उसने वहाँ की गुफा खोली और अंदर घुसा। गोबर में रखे हुए बिच्छू की तरह राजा को भी वह गुफा के अंदर ले गया। गुफा में नाग

कुमारी देवी सरीखी रूपयौवनसम्पन्न, लावण्य और सौन्दर्य से युक्त, सुडौल अवयवों से सुशोभित एक कुमारी बैठी थी, जो उसकी बहन थी। चोरपति ने बहन को आदेश दिया—'इस अतिथि के दोनों पैर धो दो।' वह राजा को निकट ही एक कुंए पर ले गई और उसे एक आसन पर बिठाया। कुंए से पानी निकाल कर वह कमलनयनी कन्या राजा के पैर धोने लगी। राजा के कोमल अंगों का स्पर्श होने से उसे सुखानुभव हुआ। उसने गौर से सभी अंगों पर दृष्टिपात किया और विस्मित हो कर मन ही मन सोचा—'यह तो साक्षात् कामदेव ही है। इसे मारना ठीक नहीं।' राजा पर वह अत्यन्त मोहित और दयार्द्र हो गई। उसने राजा से कहा—'महाभाग! पैर धोने के बहाने इस कुंए में बहुत-से मनुष्यों को गिरा दिये हैं। चोरों के दिल में दया कहां? यह तो मैं आपके रूपलावण्य को देख कर आप पर मोहित और प्रभावित हो गई; इसलिए आपको मैं इस कुंए में नहीं डालूंगी। महापुरुष का प्रभाव अद्भुत वशीकरणयुक्त होता है। इसलिए स्वामिन्! मेरा अनुरोध है कि आप यहां से झटपट चले जाइए, नहीं तो हम दोनों की खैर नहीं है।' राजा तत्काल वहां से उठ कर बाहर निकल गया। चतुर पुरुष पराक्रमी होते हुए भी शत्रु को बुद्धिबल से मारते हैं। राजा के काफी दूर चले जाने के बाद वह लड़की जोर से चिल्लाई 'भाई, वह तो भाग गया, दौड़ो-दौड़ो जल्दी, वह चला गया।' अपने परिचित या स्नेही को बचाने के लिए बुद्धिशाली ऐसे उपाय किया करते हैं। मंडिक चोर कंकजाति की तीखी धार वाली तलवार ले कर वेताल के समान बाहर जीभ लटकाए हुए फुर्ती से राजा के पीछे दौड़ा। बृहस्पति के समान बुद्धिमान राजा उसे नजदीक आया जान कर चौक में खड़े किये हुए पत्थर के एक खंभे के पीछे छिप गया। क्रोध से लाल-लाल आंखें किये हुए मंडिक चोर ने आव देखा न ताव, खंभे को ही पुरुष समझ कर कंकजातीय तलवार से छेदन करके अपने स्थान को लौट आया। चोर का पता लग जाने से राजा भी हर्षित हो कर अपने महल में चला गया। दूसरों को परेशान करने वाला पकड़ा जाय तो किसे खुशी नहीं होती?

प्रातःकाल विश्वमानसहारी राजा उपवन में घूमने के बहाने चोर का पता लगाने के लिए निकला। एक कपड़े की दूकान पर सिलाई का काम करता हुआ, जांघों और पिंडलियों पर कपड़े के टुकड़े लपेटे हुए जरा-सा मुंह बाए मंडिकचोर बैठा था। वासलता से ढकी हुई टट्टी की तरह कपड़ों से कपटपूर्वक ढकी हुई आकृति बनाए हुए उस चोर को देख कर अनुमान से राजा रात को देखे हुए उस चोर को पहचान गया। राजा ने तुरन्त राजमहल में आ कर कुछ विश्वस्त सेवक बुलाए और हुलिया बता कर कहा कि—'अमुक-अमुक स्थान पर जिसके कपड़े की पट्टियां बंधी हुई हैं, उसे यहां बुला ले आओ। सेवक उस स्थान पर पहुंचा। और गौर से देख कर उसके पास, जा कर सेवक ने कहा—आपको राजाजी सम्मानपूर्वक बुला रहे हैं।' चोर ने सुनते ही मन में सोचा—'हो न हो, यह वही पुरुष है, जो उस समय मेरे यहां से भागने में सफल हो गया था, मारा नहीं गया है। उसी का ही यह परिणाम है कि अब राजा बुला रहा है। राजा-महाराजा अकसर चोर को पहिचान जाते हैं।' यह सोच कर वह चोर राजकुल में गया। राजा ने उसे अपने पास बड़े आसन पर बिठाया। क्योंकि मारना चाहने वाले नीतिज्ञपुरुष पहले उस पर महाप्रसाद करते हैं। मंद-मंद मुस्कराते हुए राजा ने मधुर वचनों से उसे कहा—'तुम अपनी बहन मुझे दे दो। कन्या तो दूसरों को देने योग्य ही होती है।' अब तो मंडिक को निश्चय हो गया कि मेरी बहन को इसने पहले देखा है, इसलिए इसके सिवाय और कोई वहां नहीं गया, यह राजा ही गया है।' उसने राजा से कहा—'देव! आप मेरी बहन के साथ पाणिग्रहण करें। वह तो आपकी ही है! और मेरे पास जो कुछ भी है, वह सब भी आपका ही है। जैसे कृष्ण ने अनुरक्ता

रुक्मिणी के साथ विवाह किया था, वैसे ही राजा ने रूपवती मंडिकभगिनी के साथ विवाह किया। फिर राजा ने मंडिक को महाप्रधान पद दे दिया। समुद्र के अन्तस्तल के समान राजाओं के अन्तस्तल को कौन जान सकता है ? अब राजा मंडिक चोर की बहन द्वारा रोजाना वस्त्र, आभूषण आदि उसके पास से मंगवाता था। 'धूर्त आदमी से ही धूर्त ठगा जाता है।' धीरे-धीरे राजा ने जब बहुत-सा धन मंगवा लिया तो एक दिन अपनी पत्नी से पूछा—'प्रिये ! अब तुम्हारे भाई के पास कितना धन और है ?' मंडिकभगिनी ने कहा—'उसके पास इतना ही धन था। क्योंकि अपने प्रियतम से छिपाने को कुछ भी नहीं होता।' इसके पश्चात् कठोर आदेश वाले राजा ने अनेक प्रकार की यातनाएँ दे कर उसे मरवा डाला।

अतः चोरी का बुरा फल इस जन्म में भी किसी भी प्रकार से मिलता है ; ऐसा समझ कर समझदार व्यक्ति को चोरी से सदा बचना चाहिए।

रोहिणेय चोर से संत बना

अमरावती की शोभा को मात करने वाले राजगृह नगर में अनेक राजाओं द्वारा सेवित श्रेणिक राजा राज्य करता था। कृष्ण के बुद्धिशाली पुत्र प्रद्युम्नकुमार की तरह उस राजा के नीतिपराक्रमशाली एक पुत्र था। नाम था—अभयकुमार। उन दिनों वभारगिरि की गुफा में साक्षात् रौद्ररस-सा मूर्तिमान लोहखुर नामक एक नामी चोर रहता था। राजगृह के निवासी नरनारी जब किसी उत्सव आदि में चले जाते, तब वह पीछे से चुपचाप पिशाच के समान जा कर उपद्रव मचाता और वहाँ से धन चुरा लाता ; नगर को तो वह अपना भंडार या घर ही समझता था। किसी भी सुन्दर स्त्री को देखते ही उससे बलात्कार करता था। उसे केवल चोरी के व्यवसाय की लगन थी और किसी भी आजीविका में उसका मन नहीं लगता था। सच है, मांसाहारी को मांस के सिवाय अन्य किसी भोजन से तृप्ति नहीं होती।' उसकी पत्नी का नाम रोहिणी था। अपने ही रूप और व्यवहार के समान उसके एक पुत्र हुआ, जिसका नाम रखा गया—रोहिणेय। मृत्यु के समय पिता ने उसे बुला कर कहा—'बेटा ! मैं जो कुछ कहूंगा, उसके अनुसार करने का वचन दो तो मैं तुम्हें एक बात कहूं !" उसने कहा—'पिताजी ! जैसा आप कहेंगे, तदनुसार मैं अवश्य करूंगा। इस संसार में पिता की आज्ञा का उल्लंघन भला कौन करेगा ?" पुत्र के कथन पर से लोहखुर को बड़ी खुशी हुई। उसके सिर पर हाथ फिराते हुए लोहखुर ने निष्ठुरतापूर्वक कहा—'देख ! देवताओं के द्वारा निर्मित समवसरण में महावीर धर्मोपदेश देते हैं। उनकी वाणी कदापि मत सुनना। इसके सिवाय तुम जो कुछ भी करना चाहो, करने में स्वतंत्र हो।' यों अपने लड़के को पक्का करके लोहखुर मर गया। पिता की मरणोत्तर क्रिया करने के बाद रोहिणेय अपने पिता से भी बढ़ कर निकला। वह भी दिन-रात चोरी करने लगा, मानो दूसरा ही लोहखुर हो। अपने प्राणों की परवाह न करके पिता की आज्ञा का पालन करते हुए, दासीपुत्र की तरह वह राजगृह नगर में चोरियां करता था।'

एक बार ग्रामों और नगरों में क्रमशः बिहार करते हुए १४ हजार साधुओं से सम्पन्न अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर स्वामी स्वर्णकमल पर चरणकमलों को स्थापित करते हुए राजगृह नगर पधारे। चारों निकायों के देव-देवियों ने मिल कर समवसरण की रचना की।

एक दिन प्रभु अपनी योजनगामिनी सर्वभाषाओं में परिवर्तित होने वाली पीयूषवर्षिणीवाणी में

उपदेश दे रहे थे। दैवयोग से उसी समय रौहिणेय किसी कार्यवश राजगृह की ओर जा रहा था। रास्ते में ही भगवान् का समवसरण पड़ता था। अत रोहिणेय ने सोचा —"अगर इस मार्ग से जाऊंगा तो अवश्य ही महावीर के वचन कानों में पड़ेंगे, इससे पिताजी की आज्ञा का भी भंग होगा। परन्तु दूसरा कोई रास्ता भी तो नहीं है।" ऐसा सोच कर रोहिणेय दोनों हाथों से अपने कान बंद करके जल्दी-जल्दी राजगृह की ओर जाने लगा। इस तरह हमेशा जाते-जाते एक दिन समसवरण के पास ही अचानक पैर में कांटा गड़ गया। जल्दी चलने के कारण कांटा गहरा गड़ गया। बडी पीड़ा होने लगी। उसे निकाले बिना चला नहीं जा रहा था। फलतः कांटा निकालने के लिए उसने कानों पर से हाथ हटाया और नीचे पैरों के पास ले जा कर कांटा खींचने लगा। इसी दौरान प्रभु की वाणी उसके कानों में पड़ गई —"देवता पृथ्वीतल का स्पर्श किये बिना चार अंगुल ऊपर रहते है। उनकी आंखों की पलकें झपतीं नहीं, उनकी फूलमाला मुर्झाती नहीं और उनके शरीर में मैल व पसीना नहीं होता।" इतना सुनते ही वह पश्चात्ताप करने लगा—"ओह! मैंने तो बहुत-से वाक्य सुन लिए हैं, धिक्कार है मुझे!" यों मन ही मन कहता हुआ झटपट कांटा निकाल कर फिर दोनों हाथों से कान बंद करके आगे चलने लगा। इस तरह वह चोर प्रतिदिन राजगृह में आता-जाता और चोरी करता था।

एक दिन नगर के धनाढ्य लोगों ने आ कर श्रेणिक राजा से शिकायत की —'महाराज! आप सरीखे न्यायी राजा के राज्य में हमें और कोई तकलीफ नहीं, सिर्फ एक बड़ा भारी कष्ट है कि चोर हमारा धन चुरा कर अदृश्य हो जाते हैं।" ढूंढने पर भी पता नहीं लगता।" प्रजा की पीड़ा सुन कर बन्धु के समान दुःखित राजा श्रेणिक ने क्रुद्ध हो कर कोतवाल से कहा —मालूम होता है चोर के हिस्सेदार बन कर तुम चोरों की उपेक्षा करते हो, वेतन मेरा खाते हो, काम चोरों का करते हो। इस तरह से जनता का धन दिनों दिन चुराया जा रहा है।" कोतवाल ने दुःखपूर्वक कहा — क्या बताऊं देव! रोहिणेय नामक एक चोर है; जो नागरिकों को लूट रहा है। वह इतना चालाक है कि बंदर की तरह, विद्युत् की चमक के समान कूद-कूद कर क्रमशः एक घर से दूसरे घर और वहां से किला आसानी से लांघ लेता है। हम वहाँ पहुंचते हैं, तब तक वह वहां से गायब हो जाता है। हम एक कदम चलते है, इतने में वह सौ कदम चल लेता है। उस चोर को पकड़ने और मारने में हमारा वश नहीं चलता। उसे पकड़ना तो दूर रहा, देख पाना भी मुश्किल है। आप चाहें तो कोतवाल का हमारा अधिकार हमसे ले लें।" यह सुन कर राजा ने आंख के इशारे से अभयकुमार को चोर को पकड़ने का संकेत किया। उसने कोतवाल से कहा—"कोतवालजी! आज नगर के बाहर चतुरंगिणी सेना तैयार करके रखना। जब चोर नगर में प्रवेश करने लगे, तभी उसे सेना चारों ओर से घर ले। अंदर विद्युदुत्क्षिकरण करते हुए घबराए हुए हिरन की तरह वह पकड़ा जायगा। अतः जब वह आए तभी उसके पैरों की आहट से उसके आगमन का पता लगते ही उस महाचोर को अप्रमत्त सैनिक पकड़ लें।" 'आपकी आज्ञा शिरोधार्य है।' यों कह कर कोतवाल वहां से रवाना हुआ। बुद्धिमान कोतवाल ने गुप्तरूप से सेना तैयार की। संयोगवश उस दिन रोहिणेय दूसरे गाँव गया हुआ था। अतः नगर के बाहर सेना का पड़ाव है, इसे न जानने के कारण जैसे अनजान हाथी गड्ढे में गिर जाता है, वैसे ही रोहिणेय सेना के घेरे में आ गया और पकड़ा गया। घेरे के साथ ही उसने नगर में प्रवेश किया। इस उपाय से चोर को पकड़ कर और बांध कर कोतवाल ने राजा के सुपुर्द किया। राजा ने आज्ञा दी—'जैसे न्याय सज्जन की रक्षा और दुर्जन को सजा देता है, वैसे ही इसे सजा दो।" इस पर अभयकुमार ने कहा—'महाराज! अभी तक यह बिना चोरी किये, अकेला ही

पकड़ा गया था। इसलिए इसके बारे में यथोचित सोच कर फिर इसे दण्ड देना चाहिए।" अत राजा ने रोहिणेय से पूछा "बोलो जी, तुम कहां के हो ? तुम्हारा पेशा क्या है ? यहाँ किस प्रयोजन से आए हो ? तुम रोहिणेय तो नही हो न ?" अपना नाम सुनते ही सशंक हो कर उसने मन ही मन कुछ सोच कर राजा से कहा—'मैं शाली गांव का दुर्गचण्ड नामक किसान हूं। किसी काम से राजगृह आया था, शाम हो जाने के कारण कौतुकवश एक मन्दिर में रात बिताई थी। सुबह होने से पहले ही जब मैं अपने घर जा रहा था, तभी राक्षस की तरह राज-राक्षस ने किला पार करते हुए मुझे घेर कर पकड़ लिया। मुझे अपने प्राणों का सबसे अधिक भय है। अतः मच्छीमार के हाथ से छूटी हुई मछली जैसे जाल में फंसा कर पकड़ ली जाती है, वैसे ही नगर के अन्दर गश्त लगा रहे राज-राक्षसों के पंजे से छूटा हुआ मैं बाहर के राज-राक्षसों द्वारा पकड़ लिया गया हूं। फिर निरपराध होते हुए भी मुझे चोर समझ कर ये यहां ले आये हैं। अब आप ही कृपा करके न्यायाधीश बन कर मेरा न्याय करें।' राजा ने उसकी बात सुन कर उसके बताए हुए गांव में उसकी जांच पडताल करने के लिए एक विश्वस्त आदमी भेजा, तब तक रोहिणेय को कारागार में बन्द करके रखने का आदेश दिया।

चोर ने भी उस गांव में पहले से सकेत कर दिया था। चोरों को भी पहले से भविष्य का कुछ-कुछ पता लग जाता है। राजपुरुषों ने उस गांव में जा कर पता लगाया तो गांव वाले लोगों ने कहा—'हां, दुर्गचंड नाम का एक किसान पहले यहाँ रहता था, अब वह दूसरे गांव गया है।' राजपुरुषों ने आ कर राजा से सारी हकीकत कही। इस पर अभयकुमार ने सोचा - 'चतुराई से किये हुए दम्भ का पता तो विधाता को भी नहीं लग सकता।' अतः अभयकुमार ने एक कुशल कारीगर को बुला कर उसे सारी योजना समझा कर गुप्तरूप से एक रत्नजटित बहुमूल्य देवविमान के समान सात मजला महल तैयार करवाया। तैयार होने पर वह ऐसा लगता था, मानो अप्सरातुल्य रमणियो से अलंकृत देवलोक से अमरावती का एक टुकड़ा अलग हो कर यहाँ गिर पड़ा हो। जब गन्धर्व लोग वहाँ एकत्रित हो कर संगीत, नृत्य, और वाद्य से संगीत महोत्सव करने लगे, तब तो इस महल ने गन्धर्वनगर-की-सी अद्भुत शोभा धारण कर ली। यह सब हो जाने पर एक दिन अभयकुमार ने चोर को दूध के समान सफेद चन्द्रहास मदिरा पिला कर बेहोश कर दिया। बेहोशी हालत में ही उसे देवदूष्य वस्त्र पहना दिये गये और उसी महल में ले जा कर देवों की-सी पुष्पशय्या पर लिटा दिया गया। जब वह होश में आया और बैठा तो उसने अपने चारों ओर दिव्यांगनाओं और देवकुमारों का जमघट देखा, मधुरवाद्य गीत और नृत्य का झंकार सुना तो आश्चर्य-विस्फारित नेत्रों से देखने लगा। अभयकुमार के पूर्व संकेतानुसार उपस्थित दिव्यवस्त्रधारी नरनारियों ने उच्च स्वर से जय-जयकार किया। और कहने लगे - 'अभी-अभी आप इस महाविमान में देवरूप में उत्पन्न हुए हैं। आप हमारे स्वामी हैं, हम आपके सेवक हैं। आप इन्द्र के समान इन देवांगनाओं के साथ यथेष्ट क्रीड़ा करें।' इस प्रकार चातुर्य और स्नेहगर्भित वचनों से उन्होंने कहा। चोर ने सोचा— क्या मैं देव हुआ हूँ।' इतने में ही सभी नरनारियों ने ताली बजाते हुए ताल और लय से युक्त संगीत छेड़ा। तभी स्वर्णधारी एक पुरुष ने वहाँ आ कर कहा—'यहाँ तुमने क्या प्रारम्भ किया है ?' उन्होंने प्रतिहार से कहा—'हम अपने स्वामी को अपना विज्ञानकौशल बता रहे हैं।' वह बोला— 'अपने स्वामी को विज्ञानकौशल बताना तो अच्छा है, लेकिन देवलोक के आचार का इनसे पालन कराओ।' तब उन्होंने पूछा—'कौन-सा आचार ?' यह सुन कर उस पुरुष ने रौब दिखाते हुए कहा—'वाह ! यह बात भी भूल गये तुम ? यहाँ जो भी नया देव उत्पन्न होता है, उससे अपने पूर्वजन्म का अच्छे-बुरे कार्य का विवरण पहले पूछा जाता है, तत्पश्चात् स्वर्गसुख भोगने की

खुली छूट दी जाती है।' 'ओ हो! नये स्वामी के लाभ की खुशी में हम यह कहना ही भूल गये इनसे।' फिर चोर के पास जा कर उन सबने कहा –'स्वामिन्! आप हम पर प्रसन्न हैं, इसलिए आप देवलोक की आचारमर्यादा का पालन करिये। यहां जो जन्म लेता है, उससे सर्वप्रथम अपने पूर्वजन्म में किये हुए शुभाशुभ कार्यों का हाल बताना आवश्यक होता है, तत्पश्चात् उसे स्वर्गसुखोपभोग करने की छूट दी जाती है। यही यहां का आचार है।" चोर ने सोचा—यह सचमुच देवलोक है या मुझे फसाने के लिये अभयकुमार का रचा हुआ मायाजाल है? कहीं ऐसा तो नहीं है कि मुझ से भेद जानने के लिए यह प्रपंच किया हो? क्या कहा जाय इन्हें? इतने में उसे कांटा निकालते समय कानों में पड़े हुए भगवान् के ये वचन याद आए। अगर भगवान् महावीर से सुने हुए देवस्वरूप से मिलताजुलता ही इनका स्वरूप होगा, तब तो मैं सारी बातें सच-सच कह दूंगा, अगर ऐसा न हुआ तो फिर कुछ बना कर झूठी बात कह दूँगा।' यों विचार कर चोर ने उनके पैर जमीन से स्पर्श करते हुए देखे, उनके नेत्रों की पलकें झपती हुई देखी, पुष्पमाला भी मुर्झाई हुई नजर आई, साथ ही उनके शरीर पर पसीना और मैल भी देखा। यह सब देख कर उसने सोचा—यह सब मायाजाल ही है। अतः वह उत्तर के लिए कुछ सोचने लगा। तभी दिव्यरूपधारियों ने उससे फिर कहा– 'देव! आप अपना पूर्वजीवन सुनाइये, हम सुनने के लिए उत्सुक हैं। रोहिणेय बोला—'मैंने पूर्वजन्म में सुपात्रदान दिया था। अनेक तीर्थयात्राएँ की थी। भगवान् और गुरु की सेवाभक्ति की थी। और भी अनेक धर्मकार्य किये।' पहरेदार ने बीच में ही बात काट कर कहा—'अच्छा अब अपने दुष्कृत्यों का भी बयान कीजिए।' रोहिणेय ने कहा —'सतत साधुसमागम होने से मैंने अपने जीवन में कोई गलत काम नहीं किया।' प्रतीहार ने कहा —'जिंदगीभर मनुष्य एक सरीखे स्वभाव वाला नहीं रहता; इसलिए आपने अपने जीवन में चोरी, परदारासेवन, आदि जो भी गलत काम किये हों उन्हें प्रगट कीजिए।' रोहिणेय ने कहा—'क्या ऐसा बुरा कर्म करने वाला कभी स्वर्ग प्राप्त कर सकता है? क्या अंधा आदमी पहाड़ पर चढ़ सकता है?' वे सब उस चोर की बातें सुन कर चुप हो गए और अभयकुमार के पास जा कर आद्योपान्त सारा विवरण कह सुनाया।

सारा वृत्तान्त सुन कर अभयकुमार ने राजा श्रेणिक से निवेदन किया -"महाराज! कई उपायों से हमने इसकी जांच की, परन्तु इसका चोर होना साबित नहीं होता। कदाचित् चोर होगा भी; लेकिन जब कानून की गिरफ्त में न आए, तब तक हम इसे न्याय की दृष्टि से कैसे पकड़ सकते हैं? इसलिए न्यायनीति का पालन करते हुए हमें इसे छोड़ देना चाहिए।" राजा की आज्ञा के अनुसार अभयकुमार ने रोहिणेय को छोड़ दिया। 'धूर्तता में दक्ष व्यक्ति से बड़े-बड़े होशियार आदमी भी ठगे जाते हैं।' अब रोहिणेय विचार करने लगा पिताजी ने नाहक ही सतवाणी न सुनने की आज्ञा दे कर चिरकाल तक मुझे भगवान् के वचनामृतों से वंचित रखा। अगर प्रभु के वचन मेरे कानों में नहीं पड़ते तो मैं कृत्रिम देवताओं के इस जाल को कैसे समझ पाता और कैसे इनके जाल से इतनी सफाई से छुटकारा पा सकता था? मैं तो अब तक इनकी मार खा कर खत्म कर दिया गया होता। अनिच्छा से भी सुने हुए वे भगवद्वचन रोगी के लिए संजीवनी औषधि की तरह मेरे लिए आज जिलाने वाले बन गए। धिक्कार है मुझे! मैंने अब तक अर्हन् के वचनों को ठुकरा कर चोरों के वचन ही माने, उन्हीं की बातों में आ गया, उन्हीं से ही प्रेम किया। सचमुच, आम के पेड़ों को छोड़ कर जैसे कौआ नीम के पेड़ों पर बैठने में आनन्द मानता है, वैसे ही मैंने भगवान् के वचनों को छोड़ कर पिताजी के वचनों में चिरकाल तक आनंद माना। फिर भगवान् के उपदेश का मैंने जरा-सा अंश सुना था, जिसका भी इतना सुफल मिला तो

अगर मैं सारा का सारा उपदेश रुचिपूर्वक सुनता तो कितना लाभ मिलता ?' इस प्रकार मन ही मन शुभ चिन्तन करता हुआ रोहिणेय सीधा भगवान् महावीर के पास पहुंचा और उनके चरणकमलों में नमस्कार करके उसने प्रार्थना की—"भगवन् ! भयंकर आपत्तिरूपी जलचरजन्तुओं से भरे हुए इस संसार-समुद्र में आपकी योजनगामिनी वाणी महायानपात्र (जहाज) का काम करती है। अपने आपको प्रामाणिक पुरुष मानने वाले मेरे अनार्य पिता ने मुझे अब तक आपके वचन सुनने का निषेध किया था, इस कारण मैं अभागा आप जगद्गुरु की वाणी से वंचित रहा। त्रिलोकीनाथ ! सचमुच, वे पुरुष धन्य है, जो श्रद्धापूर्वक अपने कर्णाजलिपुट से आपके वचनामृत का सदा पान करते हैं। मैं अभागा कैसा पापी रहा कि आपके वचन सुनने की इच्छा न होने के कारण कानों में उंगलियां डाल कर बंद करके इस स्थान को पार करता था। एक बार अनिच्छा से भी मैंने कुछ वचन आपके सुने, उन मंत्राक्षरों के प्रभाव से ही मैं राजराक्षस के चंगुल से बच सका। नाथ ! जिस प्रकार आपने मरते हुए की रक्षा की, उसी प्रकार आप अब संसारसागर के भंवरजाल में डूबते हुए मुझे बचाइए।"

अनुकम्पापरायण प्रभु ने उसकी नम्र प्रार्थना सुन कर उसे निर्वाणपददाता निर्मल साधुधर्म का उपदेश दिया। उससे प्रतिबोध पा कर रोहिणेय चोर ने नमस्कार करके प्रभु से सविनय पूछा—"भगवन् ! मैं मुनिधर्म के योग्य हूं या नहीं ? कृपा करके फरमाइए।" भगवान ने कहा—'रोहिणेय ! तुम योग्य हो !" यह सुन कर रोहिणेय ने कहा—'प्रभो ! तब तो मैं अवश्य ही महाव्रत अंगीकार करूंगा।" बीच में ही राजा श्रेणिक ने कहा—"मुझे इसे कुछ कहना है।" यों कह कर चोर से कहा—"रोहिणेय ! अब तो तुम प्रभुचरणों में दीक्षित होने जा रहे हो, इसलिए मैं तुम्हें अपने कृत दुष्कृत्यों के लिए क्षमा करता हूं। परन्तु तुम निश्चिन्त और निःशंक हो कर अपनी सारी आत्मकथा ज्यों की त्यों कह दो।" यह सुन कर लोहखुर-पुत्र रोहिणेय ने कहा—'राजन् ! मेरे विषय में लोगों से आपने जो सुना है, वही मैं रोहिणेय चोर हू। मैं निःशंक हो कर नगर में चोरी करता था। जैसे नौका के जरिये नदी पार की जाती है, वैसे ही प्रभु के एक अमृत-वचनरूपी नौका से मैंने अभयकुमारजी की बुद्धि से उत्पन्न की हुई संकट की नदी पार कर ली। इस नगर में मैंने इतनी चोरियां की हैं, कि दूसरा कोई चोर मेरी छानबीन भी नहीं कर सकता। आप मेरे साथ किसी विश्वस्त व्यक्ति को भेजिए, ताकि मैं चुराई हुई सारी वस्तुएं उसे बता दूं और सौंप दूं। तत्पश्चात् दीक्षा ग्रहण करके अपना जन्म सफल करूं। मैं आप सबसे अपने अपराधों के लिए क्षमा चाहता हूं।" श्रेणिक राजा की आज्ञा से अभयकुमार तथा कुछ प्रतिष्ठित नागरिक कुतूहलवश रोहिणेय के साथ गये। उसने पर्वत, नदी, वन, वृक्ष, श्मशान आदि जिन-जिन स्थानों में धन गाड़ा था, वह सब खोद कर निकाला और अभयकुमार को सौंप दिया। अभयकुमार ने भी जिस-जिस व्यक्ति का वह धन था, उसे दे दिया। निर्लोभी और नीतिमान मंत्रियों की ओर कोई दुर्नीति नहीं होती। उसके बाद श्रद्धालु रोहिणेय अपने सम्बन्धियों के पास पहुंचा। सम्बन्धियों को त्याग, वैराग्य और परमार्थ की बातें कह कर उसने प्रतिबोध दिया और फिर स्वयं भगवान् के चरणों में पहुंचा। श्रेणिक राजा ने खूब धूमधाम से रोहिणेय का दीक्षा-महोत्सव किया। ठीक समय पर शुभमुहूर्त में उसने श्री महावीर प्रभु से भागवती दीक्षा अंगीकार की। दीक्षा लेने के बाद कर्मक्षय करने के लिए एक उपवास से ले कर छह महीने तक के उपवास आदि निर्मल तप रोहिणेय मुनि ने किये। तपस्या करते-करते जब शरीर कृश और अशक्त हो गया, तब भाव से संल्लेखना की आराधना करके श्री वीरप्रभु की आज्ञा ले कर विपुलाचल पर्वत पर पादपोगम नामक अनशन किया। अन्तिम समय में शुभध्यानपूर्वक पंचपरमेष्ठी का स्मरण करते हुए रोहिणेय महामुनि ने समाधिमरणपूर्वक शरीर छोड़ा और देवलोक में पहुंचे। इसी

प्रकार चौर्यकर्म से विमुख व्यक्ति रोहिणेय की तरह थोड़े ही समय में स्वर्गसुख को प्राप्त कर लेता है। अतः बुद्धिमान पुरुष दोनों भवों को बिगाड़ने वाली चोरी हर्गिज न करें।

अब चोरी के होने वाले दोषों के त्याग का निर्देश करते हैं—

दूरे परस्य सर्वस्वमप,तु मुपक्रमः।
उपा दात नादत्तं तृणमात्रमपि क्वचित् ॥७३॥

अर्थ

दूसरे का धन आदि सर्वस्व हरण करने की बात तो दूर रही, परन्तु दिये बिना एक तिनका भी नहीं लेना चाहिए। उसके लिए प्रयत्न भी नहीं करना चाहिए।

अब चोरी से निवृत्त होने का फल दो श्लोकों में बताते हैं—

परार्थग्रहणे येषां नियमः शुद्धचेतसाम्।
अभ्यायान्ति श्रियस्तेषां स्वयमेव स्वयंवरा॥७४॥

अर्थ

जो शुद्धचित्त मनुष्य दूसरे का धन हरण न करने का नियम ले लेता है, उसके पास सम्पत्तियां स्वयंवरा कन्या के समान स्वयं आती हैं; न कि दूसरे की प्रेरणा से; अथवा व्यापार-धंधे से प्राप्त होती हैं।

और भी देखिये—

अनर्था दूरतो यान्ति साधुवादः प्रवर्तते।
स्वर्गसौख्यानि ढौकन्ते स्फुटमस्तेयचारिणाम् ॥७५॥

अर्थ

अस्तेयव्रत का आचरण करने वाले पर विपत्तियां आ जाने पर भी दूर चली जाती हैं। लोगों में उसे अपनी प्रामाणिकता के लिए धन्यवाद मिलता है कि "यह आदमी प्रामाणिक है।" इस लोक में उसकी प्रशंसा होती है, परलोक में भी वह स्वर्गसुख प्राप्त करता है।

व्याख्या

प्रसंगानुसार यहां कुछ श्लोकों का अर्थ दिया जा रहा है—

अग्निशिखा का पान करना, सर्प का मुख चूमना और हलाहल विष का चाटना अच्छा, लेकिन दूसरे का धन हरण करना अच्छा नहीं है। दूसरे के धन में लोभवृत्ति रखने वाले की बुद्धि प्रायः निर्दयी हो जाती है; वह अपने भाई, पिता, चाचा, स्त्री, मित्र, पुत्र और गुरु तक को मारने के लिए उद्यत हो जाता है। दूध पीना चाहने वाली बिल्ली को मारने के लिए उठाए हुए डंडे के समान परधनहरण करने वाला अपना वध-बन्धन टाल नहीं सकता। शिकारी, मच्छीमार, बिल्ली आदि से भी चोर बढ़कर है। क्योंकि राजा गिरफ्तार करता है, मगर चोर-मनुष्यों को ही, अन्य जीवों को नहीं। इसलिए बुद्धिमान मनुष्य अपने सामने पड़े हुए सोने, रत्न आदि पराये धन को भी पत्थर के समान समझे। इस तरह संतोषरूपी सुधारस से तृप्त गृहस्थ स्वर्ग प्राप्त करता है।

अब परलोक और इस लोक में अब्रह्मचर्य का फल बतलाते हुए गृहस्थयोग्य ब्रह्मचर्यव्रत का निरूपण करते हैं—

षण्ढत्वमिन्द्रियच्छेदं, वीक्ष्याब्रह्मफलं सुधीः ।
भवेत् स्वदारसंतुष्टोऽन्यदारान् वा विवर्जयेत् ॥७६॥

अर्थ

समझदार गृहस्थ उपासक परलोक में नपुंसकता, और इहलोक में राजा या सरकार आदि द्वारा इन्द्रियच्छेदन वगैरह अब्रह्मचर्य के कड़वे फल देख कर या शास्त्रादि द्वारा जान कर परस्त्रियों का त्याग करे और अपनी स्त्री में सन्तोष रखे ।

व्याख्या

यद्यपि अंगीकार किये हुए व्रत का पालन करते हुए गृहस्थ को इतना पापसम्पर्क नहीं होता, फिर भी साधुधर्म के प्रति अनुरागी, साधुदीक्षा ग्रहण करने से पहले उपासक गृहस्थजीवन में भी कामभोग से विरक्त हो कर श्रावकधर्म का निरतिचार पालन करता है ।

वैराग्य के शिखर पर पहुंचने के लिए अब्रह्मचर्य से निवृत्त होना जरूरी है । अत. अब अब्रह्मचर्य-सेवन के दोष बताते हैं—

रम्यमापातमात्रे, यत्परिणामेऽतिदारुणम् ।
किम्पाकफलसंकाशं तत्कः सेवेत मैथुनम् ?॥७७॥

अर्थ

मैथुनसेवन प्रथम प्रारम्भमात्र में बड़ा रमणीय और सुन्दर लगता है, लेकिन उसका परिणाम किम्पाकफल के सदृश बहुत भयंकर है । ऐसी दशा में कौन उस मैथुन का सेवन करेगा ?

व्याख्या

किम्पाकवृक्ष का फल वर्ण, गन्ध, रस, और स्पर्श में बड़ा मनोहर, मधुर और सुगन्धित लगता है, खाने में भी स्वादिष्ट होता है । मन को भी संतोष मिलता है ; मगर खाने के बाद वह व्यक्ति जी भी नहीं सकता ; कुछ ही देर में वह प्राण ले लेता है । इसी प्रकार विषयसुख सेवन करते समय बड़े मनोहर, हृदय को शान्ति देने वाले होते हैं, लेकिन बाद में उनका परिणाम बहुत ही भयंकर आता है । इसीलिए कहते हैं—अनेकदोषों के आश्रयभूत जान कर कौन मैथुन का सेवन करेगा ?

अब मैथुनसेवन के भयंकर परिणामों का वर्णन करते हैं—

कम्पः स्वेदः श्रमो मूर्च्छा, भ्रमिर्ग्लानिर्बलक्षयः ।
राजयक्ष्मादि रोगाश्च, भवेयुर्मैथुनोत्थिताः ॥७८॥

अर्थ

मैथुन सेवन करने वाले के कम्प, पसीना, थकान, मूर्च्छा, चक्कर, अंग टूटना,

बल का नाश, राजयक्ष्मा (तपेदिक=क्षय), भगंदर, दमा, श्वासरोग आदि महारोग पैदा हो जाते हैं।

शेषव्रत भी जैसे अहिंसा में समाविष्ट हो जाते हैं, उसी तरह यह ब्रह्मचर्य भी है। इसलिए मैथुन में अहिंसा का अभाव है, इसे कहते हैं—

योनियंत्रसमुत्पन्नाः सुसूक्ष्मा जन्तुराशयः।
पीड्यमाना विपद्यन्ते यत्र तन्मैथुनं त्यजेत् ॥७६॥

अर्थ

योनिरूपी यंत्र में अनेक सूक्ष्मतर जन्तु उत्पन्न होते हैं। मैथुनसेवन करने से वे जन्तु मर जाते हैं। इसलिए मैथुनसेवन का त्याग करना चाहिए।

व्याख्या

प्राणी को जन्म देने का मार्ग या उत्पत्तिस्थान योनि कहलाता है। वह यंत्राकार होने से उसे योनियन्त्र कहते हैं। उसमें स्वभावतः उत्पन्न होने वाले सम्मूर्च्छिम जीव इतने सूक्ष्म होते हैं कि आंखों से नहीं दिखाई देते। इसका ही स्पष्टीकरण करने के लिए दृष्टान्त देते हैं—रूई से भरी हुई नली में तपी हुई लोहे की सलाई रूई को जला देती है; उसी तरह गर्म योनि में रुई के समान रहे हुए जीवसमूह पुरुषचिह्न के मर्दन से मैथुन करने पर नष्ट हो जाते हैं। इसलिए मैथुनसेवन अनेक जीवों की हिंसा का जनक होने से त्याज्य समझना चाहिए। अन्य शास्त्रों में भी योनि में जन्तुओं का होना बताया गया है। जैसे कि वात्स्यायनरचित कामशास्त्र में भी योनि में जन्तुओं का अस्तित्व माना है। "·····**जन्तुसद्भाव इति वात्स्यायनोऽप्याह**"—अर्थात् कामशास्त्ररचयिता वात्स्यायन ने भी कहा है कि योनि में जन्तुओं का सद्भाव है। कहने का तात्पर्य यह है कि काम को प्रधानता देने वाले वात्स्यायन ने भी योनि में जन्तुओं का होना स्वीकार कर लिया है, छिपाया नहीं; तब दूसरों का तो कहना ही क्या।

अब इस विषय में वात्स्यायन द्वारा समर्थित श्लोक दे रहे हैं—

रक्तजा कृमयः सूक्ष्मा, मृदुमध्याधिशक्तयः।
जन्मवर्त्मसु कंडूतिं जनयन्ति तथाविधाम् ॥८०॥

अर्थ

रक्त से उत्पन्न सूक्ष्म, मृदु, मध्यम और अधिक शक्ति वाले सूक्ष्म कृमि स्त्री के योनि मार्गों में वैसी खुजली पैदा करते हैं।

मैथुनसेवन से जो कामज्वर की शान्ति मानते हैं, या उसे कामज्वर की चिकित्सा या प्रतीकार मानते हैं, उनके भ्रम का निवारण करते हैं—

स्त्रीसम्भोगेन यः कामज्वरं प्रतिचिकीर्षति।
स हुताशं घृताहुत्या विध्यापयितुमिच्छति ॥८१॥

अर्थ

जो लोग स्त्रीसम्भोग से कामज्वर का प्रतीकार (चिकित्साशमन या शान्ति) करना चाहते हैं, वे जलती हुई आग में घी की आहुति दे कर उसे बुझाना चाहते हैं।

व्याख्या

वास्तव में स्त्रीसहवास से कामज्वर शान्त नहीं होता, बल्कि और अधिक बढ़ जाता है। नीतिशास्त्र में भी बताया है-- कामोपभोग से काम कदापि शान्त नहीं होता, अपितु घी की आहुति देने पर आग और ज्यादा भड़क उठती है, वैसे ही कामसेवन से काम अधिक ही उत्तेजित होता है। कामज्वर को शान्त करने की कोई भी अचूक औषधियां प्रतीकारक उपाय रूप हैं तो वे हैं वैराग्यभावना; परसेवा, धर्मक्रिया या धर्मानुष्ठान, धर्मशास्त्र श्रवण आदि है। अतः कामज्वर को शान्त करने का उत्तम साधन होने पर भी भवभ्रमणकारणरूप मैथुनसेवन करने से क्या लाभ ?

इसी बात को स्पष्ट करते हैं—

वरं ज्वलदयःस्तम्भ–परिरम्भो विधीयते।
न पुनर्नरकद्वार—रामाजघन–सेवनम् ॥८२॥

अर्थ

आग से तपे हुए जाज्वल्यमान लोहे के खंभे का आलिंगन करना अच्छा है, मगर नरकद्वार के तुल्य स्त्री-जघन का सेवन करना अच्छा नहीं।

व्याख्या

एक बार कामज्वर को शान्त करने के लिए मैथुन कदाचित् उपाय हो जाय ; मगर नरक का कारणरूप होने से वह कदापि प्रशंसनीय नहीं है। और स्त्री के विषय में या स्त्री का स्मरण करने पर भी वह सारे गुणगौरव का अवश्य नाश कर देता है।

इसी बात की पुष्टि करते हैं—

सतामपि हि वामभ्रूर्ददाना हृदये पदम्।
अभिरामं गुणग्रामं निर्वासयति निश्चितम् ॥८३॥

अर्थ

सत्पुरुषों के हृदय में अगर स्त्री का कटाक्ष स्थान जमा ले तो वह निश्चित ही सुन्दर गुणसमुदाय को वहां से निकाल देता है।

व्याख्या

निःसन्देह कटाक्ष करने वाली स्त्रियों का स्मरणमात्र ही सज्जनपुरुषों के गुणसमूह का बहिष्कार कर देता है। तात्पर्य यह है कि जैसे खराब (भ्रष्ट) राज्याधिकारी को किसी स्थान पर नियुक्त किये जाने पर वह लोभवृत्ति से वहां के रक्षण के बजाय भक्षण करने लगता है। इसी प्रकार हृदय में स्थान पाई हुई कामिनी भी पालन-रक्षण करने योग्य गुणसमूह को समूल उखाड़ फैंकती हैं। अथवा सत्पुरुषों का गुणसमूह भी उसके हृदय में भी प्रवेश करके नारी में रहे हुए उत्तमगुणों को चौपट कर देता है। हृदय में स्थान पाई हुई स्त्री अनेक दोषयुक्त होने से गुणवृद्धि के बदले गुणहानि की ही प्रायः कारणभूत बनती है ; फिर उसके साथ रमण करने की तो बात ही दूर रही !

इसी के समर्थन में कहते हैं—

वञ्चकत्वं नृशंसत्वं चञ्चलत्वं कुशीलता ।
इति नैसर्गिका दोषा यासां तासु रमेत कः ॥८४॥

अर्थ

स्वभाव से (नैसर्गिकरूप से) जिनमें वञ्चकता (ठगाई), निर्दयता, चंचलता और कुशीलता (संयमाभाव) आदि दोष होते हैं, उन (तुच्छ स्त्रियों) में कौन समझदार पुरुष राग-बुद्धि से (आसक्तिपूर्वक) रमण कर सकता है ?

स्त्रियों में सिर्फ इतने ही दोष नहीं हैं, अपितु और भी कई दोष हैं, उन्हें बताते हैं —

प्राप्तुं पारमपारस्य पारावारस्य पार्यते ।
स्त्रीणां प्रकृतिवक्राणां दुश्चरित्रस्य नो पुन. ॥८५॥

अर्थ

अर्थ (अपार) समुद्र की तो थाह पाई जा सकती है; लेकिन स्वभाव से ही कुटिल कामिनियों के दुश्चरित्र की थाह नहीं पाई जा सकती।

अंगनाओं के दुश्चरित्र के सम्बन्ध में कहते हैं—

नितम्बिन्यः पतिं पुत्रं पितरं भ्रातरं क्षणात् ।
आरोपयन्त्यकार्येऽपि दुर्वृत्ताः प्राणसंशये ॥८६॥

अर्थ

दुश्चरित्र स्त्रियाँ क्षणभर में अपने पति, पुत्र, पिता और भाई के प्राण संकट में पड़ जांय, ऐसे अकार्य भी कर डालती हैं।

व्याख्या

'स्त्री शब्द के बदले यहाँ नितम्बिनी शब्द का प्रयोग किया है, यह यौवन के उन्माद का सूचक है। ऐसी दुश्चरित्र नारियाँ तुच्छ कार्य या अकार्य का प्रसंग आने पर अपने पति, पुत्र, पिता या भाई तक को मारते देर नहीं लगाती। जैसे सूर्यकान्ता ने अपने पति परदेशी राजा से विषयभोगों से तृप्ति न होने पर उसको जहर दे कर मारते देर नहीं लगाई। कहा भी है — इन्द्रियदोषवश नचाई हुई पत्नी सूर्यकान्ता रानी ने जैसे परदेशी राजा को जहर दे कर मार दिया था, वैसे ही अपना मनोरथ पूर्ण न होने पर स्त्रियाँ पतिवध करने का पाप तक कर डालती है ! इसी प्रकार अपनी मनःकल्पित चाह (मुराद) पूरी नहीं होती, तब जैसे माता चूलनी ने पुत्र ब्रह्मदत्त के प्राण सकट में डाल दिये थे, लाक्षागृह बना कर ब्रह्मदत्त को उसमे निवास करा कर जला देने की उसकी क्रूर योजना थी, मगर वह सफल नहीं हुई। इसी तरह अन्य माताएं भी पुत्र को मारने हेतु क्रूर कृत्य कर बैठती हैं। जैसे जीवयशा ने प्रेरणा दे कर जरासंध को तथा अपनी रानी पद्मावती की प्रेरणा के कारण कोणिक ने कालीकुमार आदि भाइयों को अपने साथ जोड़ कर बहुत भयंकर महायुद्ध का अकार्य किया था और सेना व अन्य सहायकों को मरण-शरण कर दिया था ।

इसलिए आगे कहते हैं—

भवस्य बीजं नरकद्वारमार्गस्य दीपिका ।
शुचां कन्दः कलेर्मूलं दुःखानां खानि ंगना ।।८७।।

अर्थ

स्त्री संसार का बीज है, नरकद्वार के मार्ग की दीपिका है, शोकों का कन्द है, कलियुग की जड़ है अथवा काले—कलह की जड़ है, दुःखों की खान है ।'

व्याख्या

स्त्री वास्तव में संसाररूपी पौधे का बीज है । यह संसार को बढ़ाने – जन्ममरण के चक्र में डालने वाली है । वह नरक के प्रवेशद्वार का रास्ता बताने वाली लालटेन के समान है । शोकोत्पत्ति की कारणभूत है, लड़ाई-झगड़े का मूल है, तथा शारीरिक और मानसिक दु खों की खान है ।

यहाँ तक यतिधर्मानुरागी गृहस्थ के लिए सामान्यतया मैथुन और स्त्रियों के दोष बताये है । अब आगे के ५ श्लोकों में स्वदारसंतोषी गृहस्थ के लिए साधारणस्त्रीगमन के दोष बताये हैं—

मनस्यन्यत् वचस्यन्यत् क्रियामन्यदेव हि ।
यासां साधारणस्त्रीणां ताः कथं सुखहेतवः ।।८८।।

अर्थ

जिन साधारण स्त्रियों के मन में कुछ और है, वचन द्वारा कुछ और ही बात व्यक्त करती हैं और शरीर द्वारा कार्य कुछ और ही होता है । ऐसी वेश्याएँ (हरजाइयाँ) कैसे सुख की कारणभूत हो सकती है ?

व्याख्या

वारांगनाएँ आमतौर पर मन में किसी और पुरुष के प्रति प्रीति रखती हैं, वचन में किसी अन्य पुरुष के साथ प्रेम बताती हैं, और शरीर से किसी अन्य ही व्यक्ति के साथ रमण करती हैं । ऐसी बाजारू औरतें भला कैसे विश्वसनीय हो सकती हैं और कैसे किसी के लिए सुखदायिनी बन सकती हैं । कहा भी है -- संकेत किसी ओर को करती हैं, याचना किसी दूसरे से करती हैं, स्तुति किसी तीसरे की करती हैं और चित्त में कोई और बैठा होता है, और पास (बगल) में कोई अन्य ही खड़ा होता है ; इस प्रकार गणिकाओं का चरित्र सचमुच अविश्वसनीय और अदभुत होता है । और भी देखिये—

मांसमिश्रं सुरामिश्र-[illegible]म्बितम् ।
को वेश्यावदनं चुम्बेदुच्छिष्टमिव भोजनम् ।।८९।।

अर्थ

मांस खाने के कारण बदबूदार, शराब पीने के कारण दुर्गन्धित तथा अनेक जार पुरुषों के द्वारा चुम्बन किए हुए, उच्छिष्ट (झूठे) भोजन की तरह झूठे व गंदे वेश्या के मुख को कौन चूमना चाहेगा ?

अपि प्रदत्तसर्वस्वात् कामुकात् क्षीणसम्पदः ।
वासोऽप्याच्छेत्तुमिच्छन्ति गच्छतः पण्ययोषितः ।।९०।।

अर्थ

कामी पुरुष द्वारा अपना सर्वस्व धन दे देने पर भी जब वह निर्धन हो जाता है तो जाते-जाते वेश्या उसके पहनने के कपड़े भी छीन लेना चाहती है।

व्याख्या

किसी कामलम्पट ने धनाढ्य अवस्था में अपनी सर्वस्व-सम्पत्ति वेश्या को लूटा दी हो, लेकिन पुण्य क्षीण होने पर उसके पास से सम्पत्ति नष्ट हो जाने पर उसे घर से निकाल देती है और जाते जाते पहनने के वस्त्र भी उससे जबरन छीन लेना चाहती है। इतनी कृतघ्न होती है वेश्या ! कहा भी है—किसी कामान्ध ने अपनी धर्मपत्नी से भी अधिक वेश्या की सारसंभाल की हो, लेकिन सम्पत्ति क्षीण हो जाने पर वह आंख उठा कर भी नहीं देखती, बल्कि उसकी इच्छा यही होती है, कि जाते जाते वह पुरुष उसे पहनने के कपड़े भी देता जाय।

वेश्यागमन के और भी दोष बताते हैं—

न देवान्न गुरून्नापि सुहृदो न च बान्धवान् ।
असत्संगरतिर्नित्यं वेश्यावश्यो हि मन्यते ॥९१॥

अर्थ

वेश्या का गुलाम बना हुआ कामी पुरुष न तो देवों (महापुरुषों) को मानता है, न गुरुओं को, न मित्रों को भी मानता है और न बांधवों को, क्योंकि वह सदा बुरी सोहबत में ही आनन्द मानता है। उसी में मस्त रहता है।

कुष्ठिनोऽपि स्मरसमान् पश्यन्ती धनकांक्षया ।
तन्वन्तीं कृत्रिमस्नेहं निःस्नेहां गणिकां त्यजेत् ॥९२॥

अर्थ

वेश्या एकमात्र धन की आकांक्षा से कोढ़ियों को भी कामदेव के समान देखती है और बनावटी स्नेह दिखाती है, समझदार पुरुष ऐसी निःस्नेह गणिका का दूर से ही त्याग करे।

व्याख्या

वेश्या की अभिलाषा सिर्फ धन प्राप्त करने की रहती है। अगर कोढ़िये भी हैं, और उनके पास धन की थैली है तो उन्हें भी वह कामदेव के समान मान कर कृत्रिम हावभाव और झूठे प्रेम का स्वांग रचती है। क्योंकि ऊपर से स्नेह का नाटक किये बिना उनसे धन की प्राप्ति हो नहीं सकती। इसलिए कृत्रिम स्नेह रखने वाली स्नेहरहित गणिका का परित्याग करना चाहिए।

अब परस्त्रीगमन के दोष बताते हैं—

नासक्त्या सेवनीया हि स्वदारा अप्युपासकैः ।
आकरः सर्वपापानां किं पुनः परयोषितः ॥९३॥

अर्थ

श्रमणोपासकों को अपनी स्त्री का सेवन भी आसक्तिपूर्वक नहीं करना चाहिए, तो फिर समस्त पापों की खान पराई स्त्रियों की तो बात ही क्या है ?

व्याख्या

साधुधर्म को स्वीकार करने के अभिलाषी और देशविरति-धर्म के परिणामी गृहस्थ श्रमणोपासक को गृहस्थजीवन में भी प्रबल वैराग्यभावना से रहना चाहिए। अपनी पत्नी में आसक्ति नहीं रखनी चाहिए ; ऐसा विधान है, तो फिर सर्वपापों की खान परस्त्रीसेवन के त्याग के बारे में तो कहना ही क्या ? वह त्याग तो पहले से ही होना चाहिए।

परस्त्री में निहित पापों के बारे में कहते हैं —

स्वपतिं या परित्यज्य निस्त्रपोपपतिं भजेत् ।
तस्यां क्षणिकचित्तायां विश्रम्भः कोऽन्ययोषिति ?॥९४॥

अर्थ

जो स्त्री अपने पति को छोड़ कर निर्लज्ज हो कर दूसरे के साथ सहवास करती है, उस चंचल चित्त वाली स्त्री पर कौन भरोसा कर सकता है ?

व्याख्या

श्रुति में बताया है— 'भर्तृदेवता हि स्त्रियः' अर्थात्—स्त्रियों के लिए पति ही देवता होते हैं। परन्तु जो अपने पति को देवस्वरूप न मान कर पतिभक्ति को तिलांजलि दे कर बेशर्म हो कर अपने यार (उपपति) के साथ बेखटके सहवास करती है, ऐसी क्षणिक चित्त वाली परस्त्री का क्या विश्वास ? वह कभी भी धोखा दे सकती है।

अब परनारी में आसक्त पुरुष को शिक्षा देते हैं —

भीरोराकुलचित्तस्य दुःस्थितस्य परस्त्रियाम् ।
रतिर्न युज्यते कर्तुमुपशूलं पशोरिव ॥९५॥

अर्थ

परस्त्री में रत मनुष्य सदा भयभीत रहता है, उसका चित्त घबड़ाया हुआ-सा रहता है, और वह खराब स्थिति में रहता है, इसलिए ऐसे परस्त्रीलम्पट का परस्त्री के पास रहना वैसा ही खतरनाक है, जैसा कि मारे जाने वाले पशु का शूली के पास रहना। मतलब यह कि सद्गृहस्थ का परनारी से नेह करना जरा भी उचित नहीं है।

व्याख्या

परस्त्री से प्रीति करना बिलकुल उचित नहीं है। क्योंकि परस्त्रीलम्पट हमेशा उस स्त्री के पति, राजा या समाज के नेता आदि से भयभीत रहता है कि कहीं मुझे ऐसा करते हुए कोई देख न ले। इसी कारण वह हमेशा घबराया हुआ रहता है। उसके चित्त में हमेशा यही शक बना रहता है कि कहीं सरकार या सरकारी पुलिस आदि को मेरे इस कुकर्म का पता लग गया तो मेरी खैर नहीं ! इसलिए वह जगह-जगह भागता फिरता है, और बीहड़ों, ऊबड़खाबड़ खोहों, खण्डहरों, एकान्तस्थानों या सूने देवालयों में छिपता रहता है, जहाँ न तो उसे सोने को ही ठीक से बिछौना मिलता है, न खाने पीने का ही ठिकाना रहता है, और न नींद सुख से ले पाता है। इसीलिए कहा गया कि परस्त्रीलम्पट शूली के पास वध होने के लिए खड़े किये गए अभागे पशु के समान है, जिसका जीव हर समय मुट्ठी में रहता है। अतः परस्त्री से प्रीति करना सद्गृहस्थ के लिए सर्वथा वर्जनीय है।

परस्त्रीगमन से रोकने का कारण बताते हैं--

प्राणसन्देहजननं, परमं वैरकारणम् ।
लोक[illegible] च परस्त्रीगमनं त्यजेत् ॥९६॥

अर्थ

जिसमें हर समय प्राणों के जाने का सन्देह हो, जो वैर और द्वेष करने का कारण हो, ऐसे इह लोक और परलोक दोनों से विरुद्ध परस्त्रीगमन का त्याग करना चाहिए ।

व्याख्या

परस्त्री-आसक्त व्यक्ति के प्रायः प्राण जाने का खतरा बना रहता है। हर समय उसका जी मुट्ठी में रहता है। दूसरे यह दुर्व्यसन वैर का कारण है। क्योंकि जहाँ भी वह स्त्री किसी दूसरे से प्रेम करने लगेगी, वहाँ पूर्व-पुरुष का उसके प्रति वैर बंध जायगा, वह उसे अपने शत्रु मान कर उसकी जान लेने को उतारू हो जायगा। संसार के इतिहास में स्त्री के लिए बहुत वैरविरोध और झगड़े हुए हैं। और फिर इस लोक में यह नीतिविरुद्ध है, समाज की मर्यादा के खिलाफ है, ऐसे व्यक्ति की इज्जत मिट्टी में मिल जाती है। परलोक में धर्मविरुद्ध होने से इस पाप का भयंकर फल भोगना पड़ता है।

परस्त्रीगमन उभयलोकविरुद्ध कैसे है ? इसे स्पष्ट करते हैं—

सर्वस्वहरणं बन्धं [illegible]वयवाच्छेदाम् ।
मृतश्च नरकं घोरं लभते पारदारिकः ॥९७॥

अर्थ

परस्त्रीगामी का कभी-कभी तो सर्वस्व हरण कर लिया जाता है, उसे रस्सी आदि से बांध कर कैद में डाल दिया जाता है, शरीर के अंगोपांग पुरुषचिह्न आदि काट दिये जाते हैं, ये तीन तो इहलौकिक कुफल हैं। पारलौकिक कुफल यह है कि ऐसा पारदारिक मर कर घोर नरक में जाता है, जहां उसे भयंकर यातनाएँ मिलती हैं।

अब युक्तिपूर्वक परस्त्रीगमन का निषेध करते हैं—

स्वदाररक्षणे यत्नं विदधानो निरन्तरं ।
[illegible] जनो दुःखं परदारान् कथं व्रजेत् ?॥९८॥

अर्थ

अपनी स्त्री की रक्षा के लिए पुरुष निरन्तर प्रयत्न करता है ; अनेक प्रकार के कष्ट उसके जतन के लिए उठाता है। जब यह जानता है, तब फिर परस्त्रीगमन की आफत क्यों मोल लेता है ? स्वस्त्रीरक्षा में इतने कष्ट जानता हुआ भी कोई परस्त्रीगमन क्यों करेगा ?

अपनी पत्नी को कोई कुदृष्टि से देखता है, तो उसके लिए स्वयं को कितना दुःख होता है, उसके जतन के लिए दीवार, कोट, किले आदि बनाता है, स्त्री को पर्दे या बुर्के में रखता है, पहरेदारों को रख कर येन केन प्रकारेण उसकी रक्षा करता है। अपनी स्त्री की रक्षा में भी मनुष्य रात-दिन जब

इतना परिक्लेश करता है और स्वयं उसका दुःख महसूस करता है, तब इस आत्मानुभव से परस्त्री गमन से उसके पति या सम्बन्धी को कितना दुःख होगा ; यह जान कर सुज्ञ पुरुष परदारागमन कैसे कर सकता है ? परस्त्रीगमन की बात तो दूर रही, परस्त्रीचिन्तन करना भी महाअनर्थकारी है।

इसे ही बताते है—

'विक्रमाक्रान्तविश्वोऽपि परस्त्रीषु रिरंसया।
कृत्वा कुलक्षयं प्राप नरकं दशकन्धरः ॥'

अर्थ

अपने पराक्रम से सारे विश्व को कंपा देने वाला रावण अपनी स्त्री के होते हुए भी सीता सती को कामलोलुपतावश उड़ा कर ले गया और उसके प्रति सिर्फ कुदृष्टि की, जिसके कारण उसके कुल का नाश हो गया, लंकानगरी खत्म हो गई। और वह मर कर नरक में गया। इतने बड़ा पराक्रमी भी जब अपने अनर्थ का फल पा चुका तो दूसरे की तो क्या बिसात है कि उसे परस्त्रीगमन का फल नहीं मिलेगा ?

अतः इससे सबक लेना चाहिए—

परस्त्रीगमन की इच्छामात्र से रावण की नरकयात्रा

राक्षस नामक द्वीप में पृथ्वी के मुकुटमणिसमान त्रिकूट पर्वतशिखर पर स्वर्णमयी लंका नाम की विशाल नगरी थी। वहाँ पौलस्त्यकुलकौस्तुभ, महाप्रतापी, विश्व का अपने पराक्रम से हिला देने वाला, विद्याधरों का अधिपति राजा रावण राज्य करता था। उसके दो बाहुस्तम्भों की तरह कुम्भकर्ण और विभीषण नामक दो अतिबलशाली भाई थे।

एक दिन उसने अपने पूर्वजों से उपार्जित नौ रत्न पिरोई हुई एक माला देखी। मानो वह कुलदेवी हो, इस प्रकार आश्चर्यजनक दृष्टि से देख कर रावण ने वहां के बुजुर्गों से पूछा — यह माला कहाँ से आई ? इसमें क्या विशेषता है ? उन्होंने कहा—"यह माला तुम्हारे पूर्वजों ने वरदान में प्राप्त की है। यह बहुत ही सारभूत और बहुमूल्य रत्नमाला है। इस माला की खूबी यह है कि जो इसे गले में पहनेगा, वह अर्द्ध भरतेश्वर होगा। इस प्रकार कुल परम्परा से इस माला को राजा अपने गले में डालता चला आरहा है। इस रिवाज के अनुसार तुम्हारे पूर्वज इसकी पूजा भी करते थे। माला की महत्ता सुन कर रावण ने वह माला अपने गले में डाल ली। गले में डालते ही उसके नौ रत्नों में रावण के मुख का प्रतिबिम्ब पड़ने लगा। इसी कारण एक मुख के बजाय दस मुख दिखाई देने लगे। इसी से रावण दशमुख नाम से प्रसिद्ध हुआ। तब से लोगों ने रावण का जयजय शब्दों से अभिनन्दन किया। उस समय वह ऐसा प्रतीत होता था, मानो जगद्विजय के लिए उत्साहित हो। रावण के पास असाध्य साधना से सिद्ध की हुई प्रौढ़ सेना के समान, प्रज्ञप्ति आदि अनवद्य विद्याएँ थीं। इस कारण दुःसाध्य अर्धभरत क्षेत्र को उसने एक गांव को जीतने की तरह आसानी से जीत लिया; फिर भी खुजली की तरह बाहुबलि के समान उसकी राज्यलिप्सा मिटी नहीं।

पूर्वजन्म में इन्द्रत्व का अनुभव करने वाला अनेकविद्यासम्पन्न इन्द्र नाम का विद्याधरनृप वैताढ्यपर्वत पर राज्य करता था। विश्व में ऐश्वर्यबल के अतिरेक और पूर्वजन्म के इन्द्रत्व के अभ्यास के कारण गर्वित हो कर वह अपने को अहमिन्द्र समझता था। उसने अपनी पटरानी का नाम शची रखा,

शस्त्र का नाम वज्र, पट्टहस्ती का नाम ऐरावण, घोड़े का नाम उच्चैःश्रवा, सारथि का नाम मातलि और चार महासुभटों का नाम सोम, यम, वरुण और कुबेर रखा। वह स्वयं को इन्द्र मानने के कारण दूसरों को तिनके के समान मानता था। भयंकर योद्धा होने से वह रावण को भी अपने सामने तुच्छ समझता था। यमराज के समान बलशाली रावण को जब यह पता चला तो वह उस पर क्रुद्ध होकर श्रावण के मेघों की-सी गर्जना करता हुआ उक्त इन्द्र राजा से युद्ध करने चला। विद्या के प्रभाव से जल, स्थल और नभ तीनों प्रकार की सेना को ले कर समुद्र पार करके प्रलयकाल के तूफान की तरह उमड़ते हुए सैन्यरूपी अन्धड़ से उड़ी हुई धूल से आकाश को आच्छादित करते हुए एकदम वैताढ्य पर पहुंचा। रावण को आते देख कर इन्द्र भी सामने आया, क्योंकि मैत्री और वैर में पुरुषों का सम्मुख आना प्रथम कर्तव्य है। महापराक्रमी रावण ने इन्द्र राजा के पास दूत भेज कर मधुर शब्दों में संदेश कहलवाया—"यहाँ कितने ही भुजबल के अभिमानी अथवा विद्याधर शासक हो गए हैं। उन सबने उपहार भेज कर दशकन्धर राजा रावण की सेवाभक्ति की है। रावण द्वारा विस्मृत हो जाने और आपकी सरलता के कारण इतना समय व्यतीत हो गया है। अब उनकी सेवा करने का समय आ गया है। अतः आप उनके प्रति या तो भक्ति बताइये, या आप उनके साथ युद्ध करके शक्ति बताइए।" यदि भक्ति या शक्ति दोनों में से आप एक भी नहीं बतायेंगे तो आपका सर्वस्व नष्ट कर दिया जाएगा। राजा ने सुन कर दूत से कहा -'बेचारे गरीब राजाओं ने उसकी सेवाभक्ति कर दी होगी। किसी बड़े सत्ताधारी से उसका वास्ता नहीं पड़ा होगा। अब वह मदोन्मत्त हो कर मुझसे सेवापूजा कराना चाहता है। अब तक रावण का समय किसी प्रकार सुखपूर्वक व्यतीत हुआ, अब मालूम होता है उसके नाश होने के दिन बाकी रह गये हैं। अतः अपने स्वामी से जा कर कह देना कि अगर वह भला चाहता है तो मेरे प्रति भक्ति बताए, अन्यथा शक्ति बताए। अगर भक्ति और शक्ति दोनों में से किसी भी एक को नहीं बतायेगा तो समझ लो, उसका विनाश निश्चित है।" दूत ने आ कर रावण को सारी हकीकत सुनाई। सुनते ही क्रोध से प्रलयकाल के क्षुब्ध समुद्र के समान भयंकर बना हुआ रावण अनन्तसैन्यरूपी उछलती लहरों के साथ युद्ध के मैदान में आ डटा। दोनों पक्ष की सेनाओं का बड़े भारी संघर्ष के साथ युद्ध प्रारम्भ हुआ। दोनों ओर से शस्त्रवर्षा ऐसी लगती थी, मानो संवर्तकपुष्करावर्त मेघ-वृष्टि हो रही हो। रावण को नमस्कार करके रावणपुत्र मेघनाद ने युद्ध के लिए इन्द्र को ललकारा। 'वीरपुरुष युद्धक्रीड़ा में किसी को अग्रपद नहीं देते।' दोनों में से कौन-सा विजयी होगा, इसका फैसला करने के लिए उभयपक्ष की सेना को दूर करके रावण-पुत्र और इन्द्र दोनों ही वीर परस्पर द्वन्द्वयुद्ध करने लगे। दोनों युद्धनद को पार करने हेतु परस्पर शस्त्रप्रहार करने लगे। वे फुर्ती से एक-दूसरे को पछाड़ देते थे, इस कारण यह पता लगाना कठिन होता था कि मेघनाद ऊपर है या नीचे ? अथवा इन्द्र ऊपर है या नीचे ?" विजयश्री भयभीत-सी हो कर क्षणभर में इन्द्र के पास और दूसरे ही क्षण मेघनाद के पास चली आती थी। इन्द्र जब तब अभिमान से मशक की तरह फूल कर शस्त्रप्रहार करने को उद्यत होता, तब तक मेघनाद पूरी ताकत से उस पर हमला कर देता। और तत्काल ही मेघनाद ने इन्द्र को नीचे गिरा कर बांध लिया। **'विजयाकांक्षी मनुष्य की जय में पहला कारण आशुकारिता (फुर्ती) होती है।'** सिंहनाद से आकाश को गुंजाते हुए मेघनाद ने मूर्तिमान विजय की तरह बांधे हुए इन्द्र को अपने पिता रावण के सुपुर्द किया। रावण ने भी उसे प्रबल सुरक्षा से युक्त कारागार में डाल दिया। क्योंकि **बलवान दोनों कार्य करता है—वह मारता भी है तो रक्षा भी करता है।'** इतने में ही इन्द्र को पकड़ने से क्रोधित हो कर यमराज, वरुण, सोम और कुबेर, इन चारों इन्द्र-सुभटों ने तत्काल आ कर रावण को घेर लिया। विजयाकांक्षी रावण भी चौगुना

उत्साहित हो कर उन चारों सुभटों से भिड़ गया। सर्वप्रथम दण्डधर (यमराजा) के दण्ड को तोड़ दिया, फिर कुबेर की गदा चूर-चूर करदी। तत्पश्चात् वरुण का पाश नष्ट कर दिया और सोम का धनुष तोड़ डाला। बड़ा हाथी जैसे छोटे हाथी को पछाड देता है, वैसे ही रावण ने उन चारों को ऐसा पछाड़ा कि वे चारों खाने चित्त हो गए। फिर वैरी के विनाशहेतु उन चारों को बांध दिया। इन्द्र को साथ में रख कर राज्य के सप्त अंगों सहित रावण ने अब पाताललंका को जीतने के लिए कूच किया। वहाँ के चन्द्रोदय राजा को मार कर उसका राज्य तीन मस्तक वाले एवं दूषण में बली खर को सौंपा। चन्द्रोदय के सारे राज्य एवं अन्तःपुर को कठोर बलशाली खर ने अपने कब्जे में कर लिया। सिर्फ एक गर्भवती रानी भाग कर कहीं चली गई। उसके बाद लंकापति रावण पाताललंका से लंका पहुंचा और देवताओं के लिए कांटे के समान खटकने वाले अपने राज्य को निष्कंटक बना दिया।

एक बार रावण सैरसपाटा करने पुष्करविमान में बैठ कर जा रहा था, तभी इधर-उधर घूमते हुए उसने मरुत राजा को महायज्ञ करते देखा। उसके यज्ञ को देखने के लिए रावण विमान से नीचे उतरा और यज्ञस्थल पर पहुंचा। मरुत राजा ने रावण को सिंहासन आदि दे कर उसका सत्कार किया। बातचीत के सिलसिले में रावण ने मरुतराजा से कहा—'अरे भाई! नरक में ले जाने वाले इस हिंसक यज्ञ को क्यों कर रहे हो? त्रिलोकहितैषी सर्वज्ञ भगवन्तों ने तो अहिंसा में धर्म बताया है, फिर पशुहिंसा से अविरुद्ध इस यज्ञ से धर्म कैसे हो सकता है? इसलिए दोनों लोकों को बिगाड़ने वाले शत्रु के समान इस यज्ञ को मत करो। मेरी बात को ठुकरा कर यदि तुम भविष्य में कभी यज्ञ करोगे तो इस लोक में तो तुम्हारा निवास मेरे कारागार में होगा और परलोक में तुम्हारा निवास नरकागार में होगा।'' मरुतराजा ने सारी बातें भलीभांति समझ कर उसी समय यज्ञ बंद कर दिया। क्योंकि विश्व में प्रबल शक्तिशाली रावण की आज्ञा तो उसे माननी ही पड़ती। मरुत से यज्ञ बंद करवा कर हवा के समान फुर्तीला रावण सुमेरु अष्टापद आदि तीर्थों की यात्रा करने चला गया। वहाँ शाश्वत-अशाश्वत माने जाने वाले चैत्यों की यात्रा पूर्ण करके वह वापिस अपने स्थान को लौटा।

इधर अयोध्यानगरी में असीम सम्पत्ति का स्थान, महारथी दशरथ राजा था। उसके चारों दिशाओं की लक्ष्मी के समान कौशल्या, सुमित्रा, कैकयी और सुप्रभा नामक चार रानियां थीं कौशल्या रानी से राम, कैकयी से भरत, सुमित्रा से लक्ष्मण और सुप्रभा से शत्रुघ्न नामक पुत्रों का जन्म हुआ। राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न ये चारों राजपुत्र इन्द्र के ऐरावण हाथी के चार दांतों से शोभा देते थे। वयस्क होने पर रामचन्द्र ने धनुष्य पर बाण चढ़ा कर जनकराजा की पुत्री और भामंडल की बहन सीता के साथ विवाह किया। एक दिन राजा दशरथ ने अपनी चारों रानियों को जिनप्रतिमा का मंगल-मय अभिषेक जल भेजा। सुमित्रा को वह जल विलम्ब से मिला। इस कारण वह नाराज हो गई। उसे मनाने के लिए राजा दशरथ स्वयं पधारे। उस समय उन्होंने अन्तःपुर का एक जराजीर्ण बूढ़ा सेवक देखा, जिसके दांत घंटे के लोलक के समान हिल रहे थे; उसका सिर कांप रहा था, जिससे मुंह भी चलायमान हो रहा था, उसके सारे शरीर पर चांदी-से सफेद बाल थे, उसकी आंखें भौंहों की रोमराजि से ढक गई थीं, मानो यमराज से मृत्यु की याचना करता हुआ-सा वह बूढ़ा कदम-कदम पर लड़खड़ाता हुआ चलता था। उसे देख कर राजा विचार में पड़ गया—'मेरी भी ऐसी दशा हो, उससे पहले-पहले मुझे चौथे पुरुषार्थ-मोक्ष की साधना कर लेनी चाहिए।

दशरथ महाराज महाव्रत अंगीकार करना चाहते थे, इसलिए अपने स्थान पर अपने ज्येष्ठ-

पुत्र को स्थापित करने के लिए उन्होंने राम और लक्ष्मण को बुलाया। तभी भरत की माता कैकयी ने आ कर सत्यप्रतिज्ञ राजा दशरथ से धीरगम्भीर वाणी से उच्चारण करते हुए दो वरदान मांगे। तत्काल राजा दशरथ ने एक वरदान के रूप में भरत को राजगद्दी सौंपी और दूसरे वरदान के रूप में सीता-सहित राम और लक्ष्मण को चौदह वर्ष के वनवास की मांग पर उन्हें वनवास की आज्ञा दी, जिस पर सीतासहित राम और लक्ष्मण ने तत्काल वनप्रस्थान कर दिया और दण्डकारण्य में आ कर पचवटी के आश्रम में निवास किया। उस समय दो चारणमुनि विचरण करते-करते वहाँ आए। राम-लक्ष्मण ने श्रद्धापूर्वक उन्हें नमस्कार किया। श्रद्धालु सीता ने अतिथिरूप दोनों मुनियों को शुद्धभिक्षा दे कर आहारदान का लाभ लिया। उसी समय देवों ने सुगन्धित-जल की वृष्टि की। उस सुगन्ध से वहाँ जटायु नाम का एक गिद्धराज आ गया। दोनों चारणमुनियो ने वहाँ धर्मोपदेश दिया। इससे उस पक्षी को भी प्रतिबोध हुआ। उसे जातिस्मरणज्ञान हुआ, अतः पूर्वजन्म के किसी सम्बन्ध के कारण वह हमेशा सीता के पास ही रहने लगा।

एक दिन राम आश्रम पर ही थे। लक्ष्मण फलादि लाने के लिए बाहर वन में गया, वहाँ लक्ष्मण ने एक तलवार पड़ी देखी; कुतूहलवश उसने उठा ली और उसकी तीक्ष्णता की परीक्षा करने के लिए उसने पास ही पड़े हुए बांसों के ढेर में प्रहार किया। उसके बाद बांसों के ढेर के बीच मे बैठे हुए किसी पुरुष का मस्तककमल कमलनाल के समान कट कर गिरा हुआ देखा। देखते ही लक्ष्मण को बहुत पश्चात्ताप हुआ—"हाय, मैंने बिना ही युद्ध किये आज अकारण ही इस निःशस्त्र पुरुष को मार दिया!" इस अकार्य के लिए अपनी आत्मा को धिक्कारता हुआ एवं आत्मनिन्दा करता हुआ लक्ष्मण अपने बड़े भाई रामचन्द्र के पास आया। उसने सारी घटित घटना उन्हें सुनाई। उसे सुन कर रामचन्द्र ने कहा—"भैया! यह सूर्यहास नामक तलवार है। इसकी साधना करने वाले को तुमने मार दिया है। इसका कोई न कोई उत्तरसाधक वहाँ पर जरूर होना चाहिए, इतने में ही रावण की बहन, खर की पत्नी चन्द्रणखा वहां पर पहुंची, जहां उसका पुत्र मरा पड़ा था। अपने मृत पुत्र को देखते ही वह जोर-जोर से चिल्ला कर रोने लगी—"हाय! मेरे पुत्र शम्बूक! तू कहाँ है? मुझे छोड़ कर तू कैसे चला गया?" उसने अपने पुत्र को मारने वाले का पता लगाने के लिए इधर-उधर दृष्टि दौड़ाई, पर वहां कोई नजर नही आया। तभी उसकी नजर लक्ष्मण के पैरों की मनोहर पंक्ति पर पड़ी। उसने मन ही मन सोचा—"हो न हो, इन्ही पदचिह्नो वाले पुरुष ने मेरे पुत्र को मारा है।" यह निश्चय करके वह उन चरणचिह्नों का अनुसरण करती हुई चल पड़ी। थोड़ी ही दूर गई होगी कि उसने एक पेड़ के नीचे नयन मनोहारी राम को सीता और लक्ष्मण के आगे बैठे हुए देखा। श्रीराम को देखते ही उनके रूप पर मोहित हो कर वह कामक्रीड़ातुर हो गई। "शोक की अधिकता के समय कामिनियों में काम की अभि-लाषा कुछ अजब ही होती है।" उसने अपना रूप अत्यन्त मनोहर बना लिया और राम से अपने साथ रतिक्रीड़ा करने की प्रार्थना की।" उसकी निकृष्ट प्रार्थना पर मुस्कराते हुए राम ने कहा:—"मेरे तो एक पत्नी है, तुम लक्ष्मण की सेवा करो।" अतः वह लक्ष्मण के पास गई और उसके सामने भी इसी तरह की प्रार्थना करने लगी। लक्ष्मण ने उत्तर दिया—"तुम जैसी आर्यनारी के लिए ऐसी प्रार्थना शोभा नहीं देती। मैं तुम्हारी बात को कदापि स्वीकार नहीं कर सकता।"

प्रार्थनाभंग और पुत्रवध से अत्यन्त कुपित हो कर वह सीधी अपने पति खर के पास पहुंची; और उससे कहा—'मेरे पुत्र को लक्ष्मण ने मार डाला है। उसका उससे अवश्य बदला लेना

चाहिए। पत्नी की बात से उत्तेजित हो कर खर चौदह हजार विद्याधरों को साथ ले कर हाथी की तरह सदलबल वहाँ आ पहुँचा। उसने श्रीराम पर एकदम धावा बोल दिया। लक्ष्मण ने तत्काल ही श्री राम से विनति की —'बड़े भाई ! मेरे रहते आप स्वयं का ऐसों के साथ युद्ध करना उचित नहीं है, आप मुझे इनके साथ युद्ध करने की आज्ञा दीजिए।' इस पर श्रीराम ने कुछ सोच कर कहा—"अच्छा, वत्स ! तेरी प्रबल इच्छा है तो तू खुशी से जा, और युद्ध में विजय प्राप्त कर। परन्तु अगर तुम पर कोई विशेष संकट आ पड़े तो मुझे बुलाने के लिए सिंहनाद कर देना। इस प्रकार हितशिक्षा दे कर लक्ष्मण को भेजा। लक्ष्मण भी अपना धनुष्य ले कर श्रीराम की आज्ञा से युद्धस्थल पर आ डटा। और आमने-सामने की लड़ाई में अपने पैने तीरों से खर के सैनिकों को उसी तरह मार गिराने लगा, जैसे गरुड़ सर्पों को मार गिराता है। युद्ध बढ़ता जा रहा था। जय-पराजय का कोई पता नहीं लग रहा था। इसी बीच चन्द्रणखा अपने पति के पक्ष में सैनिकों की वृद्धि के लिए अपने भाई रावण के पास पहुंची। रावण को उत्तेजित करने के लिए उसने कहा— "भैया ! तुम्हें पता है, दण्डकारण्य में हमारी जाति की अवगणना करने वाले राम और लक्ष्मण नाम के दो मनुष्य आए हुए हैं। उन्होंने तुम्हारे भानजे को यमलोक पठा दिया है। इस बात को सुन कर उसका बदला लेने के लिए तुम्हारे बहनोई अपने छोटे भाई के साथ सेना ले कर लक्ष्मण के साथ युद्ध करने गये हैं। युद्ध अभी जारी है। अपने छोटे भाई के पराक्रम के गर्व से और अपनी शक्ति के गर्व से फूल कर राम अपनी पत्नी सीता के साथ विलास करने के लिए अपने स्थान पर रह गया है। उस सीता का रूप, लावण्य इतना सुन्दर है कि देवी, नागकुमारी या कोई मानुषी उसकी होड़ नहीं कर सकती। तीनों लोकों में उसके सरीखा रूप मैंने किसी दूसरी स्त्री का नहीं देखा। इतना ही नहीं, सारे देवों और असुरों की देवांगनाओं के रूप से भी बढ़कर उसका रूप है। वाणी से उसका बयान करना भी अशक्य है। राजन् ! समुद्रपर्यन्त इस पृथ्वी पर जितने भी रत्न हैं, वे सब तुम्हारे अधिकार के हैं। अतः बन्धो ! जिसकी रूपसम्पदा अपलकनेत्रों से टकटकी लगा कर देखते रहें, ऐसी मनोहारिणी आकृति वाले स्त्रीरत्न को अगर तुम ग्रहण नहीं कर सके तो रावण ही क्या हुए?" चन्द्रणखा की बातों से उत्तेजित हो कर रावण तत्काल पुष्पकविमान में बैठा और उसे आज्ञा दी कि हे विमानराज ! जहां जानकी हो, वहां मुझे शीघ्रातिशीघ्र पहुंचा दे।" विमान भी मनोवेग के समान उड़ता हुआ बहुत तेजी से जहां जानकी थी, वहां पहुंचा। अग्नि से डर कर जैसे सिंह दूर खड़ा रहता है, वैसे ही उग्रतेजस्वी राम को देख कर रावण डर कर दूर खड़ा रहा। वह मन ही मन सोचने लगा—"इस प्रकार श्री राम को जीत कर सीता का हरण करना उतना ही कठिन है, जितना कि एक ओर सिंह से मुकाबला करना और दूसरी ओर पानी से लबालब भरी नदी को पार करना। रावण ने अवलोकनविद्या का स्मरण किया। उसी समय वह किंकरी की तरह हाथ जोड़ कर सामने आ कर खड़ी हो गई। रावण ने तत्काल उसे आज्ञा दी—'सीता का अपहरण करने के लिए आज तुम मुझे सहायता दो।' अवलोकनविद्यादेवी ने कहा—"सर्पराज के मस्तक का मणि ग्रहण करना आसान है मगर राम के साथ बैठी हुई सीता को ग्रहण करना कठिन है, ऐसी हालत में तो इसे साक्षात् देव या असुर भी नहीं ग्रहण कर सकते। इसको ग्रहण करने का सिर्फ एक ही उपाय है —लक्ष्मण के समान सिंहनाद किया जाय, जिसे सुन कर राम लक्ष्मण की सहायता के लिए दौड़ पड़ेंगे ; क्योंकि उन दोनों में परस्पर ऐसा संकेत हुआ है। अतः ऐसा ही करूंगी तो तुम्हारा काम बन जायगा।" यों कह कर अवलोकनविद्यादेवी ने वहाँ से कुछ दूर जा कर लक्ष्मण का-सा सिंहनाद किया। उसे सुनते ही सीता को वहीं अकेली छोड़ कर राम, लक्ष्मण को सहायता के लिए एकदम दौड़ पड़े। **'मायावी की माया से महान् पुरुष भी विडम्बना में पड़ जाते हैं।'** राम के

आते ही रावण झटपट विमान से नीचे उतरा और महसा सीता को पकड़ कर मैं तेरा हरण करने वाला रावण हूं' यों कहते हुए जबर्दस्ती पुष्पक विमान में बिठा कर ले उड़ा।

इस अप्रत्याशित घटना से सीता हक्कीबक्की हो गई। असहाय सीता विलाप करने लगी—"हे नाथ ! हे राम ! हा वत्स लक्ष्मण ! ओ पिताजी ! अय महाभुजा वाले भाई भामण्डल ! तुम्हारी सीता को यह उसी तरह हरण किए लिये जा रहा है, जिस तरह कोआ बलि को ले कर आकाश में उड़ जाता है।" सीता इस प्रकार उच्चस्वर से रोने लगी, मानो आकाशमंडल को रुला दिया हो। इतने में जटायुपक्षी भी विमान का पीछा करता हुआ तेजी से उड़ा। विमान के निकट आ कर उसने कहा—"बेटी ! डर मत ! मैं आ पहुंचा हूं। रावण को फटकारते हुए वह बोला —'अरे राक्षस ! तू कहां इस पवित्र नारी को लिए जा रहा है ? खड़ा रह।' भामण्डल का अनुगामी विद्याधरों का कोई अगुआ भी रावण को ललकारता हुआ तिरस्कारपूर्वक बोला—'अरे चोर ! ठहर जा ! अभी तेरी खबर लेते हैं।" जटायुपक्षी रावण की छाती पर अपने पैर के तीखे नखों से मारने लगा।" रावण ने गीध से कहा—"बूढ़े गीध ! क्या तू अपनी जिंदगी से ऊब गया है, मालूम होता है, तेरी मौत निकट आ गई है।' यों कहते हुए चन्द्रहास तलवार से उसके पंख काट डाले। वह छटपटाता हुआ, नीचे गिर गया और वहीं उसके प्राणपखेरू उड़ गए। उस विद्याधर को विद्या का रावण ने हरण कर लिया, इसलिए वह भी पंख-कटे पक्षी की तरह जमीन पर औंधे मुंह गिर पड़ा। इस प्रकार अपने को बचाता हुआ रावण सीता को ले कर लंका पहुंचा और वहां अपनी अशोकवाटिका में उसे रखा। सीता को प्रलोभन दे कर अपने वश में करने के लिए उसने त्रिजटा राक्षसी भेजी।

इधर लक्ष्मण शत्रु को मार कर वापिस लौट रहा था कि सामने से आते हुए राम उसे मिले। लक्ष्मण ने पूछा—'भैया ! सीता को अकेली छोड़ कर आप यहां क्यों आ गए ?' राम ने कहा—"मैं तेरे द्वारा किये हुए संकटसूचक सिंहनाद को सुन कर तत्काल दौड़ा हुआ आ रहा हूं।' लक्ष्मण बोला—'भैया ! मैंने तो कोई सिंहनाद नहीं किया। मालूम होता है, किसी और ने नकली सिंहनाद करके हमें धोखा दिया है। निःसंदेह किसी धूर्त ने आर्यसती का हरण करने के लिए ही यह प्रपंच रचा है।' राम भी —'ठीक है, ठीक है' यों कह कर लक्ष्मण के साथ ही अपने आश्रम पर वापिस लौट आए। परन्तु सीता को वहां नहीं देख कर उन्हें वज्राघात-सा लगा। 'हे सीते ! तू कहां गई ?' यों विलाप करते हुए राम धड़ाम से मूर्छित होकर भूमि पर गिर पड़े। कुछ ही देर में जब होश आया तो लक्ष्मण ने कहा—"भैया ! असहाय अवस्था में विपत्ति आ पड़ने पर रोना व्यर्थ है, अब तो हमें पुरुषार्थ करना चाहिए। यही सच्चा उपाय है, विपत्ति-निवारण का।" उसी समय एक पुरुष ने आ कर दोनों को नमस्कार किया और पूछने पर अपनी घटना बताते हुए कहने लगा —'मैं पाताललंकाधिपति चन्द्रोदय का पुत्र हूं। मेरे पिता को मार कर रावण ने उनके स्थान खर को राजा बनाया है, मानो, घोड़े का स्थान गधे को दिया गया है। उस समय मेरी गर्भवती माता ने वहां से भाग कर एक सुरक्षित स्थान में शरण ली थी और वहीं मुझे जन्म दिया। एक दिन माताजी को किसी मुनि ने कहा—"जब खर आदि को दशरथपुत्र राम मारेंगे, तभी तुम्हारे पुत्र को पाताललंका की राजगद्दी सौंप कर राजा बनाया जायगा। इसमें जरा भी संशय मत करना।' अतः मैं आपको ढूंढ़ता हुआ, यहां आ कर आपसे मिला हूं। आज से मैं आपका आश्रय ले रहा हूं। मुझे आप मेरे पिता के वैरी का वध करने के बदले खरीदा हुआ सेवक समझें।' इस पर महाभुजा वाले श्रीराम उसे साथ ले कर पाताललंका का राज्य दिलाने हेतु चले। "समयज्ञ स्वामी अपने

कार्यों से स्वतः सफल होते हैं ।" लक्ष्मण के साथ राम उसे ले कर राजगद्दी दिलाने जा रहे थे कि रास्ते में भामण्डल का एक सेवक विद्यारहित हो कर पड़ा हुआ देखा । वह होश में था । इसलिए उसने जटायु, सीता और रावण का तथा अपना सारा वृत्तान्त निवेदन किया । राम ने उसे आश्वासन दिया । उसके पश्चात् लक्ष्मण के साथ सत्यप्रतिज्ञ राम पाताललंका पहुंचे और उक्त विराध को अपने पिता की राजगद्दी पर बिठाया । इधर साहसगति नाम का विद्याधर नेता आकाश में भ्रमण करता हुआ किष्किन्धा नगरी के निकट आया । उस समय किष्कन्धा नगरी का राजा सुग्रीव नगरी के बाहर सैर करने के लिए अपने परिवार के साथ जा रहा था । **सचमुच राजाओं की मनःस्थिति ऐसी होती है** । ठीक उसी समय साहसगति सुग्रीव के अन्तःपुर में पहुँच गया । वहाँ सुग्रीव की पत्नी सुनयना तारा को देख कर वह कामविह्वल हो गया । गर्मी से पीड़ित हाथी के समान, काम की गर्मी से पीड़ित साहसगति ने तारा के साथ रतिक्रीड़ा करने की लालसा से अन्यत्र जाने का विचार टाल दिया; मानो कामदेव की आज्ञा का उलघन न करने की दृष्टि से ही आगे जाने का विचार स्थगित कर दिया हो । परन्तु उसने सोचा - यह रमणी मुझ अपरिचित के साथ सहसा रमण करने को तैयार नहीं होगी । इस चिन्ता से व्यग्र हो कर सोचते-सोचते उसे एक बात सूझी कि मैं तो स्त्री या पुरुष का चाहे जैसा रूप बदलने में नट के समान कुशल हूं, अतः क्यों नही, सुग्रीव का वेश बना लूं ।' यों विचार कर साहसगति सुग्रीव का वेष बना कर उसके महल में घुसने लगा । महल के अंगरक्षकों ने स्त्रीलम्पट कृत्रिम सुग्रीव को ही असली सुग्रीव समझ कर महल में जाने से नहीं रोका । अभी वह महल तक पहुँचा नहीं था कि असली सुग्रीव बाहर से लौट कर ज्यों ही अन्तःपुर में घुसने लगा, त्यों ही वहाँ के पहरेदारों ने उसे अंदर जाने से रोका । अतः वह महल के द्वार के पास वापिस आ कर खड़ा हो गया । पहरेदारों से बार बार कहने पर भी उन्होंने असली सुग्रीव को यह कह कर अंदर प्रवेश नहीं करने दिया कि "अभी-अभी तो राजा ने प्रवेश किया है । मालूम होता है, तुम कोई और हो ।" इस पर से आपस में वादविवाद छिड़ गया । अतः पहरेदारों ने नकली सुग्रीव को बाहर बुलाया । उसके आते ही दोनों में समुद्र के समान अतुल कोलाहलमय वाग्युद्ध छिड़ गया । दूसरे सुग्रीव के कारण उपद्रव होते देख कर बालिपुत्र उस उपद्रव को शान्त करने के लिए अन्तःपुर के द्वार के पास शीघ्र ही आ पहुंचा । नदी के पूर को जैसे पर्वत रोक देता है वैसे ही नकली सुग्रीव को बालिपुत्र ने अन्तःपुर में जाने से रोक दिया । चौदह रत्नों के समान जगत् की श्रेष्ठ चौदह अक्षौहिणी सेना वहाँ आ कर डट गई । उन दोनों के रहस्य को न समझ पाने के कारण पूरी सेना में आधे सैनिक बनावटी सुग्रीव की तरफ और आधे असली सुग्रीव की तरफ हो गए । इस तरह दोनों की तरफ बटी हुई सेना में ही परस्पर युद्ध छिड़ गया । भाले से भाले टकराए । आकाश में शस्त्रों के परस्पर टकराने से निकलती हुई चिनगारियों से आकाश ऐसा दिखाई देने लगा, मानो वह उल्कापात वाला हो । अश्वारोहियों के साथ अश्वारोही, हाथियों के साथ हाथी, पैदल के साथ पैदल एवं रथिकों के साथ रथिक भिड़ गए । प्रौढ़प्रिय-समागम से जैसे मुग्धा रमणी कांप उठती है वैसे ही दोनों चतुरंगिणी सेनाओं की आपसी टक्कर से पृथ्वी कांपने लगी । कोई मसला हल न होते देख कर सच्चे सुग्रीव ने नकली सुग्रीव को ललकारा—'अरे, पराये घर में घुसने वाले नीच कामी कुत्ते ! आ मेरे साथ लड़ ! अभी तुझे छठी की याद दिला देता हूं ।' कृत्रिम सुग्रीव भी इस अपमान की चोट से मदोन्मत्त हाथी की तरह उछलता और जोर से गर्जन करता हुआ असली सुग्रीव से युद्ध करने आया । क्रोध से लाल-लाल आंखें किये यमराज के सहोदर की तरह वे दोनों महारथी तटस्थ दर्शक प्रजा के मन को कचोट रहे थे । वे दोनों अपने तीखे हथियारों से घास की तरह दोनों तरफ की सेना को काटते हुए लड़ रहे थे । जैसे दो भैंसों की लड़ाई में वृक्ष-वन का सत्यानाश हो जाता

है, वैसे ही इन दोनों महायोद्धाओं की लड़ाई से खेचरीगण भाग जाती थीं। दो जंगम पर्वतों की तरह मल्लयुद्ध करते-करते उन दोनों महायोद्धाओं के शस्त्र टूट कर नष्ट हो गए। क्रोध से परस्पर एक दूसरे लिए असह्य बने हुए वे क्षणभर में आकाश में उड़ते हुए और दूसरे ही क्षण भूमि पर गिरते हुए-से मालूम होते थे, मानों दोनों वीर-चूड़ामणि मुर्गे हों। दोनों महाप्राण परस्पर एक दूसरे को नहीं जीत सके, तब थके हुए बली की तरह दूर हट कर खड़े होगए। वे दोनों अब थक कर इतने चूर हो गए थे कि लड़ना अब उनके बस का न रहा। अन्ततः किष्किन्धानगरी से बाहर निकल कर दोनों एक स्थान पर बैठ गए। वहीं अस्वस्थ मन वाला बनावटी सुग्रीव रहा। बालिपुत्र ने उसे अन्तपुर में किसी भी मूल्य पर प्रविष्ट नहीं होने दिया।

सच्चा सुग्रीव वहीं नीचा सिर किये बैठा-बैठा सोचने लगा—'अहो! मेरा यह स्त्रीलम्पट शत्रु कितना कपटपटु है कि इसने मेरे स्वजनों को प्रपंच से वश करके अपना बना लिया है। खेद है, इसने अपने ही घुटनों पर कपट से छापा मारा है। अब तो यही चिन्ता है कि कैसे यह मायावी एवं प्रबल पराक्रमी द्वेषी दुष्ट मुझसे मारा जाएगा? धिक्कार है बाली के नाम को लज्जित करने और अपने पराक्रम से गिरने वाले मुझे?' महाबली अखण्ड पुरुषव्रतपालक बाली को धन्य है, जिन्होंने तिनके के समान राज्य का त्याग कर परमपद की प्राप्ति की। मेरा पुत्र चन्द्ररश्मि भी यद्यपि बलवान है, फिर भी हम दोनों का रहस्य न जानने के कारण वह भी किसकी रक्षा करे, किसकी नहीं?' इस पशोपेश में पड़ा है। परन्तु चन्द्ररश्मि ने इतना अच्छा किया कि उस दुष्ट को अन्त.पुर में नहीं घुसने दिया। इस कट्टर दुश्मन को मारने के लिए मैं मुझ से बढ़कर किस बलिष्ठ का आश्रय लूँ? क्योंकि '**शत्रु को तो किसी भी सूरत से खुद के या दूसरे के द्वारा मार डाला जाना चाहिए।**' क्या मैं पाताल, धरती और स्वर्ग इन तीनों में पराक्रमी मरुत का या यज्ञ को भंग करने वाले रावण का शत्रुवध के लिए आश्रय लूँ? नहीं, नहीं, वह तो स्वभाव से स्त्रीलम्पट और तीनों लोकों में कांटे की तरह है। उसका वश चलेगा तो वह उसे और मुझे मार कर तारा को अपने अधीन कर लेगा। ऐसे संकट के समय दृढ़ साहसी, कठोर खर शक्तिशाली राजा था, लेकिन राम ने उसे मार दिया। अतः अब तो यही उपाय है कि शक्तिशाली, भुजबली राम और लक्ष्मण के पास जा कर उनसे मैत्री करूं? उन्होंने कुछ दिनों पहले विराध को राजगद्दी पर बिठाया है और अभी वे विराध के आग्रह से पाताललंका में ही रुके हुए हैं। इसी तरह सुग्रीव ने एकान्त में गहरा मंथन करके अपने एक विश्वस्त दूत को विराध के पास भेजा। उसने पाताललंका में जा कर विराध को नमस्कार करके अपने स्वामी द्वारा कहा गया संदेश उन्हें दिया और अन्त में कहा—हमारे स्वामी बड़े संकट में हैं। वे आपके जरिये रघुनन्दन राम और लक्ष्मण की शरण स्वीकार करना चाहते हैं।" विराध ने कहा—'सुग्रीव को यहाँ जल्दी से जल्दी ले आओ। सब कुछ ठीक होगा।' '**सत्पुरुषों का समागम प्रबल पुण्य से मिलता है।**' दूत ने आ कर सारी बात सुग्रीव से कही। सुग्रीव ने भी अपने उत्तम घोड़े पर चढ़ कर प्रस्थान किया और घोड़े की हिनहिनाहट से सभी दिशाओं को शब्दायमान करता हुआ, द्रुतगति से दूरी कम करता हुआ वह चलने लगा। पड़ौसी के घर की तरह शीघ्र ही वह पाताललंका पहुंच गया। वहाँ वह सर्वप्रथम विराध से मिला। विराध भी उससे गले लगा कर प्रेम से मिला और नि.स्वार्थ पररक्षक श्रीराम से उसे मिलाया। सुग्रीव ने उन्हें नमस्कार किया और अपनी सारी कष्टकथा कह सुनाई। अन्त में कहा—'ऐसे संकट के समय आप ही मेरे शरणभूत हैं। जब छींक रुक

जाय, तब सूर्य का ही एकमात्र शरण लिया जाता है।' स्वयं संकट में होते हुए भी श्रीराम उसका संकट मिटाने को तैयार हुए। **'महापुरुष अपना कार्य सिद्ध करने की अपेक्षा परकार्य के लिए अधिक प्रयत्नशील होते हैं।'** विराध ने सीताहरण का वृत्तान्त सुग्रीव से कहा। सुग्रीव ने हाथ जोड़ कर श्रीराम से सविनय निवेदन किया—'समग्र विश्व को जैसे सूर्य प्रकाशित करता है, वैसे ही आप सब की रक्षा करने में समर्थ हैं। आपको किसी की सहायता की अपेक्षा नहीं रहती। फिर भी हे देव ! मेरी आपसे प्रार्थना है कि आपकी कृपा से शत्रु को मारने में अपनी सेनासहित मैं आपका अनुगामी बनूंगा और शीघ्र से शीघ्र सीता के समाचार लाऊंगा।' सुग्रीव के साथ श्रीराम ने किष्किन्धा की ओर प्रयाण किया। विराध भी साथ-साथ आना चाहता था, लेकिन श्रीराम ने उसे समझा-बुझा कर वापिस लौटा दिया। श्रीराम सुग्रीव के साथ आगे बढ़ते गए। उन्होंने किष्किन्धानगरी के पास अपनी सेना का पड़ाव डाला और युद्ध के लिए नकली सुग्रीव को ललकारा। कपटी सुग्रीव भी गर्जन तर्जन करता हुआ वहां आ धमका। कहावत है—**'भोजन का न्यौता मिलने पर ब्राह्मण आलस्य नहीं करते, वैसे ही युद्ध का आमंत्रण मिलने पर शूरवीर आलस्य नहीं करते।'** वहीं जंगल के हाथी की तरह मदोन्मत्ततापूर्वक लड़ते हुए दोनों सुग्रीव अपने पैरों से पृथ्वी को कंपाने लगे। दोनों का रूप एकसरीखा होने से श्रीराम संशय में पड़ जाते कि मेरा सुग्रीव कौन-सा और नकली सुग्रीव कौन सा है ? इससे वे क्षणभर उदासीन-से हो कर यह सोचने लगे कि जो होने वाला है, वह तो होगा ही।' दूसरे ही क्षण उन्होंने वज्रावर्त नामक धनुष्य की टंकार की। उस टंकार को सुनते ही साहसगति की रूपपरावर्तनी विद्या जाती रही। अब अपने असली रूप में आते ही श्रीराम ने साहसगति को ललकारा—'दुष्ट ! रूप बदल कर सबकी आंख में धूल झौंक कर तू परस्त्रीरमण करना चाहता है, पापी ! अपना धनुष्य तैयार कर।' यों कह कर श्रीराम ने एक ही बाण से उसका काम तमाम कर दिया। क्योंकि हिरण को मारने में सिंह को दूसरे पंजे की आवश्यकता नहीं पड़ती। अब श्रीराम ने विराध की तरह सुग्रीव को भी किष्किन्धानगरी की राजगद्दी पर बिठाया। राजा सुग्रीव भी पहले की तरह प्रजा-मान्य बन गया।

इधर विराध भी राम के कार्य के लिए सेना ले कर आया। सच है, **कृतज्ञपुरुष अपने स्वामी का कार्य किये बिना सुख से नहीं रह सकता।'** भामण्डल भी विद्याधरों की सेना ले कर वहां आ पहुंचा। **'कुलीनपुरुष स्वामी के कार्य को उत्सव से भी बढ़कर समझता है।'** सुग्रीव ने जाम्बवान, नल, नील, आदि अपने प्रसिद्ध पराक्रमी सामन्त राजाओं को चारों ओर से खबर भेज कर वहां बुलाए। इधर अन्य विद्याधर राजाओं की सेना भी जब चारों ओर से आ-आ कर वहां जमा हो गई; तब सुग्रीव ने श्री राम को प्रणाम करके सविनय निवेदन किया—'देव ! यह अंजनादेवी और पवनंजय का पुत्र अतीव बलशाली सेवापरायण हनुमान है। यह आपकी आज्ञा से सीताजी का समाचार लेने लंका जाएगा। अतः इसे आशीर्वाद दें और पहिचान के लिए अपनी नामांकित मुद्रा दें।' श्रीराम ने हनुमान को सारी बातें संक्षेप में समझा दी और अपनी मुद्रिका दे कर आशीर्वाद दिया। पवनपुत्र हनुमान भी हवा की भांति अत्यन्त तीव्रगति से आकाशमार्ग से चल पड़ा। कुछ ही समय में वह लंका पहुंच गया। लंका में रावण के उद्यान में शिंशपावृक्ष के नीचे मंत्रजप की तरह राम-ध्यान करती हुई सीता को देखा। वृक्ष की शाखा में अदृश्य हो कर हनुमान ने ऊपर से सीता की गोद में परिचय के लिए मुद्रिका डाली। रामनामांकित मुद्रिका को देखते ही सीता अत्यन्त प्रसन्न हुई। इसे देख कर त्रिजटा राक्षसी ने रावण के पास जा कर निवेदन किया—'देव ! इतने अर्से तक हमने सीता को चिन्ताग्रस्त देखा था, लेकिन

आज तो प्रसन्नता की मुद्रा में है।' रावण ने सोचा—'अवश्य ही सीता अब राम को भूल कर मेरे साथ प्रीति जोड़ने की इच्छा से प्रसन्न हुई है।' उसने मंदोदरी को बुला कर आदेश दिया—'देवी ! तुम जा कर सीता को समझाओ। इस समय अच्छा मौका है।' पति के दौत्यकार्य को करने के लिए मंदोदरी सीता के पास पहुंची। सीता को प्रलोभन दे कर विनीत बन कर वह सीता से इस प्रकार कहने लगी—'देखो, सीते ! रावण बहुत बड़ा राजा है, अपूर्व ऐश्वर्य, सौन्दर्य आदि अनेक गुणों से सुशोभित है। रावण की रूपलावण्यादि सम्पदा भी तेरे अनुरूप है। दुःख है, अज्ञदैव तुम दोनों का संयोग न करा सका। परन्तु अब वह योग आया है। अतः तुम्हारे ध्यान में अहर्निशलीन रावण के पास जाओ, उसकी सेवा करो और आमोद-प्रमोद में अपना जीवन बिताओ। हे सुनयने ! दूसरी सब रानियाँ तुम्हारी आज्ञा का पालन करेंगी।' यह सुन कर सीता ने तिरस्कारपूर्वक मंदोदरी से कहा—'अरी पति का दूतकार्य करने वाली पापिनी ! दुर्मुखी ! शर्म नहीं आती, तुम्हें ऐसा कहते ! तेरे पति के समान तेरा भी मुख देखने योग्य नहीं है। यह समझ ले कि मैं राम के पास ही हूँ। क्योंकि लक्ष्मण यहाँ आया है। वह खर आदि के समान बन्धुओं सहित तुम्हारे पति को मारेगा। पापिनी ! तुम यहाँ से खड़ी हो जाओ। अब मेरे साथ बात भी मत करो।' इस प्रकार अपमानित हो कर मन्दोदरी रोषपूर्वक वहाँ से चल पड़ी।

मदोदरी के जाने के बाद हनुमान पेड़ से नीचे उतरा और विनयपूर्वक सीता को नमस्कार करके हाथ जोड़ कर बोला—'देवि ! आपके भाग्य से लक्ष्मणसहित श्रीराम कुशलपूर्वक हैं, विजयी है। श्रीराम की आज्ञा से मैं आपका समाचार पाने के लिए यहाँ आया हूँ। मैं वापिस लौट कर उन्हें आपके समाचार कहूंगा। फिर श्रीराम शत्रु का संहार करने के लिए यहाँ आएँगे। पति के दूत और उनके प्रतीक के रूप में मुद्रिका अर्पित करने वाले हनुमान को देख कर सीता अत्यन्त प्रसन्न हुई। उसने हनुमान को अपने अमोघ आशीर्वाद से अभिनन्दित किया। उसके पश्चात् हनुमान के आग्रह से और श्रीराम के समाचार मिलने से प्रसन्न हो कर सीता ने १६ उपवास का पारणा किया। पवन के समान स्फूर्तिमान पवनपुत्र हनुमान ने अपने बल का चमत्कार बताने के लिए वहाँ के पेड़पौधे, पत्ते, फल, डालियाँ आदि तोड़-तोड़ कर रावण का उद्यान नष्टभ्रष्ट कर डाला। उद्यान को नष्टभ्रष्ट होते देख उद्यान-पालकों ने हनुमान को पकड़ कर सजा देना चाहा, परन्तु वह किसी के पकड़ में नहीं आ रहा था। आखिर उद्यान-पालकों ने रावण के पास जा कर शिकायत की। रावण ने हनुमान को पकड़ने और पकड़ा न जा सके तो मार डालने की आज्ञा दी। रावण के कुछ सिपाहियों को ले कर उद्यानपालक उद्यान में आए; परन्तु अकेले हनुमान ने ही उन सबको मार भगाए। सचमुच, 'युद्ध में विजय की गति विचित्र होती है।' रावण ने हनुमान को बाँध कर लाने के लिए शक्रजित को आज्ञा दी। उसने पाशबन्धन अस्त्र फैंका। हनुमान उसमें अपने आप ही बंध गया। हनुमानजी को बांध कर शक्रजित रावण के पास ले गया; लेकिन यह क्या ? हनुमान ने चट से पाशबन्धन तोड़ा और रावण का मुकुट चूर-चूर करने के लिए बिजली के दंड के समान पैर ऊपर उठाया। रावण घबरा कर जोर से चिल्लाया—'अरे ! है कोई यहाँ ? पकड़ो इसे, मारो इस बदमाश को।' हनुमान ने तत्काल वहां से छलांग लगाई और थोड़ी ही देर में सारी नगरी में घूम-घूम कर उसे उजाड़ दी; अनाथ-की-सी बना दी। पैर से ढोल को तोड़ने की तरह नगरी की कई ईमारतें तोड़ डालीं। इस प्रकार क्रीड़ा करते हुए हनुमान गरुड़ के समान उड़ कर श्रीराम के पास पहुँचे। नमस्कार करके हनुमान ने आद्योपान्त सारा वृत्तान्त सुनाया। राम ने अपने प्रियसेवक को छाती से गाढ़ आलिंगन किया। फिर सुग्रीव आदि को विजययात्रा के लिए लंका जाने की आज्ञा दी। रावण की रक्षा करने वाले समुद्र पर सेतुबन्ध (पुल) बांध कर श्रीराम की सेना ने समुद्र पार किया।

सुग्रीव आदि के साथ श्रीराम विमान में बैठ कर लंका पहुंचे। वहां हंसद्वीप में अपनी सेना का पड़ाव डाला और लंकानगरी को एक छोटे-से मार्ग के समान सेना ने घेर लिया।

विभीषण ने रावण की राजसभा में पहुंच कर प्रणाम करके रावण से निवेदन किया—"बड़े भाई ! यद्यपि मैं आपसे छोटा हूं। आपको कुछ कहना मेरे लिए उचित नहीं है; तथापि नगरी में फैली हुई एक बात देख कर मुझे हितैषी के नाते कुछ कहने को बाध्य होना पड़ा है। आशा है, आप मेरी बात अवश्य मानेंगे। हमारी नगरी में श्रीराम आये हैं, और वे केवल अपनी सीता वापिस लौटा देने की मांग आपसे कर रहे हैं। आप इस पर दीर्घदृष्टि से विचारें और मेरी नम्र राय में तो सीता उन्हें ससम्मान सौंप दें, जिससे धर्महानि न हो, लोक में अपकीर्ति भी न हो।" रावण ने सुनते ही रोषपूर्वक कहा—"अरे विभीषण ! मालूम होता है तू उससे डर गया है; तभी तो कायर पुरुष की तरह मुझे उपदेश दे रहा है !" तब विभीषण ने कहा—"बड़े भाई ! राम और लक्ष्मण की बात तो एक ओर रही, उनके केवल एक सैनिक—हनुमान ने क्या नहीं कर दिया ? क्या आपने नहीं देखा—सुना ?" "रावण बोला—"तू हमारे विपक्षी शत्रु में मिला हुआ दीखता है, तभी ऐसी बहकी-बहकी बातें करता है। तू नालायक है, निकल जा यहां से।' इस प्रकार अपमानित करके विभीषण को निकाल दिया। अतः विभीषण श्री राम के पास पहुंचा। श्रीराम ने उसे लंका का राज्य देने का वचन दिया। क्योंकि '**महापुरुष औचित्य का स्वीकार करने में कभी नहीं हिचकिचाते।**' कांस्यताल के साथ कांस्यताल टकराता है, वैसे ही लंका से बाहर निकल कर श्री राम की और रावण की सेना प्रकट रूप से परस्पर टकराने लगी। विजयलक्ष्मी भी साहूकार और कर्जदार दोनों की लक्ष्मी के समान कभी इधर तो कभी उधर दोनों पक्ष की प्राण होमने वाली सेनाओं में जाने-आने लगी। बाद में राम की भ्रूसंज्ञा से आज्ञा प्राप्त करके एक के बाद एक हनुमान आदि सुभट उसी तरह महासमररूपी समुद्र में उसी तरह शत्रुसेना में अवगाहन करने लगे, जैसे समुद्रमंथन के समय देवों ने समुद्र में अवगाहन किया था।

इधर दुर्दान्त हाथियों के समान चारों ओर फैले हुए राम के पराक्रमी एवं दुर्दमनीय सुभटों ने कई राक्षसों को मार गिराया; कइयों को पकड़ कर कैद कर लिया, कितने ही सैनिकों को भगा दिये। यह बुरी खबर सुन कर जलते हुए अंगारे के समान क्रुद्ध हो कर कुम्भकर्ण और अहंकारी मेघनाद ने युद्ध-भूमि में प्रवेश किया।

प्रलयकालीन तूफान और आग के समान दोनों सुभट युद्ध में कूद पड़े। राम की सेना के लिए यह असह्य था। सुग्रीव ने रोषवश एक पर्वत को शिला के समान उठा कर कुम्भकर्ण पर फैंका; कुम्भकर्ण ने भी अपनी गदा से उसे चूर-चूर कर डाला। फिर गदा के प्रहार से सुग्रीव को नीचे पटक कर अपनी कांख में दबाया और उसे ले कर कुम्भकर्ण लंका की ओर चला। इसे देख कर मेघ के समान गर्जना करने वाला मेघनाद भी हर्षित हुआ। और तीक्ष्णबाणवर्षा से वानरद्वीप की सेना घायल कर दी। श्री राम ने आंखें लाल करके कुम्भकर्ण को और लक्ष्मण ने मेघनाद को ललकारा—'ठहरो, ठहरो, अभी तुम्हें मजा चखाते हैं।' सुग्रीव भी तुरंत जोश में आ कर वहां कूद पड़ा। '**पारा कब तक मुट्ठी में पकड़े हुए रखा जा सकता है।**' अतः कुम्भकर्ण वहां से लौट कर राम के साथ भिड़ पड़ा। दूसरी ओर जगत् को क्षुब्ध करने वाला मेघनाद भी फुर्ती से लक्ष्मण के साथ भिड़ गया। पूर्व और पश्चिम के समुद्र के समान राम और कुम्भकर्ण परस्पर युद्ध के दांवपेच लगा रहे थे, उधर उत्तरी और दक्षिणी समुद्र के समान रावणपुत्र मेघनाद और लक्ष्मण भी अपने-अपने दांवपेच लगाने लगे। थोड़ी ही देर में राक्षसों पर काबू

करने के लिए राक्षससम श्रीराम ने रावण के छोटे भाई कुम्भकर्ण को तथा लक्ष्मण ने रावणपुत्र मेघनाद को नीचे गिरा कर पकड़ लिया। यह देखते ही ऐरावण के समान विशालकाय एवं जगत् में भयंकर रावण रोष से दांत पीसता हुआ समग्र वानरसैन्यरूपी हाथियों को पीसने के लिए युद्धभूमि में आया। तभी लक्ष्मण ने श्री राम से कहा—"आर्य ! आपको युद्धभूमि में अभी आने की आवश्यकता नहीं। मैं अकेला ही इन सबसे निपट लूंगा।" इस प्रकार राम को रोक कर लक्ष्मण स्वयं बाणवर्षा करता हुआ शत्रु के सम्मुख आया। अस्त्रविद्या में प्रवीण रावण ने जितने अस्त्र छोड़े, लक्ष्मण उन्हें काटता गया। अन्त में, रावण ने लक्ष्मण की छाती पर अमोघशक्ति नामक अस्त्र का जोर से प्रहार किया। इस शक्ति के प्रहार से लक्ष्मण पृथ्वी पर मूर्च्छित हो कर गिर पड़े। बलवान राम के हृदय में शोक छा गया। प्राणप्रण से हितैषी सुग्रीव आदि ८ सुभटों ने सुरक्षा के लिए राम और लक्ष्मण को चारों ओर घेर लिया। रावण ने हर्षित हो कर सोचा—'आज लक्ष्मण मर जायगा। लक्ष्मण के वियोग में राम की भी वही दशा होगी। अब बेकार ही मुझे युद्ध करके क्या करना है ?' यों सोच कर वह नगर की ओर चल दिया। राम को किले की तरह कई सैनिक सुरक्षा के लिए घेरे हुए थे। राम के आवास के चारों दरवाजों पर सुग्रीव आदि खड़े थे। तभी दक्षिणदिशा के द्वार के रक्षक भामण्डल के पूर्व परिचित एक विद्याधर-नेता ने आ कर कहा 'अयोध्या नगरी से १२ योजन पर कौतुकमंगल नामक नगर है, वहाँ के राजा द्रोणघन कैकयी के भाई हैं। उसके विशल्या नामक एक कन्या है। उसके स्नान किये हुए जल के स्पर्श से तत्काल शल्य (तीर का विष) चला जाता है। अगर सूर्योदय से पहले-पहले वह जल ला कर लक्ष्मण पर छींटा जाए तो यह शल्यरहित हो कर जी जाएगा, नहीं तो जीना मुश्किल है। इसलिए मेरी राय में श्रीराम से शीघ्र निवेदन करके किसी विश्वस्त को उसे लाने की आज्ञा दे देनी चाहिए। इस कार्य के लिए शीघ्रता करो। सवेरा हो जाने पर फिर कोई उपाय काम नहीं आएगा। गाड़ी उलट जाने पर गणपति क्या कर सकता है ?

भामण्डल ने तुरंत श्रीराम के पास जा कर सारी बात समझाई। अतः हनुमान और भामण्डल दोनों तूफान के समान शीघ्रगामी विमान में बैठ कर अयोध्या आये। उस समय भरत अपने महल में सोये हुए थे, अतः दोनों ने उन्हें जगाने के लिए मधुर गीत गाए। 'राज्यकार्य के लिए भी राजाओं को मधुर गीत से जगाया जाता है।" भरतजी निद्रा छोड़ कर अंगड़ाई लेते हुए जाग पड़े, सामने भामंडल को नमस्कार करते हुए देखा। आने का प्रयोजन पूछा तो भामण्डल ने उस महत्वपूर्ण कार्य का जिक्र किया। **'हितैषी ईष्ट व्यक्ति को भी इष्ट कार्य के सम्बन्ध में अधिक नहीं कहा जाता।'** भरत ने सोचा—मेरे स्वयं जाने पर ही यह कार्य सिद्ध हो सकेगा। अतः विमान में बैठ कर वे तुरन्त कौतुकमंगल नगर आए। द्रोणघन राजा से उन्होंने लक्ष्मण के लिए विशल्या की मांग की। उन्होंने मांग स्वीकार करके विशल्या को बुला कर हजार कन्याओं के साथ उसे दो। भामंडल भी भरत को अयोध्या में छोड़ कर कन्याओं के परिवार सहित विशल्या को ले कर उत्सुकतापूर्वक वहां पहुंचे। प्रकाशमान दीपक के समान उस विमान में भामण्डल को बार-बार सूर्योदय होने की भ्रान्ति हो जाने से वे भयभीत हो जाते थे। विमान से उतरते ही भामंडल विशल्या को सीधे ही लक्ष्मण के पास ले गए। लक्ष्मण को हाथ से स्पर्श करते ही लाठी से जैसे सर्पिणी निकल कर चली जाती है, वैसे ही शक्ति (विषबुझे बाण की मार) निकल कर चली गई। उसके बाद राम की आज्ञा से विशल्या का स्नानजल अन्य सैनिकों पर भी छींटा गया, जिससे वे शल्य रहित हो कर नये जन्मग्रहण की तरह उठ खड़े हुए। फिर कुम्भकर्ण आदि को विशल्या का स्नानजल छींटने का श्रीराम ने उच्च स्वर से कहा। किन्तु द्वारपालों ने कहा—"देव ! उन्होंने तो उसी समय

स्वयं दीक्षा अंगीकार कर ली है।" राम ने यह सुनते ही कहा— 'तब तो वे मुक्तिमार्ग के पथिक हैं, वन्दनीय हैं, उन्हें तो बन्धनमुक्त कर देना चाहिए।" राम की आज्ञा से रक्षकों ने नमस्कार करके तत्काल उन्हें बन्धनमुक्त कर दिये। इसके बाद विशल्या और उसके साथ आई हुई सभी कन्याओं का लक्ष्मण के साथ विधिवत् पाणिग्रहण हुआ।

क्रोधमूर्ति रावण को ये समाचार मिलते ही वह पुनः युद्धभूमि मे आ धमका। क्योंकि पराक्रमी वीर पुरुषों के लिए विवाहोत्सव से भी बढ़कर युद्धोत्सव होता है। रावण जब जब अस्त्र छोड़ता था, लक्ष्मण उसे केले के पत्ते के समान काट देता था। अपने हथियार खण्डित हो जाने से क्रुद्ध रावण ने चक्र फेंका। वह चक्र लक्ष्मण की छाती में तमाचे के समान लगा; मगर उसकी धार नहीं लगी, इससे उनका बाल भी बांका न हुआ। लक्ष्मण ने उसी चक्र को वापिस रावण पर चलाया, जिससे रावण का मस्तक कट कर गिर पड़ा। किसी समय अपने ही घोड़े से व्यक्ति गिर पड़ता है।' रावण के निधन के बाद राम स्वर्णशलाका के समान निर्मल शील से सुशोभित सीता से मिले और उसे लेकर अपने निवास पर आए। विभीषण को लंका की राजगद्दी पर बिठा कर श्रीराम लक्ष्मण, सीता, बन्धु पत्नी एवं समस्त मित्रों, स्वजनों के साथ अयोध्या लौटे। परस्त्रीगमन की आकांक्षा के कारण रावण का कुल नष्ट हो गया और उसे नरक का अतिथि बनना पड़ा।

यही सीता-रावण कथा का हार्द है। इस उदाहरण से दुस्त्यजा परस्त्री का त्याग करना चाहिए। यही बात अगले श्लोक में कहते हैं—

लावण्यपुण्यावयवां पदं सौन्दर्यसम्पदः।
कलाकलापकुशलामपि जह्यात् परस्त्रियम् ॥१००॥

अर्थ

परस्त्री चाहे कितनी ही लावण्ययुक्त हो, शुभ अङ्गोपांगों से युक्त हो, सौन्दर्य एवं सम्पत्ति का घर हो, तथा विविध कलाओं में कुशल हो, फिर भी उसका त्याग करना चाहिए।

व्याख्या

परस्त्री को यहाँ 'दुस्त्यजा' कहा है, उसका क्या कारण है? यह इस श्लोक में बताया गया है—लावण्य, रूप आदि में कई स्त्रियां इतनी अधिक स्पृहणीय होती हैं, कई पूर्वपुण्य के कारण सुन्दर एवं सुडौल अंगोपांगों के कारण दर्शनीय होती हैं, सौन्दर्यसम्पदा में बढ़कर होती हैं, स्त्रियोचित ६४ कलाओं में प्रवीण होती हैं, अतः इन कारणों से पुरुष मोहवश छोड़ना नहीं चाहता, इसलिए परस्त्री को दुस्त्यज' कहा। अतः परस्त्री चाहे कितनी ही सुन्दर, कलानिपुण, चतुर एवं गुणों से सुशोभित हो, वह पराई ही है, इसलिए त्याज्य समझ कर छोड़नी चाहिए।

परस्त्रीगमन के दोष बता कर अब परस्त्रीत्यागी की प्रशंसा करते हैं—

अकलंकमनोवृत्तेः परस्त्री-सन्निधावपि।
सुदर्शनस्य किं ब्रूमः सुदर्शनसमुन्नतेः? ॥१०१॥

अर्थ

परस्त्री के पास रहने पर भी निष्कलंक मनोवृत्ति वाले सुदर्शन महाश्रावक, जिसके

शुभदर्शन से ही जीवन की उन्नति होती है, अथवा जैनदर्शन की उन्नति करने वाले, की कितनी प्रशंसा करें ?

व्याख्या

अपने पर आसक्त परस्त्री के निकट रहने पर भी और सेवन करने की शक्ति या गुण होने पर भी जिसकी चित्तवृत्ति निष्कलंक रही, अर्थात् जिनका चित्त जरा भी मलिन नहीं हुआ, ऐसे शासन प्रभावक-शासन की उन्नति करने वाले, सुदर्शन महाश्रावक की हम कितनी स्तुति करें ? जितनी स्तुति-प्रशंसा करें उतनी ही थोड़ी है ?

शील में सुदृढ़ सुदर्शन महाश्रावक का जीवन

प्राचीन काल मे अंगदेश में अलकापुरी से भी बढ़कर चम्पापुरी थी। वहाँ कुबेर से बढ़कर समृद्ध दधिवाहन राजा राज्य करता था। उसके लावण्य में देवागनाओं को भी मात करने वाली, कला कुशल, अभया नाम की पटरानी (महादेवी) थी। उसी नगरी में समस्त व्यापारियों में अग्रणी, श्रेष्ठ-कार्य-तत्पर ऋषभदास सेठ रहता था। उसके यथा नाम तथा गुणशाली, जैनधर्मोपासिका, शीलवती अर्हद्दासी नाम की धर्मपत्नी थी। उनके यहाँ सुभग नाम का नौकर रहता था, जो उनकी गायें-भैंसे चरा लाता था। वह पशुओं को चराने के लिए जंगल में ले जाता और शाम को वापिस ले आता था। एक बार माघ का महीना था। सन्ध्या समय जब वह पशुओं को चरा कर वन से वापिस आरहा था कि रास्ते में ही एक पेड़ के नीचे एक बिलकुल निर्वस्त्र मुनि को कायोत्सर्ग (ध्यान) करते हुए देखा। उसे यह आश्चर्य हुआ—ऐसी ठंडी रात में निर्वस्त्र होकर ठूंठ के समान स्थिर होकर ये कायोत्सर्ग कर रहे हैं। सचमुच, इन महात्मा को धन्य है !' यों विचार करता हुआ वह घर आया। रात को फिर वह कोमल-हृदय बालक उन महामुनि के विषय में चिन्तन करने लगा 'कहाँ तो मैं इतने वस्त्र ओढ़ कर सोता हूं, और कहाँ वे महात्मा, जो ऐसे हिमपात के समय भी बिलकुल निर्वस्त्र हो कर रहते हैं। ठंड की वेदना की भी उन्हें परवाह नहीं है।'' सुबह भी के रात्रि चिन्तन के अनुसार पशुओं को ले कर वह वहीं पहुंचा, जहाँ मुनिराज कायोत्सर्ग में खड़े थे। भक्तिभाव से ओतप्रोत हो कर वह मुनि को नमस्कार करके उनकी सेवा में वहीं बैठ गया। 'साधारण सहृदय लोगों में सहज विवेक होता है। कुछ ही देर में पूर्वाचल से सूर्योदय हुआ, मानो वह भी श्रद्धापूर्वक ऐसे महामुनियों के दर्शनार्थ आया हो। मुनि ने कायोत्सर्ग (ध्यान) खोलते ही '**नमो अरिहंताणं**, शब्द का उच्चारण किया और सूर्य की तरह आकाश में उड़ गए। यह सुन कर सुभग ने विचार किया – निश्चय ही यह शब्द आकाशगामिनी विद्या का है।'' इस दृष्टि से उसने नमस्कार-मंत्र का प्रथमपद हृदय में धारण कर लिया। अत: सोते, जागते, उठते, बैठते, चलते, फिरते दिनरात, घर में या बाहर, मलिन वस्त्र, शरीर या झूठे हाथ आदि होने पर भी वह **नमो अरिहंताणं**' पद का उच्चारण करने लगा। सच है, किसी वस्तु को एकाग्रतापूर्वक ग्रहण करने से वह तद्रूप हो ही जाता है।' एक दिन सेठ ने उसके मुँह से यह शब्द सुन कर पूछा— 'भद्र ! जगत् में उत्कृष्ट प्रभावशाली इस पंचपरमेष्ठी मन्त्र का एक पद तुम्हें कहाँ से प्राप्त हो गया ? ''सुभग ने सारी बात खोल कर कही। 'बहुत अच्छा ! यों कह कर सेठ ने उसे समझाया कि यह केवल आकाशगामिनी विद्या ही नहीं है, अपितु यह स्वर्ग एवं अपवर्ग (मोक्ष) को प्राप्त कराने वाली भी है। तीनों लोकों में जो भी सर्वश्रेष्ठ सुन्दर या दुर्लभ वस्तु है, वह सब इसके प्रभाव से अनायास ही मिलती है। जैसे समुद्रजल की कोई मात्रा नहीं बता सकता, वैसे ही पंचपरमेष्ठी—नमस्कार मंत्र के वैभव को कोई नाप नहीं सकता। तू बड़ा भाग्यशाली

है कि ऐसे दुर्लभ मंत्र को तूने पुण्ययोग से प्राप्त किया है। परन्तु जब कपड़े या शरीर गंदे हों, मुंह-हाथ झूठ हों, तब इस गुरुमन्त्र का कदापि उच्चारण नहीं करना चाहिए।' इस पर सुभग ने सेठ से कहा—"व्यसनी जैसे व्यसन को नहीं छोड़ सकता, वैसे ही मैं इस मंत्र को कदापि नहीं छोड़ सकता।" सेठ ने प्रसन्नतापूर्वक कहा—"अच्छा, वत्स ! तू यह नमस्कारमंत्र पूरा सीख ले, जिससे इहलोक व परलोक में तेरा कल्याण हो।' अतः सुभग ने वह नमस्कारमंत्र पूरा सीख लिया। मानो उसे कोई अद्भुत निधान मिल गया हो, इस दृष्टि से उस मंत्र का वह शुभाशय सुभग निरन्तर स्मरण (जप) करने लगा। इस मंत्र के प्रभाव से पशुपालक सुभग को भूख-प्यास की कोई पीड़ा भी नहीं रहती। इस तरह वह पंचपरमेष्ठी मंत्र का व्यसनी बन गया। उसके जीवन का अंग बन गया, वह महामंत्र।

यों करते हुए काफी अर्सा व्यतीत हो गया। एक बार वर्षाऋतु के दिनों में निरन्तर आकाश मे मेघघटा छाई हुई थी। सुभग घर से अपने पशु ले कर जंगल में चराने गया। वापिस लौटते समय ऐसी मूसलधार वर्षा हुई, मानो जलधारारूपी बाणश्रेणी ने आकाश और पृथ्वी को बांध दिया हो। सुभग को घर आते समय रास्ते में एक छोटी-सी नदी पड़ती थी, उसमें भी आज भयंकर बाढ़ आ गई थी। अतः जल से लबालब भरी उफनती नदी को देख कर सुभग थोड़ी देर इस किनारे पर ही ठहर कर कुछ सोचने लगा। उसके पशु तो नदी पार करके परले किनारे पहुँच गए थे। सुभग ने भी दृढ़विश्वास-पूर्वक आकाशगामिनी विद्या की दृष्टि से वह महामंत्र नवकार पढ़ा और छलांग मार कर ऊपर उड़ने का प्रयत्न किया, लेकिन वह नदी में गिर पड़ा। अचानक ऊपर से गिरने के कारण वह कीचड़ में जहाँ रुका था, वहाँ यमराज के दांत के समान मजबूत एक लकड़ी का तीखा खूंटा पड़ा था, वह एकदम उसके पेट में घुस गया। कील घुसने की-सी असह्य वेदना होने लगी, फिर भी वह पंचपरमेष्ठी-मंत्र का का जाप करता रहा। खूंटा मर्मस्थान में तीखी कील की तरह गड़ गया था, इस कारण तत्काल उसकी मृत्यु हो गई। मर कर तत्काल वह 'अर्हद्दासी' की कुक्षि में उत्पन्न हुआ। **निःसंदेह नमस्कारमंत्र में तल्लीन होने वाले की सद्गति होती ही है।** तीन महीने के बाद श्रेष्ठीपत्नी को दोहद पैदा हुआ। उसने अपने दोहद का हाल बताया - कि मुझे जिनेश्वर-प्रतिमा का सुगन्धित जल से अभिषेक करने, विलेपन करने और पुष्पों द्वारा अर्चा करने की अभिलाषा हुई है, साथ ही मुनिराजों को वस्त्रादि दान दे कर श्रीसंघ की पूजा करने और दीनदुःखियों को दान देने आदि की भावना हुई।' यह सुन कर सेठ बड़े प्रसन्न हुए और चिंतामणि के समान सेठानी के दोहद पूर्ण किये। तत्पश्चात् नौ महीने साढ़े सात दिन पूर्ण होने पर सेठानी ने शुभलक्षणसम्पन्न एक स्वस्थ एवं सुन्दर पुत्र को जन्म दिया सेठ ने बड़ी खुशी के साथ शुभ दिन देख कर पुत्रमहोत्सव किया, उसका यथार्थ गुणसम्मत सुदर्शन नाम रखा। माता-पिता के उत्तम मनोरथ के साथ सुदर्शन क्रमशः बड़ा होने लगा। योग्य उम्र होने पर उसने समस्त कलाएँ सीखीं। वयस्क होने पर सेठ ने उसका विवाह साक्षात् लक्ष्मी के समान मनोहर रूपलावण्यसम्पन्न 'मनोरमा' नामक कन्या के साथ कर दिया। सुदर्शन की सौम्य आकृति केवल माता-पिता को ही नहीं, वहाँ के राजा एवं अन्य सभी लोगों को चन्द्रमा के समान आह्लादक एवं प्रीति उत्पन्न करने वाली थी।

उसी नगर में विद्यासमुद्रपारगामी कपिल नाम का राजपुरोहित रहता था, राजा के हृदय में भी उसका पर्याप्त स्थान था। जैसे कामदेव के साथ वसन्तऋतु की अटूट मैत्री होती है वैसे ही कपिल के साथ सुदर्शन की स्थायी और अटूट मैत्री हो गई। जैसे बुध सूर्य का साथ नहीं छोड़ता, वैसे ही कपिल भी प्रायः महामना सुदर्शन का साथ नहीं छोड़ता था। एक दिन पुरोहितपत्नी कपिल के

अपने पति से पूछा—'स्वामिन् ! आप हमेशा अनेक करणीय कार्यों को नजरअंदाज करके इतना समय कहाँ बिताते हैं ?' पुरोहित ने कहा— 'मैं अधिकतर सुदर्शन के पास रहता हूँ।' कपिला ने सुदर्शन का परिचय पूछा तो पुरोहित ने उत्तर दिया—'प्रिये ! क्या तुम सज्जनपुरुषों में अग्रणी, जगत् में अद्वितीय रूपसम्पन्न, प्रियदर्शनीय मेरे मित्र सुदर्शन को नहीं जानती ?' लो, मैं तुम्हें उसका परिचय कराता हूं। सुदर्शन ऋषभदास सेठ का बुद्धिशाली पुत्र है, वह रूप में कामदेव, कान्ति में चन्द्रमा, तेज में सूर्य, गम्भीरता में समुद्र, क्षमा में उत्तममुनि, दान में चिन्तामणिरत्न के समान है; गुणरूपी माणिक्य का रोहणाचल पर्वत है, वह इतना मधुरभाषी है, मानो सुधा का कुण्ड हो, पृथ्वी के मुखाभरण के समान है। उसके समस्त गुणों का कथन करने में कौन समर्थ है ? वह गुणचूड़ामणि शील से कदापि स्खलित (विचलित) नहीं होता।' पति के मुंह से सुदर्शन की रूपप्रशंसा सुन कर कपिला के हृदय में कामाग्नि धधक उठी; वह उसके रूप पर मन ही मन आसक्त हो गई। 'प्रायः ब्राह्मणपत्नियाँ चंचल होती हैं। योगिनी जैसे परब्रह्म का समागम करने के लिए दिनरात रटन करती है, वैसे ही कपिला सुदर्शन से समागम करने के लिए रातदिन रटन करती और उपाय सोचा करती थी।

एक दिन राजा की आज्ञा से कपिल दूसरे गाँव को गया हुआ था। कपिला यह अच्छा मौका देख कर सुदर्शन के यहाँ पहुँची और उससे कहा—'आज तुम्हारे मित्र का स्वास्थ्य अत्यन्त खराब है, इसलिए वे तुमसे मिलने नही आए। एक तो वे शरीर से भी स्वस्थ नहीं हैं, दूसरे वे तुम्हें न मिलने के कारण तुम्हारे विरह में बेचैन हैं। इसी कारण तुम्हें बुलाने के लिए तुम्हारे मित्र ने मुझे भेजा है। 'मुझे तो अभी तक यह पता भी न था।' यों कह कर सरलहृदय सुदर्शन तत्काल पुरोहित के यहाँ पहुंचे। 'सज्जन स्वयं सरल होते हैं, इसलिए दूसरे के प्रति कपट की आशंका नहीं करते।' सुदर्शन ने घर में प्रवेश करते ही पूछा 'कहाँ है, मेरा मित्र सुदर्शन ?' कपिला ने कहा—'आगे चलो, अंदर के कमरे में तुम्हारे मित्र सोये हुए हैं।' जरा आगे चल कर फिर सुदर्शन ने पूछा—'कपिल यहाँ तो है नहीं, वह गया कहां ?' 'उनका स्वास्थ्य खराब होने से वे निर्वात स्थान में सोये हुए हैं। अतः भीतर शयनगृह में जा कर उनसे मिलो।' शयनगृह में भी जब कपिल नहीं मिला तो सरलाशय सुदर्शन ने कहा—'भद्रे ! यह बताओ, मेरा मित्र कपिल कहाँ है ?' कपिला ने तुरत शयनगृह का द्वार बद करके सुदर्शन को पलंग पर बिठाया और उसके सामने अपने मनोहर अंगोपांग खोल कर बारीक वस्त्र से ढकने का उपक्रम करने लगी। वह चचलनयना कपिला रोमांचित हो कर अपने अधोवस्त्र की गांठ खोलने लगी और हावभाव एवं कटाक्ष करती तथा ठहाका मार कर मुस्कराती हुई बोली—'यहाँ कपिल नहीं है, इसलिए कपिला की संभाल लो। कपिल और कपिला में तुम भेद क्यों करते हो ?' सुदर्शन ने पूछा —'कपिला की मुझे क्या संभाल करनी चाहिए ?' कपिला ने कहा "प्रिय ! जब से मैंने तुम्हारे अद्भुत रूप एवं गुणों की प्रशंसा सुनी है, तब से यह कामज्वर मुझे पीड़ित कर रहा है। ग्रीष्म के ताप से तपी हुई पृथ्वी के लिए जैसे मेघ का समागम शीतलतादायक होता है, वैसे ही विरहतापपीड़ित मुझे तुम्हारा समागम शीतलतादायक होगा। मेरे आज भाग्यकपाट खुले हैं कि छल द्वारा आपका आगमन हुआ है। अतः आप मुझे स्वीकारें। मैं आपके अधीन हूं, आपको अपना हृदय समर्पित कर रही हूं। चिरकाल से कामोन्माद से व्याकुल बनी हुई मुझ पीड़िता को अपनी आलिंगनरूपी अमृतवृष्टि से सान्त्वना दें।' सुदर्शन इस अप्रत्याशित कामप्रार्थना को सुन कर हक्का-बक्का-सा हो गया। मन ही मन सोचा— 'धिक्कार है इस निर्लज्ज नारी को ! इसका यह विचित्र प्रपंच दैव के समान दुर्दमनीय है।' प्रत्युत्पन्न-

मति सुदर्शन ने प्रगट में कहा—'भद्रे ! युवापुरुष के लिए तो तुम्हारी प्रार्थना उचित कही जा सकती है, लेकिन मैं तो नपुंसक हूं। तुम व्यर्थ ही मेरे पुरुषवेष को देख कर ठगा गई हो।' यह सुनते ही कपिला का काम का नशा उतर गया। मन ही मन पछताते हुए फौरन ही उसने द्वार खोल कर कहा—'अच्छा, अच्छा, तब तुम मेरे काम के नहीं हो, जाओ।' सुदर्शन भी यों सोचता हुआ झटपट बाहर निकल गया कि अच्छा हुआ, झटपट इस नरकद्वार से छुटकारा मिला। अब वह सीधा अपने घर पहुंचा। सुदर्शन चिन्तन की गहराई में डूब गया—'सचमुच, ऐसी स्त्रियां कपटकला में राक्षसों से भी बढ़ कर भयंकर, प्रपंच में शाकिनी सरीखी और चंचलता में बिजली को भी मात करने वाली होती हैं। मुझे भय है, ऐसी कुटिल, कपटी, चपल, मिथ्यावादिनी नारी से कि कहीं वह और प्रपंच न कर बैठे। अतः मैं इस प्रकार का संकल्प करता हूं कि आज से मैं कदापि किसी के घर पर अकेला नहीं जाऊंगा।' तत्पश्चात् मूर्तिमान सदाचार सुदर्शन शुभ धर्मकार्य करता हुआ, अपना जीवन सुख से व्यतीत करने लगा। अपने जीवन से कोई गलत आचरण न हो, इस बात का वह बराबर ध्यान रखता था।

एक दिन नगर में नगर के योग्य एवं समग्र जगत् के लिए आनन्दरूप इन्द्रमहोत्सव चल रहा था। शरत्कालीन चन्द्रमा और अगस्ति के समान शोभायमान सुदर्शन और कपिलपुरोहित साथ-साथ राजोद्यान में पहुंचे। इधर राजा के पीछे-पीछे देवी की तरह विमानरूपी पालखी में बैठ कर अभयरानी भी कपिला के साथ जा रही थी। ठीक इसी समय मूर्तिमान सतीधर्म की तरह सुदर्शनपत्नी मनोरमा भी अपने ६ पुत्रों के साथ रथ में बैठ कर उद्यान में जा रही थी। उसे देख कर कपिला ने अभयारानी से पूछा—'स्वामिनी ! रूप-लावण्य की सर्वस्वभंडार सुन्दरवर्णा देवांगना-सी यह कौन स्त्री रथ में बैठी आगे-आगे जा रही है ? अभयरानी बोली—"पण्डिता ! क्या तुम इसे नहीं जानती ? यह साक्षात् गृहलक्ष्मी-सी सुदर्शन की धर्मपत्नी है।' विस्मित हो कर कपिला ने कहा—'यह सुदर्शन की गृहिणी है ? तब तो गजब का इसका कौशल है !' रानी—'किस बात में तुम इसका कौशल गजब का मानती हो ?' तपाक से कपिला बोली—'इतने पुत्रों को जन्म दे कर इसने गजब का कमाल कर दिया है।' अभयारानी ने कहा—'पतिपत्नी दोनों की एक-दूसरे के प्रति अनन्यप्रीति हो तो स्त्री इतने पुत्रों को जन्म दे, इसमें कौन-सा कमाल ? इस पर झुंझलाते हुए कपिला ने कहा—'हाँ, यह सच है, कि पति पुरुष हो तो ऐसा हो सकता है, लेकिन इसका पति सुदर्शन तो पुरुषवेश में नपुंसक है।' तुम्हें कैसे पता कि वह नपुंसक है ?' अभयारानी ने पूछा। इस पर कपिला ने सुदर्शन के साथ अपनी आप-बीती सुनाई। अभया ने कहा—'भोली कपिला ! यदि ऐसा है तो तुम ठगा गई हो ! वह परस्त्री के लिए नपुंसक है, अपनी स्त्री के लिए नहीं।' कपिला झेंप गई और ईर्ष्या से ताना मारते हुए बोली—मैं तो मूर्खा और भोली थी, इसलिए ठगा गई, आप तो चतुरशिरोमणि हैं ! मैं तो तभी आप में विशेषता समझूंगी, जब आप उसे अपने वश में कर लेंगी।' अभया ने कहा—प्रेम और मुक्तहस्त दान से तो बड़े बड़े वश में हो जाते हैं, जड़ पत्थर भी पिघल जाता है ; तो फिर इस सजीव पुरुष की क्या बिसात है मेरे सामने ? कपिला ने तुनकते हुए कहा—बेकार की डींग मत हांको, महारानीजी ! आपको अपने कौशल पर इतना गर्व है तो सुदर्शन के साथ रतिक्रीड़ा करके बताइए।' हठ पर चढ़ी हुई रानी ने अहंकारपूर्वक कहा—'कपिले ! बस, मैंने सुदर्शन के साथ रमण कर लिया, समझ लो ! 'रमणी चतुर हो तो बड़े-बड़े वनवासी कठोर तपस्वी भी वश में हो जाते हैं तो यह बेचारा कोमलहृदय गृहस्थ किस बिसात में है ? इसे वश में करना तो मेरे बांये हाथ का खेल है। अगर इसे वश में करके इसके

साथ सहवास न कर लूं तो मैं अग्नि में प्रवेश कर जाऊंगी।' इस प्रकार दोनों बढ़-बढ़ कर बातें करती हुई, उद्यान में पहुंचीं। वहाँ दोनों उसी प्रकार स्वच्छन्दता से क्रीड़ा करने लगीं, मानो नन्दनवन में अप्सराएँ क्रीड़ा करती हों। क्रीड़ा के श्रम से थक कर दोनों अपने-अपने स्थान पर चली गईं।

अभयारानी ने अपनी प्रतिज्ञा की बात सर्वविज्ञानपण्डिता, कूटनीतिनिपुण पण्डिता नाम की धायमाता से कही। वह सुन कर बोलीं—'अरी बेटी! तेरी यह प्रतिज्ञा उचित नहीं है। तू महात्मा पुरुषों की धैर्यशक्ति से अभी तक अनभिज्ञ है। सुदर्शन का चित्त जिनेश्वरों और मुनिवरों की सेवाभक्ति में दृढ़ है। धिक्कार है तेरी निष्फल प्रतिज्ञा को! साधारण श्रावक भी परस्त्री को अपनी बहन समझता है; तो फिर इस महासत्वशिरोमणि के लिए तो कहना ही क्या? ब्रह्मचर्यतपोधनी साधु जिसके गुरु हैं, वह महाशील आदि व्रतों का उपासक अब्रह्मचर्य का सेवन कैसे करेगा? जो सदा गुरुकुलवास में रहता हो, सर्वदा ध्यान-मौनपरायण हो, किसकी ताकत है, उसे अपने पास ले आए या बुला ले? सर्प के मस्तक के मणि को ग्रहण करने की प्रतिज्ञा करना अच्छा, लेकिन ऐसे दृढ़ पुरुष का शील खण्डित करने की प्रतिज्ञाकरना कदापि अच्छा नहीं।' इस पर अभया ने धायमाता से कहा—"मांजी! किसी भी तरह से एक बार तुम उसे यहां ले आओ। उसके बाद जो कुछ भी करना होगा, वह सब मैं कर लूंगी। तुम्हें कुछ भी छल-बल नहीं करना है, सिर्फ उसे किसी उपाय से ले भर आना है।" पण्डिता क्षणभर कुछ सोच कर बोली—"बेटी! यदि तेरा यही निश्चय है तो एक ही उपाय है, उसे यहां लाने का; पर्व के दिन सुदर्शन धर्मध्यान करनेहेतु किसी खाली मकान में कायोत्सर्ग मे स्थिर हो कर रहता है, उस स्थिति में उसे यहां लाया जा सकता है। उसके सिवाय उसे यहां लाना असंभव है।' रानी प्रसन्न हो कर बोली—'यह बिलकुल उपयुक्त उपाय है, तुम्हारा! बस, आज से तुम्हें यही प्रयत्न करना है।' धायमाता ने भी अपने बताये हुए उपाय के अनुसार प्रयत्न करना स्वीकार किया। कुछ ही दिनों बाद जगत् को आनन्द देने वाला कौमुदी-महोत्सव आगया। उत्सव को धूम-धाम से मनाने के लिए उत्सुकचित्त राजा ने अपने राज्यरक्षक पुरुषों को आज्ञा दी—"नगर में ढिंढोरा पिटवा कर घोषित कर दो कि ऐसी राजाज्ञा है कि आज कौमुदी-महोत्सव देखने के लिए नगर के सभी स्त्रीपुरुष सजधज कर उद्यान में आएँ।" सुदर्शन ने जब यह राजाज्ञा सुनी तो खेदपूर्वक विचार करने लगा—"प्रातः काल चैत्यवन्दनादि करने के बाद पूरा दिन और रात पौषध में बिताने को मेरा मन उत्सुक हो रहा है, किन्तु राजा की प्रचंड आज्ञा उत्सव में शामिल होने की है। अतः क्या उपाय किया जाय? होगा तो वही, जो होने वाला है।' यों विचार कर सुदर्शन सीधा राजा के पास पहुंचा। भेंट प्रस्तुत करके राजा से विनति की—"राजन्! कल पर्व का दिन है। मैं आपकी कृपा से चैत्यवन्दनादि करके पौषध करूंगा। इसलिए मुझे उत्सव में शामिल न होने की इजाजत दें।" राजा ने उसकी प्रार्थना मान्य कर ली। दूसरे दिन सुदर्शन ठीक समय पर चैत्यवन्दनादि से निवृत्त हो कर पौषध अंगीकार करके नगर के किसी चौक में कायोत्सर्गपूर्वक ध्यानस्थ खड़ा हो गया। धायमाता को विश्वस्त सूत्रों से पता लगा तो वह अत्यन्त हर्षित होती हुई अभयारानी के पास पहुंची और कहने लगी—'बेटी! आज अच्छा मौका है, शायद आज तेरा मनोरथ पूर्ण हो जाय। परन्तु आज तू कौमुदीमहोत्सव के लिए उद्यान में मत आना।" 'आज मेरे सिर में बहुत दर्द है' यों बहाना बना कर राजा से कह कर रानी अन्तःपुर में ही रुक गई। "स्त्रियों के पास ऐसी ही प्रपंच करने की विद्या होती है।"

पण्डिता ने लेपमयी कामदेव की मूर्ति ढक कर रथ में रखवाई, और उसे ले कर राजमहल में प्रवेश किया। चौकीदार के पूछने पर कि 'यह क्या है?' कूटकपट की खान पण्डिता ने रथ रोक कर उसे

उत्तर दिया—रानी जी का स्वास्थ्य ठीक न होने के कारण आज वह उद्यान में नहीं जा सकीं, अतः कामदेव आदि देवों की पूजा वे महल में ही कर लेंगी, इस लिहाज से इस कामदेव की मूर्ति को हम महल में ले जा रहे हैं। अभी कुछ और देवों का भी प्रवेश कराया जाएगा। द्वारपाल ने कहा—अच्छा, इस मूर्ति के ऊपर का कपड़ा हटा कर हमें बताते जाओ। अतः पण्डिता ने मूर्ति पर का कपड़ा हटा कर उसे बता दिया और महल में ले गई। इसी प्रकार दूसरी और तीसरी बार भी पण्डिता ने मूर्तियों को महल में प्रविष्ट कराया। सच है, नारी में कितनी कपटकला और कुशलता! चौथी बार मूर्ति के बदले सुदर्शन को रथ में बिठा कर ऊपर से कपड़ा इस खूबी से ढक दिया कि देखने वाले को वह साक्षात् मूर्ति ही मालूम दे। इस बार चौकीदार की आँख बचा कर बिना बताए ही पण्डिता रथ को सीधा राजमहल के चौक में ले गई और फुर्ती से रथ से उतार कर महल में रानी के खास कमरे में ले जा कर उसे सौंपा। कपड़ा हटा कर सुदर्शन को देखते ही अभयारानी कामातुर हो कर हावभाव और कामचेष्टाएँ प्रदर्शित करती हुई उसे विचलित करने का प्रयत्न करने लगी। स्तन आदि अंगोपांग दिखाते हुए निर्लज्ज हो कर रानी कटाक्ष करती हुई बोली—'नाथ! कामदेव के तीखे बाणों ने मुझे घायल कर दिया है। आप साक्षात् कामदेव-समान होने से मैं उससे शान्ति पाने के हेतु आपकी शरण में आई हूँ। हे शरण्य! स्वामिन्! मुझ कामपीड़िता को बचाओ। महापुरुष तो परोपकार के लिए अकार्य में भी प्रवृत्त हो जाते हैं। आपको जो पण्डिता छल से यहाँ तक लाई है, उस पर आप जरा भी क्रोध न करना।' पीड़ित की रक्षा के कार्य में कपट कपट नहीं कहलाता।" यह सुन कर उच्च पारमार्थिक विचारों में लीन सुदर्शन भी, देवमूर्ति की तरह कायोत्सर्ग में निश्चल खड़ा रहा। अभया ने फिर प्रार्थना की—नाथ! आप कुछ तो बोलिये! मैं तो इतनी देर से आपको मनोहर हावभावों से बुला रही हूं और आप हैं कि बिलकुल मौन धारण किये निश्चेष्ट खड़े हैं। मेरी उपेक्षा क्यों कर रहे हैं आप? इतना कष्ट कर व्रत क्यों अपना रखा है? छोड़ो इसे! मेरी प्राप्ति होने से आपको अपने व्रत का फल मिल गया है आपकी कार्यसिद्धि हो गई है, समझिए। हे मानद! विनम्रतापूर्वक याचना करती हुई इस दासी को स्वीकार करो। दैवयोग से गोद में आ कर पड़े हुए रत्न को आप क्यों नहीं स्वीकार करते? अब कब तक यह सौभाग्य-गर्व का नाटक करोगे?" यों कहती हुई अभया ने अपने पुष्ट उन्नत स्तनों का सुदर्शन के हाथ से स्पर्श कराया, पद्म कमल के समान दोनों कोमलकरों से गाढ़ आलिंगन किया। इस प्रकार के ब्रह्मचर्यभंग के अनुकूल उपसर्ग आए देख कर स्वभाव से धीर सुदर्शन अपने कायोत्सर्ग में निश्चल रहा। सुदर्शन ने मन ही मन संकल्प किया—"इस उपसर्ग से किसी भी तरह से छुटकारा होगा, तभी मैं कायोत्सर्ग पूर्ण करके पारणा करूंगा, अन्यथा मैं अपना अनशन जारी रखूंगा।" सुदर्शन के निरुत्तर और निश्चेष्ट खड़े रहने से हतप्रभ व अपमानित बनी हुई कुटिल हृदया अभया ने निर्भय हो कर भृकुटि चलाते हुए कहा—"अरे निर्लज्ज! मूर्ख! जड़ात्मा! क्या तू मुझ सम्माननीय का अपमान करता है? याद रखना, नारी पुरुषों को सजा देने या पुरस्कार देने में समर्थ होती है। क्या तुम्हें यह पता नहीं है? कामदेव के अधीन मुझ कामातुरा द्वारा इतनी प्रार्थना करने पर भी अगर तुम मेरे वश में नहीं होओगे तो निःसंदेह, मैं तुम्हें देखते ही देखते यमराज का मेहमान बना दूंगी।" इस प्रकार ज्यों-ज्यों अभया आवेश में आ कर उग्र होती गई, त्यों-त्यों-त्यों महामना सुदर्शन धर्मध्यान की श्रेणी पर अधिकाधिक चढ़ते गए। यों करते-करते सारी रात बीत गई। बार-बार हैरान किये जाने पर भी सुदर्शन ध्यान से जरा भी चलायमान नहीं हुए। नौका के दंड से ताड़न करने पर क्या कभी महासमुद्र क्षुब्ध होता है?

सबेरा होता देख कर अभया ने अपने नखों द्वारा अपने शरीर को नोंच डाला, अपने कपड़े फाड़ लिये और जोर-जोर से चिल्लाने लगी— 'अरे दौड़ो-दौड़ो ! मुझे बचाओ, यह दुष्ट मुझ पर बलात्कार करना चाहता है।" हल्ला सुन कर चौकीदार तुरंत महल में दौड़े आए। उन्होंने वहां कायोत्सर्ग में निश्चल खड़े सुदर्शन को देखा। चौकीदारों ने सोचा "हमारी समझ में नहीं आता। यह अनहोनी बात कैसे हो सकती है ?' उन्होंने सीधे राजाजी के पास जा कर सारा हाल बयान किया। इस पर राजा अभया के पास आए। उसका बेहाल देख कर राजा ने पूछा तो अभया ने रोते-रोते कहा— "नाथ ! मैं आपकी आज्ञा से कल यहां रुक गई थी। अचानक पिशाच के समान यह मेरे महल में घुस आया और मुझे देखते ही भूखे भेड़िये की तरह कामोन्मत्त हो कर पहले तो इस कामव्यसनी पापी ने मधुर वचनों से मुझ से रतिसहवास करने की प्रार्थना की। इस पर मैंने इससे कहा—"सती कदापि असती के समान चेष्टा नहीं कर सकती। क्या चने की तरह कालीमिर्च चबाई जा सकती है ?" जब मैं इसके वश में नहीं हुई तो इसने मुझ पर बलात्कार करने की कोशिश की और मेरा ऐसा बुरा हाल कर दिया ! इस पर मैं जोर से चिल्लाई। अबला के पास और बल ही कौन-सा है ?' राजा को भी सुन कर विश्वास नहीं हुआ कि सुदर्शन ऐसा कर सकता है ? राजा ने वास्तविकता जानने की दृष्टि से सुदर्शन से इस विषय में बार-बार पूछा कि—"श्रेष्ठी ! सच-सच बताओ, बात क्या है ?" परन्तु राजा के द्वारा बार-बार पूछे जाने पर भी दयापरायण सुदर्शन ने रानी पर दया करने की दृष्टि से कुछ भी जवाब नहीं दिया। **'चन्दन अत्यन्त घिसे जाने पर भी दूसरे का ताप शान्त करता है।'** सुदर्शन का बिलकुल मौन रहना पारदारिक चोर होने का लक्षण मान कर राजा ने क्रुद्ध हो कर उसे गिरफ्तार करवाया और सारे नगर में उसके अपराध की घोषणा करवाई कि सुदर्शन घोर पापी है, अतः राजा ने इसका वध करने की आज्ञा दी है।" **राजाओं की कार्यसिद्धि वचन से और देवों की मन से होती है।** राजाज्ञा होते ही राजपुरुषों ने पकड़ कर सुदर्शन को गधे पर बिठाया। उसके मुंह पर काली स्याही पोत दी, उसके पर लालचंदन का लेप किया, मस्तक पर करवीर के फूलों की माला और गले में कंकोल की माला डाल दी। फिर सूप का छत्र धारण किये ढोल बजाते और गधे को नगर में घुमाते हुए सुदर्शन का जुलूस निकाल रहे थे। बीच-बीच में राजपुरुष चौराहों पर रुक कर जोर से ढोल पीट कर घोषणा करते जाते थे कि—"इस पापात्मा ने राजा के अन्तःपुर में भयंकर अपराध किया है, इसलिए इसे वध किया जाना है। राजा का इस संबंध में कोई कसूर नहीं है।" लोगों ने जब यह घोषणा सुनी तो वे भौंचक्के-से रह गए। सोचने लगे 'यह बात तो किसी भी तरह से मानने में नहीं आ सकती ! लगता है, इसमें कोई षड्यंत्र हो। परन्तु राजाज्ञा के आगे सभी निरुपाय थे। वैसे लोगों में हाहाकार मच गया। इस तरह नगर में घुमाते-घुमाते जब सुदर्शन को उसके घर के सामने लाया गया तो सती मनोरमा वह सारा दृश्य देख कर स्तब्ध हो गई। उसने सोचा--मेरे पतिदेव सदाचारी हैं, यह बात मैंने कई बार उनमें देखी है। राजा भी इनके आचार पर प्रेम रखते थे। पर आज का यह दुर्दृश्य देखते हुए जान पड़ता है दैव (भाग्य) ही प्रतिकूल है। अवश्य ही पूर्वजन्म के किन्हीं अशुभकर्मों का फल इन्हें प्राप्त हुआ है। इसके निवारण का अब सिवाय प्रभु प्रार्थना के और कोई उपाय नहीं है। कृतकर्मों का फल तो अवश्यमेव भोगना पड़ता है।' यों अन्तर्मन में निश्चय करके कायोत्सर्गस्थ हो कर जिनेश्वर देव की भक्ति में तल्लीन हो गई। अन्त में शासनाधिष्टात्री देवी से विनति की—"भगवती ! मेरे पति में कुशीलदोष की सम्भावना नहीं है। इसलिए इस परम धर्मात्मा श्रावक का सहायता करोगी, तभी मैं कायोत्सर्ग पूर्ण करूंगी, अन्यथा मैं इसी

स्थिति में अनशन करूंगी। धर्महानि और पति पर विपत्ति के समय कुलीन नारियाँ कैसे जी सकती हैं ?" इस ओर राज्यरक्षक पुरुषों ने सुदर्शन को वध्यस्थान पर ले जा कर उसे शूली पर चढ़ा दिया। क्योंकि सेवकों के लिए राजाज्ञा भयंकर और अनुल्लंघ्य होती है। परन्तु पलक मारते ही वहां शूली के स्थान पर स्वर्णकमलमय सिंहासन बन गया ! देवप्रभाव के आगे एक बार तो यमराज की दाढ़ भी कुंठित हो जाती है। फिर भी राजपुरुषों ने सुदर्शन का वध करने के लिए तीखी तलवार से दृढ़तापूर्वक प्रहार किया। मगर गले के लगते ही तलवार पुष्पमाला बन गई। यह अद्भुत चमत्कार देख कर राज-पुरुष दौड़े-दौड़े राजा को यह खबर देने पहुंचे। उनके द्वारा सारी घटना सुनाते ही राजा फौरन हथिनी पर बैठ कर घटनास्थल पर आए। सुदर्शन को देखते ही राजा ने आलिगन करके पश्चात्तापपूर्वक कहा—"श्रेष्ठि ! आपका पुण्य बड़ा प्रबल था, इस कारण बाल भी बांका नहीं हो सका। मैं इसके लिए अत्यन्त लज्जित हूं कि मुझ पापी ने आप पर झूठा दोषारोपण करके आपको बदनाम किया। मैंने ऐसा करके आपका बहुत बड़ा अहित किया। पर आपने तो अपना सज्जन का धर्म निभाया। मुझे क्षमा करें।" मायाविनी स्त्री पर विश्वास करके मैंने आपका वध करने का आदेश दे दिया था ; इसलिए इस दधिवाहन के सिवाय ससार में ऐसा कोई पापी नहीं है। दूसरी बात यह है कि मुझसे यह जो भयंकर पाप हुआ, उसका एक कारण यह भी बना कि "मैंने आपको इस विषय में बारबार पूछा, लेकिन आपने बिलकुल उत्तर नहीं दिया।" बताइए, मैं अल्पज्ञ इस पर से और क्या निर्णय करता ?" अस्तु, कुछ भी हो, आप हाथी पर बैठिये।" राजा ने सुदर्शन को हथिनी पर बिठाया और वार्तालाप करते-करते अपने महल में ले गया। स्नान करवाया, वस्त्र-आभूषण पहनाए और फिर एकान्त में ले जा कर रात को हुई घटना यथार्थ रूप से कहने का अनुरोध किया। सुदर्शन सेठ ने सारी घटना यथातथ्यरूप से सुनाई। सुनते ही राजा को अभयारानी पर क्रोध चढ़ा और वह उसे सजा देने को तैयार हुआ। सुदर्शन ने फौरन राजा के चरणों में गिर कर ऐसा करने से रोका। इस पर राजा ने अभयारानी को क्षमादान दिया। तत्पश्चात् न्यायरक्षक राजा ने सुदर्शन सेठ को हाथी पर बिठा कर नगर के बीचोबीच होते हुए सम्मानसहित गाजेबाजे के साथ घर पहुंचाया।

अभयारानी को सत्य घटना प्रगट हो जाने से अत्यन्त खेद हुआ। उसने गले में फंदा डाल कर आत्महत्या कर ली। 'परद्रोह करने वाले पापी का अपने आप ही पतन होता है।' पण्डिता भी वहाँ से झटपट भाग कर पाटलिपुत्रनगर में पहुंची, और वहाँ देवदत्तागणिका के यहाँ रही। बात-बात में वह देवदत्ता के सामने सुदर्शन की प्रशंसा करती थी ; इस कारण देवदत्ता के मन में भी सुदर्शन के दर्शन की तीव्र उत्कण्ठा जागी। सुदर्शन ने संसार से विरक्त हो कर मुनिदीक्षा अंगीकार कर ली। समुद्र जैसे रत्नाकर कहलाता है, वैसे ही गुणरत्नाकर गुरुदेव से आज्ञा ले कर तप से कृशतनु सुदर्शनमुनि एकलविहारी प्रतिमा धारण करके ग्रामानुग्राम विहार करते हुए पाटलिपुत्र पहुंचे। जब वे भिक्षा के लिए नगर में घूम रहे थे, तभी अचानक पण्डिता ने उन्हें देख कर भिक्षाग्रहण करने की प्रार्थना की। निःस्पृह और निर्लेप मुनि भी लाभहानि का विचार किये बिना निर्दोष भिक्षा के लिए उसके यहां पहुंचे। देवदत्ता ने द्वार बंद कर दिया और पूरे दिन उन्हें विचलित करने के लिए नाना प्रकार के प्रलोभन दिये। परन्तु मुनि अपने महाव्रत से जरा भी नहीं डिगे। मुनि को दृढ़ जान कर देवदत्ता ने शाम को द्वार खोल कर उन्हें विदा किया। मुनि वहां से सीधे एक उद्यान में पहुंचे, जहाँ अभयारानी मर कर व्यन्तरी बनी हुई थी। सुदर्शनमुनि को देखते ही उसे पूर्वजन्म की घटना स्मरण हो आई और वह उस समभावी मुनि को विविध यातनाएँ देने लगीं। सचमुच, **'जीवों का ऋण और वैर जन्म-जन्मान्तर तक नहीं मिटता।'** व्यन्तरी ने

महासत्वशाली सुदर्शन को बहुत हैरान किया, लेकिन वह तो शुभध्यान के योग से अपूर्वकरण की स्थिति में पहुंच गए। क्रमशः क्षपकश्रेणि पर चढ़ते हुए वहीं उन्हें उज्ज्वल केवलज्ञान प्राप्त हो गया। तत्काल देवों और असुरों ने वहां केवलज्ञान-महोत्सव मनाया। भवसागर में पड़े हुए जीवों के उद्धारक केवलज्ञानी सुदर्शनमुनि ने धर्मदेशना दी। **'महापुरुषों का अभ्युदय जनता के अभ्युदय के लिए होता है।'** उनकी धर्मदेशना से सिर्फ दूसरे जीव ही नहीं, देवदत्ता, पण्डिता और व्यन्तरी (अभया) को भी प्रतिबोध हुआ। स्त्रियों के निकट रहने पर भी जिनकी आत्मा दूषित नहीं हुई, ऐसे थे सुदर्शनमुनि! अपनी शुभधर्म-देशना से अनेक जीवों को प्रतिबोध दे कर उन्होंने क्रमश. परमपद प्राप्त किया। जिनेन्द्र धर्मशासन को पा कर तदनुसार आराधना और शासनप्रीति रखने वाले व्यक्ति के लिए मुक्तिपद प्राप्त करना कठिन नहीं है। यह है सुदर्शनमुनि की कथा का हार्द! धर्मकार्य का अधिकारी केवल पुरुष ही नहीं है, स्त्रियों का भी पूरा अधिकार है। क्योंकि तीर्थंकरों के चातुर्वर्ण्य श्रमणसंघ में साध्वी और श्राविका को भी स्थान है, वे भी संघ की अंग मानी गई है। इस कारण जैसे गृहस्थपुरुष के लिए परस्त्रीसेवनवर्जित है, वैसे ही गृहस्थ स्त्रियों के लिए भी परपुरुषसेवन का निषेध है। अतः जैसे सीता ने रावण का त्याग किया था, वैसे ही स्त्री को पति के अतिरिक्त तमाम परपुरुषों का त्याग करना चाहिए।

अब स्त्री या पुरुष के दूसरे पुरुष या दूसरी स्त्री में आसक्त होने का फल बताते हैं—

नपुंसकत्वं तिर्यक्त्वं, दौर्भाग्यं च भवे-भवे।
भवेन्नराणां स्त्रीणां चान्यकान्तासक्तचेतसाम्॥१०३॥

अर्थ

जो स्त्रियाँ परपुरुष में आसक्त होती हैं, तथा जो पुरुष परस्त्री में आसक्त होते हैं, उन स्त्रियों या पुरुषों को जन्म-जन्मान्तर में नपुंसकता, तिर्यक्त्व (पशुपक्षीयोनि) और दौर्भाग्यत्व प्राप्त होते हैं।

अब्रह्मचर्य को निन्दित बता कर अब ब्रह्मचर्य के इहलौकिक गुण बताते हैं—

प्राणभूतं चरित्रस्य परब्रह्मैककारणम्।
समाचरन् ब्रह्मचर्यं पूजितैरपि पूज्यते॥१०४॥

अर्थ

देशविरति या सर्वविरति चारित्र के प्राणभूत और परब्रह्म (परमात्मा की) प्राप्ति (मुक्ति) के एकमात्र (असाधारण) कारण, ब्रह्मचर्य का पालन करने वाला मनुष्य सिर्फ सामान्य मनुष्यों द्वारा ही नहीं, सुर, असुर और राजाओं (पूजितों) द्वारा भी पूजा जाता है।

अब ब्रह्मचर्य के पारलौकिक गुण बताते हैं—

चिरायुषः सुसंस्थाना दृढसंहनना नराः।
तेजस्विनो महावीर्या भवेयुर्ब्रह्मचर्यतः॥१०५॥

अर्थ

ब्रह्मचर्य के प्रताप से मनुष्य अनुत्तरौपपातिक देवादि स्थानों में उत्पन्न होने से दीर्घायु, समचतुरस्र संस्थान (डिलडौल) वाले, मजबूत हड्डियों से युक्त-वज्रऋषभनाराच

नामक संहनन वाले, तेजस्वी शरीर कान्तिमान देह वाले, तीर्थंकर आदि तथा चक्रवर्ती आदि के रूप में महाबलशाली होते हैं ।

अब ब्रह्मचर्य की महिमा के सम्बन्ध मे कुछ श्लोकार्थ प्रस्तुत करते हैं—

कामी मनुष्य स्त्रियों की टेढ़ीमेढी सर्पाकार केशराशि को देखता है, परन्तु उसके मोह के कारण होने वाली दुष्कर्मपरम्परा को नहीं देखता। सिन्दूरी रग से भरी हुई नारियों के बाल की मांग को देखता है, लेकिन सीमन्तनामक नरकपथ है. उसका उसे पता नहीं है । सुन्दर, रंगरूपवाली सुन्दरियों की भ्रूलता को मोक्षमार्ग पर प्रयाण करने में बाधक सर्पिणी कहा है, क्या तुम इसे नहीं जानते ? मनुष्य अंगनाओं के मनोहर नेत्रों के कुटिल कटाक्षों का अवलोकन करता है, मगर इससे उसका जीवन नष्ट होता है, यह नहीं देखता । वह स्त्रियों के सरल और उन्नत नासिकावंश (नाकरूपी डंडे) की प्रशंसा करता है, परन्तु मोह के कारण अपने वंश को नष्ट होता हुआ नहीं देखता । स्त्रियों के कपोलरूपी दर्पण मे पड़े हुए अपने प्रतिबिम्ब को देख कर खुश होता है, लेकिन खुद को उस जड़भरत के समान ससाररूपी तलैया के कीचड़ मे फंसा हुआ नही जानता । रतिक्रीड़ा के सभी सुख समान है इस दृष्टि से स्त्री के लाल ओठ का पान करता है, लेकिन यमराज उसके आयुष्यरस का पान कर रहा है, इसे नहीं समझता । स्त्रियों के मोगरे की कली के समान उज्ज्वल दांतों को तो आदरपूर्वक देखता है, किन्तु बुढ़ापा जबर्दस्ती उसके दांत तोड़ रहा है, इसे नहीं देखता । स्त्रियों के कर्णफूल (कानपाश) को कामदेव के हिंडोले की दृष्टि से देखता है, लेकिन अपने कठ और गर्दन पर लटकते हुए काल के पाश को नही देखता। भ्रष्ट-बुद्धि मानव रमणियों के मुख को हरक्षण देखता है, परन्तु खेद है कि यमराम के मुख को देखने का उसे समय नहीं है । कामदेव के वशीभूत बना हुआ मनुष्य स्त्रियों के कंठ का आश्रय लेता है, लेकिन आज या कल देरसबेर से कंठ तक आए हुए प्राणों को नहीं जानता । दुर्बुद्धि मानव युवतियों के भुजलता के बंधन को तो अच्छा समझता है, लेकिन कर्मो से जकड़ी हुई अपनी आत्मा के बंधनों के लिए नहीं सोचता । अगनाओं के करकमल के स्पर्श से खुश हुआ पुरुष रोमांच के कांटे को तो धारण करता है, लेकिन नरक के कूटशाल्मलि वृक्ष के तीखे कांटे को याद नहीं करता । जड़बुद्धि मानव युवती के स्तन-कलशों को पकड़ कर सुखपूर्वक गाढ़ालिंगन करके सोता है । किन्तु कुम्भीपाक से होने वाली वेदना को भूल जाता है । मन्दबुद्धि जीव क्षणक्षण में कटाक्ष करने वाली स्त्रियों के बीच निवास करता है, लेकिन स्वयं भवसमुद्र के बीच में पड़ा है, इस बात को भूल जाता है । कामवासनालिप्त मूढमानव स्त्रियों के उदर की त्रिवली (तीनरेखा) रूप त्रिवेणी की तरंगों से आकर्षित होता है । मगर यह नहीं सोचता, त्रिवेणी के बहाने भवजल में डूबोने वाली यह वैतरणी नदी है । नर का कामपीड़ित मन नारी की नाभिरूपी वापिका में डूबा रहता है, लेकिन वह मन सुख के स्थानरूप साम्यजल में प्रमादवश नही डूबता । स्त्रियों की रोमावलीरूपी लता को कामदेवरूपी वृक्ष पर चढ़ने की निःश्रेणी जानता है, परन्तु वह यह नहीं जानता कि यह संसाररूपी कारागार में जकड़ कर रखनेवाली लोहशृंखला है । अधमनर नारी के विशाल जघन का सहर्षसेवन करता है, लेकिन वह इस संसारसमुद्र का तट है, यह कदापि नही जानता । मंदबुद्धि मानव गधे के समान युवतियों की जांघों का सेवन कर अपने को धन्य मानता है, लेकिन यह नहीं समझता है कि ये स्त्रियां ही तो सद्गति-प्राप्ति में रोड़ा अटकाने वाली हैं । स्त्रियों की लात खा कर अपने को बड़ा भाग्यशाली समझता है, मगर यह नहीं समझता कि वे इसी बहाने मुझे अधोगति में धकेल रही है । जिनके दर्शन, स्पर्श और आलिंगन से मनुष्य का शममय जीवन खत्म हो जाता है, ऐसी नारियों को उग्रविषमयी नागिनी समझ कर विवेकी पुरुष उनका त्याग करे।

स्त्रियाँ चन्द्ररेखा जैसी कुटिल, सन्ध्या की लालिमा के समान क्षण-जीवी राग वाली, नदी के समान निम्नगा (नीचगति करने वाली) हैं, इसलिए त्याज्य हैं। कामान्ध बनी हुई अंगनाएँ प्रतिष्ठा, सौजन्य दान, गौरव, स्वहित या परहित कुछ भी नहीं देखतीं। क्रुद्ध सिंह, बाघ या सर्प आदि जितनी हानि पहुँचाते हैं, उतनी ही, बल्कि इनसे भी बढ़ कर हानि निरकुश नारी पहुंचाती है। प्रत्यक्ष कामोन्माद-स्वरूपा स्त्रियाँ हथिनी के सदृश विश्व को आघात पहुंचाने वाली होने से दूर से ही त्याज्य हैं। ऐसे किसी भी मंत्र का स्मरण करो, किसी भी देव की उपासना करो, जिससे स्त्री-पिशाचिनी शील-जीवन को चूस कर प्राणान्त न कर सके। शास्त्रों से जो सुना जाता है या लोगों में जो कुछ कहा जाता है कि नारी दुःशील है, काम-वासना से स्खलित कर देने वाली है, इस बात में सभी एकमत हैं। मानो क्रूर ब्रह्मा ने सर्प की दाढ़, यम की जीभ और विष के अकुर को एकत्रित करके नारी को बनाया हो। दैवयोग से बिजली कदाचित् स्थिर हो जाय, वायु चलता हुआ ठहर जाय, मगर नारी का मन कभी स्थिर नहीं रहता। चतुर से चतुर पुरुष भी मंत्र-तंत्र के प्रयोग के बिना भी जिससे ठगे जाते है, ऐसी इन्द्रजालविद्या का भला नारी ने कहाँ अध्ययन किया है? स्त्री में झूठ बोलने की अद्भुत कला भी होती हैं, कि प्रत्यक्ष (आंखों) देखे हुए या किये हुए अपकृत्यों को भी ऐसी सिफ्त से छिपाएगी कि पता ही न चले, बात को घुमाफिरा कर ऐसे ढंग से कहेगी कि सुनने वाला उसे सोलहों आने सच मान लेगा। जिस तरह पीलिया रोग से पीड़ित या पागल व्यक्ति ही ढले का सोना मानता हैं, उसी तरह मोहान्ध मनुष्य स्त्रीसंग होने वाले दुःख को ही सुखरूप मानता है। जटाधारी, शिखाधारी, मुंडितमस्तक, मौनी, नग्न, वृक्ष की छाल पहनने वाले, तपस्वी या ब्रह्माजी भी क्यों न हों, यदि वह अब्रह्मचारी है तो मुझे वह अच्छा नहीं लगता। खाज खुजलाने वाला खाज उत्पन्न होने के दुःख को भी जैसे सुखरूप मानता है, वैसे ही दुर्निवार्य कामदेव के परवश बना हुआ जीव दुःखस्वरूप मैथुन को भी सुखरूप मानता है। कवियों ने नारियों की स्वर्ण-प्रतिमा आदि के साथ तुलना की है; तो फिर वे कोमललोलुप उसी स्वर्णप्रतिमा का आलिंगन करके तृप्त क्यों नहीं हो जाते? स्त्रियों के जो निन्दनीय और गुह्य (छिपाने लायक) अंग है, उन्हीं पर तो मोहमूढ़ मानव फिदा होता है तो फिर उसे दूसरे किस पदार्थ से विरक्ति हो? सचमुच दुःख की बात तो यह है कि अज्ञान और मोह से ग्रस्त मानव मांस और हड्डियों के बने हुए घिनौने अंगों की चन्द्र, कमल और मोगरा आदि के साथ तुलना करके इन सुन्दर पदार्थों को भी दूषित करता है। नितम्ब (चूतड़), जांघ, स्तन आदि से मोटी और भारी नारी को मूढ़ कामी सुरत क्रीड़ा के समय वक्षःस्थल पर आरोपित करता है, लेकिन उसे वह यों नहीं समझता है कि यह संसारसमुद्र में डूबने के लिए अपने गले में बांधी हुई शिला है। अतः हे बुद्धिशाली श्रावक! नारी को भवसमुद्र के ज्वार के समान चपल-कामरूपी शिकारी की लक्ष्य बनी हुई हिरनी के समान, मदान्ध बनाने वाली मदिरा के समान, विषयरूपी मृगतृष्णा के जल के लिए रेगिस्तान के समान, महामोहरूपी अन्धकारसमूह के लिए अमावस्या की रात के समान और विपदाओं की खान के समान समझ कर नारी का झटपट त्याग करो।

अब मूर्च्छा (आसक्ति) का फल बता कर उसके नियंत्रण के रूप में पंचम अणुव्रत का विवरण प्रस्तुत करते हैं—

असन्तोषमविश्वासमारम्भं दुःखकारणम्।
मत्वा मूर्च्छाफलं कुर्यात् परिग्रह-नियंत्रणम् ॥१०६॥

अर्थ

दुःख के कारणरूप असन्तोष, अविश्वास और आरम्भ को मूर्च्छा के फल मान कर परिग्रह पर नियंत्रण (अंकुश) करना चाहिए।

व्याख्या

श्रावक को दुःख के कारणभूत एवं मूर्च्छा के फलरूप परिग्रह का परिमाण (मर्यादा) करना चाहिए। परिग्रह से असंतोष रहता है। कितना भी मिल जाय, फिर भी तृप्ति नहीं होती, इसलिए वह दुःख का कारण है। मूर्च्छा वाले को अत्यधिक धन मिल जाय, फिर भी संतोष नहीं होता, बल्कि वह उत्तरोत्तर अधिक से अधिक धन मिलने की आशा ही आशा में बेचैनी महसूस रहता है। उसे दूसरे की अधिक सम्पत्ति देख कर अपनी कम सम्पत्ति में असन्तोष मानने से दुःख होता है। इसीलिए कहा है– 'असंतोषी मनुष्य का कदम-कदम पर अपमान होता है। जबकि संतोषरूपी ऐश्वर्यसुख वाले को दुर्जनभूमि दूर होती है।' अविश्वास भी दुःख का कारण है। जब सारा वातावरण अविश्वनीय हो जाता है, तब आशंका न करने योग्य पुरुष पर भी कदम कदम पर आशंका की जाती है। अपने धन की रक्षा करने में भी किसी पर विश्वास नहीं होता। इसीलिए कहते हैं—उखाड़ना, खोदना, जमाना, रखना, रात को न सोना, दिन को भी साशंक सोना, गोबर से लीपना, सदा निशान करना, विपरीत निशान करना, मूर्च्छा (आसक्ति) के कारण (मनुष्य या किसी भी प्राणी को शंकावश मार डालना आदि) प्राणातिपात आदि आरंभ करना, या मारने की स्वीकृति देना (जैसे पुत्र पिता को, पिता पुत्र को, भाई सगे भाई को धन के लिए मरवा देता है), रिश्वत लेना या देना, झूठी साक्षी देना या दिलाना; सफेद झूठ बोलना इत्यादि अनर्थों में प्रवृत्त होता है। अधिक बलवान होने पर धनलोभी यात्रियों को पकड़ कर लूटता है, दीवार में सेंध लगाता है, सूराख करता है; धनलोभवश परस्त्रीगमन करता है तथा नौकरी, खेती, पशुपालन या व्यापार आदि करता है। धनासक्त मनुष्य मम्मण वणिक् की तरह नदी आदि में प्रवेश करने का दुःख उठा कर लकड़ियाँ बाहर निकालता है।

यहाँ प्रश्न होता है कि दुःख का कारण मूर्च्छाफल समझ कर परिग्रह का त्याग करना चाहिए; इस वचन को युक्तिपूर्वक कैसे समझा जाय? इसके उत्तर में कहते हैं परिग्रह मूर्च्छा का कारण होने से परिग्रह भी एक प्रकार से मूर्च्छा ही है। अथवा 'मूर्च्छा परिग्रहः' इस प्रकार सूत्रकार के वचनानुसार मूर्च्छा ही परिग्रह है। यह कथन निश्चयनय की दृष्टि से है। मूर्च्छा से रहित धन-धान्यादि हो तो वह अपरिग्रह है। कहते हैं—ममकार—या ममत्व के बिना अगर कोई पुरुष वस्त्र, आभूषण आदि से अलंकृत हो तो भी वह अपरिग्रही है। और ममकार—ममत्व से युक्त व्यक्ति नग्न हो, फिर भी वह परिग्रही है। गाँव या घर में प्रवेश करते हुए कर्म या अल्प (पदार्थ) ग्रहण करने पर भी अगर वह परिग्रह या ममत्व से रहित है तो उसके जैसा अपरिग्रही कोई हो नहीं सकता। वह जो भी वस्त्र, पात्र, कंबल या आसन आदि ग्रहण करता है, वह संयमयात्रा के लिए व लज्जानिवारण के लिए करता है। संसारसमुद्र के पारगामी महर्षि भगवान् महावीर ने उसे परिग्रह नहीं कहा है। यह सब कथन स्पष्ट है।

अब प्रकारान्तर से परिग्रह-त्याग की आवश्यकता बताते हैं –

परिग्रहमहत्त्वाद्धि मज्जत्येव भवाम्बुधौ।
महापोत इव प्राणी त्यजेत्तस्मात् परिग्रहम् ॥१०७॥

अर्थ

जैसे अधिक वजन हो जाने पर जहाज समुद्र में डूब जाता है, वैसे ही प्राणी परिग्रह के बोझ के कारण संसाररूपी समुद्र में डूब जाता है। इसलिए परिग्रह का त्याग करना चाहिए।

व्याख्या

जैसे अमर्यादित धन, धान्य आदि माल से भरा हुआ जहाज अत्यधिक भार हो जाने से समुद्र में डूब जाता है, वैसे ही जीव भी अगर धन, धान्य, घर, मकान, जमीन-जायदाद व खेत आदि वस्तुएँ अमर्यादित यानी आवश्यकता की सीमा से अधिक रखता है तो वह भी उस परिग्रह के बोझ से दब कर नरक आदि दुर्गतियों में डूब जाता है। कहा भी है—महारम्भ, महापरिग्रह, मांसाहार और पंचेन्द्रिय-जीवों का वध, इन चारों में से किसी भी एक के होने पर जीव नरकायु उपार्जित करता है और अति-आरम्भ एवं अतिपरिग्रह के कारण नरकायु का बंध करता है। इसलिए धन, धान्य आदि पर मूर्च्छा-ममता-रूप परिग्रह का त्याग करे तथा आवश्यकता से अधिक पदार्थों को परिग्रहरूप मान कर उसका भी त्याग करे।

सामान्यरूप से परिग्रह के दोष बताते हैं—

त्रसरेणुसमोऽप्यत्र न गुणः कोऽपि विद्यते।
दोषास्तु पर्वतस्थूलाः प्रादुःष्यन्ति परिग्रहे ॥१०८॥

अर्थ

इस परिग्रह में त्रसरेणु (सूक्ष्मरजकण) जितना भी कोई गुण नहीं है; प्रत्युत उसमें पर्वत जितने बड़े-बड़े दोष पैदा होते हैं।

व्याख्या

मकान की खिड़की से अंदर छन-छन कर आती हुई सूर्यकिरणों के साथ बहुत ही बारीक अस्थिर रजकण दिखाई देते हैं, परिग्रह से उक्त रजकण जितना भी कोई लाभ नहीं होता; न परिग्रह के बल पर किसी भी जीव को परभव (अगले जन्म) में किसी प्रकार की सिद्धि या सफलता प्राप्त होती है, न हुई है। परिग्रहपरिगणित वस्तुएँ उपभोग या परिभोग आदि करने में जरूर आती हैं, लेकिन वह कोई गुण नहीं है, बल्कि परिग्रहजनित आसक्ति से दोष, व कर्मबन्धादि हानि ही होती है। जिन-मन्दिर, उपाश्रय आदि बनाने के तौर पर परिग्रह का जो गुण शास्त्र में वर्णित है, वह गुण (कर्मक्षयरूप) नहीं है, परन्तु वह परिग्रह सदुपयोगरूप (अनेक लोगों के धर्मध्यान, बोधिलाभ आदि में निमित्त होने से पुण्यरूप) बताया है। वस्तुतः देखा जाय तो जो जिनमन्दिर आदि बनवाने में परिग्रह धारण करता है, उसका आशय भी कल्याणकारी (कर्मक्षयरूप) नहीं है। धर्मकार्य के लिए धन की इच्छा करने की अपेक्षा धर्मकार्य के लिए धन की इच्छा ही न करना श्रेष्ठ है। पैर को कीचड़ में डाल कर बाद में उसे धोने के बजाय पहले से कीचड़ का दूर से स्पर्श न करना ही अच्छा है। क्योंकि कोई व्यक्ति स्वर्णमणि-रत्नमय सोपानों और हजारों खंभों वाला तथा स्वर्णमय भूमितलयुक्त जिनमन्दिर बनवाता है, उससे (उक्त पुण्यबंधरूप कार्य से) भी अधिक (कर्मक्षय-संवरनिर्जराधर्मरूप) फल तप-संयम या व्रताचरण में है। इसीलिए 'संबोधसत्तरि वृत्ति' में स्पष्ट बताया है कि उसकी अपेक्षा तपसंयम में अनन्तगुण अधिक हैं।

'परिग्रह से पर्वत सरीखे महान् दोष पैदा होते हैं', इस बात को प्रकारान्तर से विस्तार से समझाते हैं—

संगाद् भवन्त्यसन्तोऽपि रागद्वेषादयो द्विषः ।
मुनेरपि चलेच्चेतो यत्तेनान्दोलितात्मनः ।१०९।।

अर्थ

परिग्रह के संग=आसक्ति से राग, द्वेष आदि शत्रु, जो पहले नहीं थे, वे पैदा हो जाते हैं। क्योंकि परिग्रह के प्रभाव से तो मुनि का मन भी डांवाडोल हो कर सयम से च्युत हो जाता है।

व्याख्या

परिग्रह के संग से जो राग-द्वेष आदि आत्मगुणविरोधी दुर्भाव उदयावस्था में अविद्यमान थे, वे भी प्रगट हो जाते हैं। परिग्रह के संग से तत्सम्बन्धित राग, (आसक्ति, मोह, ममत्व, मूर्च्छा, लालसा, लोभ आदि) पैदा होता है; उसमें विघ्न डालने या हानि पहुँचाने वाले के प्रति द्वेष (विरोध, वैर, घृणा, ईर्ष्या, कलह, दोषारोपण आदि) पैदा होता है। तथा इन्हीं रागद्वेषादि से सम्बन्धित भय, मोह, काम आदि बध-बंधनादि एवं नरकगमनादि दोष पैदा होते हैं। प्रश्न होता है, जो रागद्वेषादि मौजूद नहीं हैं, वे कहाँ से और कैसे प्रगट हो जाते हैं? इसके उत्तर में कहते हैं—श्रावक आदि अन्य गृहस्थों की बात तो दूर रही; महाव्रती समभावी मुनि का प्रशान्त मन भी परिग्रह के संग से चलायमान हो जाता है। मतलब यह कि अनापसनाप वस्तुओं के संग्रह से या वस्तुओं के पास में होने से मुनि का मन भी अस्थिर हो जाता है। और वह राग या द्वेष दोनों में से किसी के भी परिवार से ग्रस्त हो जाता है। इस प्रकार परिग्रह के संग से मुनि भी मुनिजीवन से भ्रष्ट हो जाता है। कहा भी है—अर्थ से छेदन-भेदन मारकाट), सकट, परिश्रम, क्लेश, भय, कटुफल, मरण, धर्मभ्रष्टता और मानसिक अरति (अशान्ति) आदि सभी दुःख होते हैं। इसीलिए सैकड़ों दोषों के मूल—परिग्रह का पूर्वमहर्षियों ने निषेध किया है। क्योंकि अर्थ अनेक अनर्थों की जड़ है। जिसने अर्थ का एक बार वमन (त्याग) कर दिया है, वह अगर उसे फिर ग्रहण करने की वाञ्छा करता है तो किसलिए व्यर्थ ही वह तप, संयम करता है? क्या परिग्रह से बध, बन्धन, मारण, छेदन आदि अधर्म में गमन नहीं होता? वही परिग्रह अगर यतिधर्म में आ गया तो सचमुच वह प्रपञ्च ही हो जाएगा।

सामान्यरूप से परिग्रह के दोष बता कर अब उसे मूल श्रावकधर्म के साथ जोड़ते हैं—

संसारमूलमारम्भास्तेषां हेतुः परिग्रहः ।
तस्मादुपासकः कुर्यादल्पमल्पं परिग्रहम् ।।११०।।

अर्थ

प्राणियों के उपमर्दन (पीड़ा या वध) रूप आरम्भ होते हैं, वे ही संसार के मूल हैं। उन आरम्भों का मूल कारण परिग्रह है। इसलिए श्रमणोपासक या श्रावक धन-धान्यादि परिग्रह अल्प से अल्प करे। यानी परिग्रह का परिमाण निश्चित करके उससे अधिक न रखे।

परिग्रह के दोषों पर सिंहावलोकन करते हैं—

मुष्णन्ति विषयस्तेना, दहति स्मरपावकः ।
रुन्धन्ति वनिताव्याधाः सङ्गैरङ्गीकृतं नरम् ॥१११॥

अर्थ

स्वर्ण, धन, धान्यादि परिग्रहों की आसक्ति से जकड़े हुए पुरुष को विषयरूपी चोर लूट लेते हैं; कामरूपी अग्नि जला देती है, स्त्रीरूपी शिकारी उसे संसार की मोहमाया के जाल में फंसा लेते हैं ।

व्याख्या

जिस प्रकार धन, स्वर्ण आदि परिग्रह वाले व्यक्ति को जंगल में चोर लूट लेते हैं, उसी प्रकार संसाररूपी अरण्य में प्राणी को शब्दादि-विषयरूपी लुटेरे संयमरूपी सर्वस्व लूट कर भिखारी बना देते हैं । इसी तरह आग लगने पर अधिक परिग्रह वाला भाग कर झटपट निकल नहीं सकता, वैसे ही संसाररूपी अटवी में रहा हुआ पुरुष चित्तादि दस प्रकार की कामविकाररूपी आग में जल रहा है । अथवा अत्यधिक परिग्रही को जंगल में जाने पर धन या शरीर के लोभी लुटेरे रोक लेते हैं, उस परिग्रही यात्री को आगे बढ़ने नहीं देते, उसी प्रकार भवरूपी अरण्य में धनलुब्ध या शरीर के कामभोग में लुब्ध कामिनियाँ परिग्रहसंगी पुरुष की स्वातंत्र्यवृत्ति रोक देती हैं, उसे संयममार्ग पर आगे बढ़ने नहीं देती । कहा भी है कितना भी परिग्रह हो, मनुष्य की इच्छा पूर्ण नहीं होती, बल्कि असंतोष बढ़ता ही जाता है । शास्त्र में बताया है—लोभी मनुष्य के पास कैलाश और हिमालय के समान सोने और चांदी के असंख्य पहाड़ हो जांय, और उसे मिल जाय, किन्तु इतने पर भी उसकी जरा भी तृप्ति नहीं होगी । क्योंकि इच्छाएँ तो आकाश के समान अनन्त असीम हैं । आगमों में और भी कहा है—'पशुओं के सहित धन, धान्य, सोना, चांदी आदि से परिपूर्ण सारी पृथ्वी यदि किसी को मिल जाय तो भी अकेली वह उसकी इच्छा को पूर्ण करने में समर्थ नहीं हो सकती । यह जान कर ज्ञानाराधन और तपश्चरण करना चाहिए । कवियों ने भी कहा है—तृष्णा का गड्ढा इतना गहरा और अथाह है कि उसे भरने के लिए उसमें कितना ही डाला जाय, फिर भी परिपूर्ण नहीं होता । आश्चर्य तो यह है कि तृष्णा के गड्ढे को पूरा भरने के लिए उसमें बड़े-बड़े पर्वत डाले जांय तो भी खाली का खाली रहता है । जैसे खनिक लोग किसी खान को ज्यों-ज्यों खोदते जाते हैं, त्यों-त्यों वहाँ खड्डा बढ़ता जाता है, वैसे ही मानव ज्यों-ज्यों धन के लिए मेहनत करता जाता है, त्यों-त्यों असंतोष का गड्ढा बढता जाता है । अथवा जो महापर्वत पर एक बार चढ़ जाता है, वह क्या आकाश में आरूढ़ हो सकता है ?

यही बात आगे दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं—

तृप्तो न पुत्रैः सगरः, कुचिकर्णो न गोधनैः ।
न धान्यैस्तिलकश्रेष्ठी, न नन्दः कनकोत्करैः ॥११२॥

अर्थ

सगरचक्रवर्ती के ६० हजार पुत्र हुए, तब भी उसे तृप्ति नहीं हुई । कुचिकर्ण के पास बहुत-से गायों के गोकुल थे, फिर भी उसे संतोष नहीं हुआ, तिलकसेठ के पास अनाज

के बहुत से कोठार भरे थे, फिर भी उसकी तृप्ति न हुई और मंदराजा को सोने की पहाड़ियाँ मिलने पर भी संतोष नहीं हुआ। इसलिए परिग्रह असंतोष का ही कारण है।

अब हम क्रमशः सगर आदि की कथा दे रहे हैं—

पुत्रलोभी सगर चक्रवर्ती

उन दिनों अयोध्या में जितशत्रु राजा राज्य करता था। सुमित्र नाम का उसका छोटा भाई युवराज था। दोनों भाई पृथ्वी का पालन करते थे। जितशत्रु राजा के पुत्र हुए—तीर्थंकर अजितनाथ, और सुमित्र युवराज के पुत्र हुए- सागर चक्रवर्ती। जितशत्रु और सुमित्र दोनों के दीक्षा ग्रहण करने के बाद अजितस्वामी राजा हुए और सगर युवराज बने। कुछ अर्सा बीत जाने के बाद अजितनाथ ने दीक्षा ले ली, इससे भरत की तरह सगरचक्रवर्ती राजा बन गया। छाया में विश्राम लेने वाले पथिकों की थकान को दूर करने वाले विशाल महावृक्ष की हजारों शाखाओं की तरह सगर चक्रवर्ती के ६० हजार पुत्र हुए। सगर के पुत्रों में सबसे बड़ा जन्हुकुमार था। एक बार पिता ने उसके किसी कार्य से प्रसन्न हो कर उसे वरदान दिया था। एक बार जन्हुकुमार ने पिताजी के सामने अपनी अभिलाषा प्रगट की—"पिताजी! मैं आज उस अमानत रखे वरदान के रूप में यह चाहता हूं कि मुझे चक्रवर्ती के दण्डरत्न आदि मिलें, जिन्हें ले कर मैं अपने भाइयों के साथ इसी भूमण्डल में पर्यटन कर आऊं।" सगर ने उसे वे रत्न दे दिये और पर्यटन की आज्ञा दे दी। सूर्य से भी बढ़ कर तेजस्वी हजारों छत्र धारण किए हुए जन्हु आदि सगरपुत्र पिताजी का आशीर्वाद ले कर महा-ऋद्धि और महाभक्तिपूर्वक प्रत्येक जिनबिम्ब की पूजा करते और यात्रा करते हुए एक दिन अष्टापद पर्वत के निकट आए। ८ योजन ऊँचे और ४ योजन चौड़े उस पर्वत पर जन्हुकुमार अपने बन्धुओं एव परिवार के सहित चढ़े और वहाँ एक योजन लंबा, आधा योजन चौड़ा, तीन कोस ऊँचा, चार द्वारों वाला मन्दिर था, उसमें सबने प्रवेश किया। उस मंदिर में वर्तमान ऋषभादि चौवीस तीर्थंकरों की अपने-अपने संस्थान, परिमाण और वर्णवाली प्रतिमाएँ थीं। उन्होंने उनकी क्रमशः अर्चा की, तत्पश्चात् भरत द्वारा निर्मित १०० भाइयों के पवित्र स्तूपों की वंदना की। फिर श्रद्धाविभोर हो कर कुछ सोच कर उच्च स्वर से कहा—"मेरी राय में अष्टापद सरीखा स्थान (तीर्थ) अन्यत्र कहीं भी नहीं है। मैं भी इसी के जैसे और चैत्य बनवाऊंगा। भरत चक्रवर्ती के मुक्ति प्राप्त करने के बाद से अब तक इस पर्वत के शिखर पर स्थित भरतखण्ड के उनके चक्रवर्तित्व के स्मारक भरतखण्ड के सारभूत ये चैत्य हैं। उनके बनाए हुए इन चैत्यों को भविष्य में होने वाला कोई राजा विनष्ट न करे, इसके लिए हमें इनकी सुरक्षा का प्रबन्ध करना चाहिए। उसके बाद हजार देवताओं से अधिष्ठित दण्डरत्न को हाथ में ले कर अष्टापद के चारों ओर घुमाया। इस कारण भूमि में नीचे कुम्हड़े के समान हजार योजन गहरा एक गड्ढा बन गया। और नीचे पाताललोक में जो भवनपति नागदेवों के भवन बने हुए थे, वे टूट गए।

इस अप्रत्याशित संकट से देव भयभीत हो कर अपने स्वामी ज्वलनप्रभ की शरण में आए। उसे अवधिज्ञान से पता लगा कि यह सब जन्हुकुमार की करतूत है। अत क्रुद्ध हो कर जन्हुकुमार के पास आ कर उसे फटकारा—अरे मदोन्मत्त! तुमने अकारण ही भयंकर रूप से इतनी जमीन फाड़ कर क्यों असंख्य जीव जन्तुओं की हत्या की? तीर्थंकर अजितनाथ के भतीजे एवं सगरचक्री के पुत्रो! निर्लज्ज कुलकलंकियो! तुमने यह अपराध क्यों किया?" इस पर जन्हुकुमार ने कहा—'मैंने तो यहाँ के स्तूपों (चैत्यों) की रक्षा के लिए ऐसा किया था। आपके भवनों का नाश हुआ. यह मेरी अज्ञानता से हुआ है। अतः आप लोग मुझे क्षमा करें।" इस पर ज्वलनप्रभ देव ने कहा—"अज्ञानता से तुम्हारी यह

भूल हुई है, इसलिए मैं तुम्हें क्षमा करता हूँ। भविष्य में ऐसी भूल फिर मत करना।" यों कह कर देव अपने स्थान को लौट गया। जन्हुकुमार ने फिर अपने भाइयों के साथ विचारविमर्श किया कि हमने दण्डरत्न से यह खाई तो बना दी, लेकिन समय पा कर यह खाई तो धूल से भर जायगी। इसलिए इसी दण्ड से खींच कर गंगानदी को यहां ले आएँ और उसका प्रवाह इसी खाई में डाल दें।" उन्होंने वैसा ही किया। किन्तु उस जल से नागकुमारों के भवनों को फिर क्षति पहुंची। अतः नागकुमारों के साथ क्रुद्ध ज्वलनप्रभदेव ने आ कर उन सबको वैसे ही जला कर भस्म कर दिया, जैसे दावानल सभी वृक्षों को भस्म कर डालता है। यह देख कर सैनिकों ने दुःखपूर्वक सोचा—"हम कायर लोगों के देखते ही देखते हमारे स्वामी को जला कर भस्म कर दिया, धिक्कार है हमें!' यों विचार करके शर्म के मारे सैनिक वहाँ से चल कर अयोध्या के निकट आ कर रहने लगे। वे बार-बार यह विचार-विनिमय करने लगे कि हम अपने स्वामी को कैसे मुंह बताएंगे? और इस शोकजनक घटना का जिक्र भी उनके सामने कैसे करेंगे?' एक दिन एक ब्राह्मण आ कर उनसे मिला; उसके सामने उन्होंने सारी आपबीती कह कर उसकी राय मांगी। ब्राह्मण ने कहा—"तुम लोग घबराओ मत। मैं ऐसी सिफ्त से राजा से बात कहूंगा, जिससे राजा को शोक भी नहीं होगा, और तुम पर से उनका रोष भी उतर जायगा।" यों आश्वासन दे कर ब्राह्मण एक अनाथ मृतक (मुर्दे) को ले कर राजदरबार में पहुंचा और वहाँ जोर-जोर से विलाप करने लगा कि—'हाय! मेरा इकलौता पुत्र मर गया।' राजा ने उससे विलाप का कारण पूछा तो उसने कहा—"मेरे इस इकलौते पुत्र को सांप के काटने से यह मूर्च्छित हो गया है। इसलिए देव! कृपा करके इसे जीवित कर दें।' राजा ने सर्प का जहर उतारने वालों को बुला कर उन्हें उसका जहर उतारने की आज्ञा दी। उन्होंने अपने मंत्रकौशल से जहर उतारने की बहुतेरी कोशिश की, मगर राख में घी डालने के समान वह निष्फल सिद्ध हुई। वह मरा हुआ व्यक्ति जीवित न हो सका। परन्तु उधर उस शोकग्रस्त ब्राह्मण को भी समझाना आसान न था। अतः राजा ने एक युक्ति से समझाया—"विप्रवर! तुम ऐसा करो, जिसके यहां आज तक कोई मरा न हो, उसके यहाँ से एक मुट्ठी राख ले आओ। बस, राख मिलते ही मैं तुम्हारे पुत्र को जिला दूंगा।" राजा के कहते ही ब्राह्मण ने हर्षित हो कर कहा—"यह तो बहुत ही आसान बात है।' ब्राह्मण वहाँ से चल पड़ा और गाँव-गाँव और नगर-नगर में घूमता फिरा राख की तलाश में। परन्तु ऐसा कोई घर न मिला; जिसके यहां आज तक कोई न मरा हो।' ब्राह्मण निराश हो कर खाली हाथ लौट आया तो राजा ने कहा—"विप्रवर! राख ले आए क्या?" ब्राह्मण ने कहा—"महाराज! ऐसा कोई घर न मिला, जहाँ कोई मरा न हो। अतः अब तो आप ही ऐसी राख दे दीजिए।" राजा ने कहा—"मेरे कुल में भी भगवान् ऋषभदेव, भरत चक्रवर्ती, बाहुबली, सूर्ययशा, सोमयशा आदि अनेक व्यक्ति चल बसे हैं, कोई मोक्ष गया तो कोई स्वर्ग में, राजा जितशत्रु मोक्ष में गए हैं, सुमित्र राजा देवलोक में गए हैं। अतः मृत्यु तो सर्वसाधारण है। जब इतने-इतने मर गए और उनका वियोग हमने सह लिया तो फिर तुम अपने एक पुत्र का वियोग क्यों नहीं सहन कर लेते?" ब्राह्मण ने कहा—"महाराज! आपकी बात सही है। परन्तु मेरे तो एक ही पुत्र है, इसलिए आपको इसे बचाना चाहिये। दीनों और अनाथों की रक्षा करने का तो सत्पुरुषों का नियम होता है।" चक्रवर्ती ने कहा—'विप्रवर! तुम शोक मत करो! मृत्यु के दुःख से संसार में मुक्त होने का उपाय वैराग्यभावना की शरण ही है।' ब्राह्मण ने उन्हें उसी सिक्के में जवाब दिया—"पृथ्वीनाथ! यदि ऐसी बात है तो आपके साठ हजार पुत्रों के मरने का भी आपको मोह नहीं होना चाहिए।" राजा ने सुनते ही चौंक कर कहा—"ऐं क्या कहा? मेरे ६० हजार पुत्र मर गए?" कैसे मरे? क्या एक भी नहीं बचा?"

क्या हुआ ? यह विस्तार से कहिए ?" इस पर पहले से संकेत किये हुए सैनिकों ने आ कर आद्योपान्त सारी आपबीती सुनाई। यह महाभयंकर समाचार सुनते ही सगरचक्री सहसा मूर्च्छित हो कर धड़ाम से उसी तरह धरती पर नीचे गिर गया, जिस तरह वज्र पर्वत पर गिर पड़ता है। मूर्च्छा समाप्त होते ही राजा होश में आए। कुछ देर तक तो राजा साधारण आदमियों की तरह रोने लगे। उन्हें इस घटना से संसार से विरक्ति हो गई। वह विचारने लगे--"मेरे पुत्र मेरे वंश की शोभा बढ़ाएंगे, मुझे आनन्द देंगे, इसी आशा ही आशा में संसार को असार समझते हुए भी मैंने कुछ नहीं सोचा। धिक्कार है मुझे ! इतने पुत्रों के होते हुए भी मुझे तृप्ति नहीं हुई तो फिर दो चार पुत्रों के और बढ़ जाने से कैसे होती ? मेरे जीते जी अकस्मात् मेरे पुत्रों की यह गति हुई है, और वे मेरे पुत्र मुझे कोई संतोष न दे सके ! हाय ! संसार की ऐसी ही अधम लीला है। इसमें फस कर जीवन को व्यर्थ ही खोना है !" इस प्रकार सगर चक्रवर्ती ने जन्हुकुमार के पुत्र भगीरथ का राज्याभिषेक करके भगवान् अजितनाथ के चरणों में दीक्षा धारण की और संयम पालन कर अक्षयपद प्राप्त किया। यह है सगर चक्री की जीवनी का हाल !

कुचिकर्ण की गोव्रज पर आसक्ति

मगधदेश में सुघोषा नामक गाँव था। वहाँ कुचिकर्णनाम का एक प्रसिद्ध ग्रामनायक था। उसने धीरे-धीरे एक लाख गायें इकट्ठी की। **'बूंद-बूंद से सरोवर भर जाता है।'** उसने उन गायों का अलग-अलग टोले बना कर पालन करने के लिए वे विभिन्न ग्वालों को सौंप दी। परन्तु वे ग्वाले आपस में तू-तू-मैं-मैं करने लगे, एक कहता— 'मेरी गाय सुन्दर है।' दूसरा कहता —तेरी गाय सुन्दर नहीं है, मेरी गाय सुन्दर है'. इस प्रकार उन्हें लड़ते देख कर कुचिकर्ण ने उन गायों के अलग-अलग विभाग करके किसी को सफेद, किसी को काली, किसी को पीली, किसी को कपिला नाम दे कर भिन्न-भिन्न आरण्कों में गोकुल स्थापित कर दिये। स्वयं भी वह गोकुल में रह कर दूध दही का भोजन करता था। मदिरा का व्यसनी जैसे पर्याप्त मदिरा पी लेने पर भी अतृप्त रहता है, वैसे ही कुचिकर्ण भी इतने दूध-दही के सेवन करते हुए भी अतृप्त रहता था। दूध दही के अत्यधिक सेवन से उसे शरीर में ऊपर-नीचे फैलने वाला रसयुक्त अजीर्ण हो गया। उसके पेट में इतनी अधिक जलन होती, मानो वह आग में पड़ा हो। वह जोर-जोर से चिल्लाता—हाय ! मैं अपनी गायों, बैलों, बछड़ों को फिर कब प्राप्त करूंगा ?" इस प्रकार गोधन से अतृप्त कुचिकर्ण वहाँ से आयुष्य पूर्ण कर तिर्यचगति में पैदा हुआ।

तिलकसेठ द्वारा धान्य की आसक्ति का परिणाम

प्राचीन काल में अचलपुर नगर में तिलक श्रेष्ठी नाम का एक वणिक् रहता था। वह शहरों और गाँवों में अन्न का संग्रह करता था। अपने ग्राहकों को वह उड़द, मूंग, तिल, चावल, गेहूं चने आदि अनाज डेढ़ा लेने की दर पर देता था और फसल आने के बाद उनसे डेढ़ा वसूल करता था। धान्य से धान्य की, पशुओं से धान्य की और धन से धान्य की वृद्धि कैसे हो ? किस उपाय से धान्य बढ़े ? 'तत्त्वचिन्तन की तरह इसी बात का रातदिन चिन्तन (ध्यान) किया करता था और धान्य खरीदता और पूर्वोक्त मुनाफे पर बेच दिया करता। जब मनुष्य को किसी चीज की धुन सवार हो जाती है तो, वह व्यसन की तरह उससे चिपट जाती है, उसकी आसक्ति छूटती नहीं।" यही हाल तिलक सेठ का था। अनाज के संग्रह से करोड़ों कीड़े मर जाते थे, इसकी वह परवाह नहीं करता था। पंचेन्द्रिय जीवों और मनुष्यों पर अनाज का बोझ लादने से उन्हें जो पीड़ा होती थी, उसका विचार करके उसे जरा भी

दया नहीं आती थी। एक बार किसी निमित्तज्ञ ने उससे कहा—'अगले साल दुष्काल पड़ेगा।" यह सुन कर उसने अपना पूरा धन लगा कर अनाज खरीदा। इतना अन्न खरीद लेने पर भी उसे संतोष नहीं हुआ। इसलिए धनाढ्यों से ब्याज पर धन उधार ले कर अनेक किस्म के अनाजों को खरीद कर संग्रह किया। अनाज भरने के लिए गोदामों की कमी पड़ी तो अपने घर को भी अनाज से भर दिया। 'लोभी मनुष्य क्या नहीं करता ?" इतना सब कर लेने के बाद वह उदासीन-सा हो कर जगत् के शत्रु दुष्काल को मित्र मान कर दुष्काल के आगमन की प्रतीक्षा करने लगा। परन्तु हुआ उसके दुश्चिन्तन के विपरीत ही। वर्षाऋतु के प्रारम्भ में ही उसके हृदय को चीरते हुए-से बादल आकाश में उठे और गरजने लगे। कुछ ही देर में चारों ओर मूसलधार वृष्टि होने लगी। इसके कारण उसके द्वारा संग्रह किये हुए गेहूं, मूंग, चावल, चने आदि विभिन्न अनाज सड़ने लगे।" यह देख कर असंतुष्ट तिलक सेठ विलाप करने लगा—'हाय ! मेरा अनाज नष्ट हो जायगा। अब मेरे हाथ से अनाज चला जायगा।" यों हाय-हाय करते-करते अतृप्त होने से उसका हृदय फट गया, जिससे तत्काल मर कर वह नरक में गया। यह है तिलकश्रेष्ठी के द्वारा अतिलोभ का परिणाम !

धनलोलुप नन्द राजा

प्राचीनकाल में इन्द्रनगर का अनुसरण करने वाला, अति मनोहर पाटलिपुत्र नामक श्रेष्ठ नगर था। वहाँ शत्रुवर्ग को वश करने में इन्द्र के समान त्रिखण्डाधिपति नन्द नाम का राजा राज्य करता था। जिन-जिन पर टेक्स (कर) नहीं लगा हुआ था, उन-उन पर उसने कर लगा दिया। जिन-जिन पर पहले से कर लगा हुआ था, उन पर अधिक कर लगा दिया और अधिक कर देने वाले पर भी अन्यान्य कर लगा दिये। इस प्रकार वह प्रजा में से किसी पर कोई सी अपराध मढ़ कर उससे दण्ड के रूप में धन ले लेता था। वह सदा यही कहा करता—'राजा छल कर सकता है, किन्तु हल नहीं कर सकता। जैसे समस्त जलों का पात्र समुद्र है, वैसे समस्त अर्थ का पात्र राजा है, दूसरा कोई नहीं !' और इस तरह निर्दय हो कर येन-केन उपायेन लोगों से धन बटोरने की कोशिश करता था। अतः कुछ ही वर्षों में लोग निर्धन हो गए। भेड़-बकरियों को चराने के लिए भूमि पर घास भी नहीं मिलता था। उसने विनिमय के लिए सोने की मुद्रा का नामोनिशान उड़ा दिया और बदले में चमड़े के सिक्के चलाये। वह पाखण्डियों और वेश्याओं को भारी दण्ड दे कर बदले में उनसे धन ग्रहण करता था।' **अग्नि सर्वभक्षी होने से किसी को भी नहीं छोड़ती**' लोग उसके रवैये को देख कर कहने लगे—'भगवान् महावीर के निर्वाण के १९०० वर्ष के बाद कल्की राजा होने वाला है ; उस भविष्यवाणी के अनुसार क्या यही तो कल्की राजा नहीं है ?' नन्दराजा का प्रचण्ड कोप देख कर कांसे या पीतल के बर्तन में भोजन करने के बदले लोग मिट्टी के बर्तन में भोजन करने लगे। कई लोगों ने तो निर्भय हो कर रहने की दृष्टि से अपने बर्तन दूसरों को दे दिये, यह सोच कर कि बर्तन होंगे तो राजा के द्वारा छीने जाने का डर रहेगा। इस प्रकार अतिलोभी नन्द राजा ने सोने के पर्वत बनाए, कुंए में भी सोना भर दिया और अपने समस्त भंडार सोने से भर दिये, फिर भी उसकी इच्छा पूरी नहीं हुई।

अयोध्या के एक हितैषी राजा ने जब उससे रवैये की बातें सुनी तो उसे बड़ा दुःख हुआ। उसने नन्दराजा को समझाने के लिए एक वार्तालाप करने में चतुर दूत को उसके यहाँ भेजा। दूत वहाँ पहुंचा और सर्वस्व लक्ष्मी को हड़पने के महत्त्वाकांक्षी निस्तेज एवं शोभारहित राजा को देख कर उनसे

मिला और नमस्कार करके उनके सामने बैठ गया । राजा से अनुज्ञा ले कर दूत बोला—"मेरे स्वामी का सन्देश सुन कर आप गुस्सा न करें । **'मधुर बोलने वाले कभी हितैषी नहीं होते ।'** कर्णपरम्परा से आपकी निन्दा सुनी थी, लेकिन आज तो मैंने प्रत्यक्ष ही अनुभव कर लिया । लोगों का कथन सर्वथा निराधार नही होता । अन्याय से प्राप्त किया हुआ धन का एक अंश भी राजा के तमाम यश को धो डालता है । तूम्बे के फल का एक दाना भी गुड़ की मिठास को नष्ट कर देता है । राजा प्रजा को अपनी आत्मा के तुल्य समझे । राजा के द्वारा प्रजा का उच्छेदन करना उचित नहीं होता । मांसाहारी कभी अपना मास नहीं खाता । इसलिए अपनी प्रजा का पोषण कीजिए । पोषित प्रजा ही राजा का पोषण करती है । गाय दीन-हीन और अधीन होते हुए भी चारे दाने से पोषित किये बिना दूध नहीं देती । लोभ समस्त गुणो का विनाशक है । इसलिए आप लोभ का त्याग कीजिए ।" हमारे जनप्रिय राजा ने आपके हित की दृष्टि से यह सन्देश भिजवाया है ।" दावाग्नि से जली हुई भूमि पर पानी पड़ते ही जैसे गर्म धुआं-सा उठता है, वैसे ही उस दूत की बात नन्द के कानो में पड़ते ही नन्दराजा ने उष्णवचनरूपी गर्म धुंए के समान उद्‌गार निकाले—"बस, चुप हो जा, मुझे उपदेश देने की जरूरत नहीं है । तू राजदूत होने होने के कारण अवध्य है ; भाग जा यहां से !" यों कह कर नन्दराजा तुरन्त वहां से उठ कर सिरदर्द वाले रोगी की भांति अपने गर्भगृह में चला गया । 'जवासा जैसे जलधारा को ग्रहण नही करता, वैसे ही यह राजा मेरी उपदेशधारा को ग्रहण नहीं करता, इसलिए उपदेश के अयोग्य है ।" यों सोच कर दूत भी अपने राजा के पास अयोध्या लौट आया । अन्याय के पाप के फलस्वरूप नन्दराजा के शरीर में पीड़ा देने वाले भयंकर रोग पैदा हुए । उन रोगों के कारण उसे इतनी वेदना होती थी, मानो नरक के परमाधार्मिक असुरों द्वारा दी हुई वेदना हो । उस भयंकर वेदना से पीड़ित हो कर राजा ज्यों-ज्यों आक्रन्द करता था, त्यों-त्यों प्रजाजन उससे आनन्द महसूस करता था । नन्दराजा के शरीर और मन में इतनी भयंकर वेदना थी, मानो आग में पक रहा हो, या भाड़ में चने के समान भुन रहा हो, अथवा आग में झुलस रहा हो । **'पापात्मा के लिए तो यह सब बहुत ही थोड़ा माना जाता है ।'** 'हाय ! इस पृथ्वी पर मैंने सोने के पहाड़ खड़े किये ; जगह-जगह सोने के ढेर लगाए ; अब इनका मालिक कौन होगा ? मैं तो इतने सोने का जरा-सा भी आनन्द नहीं ले सका । अफसोस ! मैं तो रात-दिन सोना इकट्ठा करने की ही तरकीबें सोचता रहा, इसी में लगा रहा ! अब मेरा क्या होगा ?" यों आर्तनाद करता हुआ एव अपने परिग्रह पर गाढ़ मूर्च्छा करता हुआ अतृप्त नन्द राजा चल बसा । उसने संसार के असीम दु.ख प्राप्त किये । यह है नन्द की परिग्रहकथा !

परिग्रह ग्रहण करने के अभिलाषी योगियों के भी मूलव्रतों को हानि पहुंचती है, इस बात को अब प्रस्तुत करते है—

तपःश्रुतपरीवारां, शमसाम्राज्यसम्पदम् ।
परिग्रहग्रहग्रस्तास्त्यजेयुर्योगिनोऽपि हि ॥११३॥

अर्थ

परिग्रहरूपी ग्रह से ग्रस्त योगीजन भी तप और ज्ञान के परिवार वाली शम-साम्राज्य सम्पत्ति को छोड़ बैठते हैं ।

व्याख्या

सामान्य मानव की बात तो दूर रही, ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूपी रत्नत्रय से सुशोभित योगीजन भी परिग्रहरूपी ग्रह के चंगुल मे फंस कर जरा-से भी सुख में लुब्ध हो जांय तो अपने वशीभूत भूत-प्रेतों के समान तप, त्याग और श्रुतज्ञान के परिवार वाले शम (संतोष) रूपी साम्राज्यसम्पत्ति को भी तिलांजलि दे बैठते हैं। अर्थात् अपने मूलगुणों को भी तिलांजलि दे कर लोभरूपी पिशाच के वश में हो जाता है।

असंतोष के फल बता कर अब संतोष का फल बताते हैं—

असंतोषवतः सौख्यं न शक्रस्य न चक्रिणः।
जन्तोः सन्तोषभाजो यदभयस्येव जायते ॥११४॥

अर्थ

असंतोषी मनुष्य चाहे वह इन्द्रमहाराज और चक्रवर्ती ही हो, उसे जो सुख प्राप्त नहीं होता, उसे सतोषी मनुष्य अभयकुमार को प्राप्त संतोषरूपी साम्राज्यसुख की तरह प्राप्त कर लेता है।

अभयकुमार की सम्प्रदायगम्य कथा इस प्रकार है—

संतोषी अभयकुमार

प्राचीनकाल में भारतवर्ष के समृद्धिक्षेत्र के रूप में, विशाल किले से सुशोभित राजगृह नगर था। वहां समुद्रयन गंभीर, समग्र राजाओं को अपने गुणों से आकर्षित करने वाला प्रसेनजित् राजा का शासन था। वह पार्श्वनाथ भगवान् के शासनकमल में भ्रमर के समान, अत्यन्त अनुरागी सम्यग्दृष्टि-सम्पन्न, अणुव्रतधारी श्रावक था। उसके बल, तेज और कान्ति में देवकुमारों को भी मात करने वाले श्रेणिक आदि अनेक पुत्र थे। इन सभी पुत्रों में राज्यधुरा को संभालने के योग्य कौन है? इसकी परीक्षा के लिए राजा ने एक दिन तमाम कुमारों को भोजन के लिए बिठा कर उनकी थाली में खीर परोसी। सभी कुमार जब भोजन करने लगे, तभी बुद्धिमान राजा ने बाघ के समान विकराल मुंह फाड़े हुए शिकारी कुत्ते छोड़ दिये। कुत्तों के आते ही श्रेणिक के सिवाय सभी राजकुमार थाली पर से एकदम उठ खड़े हुए और झटपट बाहर निकल आए। श्रेणिककुमार दूसरे कुमारों को परोसी हुई थाली में से थोड़ी-थोड़ी खीर कुत्तों का डालता गया और जब तक कुत्ते वह खीर चाटते, तब तक उसने अपनी सारी खीर खा ली। यह देख कर राजा ने सोचा—'यह कुमार ही किसी भी उपाय से शत्रुओं को वश करके इस पृथ्वी का उपभोग कर सकेगा।' राजा श्रेणिककुमार पर अत्यन्त प्रसन्न हुआ। एक दिन राजा प्रसेनजित् ने फिर अपने पुत्रों की परीक्षा करने के लिए सबको टोकरों में सीलबंद लड्डू तथा मिट्टी के घड़ों में पानी भर कर उनका मुंह बंद करके दिये और उनसे कहा— इन टोकरों में से ढक्कन खोले या सील तोड़े बिना तथा इन घडों के छेद किये बिना पानी पी लेना।' श्रेणिक के सिवाय कोई भी राजकुमार न तो लड्डू खा सका और न पानी ही पी सका। **'मनुष्य कितना ही बलवान् क्यों न हो, बुद्धि से जो काम कर सकता है, वह बल से नहीं कर सकता।'** श्रेणिक ने टोकरे को हिला-हिला कर छिद्रवाली जगह से लड्डू का चूरा गिराया और खाया; इसी प्रकार पानी के घड़े के नीचे पानी की बूंदें टपक रही थीं, उन्हें चांदी की सिप्पी से इकट्ठी करके पानी पीया।' प्रत्युत्पन्नबुद्धियुक्त व्यक्ति की बुद्धि के लिए क्या दुःसाध्य है?

श्रेणिककुमार की यह बौद्धिक कुशलता देख कर राजा अत्यन्त प्रसन्न हुआ। एक दिन प्रसेनजित् के महल में आग लग गई; तब उसने सभी राजकुमारों से कहा—'मेरे महल में से तुम्हें जो चीज हाथ लगे, ले जाओ। जो चीज जिसके हाथ लगेगी, वही उसका मालिक होगा।' यह सुन कर और राजकुमार तो अच्छे-अच्छे रत्न ले कर बाहर आए, लेकिन श्रेणिक राजकुमार सिर्फ डंका पीटने का एक नगाड़ा ले कर बाहर निकला। राजा ने श्रेणिककुमार से पूछा—'बेटा! यह क्या और क्यों ले आए हो?' श्रेणिक ने उत्तर दिया—'यह नगाड़ा है, राजाओं की विजय का प्रथम सूचकचिह्न तो यही है। इसकी आवाज से राजाओं की विजययात्रा सफल होती है। इसलिए स्वामिन्! राजाओं के जयशब्दसूचक इस नगाड़े की आत्मा के समान रक्षा करनी चाहिए।' श्रेणिक के परीक्षा में उत्तीर्ण होने से श्रेणिक की प्रखर बुद्धि का लोहा मान कर राजा प्रसेनजित् ने प्यार से उसका दूसरा नाम 'भंभासार' रखा। अपने आपको राज्याधिकार के योग्य मानने वाले अन्य राजपुत्रों को प्रसेनजित् शासनाधिकार के योग्य नहीं मानता था। परन्तु राजा प्रसेनजित् श्रेणिक के बुद्धिकौशल को परखने की दृष्टि से ऊपर-ऊपर से उसके प्रति उपेक्षाभाव रखता था। राजा ने दूसरे कुमारों को अलग-अलग देशों का राज्य दे दिया। लेकिन श्रेणिक को यह सोच कर कुछ भी नहीं दिया कि भविष्य में यह सारा राज्य इसी के हाथ में आएगा।

इसके बाद अरण्य से जैसे जवान हाथी निकलता है, वैसे ही स्वाभिमानी श्रेणिक पिता का रवैया देख कर अपने नगर से निकल पड़ा और वेणातट नगर पहुंचा। नगर में प्रविष्ट होते ही भद्रश्रेष्ठी की दूकान पर बैठा, मानो साक्षात् लाभोदयकर्म ही हो। नगर में उस दिन कोई महोत्सव था, इसलिए सेठ की दूकान पर उत्तम वस्त्र, अंगराग से सम्बन्धित सुगन्धित पदार्थ खरीदने वाले ग्राहकों का तांता लग गया। ग्राहकों की भारी भीड़ होने से सेठ घबरा गया। अतः श्रेणिककुमार ने फुर्ती से पुड़िया आदि बांध कर ग्राहकों को सौदा देने में सहायता दी। श्रेणिककुमार के प्रभाव से सेठ ने उस दिन बहुत ही धन कमाया। सचमुच, **पुण्यशाली पुरुष के साथ परदेश में भी सम्पत्तियाँ साथ-साथ चलती हैं।'** यह देख कर सेठ ने प्रसन्नतापूर्वक पूछा 'आज आप किस पुण्यशाली के यहाँ अतिथि हैं? कुमार बोला—'आपका ही!' सेठ ने मन ही मन सोचा—'आज रात को स्वप्न में मैंने नन्दा के योग्य वर देखा था; वह यही मालूम होता है।' अतः प्रगट में कहा—"आज आप मेरे अतिथि बने हैं, इससे मैं धन्य हो गया हूं। आपका समागम तो प्रमादी के यहाँ गंगा के समागम-सरीखा हुआ है।" दूकान बद करके सेठ श्रेणिककुमार को अपने घर ले गया। वहाँ उसे स्नान कराया, नये बढ़िया कपड़े पहिनाए और सम्मानपूर्वक भोजन करवाया। सेठ के यहाँ रहते-रहते कई दिन बीत गए। एक दिन सेठ ने अपनी पुत्री को सम्मुख प्रस्तुत करते हुए कुमार से विनति की -'मेरी इस नन्दा नामक पुत्री के साथ आप विवाह करना स्वीकार करें।' श्रेणिक ने सेठ से कहा—'आप मुझ अज्ञातकुलशील व्यक्ति को कैसे अपनी कन्या दे रहे हैं?' सेठ बोला—"आपके गुणों से आपके कुल और शील ज्ञात हो ही गये हैं।' अत्यधिक आग्रह देख कर श्रेणिक ने उसी तरह नंदा के साथ विवाह कर लिया, जैसे विष्णु ने समुद्रपुत्री (लक्ष्मी) के साथ किया था। विवाह के बाद श्रेणिक नन्दा के साथ सुखोपभोग करते हुए वहाँ उसी तरह रहने लगे, जिस तरह वृक्षघटा में हाथी सुखपूर्वक रहता है।

इधर प्रसेनजित् राजा ने दूत द्वारा श्रेणिक का सारा वृत्तान्त जान लिया। क्योंकि राजा दूतों की आँखों से देखने के कारण हजार आँखों वाला होता है। अचानक प्रसेनजित् राजा के शरीर में एक भयंकर बीमारी खड़ी हो गयी। कितने ही इलाज करवाये, लेकिन वह जाती ही नहीं थी। अतः अपना

अन्तिम समय नजदीक जान कर अपने पुत्र श्रेणिक को बुला लाने के लिए एक शीघ्रगामी ऊंट वाले को आदेश दिया। ऊंट वाला शीघ्र वेणातट नगर पहुंचा। वहाँ जा कर वह श्रेणिक से मिला और कहा— 'आपके पिताजी मृत्युशय्या पर पड़े अन्तिम घड़ियाँ गिन रहे हैं। आपको उन्होंने शीघ्र बुला लाने के लिए मुझे भेजा है।' सुन कर श्रेणिक को बहुत खेद हुआ। उसने नन्दादेवी को समझाया और निम्नोक्त मंत्राक्षर लिख कर उसे दे दिया—'हम सफेद दीवाल वाले राजगृह नगर के गोपाल हैं।' फिर श्रेणिक ने ससुराल वालों से सबसे विदा ले कर वहाँ से झटपट कूच किया। 'पिताजी दुःसाध्य रोग से पीड़ित हैं, कहीं ऐसा न हो जाय कि मेरे जाने से पहले ही मेरी अनुपस्थिति में वे चल बसें, अथवा उन्हें अधिक पीड़ा न हो जाय। इस लिहाज से श्रेणिक ऊँटनी पर बैठ कर झटपट राजगृह पहुंचा। राजा ने जब श्रेणिक को अपने सामने हाथ जोड़े खड़ा देखा तो उसके हर्षाश्रु उमड़ पड़े। फिर स्वर्ण-कलश के निर्मल जल से श्रेणिक का राज्याभिषेक करके उसे मगधदेश का राजा घोषित कर दिया। प्रसेनजित् राजा भगवान् पार्श्वनाथ का स्मरण एवं पंचपरमेष्ठीमंत्र का जाप करते हुए समाधिपूर्वक मृत्यु प्राप्त करके देवलोक में पहुंचा।

श्रेणिक राजा ने सारा राज्यभार संभाला। उधर वेणातट में राजा श्रेणिक द्वारा त्यक्ता नंदादेवी ने गर्भ धारण किया। उस समय उसे एक ऐसा दोहद उत्पन्न हुआ कि 'हाथी पर चढ़ कर मैं बहुत ही धूमधाम से जीवों को अभयदान देने वाली और परोपकारपरायण बनूं।" नन्दादेवी के पिता ने राजा श्रेणिक से विनति की। अतः श्रेणिकनृप ने वह दोहद पूर्ण कराया। ठीक समय नन्दादेवी ने उसी तरह एक स्वस्थ सुन्दर बालक को जन्म दिया, जिस तरह पूर्वदिशा सूर्य को जन्म देती है। शुभ-दिवस में उसके दोहद के अनुरूप मातामह ने बालक का नाम अभयकुमार रखा। क्रमशः बड़ा हुआ। निर्दोष विद्याओं का अध्ययन किया। आठ साल का होते-होते बालक अभयकुमार ७२ कलाओं में निष्णात हो गया। एक दिन अभयकुमार अपने हमजोली लड़कों के साथ खेल रहा था; तभी किसी बालक ने उसे रोषपूर्वक ताना मारा—'तू क्या बढ़-बढ़कर बोल रहा है; तेरे पिता का तो पता नहीं है।' अभयकुमार ने उसे जवाब दिया—'मेरे पिता का नाम भद्र है।' लड़के ने प्रत्युत्तर में कहा—'वह तो तेरी माता का पिता है।' अभयकुमार को उस लड़के के वचन तीर की तरह चुभ गए। उसने उसी समय अपनी मां नन्दादेवी से पूछा—मां! मेरे पिता कौन हैं?' 'भद्र सेठ तेरे पिता है।' नन्दा ने कहा। 'भद्र तो तुम्हारे पिता हैं, मेरे पिता जो हों उनका नाम मुझे बता दो!' इस तरह पुत्र द्वारा वारबार आग्रहपूर्वक पूछने पर नन्दादेवी ने उदासीन हो कर कहा—'बेटा! मेरे पिता ने किसी परदेश से आए हुए युवक के साथ विवाह कर दिया था और जब तू गर्भ में था, तब एक ऊँट वाला कहीं से आया था, उसने उनसे एकान्त मे कुछ कहा और झटपट ऊँट पर बिठा कर वह तेरे पिता को ले गया। उसके बाद उसका कोई अता-पता नहीं। इसलिए मुझे यथार्थ पता नहीं कि वह कौन था? कहाँ का था? उसका नाम क्या था?' अभय ने पूछा—'माताजी! जाते समय वह कुछ कह गये थे?' तब नन्दा ने वह अंकित मंत्राक्षर ला कर पुत्र को बताया कि "ये अक्षर लिखकर वह मुझे दे गए हैं।" पत्र में अंकित शब्दों को पढ़कर अभयकुमार बहुत खुश हुआ और अपनी मां से कहा—'माताजी! मेरे पिता तो राजगृह के राजा हैं। चलो, अब हम वहीं चलेंगे।' भद्रसेठ से विदा ले कर मां-बेटा सामग्री के साथ राजगृह नगर में पहुंचे। माता को परिवारसहित नगर के बाहर एक उद्यान में बिठा कर अभयकुमार ने थोड़े-से लोगों को साथ ले कर नगर में प्रवेश किया।

इधर श्रेणिक राजा ने उस समय ४९९ मंत्री मंत्रणा के करने के लिए एकत्रित किये थे। और ५०० की संख्या पूर्ण करने हेतु जगह-जगह ऐसे ५०० वें उत्कृष्ट पुरुष की खोज हो रही थी। उस व्यक्ति की परीक्षा हेतु राजा श्रेणिक ने एक सूखे कुंए में अपनी अंगूठी डाल कर घोषणा कराई—'जो व्यक्ति कुंए के किनारे पर खड़ा-खड़ा इस अंगूठी को हाथ से पकड़ लेगा, वही बुद्धिकुशल महानर इन सभी मंत्रियों का अगुआ बनेगा।" घोषणा सुन कर सभी मंत्री पेशोपेश में पड़ गए। वे परस्पर कहने लगे— हमारे लिए तो यह कार्य असभव-सा लगता है। जो आकाश के तारे हाथ से तोड़ कर धरती पर ला सकता है, वही इस अंगूठी को कुंए से निकाल कर हाथ से पकड़ सकता है। हमारे बस की यह बात नहीं है।" उसी समय अभयकुमार हंसता-हंसता वहां आ पहुंचा। उसने लोगों को आपस में बातें करते देख-सुन कर पूछा—'क्या यह अंगूठी नहीं ली जा सकती ? क्या यह कोई कठिन बात है ?" लोगों ने उसके तर्क को सुन कर विचार किया — 'यह कोई प्रतिभा का धनी प्रभावशाली पुरुष है।" 'समय आने पर व्यक्ति के मुख से बोला हुआ वचन ही उसके पराक्रम को प्रगट कर देता है।' एकत्रित व्यक्तियों ने अभयकुमार से कहा— "भाग्यशाली ! राजा की शर्त के अनुसार तुम अंगूठी ले लो और सभी मंत्रियों का नेतृत्व स्वीकार कर लो।" अभयकुमार ने कुंए में पड़ी हुई अंगूठी पर किनारे खड़े-खड़े ही जोर से गाय का ताजा गोबर फैंका ; और उसी समय उस पर जलते हुए घास के पूले डाले ; जिससे वह गोबर सूख गया। उसी समय अभयकुमार ने पानी की क्यारी बनवा कर कुंए को पानी से भर दिया। लोगों के आश्चर्य के साथ तुरंत ही गोबर अंगूठी के साथ तैरता हुआ ऊपर आ गया। अतः श्रेणिकपुत्र अभय ने उसी समय हाथ से अंगूठी वाला गोबर पकड़ लिया। "बुद्धिमान व्यक्ति अच्छी तरकीब से कोई आयोजन करे तो उसके लिए कोई बात दुष्कर नहीं है।" जो वहां खड़े थे, उन गुप्तचर वगैरह ने तत्काल राजा के पास जा कर यह खबर दी। विस्मित और चकित राजा श्रेणिक ने अभयकुमार को अपने पास बुलाया और पुत्र-सदृश दृष्टि से वात्सल्यभावपूर्वक उसका आलिंगन किया। 'सम्बन्ध अज्ञात होने पर भी सम्बन्धी को देख कर मन प्रफुल्लित हो जाता है।' राजा श्रेणिक ने अभय से पूछा – 'तुम कहाँ से आये हो ?" 'मैं वेणातट से आया हूं', अभय ने निर्भीक हो कर कहा। राजा ने उससे पूछा —"वत्स ! वहाँ भद्र नाम का प्रसिद्ध सेठ है, उनकी पुत्री नन्दा है, वह तो आनन्द में है न ?" 'हाँ, वह आनन्द में है', अभय ने कहा। 'नन्दा तो गर्भवती थी ; उसने किसे जन्म दिया है ?" किरणों के समान मनोहर दंतपंक्तियुक्त अभयकुमार ने कहा—"हाँ, देव ! उसने अभय नामक एक पुत्र को जन्म दिया है।' राजा ने फिर पूछा— 'वह अभय कैसा है, उसका रूप कैसा है ? उसमें कैसे गुण हैं, आर्य ?" अभय ने कहा -"आप मुझे ही अभय मान लो; वही मैं हूं।" यह सुनते ही अभयकुमार को आलिंगन करके गोद में बिठाया और मस्तक चूम कर हर्षित हो नेत्रजलसिंचन किया, मानो स्नेह से स्नान करा रहा हो। 'तेरी माता कुशल तो है न ?' इस प्रकार पूछने पर अभयकुमार ने दोनों हाथ जोड़ कर विनयपूर्वक कहा—"स्वामिन् ! भ्रमरी के समान आपके चरणकमलों का बार-बार स्मरण करती हुई दीर्घायुषी मेरी माताजी इस समय नगर के बाहर उद्यान में हैं।" यह सुनते ही आनन्द से रोमांचित हो कर नन्दा को लाने के लिए अभयकुमार को आगे करके सर्व-सामग्री-सहित उत्सुकतापूर्वक राजा नन्दा के सम्मुख उसी तरह चल पड़ा, जिस तरह राजहंस कमलिनी के सम्मुख जाता है। उस समय नन्दा का शरीर दुबला-सा हो रहा था, उसके हाथों की चूड़ियां ढीली हो रही थीं, कपाल पर बाल लटक रहे थे, आंखों में अञ्जन नहीं था, चोटी गूंथी हुई नहीं थी, वह मैले-कुचैले कपड़े पहनी हुई थी। राजा ने द्वितीया के चन्द्र की कला के समान कृश नन्दा को आनन्द से उद्यान में बैठी हुई देखी। राजा नन्दा को आनन्दित करके अपने महल में ले गया। जैसे रघुनन्दन राम ने

सीता को पटरानी बनाई थी, वैसे ही राजा श्रेणिक ने नन्दा को पटरानी बनाई ! अभयकुमार की पिता पर अत्यन्त भक्ति थी तथा उनके सामने अपने आपको अणु से अणु के समान मानता था। इस विनीतता के कारण दुःसाध्य राजा को भी उसने अपने वश में कर लिया था।

एक बार उज्जयिनीनरेश चण्डप्रद्योत सभी सामग्री एवं दलबल साथ में ले कर राजगृह को घेर कर चढ़ाई करने के लिए चला। उसके साथ परमाधार्मिक सरीखे १४ अन्य मुकुटबद्ध राजा थे। लोगों ने चण्डप्रद्योत को आते हुए देखा। उसके तेजतर्रार घोड़े ऐसे दौड़ते हुए आ रहे थे, मानो पृथ्वी को चीर डालेंगे। गुप्तचरों ने आ कर राजा श्रेणिक को तुरन्त खबर दी। श्रेणिक सुन कर क्षण भर विचार में पड़ गया कि 'क्रूरग्रह के समान क्रुद्ध हो कर सम्मुख आते हुए चंडप्रद्योत को कैसे कमजोर करें ?" दूसरे ही क्षण राजा ने अमृत-समान मधुरदृष्टि से औत्पातिक बुद्धि के निधि अभयकुमार की ओर देखा। अत: यथानाम तथा गुण वाले अभयकुमार ने राजा से सविनय निवेदन किया—आज उज्जयिनीपति मेरे युद्धका अतिथि बने। इसमें इतनी चिन्ता की क्या बात है ? बुद्धिसाध्य कार्य में शस्त्रास्त्र की बात करना वृथा है। मैं तो बुद्धिबल का ही प्रयोग करूंगा। बुद्धि ही विजय दिलाने में कामधेनु सरीखी है।" उसके बाद अभयकुमार ने नगर के बाहर जहाँ शत्रु की सेना का पड़ाव था, वहीं लोह के डिब्बों में सोने की दीनारें डाल कर गड़वा दीं। समुद्र का जल जैसे गोलाकार भूमि को घेर लेता है, वैसे ही चंडप्रद्योत की सेना ने राजगृह को चारों ओर से घेर लिया। अभयकुमार ने मिष्टभाषी गुप्तचरों के मारफत इस आशय का एक पत्र लिख कर भेजा—"अवन्तिनरेश ! शिवादेवी और चिल्लणादेवी में आप जरा भी अन्तर मत समझना। इस कारण शिवादेवी के नाते आप मेरे लिए सदा माननीय हैं। मैं आपको एकान्त हितबुद्धि से सलाह देता हूं कि मेरे पिता श्रेणिक राजा ने आपके समस्त राजाओं में फूट डाल दी है। उन्हें वश में करने के लिए राजा ने सोने की मुहरें भेजी हैं। उन्हें स्वयं स्वीकार करके वे आपको बांध कर मेरे पिताजी के सुपुर्द कर देंगे। मेरी बात पर आपको विश्वास न हो तो आप उनके निवासस्थान के नीचे खुदवा कर गड़ी हुई सोने की मुहरें निकलवा कर इतमीनान कर लें। जलता हुआ दीपक मौजूद हो तो आग को कौन लेना चाहेगा ? यह जान कर चण्डप्रद्योत ने एक राजा के पड़ाव के नीचे की जमीन खुदवाई तो वहां पर अभयकुमार ने जैसा कहा था, उसी रूप में स्वर्णमुद्राएँ मिल गई। यह देख कर निराश चंडप्रद्योत वहां से चुपके से भाग गया। उसके भाग जाने से उसकी सारी सेना को समुद्र के समान मथ कर श्रेणिक ने चारों ओर से घेर लिया। उस सेना के सारभूत हाथी, घोड़े आदि श्रेणिक ने अपने कब्जे में कर लिए। चण्डप्रद्योत के नाक में दम आ गया। अतः किसी प्रकार अपनी जान बचा कर द्रुतगामी घोड़े से किसी भी तरह अपनी नगरी में पहुंचा। वे चौदह राजा एवं अन्य महारथी भी कौओ की तरह भाग गए। क्योंकि नायक के बिना सेना नष्ट हो जाती है। चंडप्रद्योत राजा के पीछे-पीछे जब वे राजा उज्जयिनी पहुंचे तो उनके बाल बिखरे हुए और फुर्-फुर् उड़ रहे थे, चेहरे उदास थे, मस्तक पर छत्र तो किसी के भी नहीं था। उन सभी राजाओं ने चण्डप्रद्योत को शपथपूर्वक विश्वास दिलाया कि 'महाराज ! हम कभी ऐसा विश्वासघात करने वाले नहीं हैं। यह सारी चाल अभयकुमार की मालूम होती है।' यह जान कर अवन्तिनरेश को अभयकुमार पर बहुत रोष चढ़ा।

एक बार अवन्तिपति ने अपनी सभा में रोषपूर्वक कहा—'जो अभयकुमार को बांध करके यहाँ ला कर मुझे सौंपेगा, उसे मैं मनचाहा धन इनाम में दूंगा।' एक वेश्या ने पताका के समान हाथ ऊँचे करके बीड़ा उठाया और चण्डप्रद्योत से विनति की—'राजन् ! मैं इस काम को बखूबी कर

सकती हूँ।' राजा ने उसे उस कार्य को करने की सहर्ष अनुमति दी। और कहा—'इस कार्य में तुम्हें धन आदि किसी भी चीज की जरूरत हो तो बताओ।' वेश्या ने सोचा—'अभयकुमार और किसी उपाय से तो पकड़ में आना मुश्किल है, केवल धर्मप्रपंच से ही मैं अपना कार्य सिद्ध कर सकूंगी। अतः गणिका ने दो प्रौढ़ स्त्रियों की मांग की, अपने साथ ले जाने के लिए। राजा ने बहुत-सा धन दे कर गणिका के साथ जाने के लिए दो स्त्रियां तैयार की। वे दोनों स्त्रियाँ गणिका के साथ छाया की तरह रहने लगीं। अब ये तीनों स्त्रियां हमेशा साध्वियों की सेवाभक्ति करती थी, उनके प्रति आदरभाव रखतीं, इस कारण साध्वियों से बौद्धिक उत्कृष्टता के कारण बहुत-सा ज्ञान प्राप्त कर लिया। वे तीनों जगत् को ठगने के लिए मानो तीन मायामूर्तियाँ हों। वे तीनों एक गाँव से दूसरे गाँव घूमती हुई श्रेणिक नृप से अलंकृत राजगृहनगर मे पहुंचीं। नगर के बाहर उद्यान में उन्होंने अपना पड़ाव डाला। गणिका उन दोनों साथिनों को ले कर चैत्य-परिपाटी करने की इच्छा से नगर में आई। फिर राजा के द्वारा निर्मित जिनमन्दिर में अतिशय भक्तिभावपूर्वक तीन बार नैषिधिकी (निसिही निसिही) करके उन तीनों ने प्रवेश किया। प्रतिमापूजन करके उसने मालवकौशिकी तर्ज में लय और तालसहित मधुरभाषा में देववन्दन करना प्रारम्भ किया। उस समय वहाँ अभयकुमार भी चैत्यवन्दन करने आया हुआ था। उसने इन तीनों को वहीं प्रतिमा के सम्मुख देववन्दन करते हुए देखा। अभयकुमार यह सोच कर रंगमंडप में प्रवेश न करके द्वार पर ही खड़ा रहा कि 'अगर मैं अदर प्रवेश करूंगा तो इन्हें देववन्दन करने में खलल पहुंचेगी। जब वे मुक्ताशुक्तिमुद्रा से प्रणिधान करके खड़ी हुई तो अभयकुमार भी उनके सम्मुख आया। उनकी इस प्रकार की भावना और शान्तवेश देख कर अभयकुमार उनकी प्रशंसा करता हुआ प्रसन्नतापूर्वक उनसे कहने लगा—'भद्रे! अहोभाग्य से आज आप जैसी साधर्मी बहनों का समागम हुआ है। इस संसार में विवेकी आत्माओं के लिए साधर्मी से बढ़ कर दूसरा कोई बन्धु या भगिनी नहीं है। अगर आपको बताने में कोई आपत्ति न हो तो बताइए कि आप कौन हैं? कहाँ से आई है? आपका निवास-स्थान कहाँ पर है? स्वाति और विशाखा नक्षत्र से सुशोभित चन्द्रलेखा की भांति आपके साथ में ये दोनों महिलाएँ कौन है?' उस बनावटी श्राविका ने कहा—'मैं अवन्तिवासी एक बड़े सेठ की विधवा धर्मपत्नी हूँ। मेरे दो पुत्रों की मृत्यु हो जाने वृक्ष की छाया के बिना लता की तरह से निराधार बनी हुई ये दोनों मेरी विधवा पुत्रवधुएँ हैं। विधवा होने के बाद महाव्रत अंगीकार करने की इच्छा से इन्होंने मुझ से अनुमति मांगी। क्योंकि विधवानारियों के लिए दीक्षा ही शरण्य है। मैं तो अब थक गई हूं। फिर भी गृहस्थावस्था के अनुरूप व्रत धारण करूंगी। परन्तु करूंगी तीर्थयात्रा कर लेने के बाद ही। संयमग्रहण करने पर तो सिर्फ भावपूजा ही हो सकती है। द्रव्यपूजा गृहस्थ-जीवन में ही हो सकती है; साध्वीजीवन में हो नहीं सकती। इस दृष्टि से इन दोनों के साथ मैं तीर्थयात्रा करने को निकली हूँ। यह सुन कर अभयकुमार ने कहा—'आज आप मेरे यहाँ अतिथि बनें। **'तीर्थयात्रा करने वाले सार्धमिक का सत्कार तीर्थ से भी अधिक पवित्र करने वाला होता है।'** नकली श्राविका ने उत्तर दिया—'आप ठीक कह रहे हैं। परन्तु तीर्थ के निमित्त से आज मेरा उपवास होने के कारण आज आपकी अतिथि कैसे बन सकती हूँ?' उसकी धर्मभावना से प्रभावित हो कर अभयकुमार ने फिर कहा—'तो फिर कल प्रातःकाल मेरे यहाँ जरूर पधारना।' उसने प्रत्युत्तर दिया—'एक क्षणभर में जहाँ जीवन समाप्त हो जाता है, ऐसी स्थिति में कोई भी बुद्धिशाली यह कैसे कह सकता है कि मैं सुबह यह करूंगा?' आपकी यह बात ठीक है, तो फिर कल के लिए निमंत्रण करता हूं।' ऐसा कह कर उनसे विदा हो कर स्वयं मन्दिर में चैत्यवन्दन करके अभयकुमार घर चला गया।

दूसरे दिन सुबह उन्हें निमन्त्रण दे कर अभयकुमार ने गृहमन्दिर में चैत्यवन्दन किया और वस्त्र ग्रहण करने की भक्ति की। उन्होंने भी एक दिन अभयकुमार को निमत्रण दिया। विश्वस्त हो कर अभयकुमार अकेला ही उनके यहां गया। साधर्मिक के आग्रह से साधर्मिक क्या नहीं करते?' उन्होंने भी अभयकुमार को विविध प्रकार का स्वादिष्ट भोजन कराया। और चन्द्रहास मदिरामिश्रित जलपान कराया। भोजन से उठते ही अभयकुमार सो गया, क्योंकि मद्यपान की प्रथम सहचरी निद्रा होती है। पहले से सोची हुई व्यवस्था के अनुसार स्थान-स्थान पर रखे हुए रथों के कारण कोई इस षड्यंत्र को जान नहीं सका और बेहोशी की हालत में ही कपटगृहममा गणिका ने अभयकुमार को उज्जयिनी पहुंचा दिया।

इधर अभयकुमार की तलाश करने के लिए श्रेणिक राजा ने चारों ओर सेवक दौड़ाए। स्थान-स्थान पर खोज करते हुए सेवक वहां भी पहुँचे, जहाँ गणिका ठहरी हुई थी। सेवकों ने उससे पूछा—"क्या अभयकुमार यहां आया है?" गणिका ने कहा—"हां, आया जरूर था, मगर वह उसी समय चला गया।" उनके इस वचन पर विश्वास रख कर ढूढने वाले अन्यत्र चल गए। वेश्या के लिए भी स्थान स्थान पर घोड़े रखे गए थे। अतः वह घोड़े पर बैठ कर उज्जयिनी पहुंच गई। उसके बाद प्रचण्ड कपटकलाप्रवीण वेश्या ने अभयकुमार को चण्डप्रद्योत राजा के सुपुर्द किया। चण्डप्रद्योत राजा के द्वारा कैसे और किस तरह लाई? इत्यादि विवरण पूछने पर उसने अपने चातुर्य की सारी घटना आद्योपान्त कही। इस पर चण्डप्रद्योत ने कहा—"धर्मविश्वासी व्यक्ति को तू धर्मछल करके लाई है, यह कार्य उचित नहीं किया।" फिर चण्डप्रद्योत ने अभयकुमार से कहा—"जैसे १७ बार बिल्ली से बचने का कहने वाला तोता स्वयं बिल्ली से पकड़ा जाता है, वैसे ही नीतिज्ञ हो कर भी तुम कैसे पकड़े गए?" अभयकुमार ने कहा—"आप स्वयं बुद्धिशाली हैं, तभी तो इस प्रकार की बुद्धि से राजधर्म चलाते हैं। लज्जा और क्रोध से चण्डप्रद्योत ने अभयकुमार को राजहंस के समान काष्ठ के पींजरे में बंद कर दिया। चंडप्रद्योत के राज्य में अग्निभीरु रथ, शिवादेवी, नलगिरि हाथी, लोहजंघ लेखवाहक रत्न थे। लोहजंघ लेखवाहक को वह बार-बार भृगुकच्छ भेजा करता था। लेखवाहक के भी वहाँ बारबार आने जाने से लोग व्याकुल हो गए और उन्होंने परस्पर मंत्रणा की कि 'यह लेखवाहक दिन भर में २५ योजन की यात्रा करता है और बार बार हमें परेशान करता है, अतः किसी भी उपाय से अब इसे मार दिया जाय।' ऐसा विचार कर उन्होंने उसके रास्ते के खाने में विषमिश्रित लड्डू दिये और उसके पास से दूसरा भाता (पाथेय) आदि सभी वस्तुएँ छीन लीं। लोहजंघ चलते-चलते बहुत-सा मार्ग तय कर लेने के बाद एक नदी के किनारे भोजन करने बैठा। परन्तु उस समय अपशकुन हुआ जान कर वह बिना खाये ही आगे चल पड़ा। भूखा होने से खाने के लिए फिर वह एक जगह रुका; शकुन ने उसे इस बार भी न खाने का संकेत किया। वह बिना खाये ही सीधा चण्डप्रद्योत राजा के पास पहुंचा। और सारी आपबीती सुनाई। चण्डप्रद्योत ने अभयकुमार को बुला कर पूछा कि क्या उपाय करना चाहिए? बुद्धिशाली अभयकुमार ने थैली में रखा हुआ भोजन सूंघ कर कहा—"इसमें अमुक द्रव्य के संयोग से उत्पन्न हुआ दृष्टिविष सर्प है। अगर इस चमड़े की थैली को खोल दिया जायगा तो यह अवश्य ही जल कर भस्म हो जायगा।" अभयकुमार के कहे अनुसार सेवक को भेज कर राजा ने वह थैली जगल में उलटी करवा कर वहीं छोड़ दी। इससे वहाँ के वृक्ष जल कर भस्म हो गए और वह सर्प भी मर गया। अभयकुमार की बुद्धिकुशलता से प्रसन्न हो कर चण्डप्रद्योत ने उसे कहा "बन्धनमुक्ति के सिवाय कोई भी वरदान मांगो।" अभयकुमार ने कहा—"मेरा वरदान अभी आपके पास अमानत रहने दीजिए।"

एक दिन चण्डप्रद्योत राजा के नलगिरि हाथी ने, जिस खंभे से बंधा हुआ था, उसे जड़ से उखाड़ कर दो महावतों को जमीन पर पटक दिया। फिर मतवाला हो कर नगर में स्वच्छन्द घूमता हुआ नगरवासियों को हैरान करने लगा। राजा ने अभयकुमार से पूछा—'स्वच्छन्द हाथी को कैसे वश में किया जाय ?' अभयकुमार ने उपाय बताया कि—'अगर उदयन राजा संगीत सुनाए तो हाथी वश में हो सकता है।' वासवादत्ता नामकी पुत्री को गान्धर्व विद्या पढ़ाने के लिए कैद किये हुए उदयन ने वासवदत्ता के साथ वहां गीत गाया। नलगिरि हाथी संगीत से आकर्षित हो कर सुनने के लिए वहाँ रुका, तभी उसे मजबूत सांकल से बांध दिया। "राजा ने फिर प्रसन्न हो कर अभयकुमार से वरदान मांगने को कहा। उसे भी अभयकुमार ने अमानत के रूप में रखवा दिया।

एक बार अवन्ति में ऐसी आग लगी, जो बुझाई नहीं जा सकती थी। राजा चंडप्रद्योत ने फिर घबरा कर अभयकुमार से आग बुझाने का उपाय पूछा। अभयकुमार ने कहा 'जहर से जहर मरता है, इसी तरह आग से आग बुझती है। इसलिए आप उस आग के सामने दूसरी आग जलाओ, जिससे वह आग स्वतः बुझ जाएगी।' ऐसा ही किया गया। फलतः वह प्रचण्ड आग बुझ गई। अब क्या था, राजा ने अभयकुमार को तीसरा वरदान मांगने को कहा। वह भी उसने अमानत के रूप में रखवा दिया।

एक बार उज्जयिनी में महामारी का उपद्रव हुआ। लोग टपाटप मरने लगे। राजा ने महामारी की शान्ति के लिए अभयकुमार से उपाय पूछा तो उसने कहा—"सभी रानियां अलंकारों से सुसज्जित हो कर आपके पास अन्तःपुर में आवें, जो रानी आपको दृष्टि में जीत ले, तब उसे मुझे बताना। फिर मैं आगे का उपाय बताऊंगा।" राजा ने उसी प्रकार किया। दृष्टियुद्ध में और तो सभी रानियाँ हार गईं, किन्तु शिवादेवी ने राजा को जीत लिया। अभयकुमार को बुला कर सारी हकीकत बताई। उसने कहा—'शिवादेवी रात को स्वयं कूरबलि से भूतों की पूजा करे। जो-जो भूत सियार का रूप बना कर उठें और आवाज करें, उसके मुंह में देवी स्वयं कूरबलि डाले।" शिवादेवी ने इसी तरह किया, फलतः महामारी का उपद्रव शान्त हो गया। इससे खुश हो कर राजा ने अभयकुमार को चौथा वरदान दिया। उस समय अभयकुमार ने मांग की—'आप नलगिरि हाथी पर महावत बन कर बैठे हों और मैं शिवादेवी की गोद में बैठा होऊं और इसी स्थिति में ही अग्निभीरु रथ की लकड़ी की बनाई हुई चिता में प्रवेश करूं।" इस वरदान को देने में असमर्थ चण्डप्रद्योत राजा ने उदास हो कर हाथ जोड़ कर श्रेणिकपुत्र अभयकुमार को अपनी नगरी में जाने की आज्ञा दी। अभयकुमार ने भी जाते समय प्रतिज्ञा की—'आपने मुझे कपटपूर्वक पकड़वा कर मंगाया है, लेकिन मैं दिन-दहाड़े जोर-जोर से चिल्लाते हुए आपको नगर से ले जाऊंगा।" वहाँ से अभयकुमार राजगृह पहुंचा। और बुद्धिमान अभय ने कुछ समय राजगृही में ही शान्ति से बिताया।

एक दिन दो रूपवती गणिका-पुत्रियों को ले कर अभयकुमार एक व्यापारी के वेश में अवन्ति पहुंचा। राजमार्ग के पास ही उसने एक मकान किराये पर ले लिया। उस रास्ते से जाते हुए चण्डप्रद्योत ने एक दिन उन दोनों वेश्याओं को देखा। वेश्याओं ने भी विलास की दृष्टि से चंडप्रद्योत की ओर देखा। फलतः चण्डप्रद्योत उन पर मोहित हो गया। महल में पहुंच कर चण्डप्रद्योत ने उन दोनों गणिकाओं को समझा कर समागम की स्वीकृति के लिए दूती भेजी। परन्तु उन्होंने दूती की बात ठुकरा दी। दूसरे दिन फिर दूती ने आ कर राजा से समागम के लिए प्रार्थना की। तब भी उन दोनों ने रोष में आ कर कुछ अनादर

बताया। तीसरे दिन भी उनसे दूती ने याचना की। तब इन दोनों ने कहा—'हमारा सदाचारी भाई ही हमारा संरक्षक है। आज से सातवें दिन वह दूसरे गाँव जाएगा, तब अगर गुप्तरूप से राजा यहाँ आएगा तो समागम हो सकेगा।" दूतिका ने जा कर सारी बात चंडप्रद्योत से कही। दूती के चले जाने के बाद अभयकुमार ने चण्डप्रद्योत से मिलते-जुलते चेहरे वाले एक आदमी को पागल बनाया और उसका नाम भी चंडप्रद्योत रखा। फिर अभयकुमार लोगों से कहने लगा— 'अरे! मेरा भाई मुझे चैन से नहीं बैठने देता वह मुझे इधर-उधर घूमाता है। उसकी रक्षा की मुझ पर जिम्मेवारी है। समझ में नहीं आता, कैसे उसकी रक्षा की जाय?' अभयकुमार रोजाना उसे खाट पर सुला कर बाहर ले जाता था, मानो वह रोग से पीड़ित हो, और उसे वैद्य के यहां ले जाते हों। जब उस पागल को चौराहे से ले जाया जाता, तब वह जोर-जोर से चिल्लाता, आँसू बहाता और रोता हुआ कहता—"अरे, मैं चंडप्रद्योत हूं, मेरा अपहरण करके ले जा रहे हैं ये लोग!" ठीक सातवें दिन वहाँ गुप्तरूप से हाथी की तरह कामान्ध चण्डप्रद्योत राजा अकेला ही आया। पूर्वसंकेत के अनुसार अभयकुमार के आदमियों ने उसे बांध दिया, तब 'मैं इसे वैद्य के पास ले जा रहा हूं,' यों कहते हुए अभयकुमार ने पलंग के साथ नगर में दिन-दहाड़े चिल्लाते हुए राजा चण्डप्रद्योत का अपहरण किया। पहले से कोस-कोस पर तैयार करके रखे हुए तेज-तर्रार घोड़ों से जुने रथ में चण्डप्रद्योत को बिठा कर निर्भीक अभयकुमार उसे सीधा राजगृह ले आया। फिर चण्डप्रद्योत राजा को उसने श्रेणिक राजा के सामने प्रस्तुत किया। श्रेणिक राजा तलवार खींच कर उसे मारने दौड़ा; मगर अभयकुमार ने बीच में पड़ कर उन्हें ऐसा करने से रोका। तत्पश्चात् सम्मान करके वस्त्राभूषण दे कर प्रसन्नता से चण्डप्रद्योत राजा को छोड़ दिया।

एक बार तेजस्वी गणधर श्री सुधर्मास्वामी के पास संसार से विरक्त हो कर किसी लकड़हारे ने दीक्षा ले ली। किन्तु जब वह नगर में विचरण करता, तब नगरवासी उसकी पूर्वावस्था को याद करके जगह-जगह उसका मजाक उड़ाते और उसकी निन्दा करते। इससे क्षुब्ध हो कर उसने सुधर्मा स्वामी से कहा—"गुरुदेव! मैं यहाँ रह कर अपमान सहने में असमर्थ हूं। अतः अन्यत्र बिहार करना चाहता हूँ।" इस कारण सुधर्मास्वामी भी अन्यत्र बिहार करने की तैयारी कर रहे थे। अभयकुमार ने जब यह देखा तो उसने गणधरमहाराज से अन्यत्र बिहार करने का कारण पूछा। उन्होंने सरलता से अपने अन्यत्र बिहार का कारण बता दिया। अभयकुमार ने गणधर महाराज को वन्दना करके विनयपूर्वक प्रार्थना की— "प्रभो! एक दिन और अधिक यहाँ विराजने की कृपा करें, उसके बाद आपको जैसा उचित लगे वैसे करना।" अभयकुमार ने राज्यकोष से एक-एक करोड़ की कीमत के रत्नों के तीन ढेर निकलवा कर आम बाजार में जहाँ लोगों का आवागमन ज्यादा रहता था, वहाँ लगवा दिये और नगर में ढिंढोरा पिटवा कर घोषणा करवा दी -'नागरिको! सुनो; मुझे (अभय कुमार को) रत्नों के ये तीनों ढेर दान करने हैं।' यह सुन कर नगरनिवासियों की घटनास्थल पर भीड़ लग गई। उस भीड़ को सम्बोधित करते हुए अभयकुमार ने कहा—"प्रजाजनो! आप में से "जो सचित्त जल, अग्नि और स्त्री इन तीन चीजों का जिंदगी-भर के लिए त्याग करेगा, उसे रत्नों के ये तीनों ढेर दिये जायेंगे। बोलो है, कोई तैयार, ऐसा त्याग करने के लिए?" उपस्थित लोग कहने लगे—"मंत्रिवर! आजीवन ऐसा त्याग करना तो हमारे लिए बहुत ही कठिन है। ऐसा लोकोत्तर त्याग तो विरले ही कर सकते हैं।" इस पर अभयकुमार ने उलाहना देते हुए कहा—"यदि तुममें से कोई भी ऐसा त्याग नहीं कर सकता तो फिर तीन करोड़ मूल्य के रत्न सचित्त जल, अग्नि और स्त्री का आजीवन त्याग करके महामुनि बन जाने वाले लकड़हारे को दे दिये जांय? इस प्रकार के त्यागी साधु ही इस दान के लिए सुपात्र हैं। लेकिन हम लोग ऐसे त्यागी साधु की

व्यर्थ ही हंसी उड़ाते हैं। हमें क्या अधिकार है कि इस प्रकार का त्याग करने में अशक्त हम लोग ऐसे त्यागी का अपमान करें ? हमें उनसे क्षमा मांगनी चाहिए। आयंदा, हमें कभी इनका या किसी भी साधु का तिरस्कार, अवगणना या उपहास नहीं करना चाहिए।" इस प्रकार अभयकुमार के निवेदन पर लोगों ने उनका वचन शिरोधार्य किया और अपने-अपने स्थान पर चले गए।

इस प्रकार बुद्धि का सागर, पितृभक्ति में तत्पर, निःस्पृह, धर्मानुरागी अभयकुमार पिता के शासन को सुव्यवस्थित रूप से चलाता था; जो स्वयं धर्माचरण करता है वही जनता से धर्माचरण करा सकता है। जनता और पशु की वृत्ति नेता और पशुपालक के अधीन होती है। एक ओर, जैसे अभयकुमार ने राज्यकार्यभार स्वयं उठा कर राजा को निश्चिंत कर दिया वैसे ही दूसरी ओर, वह बारह व्रतों वाला श्रावकधर्म स्वीकार करके अप्रमत्तचित्त भी बना। जिस तरह उसने बाहर के दुर्जय शत्रुओं को जीता, वैसे ही दोनों लोक में बाधक अन्तरंग शत्रुओं को भी जीता।

एक दिन राजा श्रेणिक ने उससे कहा "वत्स ! अब इस राज्य को तुम संभालो, ताकि मैं निश्चिन्त हो कर श्रीवीर परमात्मा की सेवाभक्ति कर सकूं।" पिता की आज्ञा के भंग से और संसार परिभ्रमण से भीरु अभयकुमार ने कहा "पिताजी ! आपकी आज्ञा सुन्दर है, लेकिन कुछ समय प्रतीक्षा कीजिए।" भ० महावीर भी उन दिनों उदायन राजा को दीक्षा दे कर मरुभूमि से विहार करते हुए राजगृह पधार गए। अभयकुमार ने उनके चरणों में पहुंच कर नमस्कार किया और सर्वज्ञ तीर्थंकर प्रभु से पूछा—"प्रभो ! आपकी विद्यमानता में अन्तिम राजर्षि कौन होगा ? इसके उत्तर में भगवान् ने कहा—"उदायन को ही अन्तिम राजर्षि समझना।" अभयकुमार ने उसी समय श्रेणिक राजा के पास आ कर निवेदन किया—"पिताजी ! यदि मैं राजा बन गया तो फिर ऋषि नहीं बन सकूंगा; क्योंकि वीरप्रभु ने अन्तिम राजर्षि उदायन को बताया है। और फिर वीरप्रभु जैसे स्वामी मिले हों, और आप जैसे धर्मिष्ठ पिता मिले हों, फिर भी मैं संसार के दुःखों का छेदन न करूं तो मेरे सरीखा अधम और उन्मत्त और कौन होगा ? इसलिए पिताजी अभी तो मैं नाम से अभय हूं, मगर संसार से अत्यन्त भयभीत हूं। इसलिए मुझे आज्ञा दीजिए, ताकि त्रिभुवन को अभयदान देने वाले श्रीवीरप्रभु का आश्रय ले कर पूर्ण अभय बन जाऊं। अभिमान-वर्द्धक एवं वैषयिक सुखासक्तिकारक इस राज्य से मुझे क्या लाभ ? क्योंकि महर्षि लोग तृष्णा में नहीं, अपितु सन्तोष में सुख मानते हैं।" अभयकुमार से श्रेणिक राजा के बारबार अत्यन्त आग्रह करने पर भी जब वह राज्य ग्रहण करने को तत्पर नहीं हुआ, तब विवश हो कर श्रेणिक-राजा ने उसे दीक्षा लेने की सहर्ष अनुमति दे दी। संतोषसुखाभिलाषी अभयकुमार ने राज्य को तिनके के समान त्याग कर वैराग्यभाव से चरम तीर्थंकर महावीर प्रभु के चरणकमलों में दीक्षा अंगीकार की। सुखप्रदायक, सन्तोष के धारक श्रीअभयकुमारमुनि आयुष्य पूर्ण करके सर्वार्थसिद्ध नामक देवलोक में गये। इस प्रकार संतोषसुख का आलम्बन लेने वाला अन्य व्यक्ति भी अभयकुमार के समान उत्तरोत्तर सुख प्राप्त करता है। यह है सन्तोषव्रती अभयकुमार की जीवनगाथा।

अब प्रचलित विषय—सन्तोष की ही प्रशंसा करते हैं

सन्निधौ निधयस्तस्य कामगव्यनुगामिनी।
अमराः किंकरायन्ते संतोषो यस्य भूषणम् ॥११५॥

अर्थ

जिसके पास संतोषरूपी आभूषण है, समझ लो, पद्म आदि नौ निधियां उसके हाथ में हैं ; कामधेनु गाय तो उसके पीछे-पीछे फिरती है और देवता भी दास बन कर उसकी सेवा करते हैं।

व्याख्या

संतोषव्रती मुनि शम के प्रभाव से तिनके की नोक से रत्नराशि को गिरा सकते हैं। वे इच्छानुसार फल देने वाले होते हैं, देवता भी प्रतिस्पर्धापूर्वक उनकी सेवा के लिए उद्यत रहते हैं। इसमें कोई संशय नहीं है। संतोष के ही सम्बन्ध में कुछ श्लोकों का अर्थ यहाँ प्रस्तुत करते हैं—धन धान्य, सोना, चांदी, अन्य धातुएँ, खेत, मकान द्विपद चतुष्पद जीव; यह नौ प्रकार का बाह्य परिग्रह है। राग, द्वेष, चार कषाय, शोक, हास्य, भय, रति, अरति, जुगुप्सा, तीन वेद, और मिथ्यात्व, यह चौदह प्रकार के आभ्यन्तर परिग्रह हैं। जैसे वर्षाकाल में चूहे और पागल कुत्ते विष के प्रभाव से उपद्रवी बन जाते हैं ; वैसे ही बाह्यपरिग्रह से प्राय आभ्यन्तर परिग्रह—कषाय आदि बढ़ते हैं। परिग्रहरूपी महावायु गहनमूल वाले सुदृढ़तर वैराग्यादि महावृक्ष को भी उखाड़ फेंकता है। परिग्रह के यान पर बैठ कर जो मोक्ष पाने की अभिलाषा करता है वह सचमुच लोहे की नौका में बैठ कर समुद्र पार करने की आशा करता है। इन्धन से पैदा हुई आग जिस प्रकार लकड़ी को नष्ट कर डालती है, उसी प्रकार बाह्यपरिग्रह भी पुरुष के धैर्य को नष्ट कर डालता है। जो निर्बल व्यक्ति बाह्यपरिग्रह के सर्गों पर नियंत्रण नहीं कर सकता, वह पामर आभ्यन्तर परिग्रहरूपी सेना को कैसे जीत सकता है ? एकमात्र परिग्रह ही अविद्याओं के क्रीड़ा करने का उद्यान है ; दुःखरूपी जल से भरा समुद्र है, तृष्णारूपी महालता का अद्वितीय कन्द है। आश्चर्य है, धनरक्षा में तत्पर धनार्थी सर्वसम्बन्धों के त्यागी मुनि से भी साशंक रहते हैं। राजा, (सरकार), चोर, कुटुम्बी, आग, पानी आदि के भय से उद्विग्न धन में एकाग्र बना हुआ धनवान रात को सो नहीं पाता। दुष्काल हो या सुकाल, जंगल हो या बस्ती, सर्वत्र शंकाग्रस्त एवं भयाकुल बना हुआ धनिक सर्वत्र सर्वदा दुःखी रहता है। निर्दोष हो या सदोष निर्धन मनुष्य उपर्युक्त सभी चिन्ताओं से दूर रह कर सुख से सोता है, मगर धनिक जगत में उत्पन्न दोषों के कारण दुःखी रहता है। धन उपार्जन करने में, उसकी रक्षा करने में, उसका व्यय करने पर या नाश होने पर सर्वत्र और सर्वदा मनुष्य को दुःख ही देता है। कान पकड़ कर भालू को नचाने की तरह धन मनुष्य को नचाता है। धिक्कार है ऐसे धन को ! मांस के टुकड़े को पाने के लोभ में कुत्ते जिस प्रकार दूसरे कुत्तों से लड़ते हैं उसी प्रकार धनवान लोग स्वजनों के साथ लड़ते हैं अथवा पीड़ा पाते हैं। धन कमाऊं, उसे रखूं, उसे बढ़ाऊं, इस प्रकार अनेक आशाएँ यमराज के दांतरूपी यंत्र में फंसा हुआ भी धनिक नहीं छोड़ता। पिशाची की तरह यह धनाशा जब तक पिंड नहीं छोड़ती, तब तक मनुष्य को अनेक प्रकार की विडम्बनाएँ दिखलाती है। यदि तुम्हें सुख, धर्म और मुक्ति के साम्राज्य को पाने की इच्छा है तो आत्मा से भिन्न परपदार्थों का त्याग कर दो, केवल आशातृष्णा को अपने काबू में कर लो। आशा स्वर्ग और अपवर्ग (मोक्ष) रूपी नगर में प्रवेश को रोकने वाली एवं वज्रधाराओं से अभेद्य बड़ी भारी अर्गला है। आशा मनुष्यों के लिए राक्षसी है। वह विषमजरी है, पुरानी मदिरा है। धिक्कार है, सर्वदोषों की उत्पादक आशा को ! वे धन्य हैं, वे पुण्यवान है, और वे ही संसारसमुद्र को तरते हैं जिन्होंने जगत् को मोह में डालने वाली आशा-सर्पिणी को वश में कर लिया है। जगत् में वे ही सुख से रह सकते हैं, जिन्होंने पापलता के समान दुःख की खान, सुखनाशिनी अग्नि के समान अनेक दोषों की जननी आशा-तृष्णा को निराश कर दिया है।

तृष्णादावाग्नि की महिमा ही कुछ अलौकिक है कि यह धर्ममेघ-रूपी समाधि को तत्काल समाप्त कर देती है। तृष्णापिशाची के अधीन बना हुआ मनुष्य धनवानों के सामने दीन-हीन वचन बोलता है गीत गाता है, नृत्य करता है, हावभाव दिखाता है, उसे कोई भी लज्जाजनक काम करने में शर्म नहीं आती। बल्कि ऐसे कामों को वह अधिकाधिक करता है। जहाँ हवा भी नहीं पहुंच पाती, जहाँ सूर्य-चन्द्रमा की किरणें प्रवेश नहीं कर सकती, वहाँ उन पुरुषों की आशारूपी महातरगें बेरोकटोक पहुंच जाती हैं; जो पुरुष आशा के वश में हो जाता है, वह उसका दास बन जाता है, किन्तु जो आशा को अपने वश में कर लेता है, आशा उसकी दासी बन जाती है। आशा किसी व्यक्ति की उम्र के साथ घटने-बढ़ने वाली नहीं है। क्योंकि आदमी ज्यों-ज्यों बूढ़ा होता जाता है, त्यों त्यों उसकी आशा-तृष्णा बूढ़ी नही होती। तृष्णा इतना उत्पात मचाने वाली है कि उसके मौजूद रहते कोई भी व्यक्ति सुख प्राप्त नही कर सकता। मनुष्य का शरीर बूढा होता है, तब शरीर की चमड़ी भी ककड़ के समान सिकुड़ जाती है, काले केश सफेद हो जाते हैं; धारण की हुई माला भी मुर्झा जाती है। इस प्रकार शरीर का रंगरूप बदल जाने पर भी आशा कृतकृत्य नहीं होती। आशा ने जिस पदार्थ को छोड़ दिया, वह प्राप्त अर्थ से भी बढ़ कर हो जाता है। पुरुष जिस पदार्थ को बहुत प्रयत्न से प्राप्त करने की आकांक्षा करता है, वही पदार्थ आशा को तिलांजलि देने वाले को आसानी से प्राप्त हो जाता है। किसी का पुण्योदय जाग जाय या किसी का पुण्योदय नही है, तो भी आशा-पिशाची का पल्ला पकड़ना व्यर्थ है। जिसने आशा-तृष्णा को छोड़ कर संतोषवृत्ति धारण कर ली, वही वास्तव में पढ़ा-लिखा, पंडित, समझदार, ज्ञानी, पापभीरु और तपोधन है। संतोषरूपी अमृत से तृप्त व्यक्तियों को जो सुख है, वह पराधीन रहने वाले इधर-उधर धनप्राप्ति के लिए भागदौड़ करने वाले असंतोषी व्यक्तियों का कहाँ नसीब है? संतोषरूपी बख्तर (कवच) को धारण करने वाले पर तृष्णा के बाण कोई असर नही करते। 'उस तृष्णा को कैसे रोकूं?' इस प्रकार के पशोपश में पड़ कर घबराओ मत। करोड़ों बातों की एक बात जो मुझे एक वाक्य में कहनी है, वह यह है-- 'जिसकी तृष्णा-पिशाची शान्त हो गई है, समझो, उसने परमपद प्राप्त कर लिया। आशा की परवशता छोड़ कर परिग्रह की मात्रा कम करके अपनी बुद्धि साधुधर्म में अनुरक्त करके भावसाधुत्व के कारणरूप द्रव्यसाधुत्व अर्थात् श्रावक-धर्म में तत्पर, मिथ्यादृष्टि को त्याग कर सम्यग्दृष्टि बने हुए मनुष्य विशिष्ट व्यक्ति माने जाते हैं। और उनसे भी उत्तम होते हैं—इससे भी परिमित आरम्भ-परिग्रह वाले अन्यधर्मी जिस गति को प्राप्त करते हैं, उस गति को सोमिल के समान श्रावकधर्म का आराधक अनायास ही प्राप्त कर सकता है। महीने-महीने तक उपवासी रह कर कुश के अग्रभाग पर स्थित बिन्दु जितने आहार से पारणा करने वाला अन्यधर्मी बालतपस्वी, संतोषवृत्ति वाले श्रावक की सोलहवीं कला की तुलना नहीं कर सकता। अद्भुत तप करने वाले तामलितापस या पूरणतापस ने सुश्रावक के योग्य गति से नीचे दर्जे की गति प्राप्त की। इसलिए ऐ चेतन! तू, तृष्णापिशाची के अधीन बन कर अपने चित्त को उन्मत्त मत बना। परिग्रह की मूर्च्छा घटा कर संतोष धारण करके यतिधर्म की उत्तमता में श्रद्धा कर, जिससे तू सात-आठ भवों (जन्मों) में ही मुक्ति प्राप्त कर सकेगा।

इस प्रकार परमार्हत श्रीकुमारपाल राजा की जिज्ञासा से आचार्यश्री
हेमचन्द्रसूरीश्वररचित 'अध्यात्मोपनिषद्' नाम से पट्टबद्ध,
अपरनाम 'योगशास्त्र' का स्वोपज्ञ-विवरण-
सहित द्वितीयप्रकाश सम्पूर्ण हुआ।

ॐ अर्हते नमः

३ : तृतीय प्रकाश

गुणव्रतों का विवेचन

अणुव्रतो पर विस्तार से विवेचन करने के पश्चात् अब गुणव्रतों की व्याख्या का अवसर प्राप्त होने से प्रथम गुणव्रत का स्वरूप बताते हैं—

दशस्वपि कृता दिक्षु यत्र सीमा न लङ्घ्यते ।
ख्यातं दिग्विरतिरिति प्रथमं तद् गुणव्रतम् ॥१॥

अर्थ

जिस व्रत में दशों दिशाओं में जाने-आने के की गई सीमा (मर्यादा) का भंग न किया जाय ; वह दिग्विरति नामक पहला गुणव्रत कहलाता है ।

व्याख्या

पूर्व, आग्नेय, दक्षिण, नैऋत्य, पश्चिम, वायव्य, उत्तर, ईशान, ऊर्ध्व और अधोरूप दस दिशाएँ हैं । इन दशों दिशाओं में गमनागमन की सीमा निश्चित करना और तदनुसार नियम अंगीकार करना ; प्रथम गुणव्रत है । उत्तरगुणरूप होने से भी यह गुणव्रत कहलाता है । अथवा अणुव्रतों की रक्षा करने में गुणकारक (उपकारी) होने से दिग्विरति नामक प्रसिद्ध गुण व्रत है ।

यहाँ प्रश्न होता है कि अणुव्रतों को हिंसादि पापस्थानक की विरतिरूप कहा ; यह तो ठीक है; मगर दिग्व्रत में कौन-से पापस्थानक से निवृत्ति होती है, जिससे उसे व्रत कहा जाय ? इसके उत्तर में कहते हैं—'इस व्रत में भी हिंसादि पापस्थानकों से विरति होती है । इसी बात को स्पष्ट करते हैं—

चराचराणां जीवानां विमर्दननिवर्तनात् ।
तप्तायोगोलकल्पस्य सद्व्रतं गृहिणोऽप्यद ॥२॥

अर्थ

चारों दिशाओं में क्षेत्र को मर्यादित करने से चराचर जीवों के हिंसादि के रूप में विनाश से निवृत्ति होती है । इसलिए तपे हुए लोहे के गोले के समान गृहस्थ के लिए भी यह व्रत शुभ बताया जाता है ।

व्याख्या

चर यानी द्वीन्द्रिय आदि त्रसजीव और अचर यानी एकेन्द्रिय आदि स्थावरजीव। विभिन्न दिशाओं में मर्यादित सीमा से बाहर गमनागमन करने से वहाँ रहे हुए त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा होती है; लेकिन इस गुणव्रत के द्वारा उक्त दसों दिशाओं में गमनागमन की सीमा निश्चित कर लेने से वह बाहर रहे हुए जीवों की हिंसा से सर्वथा निवृत्त हो जाता है। हिंसा की निवृत्ति से हिंसा का प्रतिषेध तो हो ही जाता है। इस कारण गृहस्थ के लिए यह सद्व्रत ही है। हिंसा-प्रतिषेध के समान असत्य आदि दूसरे पापों से भी निवृत्ति हो जाती है। यहाँ यह शंका होती है कि इस तरह तो साधु के लिए भी दिशापरिमाण करने का प्रसंग आएगा ; इसके उत्तर में कहते है ; यह ठीक नहीं है। साधु तो आरम्भ-परिग्रह से सर्वथा मुक्त होता है गृहस्थ आरम्भ और परिग्रह से युक्त होने से वह जायेगा, चलेगा, बैठेगा, उठेगा, खायेगा, पीएगा, सोएगा या कोई भी कार्य करेगा ; वहां तपे हुए गोले के समान जीव की विराधना (हिंसा) करेगा। इसीलिए कहते है-- 'तपा हुआ लोह का गोला जहाँ भी जाएगा, वहाँ जीवों को जलाये बिना नही रहेगा ; वैसे ही प्रमादी और गुणव्रत से रहित गृहस्थ भी तपे हुए गोले के समान सर्वत्र पाप कर सकता है। परन्तु साधु समिति-गुप्ति से युक्त और महाव्रतधारी होते है ; इसलिए वे तपे हुए गोले के समान इस दोष से सम्पृक्त नहीं होते। इसलिए उन्हे दिग्विरतिव्रत ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं है।

इसके अतिरिक्त यह व्रत लोभरूपी पापस्थानक से निवृत्ति के लिए भी है। इसी बात को आगे के श्लोक मे कहते हैं —

जगदाक्रममाणस्य प्रसरल्लोभवारिधेः।
स्खलनं विदधे तेन, येन दिग्विरतिः कृता ॥३॥

अर्थ

जिस मनुष्य ने दिग्विरति (दिशापरिमाण) व्रत अंगीकार कर लिया, उसने सारे संसार पर हमला करते हुए फैले हुए लोभरूपी महासमुद्र को रोक लिया।

व्याख्या

जिस व्यक्ति ने दिग्विरतिव्रत अंगीकार कर लिया अर्थात् जिसने अमुक सीमा से आगे जाने पर स्वेच्छा से प्रतिबन्ध लगा लिया ; तब उसे स्वाभाविक ही अपनी मर्यादित क्षेत्र से बाहर स्थित सोने, चांदी, धन, धान्य आदि में प्राय: लोभ नहीं होता। अन्यथा, लोभाधीन बना हुआ मनुष्य ऊर्ध्व-लोक मे देवसम्पत्ति की, मध्यलोक में चक्रवर्ती आदि की सम्पत्ति की, और पाताललोक में नागकुमार आदि देवों की सम्पत्ति की अभिलाषा करता रहता है। तीनों लोकों के धन आदि को प्राप्त करने के मनसूबे बांधता रहता है और मन ही मन झूठा संतोष करता रहता है। इसीलिए लोभ को तीनों लोकों पर आक्रमण करने वाला बताया है। इसे समुद्र की उपमा दी है। समुद्र जैसे अनेक कल्लोलों (लहरों) से आकुल और अथाह होता है, वैसे ही लोभरूपी समुद्र भी अनेक विकल्प-कल्लोलों से परिपूर्ण है, और उसकी थाह पाना अत्यन्त कठिन है। इस प्रकार बढ़ते हुए लोभ को रोकने का काम दिग्विरतिव्रत करता है।

इस व्रत के सम्बन्ध में कुछ आन्तरश्लोक हैं, जिनका अर्थ हम नीचे दे रहे हैं—

अणुव्रती सद्गृहस्थ के लिए यह व्रत जीवनपर्यन्त के लिए होता है, कम से कम चार महीने के लिए भी यह व्रत लिया जाता है। निरन्तर सामायिक में रहने वाले, आत्मा को वश करने वाले जितेन्द्रिय पुरुषों या साधु-साध्वियों के लिए किसी भी दिशा में गमनागमन से विरति या अविरति नहीं होती। चारणमुनि ऊर्ध्वदिशा में मेरुपर्वत के शिखर पर भी, एवं तिरछी दिशा में रुचक पर्वत पर भी गमनादि क्रियाएँ करते हैं। इसलिए उनके लिए दिग्विरतिव्रत नहीं होता। जो सुबुद्धिमान व्यक्ति प्रत्येक दिशा में जाने-आने की मर्यादा कर लेते हैं; वे स्वर्ग आदि में अपार सम्पत्ति के स्वामी बन जाते हैं।

अब प्रसंगवश दूसरे गुणव्रत के सम्बन्ध में कहते हैं—

भोगोपभोगयोः संख्या शक्त्या यत्र विधीयते।
भोगोपभोगमानं तद् द्वैतीयीकं गुणव्रतम् ॥४॥

अर्थ

जिस व्रत में अपनी शारीरिक मानसिक शक्ति के अनुसार भोग्य और उपभोग्य वस्तुओं की संख्या के रूप में सीमा निर्धारित कर ली जाती है, उसे भोगोपभोगपरिमाण नामक दूसरा गुणव्रत कहा है।

अब भोग और उपभोग का स्वरूप समझाते हैं—

सकृदेव भुज्यते यः स भोगोऽन्नस्रगादिकः।
पुनः पुनः पुनर्भोग्य उपभोगोऽङ्गनादिकः ॥५॥

अर्थ

जो पदार्थ एक ही बार भोगा जाय, वह भोग कहलाता है, जैसे अन्न, जल, फूल, माला, ताम्बूल, विलेपन, उद्वर्तन, धूप, पान, स्नान आदि। और जिसका अनेक बार उपभोग किया जा सके, उसे उपभोग कहते हैं। उदाहरण के तौर पर- स्त्री, वस्त्र, आभूषण, घर, बिछौना, आसन, वाहन आदि। यह भोगोपभोगपरिमाण व्रत दो प्रकार का है—पहले में, भोगने योग्य वस्तु की मर्यादा कर लेने से होता है और दूसरे में, अभक्ष्य वस्तुओं का त्याग करने से होता है।

इसे ही निम्नलिखित दो श्लोकों में प्रस्तुत करते हैं—

मद्यं मांसं नवनीतं मधूदुम्बरपञ्चकम्।
अनन्तकायमज्ञातं फलं, रात्रौ च भोजनम् ॥६॥
आमगोरससम्पृक्तं द्विदलं पुष्पितौदनम्।
दध्यहर्द्वितयातीतं कुथितान्नं च वर्जयेत् ॥७॥

अर्थ

मद्य दो प्रकार का होता है—एक ताड़ आदि वृक्षों के रस (ताड़ी) के रूप में होता

है, दूसरा आटा, महुड़ा आदि पदार्थों को सड़ा कर बनाया जाता है, जिसे शराब कहते हैं। जलचर, स्थलचर और खेचर जीवों के भेद से मांस भी तीन प्रकार का है। मांस के साथ उससे सम्बन्धित चमड़ी, हड्डी, चर्बी, रक्त आदि भी समझ लेना। गाय, भैंस, बकरी और भेड़ इन चारों के दूध से मक्खन तैयार होता है, इसलिए चार प्रकार का मक्खन तथा मधु मक्खी, भ्रमरी और कुत्तिका इन तीनों का मधु, उदूम्बर (गुल्लर) आदि पांच अनन्तकायिक फल, अजाने फल, रात्रिभोजन, कच्चे दही-छाछ के साथ मिले हुए मूंग, चने, उड़द, मोठ आदि द्विदल (दालें), फूलन (काई) पड़े हुए चावल, दो दिन के बाद का दही, सड़ा बासी अन्न; इन सबका सेवन करना छोड़े।

अब मद्य से होने वाले कुपरिणामों (दोषों) का विवरण दस श्लोकों में प्रस्तुत करते हैं—

मदिरापानमात्रेण बुद्धिर्नश्यति दूरतः।
वैदग्धीबन्धुरस्यापि, दौर्भाग्येणेव कामिनी ॥८॥

अर्थ

जैसे चतुर से चतुर पुरुष को भी दुर्भाग्यवश कामिनी दूर से ही छोड़ कर भाग जाती है, वैसे ही मदिरा पीने मात्र से बुद्धिशाली पुरुष को भी छोड़ कर बुद्धि पलायन कर जाती है।

और भी सुनिये—

पापाः कादम्बरीपानविवशीकृतचेतसः।
जननीं वा प्रियीयन्ति जननीयन्ति च प्रिया ॥९॥

अर्थ

मदिरा पीने से चित्त काबू से बाहर हो जाने के कारण पापात्मा शराबी होश खो कर माता के साथ पत्नी जैसा और पत्नी के साथ माता-सा व्यवहार करने लगता है।

न जानाति परं स्वं वा मद्याच्चलितचेतनः।
स्वामीयति वराकः स्वं स्वामिनं किंकरीयति ॥१०॥

अर्थ

मदिरा पीने से अव्यवस्थित (चंचल) चित्त व्यक्ति अपने पराये को भी नहीं पहिचान सकता। वह बेचारा अपने नौकर को मालिक और मालिक को अपना नौकर मान कर व्यवहार करने लगता है। बेसुध होने से बेचारा दयनीय बन जाता है।

मद्यपस्य शवस्येव लुठितस्य चतुष्पथे।
मूत्रयन्ति मुखे श्वानो व्यात्ते विवरशंकया ॥११॥

अर्थ

शराब पीने वाला शराब पी कर जब मुर्दे की तरह सरेआम चौराहे पर लोटता है तो खड्डे की आशंका से उसके खुले हुए मुंह में कुत्ते पेशाब कर देते हैं।

मद्यपानरस मग्नो नग्नः स्वपिति चत्वरे ।
गुह्यं च स्वमभिप्रायं प्रकाशयति लीलया ॥१२॥

अर्थ

शराब पीने में मस्त शराबी बाजार में कपड़े अस्त-व्यस्त करके सरेआम नंगा सो जाता है और अपनी गुप्त बात को या राज्यद्रोह आदि गुप्त रखे जाने वाले अपराध को बिना ही किसी मारपीट या गिरफ्तारी के अनायास ही प्रगट कर देता है ।

वारुणीपानतो यान्ति कान्तिकीर्तिमतिश्रियः ।
विचित्राश्चित्ररचना, विलुण्ठत्कज्जलादिव ॥१३॥

अर्थ

जैसे अतिसुन्दर बनाए हुए चित्रों पर काजल पोत देने से वे नष्ट हो जाते हैं, वैसे ही मदिरापान से मनष्य की कान्ति, कीर्ति, बुद्धि-प्रतिभा और सम्पत्ति नष्ट हो जाती है ।

भूतात्तवन्नरीनर्ति रारटीति सशोकवत् ।
दाहज्वरार्त्तवद् भूमौ सुरापो लोलुठीति च ॥१४॥

अर्थ

मद्यपान करने वाला भूत लगे हुए की तरह बार बार नाचता- कूदता है, मृतक के पीछे शोक करने वाले की तरह जोर-जोर से रोता-चिल्लाता है, दाहज्वर से पीड़ित व्यक्ति की तरह इधर-उधर लोटता है, छटपटाता है ।

इसी प्रकार—

विदधत्यंगशैथिल्यं, ग्लपयतीन्द्रियाणि च ।
मूर्च्छामतुच्छां यच्छन्ती हाला हालाहलोपमा ॥१५॥

अर्थ

हलाहल जहर की तरह शराब पीने वाले के अंगों को सुस्त कर देती है, इन्द्रियों की कार्यशक्ति क्षीण कर देती है, बहुत जोर की बेहोशी पैदा कर देती है ।

विवेकः संयमो ज्ञानं सत्यं शौचं दया क्षमा ।
मद्यात्प्रलीयते सर्वं तृण्या वह्निकणादिव ॥१६॥

अर्थ

जैसे आग की एक ही चिनगारी से घास का बड़ा भारी ढेर जल कर भस्म हो जाता है; वैसे ही मद्यपान से हेयोपादेय का विवेक, संयम, ज्ञान, सत्यवाणी, आचारशुद्धरूप शौच, दया, क्षमा आदि समस्त गुण नष्ट हो जाते हैं ।

दोषाणां कारणं मद्यं, मद्यं कारणमापदाम् ।
रोगातुर इवापथ्यं, तस्मान्मद्यं विवर्जयेत् ॥१७॥

अर्थ

रुग्ण मनुष्य के लिए जैसे अपथ्य भोजन का त्याग करना जरूरी होता है ; वैसे ही चोरी, परस्त्रीगमन अनेक दोषों की उत्पत्ति के कारण तथा वध (मारपीट), बन्धन (गिरफ्तारी) आदि अनेक संकटों के कारण व जीवन के लिए अपथ्यरूप मद्य का सर्वथा त्याग करना जरूरी है ।

व्याख्या

शराब पीने से कौन-सा अकार्य (कुकृत्य) नहीं है, जिसे आदमी नहीं कर बैठता ? चोरी, जारी, शिकार, लूट, हत्या आदि तमाम कुकर्म मद्यपायी कर सकता है । ऐसा कोई कुकर्म नहीं, जिससे वह बचा रह सके । इसलिए यही उचित है कि ऐसी अनर्थ की जननी शराब को दूर से ही तिलांजलि दे दे । इस सम्बन्ध में कुछ आंतर श्लोक भी हैं, जिनका अर्थ यहाँ प्रस्तुत करते हैं —

शराब के रस में अनेक जन्तु पैदा हो जाते हैं । इसलिए हिंसा के पाप से भीरु लोग हिंसा के इस पाप से बचने के लिए मद्यपान का त्याग करें । मद्य पीने वाले को राज्य दे दिया हो, फिर भी वह असत्यवादी की तरह कहता है—नहीं दिया, किसी चीज को ले ली हो, फिर भी कहता है - नहीं ली । इस प्रकार गलत या अंटसंट बोलता है । बेवकूफ शराबी मारपीट या गिरफ्तारी आदि की ओर से निडर हो कर घर या बाहर रास्ते में सर्वत्र पराये धन को बेधड़क झपट कर छीन लेता है । शराबी नशे में चूर हो कर बालिका हो, युवती हो, बूढ़ी हो, ब्राह्मणी हो या चांडाली; चाहे जिस परस्त्री से साथ तत्काल दुराचार सेवन कर बैठता है । वह कभी गाता है, कभी लेटता है, कभी दौड़ता है, कभी क्रोधित होता है, कभी खुश हो जाता है, कभी हंसता है, कभी रोता है, कभी ऐंठ में आ कर अकड़ जाता है, कभी चरणो झुक जाता है, कभी इधर-उधर टहलने लगता है, कभी खड़ा रहता है । इस प्रकार मद्यपायी अनेक प्रकार के नाटक करता है । सुनते हैं कृष्णपुत्र शांब ने शराब के नशे में अन्धे हो कर यदुवंश का नाश कर डाला और अपने पिता की बसाई हुई द्वारिकानगरी जला कर भस्म करवा दी । प्राणिमात्र को कवलित करने वाले काल-यमराज के समान मद्य पीने वाले को बार-बार पीने पर भी तृप्ति नही होती । अन्य धर्म-सम्प्रदायों के धर्मग्रन्थों-पुराणों एवं लौकिक ग्रन्थों में मद्यपान से अनेक दोष बताए हैं और उसे त्याज्य भी बताया है । इसी मद्यनिषेध के समर्थन में कहते हैं—'एक ऋषि बहुत तपस्या करता था । इन्द्र ने उसको उग्रतप करते देख अपने इन्द्रासन छिन जाने की आशंका से भयभीत हो कर उस ऋषि को तपस्या से भ्रष्ट करने के लिए देवांगनाएँ भेजीं । देवांगनाओं ने ऋषि के पास आ कर उसे नमस्कार, विनय, मृदुवचन, प्रशसा आदि से भलीभांति खुश कर दिया । जब वे वरदान देने को तैयार हुईं तो ऋषि ने अपने साथ सहवास करने को कहा । इस पर उन देवांगनाओं ने शर्त रखी—"अगर हमारे साथ सहवास करना चाहते हों तो पहले मद्य-मांस का सेवन करना होगा ।" ऋषि ने मद्य-मांस-सेवन को नरक का कारण जानते हुए भी कामातुर हो कर मद्य-मांस का सेवन करना स्वीकार किया । अब ऋषि उन देवांगनाओं के साथ बुरी तरह भोग में लिपट गया । अपनी की-कराई सारी तपस्या नष्ट कर डाली । मद्य पीने से उसकी धर्म-मर्यादा नष्ट हो गई ; अर्थात् विषयग्रस्तता और मदान्धता से उस ऋषि ने मांस खाने के लिए बकरे को मारने आदि के सभी कुकृत्य किए । अतः पाप के मूल, नरक के

मार्ग, समस्त आपदाओं के स्थान, अपकीर्ति कराने वाले, दुर्जनों के द्वारा सेव्य एवं सर्वगुणों द्वारा निन्दित मदिरा का श्रावक को सदैव त्याग करना चाहिए।

अब मांसाहार से होने वाले दोषों का वर्णन करते हैं—

चिखादिषति यो मांसं, प्राणि प्राणापहारतः।
उन्मूलयत्यसौ मूलं, दयाख्यं धर्मशाखिनः ॥१८॥

अर्थ

प्राणियों के प्राणों का नाश किये बिना मांस मिलना सम्भव नहीं है। और जो पुरुष ऐसा मांस खाना चाहता है, वह धर्मरूपी वृक्ष के दयारूपी मूल को उखाड़ डालता है।

मांस खाने वाले भी प्राणिदया कर सकते हैं; इस प्रकार कहने वाले को समझाते हैं—

अश्नीयन् सदा मांसं, दयां यो हि चिकीर्षति।
ज्वलति ज्वलने वल्लीं स रोपयितु मिच्छति ॥१९॥

अर्थ

जो सदा मांस खाता हुआ, दया करना चाहता है, वह जलती हुई आग में बेल रोपना चाहता है। ऐसे मांसभक्षियों के हृदय में दया का होना कठिन है।

व्याख्या

यहाँ शंका प्रस्तुत की जाती है कि प्राणी का घात अलग है, और मांस-भक्षण अलग चीज है; फिर मांसभक्षक को प्राणी के प्राण-हरण का पाप कैसे लग सकता है? इसके उत्तर में कहते हैं —'भक्षक भी घातक (हिंसक) ही है, इसी बात का समर्थन करते हैं—

हन्ता पलस्य विक्रेता संस्कर्ता भक्षकस्तथा।
क्रेताऽनुमन्ता दाता च घातका एव यन्मनुः ॥२०॥

अर्थ

शस्त्रादि से घात करने वाला, मांस बेचने वाला, मांस पकाने वाला, मांस खाने वाला, मांस का खरीददार, उसका अनुमोदन करने वाला और मांस का दाता अथवा यजमान, ये सभी प्रत्यक्ष या परोक्षरूप (परम्परा) से जीव के घातक (हिंसक) ही हैं।

मनु ने मनुस्मृति के पांचवें अध्याय के ५१ वें श्लोक में यही बात कही है—

अनुमन्ता विशसिता, निहन्ता क्रयविक्रयी।
संस्कर्ता चोपहर्ता च खादकश्चेति घातकाः ॥२१॥

अर्थ

मांस खाने का अनुमोदन करने वाला, प्राणी का वध करने वाला, अंग-अंग काट कर विभाग करने वाला, मांस का ग्राहक और विक्रेता, मांस पकाने वाला, परोसने वाला, या भेंट देने वाला और खाने वाला; ये सभी एक ही कोटि के घातक (हिंसक) हैं।

इसी स्मृति के ४८ वें श्लोक में कहा है—

नाकृत्वा प्राणिनां हिंसां मांसमुत्पद्यते क्वचित् ।
न च प्राणिवधः स्वर्ग्यस्तस्मान्मांसं विवर्जयेत् ॥२२॥

अर्थ

प्राणियों का वध किये बिना मांस कहीं प्राप्त या उत्पन्न नहीं होता और न ही प्राणिवध जीवों को अत्यन्त दुःख देने वाला होने के कारण स्वर्ग देने वाला है ; अपितु वह नरक के दुःख का कारणरूप है। ऐसा सोच कर मांस का सर्वथा त्याग करना चाहिये।

व्याख्या

मांस खाने वालों के बिना प्राणिवध आदि नहीं होता। इस कारण, मांस खाने वाला अधिक पापी है। 'अपने जीवन के लिए, जो अपने मांस (शरीर) की पुष्टि के लिए तो दूसरे का मांस खाता है, वही तो घातक है, खाने वालों को मांस मुहैया करने के लिए जीववध करने वाला, या बेचने वाला, पकाने वाला आदि घातक कैसे कहे जा सकते हैं ?' इस कथन के उत्तर में युक्तिपूर्वक कहते हैं—खाने वालों के बिना वध करने वाला वध नहीं करता। इस दृष्टि से मांसभक्षक को वध करने वाले आदि से बढ़कर बड़ा पापी कहा गया है। क्योंकि मांसभोजन से अपने मांस को पुष्ट करने वाला, अपनी जिह्वातृप्ति करने वाला, मांस पर क्षणिक जीवन चलाने वाला, दूसरे कितने ही प्राणियों के प्राणहरण करता है। कहा भी है—'दूसरे जीवों को मार कर जो अपने को प्राणवान बनाता है, वह थोड़े ही दिनों में अपनी आत्मा का विनाश कर लेता है। और अपने एक अल्पजीवन के लिए बहुत से जीवसमूह को मार कर दुःख का भागी बनाता है ; क्या वह यह समझता है कि मेरा जीवन अजर-अमर रहेगा ?

इसी बात को भर्त्सनासहित कहते हैं—

मिष्टान्नान्यपि विष्टासादमृतान्यपि मूत्रसात् ।
स्यु र्यस्मिन्नङ्गकस्याऽस्य कृते कः पापमाचरेत् ॥२४

अर्थ

जिस शरीर में चावल, मूंग, उड़द, गेहूं आदि का स्वादिष्ट भोजन ; यहाँ तक कि विविध प्रकार के मिष्टान्न भी आखिर विष्टारूप बन जाते हैं और दूध आदि अमृतोपम सुन्दर पेयपदार्थ भी मूत्ररूप बन जाते हैं। अतः इस अशुचिमय (गंदे घिनौने) शरीर के लिए कौन ऐसा समझदार मनुष्य होगा, जो हिंसा आदि पापाचरण करेगा ?

मांसभक्षण में दोष नहीं है, ऐसा कहने वालों का खण्डन करते हैं—

मांसाशने न दोषोऽस्तीत्युच्यते यैर्दुरात्मभिः ।
व्याध-गृध्र-वृकव्याघ्रशृगालास्तैर्गुरूकृताः ॥२५॥

अर्थ

मांसभक्षण में कोई दोष नहीं है, ऐसा जो दुरात्मा कहते हैं, उन्होंने पारधी (बहेलिया), गीध, भेड़िया, बाघ, सियार आदि को गुरु बनाया होगा !

व्याख्या

'जो दुरात्मा स्वाभाविक रूप से कहते हैं कि' 'मांस खाने में कोई दोष नहीं है।' जैसे कि कहा है—मांसभक्षण करने में, शराब पीने में, मैथुनसेवन में कोई दोष नहीं है, यह तो जीव की प्रवृत्ति है, जो उसकी निवृत्ति करते हैं, वे महाफलसम्पन्न हैं। इस प्रकार का कथन करने वालों ने सचमुच शिकारी, गीध, जंगली कुत्ता, शृगाल, आदि को गुरु बनाया होगा ; अर्थात् उनसे उपदेश लिया होगा। व्याघ्र आदि गुरु के बिना और कोई इस प्रकार की शिक्षा या उपदेश दे नहीं सकते। महाजनों के पूज्य तो ऐसा उपदेश देते नहीं। वे तो कहते हैं—निवृत्ति महाफला है, प्रवृत्ति तो दोषयुक्त है। 'प्रवृत्ति दोषयुक्त नहीं होती', इस वचन का तो वह स्वयंमेव विरोध करता है। इस विषय में अधिक क्या कहें ?

अब ऊपर बताये हुए (मनुस्मृति अ० ५ श्लोक ५५) से भी मांस त्याज्य है, इसे बताते हैं—

मां स भक्षयितामुत्र, यस्य मांसमिहाद्म्यहम् ।
एतन्मांसस्य मांसत्वं, निरुक्तं मनुरब्रवीत् ॥२६॥

अर्थ

मनु ने भी मांसशब्द की इसी प्रकार (निरुक्त किया) व्युत्पत्ति की है—मां स= जिसका मांस में इस जन्म में खाता हूं, स अर्थात् वह, मां=मुझे पर (अगले) जन्म में खाएगा; यही मांस का मांसत्व है।

अब मांसाहार में महादोष का वर्णन करते हैं—

मांसास्वादनलुब्धस्य, देहिन देहिनं प्रति ।
हन्तुं प्रवर्तते बुद्धिः, शाकिन्या इव दुर्धियः ॥२७॥

अर्थ

मांस के आस्वादन में लोलुप बने हुए दुर्बुद्धि मनुष्य की बुद्धि शाकिनी की तरह जिस किसी जीव को देखा, उसे ही मारने में प्रवृत्त हो जाती है।

व्याख्या

जिस प्रकार शाकिनी जिस-जिस पुरुष, स्त्री, या अन्य जीव को देखती है, उसकी बुद्धि उसे मारने की होती है, उसी प्रकार मांस के स्वाद में लुब्ध बना हुआ कुबुद्धि मनुष्य मछली आदि जलचर; हिरन, सूअर, बकरा आदि स्थलचर; तीतर, बटेर आदि खेचर ; अथवा चूहा, सांप आदि उरपरिसर्प को भी मार डालने की बुद्धि होती है। यानी उस दुर्बुद्धि की बुद्धि मारने आदि बुरे काम में ही दौड़ती है, अच्छे कार्यों में नहीं दौड़ती। वह खाने लायक उत्तमोत्तम पदार्थों को छोड़ कर मांस, रक्त, चर्बी, आदि गदी रद्दी चीजों को खाने में ही लगती है।

इसी बात को कहते हैं—

ये भक्षयन्ति पिशितं, दिव्यभोज्येषु सत्स्वपि ।
सुधारसं परित्यज्य भुञ्जते ते हलाहलम् ॥२८॥

अर्थ

दिव्य (सात्त्विक) भोज्य पदार्थों के होते हुए भी जो मांस खाते हैं, वे सुधारस को छोड़ कर हलाहल जहर खाते हैं।

व्याख्या

समस्त धातुओं को पुष्ट करने वाला, सर्वेन्द्रिय-प्रीतिकारक दूध, खीर, खोआ, बर्फी, पेड़ा, श्रीखंड, दही, मोदक मालपूआ, घेवर, तिलपट्टी, बड़ी पूरणपोली, बड़े, पापड़, ईख, शक्कर, किशमिश, बादाम, अखरोट, काजू, आम, केला, कटहल, दाड़िम, नारंगी, चीकू, टमाटर, खजूर, खिरनी, अंगूर आदि अनेक दिव्य खाद्यपदार्थ होते हुए भी उन्हें ठुकरा कर जो मूर्ख बदबूदार, घिनौने, देखने में खराब, वमनकारक, सूअर आदि का मांस खाता है, वह वास्तव में जीवनरसवर्द्धक अमृतरस को छोड़ कर जीवन का अन्त करने वाले हलाहल जहर का पान करता है। छोटा-सा बालक भी इतना विवेकी होता है कि वह पत्थर को छोड़ कर सोने को ग्रहण कर लेता है। मांसभक्षण करने वाले तो उस बालक से भी बढ़कर अविवेकी और नादान हैं।

प्रकारान्तर से मांसभक्षण के दोष बतलाते हैं—

न धर्मो निर्दयस्यास्ति, पलादस्य कुतो दया।
पललुब्धो न तद्वेत्ति, विद्याद् वोपदिशेन्नहि ॥२९॥

अर्थ

निर्दय व्यक्ति के कोई धर्म नहीं होता, मांस खाने वालों में दया कहाँ से हो सकती है? क्योंकि मांसलोलुप व्यक्ति धर्म को तो जानता ही नहीं। अगर जानता है तो उस प्रकार के धर्म का उपदेश नहीं देता।

व्याख्या

धर्म का मूल दया है। इसलिए दया के बिना धर्म हो नहीं सकता। मांस खाने वाला जीव हिंसा करता है, इस कारण उसमें दया नहीं होती। अतः उसमें अधर्मत्व नामक दोष लागू होता है। यहाँ प्रश्न होता है—"चेतनायुक्त पुरुष अपनी आत्मा में धर्म के अभाव को कैसे सहन कर सकता है? इसके उत्तर में कहते हैं—मांसलोलुप व्यक्ति को दया या धर्म किसी भी बात का भान नहीं होता। कदाचित् उसे इस बात का ज्ञान भी हो तो भी वह मांस छोड़ नहीं सकता। वह मन में यों ही सोचा करता है—'सभी मेरे समान मांसाहारी हों; अजिनक की तरह अपनी आदत का चेप दूसरों को लगाने वाला व्यक्ति दूसरों को मांसत्याग का उपदेश दे नहीं सकता है? सुनते हैं, अजिनक नाम का एक पथिक कहीं जा रहा था कि रास्ते में अचानक एक सर्पिणी ने उसे डस लिया। उसने सोचा कि यह मेरी तरह दूसरे को भी डसे, इस लिहाज से उसने किसी भी पथिक से नहीं कहा कि इस रास्ते में सर्पिणी डस जाती है। फलतः दूसरे अनजान पथिक को उसी सर्पिणी ने डसा। उसने भी किसी से नहीं कहा। फलतः तीसरे, चौथे, पांचवें, छठे और सातवें आदमी को भी क्रमशः उसी सर्पिणी ने डसा। इसी तरह मांसभोजी भी मांसाहार के पाप से स्वयं तो नरक में जाता ही है, दूसरों को भी नरक में ले जाता है। 'दुरात्मा स्वयं नष्ट होता है, दूसरे का भी नाश करता है।' इस दृष्टि से वह दूसरों को उपदेश दे कर मांसाहार से रोकता नहीं।

अब मांसभक्षकों की मूर्खता बताते हैं—

केचिन्मांसं महामोहादश्नन्ति न परं स्वयम् ।
देवपित्रतिथिभ्योऽपि कल्पयन्ति यदूचिरे ॥३०॥

अर्थ

कितने ही लोग महामूढ़ता से केवल स्वयं ही मांस खाते हों, इतना ही नहीं, बल्कि देव, पितर आदि पूर्वजों और अतिथि को भी कल्पना करके (पूजा आदि की दृष्टि से) मांस देते या चढ़ाते हैं। क्योंकि उनके मान्य शास्त्रों (मनुस्मृति अ. ५ श्लोक ३२) में उसे धर्म बता रखा है। वही प्रमाण उद्धृत करते हैं—

क्रीत्वा स्वयं वाऽप्युत्पाद्य, परोपहृतमेव वा ।
देवान् पितॄन् समभ्यर्च्य, खादन् मांसं न दुष्यति ॥३१॥

अर्थ

स्वयं मांस खरीद कर, अथवा किसी जीव को मार कर स्वयं उत्पन्न करके, या दूसरों से (भेंट में) प्राप्त करके उस मांस से देव और पितरों की पूजा करके (देवों और पितरों के चढ़ा कर) बाद में उस मांस को खाता है तो वह व्यक्ति मांसाहार के दोष से दूषित नहीं होता।

व्याख्या

मांस की दूकान से खरीदे हुए मांस को देवपूजा किये बिना उपयोग में नहीं ले सकता। इसलिए कहा कि शिकार से, जाल से, या पक्षी को पकड़ने वाले बहेलिये से, मृग या पक्षियों का मांस खरीद कर या स्वय हिंसादि करके मांस उत्पन्न कर, अथवा ब्राह्मण से मांग कर या फिर क्षत्रिय द्वारा शिकार करके दिया हो अथवा दूसरे ने भेंट दिया हो; उस मांस से देवों और पितरों की पूजा कर लेने के बाद में खाए तो मांसभक्षण का दोष नहीं लगता। यह कथन कितना अज्ञानतापूर्ण है! हमने पहले ही इस बात का खण्डन करके समझाया है कि प्राणियों के घात से उत्पन्न होने के कारण मांस को स्वयं खाना अनुचित है तो फिर उसे देवता को चढ़ाना तो और भी अनुचित है। क्योंकि देवताओं ने तो पूर्वसुकृत पुण्य के योग से धातुरहित वैक्रिय शरीर धारण किया है, वे ग्रासाहारी (कौर लेकर आहार करने वाले) नहीं होते, तो फिर वे मांस कैसे खा सकते हैं ? जो मांस नहीं खाते हैं, उनके सामने मांस चढ़ाने की कल्पना करने से क्या लाभ ? यह तो अज्ञानता ही है। पितर आदि पूर्वज अपने-अपने सुकृत या दुष्कृत के अनुसार गति प्राप्त करते हैं, कर्मानुसार फल भोगते हैं, वे पुत्र आदि के सुकृत से तर नहीं सकते, पुत्र आदि के द्वारा किये गये सुकृत—पुण्य का फल उन्हें नहीं मिल सकता। आम के पेड़ को सींचने से नारियल या दूसरे पेड़ों में फल नहीं लग सकते। पूजनीय या आदरणीय अतिथि को नरक में ले जाने का कारणभूत मांस देना उनके व अपने लिए महान अधर्म का हेतु होता है। इस तरह की प्रवृत्ति महामूढ़ता से भरी हुई है। कदाचित् कोई कहे कि "श्रुतियों या स्मृतियों में ऐसा विधान (मांस खाना जायज) है, इसलिए उसमें शंका नहीं करना चाहिए और न उसका खण्डन ही करना चाहिए।" इसका निराकरण करते हुए कहते हैं—अप्रमाणिक श्रुति-वचनों पर श्रद्धा ही कैसे की जा सकती है ? जिस श्रुति

में ऐसा वचन सुना जाता है कि 'गाय का स्पर्श करने से पापनाश हो जाता है; वृक्षों को छेदन करने से पूजने से, बकरे चिड़िया आदि पशुपक्षियों का वध करने से स्वर्ग मिलता है; ब्राह्मण को भोजन देने से पितर आदि पूर्वजों की तृप्ति होती है; कपट करने वाले देव भी आप्त है, अग्नि में होमा हुआ हवि देवों को प्रीतिकारक होता है।' इस प्रकार के असंगत विधानों या श्रुतिवचनों पर युक्तिकुशल पुरुष कैसे विश्वास कर सकता है ? कहा भी है—विष्ठा खाने वाली गाय का स्पर्श करने से पापों का नाश हो जाता है, अज्ञानी वृक्ष पूजनीय हैं, बकरे के वध से स्वर्ग मिलता है, ब्राह्मण को भोजन करवाने से पितृज (पितर) तृप्त हो जाते हैं, कपट करने वाले देव आप्त माने जाते हैं, अग्नि में किया हुआ हवन देवों को पहुंच जाता है; इत्यादि वचनों से न जाने, श्रुति की निःसारवाणी की कैसी लीला है ? इस कारण मांस से देवपूजा आदि का तथाकथित शास्त्र में जो विधान है, वह अज्ञानमय है। थोड़े में ही समझ लें। अधिक विस्तारपूर्वक कहने से क्या लाभ ?

कोई यह शंका कर सकता है कि मंत्र से संस्कारित होने से अग्नि जलाती या पकाती नहीं है, तथा वह मांस भी मंत्र-संस्कृत होने से दोषकारक नहीं होता। मनु ने कहा है कि शाश्वत वेदविधि में आस्था रखने वाले को मंत्र से संस्कारित किये बिना किसी भी प्रकार पशुभक्षण नहीं करना चाहिए, अपितु मंत्रों से संस्कारित मांस का भक्षण करना चाहिए। इसी बात का खण्डन करते हैं—

मंत्रसंस्कृतमप्यद्यं यवाल्पमपि नो पलम् ।
भवेज्जीवितनाशाय हालाहललवोऽपि हि ॥३२॥

अर्थ

मंत्रों से सुसंस्कृत हो जाने पर भी जौ के दाने जितना भी मांस नहीं खाना चाहिए। क्योंकि हलाहल विष की एक बूंद भी तो जीवन को समाप्त ही कर देती है।

व्याख्या

मांस भले ही मंत्रों से पवित्र किया हुआ हो, किन्तु जौ के दाने जितना जरा-सा भी खाने लायक नहीं है। जैसे अग्नि की दहन (जलाने की) शक्ति को मन्त्र नहीं रोक सकता, वैसे ही मांस (चाहे मंत्रसंस्कृत हो) नरकादिगति को प्राप्त कराने वाली शक्ति को रोक नहीं सकता। यदि ऐसा (मन्त्रों से ही पापनाश) हो जाय तो फिर कोई भी व्यक्ति सभी प्रकार के घोर पाप करके तथाकथित पापनाशक मंत्रों का ही बार-बार जप करके पापों से छुटकारा पा लेगा; कृतार्थ हो जायेगा। अगर मंत्रों से ही समस्त पाप नष्ट हो जांय तो फिर पापों का निषेध करना भी व्यर्थ है। इसलिए जिस प्रकार थोड़ी-सी मदिरा पी लेने से भी नशा चढ़ जाता है; वैसे ही थोड़ा-सा भी मांस खा लेने पर भी पापकर्म का बन्धन हो जाता है। इसीलिए कहा है "जहर की थोड़ी सी बूंदें भी जीवन को समाप्त कर देती हैं, वैसे ही जौ के दाने जितना मांस भी दुर्गति में ले जाता है।

अब मांस से होने वाले महादोष बता कर उपसंहार करते हैं—

सद्यः सम्मूर्छितानन्तजन्तुसन्तानदूषितम् ।
नरकाध्वनि पाथेयं कोऽश्नीयात् पिशितं सुधीः ॥३३॥

अर्थ

जीव का वध करते ही तुरंत उसमें निगोदरूप अनन्त सम्मूर्च्छिम जीव उत्पन्न हो जाते हैं, और उनकी बार-बार उत्पन्न होने की परम्परा चालू ही रहती है। आगमों में बताया है—"कच्चे या पकाये हुए मांस में या पकाते हुए मांसपेशियों में निगोद के सम्मूर्च्छिम जीवों की निरन्तर उत्पत्ति होती रहती है।' इसलिए इतनी जीवहिंसा से दूषित मांस नरक के पथ का पाथेय (भाता) है। इस कारण कौन सुबुद्धिशाली व्यक्ति मांस को खा सकता है?

व्याख्या

इससे सम्बन्धित कुछ उपयोगी श्लोकार्थ प्रस्तुत करते हैं—"मांसभक्षण करने की बात वही करता है, जो मर्यादाओं को तिलांजलि दे बैठा हो, अल्पज्ञ हो, नास्तिक हो, कुशास्त्र-रचयिता हो, मांस-लोलुप हो या ढीठ हो। वास्तव में उसके समान कोई निर्लज्ज नहीं है, जो नरक की आग के इंधन बनने वाले अपने मांस को दूसरों के माम से पुष्ट करना चाहता है। घर का वह सूअर अच्छा, जो मनुष्य की फेंकने योग्य विष्टा को खा कर अपनी काया का पोषण करता है, मगर प्राणिघात करके दूसरे के मांस जो अपने अंगों को बढ़ाता है, वह निर्दय आदमी अच्छा नहीं है। जो मनुष्य को छोड़ कर शेष सभी जीवों के मास को भक्ष्य बताते हैं, उनके बारे में मुझे ऐसी शंका होती है कि उसे अपने वध का भय लगा है। जो मनुष्यमांस और पशुमांस में कोई अन्तर नहीं मानता, उसमे बढ़कर कोई अधार्मिक नहीं है, न उसके जैसा कोई महापापी है, जो पशु का मांस खाता है। नर के वीर्य से और मादा के रुधिर (रज) से उत्पन्न, विष्ठा के रस से संवर्धित, जमे हुए रक्तयुक्त मांस को कृमि के सिवाय और कौन खा सकता है? आश्चर्य है, द्विज ब्राह्मण शौचमूलक धर्म बताते हैं, फिर भी वे अधर्ममूलक, सप्त धातुओं से उत्पन्न, (गंदे) मांस को खाते हैं। जो घास खाने वाले पशुओं के मांस और अन्न को एक सरीखा मानते हैं, उनके लिए मृत्यु देने वाला विष और जीवनदायी अमृत दोनों बराबर हैं। जो जड़ात्मा अज्ञानी यह मानते हैं कि जैसे चावल भी एकेन्द्रिय जीव का अंग है, वैसे ही मांस भी जीव का अंग है, इसलिए सत्पुरुषों को चावल की तरह मांस खा लेना चाहिए, तो फिर वे जड़बुद्धि अज्ञ, गाय से उत्पन्न हुए दूध के समान गाय के मूत्र को क्यों नहीं पीते? चावल आदि में प्राणियों के अंग के समान मांस, रक्त, चर्बी आदि अभक्ष्य पदार्थ नहीं हैं, जबकि मास में ये सब अभक्ष्य पदार्थ है। इसलिए ओदन आदि भक्ष्य हैं, जब कि मांसादि अभक्ष्य हैं। जैसे पवित्र शंख और जीव के अंग की हड्डी आदि एक समान नहीं माने जाते, वैसे ही ओदनादि अभक्ष्य नहीं माने जाते। जो पापी अंग अंग सभी समान हैं, यह कह कर मांस और ओदन को समान मानता है, वह स्त्री स्त्री सभी समान हैं, ऐसा मान कर अपनी माता और पत्नी में समान व्यवहार की कल्पना क्यों नहीं करता? एक भी पंचेन्द्रिय जीव का वध करने से या उसका मांस-भक्षण करने से जैसे नरकगति बताई है, वैसे अनाज आदि (एकेन्द्रिय) के भोजन करने वाले को नरक-गति नहीं बताई है। रस और रक्त को विकृत करने वाला मांस अन्न नहीं हो सकता। इसलिए मांस नही खाने वाला अन्नभोजी पापी नहीं हो सकता। अन्न पकाने में एकेन्द्रिय जीव का ही वध होता है, जो देशविरतिश्रावक के व्रत में इतना बाधक नहीं है। मांसाहारी की गति का विचार करते हुए अन्नाहार में संतोष मानने वाले उच्च जैनशासनप्रेमी गृहस्थ भी उच्चकोटि की दिव्य सम्पत्तियाँ प्राप्त करते हैं।

अब प्रसंगवश नवनीत (मक्खन) भक्षण में दोष बताते हैं—

अन्तमुहूर्तात् परतः सुसूक्ष्मजन्तुराशयः ।
यत्र मूर्च्छन्ति तन्नाद्यं नवनीतं विवेकिभिः ।।३४।।

अर्थ

जिसमें अन्तमुहूर्त के बाद अतिसूक्ष्म जन्तुसमूह सम्मूच्छिमरूप से उत्पन्न होता है, वह मक्खन विवेकी पुरुषों को नहीं खाना चाहिए ।

इसी बात पर विचार करते हैं—

एकस्यापि हि जीवस्य हिंसने कियदघं भवेत् ।
जन्तुजातमयं तत्को नवनीतं निषेवते ?।।३५।।

अर्थ

एक भी जीव का वध करने में कितना अधिक पाप लगता है ? उसे कहना दुःशक्य है, तो फिर अनेक जन्तुओं के पिंडमय नवनीत का सेवन कौन विवेकी कर सकता है ?

अब क्रमशः मधु-सेवन में दोष बताते हैं—

अनेकजन्तुसंघातनिघातात् समुद्भवम् ।
जुगुप्सनीयं लालावत् कः स्वादयति माक्षिकम्?।।३६।।

अर्थ

अनेक जन्तु-समूह के विनाश से तैयार हुए और मुंह से टपकने वाली लार के समान घिनौने मक्खी के मुख की लार से बने हुए शहद को कौन विवेकी पुरुष चाटेगा ? उपलक्षण से यहाँ भौंरे आदि का मधु भी समझ लेना चाहिए ।

अब मधु-भक्षक को निन्दनीय बताते हैं—

भक्षयन् माक्षिकं क्षुद्रजन्तुलक्षक्षयोद्भवम् ।
स्तोकजन्तुनिहन्तृभ्यः शौनिकेभ्योऽतिरिच्यते ।।३७।।

अर्थ

जिनके हड्डियाँ न हों, ऐसे जीव क्षुद्रजन्तु कहलाते हैं, अथवा तुच्छ हीन जीव भी क्षुद्र माने जाते हैं। ऐसे लाखों क्षुद्रजन्तुओं के (धुंआ करने से होने वाले) विनाश से उत्पन्न हुए मधु का सेवन करने वाला आदमी थोड़े-से पशु को मारने वाले कसाई[1] से बढ़कर पापात्मा है। भक्षण करने वाला भी उत्पादक की तरह घातक है, यह बात पहले कह दी गई है।

झूठा भोजन त्याज्य है, यह बात लौकिक शास्त्रों में भी कही है। इस दृष्टि से मधु भी मक्खियों का उच्छिष्ट होने से ऐंठ के समान त्याज्य है, इस बात को कहते हैं—

एकैक—कुसुमक्रोडाद् रसमापीय माक्षिकाः ।
यद्वमन्ति मधूच्छिष्टं तदश्नन्ति न धार्मिकाः ॥३८॥

अर्थ

एक-एक फूल पर बैठ कर उसके मकरन्दरस को पी कर मधुमक्खियां उसका वमन करती हैं, उस वमन किये हुए उच्छिष्ट मधु (शहद) का सेवन धार्मिक पुरुष नहीं करते। लौकिक व्यवहार में भी पवित्र भोजन ही धार्मिक पुरुष के लिए सेवनीय बताया है।

यहाँ शंका प्रस्तुत की जाती है—मधु तो त्रिदोष शान्त करता है। रोग-निवारण के लिए इससे बढ़ कर और कोई औषधि नहीं है। तब फिर इसके सेवन में कौन-सा दोष है? इसके उत्तर में कहते हैं—

अप्यौषधकृते जग्धं मधु श्वभ्रनिबन्धनम् ।
भक्षित प्राणनाशाय कालकूटकणोऽपि हि ॥३९॥

अर्थ

रसलोलुपता की बात तो दूर रही, औषध के रूप में भी रोगनिवारणार्थ मधुभक्षण पतन के गर्त में डालने का कारण है। क्योंकि प्रमादवश या जीने की इच्छा से कालकूटविष का जरा-सा कण भी खाने पर प्राणनाशक होता है।

यहाँ पुनः एक प्रश्न उठाया जाता है कि 'खजूर, किशमिश आदि के रस के समान मधु मधुर, स्वादिष्ट और समस्त इन्द्रियों को आनन्ददायी होने से उसका क्यों त्याग किया जाय? इसके उत्तर में कहते हैं—

मधुनोऽपि हि माधुर्यमबोधैरहहोच्यते ।
आसाद्यन्ते यदास्वादाच्चिरं नरकवेदनाः ॥४०॥

अर्थ

यह सच है कि मधु व्यवहार से प्रत्यक्ष में मधुर लगता है। परन्तु पारमार्थिक दृष्टि से नरक-सी वेदना का कारण होने से अत्यन्त कड़वा है। खेद है, परमार्थ से अनभिज्ञ अबोधजन ही परिणाम में कटु मधु को मधुर कहते हैं। मधु का आस्वादन करने वाले को चिरकाल तक नरकसम वेदना भोगनी पड़ती है।

मधु पवित्र होने से देवों के अभिषेक के लिए उपयोगी है; ऐसे मानने वाले की हंसी उड़ाते हैं—

मक्षिकामुखनिष्ठ्यूतं जन्तुघातोद्भवं मधु ।
अहो पवित्रं मन्वाना देवस्नानं प्रयुञ्जते ॥४१॥

अर्थ

अहो! आश्चर्य है कि मधुमक्खी के मुंह से वमन किये हुए और अनेक जन्तुओं की हत्या से निष्पन्न मधु को पवित्र मानने वाले लोग शंकर आदि देवों के अभिषेक में इसका

उपयोग करते हैं। भाई ! यह तो ऐसा ही है, ऊंटों के विवाह में कोई गधा संगीतकार बन कर आया हो और वह ऊंट के रूप की प्रशंसा करता हो और ऊंट करता हो गधे के स्वर की प्रशंसा ! इस प्रकार दोनों एक दूसरे की प्रशंसा करते हों, वैसा ही उक्त कथन है।

अब क्रमानुसार पांच उदुम्बर-सेवन के दोष बतलाते हैं—

उदुम्बर-वट-प्लक्षकाकोदुम्बरशाखिनाम् ।
पिप्पलस्य च नाश्नीयात्, फलं कृमिकुलाकुलम् ॥४२॥

अर्थ

उदुम्बर (गुल्लर), बड़, अंजीर और काकोदुम्बर (कठूमर) पीपल ; इन पांचों वृक्षों के फल अगणित जीवों (के स्थान) से भरे हुए होते हैं। इसलिए ये पांचों ही उदूम्बरफल त्याज्य हैं।

व्याख्या

उदुम्बर शब्द से पांचों ही प्रकार के वृक्ष समझ लेना चाहिए गुल्लर, बड़, पीपल (प्लक्ष), पारस पीपल, कठूमर, लक्षपीपल (लाख) इन पांचों प्रकार के वृक्षों के फल नहीं खाने चाहिए ; क्योंकि एक फल में ही इतने कीट होते हैं, जिनकी गिनती नहीं की जा सकती। लौकिक शास्त्र में भी कहा है "उदुम्बर के फल मे न जाने कितने जीव स्थित होते हैं और पता नहीं, वे कहाँ से कैसे प्रवेश कर जाते हैं? यह भी कहना कठिन है कि इस फल को काटने पर, टुकड़े-टुकड़े करने पर, चूर-चूर करने पर, या पीसने पर अथवा छन्ने से भली-भांति छान लेने पर या अलग-अलग कर लेने पर भी उसमें रहे हुए जीव जाते (मर जाते) हैं या नहीं ! अब पांचो उदुम्बरफलों के त्यागरूप में नियम लेने वाले की प्रशंसा करते हैं—

अप्राप्नुवन्नन्यभक्ष्यमपि क्षामो बुभुक्षया ।
न भक्षयति पुण्यात्मा पञ्चोदुम्बरजं फलम् ॥४३॥

अर्थ

जो पुण्यात्मा (पवित्र पुरुष) व्रतपालक सुलभ धान्य और फलों से समृद्ध देशकाल में पांच उदुम्बरफल खाना तो दूर रहा ; विषम (दुर्भिक्ष पड़े हुए) देश और काल में भक्ष्य अन्न, फल आदि नहीं मिलते हों, कड़ाके की भूख लगी हो ; भूख के मारे शरीर कृश हो रहा हो, तब भी पंचोदुम्बरफल नहीं खाते, वे प्रशंसनीय हैं।

अब क्रमप्राप्त अनन्तकाय के सम्बन्ध में तीन श्लोकों में कहते हैं—

आर्द्र-कन्दः समग्रोऽपि सर्वः किशलयोऽपि च ।
स्नुही लवणवृक्षत्वक् कुमारी गिरिकर्णिका ॥४४॥
शतावरी, विरूढानि गुडूची कोमलाम्लिका ।
पल्यंकोऽमृतवल्ली च वल्लः शूकरसंज्ञितः ॥४५॥
अनन्तकायाः सूत्रोक्ता अपरेऽपि कृपापरैः ।
मिथ्यादृशामविज्ञाता वर्जनीयाः प्रयत्नतः ॥४६॥

अर्थ

समस्त हरे कन्द, सभी प्रकार के नये पल्लव (पत्ते), थूहर, लवणवृक्ष की छाल, कुंआरपाठा, गिरिकर्णिका लता, शतावरी, फूटे हुए अंकुर, द्विदल वाले अनाज, गिलोय, कोमल इमली, पालक का साग, अमृतबेल, शूकर जाति के वाल, इन्हें सूत्रों में अनन्तकाय कहा है। और भी अनन्तकाय हैं, जिनसे मिथ्यादृष्टि अनभिज्ञ हैं, उन्हें भी दयापरायण श्रावकों को यतनापूर्वक छोड़ देना चाहिए।

व्याख्या

सभी जाति के कन्द सूख जाने पर निर्जीव होने से अनन्तकाय नहीं होते। कन्द का आमतौर पर अर्थ है—वृक्ष के थड़ के नीचे जमीन में रहा हुआ भाग। वह सब हरा कन्द अनन्तकाय होता है। कुछ नाम यहाँ गिनाये जाते हैं—सूरण कन्द, अदरक, हलदी, वज्रकन्द, लहसुन, नरकचूर, कमलकन्द, हस्तिकन्द, मनुष्यकन्द, गाजर, पद्मिनीकन्द, कसेरू, मोगरी, मूथा, आलू, प्याज, रतालु आदि। किशलय से प्रत्येकवनस्पति के कोमल पत्ते और बीज में से फूटा हुआ प्रथम अंकुर ; ये सभी अनन्तकाय हैं। थूहर या लवण नामक वृक्ष की सिर्फ छाल ही अनन्तकाय है, उसके दूसरे अवयव अनन्तकाय नहीं हैं। कुंआर-पाठा, अपराजिता लताविशेष शक्तिवर्द्धक शतावरी नाम की औषधि, अंकुर फूटे हुए अनाज, जैसे चना मूंग आदि ; प्रत्येक किस्म की गड़ूची (गिलोय), जो नीम आदि के पेड़ पर लगी होती है, और खास कर औषधि के काम में आती है, कोमल इमली, पालक का शाक, अमरबेल, शूकरवाल, (एक प्रकार की बड़ी बेल है, जो जंगल में पाई जाती है, और जिसमें से वराहकन्द निकलता है) (वल्ल शब्द के पूर्व यहाँ शूकर इसलिए लगाया गया है कि कोई साग या दाल (अन्न) के रूप में वाल-रौंगी आदि को अनन्तकाय में न मान ले। ये सभी आर्यदेश में प्रसिद्ध हैं। म्लेच्छदेश में भी कहीं-कहीं प्रसिद्ध है ; जीवाभिगम आदि विभिन्न सूत्रों में यह बताया गया है। दयापरायण सुश्रावक के लिए ये त्याज्य हैं। मिथ्यादृष्टिजन इन सब में अनन्तकायत्व से अनभिज्ञ होते हैं ; वे तो वनस्पति को भी सजीव नहीं मानते, अनन्त-कायिक जीवों को मानने की बात तो दूर रही।

अब अज्ञातफल का त्याग करने के लिए कहते हैं—

स्वयं परेण वा ज्ञातं फलमद्याद् विशारदः।
निषिद्धे विषफले वा, माभूदस्य प्रवर्त्तनम् ॥४७॥

अर्थ

स्वयं को या दूसरे को जिस फल की पहिचान नहीं है, जिसे कभी देखा, सुना या जाना नहीं है ; उस फल को न खाए। बुद्धिशाली व्यक्ति वही फल खाये, जो उसे ज्ञात है। चतुर आदमी अनजाने में (अज्ञानतावश) अगर अज्ञात फल खा लेगा तो, निषिद्धफल खाने से उसका व्रतभंग होगा, दूसरे, कदाचित् कोई जहरीला फल खाने में आ जाय तो उससे प्राणनाश हो जायगा। इसी दृष्टि से अज्ञातफलभक्षण में प्रवृत्त होने का निषेध किया गया है।

अब रात्रिभोजन का निषेध करते हैं—

अन्नं प्रेत-पिशाचाद्यैः संचरद्भिर्निरंकुशैः।
उच्छिष्टं क्रियते यत्र, तत्र नाद्याद् दिनात्यये ॥४८॥

अर्थ

रात में स्वच्छन्द घूमने वाले प्रेत, व्यन्तर, पिशाच, राक्षस आदि अधमजातीय देव वगैरह द्वारा स्पर्शादि से भोजन झूठा कर दिया जाता है, इसलिए रात में भोजन नहीं करना चाहिए।

कहा भी है—रात को राक्षस आदि पृथ्वी पर सर्वत्र इधर-उधर घूमा करते हैं, और वे अपने स्पर्श से खाद्यपदार्थों को झूठे कर देते हैं तथा रात्रि में खाने वालों पर उपद्रव भी करते हैं। और भी देखिये—

घोरान्धकाररुद्धाक्षैः पतन्तो यत्र जन्तवः।
नैव भोज्ये निरीक्ष्यन्ते, तत्र भुंजीत को निशि ४९॥

अर्थ

घोर अन्धेरे में आंखें काम नहीं करतीं; तेल, घी, छाछ आदि भोज्य पदार्थों में कोई चींटी, कीड़ा, मक्खी आदि जीव पड़ जाय तो वे आंखों से दिखाई नहीं देते। ऐसे में कौन समझदार आदमी रात को भोजन करेगा?

अब रात्रिभोजन से प्रत्यक्ष दिखाई देने वाले दोषों का तीन श्लोकों द्वारा वर्णन करते हैं—

मेधां पिपीलिका हन्ति, यूका कुर्याज्जलोदरम्।
कुरुते मक्षिका वान्ति, कुष्टरोगं च कोकिलः ॥५०॥
कण्टको दारुखण्डं च वितनोति गलव्यथाम्।
व्यंजनान्तर्निपतितस्तालु विध्यति वृश्चिकः ॥५१॥
विलग्नश्च गले वालः स्वरभंगस्तेन जायते।
इत्यादयो दृष्टदोषाः सर्वेषां निशि भोजने ॥५२॥

अर्थ

रात को भोजन करते समय भोजन में यदि चींटी खाई जाय तो वह बुद्धि का नाश कर देती है। जूं निगली जाय तो वह जलोदर रोग पैदा कर देती है। मक्खी खाने में आ जाय तो उलटी होती है, कनखजूरा खाने में आ जाय तो कोढ़ हो जाता है। कांटा या लकड़ी का टुकड़ा गले में पीड़ा कर देता है, अगर सागभाजी में बिच्छू पड़ जाय तो वह तालु को फाड़ देता है, गले में बाल चिपक जाय तो उससे आवाज खराब हो जाती है। रात्रिभोजन करने में ये और इस प्रकार के कई दोष तो सबको प्रत्यक्ष विदित हैं।

व्याख्या

रात को भोजन करने से कितने नुकसान हैं, यह बताते हुए कहते हैं—भोजन में अगर चींटी आ जाय तो उसके खाने पर बुद्धिनाश हो जाता है। जूं खाने में आ जाय तो जलोदर रोग हो जाता है। मक्खी भोजन में पड़ जाय तो उसके खाने से उलटी हो जाती है। कनखजूरा खाने से कुष्टरोग हो जाता है। बबूल आदि का कांटा या लकड़ी का टुकड़ा आ जाय तो गले में अटक कर पीड़ा पैदा करता है। बिच्छू साग में पड़ जाय तो उसे खा लेने पर तालु को फाड़ देता है। यहां प्रश्न होता है कि चींटी

आदि तो बारीक होने से दिखाई नहीं देती, मगर विच्छू तो बड़ा होने से दिखाई देता है ; वह भोजन में कैसे निगला जा सकता है ? इसके उत्तर में कहते हैं —बैंगन या इस प्रकार के किसी साग में, जो विच्छू के-से आकार का होता है, तो विच्छू को साग समझ कर कदाचित खा लिया जाय तो उसका नतीजा भयंकर होता है । गले में बाल चिपक जाय तो आवाज फट जाती है ; साफ नहीं निकलती । ये और इस प्रकार के कई दोष तो प्रत्यक्ष हैं, जिन्हें अन्य धर्मसम्प्रदाय व दर्शन वाले भी मानते हैं । इसके अलावा रात्रि में भोजन बनाने में भी छह जीवनिकाय का वध होता है । रात्रि को बर्तन साफ करते समय और धोते समय पानी में रहे हुए जीवों का विनाश होता है । उस पानी को जमीन पर फेंकने से जमीन पर रेंगने वाले कुंथुआ, चींटी आदि बारीक जन्तुओं का नाश होता है । इस कारण जीवरक्षा की दृष्टि से भी रात्रि को भोजन नहीं करना चाहिए । कहा भी है —'रात को बर्तन मलने, उन्हें धोने और उस पानी को फेंकने आदि मे बहुत-से कुंथुआ आदि बारीक जन्तु मर जाते है, उनकी हिंसा हो जाती है, इसलिए ऐसे रात्रिभोजन के इतने दोष हैं कि कहे नहीं जा सकते ।

यहां शंका होती है कि तैयार की हुई लड्डू आदि मिठाइयाँ या सूखी चीजें अथवा पके फल या सूखे मेवे आदि, जिनमें रात को पकाने, बर्तन धोने आदि की झंझट नहीं है, उन्हें अगर रात को सेवन कर लिया जाय तो क्या दोष है ? इसी के उत्तर में कहते हैं—

नाप्रेक्ष्य सूक्ष्मजन्तूनि निश्चयात् प्रासुकान्यपि ।
अप्युद्यत्केवल[illegible] यन्निशाऽशनम् ॥५३॥

अर्थ—रात को आँखों से दिखाई न दें, ऐसे सूक्ष्मजन्तु भोजन में होने से चाहे विविध प्रासुक (निर्जीव) भोजन ही हो, रात को नहीं करना चाहिए । क्योंकि जिन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो गया है, उन्होंने ज्ञानचक्षुओं से जानते-देखते हुए भी रात्रिभोजन न तो स्वीकार किया है, न विहित किया है ।

व्याख्या— दिन में तैयार किया हुआ प्रासुक और उपलक्षण से रात को नही पकाया हुआ भोजन हो, फिर भी लड्डू, फल, सूखे मेवे आदि रात को नही खाने चाहिए । प्रश्न होता है—क्यों ? किस कारण से ?' उत्तर में कहते हैं—सूर्य के प्रकाश के अतिरिक्त अन्य किसी भी तेज से तेज प्रकाश में सूक्ष्म जीव—पनक, कुंथुआ आदि नजर नही आते, इस कारण से केवलज्ञानियों ने ज्ञानबल से यह जान कर रात्रिभोजन का विधान नहीं किया और न स्वीकार किया कि रात में भोजन के अंदर आ कर बहुत-से सूक्ष्म जीव पड़ जाते हैं, इसलिए वह भोजन जीवरहित नहीं रहता । निशीथ-भाष्य में बताया है कि 'यद्यपि मोदक आदि सूखे और प्रासुक पदार्थ रात में तैयार न करके दिन में ही बनाए हुए हों, फिर भी कुंथुआ, काई—फूलण (पनक) आदि बारीक जन्तु रात में नहीं दिखाई देते, इसलिए उन्हें न खाए । प्रत्यक्षज्ञानी केवलज्ञानी सर्वज्ञ अपने ज्ञानबल से उन सूक्ष्मजीवों को जान या देख सकते हैं ; फिर भी वे रात्रिभोजन नहीं करते । यद्यपि दीपक आदि के प्रकाश में चींटी आदि जीव दिखाई देते हैं, लेकिन कई बार रात्रि में भोजन करते समय बारीक उड़ने वाले जन्तु दीपक आदि के प्रकाश में पड़ कर या भोजन में गिर कर मर जाते हैं, इसलिए विशिष्ट ज्ञानियों ने मूलव्रत-अहिंसा के भंग होने की सम्भावना से रात्रिभोजन स्वीकार नहीं किया और न ही विहित किया ।

इसी के सम्बन्ध में बता रहे हैं—

धर्मविन्नैव भुंजीत कदाचन दिनात्यये ।
बाह्या अपि निशाभोज्यं यदभोज्यं प्रचक्षते ।।५४।।

अर्थ—जिनशासन को न मानने वाले अन्यमतीय लोग भी रात्रिभोजन को अभोज्य कहते हैं। अतः धर्मज्ञ श्रावक सूर्य अस्त हो जाने के बाद कदापि भोजन न करे।

सूर्यास्त हो जाने के बाद रात्रिभोजन का अन्यमतीय शास्त्रों मे इस प्रकार निषेध है—

त्रयीतेजोमयो भानुरिति वेदविदो विदुः ।
तत्करैः पूतमखिलं शुभं कर्म समाचरेत् ।।५५।।

अर्थ—वेद के ज्ञाता सूर्य को ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद इस वेदत्रयी के तेज से ओत-प्रोत मानते हैं। इसलिए सूर्य का एक नाम 'त्रयीतनु' भी है। अतः उस सूर्य की किरणों से पवित्र हुए शुभकार्यों को ही करना चाहिए। उनके अभाव में शुभ कार्य नहीं करे।

इसी बात को आगे कहते हैं—

नैवाहुतिर्न च स्नानं, न श्राद्धं देवताऽर्चनम् ।
दानं वाऽविहितं रात्रौ, भोजनं तु विशेषतः ।।५६।।

अर्थ—आहुति अर्थात् अग्नि में काष्ठ आदि इन्धन डालना, स्नान, अंगप्रक्षालन, श्राद्ध कर्म—पितर आदि देवों की पूजा, देवपूजा, दान, यज्ञ आदि शुभकार्य विशेषतः रात्रि में भोजन अविहित है; अकरणीय हैं।

यहाँ प्रश्न होता है कि ऐसा सुना जाता है कि नक्तभोजन कल्याणकारी है; और वह रात्रि में भोजन किये बिना नहीं हो सकता; इसके उत्तर में यह श्लोक प्रस्तुत है—

दिवसस्याष्टमे भागे मन्दीभूते दिवाकरे ।
नक्तं तु तद् विजानीयात्, न नक्तं निशिभोजनम् ।।५७।।

अर्थ—दिवस के आठवें भाग में जब सूर्य मन्द हो गया हो, उसे ही 'नक्त' जानना चाहिए। 'नक्त' का अर्थ निशा (रात्रि) भोजन नहीं है।

व्याख्या—दिन के आठवें भाग में यानी दिवस के अन्तिम आधे पहर में जो भोजन किया जाय, उसे नक्त कहते हैं। शब्द की अर्थ में प्रवृत्ति दो प्रकार से होती है—मुख्यरूप से और गौणरूप से। किसी समय इन दोनों में से मुख्यरूप से व्यवहार करना और किसी समय मुख्यरूप से अर्थप्रवृत्ति करने में बाधा आए तो गौणरूप से करना चाहिए। यहाँ नक्तशब्द की रात्रिभोजनरूप मुख्य अर्थप्रवृत्ति में शास्त्रोक्त बाधा आती है, क्योंकि शास्त्र में रात्रिभोजन निषिद्ध है, इसलिए नक्त की गौण-अर्थ में प्रवृत्ति करनी चाहिए। यानी नक्त का गौण अर्थ हुआ—थोड़ा-सा दिन शेष रहे, उस समय भोजन करना। इसी को लेकर कहा गया है कि—सूर्य मन्द हो उस समय—दिन के आठवें भाग में भोजन करना; नक्त भोजन समझना चाहिए। निष्कर्ष यह है कि मुख्य अर्थ का प्रतिषेध होने से नक्त का अर्थ रात्रिभोजन नहीं करना चाहिए।" अन्य शास्त्रों में भी रात्रिभोजन कहां-कहां निषिद्ध है ? इसे दो श्लोकों में बताते हैं—

देवैस्तु भुक्तं पूर्वाह्णे, मध्याह्ने ऋषिभिस्तथा ।
अपराह्णे च पितृभिः सायाह्ने दैत्यदानवैः ॥५८॥
सन्ध्यायां यक्षरक्षोभिः सदा भुक्तं कुलोद्वह !
सर्ववेलां व्यतिक्रम्य रात्रौ भुक्तमभोजनम् ॥५९॥

अर्थ—दिन के पहले पहर में देव भोजन करते हैं, मध्याह्न (दोपहर) में ऋषि आहार करते हैं, अपराह्ण (तृतीय प्रहर) में पितर भोजन करते हैं और सायंकाल (विकाल) में दैत्य-दानव खाते हैं ; दिन और रात के सन्धिकाल में यक्ष और राक्षस खाते हैं । इसलिए हे कुल-निर्वाहक युधिष्ठिर ! देवादि के भोजन के इन सभी समयों का उल्लघन करके रात्रि को भोजन करना निषिद्ध है ।

पुराणों में कथित रात्रिभोजननिषेध के साथ संगति बिठा कर अब आयुर्वेद से इस कथन की पुष्टि करते हैं—

हृन्नाभिपद्मसंकोचः चण्डरोचिरपायतः ।
अतो नक्तं न भोक्तव्यं सूक्ष्मजीवादनादपि ॥६०॥

अर्थ—सूर्य के अस्त हो जाने पर शरीरस्थित हृदयकमल और नाभिकमल सिकुड़ जाते हैं और उस भोजन के साथ सूक्ष्मजीव भी खाने में आ जाते हैं, इसलिए भी रात्रिभोजन नहीं करना चाहिए ।

दूसरे पक्षों के साथ समन्वय करके, अब अपने मत की सिद्धि करते हैं—

संसजज्जीवसंघातं भुंजाना निशिभोजनम् ।
राक्षसेभ्यो विशिष्यन्ते; मूढात्मानः कथं नु ते ?६१॥

अर्थ—जिस रात्रिभोजन के करने में अनेक जीवसमूह आ कर भोजन में गिर जाते हैं, उस रात्रिभोजन को करने वाले मूढ़ात्मा राक्षसों से बढ़ कर नहीं तो क्या हैं ?

जिनधर्म को प्राप्त करके विरति (नियम) स्वीकार करना ही उचित है, अन्यथा विरतिरहित मानव विना सींग-पूंछ का पशु है, इसी बात को प्रगट करते हैं—

वासरे च रजन्यां च यः खादन्नेव तिष्ठति ।
शृंगपुच्छपरिभ्रष्टः स्पष्टं स पशुरेव हि ॥६२॥

अर्थ—जो दिन और रात चरता ही रहता है, वह वास्तव में बिना सींग-पूंछ का पशु ही है ।

अब रात्रिभोजन से भी अधिक त्याग करने वाले की महिमा बताते हैं—

अह्नो मुखेऽवसाने च यो द्वे द्वे घटिके त्यजन् ।
निशाभोजनदोषज्ञोऽश्नात्यसौ पुण्यभाजनः ॥६३॥

अर्थ—रात्रिभोजन के दोषों से अभिज्ञ जो मनुष्य दिन के प्रारम्भ और रात्रि के अन्त की दो-दो घड़ियां छोड़ कर भोजन करता है, वह विशेष पुण्यभागी होता है ।

व्याख्या—जो सूर्योदय से दो घड़ी बाद और सूर्यास्त से दो घड़ी पहले (यानी दिन के प्रारम्भ से और रात्रि आगमन से पूर्व की दो-दो घड़ियां छोड़ कर) भोजन करता है, वही पुण्यात्मा है, उसी महानुभाव ने रात्रि-भोजन के दोष भलीभांति समझे हैं। वही रात्रि के निकट की दो घड़ी को सदोष समझता है। इसी कारण आगम में विहित है कि सबसे जघन्य प्रत्याख्यान मुहूर्तकालपरिमित नौकारसी (नमस्कारपूर्विका) के बाद और दिन के आखिर में एक मुहूर्त पहले श्रावक अपने भोजन से निवृत्त हो जाता है, उसके बाद प्रत्याख्यान कर लेता है।

यहां शंका होती है- यह बताइए कि जो रात्रिभोजनत्याग का नियम लिये बिना ही दिन में भोजन कर लेता है, उसे कुछ फल मिलता है या नहीं? या कोई विशिष्ट फल मिलता है? इसका समाधान आगामी श्लोक द्वारा करते हैं —

अकृत्वा नियमं दोषाभोजनाद् दिनभोज्यपि।
फलं भजेन्न निर्व्याजं, न वृद्धिर्भाषितं विना ॥६४॥

अर्थ—रात्रिभोजन का प्रत्याख्यान (त्याग) किये बिना ही जो दिन में भोजन कर लेता है, उसे प्रत्याख्यानविशेष का फल नहीं मिल सकता। साधारण फल तो मिलता ही है, जैसे वचन से ब्याज की बात खोले बिना अमानत रखी हुई धनराशि में वृद्धि नहीं होती, वह मूल रूप में ही सुरक्षित रहती है। उसी तरह नियम लिये बिना ही दिन में भोजन करने वाले को नियमग्रहण का विशेष फल नहीं मिलता।

पूर्वोक्त बात को प्रकारान्तर से समझाते हैं—

ये वासरं परित्यज्य रजन्यामेव भुंजते।
ते परित्यज्य माणिक्यं काचमाददते जड़ाः ॥६५॥

अर्थ—जो मनुष्य सूर्य से प्रकाशमान दिन को छोड़ कर रात्रि को ही भोजन करते हैं, वे जड़ात्मा माणिक्यरत्न को छोड़ कर काच को ग्रहण करते हैं।

यहां प्रश्न होता है—'नियम तो सर्वत्र सर्वदा फल देता है', इसलिए अगर कोई नियम लेता है कि **'मुझे तो रात में ही भोजन करना है, दिन में नहीं'**, तो ऐसे नियम वाले की कौन-सी गति होती है? इसे ही बताते हैं—

वासरे सति ये श्रेयस्काम्यया निशि भुंजते।
ते वपन्त्यूषरे क्षेत्रे, शालीन् सत्यपि पल्वले ॥६६॥

अर्थ—दिन की अनुकूलता होने पर भी जो किसी कल्याण की आशा से रात को खाता है, वह ऐसा ही है, जैसे कोई उपजाऊ भूमि को छोड़ कर ऊषरभूमि में धान बोता है।

व्याख्या—दिन में भोजन हो सकने पर भी जो मनुष्य कल्याण की कामना से—यानी कुशास्त्र या कुगुरु की प्रेरणा से या परम्परागत संस्कारवश अथवा मोहवश श्रेय की इच्छा से—रात को ही भोजन करता है; वह मनुष्य उस किसान की तरह है; जो उपजाऊ खेत होते हुए भी उसमें धान न बो कर ऊषर भूमि में बोता है। रात्रि में ही भोजन करने का नियम भी ऊषरभूमि में बीज बोने की तरह निरर्थक है। जो नियम अधर्म को रोकता है, वही फलदायक होता है; जो नियम धर्ममार्ग में ही रोड़े अटकाता

है ; वह निष्फल या विपरीत फल वाला है। वास्तव में, ऐसे विपरीत आग्रह को नियम नहीं कहा जा सकता।

अब रात्रिभोजन के फल के सम्बन्ध में कहते हैं—

उलूक-काक मार्जार-गृद्ध-शम्बर-शूकराः ।
अहि-वृश्चिक-गोधाश्च जायन्ते रात्रिभोजनात् ॥६७॥

अर्थ—रात्रिभोजन करने वाले मनुष्य अगले जन्म में उल्लू, कौए, बिल्ली, गीध, राक्षस, सूअर, सर्प, बिच्छू और गोह या मगरमच्छ आदि अधमजातीय तिर्यंचयोनियों में जन्म लेते हैं।

आगे वनमाला का उदाहरण दे कर रात्रिभोजनत्याग का महत्व समझाते हैं—

श्रूयते ह्यन्यशपथान् नादृत्यैव लक्ष्मणः ।
निशाभोजनशपथं कारितो वनमालया ॥६८॥

अर्थ—सुना जाता है, वनमाला ने लक्ष्मण से दूसरे तमाम शपथों को स्वीकार न करके रात्रिभोजन से होने वाले पाप की शपथ (सौगन्ध) करवाई थी।

व्याख्या—सुना है, रामायण में बताया गया है कि दशरथपुत्र लक्ष्मण पिता-माता की आज्ञा से राम और सीता के साथ जब दक्षिणपथ की ओर जा रहा था ; रास्ते में कुबेरनगर आया ; वहां के राजा महीधर की पुत्री वनमाला के साथ उसने विवाह किया। जब वनमाला को अपने पीहर में छोड़ कर लक्ष्मण राम के साथ आगे जाने के लिए वनमाला से विदा लेने लगा, उस समय लक्ष्मण के विरहदुःख से दुःखित एवं शीघ्र आगमन की सम्भावना से वनमाला ने लक्ष्मण से कहा—"प्राणनाथ ! आप मेरे सामने सौगन्ध खा कर पधारिए।" तब लक्ष्मण ने कहा—"प्रिये ! यदि मैं राम को उनके अभीष्ट देश में पहुंचा कर वापिस लौट कर तुम्हें प्रसन्न न करूं तो मेरी गति भी वही हो, जो प्राणातिपात आदि से होती है।" परन्तु इस सौगन्ध (शपथ) से वनमाला को संतोष न हुआ। उसने कहा—"प्रियतम ! मैं आपको तभी जाने की अनुमति दे सकती हूं, जब आप इस प्रकार की सौगन्ध खाएँगे कि 'अगर मैं न लौटा तो रात्रिभोजन करने से जो गति होती है, वही मेरी गति हो।" अतः लक्ष्मण ने वनमाला के अनुरोध से ऐसी सौगन्ध खाई, तभी उसने दूसरे देश की ओर प्रस्थान करने दिया। मतलब यह है कि दूसरी शपथों की अवगणना करके वनमाला ने रात्रिभोजनसम्बन्धी शपथ लक्ष्मण को दिलाई। अधिक लिखने से ग्रन्थ विस्तृत हो जायगा, इसलिए यहां इतना ही लिख कर विराम करते हैं।

शास्त्रीय उदाहरण के अलावा अब सर्वसाधारण के अनुभवों से सिद्ध रात्रिभोजनत्याग का फल बताते हैं—

करोति विरतिं धन्यो, यः सदा निशिभोजनात् ।
सोऽर्द्धं पुरुषायुषस्य स्यादवश्यमुपोषितः ॥६९॥

अर्थ—जो सदा के लिए रात्रिभोजन का त्याग (प्रत्याख्यान) करता है, वह पुरुष धन्य है। सचमुच, वह अपनी पूरी आयु के आधे भाग (यानी प्रत्येक रात्रि) में उपवासी रहता है।

व्याख्या—जो धर्मात्मा रात्रिभोजन का त्याग करता है, उस पुरुष की आधी आयु तो उपवास में ही व्यतीत होती है। एक उपवास भी निर्जरा का कारणरूप होने से महाफलदायक होता है, तो सौ वर्ष की आयु वाले के पचास वर्ष तो उपवास में व्यतीत होते हैं ; उसका कितना फल होगा ? यह अंदाजा लगाया जा सकता है । सारांश यह है कि रात्रिभोजन करने में बहुत-से दोष हैं, और उसका त्याग करने में बहुत-से गुण हैं, उन सबका कथन करना हमारी शक्ति से बाहर है। इसी बात को कहते हैं—

रजनीभोजनत्यागे ये गुणाः परितोऽपि तान् ।
न सर्वज्ञादृते कश्चिदपरो वक्तुमीश्वरः ॥७०॥

अर्थ—रात्रिभोजनत्याग में जो गुण हैं, उन सभी प्रकार के गुणों का पूर्णतया कथन तो सर्वज्ञ के सिवाय और कोई नहीं कर सकता ।

अब कच्चे दूध, दही या छाछ आदि के साथ द्विदल मिला कर खाने का निषेध करते हैं—

आमगोरससंपृक्तद्विदलादिषु जन्तवः ।
दृष्टाः केवलिभिः सूक्ष्मास्तस्मात्तानि विवर्जयेत् ॥७१॥

अर्थ—कच्चे दही के साथ मिश्रित मूंग, उड़द आदि द्विदल वगैरह में सूक्ष्मजीवों की उत्पत्ति केवलज्ञानियों ने देखी है ; अतः उनका त्याग करे ।

व्याख्या—जैनशासन की ऐसी नीति है कि इसमें कई बातें हेतुगम्य होती हैं और कई बातें होती हैं—आगम- (आप्तवचन) गम्य । जो बातें तर्क, युक्ति, अनुभव आदि हेतु से जानी जाती हैं, उनका प्रतिपादन हेतु द्वारा करता है, और जो बातें हेतु द्वारा न जानी जा सकें या सिद्ध न हो सकें, उनका प्रतिपादन आगम—आप्तवचनों द्वारा करता है ; वही आज्ञा-आराधक होता है । इसके विपरीत जो हेतुगम्य बातों का आगम द्वारा प्रतिपादन करता है, और आगमगम्य बातों का हेतु द्वारा प्रतिपादन करने का प्रयत्न करता है, वह आज्ञाविराधक होता है । कहा भी है—'हेतुवादपक्ष को जो हेतु से मानता है, और आगमपक्ष को आगम से मानता है तथा स्वसिद्धान्त का यथार्थ प्रतिपादन करता है, वह आज्ञाराधक है और इसके विपरीत कथन करने वाला सिद्धान्तविरुद्धप्ररूपक होने से आज्ञाविराधक है ।'

इस न्याय के अनुसार कच्चे गोरस के साथ द्विदल अनाज आदि में जीवों का अस्तित्व हेतु (युक्ति,तर्क या प्रत्यक्ष से) सिद्ध करना या जानना संगत नहीं है ; अपितु उन जीवों का अस्तित्व आगम के द्वारा जान कर उक्त वचन पर श्रद्धा करना उचित है । केवली भगवन्तों ने गोरस के साथ मिश्रित द्विदल अन्न में जीव देखे हैं । आदि शब्द से पकाये हुए वासी भोजन आदि में, दो दिन से अधिक दिनों के दही में, सड़े हुए खाद्य पदार्थ में भी जीव देखे हैं, यह समझ लेना चाहिए । इस दृष्टि से उन जीवों सहित भोजन तथा कच्चे दूध, दही छाछ आदि गोरस के साथ मिश्रित द्विदल-अन्नयुक्त भोजन का त्याग करना चाहिए । अन्यथा, ऐसे भोजन से प्राणातिपात नामक प्रथम आश्रव का दोष लगता है । केवलियों के वचन निर्दोष होते हैं, इसलिए वे आप्त-प्रामाणिक पुरुषों के वचन होने से श्रद्धायोग्य मान कर शिरोधार्य करने चाहिए । इसलिए यह नहीं समझना चाहिए कि मदिरा आदि से ले कर स्वाद में विकृत, बासी या सड़े भोजन तक जो कहा है, वही अभक्ष्य हैं, शेष सब भक्ष्य हैं ! बल्कि और भी कोई भोज्य वस्तु, जो जीवों से युक्त हों, उसे अपनी बुद्धि से या फिर आगम से अभक्ष्य जान कर छोड़ देनी चाहिए ।'

इसी बात को कहते हैं—

जन्तुमिश्रं फलं, पुष्पं, पत्रं चान्यदपि त्यजेत् ।
सन्धानमपि संसक्तं जिनधर्मपरायणः ॥७२॥

अर्थ– जिनधर्म में तत्पर श्रावक दूसरे जीवों से मिश्रित या संसक्त फल (बेर आदि), फूल, पत्ते, अचार या और भी ऐसे पदार्थ का त्याग करे ।

व्याख्या—त्रस जीवों से युक्त मधूक (महुड़ा) आदि फल ; अरणि, सरसों, महुआ आदि के फूल, चौलाई आदि की भाजी के पत्ते तथा दूसरे भी कन्द या मूल (जड़) आदि का त्याग करना चाहिए । आम, नींबू आदि का अचार (अथाणा) नीलण-फूलण या अन्य जीवों से संयुक्त हो तो उनका भी त्याग कर देना चाहिए । क्योंकि जीवदया पालन करने वाले श्रावक, जिससे जीवहिंसा हो, ऐसा अभक्ष्य भोजन नहीं करते । भोगोपभोग का कारण धनोपार्जन भी उपचार से भोगोपभोग कहलाता है । उसका परिमाण भी इसी व्रत के अन्तर्गत आ जाता है । इस दृष्टि से श्रावक को खरकर्मों (जिसमें त्रसवध, अतिवध, प्रमाद-वृद्धि, असंयमवृद्धि, लोकनिन्द्य एवं सत्पुरुषों द्वारा अनुपसेव्य हों, ऐसे निषिद्ध निकृष्ट व्यवसायों) का त्याग करके निर्दोष एवं अनिन्द्य व्यवसाय द्वारा अपनी आजीविका चलानी चाहिए । यह सब बातें अतिचार के प्रसंग में बतायेंगे । इस प्रकार भोगोपभोगपरिमाणव्रत का वर्णन पूर्ण हुआ !

अब क्रम से अनर्थदण्डविरमणव्रत के वर्णन करने का अवसर प्राप्त है । अतः दो श्लोकों में अनर्थ दण्ड के चार प्रकार बताते हैं—

आर्तरौद्रमयध्यानं, पापकर्मोपदेशिता ।
हिंसोपकारि दानं च, प्रमादाचरणं तथा ॥७३॥
शरीराद्यर्थदण्डस्य प्रतिपक्षतया स्थितः ।
योऽनर्थदण्डस्तत्त्यागस्तृतीयं तु गुणव्रतम् ॥७४॥

अर्थ –आर्त्त-रौद्रध्यानरूप अपध्यान करना, पापजनक कार्य का उपदेश या प्रेरणा देना, हिंसा के साधन दूसरों को देना, प्रमादाचरण करना; यह चार प्रकार का अनर्थदण्ड कहलाता है । शरीर आदि के लिए जो आरम्भ या सावद्य प्रवृत्ति अनिवार्यरूप से करनी पड़े; वह अर्थदण्ड है ; लेकिन जिसमें अपना या पराया किसी का भी सिवाय हानि के कोई लाभ नहीं, जिस पाप से अकारण ही आत्मा दण्डित हो, वह अनर्थदण्ड है । उसका त्याग करना ही तीसरा गुणव्रत कहलाता है ।

व्याख्या—बुरा ध्यान करना अनर्थदण्ड का प्रथम प्रकार है । उसके दो भेद हैं—आर्तध्यान और रौद्र-ध्यान ।

आर्तध्यान—ऋत । अर्थात् दुःख से उत्पन्न होने वाला आर्त कहलाता है, अथवा आर्ति यानी पीड़ा या यातना, उससे होने वाला ध्यान आर्तध्यान है । इसके ४ प्रकार हैं—(१) अप्रिय शब्द आदि विषयों का संयोग होने पर राग से मलिन जीव द्वारा उसके अत्यन्त वियोग की चिन्ता करना; साथ ही उसका फिर संयोग न हो, इस प्रकार का विचार करना । (२) पेट में शूल (पीड़ा), मस्तक में वेदना या शरीर के किसी अंग में पीड़ा होने पर हायतोबा मचाना, छटपटाना, उसके वियोग के सम्बन्ध में बार-बार तीव्रता से चिन्तन करना । उसका पुनः संयोग न हो, इसकी चिन्ता करना तथा उसके प्रतीकार के लिए चित्त व्याकुल हो जाना । (३) ईष्ट—शब्दादि विषयों तथा सातावेदनीय के कारण अनुकूल विषय-

सुख के प्राप्त होने पर उनमें गाढ़ आसक्ति (राग) रख कर उनका कभी वियोग न हो, बार-बार संयोग मिलता जाय ; इस प्रकार की अभिलाषा करना। (४) इन्द्र, चक्रवर्ती आदि के वैभव, रूप अथवा सुख आदि की प्रार्थनारूप निदान करना अथवा अदृष्ट, अश्रुत या अज्ञात वस्तु की प्राप्ति के लिए छटपटाना तथा उसका अधम चिन्तन करते हुए निदान करना। ये चारों प्रकार के आर्तध्यान राग, द्वेष, मोह और अज्ञान से युक्त जीवों को होते हैं। आर्तध्यान जन्ममरण के चक्ररूप संसार को बढ़ाने वाला और तिर्यंच-गति में ले जाने वाला है।

रौद्रध्यान—रौद्र का अर्थ भयंकर है। जो भयकर दुर्भाव या भयंकर कर्म दूसरों को रुलाने और दुःखी करने का कारण है, उसे रौद्रध्यान कहते हैं। रौद्रध्यान भी चार प्रकार का है—(१) हिंसानुबन्धी, (२) मृषानुबन्धी, (३) स्तेयानुबन्धी और (४) संरक्षणानुबन्धी। जीवों का वध करने, बन्धन में डालने, जलाने, मारने-पीटने, तोड़-फोड़, दंगे आदि करने का या इसी प्रकार का हिंसाविषयक षड्यंत्र मन में रचना, कोई ऐसी हिंसक योजना मन में बनाना, क्रूरतापूर्वक पूर्वोक्त बातों का चिन्तन करना ; प्रथम हिंसानुबंधी रौद्रध्यान है। ऐसा रौद्रध्यानी अत्यन्त क्रूर, अतिक्रोधी, निर्दयचित्त एवं अधमपरिणामी होता है। (आ) किसी दूसरे पर झूठा आरोप (कलंक) लगाना, किसी को चकमा देने, अपने मायाजाल में फसाने, धोखा देने, झूठ बोलने, दूसरे की चुगली खाने, वादा भंग करने, प्रतिज्ञा तोड़ने, झूठा प्रपच रचने आदि की उधेड़बुन या खटपट में लगा रहना, इसी प्रकार का रात-दिन चिन्तन करना मृषानुबन्धी नामक दूसरा रौद्रध्यान है। ऐसा रौद्रध्यानकर्ता मायावी, धोखेबाज व गुप्त पापकर्मा होता है। (इ) तीव्र लोभ एवं तृष्णा से व्याकुल हो कर दूसरों का धन हड़पने, छीनने, दूसरे की जमीन-जायदाद अपने कब्जे में करने, चोरी करने, डाका डालने, लूटखसोट करने, अधिक पैसा प्राप्त हो, इस प्रकार की अनैतिक तरकीबें सोचने या इस प्रकार के नये-नये चोरी के नुस्खे अजमाने के चिन्तन में डूबा रहना; तीसरा स्तेयानुबन्धी रौद्रध्यान है। ऐसा व्यक्ति भी क्रूरपरिणामी, अतिलोभी, द्रव्यहरण में दत्तचित्त एवं परलोक में पाप के परिणाम से निःशंक होता है। (ई) शब्दादि विषयों या साधनों तथा धन के हरण की प्रतिक्षण शका से ग्रस्त हो कर धन कैसे जमा रहे ; सरकार, हिस्सेदार या अन्य लोगों को चकमा दे कर कैसे धन या साधनों की रक्षा की जाय ? इस प्रकार की चिन्ता में अहर्निश मग्न व्यक्ति संरक्षणानुबन्धी रौद्रध्यानी है। ऐसा व्यक्ति धन ले जाने या खर्च कर देने वाले व्यक्ति को मार डालने तक का क्रूर विचार कर लेता है। ये चारों प्रकार के रौद्रध्यान, राग, द्वेष और मोह के विकार से ग्रस्त जीव को होते है, ये संसारवृद्धि करने वाले और नरक में ले जाने वाले हैं। यह आर्तरौद्रध्यानरूप अपध्यान अनर्थदण्ड का प्रथम भेद है। पापमय या हिंसादिवर्द्धक प्रवृत्ति का उपदेश, प्रेरणा या आदेश देना पापकर्मोपदेश नामक दूसरा अनर्थदण्ड है। हिंसा के उपकरण—चाकू, तलवार, छुरा, शस्त्र, अस्त्र आदि किसी को देना, अथवा किसी अनाड़ी या अज्ञानी के हाथ में ये हिंसा के उत्पादक हथियार दे देना, हिंस्रप्रदान नामक तीसरा अनर्थदण्ड है। स्त्रियों के नृत्य, गीत, कामकथा आदि कामोत्तेजक रागादिविकारवर्द्धक प्रमाद का सेवन करना चौथा अनर्थदण्ड है।

शरीर, कुटुम्ब आदि किसी के लिए कोई जरूरी सावद्यकार्य, आरम्भादि करना पड़े या किसी विशेषकारणवश आश्रवसेवन से प्राणी सप्रयोजन दंडित हो, वहाँ अर्थदण्ड है। किन्तु जिस आश्रवसेवन से कोई भी प्रयोजन सिद्ध न होता हो; वह अर्थदण्ड का प्रतिपक्षीरूप अनर्थदण्ड है। उसका त्याग करना ही अनर्थदण्डविरमणव्रत नामक तीसरा गुणव्रत है। कहा भी है—जो इन्द्रियों या स्वजनादि के निमित्त से सावद्य

कार्य करना पड़े, उसे अर्थदण्ड और बिना ही प्रयोजन के बेकार अपने या दूसरे के लिए हिंसादि आश्रव-सेवन करना अनर्थदण्ड है।

अब अपध्यान का स्वरूप और उसका परिणाम बताते हैं—

वैरिघातो नरेन्द्रत्वं पुरघाताऽग्निदीपने।
खेचरत्वाद्यपध्यानं, मुहूर्तात्परतस्त्यजेत् ॥७५॥

अर्थ—**शत्रु का नाश करना, राजापद के लिए उखाड़-पछाड़ या खटपट करना, नगर में तोड़फोड़ या दंगे करना, नाश करना, आग लगाना, अथवा अन्तरिक्षयात्रा—अज्ञात अन्तरिक्ष में गमन आदि के चिन्तनरूप कुध्यान में डूबे रहना, अपध्यान है। ऐसा दुर्ध्यान आ भी जाय तो मुहूर्त के बाद तो उसे अवश्य ही छोड़ दे।** दुश्मन की हत्या करने, नगर को उजाड़ने या नगर में तोड़फोड़, दंगे, हत्याकाण्ड आदि करने, आग लगाने या किसी वस्तु को फूंक देने का विचार करना रौद्रध्यानरूप अपध्यान है। चक्रवर्ती बनूं या आकाशगामिनी विद्या का अधिकारी बन जाऊं, ऋद्धिसम्पन्न देव बन जाऊं अथवा देवांगनाओं या विद्याधरियों के साथ सुखभोग करने वाला, उनका स्वामी बनूं; इस प्रकार का दुश्चिन्तन आर्तध्यान है। इस प्रकार के दुश्चिन्तनों को मुहूर्त के बाद तो अवश्य छोड़ देना चाहिए।

अब पापोपदेशरूप अनर्थदण्ड से विरत होने के लिए कहते हैं—

वृषभान् दमय, क्षेत्रं कृष, षण्ढय वाजिनः।
दाक्षिण्याविषये पापोपदेशोऽयं न कल्पते ॥७६॥

अर्थ **बछड़ों को वश में करो, खेत जोतो, घोड़ों को खस्सी करो, इत्यादि पाप-जनक उपदेश दाक्षिण्य (अपने पुत्रादि) के सिवाय दूसरों को पापोपदेश देना श्रावक के लिए कल्पनीय (विहित) नहीं है।**

व्याख्या— 'गाय के बछड़े (जवान बैल) को बांध कर काबू में कर लो। वर्षा का मौसम आ गया है; अतः अनाज बोने के लिए खेत जोत कर तैयार करो। वर्षाऋतु के पूर्ण हो जाने के बाद बोने का समय चला जायगा। अतः खेत में क्यारी कर देना चाहिए और झटपट साढ़े तीन दिन में धान बो देना चाहिए। अब कुछ ही दिनों बाद राजा को घोड़े की जरूरत पड़ेगी, इसलिए अभी से इसे बधिया करवा दो। ग्रीष्मऋतु में खेत में आग लगाई जाती है।" ये और इस प्रकार के उपदेश हिंसा आदि के जनक होने से पापोपदेश कहलाते हैं। श्रावक को ऐसी पराई पंचायत में पड़ कर पापोपदेश देना उचित नहीं है। अपने पुत्र, भाई आदि को लोकव्यवहार (दाक्षिण्य) के कारण प्रेरणा देनी पड़े, वह तो अशक्यपरिहार (अनिवार्य) है। दाक्षिण्य (प्रशिक्षण) के लिए भी उपदेश देना पड़े तो निरर्थक पाप में डालने वाला—जैसे शराब पी कर मस्त हो जा, जूआ खेलने से धन की प्राप्ति होगी; अमुक स्त्री या वेश्या के साथ में गमन में बड़ा मजा आता है; फलां के साथ मारपीट कर या मुकद्दमेबाजी कर' इस प्रकार का अनर्थकर पापोपदेश अपने स्वजन को भी नहीं देना चाहिए। मूर्खता से अंटसंट बोल कर किसी को पाप में प्रवृत्त करने में अपना और उसका दोनों का नुकसान है।

अब हिंसा के साधन दूसरों को देने का निषेध करते हैं—

यंत्र-लांगल-शस्त्राग्नि-मूसलोदूखलादिकम् ।
दाक्षिण्याविषये हिंस्रं नार्पयेत् करुणापर. ॥७७॥

अर्थ— पुत्र आदि स्वजन के सिवाय अन्य लोगों को यंत्र (कोल्हू), हल, तलवार आदि हथियार, अग्नि, मूसल, ऊखली, आदि शब्द से धनुष्य, धौंकनी. छुरी आदि हिंसाकारक वस्तुएं दयालु श्रावक नहीं दे ।

अब प्रमादाचरणरूप चौथे अनर्थदण्ड के विषय में कहते हैं—

कुतूहलाद् गीत-नृत्य-नाटकादिनिरीक्षणम् ।
कामशास्त्रप्रसक्तिश्च द्यूतमद्यादिसेवनम् ॥७८॥
जलक्रीड़ाऽन्दोलनादि विनोदो जन्तुयोधनम् ।
रिपोः सुतादिना वैरं, भक्तस्त्रीदेशराट्कथा ॥७९॥
रोगमार्गश्रमौ मुक्त्वा स्वापश्च सकलां निशाम् ।
एवमादि परिहरेत् प्रमादाचरणं सुधीः ॥८०॥

अर्थ—कुतूहलपूर्वक गीत, नृत्य, नाटक आदि देखना; कामशास्त्र में आसक्त रहना; जूआ, मदिरा आदि का सेवन करना, जलक्रीड़ा करना, झूले आदि का विनोद करना, पशुपक्षियों को आपस में लड़ाना, शत्रु के पुत्र आदि के साथ भी वैर-विरोध रखना, स्त्रियों की, खाने-पीने की, देश एवं राजा की व्यर्थ की ऊलजलूल विकथा करना, रोग या प्रवास की थकान को छोड़ कर सारी रातभर सोते रहना ; इस प्रकार के प्रमादाचरण का बुद्धिमान पुरुष त्याग करे ।

व्याख्या—कुतूहलपूर्वक गीत सुनना, नृत्य, नाटक, सिनेमा आदि देखना, कुतूहलवश इन्द्रिय-विषय का अत्यधिक उपभोग करना । यहां मूल में 'कुतूहल' शब्द होने से जिनयात्रा आदि प्रसंगों पर प्रासंगिक खेल-तमाशे देखे जांय तो वह प्रमादाचरण नहीं है । वात्स्यायन आदि के बनाये हुए कामशास्त्र या कोकशास्त्र को बारबार पढ़ना, उसमें अधिक आसक्ति रखना, तथा पासों आदि से शतरंज या जुआ खेलना, मदिरापान करना, आदि शब्द से शिकार खेलना ; उसका मांस-सेवन करना इत्यादि, एवं जलक्रीड़ा करना ; यानी तालाव, नदी, कुए आदि में डुबकी लगा कर स्नान करना, पिचकारी से जल छींटना आदि तथा वृक्ष की शाखा से झूला बांध कर झूलना, आदि शब्द से व्यर्थ ही पत्ते आदि तोड़ना तथा मुर्गे आदि हिंसक प्राणियों को परस्पर लड़ाना ; शत्रु के पुत्र-पौत्रादि के साथ वैरभाव रखना ; किसी के साथ वैर चल रहा है तो उसका किसी भी प्रकार से त्याग न करना ; बल्कि उसके पुत्र-पौत्र आदि के साथ भी वैर रखना ; ये सब प्रमादाचरण हैं । तथा **भक्तकथा**—'यह पकाया हुआ मांस या उड़द के लड्डू आदि अच्छे व स्वादिष्ट हैं ; 'उसको अच्छा भोजन कराया; अतः मैं भी वही भोजन करूंगा' ; इस प्रकार भोजन के बारे में घंटों बातें करना भक्तविकथा है । **स्त्रीकथा**— स्त्री के वेश, अंगोपांग की सुन्दरता या हाव-भाव की प्रशंसा करना ; जैसे—कर्णाटक देश की स्त्रियां कामकला में कुशल होती हैं, और लाटदेश की स्त्रियाँ चतुर और प्रिय होती हैं, इत्यादि स्त्रीकथा है । **देशकथा**—'दक्षिणदेश में अन्न-पानी बहुत सुलभ होता है, परन्तु वह स्त्रीसंभोगप्रधान देश है । पूर्वदेश में विविध वस्त्र, गुड़, खांड चावल,

मद्य आदि बहुत मिलता है, उत्तरप्रदेश में लोग बड़े शूरवीर हैं, वहां घोड़े तेजतर्रार होते हैं, गेहूं अधिक पैदा होता है, केसर आदि सुलभ है। वहां किशमिश, दाडिम, कैथा आदि फल बहुत मधुर होते हैं; पश्चिम-देश के बने हुए कपड़े कोमल व सुहावने होते हैं; वहां ईख बहुत मिलती है; वहां का पानी बहुत ठंडा होता है; इत्यादि प्रकार से गपशप लगाना। राजकथा—जैसे कि 'हमारा राजा बहादुर है। गौड़ देश के राजा के पास बहुत धन है। गौड़देश के राजा के पास हाथी बहुत हैं, तुर्किस्तान के राजा के पास तुर्की घोड़े बहुत हैं; इत्यादि। इस प्रकार दुनियाभर की गप्पें हांकना राजकथा है। इसी प्रकार खाद्य पदार्थों के सम्बन्ध में प्रतिकूल कथा करना भी सबकी सब विकथा हैं। रोग आदि या मार्ग के परिश्रम के सिवाय सारी रात सोते रहना प्रमाद है। रोग या मार्ग की थकान के कारण सोना प्रमादाचरण नहीं कहलाता।

बुद्धिशाली श्रावक पूर्वोक्त प्रमादाचरणों का त्याग करे। प्रमादाचरण के और भी प्रकार बताते हैं—मद्य, विषय, कषाय, निन्दा, विकथा ये पांच प्रकार के प्रमाद हैं। ये पांचों प्रमाद जीव को संसार में भटकाते है। इस तरह पांचों प्रमादों का विस्तार से वर्णन किया। अब स्थान-विशेष में प्रमाद के त्याग के सम्बन्ध में कहते हैं—

विलास-हास-निष्ठ्यूत-निद्रा-कलह-दुष्कथाः ।
जिनेन्द्र-भवनस्यान्तराहारं च चतुर्विधम् ॥८१॥

अर्थ **जिनालय में विलास, हास्य, थूकना, निद्रा, कलह, दुष्कथा और चारों प्रकार के आहार का त्याग करना चाहिए।**

व्याख्या—जिनभवन में कामचेष्टा या भोगविलास करने, ठहाके मार कर हंसने, थूकने, सोने, लड़ाई-झगड़ा करने, चोर, परस्त्री आदि की कथा करने एवं अशन-पान-खाद्य-स्वाद्य-रूप चार प्रकार के आहार करने का त्याग करना चाहिए। ये सभी कार्य प्रमादाचरणरूप हैं। श्रावक इन्हें छोड़ दे। इनमें चावल आदि अन्न, मूंग, सत्तू पीने के पदार्थ, मोदक, खीर, सूरण आदि कन्द और मालपूए आदि अशन हैं। इसे ही कहते है—चावल, सत्तू मूंग, ज्वार, पकाया हुआ भोजन, खीर, सूरण और पूए ये सभी अशन-रूप आहार हैं। सौवीर, कांजी, जौ आदि धान्य की मदिरा, शर्बत आदि और सभी प्रकार के पेयपदार्थ तथा फलों का रस पानरूप आहार कहलाता है। भुना हुआ, सेका हुआ सूखा धान्य, गुड़-पापड़ी या तिलपट्टी, खजूर, नारियल, किशमिश, ककड़ी, आम, अंगूर, अनार, मौसमी, सतरा आदि अनेक प्रकार के फल खाद्य-रूप आहार के अन्तर्गत समझना; दतौन या दांतमंजन, पान (ताम्बूल) तुलसिका, मुलहठी, अजवाइन, सौंफ, पीपरामूल, सोंठ, कालीमिर्च, जीरा, हल्दी, बहेड़ा, आंवला आदि खाद्यरूप आहार है। इस प्रकार तीन गुणव्रत पूर्ण हुए।

अब चार शिक्षाव्रतों का वर्णन करते हैं। उसके ४ प्रकार हैं। सामायिक, देशावकाशिक, पौष-धोपवास और अतिथि-संविभाग। उसमें प्रथम सामायिक नामक शिक्षाव्रत में सामायिक के स्वरूप वर्णन करते हैं—

त्यक्तार्त्तरौद्रध्यानस्त्यक्त—सावद्यकर्मणः ।
मुहूर्तं समता या तां विदुः सामायिक-व्रतम् ॥८२॥

अर्थ—आर्त्त और रौद्रध्यान का त्याग करके सर्वप्रकार के पाप-व्यापारों का त्याग कर एक मुहूर्त तक समता धारण करने को महापुरुषों ने सामायिकव्रत कहा है।

व्याख्या—एक मुहूर्त यानी दो घड़ी समय तक, समता अर्थात् राग-द्वेष पैदा होने के कारणों में मध्यस्थ रहना, सामायिकव्रत है। सामायिकशब्द की व्युत्पत्ति करके उसका अर्थ करते हैं 'सम' अर्थात् रागद्वेष से रहित होना और आय अर्थात् ज्ञानादि का लाभ। यानी प्रशमसुखरूप अनुभव। वही सम+आय=समाय ही सामायिक है। व्याकरण के नियम से यहां इकण् प्रत्यय लगा है। अतः समाय+इकण् प्रत्यय लग कर सामायिक रूप बना है। वह सामायिक मन, वचन और काया की सदोष चेष्टा (व्यापार) का त्याग किये बिना नहीं हो सकती, इसलिये श्लोक में आर्त्तरौद्रध्यान के त्याग को सामायिक कहा है। पापकारी व्यापार का त्याग भी सामायिक है और सावद्य वाचिक और कायिक कार्यों का त्याग करने वाले की समता को भी सामायिक कहते हैं। सामायिक में रहा हुआ गृहस्थ श्रावक भी साधु के समान होता है। कहा है—"**सामाइयम्मि उ कए समणो इव सावओ**" अर्थात् सामायिक कर लेने पर श्रावक साधु जैसा बन जाता है। इस कारण श्रावक को अनेक बार सामायिक करना चाहिए। और इसी कारण सामायिक में देवस्नात्र-पूजा आदि का विधान नहीं है।

यहाँ शंका होती है कि देवपूजा, स्नात्र आदि तो धर्मकार्य हैं। इन्हें सामायिक में करने से क्या दोष लगता है? सामायिक में तो सावद्यव्यापार का त्याग किया जाता है और निरवद्य व्यापार का स्वीकार किया जाता है। इस दृष्टि से सामायिक में स्वाध्याय करना, पाठ का दोहराना इत्यादि के समान देव-पूजा आदि करने में कौन सा-दोष है? इसका समाधान करते हुए कहते हैं— 'ऐसा कहना ठीक नहीं है। साधु के समान सामायिक में रहे हुए श्रावक को देव-स्नात्रपूजादि करने का अधिकार नहीं है। द्रव्यपूजा के लिए भावपूजा कारणरूप है, इसलिए श्रावक सामायिक में हो तब, भावस्तव से प्राप्त हो जाने वाली वस्तु के लिए द्रव्यस्तव का प्रयोजन नहीं रहता। कहा है कि 'द्रव्य पूजा और भावपूजा इन दोनों में द्रव्यपूजा बहुत गुणों वाली है;' यह अज्ञानी मनुष्य के वचन हैं; ऐसा षड्जीवनिकायों के हितैषी श्रीजिनेश्वरभगवान् ने कहा है। सामायिक करने वाले श्रावक दो प्रकार के होते हैं—ऋद्धि वाले और ऋद्धिरहित। चार जगहों पर सामायिक की जाती है—जिनमन्दिर में, साधु के पास, पौषधशाला में और अपने घर में शान्त, एकान्त स्थान या व्यापार-रहित स्थान में। उसकी विधि यह है—अगर किसी से भय न हो, किसी के साथ विवाद या कलह न हो या किसी का कर्जदार न हो, किसी निमित्त पर बोलाचाली, खींचातानी या चित्त में संक्लेश न हो; ऐसी दशा में अपने घर पर भी सामायिक करके ईर्यासमिति का शोधन करता हुआ, सावद्य-भाषा का त्याग करता हुआ, लकड़ी, ढेला आदि किसी वस्तु की जरूरत हो तो उसके मालिक की आज्ञा लेता है। आँख से भलीभांति देख कर प्रतिलेखना करके और प्रमार्जनिका से प्रमार्जन करके ग्रहण करता है। थूक, कफ, नाक का मैल व लघुनीति आदि का वह यतनापूर्वक त्याग करता है। स्थान अच्छी तरह देख कर, जमीन का प्रमार्जन करता है। इस तरह यतनापूर्वक, पांच समिति तीन गुप्ति का पालन करता है। यदि साधु हो तो, उपाश्रय में जा कर वह उन्हें वंदना करके निम्नलिखित पाठ से सामायिक स्वीकार करता है—

सामायिक सूत्र— **करेमि भंते! सामाइयं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि, जाव साहू पज्जुवासामि दुविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि, तस्स भंते पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि॥'**

यहां सामायिक-सूत्र का अर्थ बताते हैं—'**करेमि**' अर्थात् मैं स्वीकार करता हूँ '**भंते**—यह गुरुमहाराज को आमंत्रण है. 'हे भदंत! भदत का अर्थ सुखवाले और कल्याण वाले होता है। भदुङ् धातु सुख और कल्याण के अर्थ में है, इसके अन्त में 'औ दिक्' सूत्र से 'अन्त प्रत्यय लगने से भदन्त-रूप बना है।

इस सम्बोधन से प्रत्यक्ष-गुरु का आमंत्रण होता है। जैनागमों में बताया गया है कि प्रत्यक्षगुरु के अभाव में परोक्ष-गुरु के लिए भी अपनी बुद्धि से अपने सामने प्रत्यक्षवत् कल्पना की जा सकती है। जिनेश्वरदेव के अभाव मे जिन-प्रतिमा मे जिनत्व का आरोप कर जैसे स्तुति, पूजा, सबोधन आदि होते हैं, वैसे ही साक्षात्-गुरु के अभाव मे मन में उनकी कल्पना करके अपने सामने मानो प्रत्यक्ष विराजमान हों, इस तरह की स्थापना करके साधक सभी धर्मक्रियाएँ आदर-पूर्वक कर सकता है। अतः इसे बताने के लिए ही भंते शब्द का आमंत्रण अर्थ में प्रयोग किया गया है। अतः कहा है कि 'जो गुरुकुलवास में रहता है, वह ज्ञानवान होता है। वह दर्शन तथा चरित्र में अत्यन्त स्थिर हो जाता है। इसलिए भाग्यशाली उत्तम आत्मा जीवनभर गुरुकुलवास (गुरु का आश्रय—गुरु-निश्राय) नहीं छोड़ते। अथवा 'भंते' पद पूर्वमहर्षियों द्वारा उक्त होने से प्राकृत व्याकरण के नियमानुसार आर्षम्' सूत्र के आधार पर '**भवान्त**' पद के बीच के वर्ण का लोप हो कर "**अत एत्सो पुंसि मागध्याम्**—८।४।२८७ इस सूत्र से अर्धमागधी के नियमानुसार प्रथमा विभक्ति के एकवचन में अकार का एकार हो जाता है। इस तरह भवान्तशब्द का भी प्राकृत में 'भंते' रूप हो सकता है। इस दृष्टि से इसका दूसरा अर्थ हुआ 'भंते' यानी 'भवान्त' अर्थात् संसार से पार उतरने और उतारने वाले। '**सामाइयं**' का अर्थ पहले कहा जा चुका है। अर्थात् साधक संकल्प करता है कि मैं आत्मा को समभाव में स्थिर करता हूं।" आत्मा समभाव मे स्थिर कैसे होगा ? इसके लिये आगे का संकल्प है--'**सावज्जं जोगं पच्चक्खामि**'--**सावद्य** अर्थात पापयुक्त जो योग, मन, वचन और काया का पापप्रवृत्तिरूप व्यापार, उसका **पच्चक्खामि** अर्थात् त्याग करता हूं। साधक यहाँ सावद्य-प्रवृत्ति के विरुद्ध निर्णय करता है अथवा उसे नहीं करने का आदरपूर्वक निर्णय करता है। वह कब तक ? उसका नियम आगे कहते हैं—"**जाव साहू पज्जुवासामि**" अर्थात् जब तक साधु की पर्युपासना करता हूँ, तब तक सामायिक करूंगा।

यहाँ जो "यावत्" शब्द है, उसके तीन अर्थ होते है—(१) परिमाण, (२) मर्यादा और (३) अवधारणा—निश्चय। **परिमाण** का अर्थ है—जहां तक साधु की पर्युपासना (सेवा) करे, उतने समय तक पापमय व्यापार का त्याग करना। **मर्यादा** का अर्थ है—साधु की पर्युपासना (सेवा) प्रारम्भ करने से पहले अथवा सामायिक लेने से पहले से पाप-व्यापार का त्याग करना और **अवधारणा** का अर्थ है—साधु की पर्युपासना करे, वहां तक के लिये ही पापव्यापार को छोड़ना; उसके बाद नहीं। इस तरह 'जाव' शब्द के तीन अर्थ समझना। परन्तु आजकल 'जावनियमं' बोला जाता है। इससे सामायिक का परिमाण वर्तमानकाल में कम से कम एक मुहूर्त (दो घड़ी=४८ मिनट) का माना जाता है। अतः फलितार्थ यह हुआ कि सामायिक के प्रारम्भ से लेकर पूर्ण होने तक ही सावद्य (सदोष) व्यापार (प्रवृत्ति) का त्याग करना, उसके बाद नहीं। साधक उस पापव्यापार का किस रूप में त्याग करता है ? इसके लिये आगे का पाठ बताते हैं—"**दुविहं तिविहेण**"। इसका अर्थ है—साधक को सामायिक में दो प्रकार से और तीन प्रकार से होने वाले पापव्यापार का त्याग करना है। जहां पापव्यापार का द्विविध त्याग किया जाता है, वहां दो करण से समझना चाहिए। जैसे—'**न करेमि, न कारवेमि**।' अर्थात् मैं स्वयं पाप-व्यापार नहीं करूंगा और न दूसरे से कराऊंगा। इस तरह सामायिक में इन दोनों प्रकारों से हो सकने वाले पाप-व्यापार का गृहस्थसाधक त्याग करता है।' अनुमोदनरूपी पाप-व्यापार का निषेध नहीं है; क्योंकि वैसा करना गृहस्थ के लिये अशक्य है। पुत्र, नौकर आदि द्वारा किये गये कार्य में स्वयं नहीं करने पर भी अनुमोदन का दोष लगता है। अब **तिविहेणं**—'तीन प्रकार' से का अर्थ समझिये। यहां करण में तृतीया विभक्ति है। यानी सावद्यप्रवृत्ति के लिए तीन साधन हैं--मन, वचन और काया। इन्हें

जैनागमों में **तीन योग कहा है। इसलिये कहा है—'मणेणं, वायाए, काएणं'** अर्थात् मन, वचन और काया से इन तीनों योगों से सावद्य-व्यापार का त्याग करता हूँ। **न करेमि, न कारवेमि** इस इस सूत्र से मन, वचन, काया से नहीं करूंगा और नहीं कराऊंगा इन दोनों प्रकारों का विवरण है। फिर कारण को अर्थात् उद्देश्य को उल्लंघन करके विस्तार से कहा गया है। कहा जाता है कि **योग** तो **करण** के अधीन होने से उपदर्शन मात्र हैं, क्योंकि योग को करणाधीन माना गया है। करण की सत्ता में ही योग होता है और करण के अभाव में योग का अभाव होता है। **तस्सेति'** यहाँ पर **'तस्य'** अधिकृत योग से सम्बन्धित है। यहाँ अवयव-अवयवीभावरूप सम्बन्ध में षष्ठी विभक्ति है। यह योग त्रिकाल-विषयक होता है। अतः इसके पहले अतीत में जो सावद्य-व्यापार किया था उसे **'पडिक्कमामि'** अर्थात उस पाप-कर्म से पीछे हटता हूं। **'निंदामि गरिहामि'** अर्थात् उसकी निन्दा करता हूं गर्हा या गुरु की साक्षी से प्रकट करता हूं। इसमें केवल आत्म-साक्षी से की गई निन्दा है और गुरुसाक्षी से अपने आपको धिक्कारना गर्हा है। "**तस्स भंते'** इस सूत्र में **'भंते'** शब्द फिर आया है, वह अतिशयभक्ति के बताने के लिये व गुरु का पुनः आमंत्रण करने के लिए है। इसलिये पुनरुक्तिदोष जैसा नहीं है। अथवा सामायिकक्रिया के प्रत्यर्पण के लिये पुनः गुरु को सम्बोधित किया गया है। इससे सिद्ध होता है कि समस्त क्रियाओं के अंत में गुरु के प्रति भक्ति प्रदर्शित करनी चाहिए।

भाष्यकार ने और भी कहा है —भदंत या भंते शब्द सामायिक के प्रत्यर्पण का भी वाचक है, यह जान कर सभी क्रियाओं के अन्त में प्रत्यर्पण करना चाहिए। तथा **'अप्पाण'** अर्थात मेरा आत्मा ने भूतकाल में जो पाप-व्यापार किया है, उसका **'वोसिरामि'** मैं विशेष रूप से त्याग करता हूँ। प्रस्तुत सामायिक पाठ में वर्तमानकाल के पाप-व्यापार को त्यागने के लिये **'करेमि भंते सामाइयं'** ; भूतकाल के पाप-व्यापार के त्यागने के लिये **'तस्स भंते पडिक्कमामि'** ; तथा भविष्यकाल के पाप-व्यापार के त्याग के लिये **पच्चक्खामि'** शब्द का प्रयोग है। इस तरह सामायिक में साधक को तीनों काल के पाप-व्यापार का त्याग करना होता है। इसलिये तीनों वाक्यों के प्रयोग में पुनरुक्तिदोष प्रतीत नहीं होता। कहा भी है-- **'अइयं निंदामि, पडुप्पन्नं संवरेमि अणागयं पच्चक्खामि'**। अर्थात् —'भूतकाल के पाप की निंदा करता हूं, वर्तमानकाल के लिये उसका संवर (निरोध) करता हूं ; और भविष्यकाल के लिये पाप-व्यापार का त्याग करता हूं। इस प्रकार से साधक नियम करता है। अपने घर में या अन्य स्थान पर सामायिक ले कर श्रावक गुरु के पास इर्यावही प्रतिक्रमण करे। बाद में गमनागमन से हुए पाप-दोष की आलोचना करके यथाक्रम से विराजमान आचार्य आदि मुनिराजों को वन्दन करे। फिर गुरुमहाराज को वन्दन कर आसन (कटासन) आदि की प्रतिलेखना करके बैठे। तत्पश्चात् गुरुमहाराज से धर्मश्रवण करे, तथा नया अध्ययन करे, या जहां शंका हो वहां पूछे। इस प्रकार स्थानीय जिनमन्दिर या व्याख्यान-स्थल हो, वहां यह विधि समझना। परन्तु अपने घर पर या जिनमन्दिर, व्याख्यानस्थल, उपाश्रय या पौषधशाला में सामायिक ले लो, वह फिर वहीं रहे ; फिर उसे अन्यत्र जाने की जरूरत नहीं है। यह सामान्य श्रावक की विधि कही है।

अब राजा आदि महर्द्धिक श्रावक की विधि कहते हैं— कोई श्रावक राजा आदि हो और वह हाथी आदि उत्तम सवारी में बैठ कर, छत्र-चामर आदि राजचिह्नों से एवं अलंकारों से सुसज्जित हो कर हाथी, घोड़े रथ और पैदल सेना-सहित भेरी आदि उत्तम वाद्यों से आकाशमण्डल को गुंजाता हुआ, भाटों और चारणों के प्रशंसागीतों के कोलाहल से स्थानीय जनता में उत्सुकता पैदा करता हुआ, अनेक

सामन्तो एवं मण्डलेश्वर राजाओं के स्पर्धापूर्वक आडबर के साथ मुनिजनों के दर्शनार्थ आ रहा हो तो लोग उसकी ओर उंगली उठा कर कहेंगे—यह महानुभाव श्रद्धालु धर्मात्मा है।' राजा या वैभवशाली व्यक्ति को मुनिदर्शन के लिए श्रद्धातुर देख कर अन्य लोगों के मन में भी धर्म की भावना उमड़ती है। वे भी सोचते हैं हम भी कभी इस तरह धर्म करेंगे ? अतः साधर्मीजन उक्त धर्मश्रद्धालु राजा को हाथ जोड़ कर प्रणाम करें, अक्षत आदि उछालें। उन लोगों के नमस्कार के प्रत्युत्तर में राजा स्वयं भी धर्म की अनुमोदना करे - 'धन्य है, इस धर्म को, जिसकी ऐसी महान आत्मा सेवा करते हैं।' इस प्रकार सर्वधारण द्वारा धर्म की प्रशंसा करवाते हुए राजा या महर्द्धिक व्यक्ति जिनमन्दिर या साधुसाध्वियों का जहां निवास हो उस उपाश्रय में जाए। वहां जाते ही छत्र, चामर, मुकुट, तलवार और जूते आदि राजचिन्हों को उतार कर फिर जिनवन्दन या साधु-साध्वी-वन्दन करे। अगर राजा सामायिक करके उपाश्रय या जिनमन्दिर में जाएगा तो हाथी-घोड़े आदि उपाधि साथ में होगी। शस्त्र या सेना आदि होंगे! सामायिक में ऐसा करना उचित नहीं होगा। मान लो, सामायिक करके राजा पैदल चल कर जाए तो भी अनुचित है। यदि चुपचाप ऐसे ही सामान्य वेष में या सामान्यजन की तरह श्रावकराजा जाएगा तो कोई खड़ा हो कर उसका सत्कार भी नहीं करेगा। अतः अत्यन्त विनीतभाव से यथाभद्रक हो कर राजा भी चला आए तो पहले से उसके बैठने के लिए आसन तैयार करना और वहीं सत्कार-पूजा करना है। अन्य कुछ भी नहीं करना है। आचार्य महाराज तो पहले से ही उठ कर वहां घूमने लगे; ताकि राजा के आने पर खड़े नहीं होना पड़े। क्योंकि उस सम्बन्ध में उठने, न उठने से कोई दोष नहीं लगता! यह केवल एक व्यवहार है। राजा या ऋद्धिमान श्रावक को इस विधि से आदरपूर्वक सामायिक करनी चाहिए। सामायिक में रहने से महानिर्जरा होती है। इसे ही दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं—

सामायिकव्रतस्थस्य गृहिणोऽपि स्थिरात्मनः।
चन्द्रावतंसकस्येव क्षीयते कर्म संचितम् ॥८३॥

अर्थ—गृहस्थ होने पर भी सामायिक-व्रत में स्थिर आत्मा के चन्द्रावतंसक राजा की तरह पूर्वसंचित कृत कर्म क्षीण हो जाते हैं।

यह उदाहरण गुरुपरम्परा से गम्य है। वह इस प्रकार है—

सामायिक में समाधिस्थ चन्द्रावतंसक नृप

लक्ष्मी के संकेतगृह के समान उज्ज्वल, इन्द्रपुरी की शोभा को मात करने वाला साकेतपुर नगर था। वहां पृथ्वी के मुकुटसम दूसरे चन्द्रमा के समान जननयनआल्हादक 'चन्द्रावतंसक' राजा राज्य करता था। बुद्धिशाली राजा अपने देश की रक्षा के लिए शस्त्रधारण करता था, इसी प्रकार आत्मगुणों की रक्षा के लिए चार प्रखर एवं कठोर शिक्षाव्रत भी धारण किये हुए था। माघ महीने में एक बार रात को अपने निवासस्थान पर उसने सामायिक अंगीकार की और ऐसा संकल्प करके कायोत्सर्ग में खड़ा हो गया कि 'जब तक यह दीपक जलता रहेगा, तब तक मैं सामायिक में रहूंगा।' दीपक में तेल जब कम होने लगा तो उनकी शय्यापालिका दासी ने रात के पहले पहर में ही दीपक में यह सोच कर और तेल उड़ेल दिया कि स्वामी को कहीं अंधेरा न हो।' स्वामीभक्तिवश वह दूसरे पहर तक जागती रही और फिर उसने जा कर दीपक में पुनः तेल डाल दिया। दीपक लगातार जलता रहा। अतः राजा ने तीसरे पहर तक अपने संकल्प (अभिग्रह) के अनुसार कायोत्सर्ग चालू रखा। शय्या-

पालिका को राजा के संकल्प का पता नहीं था, अतः उसने फिर दीपक में उंडेल दिया। रात्रि पूर्ण हुई। प्रातःकाल होगया, पर राजा संकल्पानुसार कायोत्सर्ग में खड़ा रहा। रातभर की थकान से शरीर चूर-चूर होकर अधिक व्यथा न सह सकने के कारण धड़ाम से गिर पड़ा। राजा का शरीर छूट गया। परन्तु अन्तिम समय तक समाधिभाव में रहने के कारण अशुभ कर्मों का क्षय हो जाने से राजा मर कर स्वर्ग में गया। इसी प्रकार अन्य गृहस्थ भी सामायिकव्रत अंगीकार करके समाधिभाव में स्थिर रहे तो वह अवश्य ही अशुभकर्मों का क्षय करके तत्काल सद्गति प्राप्त कर लेता है। यह है चन्द्रावतंसकनृप की कथा का हार्द!

अब देशावकाशिक नामक द्वितीय शिक्षाव्रत के सम्बन्ध में कहते हैं—

दिग्व्रते परिमाणं यत्, तस्य संक्षेपणं पुनः।
दिने रात्रौ च देशावकाशिकव्रतमुच्यते ॥८४॥

अर्थ—**दिग्व्रत में गमन की जो मर्यादा की हो, उसमें से भी एक अहोरात्रि के लिए संक्षेप करना देशावकाशिकव्रत कहलाता है।**

व्याख्या—दिग्व्रत नामक प्रथम गुणव्रत में दशों दिशाओं में गमन की जो सीमा (मर्यादा) निश्चित की हो, उसमें से भी पूरे दिनरातभर के लिए, उपलक्षण से पहर आदि के लिए विशेषरूप से संक्षेप करना देशावकाशिक व्रत कहलाता है। यहां दिग्व्रत में प्रथमव्रत के संक्षेप करने के साथ साथ उपलक्षण से दूसरे अणुव्रत आदि का भी संक्षेप समझ लेना चाहिए। प्रत्येक व्रत के संक्षेप करने के लिए उसका प्रत्येक का एक-एक व्रत रखा जाता, तो व्रतों की संख्या बढ़ जाती, और व्रतों की शास्त्रोक्त १२ संख्या के साथ विरोध पैदा हो जाता।'

अब तीसरे शिक्षाव्रत पौषधव्रत के विषय में कहते हैं—

चतुष्पर्व्यां चतुर्थादि, कुव्यापारनिषेधनम्।
ब्रह्मचर्यक्रियास्नानादित्यागः पौषधव्रतम् ॥८५॥

अर्थ—**चार पर्व-दिनों में चतुर्थभक्त-प्रत्याख्यान आदि उपवासतप, कुप्रवृत्ति का त्याग, ब्रह्मचर्यपालन एवं स्नानशृंगारादि का त्याग किया जाय, उसे पौषधव्रत कहते हैं।**

व्याख्या—अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा और अमावस्या ये चार पर्वतिथियां कहलाती हैं। इन पर्वतिथियों में पौषधव्रत अंगीकार करना श्रावक के लिए विहित है। इस व्रत में उपवास आदि तप के साथ सावद्य (पापमय) प्रवृत्ति को बंद करना, ब्रह्मचर्य का पालन करना, स्नानादि शरीर-संस्कार का त्याग; आदि शब्द से तेलमालिश, मेंहदी लगाना, चन्दनादि लेप करना, इत्रफुलेल आदि लगाना, सुगन्धित फूलों की माला अथवा मस्तक पर पुष्पहार धारण करना, बहुमूल्य, रंगविरंगे, भड़कीले वस्त्र, एवं अलंकार पहनना, शरीर को शृंगार करके सुसज्जित करना, सुन्दर बनाना आदि बातों का त्याग भी समझ लेना चाहिए। इन निषिद्ध वस्तुओं का त्याग तथा ब्रह्मचर्य व तप का स्वीकार करके धर्म को पुष्ट करना, **पौषधव्रत** कहलाता है। वह पौषध दो प्रकार का होता है—**देशपौषध और सर्वपौषध**। आहारपूर्वक पौषध **देशपौषध** होता है। किन्तु आहारसहित पौषध विविध विगई (विकृति-जनक पदार्थ) के त्यागपूर्वक आयम्बिल, एकासन या बेयासन से किया जाता है। पूरे दिनरातभर का पौषध चारों ही प्रकार के आहार के सर्वथा त्यागपूर्वक उपवाससहित होता है। इसमें दूसरे दिन सूर्योदय होने तक का प्रत्याख्यान होता है। देशतः (अंशतः) पाप-प्रवृत्तियों का त्याग देशपौषध कहलाता है। इसमें किन्हीं

एक या दो पाप-व्यापारों को छोड़ना होता है। एक अहोरात्र के लिए खेती, नौकरी, व्यापार-धंधा, पशुपालन एवं घर के आरम्भ समारम्भादियुक्त सभी कार्य व्यापारो को छोड़ना सर्व-व्यापारपौषध कहलाता है। ब्रह्मचर्यपौषध भी देशतः और सर्वतः दोनों प्रकार से होता है। एक या दो बार से अधिक स्त्रीसेवन का त्याग करना देशतः ब्रह्मचर्यपौषध और पूरे दिनरातभर के लिए पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करना सर्वतः ब्रह्मचर्यपौषध है। इसी प्रकार स्नानादित्यागपौषध भी देशतः और सर्वतः दोनो प्रकार से होता है। एक या दो बार से अधिक स्नानादि शरीरसस्कार करने का त्याग देशतः स्नानादिपौषध और पूरे दिनरातभर स्नानादि का त्याग करना सर्वतः पौषध है। यहाँ देशतः कुव्यापार-(सावद्यप्रवृत्ति) निषेधरूप पौषध जब करे, तब चाहे सामायिक या न करे, परन्तु सर्वपौषध करे तब तो अवश्य ही सामायिक करे। यदि ऐसा नहीं करेगा तो वह पौषध के फल से वंचित रहेगा। सर्वपौषध जब भी करे तब उपाश्रय, जिनमन्दिर में या घर में एकान्त स्थान में करे तथा उस समय पौषधव्रत के लेने से पहले ही स्वर्ण, स्वर्ण के आभूषण, पुष्पमाला, विलेपन, शस्त्र आदि का त्याग करके सामायिक व्रत का अंगीकार करे। पौषध में स्वाध्याय, अध्ययन, अध्यापन, सत्साहित्यवाचन, धर्मध्यान व अनुप्रेक्षाओं (भावनाओं) पर चिन्तन करे। साथ ही यह विचार भी करे कि 'अहो! मैं कितना अभागा हूं कि अभी तक साधुत्व के गुणों को धारण करने में समर्थ नहीं हो सका।'

यहा इतनी बात खासतौर से समझ लेनी चाहिए कि यदि पौषधव्रत भी आहारत्याग, शरीर-सस्कारत्याग और ब्रह्मचर्यपालन की तरह कुव्यापारत्याग के रूप में **अण्णत्थणाभोगेणं** यानी आगार-सहित स्वीकार किया हो (आगार रखा हो), तो उसका सामायिक करना सार्थक है, वरना नहीं है। क्योंकि पौषध के नियम आगारसहित स्थूलरूप हैं, जबकि सामायिक के नियम सूक्ष्मरूप हैं। यद्यपि पौषध मे सावद्यव्यापार (प्रवृत्ति) का सर्वथा त्याग करना आवश्यक है, तथापि सामायिक न करने से उसका लाभ नही मिलता। इसलिए पौषध के साथ सामायिक अवश्य करना चाहिए। श्रावकसमाचारी की विशेषता से यदि पौषध भी सामायिक की तरह पूर्वोक्त दुविहं तिविहेण (दो करण तीन योग से) स्वीकार किया गया है, तब तो सामायिक का कार्य पौषध से ही हो जाता है। अलग से सामायिकग्रहण विशेष फलदायी नही होता। फिर भी यदि श्रावक मन में यह अभिप्राय रखता है कि मैंने पौषध और सामायिक दोनों व्रत स्वीकार किये है तो उसे पौषध और सामायिक दोनों का लाभ मिलता है।

अब पौषधव्रत करने वाले की प्रशसा करते है -

गृहिणोऽपि हि धन्यास्ते पुण्यं ये पौषधव्रतम्।
दुष्पालं पालयन्त्येव, यथा स चुलनीपिता ॥८६॥

अर्थ - गृहस्थ होते हुए भी वे धन्य हैं, जो चुलनीपिता के समान कठिनता से पाले जा सके, ऐसे पवित्र पौषधव्रत का पालन करते हैं।

चुलनीपिता का सम्प्रदायगम्य दृष्टान्त इस प्रकार है -

श्रावकव्रतधारी चुलनीपिता की पौषध में दृढ़ता

गंगानदी के किनारे विचित्र रचनाओं से मनोहर, पृथ्वी के तिलक-समान श्रेष्ठ वाराणसी नगरी में मनुष्यों में मूर्तिमान धर्म की तरह महासेठ नामक श्रेष्ठी रहता था। उसके यहाँ चुलनीपिता

का जन्म हुआ। जगदानन्ददायी चन्द्रमा की सहचारिणी जैसे श्यामा (रात्रि) है, वैसे ही उसके अनुरूप श्यामा नामकी उसकी रूपवती सहधर्मिणी थी। चुलनीपिता के यहाँ कुल २४ करोड़ सोनैयों की सम्पत्ति थी—आठकरोड़ स्वर्णमुद्राएँ जमीन में खजाने के रूप में सुरक्षित रखी हुई थीं, आठ करोड़ मुहरें ब्याज के रूप में लगाई हुईं थीं और आठ करोड़ से उसका व्यवसाय चलता था। उसके यहाँ दस-दस हजार के प्रत्येक गोकुल के हिसाब से ८ गोकुल थे। उसके घर में भी और प्रकार की संपत्ति थी। इस तरह वह काफी जमीन-जायदाद का मालिक था। एक बार वाराणसी के बाहर कोष्ठक उद्यान में चरमतीर्थंकर श्रमण भगवान् महावीरस्वामी विचरण करते हुए पधारे। भगवान् के चरणकमलों में वन्दनार्थ सुर-असुरसहित इन्द्र भी आए और नगरी का राजा जितशत्रु भी पहुँचा। चुलनीपिता ने जब यह सुना तो मन में आल्हादित हो कर धर्मसभा के लिए उचित वस्त्राभूषण पहन कर पैदल चल कर वह भी त्रिलोकीनाथ भगवान् के चरणों में वन्दनार्थ पहुँचा। भगवान् को वन्दनानमस्कार करके धर्मसभा में बैठ कर परमभक्तिपूर्वक करबद्ध हो कर उसने भगवान् का प्रवचन सुना। प्रवचन समाप्त होने पर चुलनीपिता ने विनयपूर्वक नमस्कार करके प्रभुचरणों में निवेदन किया—'स्वामिन्! सूर्य जैसे केवल जगत् को प्रकाश देने के लिए ही भ्रमण करता है, इसके सिवाय उसका कोई प्रयोजन नहीं है; वैसे ही आप भी मुझसरीखे लोगों को प्रतिबोध देने के लिए ही भूमंडल पर विचरण करते हैं। संसार में और सभी के पास तो जा कर याचना की जाती है, तब कोई देता है, कोई नहीं देता; परन्तु आप तो बिना ही याचना किये निःस्पृहभाव से सम्मुख जा कर धर्मदेशना देते हैं। इसमें आपकी अहैतुकी कृपादृष्टि ही कारण है। मैं जानता हूं कि आपश्री के पास मुझे अनगारधर्म स्वीकार करना चाहिए; लेकिन अभी इस अभागे में इतनी योग्यता, क्षमता और शक्ति नहीं कि इतना उच्च चारित्र का भार उठा सकें; वे धन्य हैं, जो पूर्ण चारित्र का भार उठाते हैं, दीक्षा लेते हैं। आपश्री से श्रावकधर्म ग्रहण करने की मेरी भावना है। आपसे प्रार्थना है कि कृपया मुझे श्रावकधर्म प्रदान कीजिए।" **'समुद्र जल से परिपूर्ण होता है, लेकिन घड़ा अपनी योग्यतानुसार ही उसमें से जल ले सकता है।'**

भगवान् ने उत्तर में कहा—"देवानुप्रिय! तुम्हें जैसा सुख हो, वैसा करो। परन्तु धर्मकार्य में जरा भी विलम्ब मत करो।" तत्पश्चात् चुलनीपिता ने भगवान से १२ व्रत इस प्रकार ग्रहण किए। स्थूल हिंसा, स्थूल असत्य, स्थूल अदत्तादान और अपनी पत्नी श्यामा के सिवाय तमाम स्त्रियों का त्याग किया, आठ करोड़ से अधिक स्वर्णमुद्राएं सुरक्षित निधि के रूप में, आठ करोड़ से अधिक व्यापार-धंधे में और आठ करोड़ से अधिक ब्याज के रूप में न रखने का नियम लिया। ५०० हलों से हो सके, इतनी खेती के लिए जमीन रखी। ५०० गाड़ियां परदेश में व्यापार के लिए, ५०० गाड़ियाँ भार ढोने के लिए रख कर इससे अधिक का उस महामति ने त्याग किया। उसने ४ बड़े जलयान से अधिक न रखने का भी नियम लिया। सातवें उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रत में उसने २६ बोलों में से कुछ बोलों की मर्यादा इस प्रकार की—(१) शरीर पोंछने के लिए सुगन्धित काषायवस्त्र (तौलिया) के अतिरिक्त वस्त्र का, (२) महुड़े के पेड़ के हरे दतौन से अतिरिक्त दतौन का, (३) आंवले के फल के सिवाय फल का, (४) सहस्रपाक और शतपाक तेल के सिवाय अन्य तेल लगाने का, (५) गंधाढ्य के अलावा अन्य किसी वस्तु को शरीर पर मलने का, (६) आठ उष्ट्रिकाओं (मिट्टी के बड़े-बड़े घड़ों) से अधिक पानी स्नान के लिए इस्तेमाल करने का, (७) दो सूती कपड़ों से अधिक वस्त्र का, (८) केसर, अगर और चंदन के अलावा किसी वस्तु के विलेपन का, (९) कमलजातीय पुष्प के अतिरिक्त पुष्पों की माला का, (१०) कान के आभूषण और नामांकित अगूठी के सिवाय अन्य आभूषणों का, (११) तुरुष्क को छोड़

कर अन्य धूप का, (१२) ईंधन से गर्म किये पेयपदार्थ के अतिरिक्त अन्य पेय द्रव्यों का, (१३) खाजा और घेवर के सिवाय अन्य खाद्यद्रव्यों का, (१४) कलम्बशाली (एक किस्म के चावल) ओदन के सिवाय अन्य सभी ओदनों का, (१५) मटर, मूंग एवं उड़द की दाल के अलावा अन्य सभी दालों (सूपों) का, (१६) शरत्कालनिष्पन्न, गाय के घी के सिवाय अन्य सब घृतों का, (१७) पालक और मंडूकी के शाक के सिवाय अन्य सागों का, (१८) इमली और कोंकम के सिवाय अन्य सभी खटाइयों का, (१९) वर्षाजल के अलावा अन्य पेयजल का, (२०) पांच प्रकार के द्रव्यों से सुगन्धित ताम्बूल के सिवाय अन्य मुखवास का त्याग किया। इसके बाद उसने आर्तध्यान रौद्रध्यान, हिंसा के उपकरणप्रदान, प्रमादाचरण, पापकर्मोपदेश या प्रेरणा ; इन पंचविध अनर्थदण्डों का त्याग किया। चार शिक्षाव्रत भी अंगीकार किए। इस प्रकार भगवान महावीर से सम्यक्त्वसहित समस्त-अतिचाररहित श्रावकव्रत सम्यक् प्रकार से ग्रहण किये और भगवान् को नमस्कार करके वह अपने घर गया। वहां अपनी धर्मपत्नी से भी उसने खुद ने अंगीकार किये हुए श्रावकधर्म का जिक्र किया। पत्नी ने भी उन श्रावकव्रतों को ग्रहण करने की इच्छा से अपने पति चुलनीपिता से आज्ञा मांगी। पति की आज्ञा पा कर श्यामा उसी समय धर्मरथ में बैठ कर भगवान् की सेवा में पहुंची और उसने भी प्रभु को वन्दना-नमस्कार करके श्रावकधर्म के व्रत ग्रहण किये।

उसके चले जाने के बाद गणधर गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर से नमस्कार करके विनयपूर्वक पूछा—"प्रभो ! यह चुलनीपिता अनगारधर्म को क्यों नहीं स्वीकार कर सका ?" भगवान् ने कहा—"यह अनगारधर्म को अंगीकार नहीं करेगा। परन्तु श्रावकधर्म में ही तल्लीन हो कर आयुष्य पूर्ण होने पर मर कर सौधर्म देवलोक में उत्पन्न होगा। वहाँ अरुणाभविमान में चार पल्योपम की स्थिति वाला देव बनेगा। और वहाँ से च्यव करके यह महाविदेहक्षेत्र में मनुष्य जन्म पा कर निर्वाणपद को प्राप्त करेगा।"

जीवन के सन्ध्याकाल में चुलनीपिता ने अपने ज्येष्ठपुत्र को घर और परिवार का सारा भार सौंप दिया और स्वयं निवृत्त हो कर धर्मध्यान में रत रहने लगा। एक बार चुलनीपिता पौषधशाला में पौषधव्रत ले कर आत्मचिन्तन में लीन था। उस दौरान एक मायावी मिथ्यात्वी देव रात के समय परीक्षा की दृष्टि से उसके पास आया और विकराल रूप बना कर हाथ में नंगी तलवार लिए गर्जती हुई भयंकर आवाज में कहने लगा—'अरे ! अनिष्ट के याचक श्रावक ! तूने यह क्या धर्म का ढोंग कर रखा है ? मैं आदेश देता हूं—श्रावक व्रत का यह दंभ छोड़ दे ! अगर तू इसे नहीं छोड़ेगा, तो तेरे ही सामने इस तलवार से तेरे बड़े लड़के के कुम्हड़े के समान टुकड़े-टुकड़े कर दूंगा। और तेरे देखते ही देखते, उसके मांस के टुकड़े कड़ाई में खोलते हुए तेल में डाल कर तलूंगा और उसी क्षण शूल में बींध कर उन्हें खाऊंगा। तथा उसका खून भी तेरे सामने ही पीऊंगा। जिसे देख कर तू स्वयं अपने प्राण छोड़ देगा।' "देव की इस प्रकार की भयंकर ललकार सुन कर भी बादलों की गड़गड़ाहट एवं गर्जनतर्जन से जैसे सिंह कंपायमान नहीं होता, वैसे चुलनीपिता भी देव की सिंहगर्जना से जरा भी भयभीत नहीं हुआ। चुलनीपिता को अडोल देख कर देव बार-बार डरावनी सूरत बना कर डराने के लिए धमकियां देता रहा, मगर चुलनीपिता ने देव के सामने देखा तक नहीं, जैसे भौंकते हुए कुत्ते के सामने हाथी नहीं देखता। इसके बाद निर्दय क्रूरात्मा देव ने कृत्रिमरूप से बनाए हुए चुलनीपिता के बड़े पुत्र को उसके सामने पशु की तरह तलवार से काट डाला। और फिर उसके टुकड़े-टुकड़े करके धधकते हुए तेल की कड़ाही में डाल दिये। कुछ टुकड़े तवे पर सेकने लगा। जब वे पक गए तो उन्हें तीखे शूल से बींध कर वह देव खाने लगा। तत्त्वज्ञ चुलनीपिता ने यह सारा उपसर्ग (कष्ट) समभाव से सहन किया। सच है, अन्यत्वभावना के धनी

आत्माओं को अपने अंग को काट डालने पर जरा भी व्यथा नहीं होती। देव ने देखा कि यह मेरे प्रयोग से जरा भी विचलित न हुआ, तब उसने दूसरा दाव फेंका। देव ने धमकी देते हुए कहा— 'देख ! अब भी मान जा, मेरी बात, और छोड़ दे इस धर्म के पाखंड को ! क्या धरा है इस प्रकार व्यर्थ कष्ट सहने में ? इतने पर भी अगर तू यह व्रत नही छोड़ेगा तो फिर मैं तेरे मझले पुत्र को भी तेरे बड़े पुत्र की तरह खत्म कर दूंगा।" यों कह कर पहले की तरह मझले पुत्र को भी काटा और बार-बार उसके सम्मुख क्रूर अट्टहास्य करने लगा, मगर इससे भी चुलनीपिता क्षुब्ध नही हुआ। फिर दांत किटकिटाते हुए देव ने अपने वाक्य दोहराए और उसके छोटे पुत्र को भी तलवार से उड़ा दिया। किन्तु फिर भी अविचल देख कर देव का क्रोध दुगुना हो गया। देव ने फिर चुनौती देते हुए कहा— 'अरे धर्म के ढोंगी ! अब भी तू अपना पाखंड नही छोड़ेगा तो देख ले ! तेरे सामने ही तेरी माता की भी वही गति करूंगा।" फिर उसने चुलनीपिता की माता भद्रा की-सी हूबहू प्रतिकृति बना कर रुग्णदशा से पीड़ित, दीन-हीन, मलिनमुखी रोती हुई करुण हिरनी के समान उसे बताते हुए कहा— "इस व्रत को तिलांजलि दे दे ! यह व्रत तेरे परिवार के प्राणनाश का परवाना ले कर आया है ! क्या तू इतना भी नहीं समझता कि तेरे तीनों पुत्रों को मैंने तेरे देखते ही देखते मौत के मुंह में झोंक दिये। इतने पर भी तू अपना हठ नही छोड़ेगा तो तेरे कुल की आधारभूत देवगुरुसमान तेरी जननी को मार कर उसका मांस भुन कर और पका कर चट कर जाऊंगा। यह मेरी अन्तिम चेतावनी है।" परन्तु इतने पर भी चुलनीपिता को भयविह्वल न देख कर देवता ने भद्रा को उसकी चोटी पकड़ कर घसीटा और जैसे कत्लखाने में कसाई को छुरा हाथ में लिए सामने देख कर बकरा कम्पित हो कर जोर-जोर से चिल्लाने लगता है, वैसे ही ऐसा दृश्य दिखाया कि माता भद्रा के सामने तलवार ले कर मारने को उद्यत हो रहा है, और माता भद्रा हृदयविदारक करुण रुदन एवं चित्कार कर रही है। इस दयनीय दृश्य के साथ ही देव ने फिर चुलनी-पिता से कहा—"ओ स्वार्थी पेटू ! अपनी माता की हालत तो देख ! जिसने तुझे जन्म दिया है, अपने उदर में रख कर तेरा भार सहा है। वह मां, आज मारी जा रही है और तू स्वार्थी बन कर बैठा है !" इस पर चुलनीपिता ने मन ही मन सोचा—"यह परमाधार्मिक असुर के समान कोई दुरात्मा है, जो मेरे तीन पुत्रों को तो मार कर चट कर गया है और अब मेरी माता को भी कसाई के समान मारने पर तुला है। अतः अच्छा तो यह है कि इसके मारने से पहले ही मैं अपनी मां को बचा लूं।" इस विचार से पौषध से चलित हो कर चुलनीपिता देव को पकड़ने के लिए उठा और जोर से गर्जना की। यह देखते ही देव महाशब्द करता हुआ अदृश्य हो कर आकाश में उड़ गया। उस देवता के जाते ही वहाँ सन्नाटा था। परन्तु उस कोलाहल को सुन कर भद्रा माता तुरंत दौड़ी हुई वहाँ आई और पूछने लगी—"बेटा ! क्या बात थी ? इस प्रकार जोर-जोर से क्यों चिल्ला रहे थे ?" चुलनीपिता ने सारी घटना कह सुनाई। सुन कर भद्रामाता ने कहा— 'पुत्र ! यह तो देवमाया थी ! कोई मिथ्यादृष्टिदेव झूठमूठ भय दिखा कर तेरे पौषधव्रत को भंग करने आया था। वह अपने काम में सफल हो गया है। अतः तू पौषध-व्रत-भंग होने की आलोचना करके प्रायश्चित्त ले कर शुद्ध हो जा। व्रतभंग होने की आलोचना नहीं की जाती तो अतिचार से व्रत मलिन हो जाता है।" तब निर्मलमति अनाग्रही चुलनीपिता ने माता के वचन शिरोधार्य किये और व्रतभंग के दोष की आलोचना करके शुद्धि की। फिर स्वर्ग के महल के सोपान पर चढ़ने की तरह क्रमशः ग्यारह श्रावकप्रतिमाएँ स्वीकार कीं। और भगवान् के वचनानुसार अखण्ड तीक्ष्ण-धारा के समान दीर्घकाल तक कठोररूप से उन ११ प्रतिमाओं की आराधना की। तत्पश्चात् बुद्धिशाली श्रावक ने संलेखनापूर्वक आजीवन अनशन कर लिया, जिसका उसने आराधनाविधिपूर्वक पालन किया

और समाधिमरणसहित अपना शरीर छोड़ा। वहाँ से मर कर चुलनीपिता प्रथम देवलोक में अरुणप्रभ नामक देव बना। जिस प्रकार चुलनीपिता ने दुराराध्य पौषधव्रत की आराधना की थी, उसी प्रकार और भी जो कोई आराधना-साधना करेगा, वह दृढव्रती श्रावक अवश्य ही मुक्ति पाने का अधिकारी बनेगा। यह है, चुलनीपिता की व्रतदृढ़ता का नमूना!

अब अतिथिसंविभाग नामक चौथे शिक्षाव्रत के सम्बन्ध में कहते हैं—

दानं चतुर्विधाऽऽहारपात्राऽच्छादनसद्मनाम्।
अतिथिभ्योऽतिथिसंविभागव्रतमुदीरितम् ॥८७॥

अर्थ—**चार प्रकार का आहार, वस्त्र, पात्र, मकान आदि कल्पनीय वस्तुएं साधु-साध्वियों को दान देना, अतिथिसंविभाग नामक चौथा शिक्षाव्रत कहा है।**

व्याख्या अतिथि का अर्थ है जिसके आगमन की कोई नियत तिथि न हो, जिसके कोई पर्व या उत्सव आदि नियत न हों, ऐसे उत्कृष्ट अतिथि साधुसाध्वी है। उनके लिए **संविभाग** करना, यानी जब वे भिक्षा के लिए भोजनकाल में पधारें तो उन्हें अपने लिए बनाये हुए अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य-रूप चार प्रकार के आहार में से दान देना, तूम्बे या लकड़ी आदि के पात्र, ओढने के लिए वस्त्र या कम्बल और रहने के लिए मकान और उपलक्षण से पट्टा, बाजौट, चौकी, पटड़ा, शय्या आदि का दान देना, **अतिथिसंविभागव्रत** है। इससे स्वर्ण आदि के दान का निषेध किया गया है, क्योंकि साधु को उसे रखने का विधान नहीं है। वास्तव में ऐसे उत्कृष्ट सुपात्र को उनकी आवश्यकतानुसार दान देने को अतिथिसंविभागव्रत कहते हैं। अतिथिसंविभागव्रत की व्युत्पत्ति के अनुसार इस प्रकार अर्थ होता है—**अतिथि**—यानी जिसके कोई तिथि, वार, दिन, उत्सव या पर्व नहीं है ऐसे महाभाग्यशाली दानपात्र को अतिथि—साधुसाध्वी कहते है। **संविभाग** में **सम्** का अर्थ है सम्यक् प्रकार—आधाकर्म आदि ४२ दोषों से रहित **वि**—अर्थात् विशिष्ट प्रकार से पश्चात्कर्म आदि दोषरहित, **भाग** अर्थात् देय वस्तु में से अमुक अंश देना। इस प्रकार समग्र अतिथिसंविभागव्रत पद का तात्पर्य यह हुआ कि अपने आहार-पानी, वस्त्र, पात्र आदि देयपदार्थों में से यथोचित अंश साधुसाध्वियों को निर्दोष भिक्षा के रूप में देने का व्रत-नियम अतिथि-संविभागव्रत है, बशर्ते कि वह आहारपानी आदि देय वस्तु न्यायोपार्जित हो, अचित्त या प्रासुक हो, दोषरहित हो, साधु के लिए कल्पनीय हो; तथा देश, काल, श्रद्धा और सत्कारपूर्वक, स्वपर-आत्मा के उपकार की बुद्धि से साधु को दी जाय! कहा भी है—न्याय से कमाया हुआ और साधु के लिए कल्पनीय आहार-पानी आदि पदार्थ देश, काल, श्रद्धा और सत्कारपूर्वक उत्तम भक्तिभावों (शुभ परिणामों) से युक्त हो कर स्वपर-कल्याण की बुद्धि से संयमी को दान करना अतिथिसंविभागव्रत है। दान (संविभाग) में विधि, द्रव्य, दाता और पात्र चार बातें देखनी चाहिए।

पात्र—साधुवर्गरूप उत्कृष्ट पात्र हो भिक्षाजीवी हो, संयमी हो वह उत्कृष्ट सुपात्र है।

दाता—देय भिक्षा के ४२ दोषों में से १६ उत्पादन के दोष दाता से ही लगते हैं। दाता वही शुद्ध होता है, जो साधु के निमित्त से भावुकतावश, कोई चीज आरम्भ-समारम्भपूर्वक तैयार न करता, करवाता हो, न पकाता हो, न खरीद कर लाता हो,। साधु को भिक्षा देने के पीछे उसकी कोई लौकिक या भौतिक कामना नामना या स्वार्थलिप्सा न हो; वह किसी के साथ प्रतिस्पर्धा की भावना से न देता हो। शर्माशर्मी, देखादेखी या अरुचि से नहीं बल्कि उत्कट श्रद्धाभक्तिपूर्वक दान देता हो।

द्रव्य—देय द्रव्य-पदार्थ वही शुद्ध कहलाता है, जो प्रासुक, अचित्त, साधु के लिए कल्पनीय एवं एषणीय हो ; साधुवर्ग के लिए जो धर्मोपकरण के रूप में शास्त्र में विहित है या जो खाद्यपदार्थ साधु के लिए ग्राह्य है।

विधि—भिक्षा देने की विधि भी निर्दोष होनी चाहिए, साधुवर्ग की अपनी आचारमर्यादा के अनुरूप उन्हें आहारादि के ४२ दोषों से रहित भिक्षा दी जाए, तभी संयमपोषक और सर्वसंपत्कारी भिक्षा हो सकती है। अन्यथा गलत विधि से दी गई या ली गई भिक्षा तो भिक्षु की तेजस्विता को ही समाप्त कर देती है।

वही भाग्यशाली धन्य है जो साधुवर्ग का सम्मान करता है, अशन, पान, खादिम-स्वादिम रूप समग्र आहारसामग्री ; उनके संयम के लिए हितकर वस्त्र, पात्र, कम्बल, आसन; निवास के लिए स्थान, पट्टे, चौकी, आदि संयमवृद्धि के साधन अत्यन्त प्रीतिपूर्वक साधुसाध्वियों को देता है। जिनेन्द्र भगवान् के आज्ञापालक सुश्रावकों को चाहिए कि वे साधुसाध्वियों को उनके लिए कल्पनीय, एषणीय, निर्दोष वस्तु में यथोचित मात्रा में दें। और उन्हें दी हुई वस्तु कदापि अपने कार्य में इस्तेमाल न करे। अपने रहने के लिए स्थान, आसन, शय्या, आहार-पानी, औषध, वस्त्र ; पात्र आदि उपकरण प्रचुर मात्रा में हों, तो उनमें से स्वल्पमात्रा में ही सही, साधुसाध्वियों को देने चाहिए। वाचकमुख्य श्रीउमास्वातिजी म० प्रशमरति-प्रकरण गाथा १४५-१४६ में कहते हैं—'निर्दोष, शुद्ध एवं कल्पनीय आहार, शय्या, वस्त्र, पात्र और औषध आदि कोई भी वस्तु कारणवश अकल्पनीय भी हो जाती है और जो अकल्पनीय है, वह कारणवश कल्पनीय भी हो जाती है। देश, काल, पुरुष, परिस्थिति, उपघाता (उपभोक्ता) और शुद्ध-परिणाम को ले कर कोई वस्तु कल्पनीय हो जाती है और कोई अकल्पनीय हो जाती है। एकान्तरूप से कोई भी वस्तु कल्प्य या अकल्प्य नहीं होती।"

यहाँ शंका होती है कि शास्त्र में आहार-दाता का नाम तो प्रसिद्ध है, सुना भी जाता है, परन्तु वस्त्रादि-दाता का नाम न प्रसिद्ध है, न सुना ही जाता है, तो वस्त्रादि देना कैसे उचित है ? इसका समाधान करते हुए कहते हैं—"यह कहना यथार्थ नहीं है। श्री भगवतीसूत्र आदि में वस्त्रादि का दान देना स्पष्टतः बताया गया है। वह पाठ इस प्रकार है—"**समणे णिग्गंथे फासुएणं एसणिज्जेणं असण-पाण-खाइम—साइमेणं, वत्थ-पडिग्गह-कंबल-पायपुंछणेणं पीढफलग-सेज्जासंथारएण पडिलाभेमाणे विहरइ।**' अर्थात्—श्रमणोपासक गृहस्थ श्रमणनिर्ग्रन्थों को अचित्त (प्रासुक), एषणीय (निर्दोष) अशन, पान, खाद्य और स्वाद्यरूप चार प्रकार का आहार-पानी, वस्त्र, पात्र, कम्बल, रजोहरण, पट्टा, चौकी, शय्या, संस्तारक (बिछौना) आदि दान दे कर लाभ लेता हुआ जीवनयापन करता है।' इसलिए आहार-पानी की तरह संयम के आधारभूत, शरीर के उपकारक वस्त्र आदि साधु को देने चाहिये। घास ग्रहण करने (भरने) के लिए, अग्निसेवन के निवारणार्थ (आग तापने की ऐवज में), धर्मध्यानशुक्लध्यान की साधना के लिए, ग्लान साधु की पीड़ा-निवारणार्थ, मृत साधु को परिठाने के लिए; इत्यादि संयम-पालन में वस्त्र सहायक-उपकारक है। यही बात अन्यत्र भी कही है। वाचकवर्य श्रीउमास्वाति ने भी कहा है—"वस्त्र के बिना ठंड, हवा, धूप, डांस, मच्छर आदि से व्याकुल साधक के सम्यक्त्व आदि में व सम्यक् ध्यान करने में विक्षेप होता है।" ये और ऐसे ही कारणों से वस्त्र की तरह पात्र को भी उपयोगी भी बताया है। भिक्षा के रूप में आहार लाने में, अशुद्ध आहार आदि भिक्षा में आ जाय तो उसमें से निकाल कर परिठाने में, जीवों से युक्त आहार से होती जीवविराधना रोकने के लिए, असाव-

धानीवश कदाचित् भिक्षा में कोई सड़े गले चावलों आदि का ओसामण या पानी आ गया हो तो उन्हें सुखपूर्वक (आसानी से) यतना से पात्र में ले कर परठान हेतु पात्र का रखना लाभदायक है। कहा भी है— 'जिनेश्वर भगवान ने षट्काय के जीवों की रक्षा के लिए पात्र रखने की आज्ञा दी है। और आहार-पानी आदि नीचे गिरने और जीवविराधना होने से बचाने के लाभ की दृष्टि से उन्हें पात्र ग्रहण करना चाहिए। रोगी, बालक, वृद्ध, नवीन साधु, पाहुने साधु, गुरुमहाराज, असहिष्णु साधुवर्ग, एक ही वसति (उपाश्रय) में रहने वाले लब्धिरहित साधुवर्ग इत्यादि की आहार-पानी आदि से सेवा पात्र रखने पर ही हो सकती है। क्योंकि पात्र में आहारादि वस्तुएँ ग्रहण करके लाने में किसी प्रकार का असयम नहीं होता।

यहां प्रश्न होता है कि तीर्थंकरों ने वस्त्र-पात्र का परिभोग किया हो, ऐसा सुनने में नहीं आता इसलिए उनके अनुगामी शिष्यों को उनके चरित्र का अनुसरण करना उचित है! कहा भी है—'**जारिसं गुरुलिंगं सिस्सेण वि तारिसेण होयव्वं**'— यानी जैसा गुरु का लिङ्ग-आचरण हो, वैसा ही आचरण उसके शिष्य का होना चाहिए ? इसके उत्तर में कहते हैं—"श्रीतीर्थंकर परमात्मा का हाथ छिद्ररहित होता है, उसमें से पानी की एक बूंद भी नहीं गिरती। अपितु उसकी शिखा सूर्यचन्द्र तक ऊँची बढ़ती जाती है। वे अपने चार या पांच ज्ञान के बल से जीवसंसक्त या जीवरहित आहार अथवा त्रसजीवरहित या त्रसजीवसहित पानी को भलीभांति जान कर जो निर्दोष हो, उसे ही ग्रहण करते हैं। इस कारण उनके लिए पात्र आदि का ग्रहण करना (रखना) लाभदायक नहीं है। वस्त्र तो सभी तीर्थंकरों के दीक्षाकाल में ग्रहण करने का कहा है। चौबीसों तीर्थंकर एक देवदूष्यसहित दीक्षा लेते हैं, इससे वे अन्यलिंग में, गृहस्थ लिंग में या कुलिंग में परिगणित नहीं होते। परममहर्षियों ने यह कहा है कि भूतकाल में जो तीर्थंकर हो चुके हैं, भविष्यकाल में जो होने वाले हैं, और वर्तमानकाल में जो विचरण कर रहे हैं, वे सभी वस्त्र-पात्रयुक्त धर्म का उपदेश देने वाले होने से एक देवदूष्यवस्त्र धारण करके दीक्षा ग्रहण करते हैं, दीक्षा ग्रहण करेंगे और दीक्षा ग्रहण की थी, उन सबकी मैं पर्युपासना करता हूं।" दीक्षा लेने के बाद समस्त परिषहों और उपसर्गों की पीड़ा को वे सहन करते हैं, इसलिए फिर उन्हें वस्त्र की आवश्यकता नहीं रहती। किसी प्रकार से वह वस्त्र चला जाता है तो फिर वे उसको ग्रहण नहीं करते। शिष्य को गुरु के आचरण का अनुसरण करना चाहिए, ऐसा जो कहा गया है, वह इसी दृष्टि से कहा गया समझना चाहिए। यह तो वैसा ही है जैसे कोई सामान्य हाथी ऐरावत हाथी का अनुकरण करे। तीर्थंकर का अनुकरण करने का इच्छुक साधक मठ, वसति या उपाश्रय में निवास करना, कारणवश आधाकर्मी आहार का सेवन करना, बीमारी में तेल की मालिश करना, घास की चटाई या घास रखना, कमंडल रखना, बहुत-से साधुओं के साथ रहना, छद्मस्थ होते हुए भी उपदेश देना, साधु-साध्वी को दीक्षा देना (शिष्य-शिष्या बनाना) आदि सभी कार्य नहीं कर सकता, क्योंकि तीर्थंकर तो इन सभी से दूर रहते हैं। परन्तु तीर्थंकर का अनुकरण करने वाले वे तथाकथित साधु तो इन सबका आचरण करते ही हैं।

वर्षाकाल में साधु स्थंडिलभूमि या अन्यत्र कहीं बाहर गया हो, उस समय वर्षा आ जाय तो जल-कायिक जीवों की रक्षा के लिए कंबली आवश्यक होती है। बाल, वृद्ध या रुग्ण साधु के लिए वर्षा के समय भिक्षार्थ जाना पड़े तो शरीर पर कंबली ओढ़ लेने से जलकायिक जीवों की विराधना नहीं होती। लघुशंका या बड़ी शंका के लिए बरसाद के समय बाहर जाना पड़े तो कम्बली ओढ़ लेने से जल-जीवों की विराधना रुक जाती है। यहाँ प्रश्न होता है कि कम्बली न ओढ़ कर यदि वर्षा के समय छाता लगा ले और छाते से शरीर को ढक कर चले तो कौन-सा दोष लगता है ? इसका समाधान करते हैं—

'**छत्तस्स धारणट्ठाए**' इस प्रकार के आगमवचन के अनुसार छत्र धारण करना अनाचीर्ण होने से वह वर्जित है। **रजोहरण** तो प्रत्यक्ष जीवरक्षा के लिए प्रतिलेखना करने में उपयोगी होने से उसके रखने में तो कोई विवाद ही नहीं कर सकता। **मुखवस्त्रिका** यानी 'मुहपत्ती' भी उड़ने वाले (सपातिम) जीवों से बचाव के लिए (रक्षार्थ) और मुंह से निकलती हुई गर्म हवा से बाहर के वायुकायिक जीवों की रक्षा के लिए तथा मुख में रजकण आदि का प्रवेश रोकने के लिए उपयोगी है। पट्टे और चौकी इसलिए उपयोगी है कि वर्षाकाल में नीलण-फूलण, कुंथुआ आदि ससक्त जीवों से युक्त जमीन पर शयन करने का निषेध होने से पट्टे, चौकी आदि पर सोना-बैठना उपयोगी है। शीतकाल और ग्रीष्मकाल में शय्या-संस्तारक (आसन) आदि शयन के लिए उपयोगी होते हैं। वसति (मकान) या उपाश्रय आदि में निवास-स्थान भी साधु के संयमपालन के लिए अत्यन्त उपकारी है। 'जो भाग्यशाली अनेकगुणधारक मुनिवरों को ठहरने के लिए मकान (वसति) उपाश्रय आदि देता है, समझ लो, उसने अन्न, पानी, वस्त्र, शयन, आसन आदि सब कुछ दे दिया है। जहाँ रह कर सभी मुनिगण उस वसति (मकान) का उपयोग करते हैं, उस उपाश्रय में अपनी एवं अपने चारित्र की भी सुरक्षा होती है, उसमें ज्ञान, ध्यान आदि की साधना सुकर होती है। इस कारण से वसति (मकान) देने वाले ने सब कुछ दे दिया, ऐसा माना जाता है। सर्दी, गर्मी, चोर, डांस मच्छर, वर्षा आदि से मुनियों की सुरक्षा करने वाला स्वर्गसुख को हस्तगत कर लेता है। इस प्रकार दूसरे भी औधिक और औपग्रहिक धर्मोपकरणों के रखने में मुनियों का दोष नहीं है। उनके दाता को एकान्तरूप से लाभ ही है। उपकरणों की संख्या-मर्यादा बताते हैं—"जिनकल्पी के लिए १२ प्रकार के, स्थविरकल्पीमुनि के लिए १४ प्रकार के और आर्या (साध्वी) के लिए २५ प्रकार के उपकरण रखने की अनुज्ञा दी है। इससे अधिक रखना उपग्रह कहलाता है। यह सारी बात पिंड-निर्युक्ति और ओघनिर्युक्ति आदि आगमों से जान लेना। यहाँ ग्रन्थ विस्तृत हो जाने के भय से इतना ही कह कर लेखनी को विराम देते हैं।

यहाँ वृद्धों (स्थविरों) द्वारा उक्त समाचारी (श्रावक की आचारसंहिता) बताते हैं—"श्रावकों को पौषध पारित (पूर्ण) करके पारणा करने से पहले साधु-साध्वी विराजमान हों तो उन्हें पहले अवश्य देना चाहिए, फिर आहार करना चाहिए। उसकी विधि यह है कि जब अपने भोजन का समय हो तब कपड़ों वगैरह से अच्छी तरह सुसज्जित हो कर उपाश्रय में जा कर साधुओं को आहारपानी का लाभ देने के लिए विनति करे। उस समय साधु की क्या मर्यादा है? यह बताते हैं—एक साधु पल्ले (पाडले) का शीघ्र प्रतिलेखन करे, दूसरा मुखवस्त्रिका का और तीसरा पात्रों का झटपट प्रतिलेखन करे; जिससे पौषधोपवासी श्रावक को पारणे में विलम्ब या अन्तराय न हो। अथवा साधुओं के निमित्त से स्थापनादोष न लग जाय, इसकी सावधानी रखे। यदि श्रावक प्रथम प्रहर (पौरसी) में आहार के लिए प्रार्थना करता हो और साधु के नौकारसी तक के प्रत्याख्यान हो तो आहार ग्रहण कर ले, यदि नौकारसी तक प्रत्याख्यान न हो किन्तु पौरसी तक के हों तो ग्रहण न करे; क्योंकि उस आहार को संभाल कर रखना पड़ेगा। यदि श्रावक बहुत जोर दे कर विनति करता है तो आहार ले कर उसे स्थान पर ला कर अच्छी तरह सम्भाल कर रख दे और जो साधु पौरसी (एक प्रहर तक) प्रत्याख्यान पूरा होते ही पारना करने वाला हो उसे वह आहार दे दे, अथवा दूसरे साधु को दे दे। साधु भिक्षा के लिए जाने से पूर्व पात्र, पल्ले आदि का प्रतिलेखन कर ले। भिक्षा के लिए कम से कम दो साधु जाएँ, अकेले साधु का भिक्षार्थ जाना उचित नहीं। मार्ग में श्रावक साधु के आगे-आगे चले; और वह साधु को अपने घर ले जाए। वहाँ साधुओं को आसन ग्रहण करने की प्रार्थना करे; यदि वे बैठें तो ठीक है, न बैठें तो भी विनय का आचरण-व्यवहार करना

और जानना चाहिए। साधुमुनिराज के घर पधार जाने पर श्रावक स्वयं अपने हाथ से उन्हें आहारपानी दे कर लाभ ले। यदि घर में दूसरा कोई आहार दे रहा हो तो स्वयं आहार का बर्तन ले कर तब तक खड़ा रहे ; जब तक गुरुदेव आहार न ले लें। साधु को भी चाहिए कि भिक्षा में पश्चात्कर्म—अर्थात् बाद में दोष न लगे, इसलिए गृहस्थ के वर्तन में से सारी की सारी वस्तु न ले ; कुछ शेष रखे। उसके बाद गुरुओं को वन्दन करके कुछ कदम तक उनके साथ चल कर उन्हें पहुंचा कर आए, फिर स्वयं भोजन करे। यदि उस गांव में साधुमुनिराज का योग न हो तो भोजन के समय साधुमुनिराजों के आने की दिशा में दृष्टि करे और विशुद्धभाव से चिन्तन करे कि "यदि साधु-भगवन्त होते तो मैं उन्हें आहार दे कर कृतार्थ होती (होता) !" यह पौषध को पारित (पूर्ण) करने की विधि है। अगर पौषध न किया हो तो भी सुज्ञश्रावक-श्राविका प्रतिदिन साधुसाध्वियों को कुछ न कुछ दान दे कर फिर भोजन करते हैं। अथवा भोजन करने के बाद भी दान देते हैं। इस सम्बन्ध में कुछ श्लोक हैं, जिनका अर्थ यहाँ प्रस्तुत किया जाता है—

"श्रमणोपासक के लिए अन्न, वस्त्र, जल आदि साधुसाध्वियों के योग्य एवं धर्मसहायक—संयमोपकारक वस्तुओं का ही दान देने को कहा गया है ; सोना, चांदी आदि जो वस्तुएं धर्मसहायक न हों, जिनके देने से काम, क्रोध, लोभ, अहंकार आदि बढ़ें, चारित्र का नाश हो, ऐसी वस्तुएँ साधुसाध्वियों को कदापि नहीं देनी चाहिए। जिस जमीन को खोदने से अनेक जीवों का संहार होता है, ऐसी पृथ्वी के दान की करुणापरायण लोग प्रशंसा नहीं करते। जिन शस्त्रों से महाहिंसा होती है, उन शस्त्रों के कारण-रूप लोहे का दान श्रावक क्यों करेगा ? जिसमें हमेशा अनेक सम्मूच्छिम त्रसजीव स्वतः पैदा होते हैं और मरते हैं, ऐसे तिल के दान की अनुमोदना कौन करेगा ? अफसोस है, लौकिक पर्वों के अवसर पर पुण्यार्जन-हेतु मौत के मुंह में पड़ी हुई अर्धप्रसूती गाय का जो दान करता है, उसे धार्मिक कहा जाता है। जिसकी गुदा में अनेकों तीर्थ माने हैं, जो मुख से अशुचिपदार्थो का भक्षण करती है, उस गौ को परमपवित्र मानने वाले अज्ञानी धर्म के हेतु गोदान करते हैं। जिस गाय को दुहते समय, सदा उसका बछड़ा अत्यन्त पीड़ित होता है, और जो अपने खुर आदि से जन्तुओं का विनाश कर डालती है, उस गाय का दान देने से भला कौन-सा पुण्य होगा ? स्वर्णमयी, रजतमयी, तिलमयी और घृतमयी विभिन्न गायें बना कर दान देने वाले को भला क्या फल मिलेगा ? कामासक्ति पैदा करने वाली, बन्धुस्नेहरूपी वृक्ष को जलाने के लिए दावानल के समान, कलियुग की कल्पलता, दुर्गति के द्वार की कुंजी के समान, मोक्षद्वार की अर्गला के तुल्य, धर्मधन का हरण करने वाली, आफत पैदा करने वाली कन्या का दान दिया जाता है; और कहा जाता है कि वह कन्यादान कल्याण का हेतु होता है।' भला यह भी कोई शास्त्र है ? विवाह के समय मूढ़मनुष्य वरकन्या को लौकिक प्रीति की दृष्टि से नहीं, अपितु धर्मदृष्टि से जो वस्त्राभूषण आदि दानरूप में देते हैं, क्या वे धर्मवर्द्धक होते हैं ? वास्तव में धर्मबुद्धि से किया गया ऐसा दान तो राख में घी डालने के समान समझना चाहिए। संक्रान्ति, व्यतिपात, वैधृति, पूर्णिमा, अमावस्या आदि पर्वों पर जो उदरम्भरी, लोभी, अपने भावुक यजमानों से दान दिलाते हैं, वह तो सिर्फ भोले-भाले लोगों को ठगने का-सा व्यापार है। जो मन्दबुद्धि लोग अपने मृत स्वजन की तृप्ति के लिए उनके नाम से दान करते-कराते हैं, वे भी मूसल में नये पत्ते अंकुरित करने (फूटने) की इच्छा से उसे पानी सींचते हैं। यहाँ ब्राह्मणों को भोजन कराने से यदि परलोक में पितरों की तृप्ति हो जाती हो तो फिर यहाँ एक के भोजन करने से दूसरे की तृप्ति या पुष्टि क्यों नहीं हो जाती ? पुत्र के द्वारा दिया हुआ दान यदि उसके मृत पिता आदि

को मुक्ति दिलाने वाला हो तो फिर पुत्र तपस्या करे उसके फलस्वरूप उसके पिता की भी मुक्ति हो जानी चाहिए। गंगानदी या गया आदि तीर्थों में दान करने से पितर तर जाते हैं, तो फिर झुलसे हुए पेड़ में हरे-भरे पत्ते अंकुरित करने के लिए उसे सिंचन करना चाहिए! इस लोक में लकीर का फकीर (गतानुगतिक) बन कर कोई जो कुछ भी मांगे, उसे धर्म या पुण्य की बुद्धि से तो नहीं दिया जाना चाहिए। वास्तव में पुण्य या धर्म तो ऐसे त्यागी को चारित्रवर्द्धक, संयमोपकारक चीजों के दान देने से होता है। और पुण्य या भाग्य प्रबल हों, तभी किसी को कुछ मिलता है। पुण्य न हो तो किसी से भी कुछ मांगना या याचना करना वृथा है। सोने-चांदी की देवमूर्ति बना कर मनौती करने से वह देवबिम्ब उसकी रक्षा करेगा, यह महान् आश्चर्यजनक बात है। क्योंकि आयुष्य के क्षण पूर्ण होने पर कोई भी देवता किसी की रक्षा नहीं कर सकते। बड़ा बैल हो या बड़ा बकरा, यदि उसे मांसलोलुप श्रोत्रिय ब्राह्मण को दोगे तो उससे दाता (देने वाले) और लेने वाले दोनों को नरककूप में गिरना पड़ेगा। धर्मबुद्धि से दान देने वाला अनजान दाता कदाचित् उस पाप से लिप्त न हो, लेकिन दोष जानने पर भी लेने वाला मांसलोलुप तो उस पाप से लिप्त होता ही है। अपात्र जीव को मार कर जो पात्र का पोषण करता है, वह अनेक मेंढकों को मार कर सर्प को खुश करने के समान है। जिनेश्वरों का कथन है कि त्यागी पुरुषों को स्वर्णगिरि का दान नहीं देना चाहिए। इसलिए सुज्ञ एवं बुद्धिमान मनुष्य को सुपात्र को कल्पनीय आहारादि ही दान के रूप में देना चाहिए।

ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूपी रत्नत्रय से युक्त, पांच समितियों और तीन गुप्तियों के पालक, महाव्रत के भार को उठाने में समर्थ परिषहों एवं उपसर्गों की शत्रुसेना पर विजय पाने वाले महासुभट साधु-साध्वियों को जब अपने शरीर पर भी ममता नहीं होती, तब अन्य वस्तुओं पर तो ममता होगी ही कैसे? धर्मोपकरणों के सिवाय सर्वपरिग्रहत्यागी, ४२ दोषों से रहित निर्दोषभिक्षाजीवी, शरीर को केवल धर्मयात्रा में लगाने के लिए ही आहारादि लेने वाले, ब्रह्मचर्य की नौ गुप्तियों से विभूषित, दांत कुरेदने करने के लिए तिनके जैसी परवस्तु के प्रति भी लालसा नहीं रखने वाले ; मान-अपमान में, लाभ-हानि में, सुख-दुःख में, निन्दा-प्रशंसा में, हर्ष-शोक में समभावी, कृत, कारित (करना, कराना) और अनुमोदन तीनों प्रकारों से आरम्भ से रहित, एकमात्र मोक्षाभिलाषी, संयमी साधुसाध्वी ही उत्कृष्ट सुपात्र हैं। सम्यक्त्वसहित बारह व्रतों के धारक या उससे कम व्रतों के धारक देशविरतिसम्पन्न एवं साधुधर्म की प्राप्ति के अभिलाषी सद्गृहस्थ मध्यम पात्र माने जाते हैं, और केवल सम्यक्त्व-धारक, अन्य व्रतों के पालन करने या ब्रह्मचर्यव्रत धारण करने में असमर्थ एवं तीर्थ की प्रभावना करने में प्रयत्नशील व्यक्ति जघन्य पात्र समझे जाते हैं।

कुशास्त्रश्रवण से उत्पन्न हुए वैराग्य के कारण परिग्रह से रहित, ब्रह्मचर्यप्रेमी, चोरी, असत्य हिंसा आदि पापों से दूर, अपनी गृहीत प्रतिज्ञा के पालक, मौनधारक, कंदमूलफलाहारी, भिक्षाजीवी, जमीन पर या खेत में पड़े हुए दानों को इकट्ठा करके उनसे निर्वाह करने वाले, पत्रभोजी, गैरिकवस्त्र-धारी या निर्वस्त्र, नग्न, शिखाधारी या जटाधारी, मस्तकमुंडित, एकदंडी या त्रिदंडी, मठ या अरण्य में निवास करने वाले, गर्मियों में पंचाग्नितप के साधक, सर्दी में शीत-सेवन करने वाले, शरीर पर भस्म रमाने वाले, खोपड़ी या हड्डी आदि के आभूषण-धारक, अपनी समझ से धर्मपालक, किन्तु मिथ्यादृष्टि-शास्त्रदूषित, जिनधर्मद्वेषी, विवेकमूढ़, कुतीर्थी सुपात्र नहीं माने जाते। प्राणियों के प्राणहरण करने में तत्पर, असत्यवादी, परधनहरणकर्ता, गधे के समान प्रबल कामासक्ति में निमग्न, रात-दिन आरम्भ-

परिग्रह में मशगूल, कदापि संतोष धारण न करने वाले, मांसाहारी, शराबी, अतिक्रोधी, लड़ाई-झगड़े करने-कराने में आनन्दित रहने वाले, केवलकुशास्त्रपाठक, सदा पण्डितम्मन्य, तत्त्वतः नास्तिक व्यक्ति अपात्र माने गये हैं। इस प्रकार कुपात्र और अपात्र को छोड़ कर मोक्षाभिलाषी, सुबुद्धिशाली, विवेकी आत्मा पात्र को ही दान देने की प्रवृत्ति करते हैं।

पात्र को दान देने से दान सफल होता है, जबकि अपात्र या कुपात्र को दिया गया दान सफल नहीं होता। पात्र को दान करना धर्मवृद्धि का कारण है, जबकि अपात्र को दान अधर्मवृद्धि का कारण है। सर्प को दूध पिलाना जैसे विषवृद्धि करना है, वैसे ही कुपात्र को दान देना भववृद्धि करना है। कड़वे तुम्बे में मधुर दूध भर देने पर वह दूषित एवं पीने के अयोग्य हो जाता है, वैसे ही कुपात्र या अपात्र को दिया गया दान भी दूषित हो जाता है। कुपात्र या अपात्र को समग्र पृथ्वी का दान भी दे दिया जाय तो भी वह दान फलदायक नहीं होता, इसके विपरीत, पात्र को श्रद्धापूर्वक लेशमात्र (एक कौरभर) आहार दिया जाय तो भी वह महाफलदायी होता है। अतः मोक्षफलदायी दान के विषय में पात्र-अपात्र का विचार करना आवश्यक होता है। परन्तु तत्त्वज्ञानियों ने दया, दान करने का निषेध कहीं भी नहीं किया। पात्र और दान, शुद्ध और अशुद्ध; यों चार विकल्प (भंग) करने पर 'पहला विकल्प (पात्र भी शुद्ध, और दान भी शुद्ध) शुद्ध है। दूसरा विकल्प (पात्र शुद्ध, किन्तु दान अशुद्ध) अर्धशुद्ध है, तीसरा विकल्प (पात्र अशुद्ध, मगर दान शुद्ध) भी अर्धशुद्ध है, और चौथा विकल्प (पात्र और दान दोनों अशुद्ध) पूर्णतया अशुद्ध है। वास्तव में देखा जाय तो प्रथम विकल्प के सिवाय शेष तीनों विकल्प एक तरह से, विचारशून्य और निष्फल हैं।' दान देने से भोगों की प्राप्ति होती है; यह विकल्प भी अशुद्ध दान का प्रतीक होने से विचारशून्य है। यद्यपि योग्य पात्र को दिये गये दान का फल शुद्ध भोग की प्राप्ति है, परन्तु वह दान भोगप्राप्ति की कामना से किया गया दान न होने से शुद्ध ही है, और सचमुच दान का केवल भोगप्राप्तिरूपी फल भी कितना तुच्छ और अल्प है! शुद्ध दान का मुख्य और महाफल तो मोक्षप्राप्ति है। जैसे खेती करने का मुख्य फल तो धान्यप्राप्ति है, घास प्राप्तिरूपी फल तो आनुषंगिक और अल्प है; वैसे ही पात्र को दिये गए शुद्ध दान का मुख्य फल भी मोक्षप्राप्ति है, भोगप्राप्तिरूप फल तो अल्प और आनुषगिक है। पात्र को शुद्ध दानधर्म से इसी चौबीसी में प्रथम तीर्थंकर के प्रथम भव में धन्य सार्थवाह ने सम्यक्त्व (बोधिबीज) प्राप्त कर मोक्षरूपी महाफल प्राप्त किया। तीर्थंकर ऋषभदेव को प्रथम पारणे पर जिस राजभवन में भिक्षा दी गई थी, उस पर प्रसन्न हो कर देवों ने तत्काल पुष्पवृष्टि की और 'अहो दानं' की घोषणा की। इस प्रकार अतिथिसंविभागव्रत के सम्बन्ध में काफी विस्तार से कह चुके। अतः देय और अदेय, पात्र और अपात्र का विवेक करके यथोचित दान देना चाहिए।

यद्यपि विवेकी श्रद्धालुओं को सुपात्रदान देने में साक्षात् या परम्परा से मोक्षफल प्राप्त होता है; तथापि पात्रदान तो हर हालत में भद्रिकजीवों के लिए उपकारक है, इस दृष्टि से पात्रदान के प्रासंगिक फल का वर्णन करते हैं—

पश्य संगमको नाम सम्पदं वत्सपालकः
चमत्कारकरीं प्राप मुनिदानप्रभावतः ॥८८॥

अर्थ—देखो, बछड़े चराने वाले (ग्वाले) संगम ने मुनिदान के प्रभाव से आश्चर्यजनक चमत्कारी सम्पत्ति प्राप्त करली।

व्याख्या—'देखो' शब्द यहाँ भद्रजनों को दान के सम्मुख करने के लिए प्रयुक्त किया गया है। संगम नामक पशुपालक ने मुनि को दान देने के प्रभाव से चमत्कृत कर देने वाली अद्भुत सम्पत्ति प्राप्त कर ली थी। यद्यपि संगम को परम्परा से मोक्षफल प्राप्त होता है, तथापि यहा प्रासंगिक फल का वर्णन होने से मोक्षफल का जिक्र नहीं किया। संगम का चरित्र सम्प्रदायपरम्परा से ज्ञातव्य है; वह इस प्रकार है—

श्रद्धापूर्वक सुपात्रदानदाता—संगम

मगधदेश में अनेकविध रत्नों से देदीप्यमान, लक्ष्मी के कुलगृह-समान राजगृह नगर में उन दिनों इन्द्रशासन के समान विभिन्न राजाओं द्वारा मान्य सम्राट् श्रेणिक का शासन था। राजगृह-प्रखण्ड में ही शालि नामक गाँव में छोटे-से परिवार वाली धन्या नाम की सम्पन्न महिला रहती थी। उस पर आफत आ पड़ने और प्रियजनों का वियोग हो जाने से वह अपने इकलोते पुत्र सगम को ले कर राजगृह आ गई। राजगृह में रहते हुए संगम कुछ नागरिकों के बछड़े चरा कर अपनी रोजी चलाता था। 'गरीब बालक के लिए यही अनुरूप और सात्त्विक आजीविका है।' धन्या आसपास के धनिकों के यहाँ छोटा-मोटा गृहकार्य करके कुछ कमा लेती थी। यों मां-बेटा दोनों आनन्द से जीवन बिता रहे थे। एक बार किसी पर्वोत्सव के दिन सब के यहाँ खीर बनी देख कर बालक संगम ने भी अपनी मां से खीर मांगी। माता ने कहा—"बेटा! हम अत्यन्त गरीब हैं, खीर हमारे यहाँ कहाँ से हो सकती है?" पर बालक इस बात को न समझ कर खीर खाने के लिए मचल पड़ा। धन्या अपना पुराना वैभव और पुत्र के प्रति माता के दायित्व को याद करके सिसकियाँ भर कर जोर-जोर से रोने लगी। उसका हृदयविदारक करुण रुदन सुन कर पड़ौस की सम्पन्न घर की महिलाएँ दौड़ी हुई आई और उससे इस प्रकार रोने और दुःखित होने का कारण पूछा। पहले तो उसने संकोचवश स्पष्ट नहीं बताया, परन्तु बाद में भद्रमहिलाओं के अत्याग्रह पर धन्या ने गद्गद् स्वर में अपनी आपबीती और अपना दुखड़ा कह सुनाया। उसके स्वाभिमान को ठेस न पहुंचे, इस दृष्टि से भद्रमहिलाओं ने मिल कर सम्मानपूर्वक उसे दूध, चावल, खांड आदि खीर बनाने की सब सामग्री दे दी। धन्या ने हर्षित होकर खीर बनाई और एक थाली में संगम के लिए परोस कर और ठंडी हो जाने पर खा लेने का कह कर किसी काम से वह चली गई। बालक थाली में खीर ठंडी कर रहा था, उसी समय संसारसमुद्र से तरने लिए नौका के समान एक मासिक (एक महीने का तप करने वाले) उपवासी महामुनि पारणे के लिए भिक्षा लेने पधार गए। मुनि को देखते ही बालक संगम बड़ा प्रभावित हुआ। उसने सोचा—'अहो! यह तो सचेतन चिन्तामणिरत्न हैं, या जंगम कल्पवृक्ष हैं, अथवा पशु-वृत्ति से रहित कोई कामधेनु हैं? मेरे ही भाग्य से आज यह सर्वश्रेष्ठ मुनि पधारे हैं! नहीं तो मेरे जैसे दीन-हीन के यहाँ ऐसे उत्तमपात्र का आगमन भला कैसे हो सकता था? मेरे किसी प्रबल पुण्योदय के फलस्वरूप ही आज यह चित्त, वृत्ति और पात्ररूप त्रिवेणीसंगम हुआ है?" यों उत्कट विचार करके झटपट खीर की थाली उठा कर सारी की सारी मुनिवर के पात्र में उंड़ेल दी! मुनिराज बस, बस करते रहे, लेकिन बालक ने वह अतिकठिनता से प्राप्त, दुर्लभ सारी खीर प्रबल भावना से उन तपस्वी मुनिराज को दे दी। महाकरुणाशील मुनि ने भी उपकारबुद्धि से अपने भिक्षापात्र में ले ली और आहार ले कर चले गए। धन्या आसपास के घरों के आवश्यक काम निपटा कर जब घर लौटी और उसने देखा कि थाली साफ है, तो उसने उस थाली में और खीर परोसी, जिसे संगम झटपट खा गया। धन्या को यह पता नहीं था कि संगम ने वह खीर मुनि को दे दी है। गर्मागर्म खीर खा जाने से संगम को रात में अजीर्ण और पेट में जोर का दर्द हो गया, फलतः मुनि को दान देने का स्मरण

करते करते उसका शरीर छूट गया। मुनिदान के प्रभाव से संगम का जीव राजगृह नगर में गोभद्र सेठ की पत्नी भद्रा के गर्भ में आया। भद्रा सेठानी ने स्वप्न में शालि (धान्य) से लहलहाता और पकी हुई बालें लगा हुआ खेत देखा। अपने पति से सेठानी ने स्वप्नवृत्तान्त कहा। सेठ ने सुना तो हर्षित हो कर कहा — प्रिये! यह शुभस्वप्न तुम्हारे पुत्र होने का सूचक है। भद्रा सेठानी को कुछ दिनों बाद दोहद पैदा हुआ कि "मैं अनेक बार दान-धर्म के कार्य करूं।" भद्रबुद्धि गोभद्र सेठ ने भी उसे सहर्ष पूर्ण किया। भद्रा ने समय पूर्ण होने पर अपनी कान्ति से मातृ-मुख को विकसित करने वाले ठीक वैसे ही एक पुत्ररत्न को जन्म दिया, जैसे पर्वतभूमि वैडूर्यरत्न को जन्म देती है। शुभमुहूर्त में माता-पिता ने स्वप्न के अनुसार पुत्र का नाम 'शालिभद्र' रखा। पांच धायों के संरक्षण में बालक का लालन-पालन होने लगा। चन्द्रमा की तरह क्रमशः बढ़ते हुए बालक जब आठ वर्ष का हुआ तो माता-पिता ने उसे कलाचार्य के यहां भेज कर विद्याओं और कलाओं का अभ्यास कराया। यौवन की देहली पर पैर रखने पर शालिभद्र भी युवतीजवल्लभ बना। अब शालिभद्र अपने हमजोली मित्रों के साथ क्रीडा करता हुआ ऐसा प्रतीत होता था, मानो दूसरा ही प्रद्युम्नकुमार हो। नगर के कई सेठों ने आ कर भद्रापति श्रीगोभद्रसेठ के सामने अपनी-अपनी कुल ३२ कन्याएँ शालिभद्र को देने का प्रस्ताव रखा और स्वीकार करने की प्रार्थना की, जिसे गोभद्रसेठ ने सहर्ष स्वीकार कर ली। तत्पश्चात् गोभद्र सेठ ने शुभमुहूर्त में खूब धूमधाम से उन सर्वलक्षणसम्पन्न ३२ कन्याओं के साथ शालिभद्र का विवाह किया। विवाह के पश्चात् शालिभद्र अपने मनोहर महल में उन ३२ कन्याओं के साथ आमोद-प्रमोद करते हुए ऐसा लगता था मानो इन्द्र शची आदि के साथ अपने मनोहर विमान में आमोद-प्रमोद कर रहा हो। उस विलासपूर्ण मोहक वातावरण के आनन्द में डूबे हुए शालिभद्र को यह पता ही नहीं चलता था, कब सूर्योदय हुआ और कब रात बीती! उसके लिए भोगविलास की समग्र सामग्री माता-पिता स्वयं जुटाते थे। समय आने पर गोभद्रसेठ ने अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति और घरबार, कुटुम्ब वगैरह छोड़ कर भगवान् महावीर के चरणों में मुनिदीक्षा ले ली। संयम की अराधना करते हुए अन्तिम समय निकट जान कर उन्होंने अनशन ग्रहण किया और समाधिमरणपूर्वक आयुष्य पूर्ण करके देवलोक में पहुंचे। वहाँ अवधिज्ञान से शालिभद्र को अपना पुत्र जान कर उसके पुण्य से आकर्षित एवं पुत्रवात्सल्य से ओतप्रोत हो कर गोभद्रदेव प्रतिदिन उसके तथा उसकी बत्तीस पत्नियों के लिए दिव्य वस्त्र-आभूषण आदि अर्पित करता था। मनुष्योचित जो भी कार्य होता, उसे भद्रा सेठानी पूर्ण करती थी। यह सब भोगसामग्री पूर्वकृत दान के प्रभाव से मिली थी।

एक बार कुछ विदेशी व्यापारी रत्नकम्बल ले कर राजगृह में बेचने के लिए आये। राजा श्रेणिक को उन्होंने वे रत्नकम्बल दिखाये, लेकिन बहुत कीमती होने से उसने खरीदने से इन्कार कर दिया। निराश हो कर व्यापारी वापिस लौट रहे थे कि शालिभद्र की माता भद्रा सेठानी ने उन्हें अपने यहाँ बुलाया और उन्हें मुंहमांगी कीमत दे कर सब के सब रत्नकम्बल खरीद लिए। जब चिल्लणा रानी को पता लगा कि राजा ने एक भी रत्नकम्बल नहीं खरीदा; तब उसने श्रेणिक राजा से कहा— 'प्राणनाथ! चाहे वह महामूल्यवान् हो, फिर भी एक रत्नकम्बल तो मेरे लिए अवश्य ही खरीद लीजिए।' अतः श्रेणिक राजा ने उन व्यापारियों से पहले कही हुई कीमत में ही एक रत्नकम्बल दे देने को कहा। इस पर व्यापारियों ने कहा—"राजन्! वे सब रत्नकम्बल अकेली भद्रा सेठानी ने ही खरीद लिये हैं। अब हमारे पास एक भी रत्नकम्बल नहीं है।" श्रेणिकनृप ने एक कुशल सेवक को मूल्य दे कर भद्रा सेठानी से एक रत्नकम्बल खरीद कर ले आने के लिए भेजा। उसने भद्रा सेठानी से खरीदे हुए मूल्य में एक

रत्नकम्बल मांगा। इस पर भद्रा सेठानी ने कहा—"मैंने तो रत्नकम्बलों के आधे-आधे टुकड़े करके अपनी ३२ पुत्र-वधुओं (शालिभद्र की पत्नियों) को दे दिये हैं। उन्होंने उनसे पैर पोंछ कर फैंक दिये होंगे। यदि राजा को उनकी खास जरूरत हो तो इस्तेमाल किये हुए दो टुकड़ों के रूप में रत्नकम्बल तो मिल जायेंगे। अतः राजा से पूछ कर ले जाना चाहो तो ले जाओ।' सेवक ने जा कर सारा वृत्तान्त राजा श्रेणिक से कहा। पास में बैठी हुई रानी चिल्लणा ने भी यह बात सुनी तो उनसे कहा—"प्राणनाथ ! देखिये ! है न हमारे में और शालिभद्र वणिक् में पीतल और सोने का-सा अन्तर ?" श्रेणिक राजा सुन कर झेंप गए। उन्होंने कुतूहलवश शालिभद्र को बुला लाने के लिए उस पुरुष को भेजा। सेवक ने भद्रा से जब यह बात कही तो उसने स्वयं राजा की सेवा में पहुंचने का कहा। भद्रासेठानी ने स्वयं राजा की सेवा में पहुंच कर सविनय निवेदन किया—'महीनाथ ! मेरा पुत्र इतना सुकुमार है कि वह कभी महल से बाहर कहीं जाता नहीं है। इसलिए आप मेरे यहां पधार कर शालिभद्र को दर्शन देने की कृपा करें।' आश्चर्यचकित राजा श्रेणिक ने शालिभद्र के यहाँ जाना स्वीकार किया। भद्रा ने राजा से कुछ समय ठहर कर पधारने की विनति की। घर आकर उसने अपने सेवकों द्वारा घर से ले कर राजमहल तक का सारा रास्ता और बाजार की दूकानें रंगबिरंगे वस्त्रों और माणिक्यरत्नों से सुसज्जित करवाईं। दूकानों की शोभा ऐसी लगती थी, मानो देवों ने ही सुसज्जित की हों। राजमार्ग और बाजार की रौनक देखते हुए राजा श्रेणिक शालिभद्र के यहाँ पहुंचे और विस्मयपूर्वक आँखें फाड़े हुए भद्रा के महल की अद्भुत शोभा को निहारते हुए उसमें प्रविष्ट हुए। वह महल भी सोने के खंभों पर इन्द्रनीलमणियों के तोरण से सुशोभित था। उसका दरवाजा मोतियों के स्वस्तिकों की कतार से शोभायमान था। उसका आंगन भी उत्तमोत्तम रत्नों से जटित था। दिव्यवस्त्रों का चंदोवा वहां बंधा हुआ था। सारा महल सुगन्धित द्रव्यों की धूप से महक रहा था। वह महल ऐसा मालूम होता था, मानो पृथ्वी पर दूसरा देवविमान हो। भद्रा राजा को चौथी मंजिल पर अपने महल में सिंहासन पर बिठा कर सातवीं मंजिल पर स्थित शालिभद्र के महल में पहुंची और उससे कहा—"पुत्र ! अपने यहां श्रेणिक आए हैं, उन्हें देखने हेतु कुछ समय के लिए तुम नीचे चलो।" शालिभद्र ने कहा—'माताजी ! आप सब कुछ जानती हैं और जो चीज अच्छी लगती है, खरीदती हैं। मैं जा कर क्या करूंगा ? पसंद हो तो महंगा-सस्ता जैसे भी मिले, खरीद लो और भंडार में रखवा दो।" मां ने वात्सल्यप्रेरित हो कर कहा—"बेटा ! यह खरीदने की वस्तु नहीं है। यह तो राजगृह का नरेश है, जो तुम्हारा और मेरा सबका नाथ है। चला कर तुमसे मिलने आया है, तो चलो।" माता के मुंह से 'नाथ' शब्द सुनते ही शालिभद्र के भावुक हृदय में अन्तर्मंथन चलने लगा "क्या मेरे सिर पर भी नाथ है ? जब तक मैं विषय-भोगों की, महल एवं पत्नी आदि सांसारिक पदार्थों की गुलामी करता रहूंगा, तब तक निश्चय ही मेरे सिर पर नाथ रहेगा। धिक्कार है मुझे ! क्या मैं इन सब भोगों का गुलाम बना रहूंगा ? मैं कब तक अपने सिर पर नाथ बनाए रखूंगा ? क्या मैं अपने अंदर पड़ी हुई असीम शक्ति का स्वामी नहीं हूं या नहीं बन सकता ? मेरे पिताजी ने भी भगवान् महावीर के चरणों में दीक्षित हो कर अपनी असीम शक्तियों को जगाया था, मैं भी सर्प के फनों के समान भयंकर भोगों को तिलांजलि दे कर शीघ्र ही भ० महावीर के चरणों में दीक्षित हो कर अपना स्वामी स्वयं बनूंगा, अपने अन्दर सोई हुई अनन्तशक्ति को जगाऊंगा।" यों संवेगपूर्वक चिन्तन करता हुआ शालिभद्र माता के अत्याग्रह से अपनी समस्त पत्नियों के साथ श्रेणिक राजा के पास आया। उसने राजा को प्रणाम किया। श्रेणिक राजा ने आते ही शालिभद्र को पुत्र के समान छाती से लगाया, वात्सल्यवश उसका मस्तक सूंघा और अपनी गोद में बिठा कर प्यार से उसके सिर पर हाथ फिराया। राजा की गोद में बैठा हुआ शालिभद्र कारागार

के बंदी-सी घबराहट महसूस कर रहा था। उसके शरीर मे राजा के स्पर्श से पसीना छूटने लगा, आंखों से आंसू टपकने लगे।" यह देख कर भद्रा ने राजा से कहा—"देव ! अब इसे छोड़ दीजिए। क्योंकि मनुष्य हो कर भी यह अत्यन्त कोमल है। यह इतना नाजुक है कि जरा-सा भी खुर्दरा स्पर्श तथा मनुष्य की पुष्पमाला की गन्ध तक भी नहीं सह सकता। देवलोक में गये हुए इसके पिता प्रतिदिन इसके और इसकी पत्नियों के लिए वहाँ से दिव्य वस्त्र, आभूषण एवं विलेपन आदि पदार्थ भेजते हैं।" यह सुनते ही राजा ने शालिभद्र को छोड़ दिया। वह वहाँ से छूट कर सीधा सातवीं मंजिल पर अपने महल में पहुंच गया। भद्रा ने श्रेणिक राजा से अपने यहाँ भोजन करने की प्रार्थना की। भद्रा के दाक्षिण्य एवं विनय से प्रभावित हो कर राजा ने उसकी प्रार्थना स्वीकार की। भद्रा ने अपने सेवक-सेविकाओं को आदेश दे कर सभी प्रकार की उत्तमोत्तम भोजनसामग्री झटपट तैयार करवाई। **धनाढ्यों का कौन-सा काम ऐसा है, जो धन से सिद्ध नहीं होता?**" इधर उसने तेलमालिश एवं स्नान कराने में कुशल सेवकों को आदेश दे कर सुगन्धचूर्णमिश्रित बढ़िया तेल की मालिश करवाई, फिर स्नान करवाया। स्नान करते समय राजा की अंगुली से अंगूठी जलक्रीड़ावापिका में गिर पड़ी। राजा उसे इधर-उधर ढूंढने लगे। भद्रा ने यह स्थिति देख कर फौरन दासी को उस वापिका से दूसरी वापिका में पानी खाली करने का आदेश दिया। वापिका के खाली होते ही राजा की काली श्याह-सी अंगूठी दूसरे आभूषणों के साथ दिखाई दी। राजा यह देख कर और भी आश्चर्य में पड़ गया। विस्मित हो कर राजा ने दासी से पूछा—"ये सब क्या हैं?" दासी ने सविनय उत्तर दिया "देव ! शालिभद्र और उसकी पत्नियाँ नहा धो कर प्रतिदिन नये आभूषण पहनते हैं और पुराने आभूषणों को इसमें डाल देते हैं।" राजा ने विस्मयविमुग्ध हो कर सोचा—"शालिभद्र सर्वथा धन्य हैं, मैं भी धन्य हूं कि मेरे राज्य मे ऐसे भाग्यशाली भी हैं।" तत्पश्चात् राजा ने सपरिवार वहाँ भोजन किया। तदन्तर भद्रामाता ने अद्भुत चमकीले वस्त्राभूषण आदि भेंट दे कर ससम्मान राजा को विदा दी। राजा श्रेणिक भी अत्यन्त प्रभावित हो कर वहाँ से राजमहल को लौटा।

इधर शालिभद्र विरक्त हो कर घरबार छोड़ने का विचार कर रहा था। इसी दौरान उसका एक धर्ममित्र आया और नम्रनिवेदन करने लगा—"सुरासुरवन्दित, साक्षात् धर्ममूर्ति चारज्ञान के धनी धर्मघोष मुनिवर इस नगर के बाहर उद्यान में पधारे हैं।" शालिभद्र सुन कर अत्यन्त हर्षित हुआ और रथ में बैठ कर उनके दर्शनार्थ पहुंचा। वह आचार्य धर्मघोष तथा अन्य मुनियों के चरणों में वन्दना-नमस्कार करके उपदेश-श्रवण के लिए उनके सामने बैठा। उपदेश के बाद शालिभद्र ने उनसे सविनय पूछा—"भगवन् ! कौन-सा ऐसा उपाय है, जिससे मेरे सिर पर दूसरा कोई स्वामी न रहे?" आचार्यश्री ने कहा—"मुनिदीक्षा ही ऐसा उपाय है, जिससे सारे जगत् का स्वामित्व प्राप्त किया जा सकता है।" "नाथ ! यदि ऐसा ही है तो मैं अपनी माताजी से आज्ञा प्राप्त करके मुनिदीक्षा ग्रहण करूंगा।" इस प्रकार शालिभद्र ने जब कहा तो उत्तर में आचार्यश्री ने कहा—"तो बस, इस कार्य में जरा भी प्रमाद न करो।" शालिभद्र वहाँ से सीधा घर आया और अपनी माता को नमस्कार करके कहा—"माताजी ! आज मैंने धर्मघोष आचार्य के श्रीमुख से जगत् के दुःखों से मुक्ति का उपायभूत धर्म सुना है!" "वत्स ! धर्मश्रवण करके तूने अपने कान पवित्र किये ! बहुत अच्छा किया। ऐसे ही धर्मात्मा पिता का तू पुत्र है।" इस प्रकार माता ने प्रशंसात्मक शब्दों में धन्यवाद दिया। शालिभद्र ने माता से कहा—"माताजी ! यदि ऐसा ही है और मैं उस धर्मात्मा पिता का पुत्र हूँ तो आप मुझ पर प्रसन्न हो कर आशीर्वाद दें, ताकि दीक्षा ग्रहण करके मैं स्वपरकल्याण कर सकूँ।" माता ने अधीर हो कर कहा—"पुत्र ! तेरे लिए अभी तो श्रावक-

व्रत पालन करना ही उचित है, महाव्रत पालन करना तो लोहे के चने चबाने के समान है। अभी तेरा शरीर बहुत ही सुकुमार है। तेरा लालन-पालन भी दिव्य-भोग-साधनों द्वारा हुआ है। छोटा बछड़ा जैसे रथ के भार को सहन नहीं कर सकता, वैसे ही अभी तू संयम के भार को सहन नहीं कर सकेगा।" शालिभद्र ने सविनय उत्तर दिया—"माँ ! जो पुरुष भोगसाधनों का उपभोग कर सकता है, वह अगर महाव्रतों के कष्ट को नहीं सह सकता तो, उसके समान कायर और कोई नहीं है।" माता ने दुलार करते हुए कहा—"बेटा ! अभी तो तू मर्त्यलोक की पुष्पमाला की गंध को सहन कर, और भोगों को छोड़ने का अभ्यास कर। धीरे-धीरे अभ्यास से सुदृढ़ हो जाने पर फिर मुनिदीक्षा अंगीकार करना।" शालिभद्र भी माता का वचन मान कर प्रतिदिन एक पत्नी और एक शय्या (बिछौने) का त्याग करने लगा।

राजगृह में ही शालिभद्र की छोटी बहन सुभद्रा का पति धन्ना सार्थवाह रहता था। वह जितना महाधनाढ्य था, उतना ही धर्मवीर भी था। एक दिन सुभद्रा धन्ना को स्नान करा रही थी, तभी उसकी आँखों से गर्म अश्रुबिन्दु धन्ना की पीठ पर टपक पड़े। धन्ना एकदम चौंक कर बोल उठे—'प्रिये ! आज तुम्हारी आँखों में आंसू क्यों ?" सुभद्रा ने गद्‌गद् स्वर में कहा—"प्राणनाथ ! मेरा भैया भ० महावीर के पास मुनिदीक्षा लेने की इच्छा से रोजाना एक पत्नी और एक शय्या छोड़ कर चला जा रहा है। ३२ दिनों में वह सभी पत्नियों और शय्याओं का त्याग कर देगा और मुनि बन जाएगा। पीहर में तो बहन के लिए भाई का ही आधार होता है ! उसे याद करके मन भर आया और अश्रुबिन्दु गिर पड़े।" धन्ना ने उपहास करते हुए कहा—"तुम्हारा भाई कायर है, गीध के समान डरपोक और दुर्बल है, जो इस प्रकार धीरे-धीरे त्याग कर रहा है। महाव्रत ग्रहण करना है तो एक ही दिन में क्यों नहीं ग्रहण कर लेता ?" सुभद्रा ने कहा—"प्रियतम ! कहना सरल है, करना बड़ा कठिन है। यदि महाव्रत ग्रहण करना सरल है तो आप क्यों नहीं ग्रहण कर लेते ?" धन्ना ने प्रत्युत्तर में कहा—'मेरे महाव्रत ग्रहण करने मे तुम ही बाधक थी, इसीलिए मै अब तक महाव्रत न ले सका। अब पुण्ययोग से तुमने ही मुझे प्रोत्साहित करके अनुमति दे दी है। तो लो, आज से तुम मेरी बहन के समान हो, अभी इन्हीं कपड़ों में अविलम्ब मैं दीक्षा ग्रहण करूंगा। सुभद्रा ने कहा—"नाथ ! यह तो मैंने मजाक में कहा था। आपने उसे सच मान लिया। अतः कृपा करके सदा लालितपालित लक्ष्मी और हमें मत छोड़िए। मगर धन्ना को संयम का रंग लग चुका था। उसने कहा—"यह लक्ष्मी और स्त्री सभी अनित्य हैं। इसलिए इनका त्याग करके शाश्वतपद प्राप्त करने की इच्छा से मैं अवश्य ही दीक्षा ग्रहण करूंगा।" यों कह कर धन्ना उसी समय उठ खड़ा हुआ। सुभद्रा आदि धन्ना की पत्नियों ने कहा—"ऐसी बात है, तो हम भी आपका अनुसरण करके दीक्षा ग्रहण करेंगी।" अपने को धन्य मानते हुए महामना धन्ना ने उन्हें सहर्ष अनुमति दे दी। संयोगवश श्रमण भगवान् महावीर भी विचरण करते-करते राजगृह के वैभारगिरि पर पधार गए। अतः धन्ना को उसके धर्ममित्र ने ये समाचार दिये। धन्ना भी अपनी अपार सम्पत्ति का दान करके अपनी पत्नियों के साथ शिविका में बैठ कर श्री महावीर प्रभु के चरणों में पहुँचे और जन्ममरण के भय से उद्विग्न धन्ना ने अपनी पत्नियों सहित दीक्षा अंगीकार कर ली। शालिभद्र ने जब यह सुना तो 'मैं पीछे रह गया,' यों मान कर दीक्षा के लिए उतावल करने लगा। फलतः महापराक्रमी सम्राट् श्रेणिक ने भी उसका अनुमोदन किया। अतः शालिभद्र ने भी श्रीवीरप्रभु के चरणकमलों में दीक्षा ग्रहण कर ली।

जैसे गजराज अपने दलसहित विचरण करता है, वैसे सिद्धार्थनन्दन श्रीवीरप्रभु भी अपने शिष्यपरिवार-सहित क्रमशः ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए अन्यत्र पधार गए। धन्ना और शालिभद्र

दोनों शास्त्राध्ययन करके बहुश्रुत ज्ञानी बने, उसी प्रकार घोर तपश्चर्या भी करने लगे। वे दोनों शरीर पर ममत्वभाव से रहित हो कर पक्ष, महीने, दो महीने, तीन महीने, चार महीने आदि का उग्र तप करते थे। इस प्रकार की उग्रतपस्या से दोनों का शरीर मांसरुधिररहित केवल अस्थिपंजर-सा, एवं मशक के समान हो गया। विचरण करते-करते एक बार भ० महावीर के साथ वे दोनों मुनि अपनी जन्मभूमि राजगृह पधारे। समवसरणस्थ त्रिलोकीनाथ भ० महावीर के अखड श्रद्धातिशय से बहुत-से नगरनिवासी उनके दर्शन-वन्दन के लिए उमड़ने लगे। धन्नाशालिभद्र ने भी मासक्षपण (मासिक उपवास) के पारणे पर भगवान को नमस्कार करके भिक्षा के लिए जाने की आज्ञा प्राप्त की। श्री भगवान् ने शालिभद्र से कहा --"आज तुम्हारा पारणा अपनी माता के हाथ से होगा।" शालिभद्र और धन्ना दोनों आहार के लिए चल पड़े। भद्रा के महल के दरवाजे पर आ कर दोनों मुनि खड़े रहे ; परन्तु तपस्या के कारण कृशकाय दोनों मुनियों को किसी ने पहिचाना नहीं। भद्रा भी श्रीवीरप्रभु, धन्ना एवं शालिभद्र को वन्दना करने की उत्कण्ठा से जाने की तैयारी में व्यग्र थी, इसलिए उतावल में उन्हें नहीं पहिचान सकी। दोनों मुनि कुछ देर रुक कर फिर आगे बढ़ गए। वे नगर के मुख्यद्वार वाली गली से जा रहे थे कि शालिभद्र के पूर्वजन्म की माता धन्या मिली। शालिभद्र को देखते ही उसके स्तनों से दूध की धारा बहने लगी। दोनों मुनियों को वन्दन करके उसने भक्तिभावपूर्वक उन्हें दही दिया। उसे ले कर दोनों मुनि महावीर प्रभु की सेवा में आए। वन्दना-नमस्कार करके गोचरी की आलोचना की। तत्पश्चात् हाथ जोड़ कर शालिभद्र ने पूछा — "भगवन्! आपने फरमाया था कि आज तेरी माता के हाथ से पारणा होगा। वह कैसे हुआ?" सर्वज्ञ प्रभु ने कहा—"शालिभद्र महामुने! जिसने तुम्हें दही दिया, वह धन्या तुम्हारे पूर्व-जन्म की एवं अन्य जन्मों की माता ही तो थी।" धन्या माता के हाथ से दिये हुए दही से पारणा करके शालिभद्रमुनि वीरप्रभु से अनशन की आज्ञा ले कर धन्नामुनि के साथ वैभारगिरिपर्वत पर गये। वहाँ धन्ना-शालिभद्र दोनों ने एक शिलाखण्ड का प्रमार्जन एवं प्रतिलेखन किया और पादपोपगमन नामक अन-शन स्वीकार किया। उसी दौरान माता भद्रा एवं श्रेणिक राजा आदि भक्तिभाव से महावीर प्रभु के दर्शन-वन्दनार्थ पहुंचे। माता भद्रा ने प्रभु से पूछा —"प्रभो! धन्ना मुनि और शालिभद्र मुनि कहाँ हैं? वे हमारे यहाँ भिक्षा के लिए क्यों नहीं पधारे? सर्वज्ञ प्रभु ने कहा—"भद्रे! तुम्हारे घर पर आज दोनों मुनि पधारे थे, परन्तु तुम्हें यहाँ आने की व्यग्रता थी। अतः उतावल में तुम उन्हें नहीं पहिचान सकी। तुम्हारे पुत्र को उसके पूर्वजन्म की माता धन्या वापिस लौटते हुए रास्ते में मिली ; उसने उन्हें भिक्षा के रूप में दही दिया। उसी से दोनों ने पारणा किया है। और दोनों महासत्त्वशाली मुनि मेरी आज्ञा ले कर अनशन करके समाधिपूर्वक शरीर का त्याग करने हेतु वैभारगिरि पर गये हैं। वहाँ उन्होंने अनशन स्वीकार कर लिया है।" यह सुन कर भद्रा श्रेणिक राजा के साथ वैभारगिरि पर पहुंची। वहाँ दोनों मुनियों को पाषाणशिला पर पाषाण के पुतले की तरह कायोत्सर्ग ध्यान में स्थिर देखा। तपस्या से कृश बने हुए शरीर को भद्रा बड़ी मुश्किल से देख सकी। पूर्वकालीन सुखसम्पन्नता को याद करके उसका मन भर आया। अपने रुदन की प्रतिध्वनि से मानो वैभारगिरि को रुलाती हुई भद्रा रुंधे हुए गले से बोली—"वत्स! आज तुम मेरे घर पर आए, लेकिन मुझ अभागी ने तुम्हें पहिचाना नहीं। तुम दोनों मेरे इस प्रमाद पर गुस्सा मत करना। यद्यपि तुमने चारों प्रकार के आहार का त्याग कर दिया है ; फिर भी मेरा मनोरथ था कि तुम अपने दर्शन से मेरे नेत्रों को आनन्दित कराओगे। परन्तु हे पुत्र! शरीरत्याग के कारणभूत इस अनशन को प्रारम्भ करके तुम मेरे मनोरथ को भंग करने को उद्यत हुए

हो। तुमने जिस प्रकार का तप प्रारम्भ किया है, मैं उसमें कोई विघ्न नहीं डालती, लेकिन जरा इस अत्यन्त कठोर शिलातल से तो हट कर इस ओर हो जाओ।" माता भद्रा का मोह-प्राबल्य देख कर श्रेणिक राजा ने उससे कहा— 'माता ! आप हर्ष के स्थान पर व्यर्थ ही रुदन क्यों करती हैं ? ऐसे धर्म-वीर तपोवीर पुत्र के कारण ही तो आप संसार में एकमात्र भाग्यशालिनी पुत्रवती कहला रही हैं। आपके इस महापराक्रमी पुत्र ने संसार का तत्त्व समझ कर तिनके के समान लक्ष्मी का त्याग करके, साक्षात् मोक्षमूर्ति प्रभुचरणों को प्राप्त किया है। त्रिलोकीनाथ के शिष्य होने के नाते ये तदनुरूप ही तपस्या कर रहे हैं। आप व्यर्थ ही स्त्रीस्वभाववश मन में दुःखित हो रही है। छोड़ो इस मोह को, कर्त्तव्य का पालन करो।" राजा के द्वारा प्रतिबोधित दुःखितहृदय भद्रा माता दोनों मुनियों को वन्दना करके अपने घर पहुंची। श्रेणिक राजा भी वापिस लौटे। इधर धन्ना-शालिभद्र दोनों मुनि समाधिपूर्वक आयुष्य पूर्ण कर तैंतीस सागरोपम की स्थिति वाले सर्वार्थसिद्ध नामक वैमानिक देवलोक में पहुंचे। उत्तम देव बने। इस प्रकार संगम ने सुपात्रदान से भविष्य में बढ़ने वाली अद्वितीय सम्पदाएँ प्राप्त की थी। इसलिए पुण्यार्थी मनुष्य को अतिथिसंविभागव्रत के यथाविधि पालन में सदा प्रयत्नशील रहना चाहिए।

इस प्रकार बारह व्रतों पर विवेचन कर चुके हैं। अब उनके पालन में सम्भावित अतिचारों (दोषों) से रक्षा करने हेतु अतिचारों का स्वरूप और उनके प्रकारो के विषय में कहते है—

व्रतानि सातिचाराणि, सुकृताय भवन्ति न।
अतिचारास्ततो हेयाः पंच पंच व्रते व्रते ॥८९॥

अर्थ—अतिचारों (दोषों) के साथ व्रतों का पालन सुकृत का हेतु नहीं होता। इसलिए प्रत्येक व्रत के पांच-पांच अतिचार हैं, उनका त्याग करना चाहिए।

व्याख्या—अतिचार का अर्थ व्रत में आने वाला मालिन्य या विकार है। मलिनता (दोष) से युक्त व्रताचरण पुण्यकारक नहीं होता। इसी हेतु से प्रत्येक वस्तु के जो पांच-पांच अतिचार हैं, उनका त्याग करना आवश्यक है। यहाँ एक शका प्रस्तुत की जाती है कि 'अतिचार तो सर्वविरति में ही होते हैं; उसी में ही तो संज्वलन कषाय के उदय से ही अतिचार पैदा होते हैं !' इसका समाधान करते हुए कहते है—"यह ठीक है कि सभी अतिचार संज्वलनकषाय के उदय से होते हैं। उसमें पहले-पहले के १२ कषायों का मूलतः उच्छेदन हो जाता है। और संज्वलनकषाय का उदय सर्वविरतिगुणस्थान वाले के ही होता है; देशविरतिगुणस्थान वाले के तो प्रत्याख्यानावरणीय कषाय का उदय होता है। इसलिए देश-विरति श्रावक के व्रतों में अतिचार संभव नहीं है। यह बात सिद्धान्त की दृष्टि से ठीक है। यहाँ उसकी न्यूनता होने से कुंथुए के शरीर में छिद्र के अभाव के समान है। वह इस प्रकार घटित होता है— प्रथम अणुव्रत में पहले स्थूल प्राणियों के हनन का संकल्प से, फिर निरपराध का, फिर द्विविध-त्रिविध आदि विकल्पों के रूप में त्याग किया जाता है; इसलिए बहुत अवकाश दे देने पर अत्यन्त सूक्ष्म हो जाने पर देशविरति का अभाव होने से देशविराधनारूप अतिचार लग ही कैसे सकता है ? अतः उसका सर्वथा त्याग ही उचित है ! महाव्रत बड़े होने से उनमें अतिचार लगने की सम्भावना है। महाव्रतों में अतिचार हाथी के शरीर पर हुए फोड़े पर पट्टी बांधने के समान है।" इसके उत्तर में कहते हैं—"देशविरति गुण-स्थान में अतिचार सम्भव नहीं है, यह बात असंगत है। श्रीउपासकदशांगसूत्र में प्रत्येक व्रत के पांच-पांच अतिचार बताये हैं। उसके विभाग भी कहे हैं। परन्तु वहाँ अतिचार न कहे हों, ऐसा भी नहीं कहना चाहिये। आगम में विभाग और अतिचार दोनों अलग-अलग माने गये हैं; इस दृष्टि से कहा है कि

'सभी अतिचार संज्वलनकषाय के उदय से होते हैं।' यह बात यथार्थ है, परन्तु वह सर्वविरतिचारित्र की अपेक्षा से कही है ; न कि सम्यक्त्व और देशविरतिचारित्र की अपेक्षा से। चूंकि सभी अतिचार संज्वलन के उदय से होते हैं, इत्यादि गाथा में ऐसी व्याख्या है कि संज्वलन-कषाय के उदय में सर्वविरतिचारित्र में अतिचार लगते हैं, शेष १२ कषायों के उदय में तो सर्वविरति के मूलव्रत का ही छेदन होता है। इस दृष्टि से देशविरतिचारित्र में अतिचार का अभाव नहीं है। अत. प्रथम व्रत के जो अतिचार बताए हैं, उन्हें कहते हैं —

क्रोधाद् बन्ध-छविच्छेदोऽतिभाराधिरोपणम् ।
प्रहारोऽन्नादिरोधश्चाहिंसायाः परिकीर्तिताः ॥९०॥

अर्थ (१) क्रोधपूर्वक किसी जीव को बांधना, (२) उसके अंग काट देना, (३) उसके बलबूते से अधिक बोझ लाद देना, (४) उसे चाबुक आदि से बिना कसूर ही मारना, पीटना, और (५) उसका खाना-पीना बन्द कर देना, ये पांच अतिचार अहिंसाणुव्रत के बताये गये हैं।

व्याख्या - अहिंसारूप प्रथम अणुव्रत के ये पांच अतिचार हैं—गाय, भैंस आदि पशु को रस्सी आदि से इतना कस कर बांध देना कि खुल न सके, उसे हमेशा के लिए बांध कर नियंत्रण करना। परन्तु अपने पुत्र आदि को हितशिक्षा की दृष्टि से या उद्दण्डता रोकने की दृष्टि से बंधन आदि में बांधना पड़े तो. वह अतिचार नहीं है, क्योंकि मूल श्लोक में **'क्रोधात्'** शब्द पड़ा है, वह यही सूचित करता है कि अत्यन्त प्रबलकषाय के उदय से जो बंधन डाला जाय, वह प्रथम अतिचार है। पुत्र आदि के पैर में या कहीं रसौली की गांठ या कोई फोड़ा हो गया हो और उसे कटवाना पड़े, नश्तर लगवाना पड़े या चमड़ी काटनी पड़े तो उसे अतिचार नहीं कह सकते ; क्योंकि उसके पीछे दर्द मिटाने की हितैषिता होती है, क्रोध-द्वेषादि नहीं होता। इस कारण **'क्रोधात्'** शब्द प्रत्येक अतिचार के साथ समझ लेना चाहिए। अत: क्रोध या द्वेषवश किसी का अंग या चमड़ी आदि काट लेना या सिर आदि फोड़ देना द्वितीय अतिचार है। गाय, बैल. ऊंट, गधा, मनुष्य आदि किसी के भी कंधे, पीठ या सिर पर अथवा गाड़ी या गाड़ों में ढोया न जा सके, इतना बलबूते से ज्यादा बोझ लाद देना, तीसरा अतिचार है। क्रोध या द्वेषवश लाठी, डंडा, चाबुक या किसी हथियार अथवा चाकू, छुरा आदि से किसी भी निरपराध जानवर या मनुष्य को मारना-पीटना, लोहे का आरा भोंक देना, ढेले, पत्थर आदि से मारना इत्यादि चौथे अतिचार के अन्तर्गत है। इसी प्रकार क्रोध, द्वेष आदि से किसी पशु या मनुष्य को अन्न-पानी या घास-चारा न देना पांचवां अतिचार है। इस विषय में आवश्यकचूर्णि में विधि बताई गई है - बन्धन दोपाये मनुष्य का तथा चौपाये पशु का होता है। लेकिन वह भी सार्थक और निरर्थक दो प्रकार का है। निरर्थक बन्धन तो कथमपि उचित नहीं है ; सार्थक बन्धन भी दो प्रकार का है—सापेक्ष और निरपेक्ष। निरपेक्ष बन्धन त्याज्य है।

सापेक्षबन्धन वह है, जिसके अन्तर्गत कषायादिवश बन्धन नहीं होता ; किन्तु निरपराध को रस्सी आदि से बाधना भी पड़े तो गांठ मजबूत न लगाए, ढीली-सी गांठ लगाए ; ताकि समय आने पर झटपट और आसानी से खोली या काटी जा सके। निरपेक्ष उसे कहते हैं जो गांठ अत्यन्त कस कर मजबूती से लगाई गई हो, ताकि वह आफत के समय खोली न जा सके। कई बार गांठ इतनी मजबूती से लगा दी जाती है कि आग लगने पर भी बेचारा पशु उसे तोड़ कर भाग नहीं सकता, वहीं जल मरता है।

दो पैर वाले मनुष्यों में दास, दासी, चोर, पढ़ने में आलसी पुत्र आदि को हितरक्षा की दृष्टि से बांधा जाता है ; ताकि समय आने पर आसानी से उस बंधन को खोला जा सके। यह सापेक्ष बन्धन है। निरपेक्ष बन्धन में तो इस प्रकार का कोई विचार नहीं किया जाता। इसलिए चाहे दोपाये प्राणी (मनुष्य) हों, चाहे चौपाये जानवर, निरपेक्ष बंधन हर हालत में त्याज्य है, सापेक्ष बन्धन क्षम्य है। बल्कि पशुओं एवं मनुष्यों को इस प्रकार के स्थान में रहने की आदत डाल दें, जिससे वे स्वतः ही बिना बन्धन के रह सकें। अंगच्छेदन या चमड़ी का छेदन भी सापेक्ष-निरपेक्ष दोनों तरह का समझ लेना चाहिए। किसी के हाथ, पैर, नाक, आदि अवयव निर्दयतापूर्वक काट लेना या आँखें फोड़ देना निरपेक्ष छेदन है, वह अच्छा नहीं है। परन्तु शरीर में फोड़ा हो गया हो, उसमें से मवाद बहती हो या पक गया हो तो उस अंग के अमुक हिस्से का नश्तर लगवा कर इलाज कराना या उस हिस्से को जला देना सापेक्ष अंगछेद है। अतिभार लादना भी अहिंसा की दृष्टि से ठीक नहीं। अव्वल तो श्रावक को दोपाये या चौपाये प्राणियों वाली गाड़ी या सवारी द्वारा अपनी अजीविका छोड़ देना चाहिए। यदि और कोई रोजगार न हो तो दो पैर वाले मनुष्य जितना बोझ अपने आप उठा सकें, उतना ही उनसे उठवाना चाहिए। चौपाये जानवरों को हल, गाड़ी, रथ आदि में जोतने पर उतना ही वजन लादना चाहिए, जितना वे आसानी से ढो सकें, या ले जा सकें। और उन्हें समय पर छोड़ भी देना चाहिए। प्रहार भी दो प्रकार का है सापेक्ष और निरपेक्ष। अविनीत और उद्दण्ड या दुराचारी, अथवा चोर को कदाचित् सजा देनी पड़े तो भी निर्दयता या द्वेष से नहीं, परन्तु यथायोग्य मामूली प्रहार या डंडा आदि दिखा कर भी उसे सीधे रास्ते पर चलाया या लाया जा सकता है। सापेक्ष प्रहार में अपने पुत्रादि को कहा न मानने या उद्दंडता करने पर कदाचित् मारना भी पड़े तो उसके मर्मस्थान को छोड़ कर अन्तर्हृदय में दया रख कर लात, घूंसे या थप्पड़ आदि एक या दो बार हलके-से मारे। निर्दयता से, द्वेष या रोषवश मर्मस्थान पर मारना निरपेक्ष प्रहार है, वह उचित नहीं है। आहारपानी का निरोध भी सार्थक-निरर्थक एवं सापेक्ष-निरपेक्ष-रूप से ४ प्रकार का है। किसी का भोजनादि सर्वथा बंद कर देने से कभी-कभी वह भूख-प्यास से पीड़ित हो कर आर्तध्यान करता हुआ मर जाता है। इसलिए शत्रु या अपराधी के बारे मे भी ऐसा न करना चाहिए। ऐसा करना निरर्थक भोजनादि-निरोध है। किन्तु किसी को बुखार या अन्य बीमारी में लंघन करवाना पड़े अथवा प्रयुक्त भोज्य पदार्थ बंद करना पड़े तो उतने समय के लिए ही बंद करना सार्थक और सापेक्ष निरोध है। अपने द्वारा बंधन में डाले हुए या रोक कर रखे हुए आश्रित प्राणी को पहले आहार करवा कर फिर स्वयं भोजन करे। अपराधी को कदाचित् दण्ड देना पड़े तो केवल वाणी से कहे कि 'आज तुम्हें भोजन आदि नहीं मिलेगा।' रोगशान्ति आदि के लिए श्रावक उपवास करा सकता है। अधिक क्या कहें ! श्रावक को स्वयं विवेकी बन कर अहिंसारूप मूलगुण में अतिचार न लगे इस तरह से यतनापूर्वक व्यवहार या प्रवृत्ति करनी चाहिए।

यहाँ शंका होती है कि श्रावक के तो हिंसा (वध) का ही नियम होता है, इसलिए बन्धन आदि में दोष नहीं है; हिंसा से विरति के अखंडित होने से यदि बन्धन आदि का नियम लिया हो, और उस हालत में बन्धन आदि करे तो विरति खण्डित हो जाने से व्रतभंग होता है। या बन्धन आदि के प्रत्याख्यान ले लेने के बाद व्रत की मर्यादा टूट जाती है तो प्रत्येक व्रत में अतिचार होना है, किन्तु बन्धन आदि का तो कोई अतिचार होता नहीं।" इसका समाधान यों करते हैं तुम्हारी बात ठीक है, हिंसादि का प्रत्याख्यान किया है, लेकिन बन्धनादि किया हो तो केवल उसके नियम में अर्थापत्ति से उनके भी प्रत्याख्यान किए हुए समझना। बन्धनादि हिंसा के उपायभूत हैं। इसलिए उनके करने पर व्रतभंग तो नहीं

होता; लेकिन अतिचार तो होता ही है। यह कैसे ? इसका उत्तर यों है—व्रत का पालन और भंग दो प्रकार से होता है— अन्तर्वृत्ति से और बहिर्वृत्ति से। 'मैं मारूंगा', इस प्रकार के विकल्प के अभाव में, यदि कोई किसी पर गुस्सा करता है या आवेश प्रगट करता है, तो उसमें दूसरे के प्राण का विनाश नहीं माना जाता. इसी प्रकार किसी रोष या आवेश के बिना कोई बन्धन आदि में प्रवृत्ति करना है तो उससे हिंसा नहीं होती। निर्दयता या विरति की निरपेक्षता से प्रवृत्ति होने से अन्तर्वृत्ति से व्रतभंग होता है और हिंसा का अभाव होने से वहिर्वृत्ति के पालन द्वारा आंशिक रूप से (देशतः) विरतिभंग होने से प्रवृत्ति के कारण अतिचार का व्यपदेश होता है। इसलिए कहा है—"मैं नहीं मारूंगा", इस प्रकार के नियम जिसने लिये हैं, उसे दूसरे की मृत्यु हुए बिना कौन-सा अतिचार लगता है ? जहाँ क्रोध आदि के वशीभूत हो कर कोई वधादि करता है और अपने गृहीत नियम की अपेक्षा नहीं रखता, वहाँ अवश्य ही निरपेक्ष कहना चाहिए। यद्यपि दूसरे प्राणी की मृत्यु नहीं होती, इसलिए उसका नियम तो कायम है, लेकिन क्रोधवश या निर्दयता से प्रवृत्त होने के कारण व्रतभंग तो हो ही जाता है। इस दृष्टि से देशतः (आंशिक रूप से) भंग और देशतः पालन होने से पूज्यवर्गों ने उसे अतिचार कहा है। और जो यह कहा जाता है कि इससे बारहव्रत की मर्यादा टूट जाती है, वह युक्तियुक्त नहीं है। विशुद्ध अहिंसा के सद्भाव में बन्धन आदि में अतिचार है ही। बन्धनादि से उपलक्षण से मारण, उच्चाटन, मोहन आदि मन्त्रप्रयोग वगैरह दूसरे अतिचार भी जान लेने चाहिए।

अब दूसरे व्रत के अतिचार बताते हैं

मिथ्योपदेशः सहसाऽभ्याख्यानं गुह्यभाषणम्।
विश्वस्तमंत्रभेदश्च कूटलेखश्च सूनृते ॥९१॥

अर्थ— (१) मिथ्या (संयम या धर्म के विपरीत, पाप का) उपदेश देना, (२) बिना विचार किये एकदम किसी पर दोषारोपण करना, (३) किसी की गुप्त या मर्म (रहस्य) बात प्रगट कर देना, (४) अपने पर विश्वास करके कही हुई गोपनीय मंत्रणा दूसरे से कह देना और (५) झूठे दस्तावेज, झूठे बहीखाते या झूठे लेख लिखना; ये सत्याणुव्रत के ५ अतिचार हैं।

व्याख्या (१) मिथ्या उपदेश का अर्थ है— असत् उपदेश। असत्य के प्रत्याख्यान व सत्य के नियम लेने वाले के लिए परपीड़ाकारी वचन बोलना असत्यवचन कहलाता है। इसलिए प्रमादवश परपीड़ाकारी उपदेश देने में अतिचार (दोष) लगता है। जैसे कोई कहे---गधे और ऊंटों को क्यों बिठाये रखा है ? उनसे काम करवाओ, भार उठवाओ, चोर को मारो इत्यादि। अथवा यथार्थ अर्थ से विपरीत उपदेश देना भी अतिचार है। इसका मतलब यह हुआ कि विपरीत उपदेश को अयथार्थ-उपदेश माना गया है। जैसे कोई किसी पाप को कर ले और उससे पूछे जाने पर उसका ठीक उत्तर न दे. सत्य बात न कहे, अथवा विवाद में पड़ कर स्वय या दूसरे के द्वारा अन्य किसी के सामने झूठा अभिप्राय प्रगट किया जाय या उलटी प्रेरणा दी या दिलाई जाय, वहाँ प्रथम अतिचार लगता है। (२) सहसा किसी प्रकार का आगा-पीछा सोचे बिना एकदम किसी पर झूठा दोष या मिथ्या कलंक मढ़ देना, झूठ-मूठ अपराध लगा देना; जैसे —'तू ही तो चोर है', 'तू परस्त्रीगामी है' इत्यादि रूप से कहना सहसाभ्याख्यान नामक दूसरा अतिचार है। कोई-कोई इसके बदले यहाँ 'रहस्याभ्याख्यान' नामक अतिचार बताते हैं। रहः' अव्यय है, उसका अर्थ होता है—एकान्त। एकान्त में होने वाले को रहस्य कहते हैं। झूठी प्रशंसा करना या झूठी निन्दा, चुगली करना भी रहस्याभ्याख्यान है। जैसे कोई किसी बुढ़िया से एकान्त में कहे कि तुम्हारा

पति तो फलां तरुणी से प्रेम करता है और किसी तरुणी से एकान्त में कहे कि 'तुम्हारा पति बड़ा कामकला में कुशल और प्रौढ़ चेष्टा वाला है, उसका तो मध्यमवय की नारियों पर अनुराग है। अथवा किसी स्त्री से कोई कहे कि तेरा पति गधे के समान अत्यन्तविषयी अथवा कामुक है। अथवा तेरा पति तो नामर्द है।" इस प्रकार की हंसी-मजाक करे अथवा किसी स्त्री के लिए झूठी बात बना कर उसके पति से कहे कि तेरी पत्नी मुझे एकान्त में कहती थी कि 'तेरे अतिविषयसेवन से वह बेचारी हैरान हो गई है।' अथवा यों कहे कि 'वह कहती थी—मैं अपने पति को भी रतिक्रीड़ा में धक्का देती हूं।' अथवा दम्पतियुगल में से किसी स्त्री या पुरुष को मोह या आसक्ति बढ़े उस प्रकार की बातें करना अथवा उस स्थिति में एकान्त में अनेक प्रकार की गुप्त बातें या हंसी मजाक की बातें करना, जिससे पुरुष को स्त्री पर झूठा शक (वहम) हो जाय अथवा स्त्री को पुरुष पर झूठा भ्रम पैदा हो जाय ; इस प्रकार की भ्रान्तिजनक बातें करना रहस्याभ्याख्यान अतिचार है। जान-बूझ कर दुराग्रहवश झूठ बोलने पर तो व्रतभंग हो जाता है। कहा भी है - जानबूझ कर सहसा झूठा आरोप आदि लगाया जाय तो वहां व्रतभंग हो जाता है, और जहां बिना उपयोग के, हंसी-मजाक में या बिना सोचे-समझे, किसी को बदनाम किया जाय या किसी पर लांछन लगाया जाय, वहाँ सहसाभ्याख्यान नामक दूसरा अतिचार लगता है। (३) **गुह्यभाषण**—शासनकार्य में कई ऐसी गोपनीय बातें होती है, जो सभी को बताने लायक नहीं होती, (मंत्रियों को उस गोपनीयता की शपथ भी दिलाई जाती है) उन राज्यादि कार्यसम्बन्धी गुप्त बातों को बिना उपयोग के, सहसा अनजाने में प्रगट कर देना गुह्यभाषण नामक अतिचार है। अथवा इंगित या आकृति आदि से जान कर उसके विषय में दूसरे से कहना—गलत निर्णय कर लेना—भी गुह्यभाषण है। जैसे कोई किसी से कहे कि 'अमुक व्यक्ति राज्यविरुद्ध कार्य करता है।' अथवा एक दूसरे की चुगली खा कर परस्पर भिड़ा देना— एक की मुखाकृति और आचरण के आधार पर जरा-सा अभिप्राय जान कर दूसरे को ऐसी युक्ति से कहना जिससे कि उन दोनों की परस्पर प्रीति टूट जाय— यह भी गुह्यभाषण नामक तृतीय अतिचार है। (४) विश्वस्त व्यक्ति की गुप्त बात प्रगट करना, चौथा अतिचार है। किसी मित्र, अपनी स्त्री या किसी विश्वसनीय व्यक्ति ने कोई गुप्त बात किसी पर भरोसा रख कर कही हो, और वह उस गुप्त बात को जहाँ-तहाँ प्रगट कर देता है तो उसे यह अतिचार लगता है। हालांकि जैसी बात किसी ने कही है उसी बात को वह यथार्थरूप से दुहरा देता है, इसलिए बाह्य दृष्टि से असत्य न होने से अतिचाररूप नहीं मालूम देती ; लेकिन स्त्री-पुरुष की या मित्र अथवा विश्वस्त व्यक्ति की गुप्त हकीकत प्रगट हो जाने से कई दफा वह लज्जावश आत्महत्या कर बैठता है। इस प्रकार के घोर अनर्थ का कारण होने से परमार्थ से वह वचन असत्य ही है। कदाचित् अनजाने में या विश्वस्त समझ कर कह देने पर व्रत के आंशिक भंग होने से अतिचार है। किसी की गुप्त बात, गुप्तमंत्रणा और गुप्त आकार आदि प्रगट करने का अधिकार न होने पर भी दूसरों के सामने प्रगट कर देता है अथवा स्वयं मंत्रणा करके उस गुप्तमंत्रणा को प्रगट कर देता है और दो प्रेमी व्यक्तियों के बीच फूट डलवा देता है, वहां चौथा अतिचार होता है। (५) **कूटलेख**—झूठे लेख लिखना, झूठे दस्तावेज बनाना, दूसरे के हस्ताक्षर जैसे अक्षर बना कर लिखना अथवा नकली हस्ताक्षर कर देना, पांचवां अतिचार है। यद्यपि झूठे लेख लिखने आदि में वचन से असत्य नहीं बोला जाता, न बुलवाया जाता है। तथापि ऐसा करना असत्य का ही प्रकार है, सत्यव्रत का आंशिक भंग है, इसलिए अतिचार है। जहां सहसा आवेश में आ कर वाणी से मौन रख कर हाथ से झूठी बात लिखी जाती है, वहां व्रत की मर्यादा के अतिक्रमादि के कारण अतिचार लगता है ; अथवा यों समझ कर कि मेरे तो असत्य बोलने का नियम है, यह तो लेखन है, इससे मेरे व्रत में कोई आपत्ति नहीं आती ; ऐसी समझ से

कोई व्यक्ति व्रतपालन की भावनापूर्वक असत्य लिखता है, तो वहाँ यह पांचवाँ अतिचार है। इस तरह दूसरे व्रत के ये पांच अतिचार हुए।

अब तीसरे अस्तेयाणुव्रत के पांच अतिचार कहते हैं—

स्तेनानुज्ञा तदानीतादानं द्विड्राज्यलंघनम्।
प्रतिरूपक्रिया मानान्यत्वं चास्तेयसंज्ञिताः ॥९२॥

अर्थ—(१) **चोर को चोरी करने की अनुमति या सलाह देना, (२) चोरी करने में उसे सहायता देना अथवा चोरी करने के बाद उसको सहयोग देना, (३) अपने राज्य को छोड़ कर शत्रु के राज्य में जाना अथवा राज्यविरुद्ध कार्य करना, (४) अच्छी वस्तु बता कर खराब वस्तु देना, (५) खोटे बांट और खोटे गज (नापतौल) रखना या नापतौल में गड़बड़ करना, ये पाँच अस्तेयाणुव्रत के पांच अतिचार हैं।**

व्याख्या—अस्तेयाणुव्रत की प्रतिज्ञा 'स्वयं चोरी नहीं करूंगा, न कराऊंगा; मन-वचन-काया से", इस रूप में होती है। इसलिए मैं तो चोरी कर नहीं रहा हूँ' यह समझ कर चोर को चोरी करने की प्रेरणा, सलाह या अनुमति देना अथवा चोरी करने पर शाबाशी देना, प्रोत्साहन देना या पीठ ठोकना यह तृतीयव्रत का प्रथम अतिचार है। अथवा चोर को चोरी करने के लिए औजार, हथियार, कोश, कैंची आदि मुफ्त में देना या कीमत ले कर देना। यहाँ पर तीसरे व्रत की प्रतिज्ञा के अनुसार इस अतिचार से व्रती का व्रतभंग होता है। किसी को यह प्रेरणा देना कि आजकल तुम बेकार क्यों बैठे हो? तुम्हारे पास खाना आदि न हो तो मैं दूंगा। तुम्हारा चुराया हुआ माल कोई नहीं खरीदेगा तो मैं खरीद लूँगा।" इस प्रकार प्रेरणा दे कर यह मान लेना कि मैं उसे चोरी करने की प्रेरणा थोड़े ही दे रहा हूं, मैं तो उसे आजीविका की प्रेरणा दे रहा हूं। इसमें व्रतपालन की भावना होने से सापेक्षता के कारण प्रथम अतिचार लगता है। 'तदानीतादानं' का मतलब है—चोर के द्वारा चुरा कर लाई हुई वस्तु का ग्रहण करना। चोर के द्वारा चुराये हुए सोने, चांदी, कपड़े आदि को कम मूल्य में, मुफ्त में या गुप्तरूप से ले लेना भी चोरी कहलाती है, क्योंकि इससे स्वयं चोरी न करने पर भी चोरी को प्रोत्साहन मिलता है, सरकार द्वारा दण्डित होने का भय सवार रहता है, और चोरी का माल लेने वाला यह समझता है कि 'मैं तो व्यापार कर रहा हूं, चोरी कहाँ कर रहा हूं!' इस प्रकार के परिणाम व्रतसापेक्ष होने से अचौर्यव्रत तो भंग नहीं होता; किन्तु अंशतः पालन और अंशतः भंग होने से भंगाभंगरूप अतिचार लगता है। यह दूसरा अतिचार हुआ। शत्रुराजा के द्वारा निषिद्ध राज्य में जाना, राज्य की निश्चित की हुई सीमा या सेना के पड़ाव का उल्लंघन करना, निषिद्ध किये हुए शत्रुराज्य में जाना राज्यों की पारस्परिक गमनागमन की व्यवस्था का अतिक्रम करना, एक राज्य के निवासी का दूसरे राज्य मे प्रवेश तथा दूसरे राज्य के निवासी का अन्यराज्य में प्रवेश करना स्वामी-अदत्त में शुमार है। शास्त्र में स्वामी-अदत्त, जीव-अदत्त, तीर्थंकर-अदत्त और गुरु-अदत्त ये चार प्रकार के अदत्त (चौर्य) बताए हैं; इनमें से यहाँ स्वामी-अदत्त नामक दोष लगता है। इस तरह राज्य के द्वारा निषेध होने पर भी दूसरे राज्य मे जाने पर चोर के समान दण्ड दिया जाता है। वस्तुतः राज्य की चोरीरूप दोष होने से यहाँ व्रतभंग होता है।

फिर भी दूसरे राज्य में अनुमति के बिना जाने वाले के मन में तो यही होता है कि मैं चोरी

या जासूसी के लिए नहीं, व्यापार के लिए गया हूं। इस भावना के कारण व्रतसापेक्षता होने से व्रतरक्षण की उपेक्षा नहीं होती ; तथापि लोकव्यवहार में वह चोर माना जाता है, राज्य द्वारा दण्डित होता है, इसलिए यहाँ तीसरा अतिचार लगता है ; (४) **तत्प्रतिरूपकक्रिया** --अच्छी वस्तु में खराब मिला कर अच्छी वस्तु के भाव में बेचना, मिलावट करना ; बढ़िया वस्तु दिखा कर दूसरी घटिया वस्तु दे देना। जैसे अच्छी किस्म के चावलों में हल्की किस्म के चावल मिला देना, घी में चर्बी, दूध में पानी, दवाइयों में खड़ियामिट्टी, हींग में गोंद या खैर आदि का रस, तेल में मूत्र, शहद में चासनी, उत्तम सोने या चांदी मे दूसरी धातु मिला कर बेचना इत्यादि व्यवहार प्रतिरूपकक्रिया है। अपहरण की हुई गाय आदि के सीग को बदलने के लिए आग में पकाना या और किसी चीज के ऊपरी ढांचे को बदल देना, तलवार आदि के म्यान बदल कर रख देना तरबूज आदि फलों के भी पसीने से सींग और नीचे मुंह बना कर रख लेना, ताकि मालिक न पहचान सके, इस तरकीब से इधर-उधर टेढ़ा करके स्वयं रख लेना या बेच देना तत्प्रतिरूपक व्यवहार नामक चौथा अतिचार है। (५) **मानान्यत्व**—जिससे कोई चीज नापी जाय, उसे मान कहते हैं। रत्ती पल, तोला, माशा, भार, मन, सेर (आजकल किलो), गज (मीटर) आदि बाट या गज आदि साधन कम तौल-नाप के रखना अथवा ग्राहक को सौदा देते समय तौल या नाप में गड़बड़ी करना। अथवा अधिक तौल या नाप के बांट या गज आदि रख कर दूसरे से अधिक ले लेना। यह इस भावना से करना कि सिर्फ सेंध लगा कर या जेब काट कर दूसरे की चीज ले लेना ही लोकप्रसिद्ध चोरी है, यह तो व्यापार की कला है, इस दृष्टि से व्रतरक्षा करने में प्रयत्नशील होने से उक्त दोनों अतिचार लगते हैं। अथवा चोर को सहायता आदि दे कर उक्त पांचों कार्य कराना; वैसे तो स्पष्टतः चोरी के रूप हैं, फिर भी ये कार्य असावधानी से, अज्ञानता या बेसमझी से या अनजाने हो जाय तो व्यवहार में अतिक्रम, व्यतिक्रम या अतिचाररूप दोष कहलाते हैं। राजा के नौकर आदि को ये अतिचार नहीं लगते, ऐसी बात नहीं है। पहले के दो अतिचार राजा के नौकर आदि को प्रायः लगते हैं। शत्रु के (निषिद्ध) राज्य में जाना तीसरा अतिचार है, यह तब लगता है, जब कोई सामन्त राजा आदि या सरकारी नौकर अपने स्वामी (राजा) के यहाँ नौकरी करता हुआ या उसके मातहत रहता हुआ उसके विरोधी (चाहे वह राजा हो या और कोई) की सहायता करता है, तब यह अतिचार लगता है। नापतौल में परिवर्तन तथा प्रतिरूपक्रिया (हेराफेरी), ये दो अतिचार पृथक्-पृथक् है ; राजा भी अपने खजाने के नापतौल में परिवर्तन करावे या वस्तु में हेराफेरी करावे ; तब उसे भी ये अतिचार लगते हैं। इस प्रकार अस्तेय-अणुव्रत के ये पांच अतिचार हुए।

अब चौथे अणुव्रत के पांच अतिचार बताते हैं—

इत्वरात्तागमोऽनात्तागतिरन्यविवाहनम् ।
मदनात्याग्रहोऽनंगक्रीड़ा च ब्रह्मणि स्मृताः ॥९३॥

अर्थ—(१) कुछ अर्से के लिए रखी हुई परस्त्री (रखैल) या वेश्या से संगम करना, (२) जिसके साथ विवाह नहीं हुआ है, ऐसी स्त्री से सहवास करना ; (३) अपने पुत्रादि कुटुम्बीजन के अतिरिक्त लोगों के विवाह कराना अथवा अपनी स्त्री में संतुष्ट न हो कर उसकी अनुमति के बिना तीव्रविषयाभिलाषावश दूसरी स्त्री से शादी कर लेना, (४) कामक्रीड़ा में तीव्र अभिलाषा रखना और (५) अनंगक्रीड़ा करना ; ये चौथे ब्रह्मचर्याणुव्रत के ५ अतिचार कहे हैं।

व्याख्या—ब्रह्मचर्याणुव्रत का स्वदारसंतोष-परदारविरमणव्रत नाम अधिक प्रचलित है। इस दृष्टि से इस व्रत के ५ अतिचार बताये गए हैं—(१) **इत्वरात्तागम**—इत्वरी शब्द का अर्थ होता है थोड़े समय के लिये रखी हुई। ऐसी स्त्री, अनेक पुरुषों के पास जाने वाली कुलटा या वेश्या होती है, अथवा रखैल होती है, जिसे वेतन या किराये-भाड़े पर रखी जाती है, या फिर उसके भरण-पोषण का जिम्मा ले कर रखैल या दासी (गोली) के रूप में रखी जाती है। ऐसी स्त्री के साथ गमन करना इत्वरात्तागम कहलाता है। ऐसी स्त्री रखने वाला पुरुष अपनी दृष्टि या कल्पना से उसे अपनी पत्नी मानता है, इसलिए व्रतसापेक्षता होने से स्वदारसंतोषव्रत का भंग तो नहीं होता, किन्तु अल्पकाल के लिए स्वीकृत होने पर भी वास्तव में पराई स्त्री होने की अपेक्षा से व्रतभंग होता है। इस प्रकार इत्वरात्तागम भगाभंगरूप प्रथम अतिचार है। (२) **अनात्तागम**—अनात्ता का अर्थ है—अपरिग्रहीता अर्थात् जिसका किसी पुरुष के साथ पाणिग्रहण नहीं हुआ है, जिसका कोई स्वामी (पति) नहीं है, अथवा जिसे खुद ने पाणिग्रहण करके स्वीकार नहीं किया है। ऐसी स्त्री कुंवारी कन्या, विधवा, वेश्या, स्वच्छन्दा चारिणी (कुलटा) या पतित्यक्ता कुलवती आदि में से कोई भी हो सकती है ; अतः ऐसी अपरिगृहीत स्त्री के साथ संभोग करना द्वितीय अतिचार है। बेसमझी से, अज्ञानता या प्रमाद से, अतिक्रम आदि होने से यह अतिचार लगता है, परन्तु परादारात्यागी को ये दोनों अतिचार इसलिए नहीं लगते कि वेश्या या कन्या अथवा विधवा के उस समय कोई पति (स्वामी) नहीं होता। वेश्या या कुलटा के तो कोई पति होता ही नहीं। और फिर थोड़े समय के लिए वह उसे अपनी पत्नी के रूप में स्वीकार कर लेता है। शेष अतिचार उक्त दोनों को लगते हैं। स्वदारासंतोपव्रती के लिए ये पांचों अतिचार जानने योग्य हैं, आचरण करने योग्य नहीं। इस विषय में अन्य आचार्यों का मत यह है कि ये दोनों अतिचार उक्त दोनों प्रकार के पुरुषों को लगते हैं ; क्योंकि स्वदारसंतोषी किसी स्त्री (वेश्या आदि) को थोड़े समय के लिए रख कर उसे सेवन करे तो उसे अतिचार लगता है, यह तो स्पष्ट है। लेकिन पतिविहीन स्त्री के साथ संगम करने से परदारात्यागी को भी अतिचार यों लगता है कि वेश्या आदि पति-रहित होती है, और उसे थोड़े समय के लिए स्त्री बना कर अपने पास रखता है ; उसके बाद वह दूसरे के पास जाती है, तब दूसरे की स्त्री बन जाती है, इस दृष्टि से वेश्या आदि कथंचित् परस्त्री होने से व्रतभंग होता है, और वस्तुतः परस्त्री न होने से व्रतभंग नहीं होता। इस तरह भंगाभंगरूप, दूसरा अतिचार स्वदारसंतोषी और परदारत्यागी दोनों को लगता है। (३) **परविवाहन**—अपने पुत्र-पुत्री आदि के सिवाय दूसरे के पुत्र-पुत्री आदि का विवाह करने से अथवा कन्यादान के फल पाने की इच्छा से या अपने पुत्र को भी कन्या मिल जाने की आशा से अथवा स्नेहसम्बन्ध से लिहाज में आ कर विवाहक्रिया करने से परविवाह-करण नामक अतिचार लगता है। जिसने अपनी पाणिगृहीतस्त्री के सिवाय अन्यस्त्री के साथ मैथुन-सेवन नहीं करना, नहीं कराना ; इस रूप में स्वदारसंतोषव्रत लिया हो, अथवा अपनी स्त्री या विवाह किये बिना ही स्वीकृत स्त्री के अलावा अन्य से मन, वचन, काया से मैथुनसेवन न करने, न कराने का व्रत अंगीकार किया हो, उसके द्वारा दूसरों के विवाहसम्बन्ध जोड़ना ; वस्तुतः मैथुन में प्रवृत्त कराना है, इस दृष्टि से इस बात का त्याग ही होना चाहिए। इस अपेक्षा से ऐसी प्रवृत्ति से उसका व्रतभंग होने पर भी वह अपने मन में समझता है—'मैं तो केवल विवाह कराता हूं, मैथुन-सेवन नहीं कराता। इसलिए मेरा व्रतभंग नहीं होता।' इस प्रकार अपने व्रत की रक्षा करने की भावना होने से ऐसी हालत में उसे अतिचार लगता है। परविवाह करके कन्यादान का फल प्राप्त करने की इच्छा सम्यग्दृष्टि को अपरिपक्व

अवस्था में होती है। यदि मिथ्यादृष्टि भद्रपरिणामी व्यक्ति चतुर्थव्रत ले कर उपकारबुद्धि से ऐसा करता है तो, वहाँ उसे मिथ्यात्व लगता है। यहाँ प्रश्न होता है कि जब दूसरे के संतानों का विवाह करने में अतिचार लगता है तो अपने पुत्र-पुत्री आदि का विवाह करने में अतिचार क्यों नहीं लगता ? दोष तो दोनों हालत में समान है।' इसका समाधान ज्ञानीपुरुष यों करते हैं कि यह बात ठीक है कि दोनों के विवाह करने में एकसरीखा दोष है। लेकिन स्वदारसंतोषी यदि अपनी पुत्री का विवाह नहीं करता है तो उसके व्यभिचारिणी या स्वच्छन्दाचारिणी बन जाने की संभावना है, इससे जिनशासन की एवं अपनी ली हुई प्रतिज्ञा की अपभ्राजना होती है किन्तु उसकी शादी कर देने के बाद तो वह अपने पति के अधीन हो जाती है, इसलिए वैसा नहीं होता। यदि होता है तो भी अपने व्रत या धर्म की निन्दा नहीं होती। नीतिशास्त्र में भी कहा है— स्त्री की कौमार्य अवस्था में पिता, युवावस्था में पति और वृद्धावस्था में पुत्र रक्षा करता है। इसलिए स्त्री किसी भी हालत में स्वतंत्रता के योग्य नहीं है।' ऐसा सुना जाता है कि दशार्ह श्रीकृष्ण तथा चेटक राजा के अपने संतान का विवाह न करने का नियम था। उनके परिवार में अन्य लोग विवाहादि कार्य करने वाले थे; इसलिए उन्होंने ऐसा नियम लिया था। इस अतिचार के अर्थ के विषय में अन्य आचार्यों का मत है— "अपनी स्त्री में पूर्ण संतोष न मिलता हो, तब (उसकी अनुमति के बिना) अन्य स्त्री से विवाह करने से **'परविवाहकरण'** नामक अतिचार लगता है। उनके मतानुसार **'स्वदारसंतोषी'** को यह तीसरा अतिचार लगता है। (४) **काम-क्रीड़ा में तीव्र आसक्ति** नामक अतिचार तब होता है, जब पुरुष अन्य सभी कार्यों या प्रवृत्तियों को छोड़ कर रात-दिन केवल विषय-भोग की ही धुन में रहता है, कामभोग के विषय में ही सोचता है, अथवा स्त्री के मुख, कांख या योनि आदि में पुरुषचिह्न डाल कर काफी समय तक अतृप्तरूप में शव की तरह निश्चेष्ट पड़ा रहता है, या नर और मादा चिड़िया की तरह बार-बार सम्भोग करने में प्रवृत्त होता है, अगर कमजोर हो जाय तो सम्भोग करने की शक्ति प्राप्त करने के लिए बाजीकरण का प्रयोग करता है या रसायन (भस्म आदि) का सेवन करता है। क्योंकि बाजीकरण से या ऐसी औषधि आदि का सेवन करने से पुरुष हाथी को भी हरा देता है; घोड़े को भी पछाड़ देता है; इस प्रकार से बलवान बन कर पुरुष अतिसंभोग में प्रवृत्त होता है। वह सोचता है कि मेरे तो परस्त्रीसेवन का त्याग है, स्वस्त्री के साथ चाहे जितनी बार संगम करने में व्रतभग तो होता नहीं। इस अपेक्षा से उसे चौथा अतिचार लगता है। (५) **अनंगक्रीड़ा**—पुरुष को अपने कामांग से भिन्न पुरुष, स्त्री या नपुंसक के कामांग से सहवास करने की इच्छा होना, अथवा वेदोदय से हस्तकर्म आदि करने की इच्छा होना, तथा स्त्री को पुरुष, स्त्री या नपुंसक के साथ सहवास करने की इच्छा होना अथवा वेदोदय से हस्तकर्म आदि करने की इच्छा होना, एवं नपुंसक को स्त्री, पुरुष या नपुंसक के साथ सम्भोग की अथवा वेदोदय से हस्तकर्म आदि करने की इच्छा होना; अनंगक्रीड़ा है। अनंगक्रीड़ा का तात्पर्य है—कामोत्तेजनावश मैथुनसेवन के योग्य अंगों के अतिरिक्त दूसरे अंगों से कुचेष्टा करना, दूसरी इन्द्रियों से सम्भोगक्रीड़ा करना, अथवा असंतुष्ट हो कर काष्ठ, पत्थर या धातु की योनि या लिंग सरीखी आकृति बना कर, अथवा केले आदि फलों से लिंगाकृति कल्पित करके या परवल आदि से योनि-सी आकृति की कल्पना करके अथवा मिट्टी, रबड़, या चमड़े आदि के बने हुए पुरुषचिह्न या योनिचिह्न से कामक्रीड़ा करना; स्त्री के योनिप्रदेश को बार-बार मसलना, उसके केश खींचना, उसके स्तनों को बारबार पकड़ना, पैर से कोमल लात मारना, दांत या नख आदि से काटना, बार-बार चुम्बन करना आदि, मोहनीयकर्म के उदय से प्रबल कामवर्द्धक ऐसी चेष्टाएँ करना भी अनंगक्रीड़ा कहलाती है। अथवा मैथुन के अवयवों— पुरुषचिह्न और

स्त्रीयोनि के अतिरिक्त अंगों — जांघ, स्तन, मुख, गाल, कांख, नितम्ब आदि में क्रीड़ा करना भी अनंग-क्रीड़ा कहलाती है।

श्रावक अत्यन्त पापभीरु होने से मुख्यतया ब्रह्मचर्य का ही पालन करता है। परन्तु जब कभी वेदोदयवश या मोहनीयकर्मोदय के कारण काम-विचार सहने में अत्यन्त असमर्थ होता है, तब केवल विकार की शान्ति के लिए अपनी स्त्री का सेवन करता है। अन्य सभी स्त्रियों के सेवन का तो उसके परित्याग होता ही है। मैथुनक्रिया में भी वह सूई में धागा पिरोने के न्याय की तरह ही प्रवृत्त होता है, तीव्र आसक्ति या प्रबल कामोत्तेजना के वशीभूत नहीं होता है। इसलिए उसका जीवन इतना संयममय होना ही चाहिए कि कामभोग की तीव्र अभिलाषा तथा अनंगक्रीड़ा से दूर रहे एवं स्वस्त्री के अतिरिक्त संसार की तमाम स्त्रियों को अपनी माता, बहन या पुत्रीतुल्य समझे। जिस अतिकामचेष्टा से कोई लाभ नहीं, बल्कि समय और शक्ति का नाश होता है, धर्मबुद्धि क्षीण हो जाती है, स्मरणशक्ति लुप्त हो जाती है, कभी-कभी क्षय आदि भयंकर राजरोग भी हो जाते हैं, उससे धर्मिष्ठ श्रावक को तो दूर ही रहना चाहिए। इन दोनों निषिद्ध दोषों का जानबूझ कर सेवन करने से व्रतभंग हो जाता है। कितने ही आचार्यों का इन पांचों अतिचारों के विषय में उपर्युक्त कथन से अतिरिक्त मत है। वे कहते हैं—"वेश्या या परस्त्री के साथ सिर्फ मैथुन-सेवन का त्याग है, आलिंगन, चुम्बन आदि का तो त्याग नहीं है'; यों मान कर कोई स्वदारसंतोषी या परदारात्यागी आलिंगनादि में प्रवृत्त होता है तो कथंचित् व्रतसापेक्ष होने से उस स्थिति में उसे ये दोनों अतिचार लगते हैं। इस दृष्टि से स्वदारसंतोषी को उक्त पांचों अतिचार लगते हैं, परदारावर्जक को पिछले तीन ही अतिचार लगते हैं।" इसके विपरीत कितने ही आचार्य इन अतिचारों के विषय में अलग ही प्रतिपादन करते हैं। वे कहते हैं—"परदारात्यागी को उक्त पांचों ही अतिचार लगते हैं, जबकि स्वदारसंतोषी को तीन ही लगते हैं। और स्त्री को विकल्प से तीन या पांच अतिचार लगते है। वे यों मानते हैं कि अमुक समय के लिए वेश्या को रख कर उसके साथ सहवास करने से वेश्या चूंकि परस्त्री है, इसलिए व्रतभंग होता है; लेकिन लोकव्यवहार में वेश्या परस्त्री नहीं मानी जाती; इसलिए व्रतभंग नहीं भी होता; इस तरह परदारात्यागी को भंगाभंगरूप से उक्त अतिचार लगता है। किन्तु स्वदारसंतोषी को व्रतभंग इस अपेक्षा से नहीं होता कि वह कुछ अर्से के लिए विधवा, प्रोषितभर्तृका (जिसका पति चिरकाल से परदेश में हो), पतित्यक्ता या जो अपने पति को नहीं मानती हो; ऐसी स्त्रियों को अपनी मान कर उनके साथ सहवास करता है; परन्तु परदारात्यागी को ऐसी स्त्रियों से सहवास करने पर अतिचार लगता है। क्योंकि लोगों में यही समझा जाता है कि वह उसकी स्त्री है; परन्तु वास्तव में उसकी स्त्री है नहीं, इसलिए पूर्ववत् अतिचार लगता है; सर्वथा व्रतभंग नहीं होता। बाकी के परविवाहकरण, तीव्रकामाभिलाषा और अनंगक्रीड़ा—ये तीनों अतिचार तो दोनों को लगते हैं।

यह सब अतिचार पुरुष की अपेक्षा से कहे गए। स्त्री के सम्बन्ध में स्वपतिसंतोष, परपुरुष-त्यागी इस प्रकार के दो भेद नहीं हैं। उसके लिए स्वपुरुष के अतिरिक्त सभी परपुरुष ही हैं। अर्थात्— स्त्री के लिए स्वपुरुषसंतोषव्रत ही होता है। परविवाह आदि करने पर तीन अतिचार स्वपतिसंतोषी को लगते हैं, शेष दो अतिचार अपने पति के विषय में लगते भी हैं, नहीं भी लगते। वह इस प्रकार— जैसे, किसी स्त्री की सौत हो; और उसके पति का उसके पास जाने का अमुक दिन नियत हो, तो उस दिन उसका अपना पति भी उसके लिए परपुरुष है; इस दृष्टि से वह अपने पति को स्वपरिणीत पुरुष

मान कर, सौत की बारी के दिन पति के साथ सहवास करती है तो उस अपेक्षा से उसे यह अतिचार लगता है। कोई स्त्री परपुरुष के साथ सहवास की इच्छा करती है या उपाय करती है, तब तक उसे अतिक्रम, व्यतिक्रम या अतिचाररूप दोष लगते हैं, किन्तु परपुरुष के साथ सम्भोग मे प्रवृत्त हो जाय तो व्रतभग हो जाता है। किसी ब्रह्मचारी (जो किसी स्त्री का भी पति नहीं है) या अपने पति से साथ भी तीव्र कामक्रीड़ा की इच्छारूप अतिक्रम से उक्त पांचों अतिचार लगते है। शेष तीनों अतिचार तो पूर्वोक्त प्रकार से पुरुषों की तरह ही स्त्रियों के विषय में समझ लेने चाहिए।

अब पांचवें व्रत के अतिचारों के सम्बन्ध में कहते हैं—

धन-धान्यस्य कुप्यस्य, गवादेः क्षेत्र-वास्तुनः।
हिरण्य-हेम्नश्च संख्यातिक्रमोऽत्र परिग्रहे ॥९४॥

अर्थ—धन और धान्य की, गृहोपयोगी साधनों की, गाय-भैंस, दास-दासी आदि की, खेत, मकान, जमीन आदि की और सोना-चांदी आदि परिग्रह की जो मर्यादा (परिमाण) निश्चित की हो, उससे अधिक रखना, ये पांचवें व्रत के क्रमशः पांच अतिचार हैं।

व्याख्या—श्रावकधर्मोचित परिग्रह—परिमाणव्रत में सद्गृहस्थ ने जो संख्या या मात्रा नियत की हो, उस संख्या या मात्रा का उल्लंघन करने पर अतिचार लगता है। सर्वप्रथम यहाँ धन और धान्य का स्वरूप बताते हैं। धन चार प्रकार का कहा गया है—गणिम, धरिम, मेय और परीक्ष्य। जायफल, सुपारी आदि जो चीजें गिन कर दी जाती हैं, वे गणिम कहलाती है; कुंकुम, गुड़ आदि जो चीजे तौल कर दी जाती हैं, वे धरिम कहलाती हैं, और तेल, घी आदि जो चीजें नाप कर (नापने के बर्तन से) दी जाती हैं, वे मेय कहलाती हैं; कपड़ा आदि चीजें भी गज आदि से नापी जाती हैं, इसलिए वे भी मेय के अन्तर्गत हैं; और चौथा धन परीक्ष्य हैं—रत्न, गहने, मोती आदि, इन्हें परीक्षा करके दिया जाता है। इन चारों प्रकारों में सभी वस्तुएँ आ जाती है, जिनकी श्रावक उसी तरह से मर्यादा करता है। धान्य १७ प्रकार का है—(१) चावल, (२) जौ, (३) गेहूँ, (४) चना, (५) जुआर, (६) उड़द, (७) मसूर, (८) अरहर, (९) मूंग, (१०) मोठ, (११) चौला (राजमा) (१२) मटर, (कुलथ, (१४) तिल, (१५) कोदो (१६) रागून (रोंगी) और (१७) सन धान्य। अन्य ग्रन्थों मे २४ प्रकार के धान्य भी बताये हैं। धन और धान्य दोनों की जितनी मर्यादा निश्चित हो; उससे अधिक स्वयं रखना या दूसरे के यहाँ रखना, प्रथम धन्य-धान्यप्रमाणातिक्रम अतिचार है। बाह्य परिग्रह नौ प्रकार का है। यहां पर दो-दो प्रकार एकत्रित करके पांच अतिचार बताये हैं। दूसरा अतिचार कुप्यप्रमाणातिक्रम है। इसका अर्थ है—सोनेचांदी के सिवाय हल्की किस्म की धातुएँ—कांसा, तांबा, लोहा, शीशा, जस्ता, गिलट, आदि धातुओं के बर्तन, चारपाई, पलंग, कुर्सी, सोफासेट, अलमारी, रथ गाड़ी, मोटर, हल, ट्रैक्टर आदि खेती के साधन और अन्य गृहोपयोगी सामान (फर्नीचर) कुप्य के अन्तर्गत आते हैं। ये और इन जैसी अन्य गृहोपयोगी सामग्री की जितनी मर्यादा निश्चित हो, उसका उल्लंघन करना दूसरा कुप्यप्रमाणातिक्रम अतिचार है। तीसरा है—द्विपद-चतुष्पद-प्रमाणातिक्रम। दो पैर वाले द्विपद में मनुष्य, पुत्र-स्त्री, दास, दासी, नौकर आदि आते हैं, चतुष्पद में गाय, बैल, भैंस, भैंसे, बकरी, भेड़, गधा, ऊंट, हाथी, घोड़ा आदि जितने भी चौपाये पालतू जानवर हैं, वे आते हैं। इसी प्रकार तोता-मैना, हंस, मयूर, मुर्गा, चकोर आदि पक्षी भी इसी के अन्तर्गत आते हैं। इनके रखने की जितनी संख्या नियत की हो, उससे अधिक रखना, द्विपद-

चतुष्पदप्रमाणातिक्रम नामक तीसरा अतिचार है। चौथा है—**क्षेत्रवास्तुप्रमाणातिक्रम**। क्षेत्र (खेत) तीन प्रकार का होता है—सेतु, केतु और उभय क्षेत्र। सेतुक्षेत्र उसे कहते हैं, जो खेत (खेती की जमीन) कुंआ, बावड़ी आदि जलाशय, रेंहट, कोश या पंप आदि द्वारा पानी खींच कर सींचा जाय और धान्य उगाया जाय। केतुक्षेत्र वह है—जिस खेत (खेती की भूमि) में केवल बरसात के पानी से सिंचाई हो कर अनाज पैदा किया जाय। और उभय (सेतुकेतु) क्षेत्र उसे कहते हैं—जिस कृषिभूमि में पूर्वोक्त दोनों प्रकार से सिंचाई करके अन्न-उत्पादन किया जाय। वास्तु कहते हैं—मकान को। इसका तात्पर्य खासतौर से रहने के मकान—घर से है। वास्तु तीन प्रकार का होता है—खात, उच्छ्रित और खातोच्छ्रित। जमीन के अन्दर (भूगर्भ में) जो मकान हो, वह तलघर खात कहलाता है। तथा जो घर, दूकान, हवेली आदि जमीन के ऊपर हो, वह उच्छ्रित कहलाता है, तलघर के ऊपर मकान बना हो यानी भूमिगृह और ऊपर का गृह दोनों नीचे-ऊपर हों वह खातोच्छ्रित कहलाता है। इसी तरह बाग, बगीचा, नौहरा, अतिथिगृह, कार्यालय दूकान, राजा आदि के गाँव या नगर; ये सब वास्तु के अन्तर्गत हैं। यानी खुली और ढकी हुई जमीन तथा जायदाद सब क्षेत्र-वास्तु में शुमार हैं। इन दोनों की निश्चित की हुई संख्या का अतिक्रमण क्षेत्र-वास्तु प्रमाणातिक्रम अतिचार है। पांचवां **हिरण्य-सुवर्णप्रमाणातिक्रम** नामक अतिचार है। हिरण्य का अर्थ-रजत (चांदी) है। सुवर्ण का अर्थ है—सोना। चांदी और सोना या चांदी या सोने के बने हुए सिक्के, गहने आदि सब हिरण्य-सुवर्ण के अन्तर्गत है। इनकी जो मात्रा निश्चित की है, उसका अतिक्रम करना—हिरण्य-सुवर्णप्रमाणतिक्रमण है। इन पांचों में व्याकरण की दृष्टि से समाहार-द्वन्द्व-समास है। इसलिए इन पांचों (जोड़ों) के विषय में व्रत लेते समय चौमासेभर के लिए या जिंदगीभर के लिए जितनी मात्रा, वजन, नाप, किस्म (प्रकार) या संख्या (गिनती) निश्चित की हो, उस परिमाण का उल्लंघन करने से पांचवें व्रत का संख्यातिक्रम अतिचार लगता है।

यहाँ शंका होती है कि व्रत में स्वीकृत की हुई मर्यादा (संख्या या परिमाण) का उल्लंघन करने पर तो व्रत ही भंग हो जाता है, तब फिर इसे अतिचार कैसे कहा गया ? इसका समाधान आगे के श्लोक में करते हैं—

बन्धनाद् भावतो गर्भाद्योजनाद् दानतस्तथा।
प्रतिपन्नव्रतस्यैष पञ्चधाऽपि न युज्यते ॥९५॥

अर्थ - पहले कहे अनुसार जिसने पांचवां व्रत अंगीकार किया है, उसे बन्धन से, भाव से, गर्भ से, योजन से और दान की अपेक्षा से ये पांच अतिचार लगते हैं। जिन्हें सेवन करना व्रतधारी के लिए उचित नहीं है।

व्याख्या—धन-धान्यादि परिग्रह की मर्यादा (संख्या) का प्रत्यक्ष उल्लंघन न करते हुए व्रत-रक्षा की भावना रखता है, अपनी समझबूझ (सद्बुद्धि या सदाशय) से जो यही मानता है कि 'मैं व्रतभंग नहीं कर रहा हूँ', उस व्रतधारी को बन्धन आदि पांच कारणों से पूर्वोक्त पांच अतिचार लगते हैं। व्रतभंग तो तब होता, जब वह व्रतरक्षा की कोई भावना न रखता और न ही व्रतभंग नहीं कर रहा हूं, ऐसी समझबूझ से मर्यादातिक्रमण करता। यानी व्रतरक्षा की परवाह न करते हुए जानबूझ कर मर्यादा-अतिक्रमण करता तो व्रतभंग निश्चित हो जाता। यहाँ तो बंधन आदि ५ कारणों से व्रतातिक्रम होता है। जैसे किसी अनाज के व्यापारी ने धन-धान्यपरिमाण नियत कर लिया, उसके बाद कोई कर्जदार अपने ऋण

चुकाने की दृष्टि से अनाज या धन देने आया, अथवा कोई भेंट रूप में देने आया हो, और उक्त व्यापारी यह सोच कर उसे ले लेता है, कि मेरे नियम के अनुसार इसका परिमाण बढ़ जाता है, और मेरा नियम अमुक महीने तक का है ; उसके बाद इसे स्वीकार कर लूंगा ; अभी घर के एक कोने मे या किसी अन्य व्यक्ति के यहाँ सुरक्षित रखवा दूंगा अथवा मेरे यहां से यह चीज कुछ बिक जायगी, उसके बाद इसे ले लूंगा। इस मंशा से देने वाले से कहे कि 'अमुक महीने के बाद ले आना, ले लूंगा।' अथवा उस चीज को अच्छी तरह पैक करके रस्सी से बांध कर देने वाले के नाम से अमानत के तौर पर रख ले, फिर जब अपने नियम की मियाद (अवधि) पूरी हो जाय तब लेने का निश्चय करे। इस प्रकार का बन्धन (शर्त या निश्चय अथवा बांध) करके निश्चित परिमाण से अधिक धन या धान्य घर में रख ले और यह माने कि 'यह तो उसका है, मेरा नहीं है ; इत्यादि व्रतपालन की अपेक्षा से व्रत का सर्वथा भंग नहीं होता, लेकिन प्रथम अतिचार लगता है। इसी प्रकार कुप्य संख्या का अतिक्रम भाव से होता है ; जैसे किसी सद्गृहस्थ ने यह नियम लिया कि मैं इतने से अधिक अमुक गृहोपयोगी सामान (कुप्य) नहीं रखूंगा। मान लो, नियम लेने के बाद वही चीज किसी से नजराने में, इनाम में या उपहार में मिल गई, इस कारण संख्या में दुगुनी हो गई। अब वह अपने व्रतभंग हो जाने के डर से इस भाव से तोड़फोड़ कर निश्चित संख्या की पूर्ति के लिए दो-दो को मिला कर एक बड़ी चीज बना या बनवा लेता है, अथवा उसकी पर्याय (आकृति या डिजाइन) बदल कर उसकी संख्या कम कर लेता है ; परन्तु वास्तव में उसके मूल्य-प्रमाण में वृद्धि हो जाने से व्रत का आंशिक भंग होता है। अथवा भाव से व्रतपालन का इच्छुक होने के कारण उक्त प्रमाणातिरिक्त चीजें नियमभंग हो जाने के भय से उस समय तो ग्रहण नहीं करता, लेकिन देने वाले से कहता है— 'अमुक समय के बाद मैं इन्हें अवश्य ले लूंगा, तब तक तुम मेरे नाम से अमानत रख देना ; मेरे सिवाय दूसरे किसी को इन्हें मत देना ;'' इस प्रकार वह दूसरे को नहीं देने की इच्छा से अपने लिए संग्रह कराता है, इस दृष्टि से उसे अतिचार लगता है। इसी तरह गाय, भैंस, घोड़ी आदि रखने की अमुक अवधि तक संख्या निश्चित की ; लेकिन नियत समय के अंदर ही गाय, भैंस आदि के प्रसव हो जाने से उसकी संख्या बढ़ गई, तो उसे इस कारण द्विपदचतुष्पदातिक्रम नामक अतिचार लगता है। किसी ने एक या दो साल के लिए गाय, भैंस आदि अमुक पशु अमुक समय तक अमुक संख्या से अधिक न रखने का नियम किया हो, फिर यह सोचे कि जितने समय तक का मेरे नियम है, उतने समय में अगर गाय, भैंस आदि के गर्भ रह गया तो मेरी नियत संख्या की मर्यादा भंग हो जायगी ; अतः उन गाय, भैंस आदि को काफी अर्से के बाद गर्भधारण करावे ; ऐसा करने से गर्भ में बछड़ों के आने से संख्या तो बढ़ ही जाती है, इस दृष्टि से भी अंशतः व्रतभंग होता है ; किन्तु बाहर से प्रत्यक्ष में संख्यातिक्रमण नहीं दिखाई देने से वह मानता है —'मेरे नियमानुसार इन पशुओं की संख्या नहीं बढ़ी ; इसलिए मेरा नियम खंडित नहीं हुआ।' इस अपेक्षा से भंगाभंग होने से तृतीय अतिचार लगता है। इसी प्रकार क्षेत्र या वास्तु की जितने योजन तक की सीमा निश्चित की हो, उसके आगे की जमीन मिलती हो, तो उसे नियम की अवधि तक अमानत के तौर पर अपने नाम से सुरक्षित रखवा देना अतिक्रम है। अथवा योजन का अर्थ जोड़ना भी होता है। इस दृष्टि से कर्जदार से या भेंट रूप में मिलने अथवा पड़ौसी के मकान या खेत को खरीद लेने के कारण मकानों और खेतों की निश्चित की हुई संख्या बढ़ जाने से नियम न टूटे इस अपेक्षा से दो या कई मकानों या खेतों को आपस में मिला देना —बीच में सीमासूचक दीवार, बाड़ या खंभे तोड़ कर या तुड़वा कर दोनों को संयुक्त करके एक मकान या खेत बना देना; ऐसी समझ से

उसकी नियत की हुई संख्या नहीं बढ़ी और व्रत भी सर्वथा भंग नहीं हुआ ; फिर भी घर और खेत की कीमत तो बढ़ ही गई ; इस अपेक्षा से भंगाभंगरूप यह चौथा अतिचार है। इसी प्रकार किसी ने सोना या चांदी अमुक प्रमाण (वजन) से अधिक न रखने का चार महीने की अवधि का नियम लिया। इसी दौरान राजा ने खुश हो कर सोना या चांदी का इनाम दिया। अब जब उसने देखा कि यदि मैं इस सोने या चांदी को ले कर घर में रख लेता हूं तो अमुक महीने तक के इतनी मात्रा से अधिक चांदी-सोना न रखने का मेरा नियम भंग हो जायगा ; अतः इस अपेक्षा से उक्त सोने या चांदी को अपने किसी मित्र या परिचित के यहाँ यह सोच कर रख दे कि 'मेरे नियम की अवधि समाप्त होते ही मैं इसे ले लूंगा।' वास्तव में इस अपेक्षा से दूसरे के यहाँ रखने पर भी उस पर अपना स्वामित्व होने से व्रतभंग होता है, किन्तु व्रत को सहीसलामत रखने की नीयत होने से व्रतपालन हुआ, इस प्रकार भंगाभंग के रूप में पांचवां अतिचार लगता है, ऐसा समझना चाहिए।

इस तरह पांचों प्रकार के परिग्रह की मर्यादा करने वाले श्रावक को उसका उल्लंघन नहीं करना चाहिए; क्योंकि वैसा करने से व्रत में मलिनता आती है। उपलक्षण से उसके अलावा विचारों की बेसमझी से अथवा अतिक्रमण आदि से भी ये अतिचार लगते हैं।

इस प्रकार पांचों अणुव्रतों के प्रत्येक के पांच-पांच अतिचारों का वर्णन पूरा हुआ।

इसके बाद अब गुणव्रतों के अतिचारों का प्रसंग प्राप्त है। अतः दिक्परिमाण-(दिग्विरति) रूप प्रथम गुणव्रत के अतिचार बताये हैं—

स्मृत्यन्तर्धानमूर्ध्वाधस्तिर्यग्भाग–व्यतिक्रमः।
क्षेत्रवृद्धिश्च पंचेति स्मृता दिग्विरति-व्रते ॥९६॥

अर्थ (१) निश्चित की हुई सीमा भूल जाना, (२-३-४) ऊपर नीचे और तिरछे (तिर्यक्) दशों दिशाओं में आने-जाने के नियम की मर्यादा का उल्लघन करना, ये तीन अतिचार और (५) क्षेत्र की वृद्धि करना, इस तरह प्रथम गुणव्रत के ५ अतिचार हैं।

व्याख्या-- पूर्वाचार्यों ने दिग्विरतिव्रत के ५ अतिचार इस प्रकार बताये हैं—

(१) **स्मृतिभ्रंश** –प्रथम अतिचार है। वह इस प्रकार है—स्वयं ने गमनागमन की जितनी सीमा जिस दिशा में निश्चित की हो, वहां जाने पर या जाने के समय अतिव्याकुलता या प्रमाद के कारण स्मरण न रहना, स्मृति लुप्त हो जाना या भूल जाना। मान लो, किसी ने पूर्वदिशा में १०० योजन तक जाने की मर्यादा की हो, लेकिन जाने के समय स्पष्टरूप से वह याद न रहे, अथवा संशय में पड़ जाय कि मैंने ५० योजन तक गमनागमन का परिमाण किया है या १०० योजन तक जाने-आने का किया है? ऐसी शंका होते हुए भी उस दिशा में ५० योजन से आगे जाए तो वहां उसे यह अतिचार लगता है। सौ से अधिक जाने पर तो व्रतभंग हो जाता है। अतिचार और व्रतभंग क्रमशः सापेक्षता और निरपेक्षता की दृष्टि से होते हैं। इसलिए लिये हुए व्रत को याद रखना ही चाहिए ; क्योंकि तमाम धर्मानुष्ठान स्मरणपूर्वक होते हैं। यह प्रथम अतिचार हुआ। ऊपर उड़ना या पर्वत या वृक्ष के शिखर पर चढ़ना ऊर्ध्वगमन है; भूमिगृह (तलघर), कुंए आदि में नीचे उतरना अधोदिशा में गमन है। पूर्व आदि दिशाओं में गमन तिर्यग्गमन है। इन तीनों की जिस-जिस दिशा में जितनी मर्यादा की हो, उसका उल्लंघन करने से ये तीनों अतिचार लगते हैं। इसीलिए सूत्र में कहा है—'ऊर्ध्वदिशा का अतिक्रम, अधोदिशा का अतिक्रम, और

तिर्यग्दिशा का अतिक्रम करने से ये तीनों अतिचार जान लेने चाहिए।' अनाभोग (उपयोग न रहने) से या अतिक्रम आदि से ये अतिचार लगते हैं, किन्तु जानबूझ कर अगर मर्यादा का उल्लघन करने में प्रवृत्त होता है तो सर्वथा व्रतभग हो जाता है। श्रावक इस व्रत का नियम इस प्रकार लेता है—"मैं स्वयं उल्लंघन न करूंगा और न किसी दूसरे से करवाऊंगा।" इस नियम के अनुसार नियत की हुई जगह से आगे की भूमि में स्वयं तो नहीं जाता, किन्तु अगर किसी दूसरे से निर्धारित सीमा से आगे कोई वस्तु मंगवाता या भिजवाता है तो उसे अतिचार लगता है। जिसने केवल अपने लिए ही—अर्थात् मैं स्वयं निर्धारित सीमा का उल्लंघन नहीं करूंगा, इस प्रकार से नियम लिया है, उसे दूसरों से मर्यादित भूमि से आगे की वस्तु मंगाने, भिजवाने में दोष नहीं लगता। इस प्रकार दूसरा, तीसरा और चौथा अतिचार हुआ। क्षेत्रवृद्धि नामक पांचवां अतिचार तब लगता है, जब श्रावक एक दिशा में निर्धारित भूमि की सीमा ज्यादा हो, उसे कम करके दूसरी अल्पभूमिनिर्धारित दिशा में अधिक दूरी तक जाता है। जैसे पूर्वदिशा में भूमि की सीमा कम करके कोई पश्चिम दिशा में बढ़ा लेता है; तो उसे यह पांचवां अतिचार लगता है। इसी प्रकार मान लो, किसी ने प्रत्येक दिशा में १०० योजन तक गमनमर्यादा की हो, वह किसी एक दिशा मे सौ योजन से अधिक चला गया, इस कारण से अगर वह दूसरी दिशा में उतने योजन गमनमर्यादा में कमी करके दोनों तरफ १०० योजन का हिसाब कायम रखता है तो इस प्रकार क्षेत्रमर्यादा का उल्लंघन व्रत-सापेक्ष होने से उसे यह अतिचार लगता है। यदि बिना उपयोग से, अनजाने में क्षेत्र-मर्यादा का उल्लंघन हो जाय तो वह वापिस लौट आए, ज्ञात होते ही आगे न बढ़े, दूसरों को भी आगे न भेजे। अज्ञानता से कोई चला गया हो या खुद भी भूल से चला गया हो तो वहां जो प्राप्त किया हो, उसका त्याग कर देना चाहिए और उसके लिए **'मिच्छा मि दुक्कडं'** दे कर पश्चात्ताप करना चाहिए।

अब भोगोपभोगपरिमाण नामक द्वितीय गुणव्रत के अतिचारों को कहते हैं—

सचित्तस्तेन सम्बद्धः सम्मिश्रोऽभिषवस्तथा।
दुष्पक्वाहार इत्येते भोगोपभोगमानगाः ॥९७॥

अर्थ—(१) सचित्त अर्थात् सजीव, (२) सचित्त से सम्बद्ध—अचित्त आहार में रहे हुए बीज, गुठली आदि सचित्त पदार्थ, (३) थोड़ा सचित्त, और थोड़ा अचित्त-मिश्र आहार, (४) अनेक द्रव्यों से निर्मित मादक पदार्थ, एवं (५) दुष्पक्व—आधा पका, आधा कच्चा आहार अथवा अधिक पका हुआ आहार; इन पांचों का भोगोपभोग करना, दूसरे गुणव्रत के क्रमशः ५ अतिचार हैं।

व्याख्या—सचित्त का अर्थ है—चेतना सहित। यानी जो खाद्यपदार्थ सजीव हो, वह सचित्त कहलाता है। ऐसे आहार को, जो अपने आप में वनस्पतिकाय के एकेन्द्रियजीव से युक्त है, सचित्त आहार कहा जाता है। यहाँ प्रश्न होता है कि गृहस्थ को गेहूं आदि सचित्त पदार्थ ले कर ही उसके पकाना पड़ता है, तब वह सचित्त का त्याग कैसे कर सकेगा? इसके उत्तर में कहते हैं—यहाँ सचित्त आदि पांचों के साथ 'आहार' शब्द जुड़ा हुआ है; मूल श्लोक में नहीं जुड़ा है तो उसका प्रसंगवश अध्याहार कर लिया जाता है। इसलिए इस व्रत में श्रावक सचित्त का त्याग नहीं करता, और न वह कर सकता है, क्योंकि सचित्त तो मिट्टी, पानी, अग्नि, फल, फूल, साग, भाजी, पत्ते, सभी प्रकार के अनाज, मूंग, चना आदि दालें इत्यादि सब के सब हैं। इसीलिए वह **सचित्त आहार** का त्याग करता है। जब कभी वह आहार करता

है तो सचित्तरूप में नहीं करता, अपितु अचित्त बना कर खाता है। जिसने सचित्त-आहार का त्याग किया हो, वह यदि सचित्तरूप में किसी चीज का भक्षण करता है तो उसे आंशिक व्रतभंग होने से प्रथम अतिचार लगता है; बशर्ते कि उसने अनजाने में, बिना उपयोग के, जल्दबाजी में, सचित्त-भक्षण किया हो, अथवा खाने की इच्छा की हो या खाने का उपाय किया हो। **सचित्तप्रतिबद्ध** आहार का मतलब है— चीज तो अचित्त हो, लेकिन उसमें सचित्त वस्तु पड़ी हो ; जैसे आम आदि पक्के फल या खजूर, छुहारा आदि मेवे अचित्त होते हैं, लेकिन बीच में गुठली, बीज आदि पड़े होते हैं ; उनमें अकुरित होने की शक्ति होती है, इसलिए वे सचित्त होते हैं। अतः सचित्त का त्यागी जब भी पक्के फल आदि खाता है, तब जिनमें गुठली या बीज आदि होते हैं, उन्हें निकाल कर या अग्नि या मसालों से संस्कारित करके अचित्त बना कर खाता है। अगर सचित्तत्यागी भूल से या उपयोगशून्यता से, अनजाने में या शीघ्रता से अथवा 'इनमें से बीज आदि निकाल कर खाऊंगा' ऐसा विचार करके सहसा खजूर, आम आदि पक्के फलों को मुंह में डाल लेता है तो सचित्तप्रतिबद्ध नामक दूसरा अतिचार लगता है। **सम्मिश्र आहार** का मतलब है, अचित्त वस्तु के साथ कोई सचित्त वस्तु मिली हो, जैसे गेहूं के आटे की रोटी बनी है, उसमें गेहूं के अखंड दाने पड़े हैं ; जो सचित्त हैं। अथवा अचित्त जौ, या चावल आदि सचित्त तिल से मिश्रित हो, उसे सहसा खा ले तो **सम्मिश्राहार** नामक अतिचार लगता है। अथवा उबाले हुए पानी में कच्चा पानी मिश्रित हो, उसे सहसा पी ले तो यह अतिचार लगता है। अथवा कोई सचित्त खाद्य वस्तु पूरी तरह से अचित्त न हुई हो, उसे सेवन करे तो यह अतिचार लगता है। परन्तु अतिचार लगता तभी है, जब श्रावक अनजाने में, सहसा, उतावली में या बिना उपयोग के सचित्त को अचित्त मान कर उसका सेवन करता है। व्रतसापेक्ष होने के कारण ही यह अतिचार माना जाता है। चौथा अतिचार है—**अभिषव-आहार**। अभिषव का अर्थ है अनेक द्रव्यों को एकत्रित करके बनाया हुआ मादक पदार्थ। जैसे मदिरा, सौवीर, ताड़ी, शराब, दारू आदि सब चीजें अभिषव के अन्तर्गत हैं। इसी प्रकार वीर्यविकार की वृद्धि करने वाले पदार्थ, जैसे—भाग, तम्बाकू, जर्दा, चड़स, गांजा, सुलफा आदि नशीली चीजें भी अभिषव में शुमार है। मांस, रक्त, चर्बी आदि जीवघातनिष्पन्न चीजें भी अभिषव हैं। इस तरह का अभिषवरूप सावद्य आहार यदि इरादे-पूर्वक खाता है तो व्रतभग हो जाता है और यदि बिना उपयोग के सहसा उपर्युक्त पदार्थों को खा या पी लेता है तो वहाँ अभिषव-आहार नामक चौथा अतिचार लगता है। पांचवां अतिचार **दुष्पक्वाहार** है। इसका अर्थ है—जो खाद्य पदार्थ अभी तक पूरी तरह पका नहीं है। अथवा जो पदार्थ अधिक पक गया है, उसे खा लेना। कितनी ही चीजें ऐसी हैं जिन्हें अपक्व और दुष्पक्व हालत में खाई जांय तो वे शरीर को नुकसान पहुचाती हैं, कई बार उनके खाने से शरीर में कई रोग पैदा हो जाते हैं; जितने अंश में वह सचित्त हो, उतने अंश में खाने पर परलोक को भी बिगाड़ता है। जैसे जौ, चावल, गेहूं आदि अनाज बिना पके हुए या आधे पके हुए खाने से स्वास्थ्य बिगड़ता है। अर्धपक्व या अतिपक्व अचेतनबुद्धि से खाता है, तो पांचवां दुष्पक्वाहार नामक अतिचार लगता है। कई आचार्य अपक्वाहार को अतिचार मानते हैं ; परन्तु अपक्व का अर्थ अग्नि में न पका हुआ, होने से सचित्ताहार के अन्तर्गत उसका समावेश हो जाता है। कितने ही आचार्य तुच्छौषधिभक्षण नामक अतिचार मानते हैं। तुच्छ औषधियाँ (वनस्पतिया) वे हैं—जिनमें खाने का भाग बहुत ही कम होता है, फैंकने का भाग ज्यादा होता है। जैसे—सजना, सीताफल आदि वनस्पतियाँ। किन्तु यदि वे सचित्त हों तो उनका समावेश प्रथम अतिचार में हो जाता है, और यदि वे अग्नि आदि से पक कर अचित्त हो गये हों तो उनके सेवन में क्या दोष

है ? इसी प्रकार जिसने रात्रिभोजन या मदिरापान, माँसाहार आदि अभक्ष्य पदार्थों का त्याग किया हो, वह अजाने में, सहसा या भूल से खा लेता है तो अतिचार लगता है। इस तरह उपभोग-परिभोगपरिमाण व्रत के ये पांचों अतिचार समझने चाहिए।

सातवें व्रत के भोजनत. होने वाले अतिचारों के वर्णन के बाद अब उसके दूसरे विभाग के-कर्मत: होने वाले अतिचारों का वर्णन करते हैं—

अमी भोजनतस्त्याज्याः, कर्मतः खरकर्म तु ।
तस्मिन् पंच शमलान् कर्मादानानि संत्यजेत् ॥९८॥

अर्थ—उपर्युक्त पांच अतिचार भोजन की अपेक्षा से त्याज्य हैं। किन्तु कर्म की अपेक्षा से प्राणिघातक कठोरकर्म में परिगणित (परिसीमित) १५ कर्मादान हैं, जो व्रत में मलिनता पैदा करने वाले हैं, अतः उनका भलीभांति त्याग करना चाहिए।

व्याख्या—उपर्युक्त पांच अतिचार आहार से सम्बन्धित हैं, जो त्याज्य हैं। अब **भोगोपभोग-परिमाण** की दूसरी व्याख्या करते हैं कि भोगोपभोग के साधनों को जुटाने या पैदा करने के लिए जो व्यापार-व्यवसाय किया जाय, उसे भी '**भोगोपभोग**' शब्द से व्यवहृत किया जाता है। यहाँ कारण में कार्य का आरोप किया जाता है; इसलिए उक्त कर्म को ले कर की जाने वाली आजीविका के लिए कोतवाल, गुप्तचर, सिपाही, कारागाररक्षक आदि कठोर दंड देते हैं; जिससे व्यक्ति को पीड़ा होती है, ऐसी खर (कटोर) जीविकाएँ १५ हैं; जिन्हें पन्द्रह कर्मादान कहा जाता है। ये ही भोगोपभोगपरिमाणव्रत के द्वितीय विभाग के त्याज्य १५ अतिचार हैं। ये कर्म पापकर्म-प्रकृति के कारणभूत होते हैं, इसलिए इन्हें कर्मादान कहा गया है।

नीचे दो श्लोकों में उनके नामोल्लेख करते हैं—

अंगार-वन-शकट-भाटक-स्फोटजीविका ।
दन्त-लाक्षा-रस-केश-विषवाणिज्यकानि च ॥९९॥
यंत्रपीडा-निर्लाञ्छनमसतीपोषणं तथा ।
दवदानं सरःशोष इति पञ्चदश त्यजेत् ॥१००॥

अर्थ—(१) अंगारजीविका, (२) वनजीविका, (३) शकटजीविका, (४) भाटक-जीविका, (५) स्फोटजीविका, (श्लोक के पूर्वार्ध में उक्त 'जीविका' शब्द है; इसी तरह उत्तरार्द्ध में 'वाणिज्यक' शब्द है, जिसे प्रत्येक के साथ जोड़ना चाहिए) (६) दन्तवाणिज्य, (७) लाक्षावाणिज्य, (८) रसवाणिज्य, (९) केशवाणिज्य, (१०) विषवाणिज्य, (१२) यंत्रपीड़ा-कर्म, (१३) निर्लांछनकर्म, (१४) असतीपोषण, (१५) दवदान, (दावाग्नि लगाने का कर्म), (१६) सरःशोष—(तालाब आदि का सुखाना)। श्रावक को इन १५ कर्मादानरूप अतिचारों का त्याग करना चाहिये।

अब क्रमशः १५ अतिचारों की व्याख्या करते हैं। इनमें से सर्वप्रथम अंगारकर्मरूपी आजीविका का स्वरूप बताते है—

अंगार-भ्राष्ट्रकरणं कुम्भायःस्वर्णकारिता ।
ठठार-त्वेष्टकापाकाविति ह्यंगारजीविका ॥१०१॥

अर्थ– लकड़ी को जला कर कोयले बनाना और उसका व्यापार करना, भड़भूंजे, कुम्भकार, लुहार, सुनार, ठठेरे और ईंट पकाने वाले, इत्यादि के कर्म अंगारजीविका कहलाती है ।

व्याख्या—लकड़ियाँ जला कर अंगारे (कोयले) बनाना, उन्हें बेचना, अंगारकर्म है । कोयले बनाने से कई स्थावर एवं त्रसजीवों की विराधना की संभावना होती है । इसलिए मुख्यतया अग्नि-विराधनारूप जो-जो आरम्भ होता है, वह अंगारकर्म में समाविष्ट हो जाता है । यहाँ कर्मादान के एक भेद को विस्तार से समझाया है बाकी के भेद भी इसी प्रकार समझ लेने चाहिए । तात्पर्य यह है कि अनाज को सेक कर आजीविका करने वाले भड़भूजे, कुम्हार, लुहार, सुनार, ईंट या मिट्टी के बर्तन आदि बना कर आंवे में पका कर बेचने वाला, मिठाई आदि बनाने के लिए भट्टी सुलगा कर आजीविका चलाने वाला, अंगारजीवी है । ये लोग लोहा, सोना, चांदी आदि धातुओं को गलाते हैं, उसे घड़ कर गहने बनाते हैं, घड़े व बर्तन आदि बनाते हैं, तांबा, सीसा, कांसा, पीतल आदि धातुओं को गला कर इनके विविध बर्तन बनाते हैं, तथा उनके विभिन्न डिजाइन बनाते हैं । ये और इसी प्रकार की आजीविका चलाना – विशेषतः वर्तमानयुग में मुख्यरूप से अग्नि की विराधना करना आदि सभी अंगार-जीविका के अन्तर्गत माने जाते हैं ।

अब वनजीविका के विषय में कहते हैं—

छिन्नाछिन्नवन-पत्र-प्रसून-फलविक्रयः ।
कणानां दलनात् पेषाद् वृत्तिश्च वनजीविका ॥१०२॥

अर्थ—जंगल में कटे हुए या नहीं कटे हुए वृक्ष के पत्ते, फूल, फल, आदि को बेचना, चक्की में अनाज दल कर या पीस कर आजीविका चलाना इत्यादि जीविका वनजीविका है । वनजीविका में मुख्यतः वनस्पतिकाय का विघात होने की संभावना है ।

अब शकटजीविका के विषय में कहते हैं—

शकटानां तदंगानां घटनं खेटनं तथा ।
विक्रयश्चेति शकटाजीविका परिकीर्तिता ॥१०३॥

अर्थ—शकट यानी गाड़ी और उसके विविध अंग-पहिये, आरे आदि स्वयं बनाना, दूसरों से बनवाना, अथवा बेचना या बिकवाना इत्यादि व्यवसाय को शकटजीविका कहा है ।

शकटजीविका समस्त जीवों के उपमर्दन का हेतुभूत एवं बैल, घोड़ा, गाय आदि के वध एवं बन्धन का कारण होने से त्याज्य है ।

अब भाटकजीविका से बारे में कहते हैं —

शकटोक्षलायोष्ट्रखराश्वतरवाजिनाम् ।
भारस्य वहनाद् वृत्तिर्भवेद् भाटकजीविका ।।१०४।।

अर्थ—गाड़ी, बैल, ऊँट, भैंसा, गधा, खच्चर, घोड़ा आदि पर भार लाद कर किराया लेना अथवा इन्हें किराये पर दे कर आजीविका चलाना, भाटक (भाड़ा) जीविका कहलाता है ।

अब स्फोटजीविका के विषय में कहते हैं—

सरःकूपादिखनन–शिलाकुट्टनकर्मभिः ।
पृथिव्यारम्भसम्भूतैर्जीवनं स्फोटजीविका ।।१०५।।

अर्थ—तालाब, कुंए आदि खोदने, पत्थर फोड़ने इत्यादि पृथ्वीकाय के घातक कर्मों से जीविका चलाना, स्फोटक-जीविका है ।

व्याख्या – सरोवर, कुंए, बावड़ी आदि के लिए जमीन खोदना, हलादि से खेत वगैरह की भूमि उखाड़ना, खान खोद कर पत्थर निकालना, उन्हें घड़ना इत्यादि कर्मों से पृथ्वीकाय का आरम्भ-उपमर्दन होता है । ऐसे कार्यों से आजीविका चलाना, स्फोटजीविका है ।

अब दंतवाणिज्य के विषय में कहते हैं —

दन्तकेशनखास्थित्वग्रोम्णो ग्रहणमाकरे ।
त्रसाङ्गस्य वाणिज्यार्थं दन्तवाणिज्यमुच्यते ।।१०६।।

अर्थ—दांत, केश, नख, हड्डी, चमड़ा, रोम इत्यादि जीवों के अंगों को उनके उत्पत्ति-स्थानों पर जा कर व्यवसाय के लिए ग्रहण करना और बेचना दंत-वाणिज्य कहलाता है ।

व्याख्या— हाथी के दांत, उपलक्षण से त्रसजीवों के अंग भी उनके उत्पत्ति-स्थानों पर से खरीदना ; चमरी आदि गाय के केश, उल्लू आदि के नख, शंख आदि की हड्डी, बाघ आदि का चमड़ा, हंस आदि के रोम ; इनके उत्पादकों को पहले से मूल्य आदि दे कर स्वीकार करना या उनके उत्पत्ति-स्थानों पर जा कर उक्त त्रस-जीवों के अवयवों का व्यापार के लिए खरीदना, दांत आदि लेने के लिए भील आदि को पहले से मूल्य देना दंतवाणिज्य है । इसमें दांत आदि के निमित्त से हाथी आदि जीवों का वध किया जाता है । श्लोक में 'आकर' शब्द है । इसलिए अनाकर में या उनके उत्पत्तिस्थान के अलावा किसी स्थान पर इन्हें ग्रहण करने या बेचने में दोष नहीं कहा गया है । अतः उत्पत्तिस्थान में ग्रहण करने से दन्तवाणिज्य कहलाता है । उसमें अतिचार लगता है ।

अब लाक्षावाणिज्य के सम्बन्ध में कहते हैं—

लाक्षा–मनःशिला-नीली-धातकी-टङ्कणादिनः ।
विक्रयः पापसदनं लाक्षावाणिज्यमुच्यते ।।१०७।।

अर्थ - लाख, मेनसिल, नील, धातकीवृक्ष, टंकणखार आदि पापकारी वस्तुओं का व्यापार करना, लाक्षावाणिज्य कहलाता है।

व्याख्या - लाख का व्यापार करना, उपलक्षण से उसके समान दूसरे मेनसिल, नील, धातकी-वृक्ष (जिसकी छाल, फल और फूल शराब बनाने में काम आते हैं); इन सबका व्यापार करना लाक्षा-वाणिज्य है। ये सारे व्यापार पाप के कारणभूत होने से त्याज्य है। टंकणखार, मेनसिल आदि दूसरे जीवों का नाश करते हैं। नील जीवों के संहार के बिना बन नहीं सकती। धातकीवृक्ष मद्य बनाने का कारण होने से पाप का घर है। अतः इसका व्यापार भी पाप का घर होने से त्याज्य है। इस प्रकार के व्यापार को लाक्षावाणिज्य कहा जाता है।

अब एक ही श्लोक में रसवाणिज्य और केशवाणिज्य दोनों का स्वरूप बताते हैं—

नवनीत-वसा-क्षौद्र-मद्यप्रभृतिविक्रयः ।
द्विपाच्चतुष्पाद्विक्रयो वाणिज्यं रसकेशयोः ॥१०८॥

अर्थ—मक्खन, चर्बी, शहद, मदिरा आदि का व्यापार रसवाणिज्य और दो पैर वाले और चार पैर वाले जीवों का व्यापार केशवाणिज्य कहलाता है।

व्याख्या —नवनीत, चर्बी, शहद, शराब, आदि का व्यापार करना रसवाणिज्य है और दो पैर वाले मनुष्य—दास-दासी व चार पैर वाले गाय, भेड़, बकरी, आदि पशुओं का व्यापार करना केश-वाणिज्य है। इनका जीव-सहित व्यापार करना केशवाणिज्य है और जीव-रहित जीव के अंगों-हड्डी, दांत आदि का व्यापार करना दंतवाणिज्य है, यह अन्तर समझना चाहिए। रस और केश शब्द में अनुक्रम से सम्बन्ध होता है। मक्खन में संमूर्च्छिम जीव उत्पन्न होते हैं, चर्बी और मधु जीवों की हिंसा से निष्पन्न होते हैं। मदिरा से उन्माद पैदा होता है; उसमें पैदा हुए अनेक कृमि-जीवों का घात होता है। दो पैर वाले मनुष्य और चार पैर वाले पशुओं के व्यापार से उनको पराधीनता, वध, बन्धन, भूख, प्यास आदि की पीड़ा होती है। अतः रसवाणिज्य और केशवाणिज्य दोनों त्याज्य हैं।

अब विषवाणिज्य के बारे में कहते हैं—

विषास्त्रहलयन्त्रायोहरितालादिवस्तुनः ।
विक्रयो जीवितघ्नस्य विषवाणिज्यमुच्यते ॥१०९॥

अर्थ —शृंगिक, सोमल आदि विष, तलवार आदि शस्त्र, हल, रेंहट, अंकुश, कुल्हाड़ी आदि तथा हरताल आदि वस्तुओं के विक्रय से जीवों का घात होता है। इसे विष-वाणिज्य कहते हैं।

अब यन्त्रपीडनकर्म के सम्बन्ध में कहते हैं—

तिलेक्षु-सर्षपैरण्डजलयन्त्रादिपीड़नम् ।
दलतैलस्य च कृतिर्यन्त्रपीडा प्रकीर्तिता ॥११०॥

अर्थ— घाणी में पील कर तेल निकालना, कोल्हू में पील कर इक्षु-रस निकालना, सरसों, अरंड आदि का तेल यन्त्र से निकालना, जलयन्त्र-रेंहट चलाना, तिलों को दल कर तेल निकालना और बेचना, ये सब यंत्रपीड़नकर्म हैं। इन यन्त्रों द्वारा पीलने में तिल आदि

में रहे हुए अनेक त्रसजीवों का वध होता है। इसलिए इस यन्त्रपीड़नकर्म का श्रावक को त्याग करना चाहिए। लौकिक शास्त्रों में भी कहा है कि चक्रयन्त्र चलाने से दस कसाईघरों के जितना पाप लगता है।

अब निर्लाञ्छन कर्म के बारे में कहते हैं—

नासावेधोऽङ्कनं मुष्कच्छेदनं पृष्ठगालनम् ।
कर्ण-कम्बल-विच्छेदो निर्लाञ्छनमुदीरितम् ॥१११॥

अर्थ—जीव के अंगों या अवयवों का छेदन करने का धंधा करना, उस कर्म से अपनी आजीविका चलाना ; निर्लांछन कर्म कहलाता है। उसके भेद बताते हैं—बैल-भैंसे का नाक बींधना, गाय-घोड़े के निशान लगाना, उसके अण्डकोष काटना, ऊंट की पीठ गालना, गाय आदि के कान, गलकम्बल आदि काट डालना, इसके ऐसा करने से प्रकटरूप में जीवों को पीड़ा होती है, अतः विवेकीजन इसका त्याग करे।

अब असतीपोषण के सम्बन्ध में कहते हैं—

सारिकाशुकमार्जारश्व-कुर्कुट-कलापिनाम् ।
पोषो दास्याश्च वित्तार्थमसतीपोषणं विदुः ॥११२॥

अर्थ—असती अर्थात् दुष्टाचार वाले, तोता, मैना, बिल्ली, कुत्ता, मुर्गा, मोर आदि तिर्यंच पशु-पक्षियों का पोषण (पालन) करना, तथा धनप्राप्ति के लिए व्यभिचार के द्वारा दास-दासी से आजीविका चलाना असतीपोषण है। यह पाप का हेतु है। अतः इसका त्याग करना चाहिए।

अब दवदान और सरःशोषरूप कर्मादान एक श्लोक में कहते हैं—

व्यसनात् पुण्यबुद्ध्या वा दवदानं भवेद् द्विधा ।
सरःशोषः सरःसिन्धु-ह्रदादेरम्बुसंप्लवः ॥११३॥

अर्थ—दवदान दो प्रकार से होता है—आदत (अज्ञानता) से अथवा पुण्यबुद्धि से तथा सरोवर, नदी, ह्रद या समुद्र आदि में से पानी निकाल कर सूखाना सरःशोष है।

व्याख्या - घास आदि को जलाने के लिए आग लगाना दवदान कहलाता है। वह दोप्रकार से होता है। एक तो व्यसन (आदत) से होता है -- फल की अपेक्षा बिना, जैसे भील आदि लोग बिना ही प्रयोजन के (आदतन) आग लगा देते हैं, दूसरे कोई किसान पुण्यबुद्धि से करता है। अतः मरने के समय मेरे कल्याण के लिए तुमको इतना धर्म-दीपोत्सव करना है, इस दृष्टि से खेत में आग लगा देना, अथवा घास जलाने से नया घास होगा तो गाय चरेगी, या घास की सम्पत्ति में वृद्धि होगी; इस कारण आग लगाना दवदान है। ऐसे स्थान पर आग लगाने से करोड़ों जीव मर जाते हैं। तथा सरोवर, नदी, द्रह आदि जलाशयों में जो पानी होता है, उसे किसान अनाज पकाने के लिए क्यारी या नहर से खेत में ले जाता है। नहीं खोदा हुआ सरोवर और खोदा हुआ 'तालाब, कहलाता है। जलाशयों में से पानी सूखा देने से जल के अन्दर रहे हुए त्रसजीव और छह-जीवनिकाय का वध होता है। इस तरह सरोवर सुखाने से दोष लगता है।

इस तरह पंद्रह कर्मादानों के स्वरूप का दिग्दर्शन कराया है। इसी तरह और भी अनेक सावद्यकर्म हैं; जिसकी गिनती नहीं हो सकती। इस प्रकार सातवें व्रत के कुल बीस अतिचार कहे हैं- दूसरे भी पांच अतिचार कहे हैं। जो अतिचार जिस व्रत के परिणाम को कलुषित करने वाला है, उसे उसी व्रत का अतिचार समझना। दूसरे भी पापकर्म हैं, उन्हें भी अतिचाररूप मानना अर्थात् पांच से अधिक भी अतिचार हो सकते हैं। क्योंकि अज्ञानता से कई भूलें हो सकती हैं। इसलिए प्रत्येक व्रत में यथायोग्य अतिचार समझ लेना चाहिए। यहाँ शका होती हैं, कि अंगारकर्म आदि कर्मादान खरकर्म हैं, इन्हें अतिचार किस अपेक्षा से कहा ? क्योंकि ये सब कर्म खरकर्म और कर्मादानरूप हो हैं। उसका उत्तर देते हैं कि वस्तुतः ये सब खरकर्मरूप ही हैं, इसलिए इनके त्यागरूप व्रत अंगीकार करने वाले को वह अतिचार लगता है। जो इरादेपूर्वक वैसा कार्य करता है, उसका तो व्रत ही भग हो जाता है।

अब अनर्थदण्ड-विरतिव्रत के अतिचार कहते हैं—

संयुक्ताधिकरणत्वमुपभोगातिरिक्तता।
मौखर्यमथ कौत्कुच्यं कन्दर्पोऽनर्थदण्डगाः ॥११४॥

अर्थ—(१) **हिंसा के साधन या अधिकरण संयुक्त रखना, (२) आवश्यकता से अधिक उपभोग के साधन रखना, बिना विचारे बोलना, भांड की तरह चेष्टा करना, कामोत्तेजक शब्दों का प्रयोग करना, ये पांच अतिचार अनर्थदण्डविरति के हैं।**

व्याख्या— अनर्थदण्ड से विरति वाले के लिए ये पांच अतिचार कहे है; जो इस प्रकार हैं— जिससे आत्मा दुर्गति का अधिकारी बने, वह अधिकरण कहलाता है। उसमें ऊखल, मूसल, हल, गाड़ी के साथ जुआ, धनुष्य के साथ बाण, इस प्रकार से अनेक अधिकरण (औजार या उपकरण) संयुक्त रखना या नजदीक रखना प्रथम अतिचार है। श्रावक को ऐसे अधिकरण संयुक्त नहीं रखने चाहिए; अपितु अलग-अलग करके रखने चाहिए। अधिकरण संयुक्त पड़े हों और कोई मांग बैठे तो उसे इन्कार नहीं किया जा सकता, और तितर-बितर पड़े हों तो अनायास ही इन्कार किया जा सकता है। यह अनर्थदण्ड का हिंस्रप्रदान रूप प्रथम अतिचार है। तथा पांचों इन्द्रियों के विषयों या साधनों के अत्यधिक उपयोग से उपभोग की अत्यधिकता होती है। जो भोग की अत्यधिकता है, वही उपलक्षण से उपभोग की अतिरिक्तता होती है। यह अतिचार प्रमादपूर्वक आचरण से लगता है। स्नान, पान, भोजन, चंदन, केसर, कस्तूरी वस्त्र, आभूषण आदि वस्तुओं को अपने या कुटुम्ब की आवश्यकता से अधिक संग्रह करना अथवा अतिमात्रा में इनका इस्तेमाल करना, प्रमाद नामक दूसरा अतिचार बताया है। इस सम्बन्ध में आवश्यकचूर्णि आदि में वृद्धपरम्परा इस प्रकार है - 'जो अधिक मात्रा में तेल, आंवला, साबुन आदि ग्रहण करता है, तालाब आदि जलाशयों में कूद कर या धुस कर स्नान करता है; अधिक मात्रा में जल खर्च करता है; उससे जल में पोरे आदि जीव तथा अप्काय की अधिक विराधना होती है। श्रावक को ऐसा करना उचित व कल्पनीय नहीं है। तो फिर श्रावक के लिए क्या विधि है ? श्रावक को मुख्यतया अपने घर पर ही स्नान करना चाहिए। ऐसा साधन न हो तो घर पर ही तेल-मालिश करके मस्तक पर आंवले का चूर्ण लगा कर जलाशय पर जाए और तालाब आदि किसी जलाशय पर पहुंच कर उसके किनारे बैठ कर किसी बर्तन में पानी ले कर अंजलि भर-भर कर स्नान करे। परन्तु जलाशय में घुस कर स्नान न करे। जिन पुष्पों में कुंथुआ आदि त्रसजीवों की संभावना हो, उनका त्याग करे। इसी तरह दूसरे साधनों के बारे में भी

समझ लेना चाहिए। यह दूसरा अतिचार हुआ। तथा मूर्खता से बिना सोचे-विचारे बोलना, धृष्टता असभ्यता आदि से अंटसंट बोलना और बिना पूछे बकवास करना ; **पापोपदेश** नामक तीसरा अतिचार है। तथा **कौत्कुच्य**=कुत् का अर्थ है कुत्सित=बुरी तरह से, कुच यानी चेष्टा . विदूषक या भांड के समान नेत्र, होठ नाक, हाथ, पैर और मुख की चेष्टा करना ; अगों को सिकोड़ने की क्रिया करना ; कौत्कुच्य कहलाता है। तात्पर्य यह है कि जिससे दूसरे को हंसी आए, अपनी लघुता प्रगट हो, इस प्रकार के वचन बोलना या ऐसी चेष्टाएँ करना ऐसा मुंह बनाना कौत्कुच्य नामक चौथा अतिचार है। तथा **कंदर्प** अर्थात् विषयवासना पैदा हो इस प्रकार के विकारी वचन बोलना या कामोत्तेजना पैदा हो, ऐसी विषयवर्द्धक बातें करना, कंदर्प नाम का अतिचार है। इस विषय में श्रावक की ऐसी समाचारी है कि श्रावक को कोई भी ऐसी बात नहीं कहनी या करनी चाहिए, जिससे अपने और दूसरे में मोह या विषय-राग उत्पन्न हो ; अन्यथा उसे पांचवां कन्दर्प नामक अतिचार लगेगा। ये दोनों अतिचार प्रमादाचरण के योग से लगते हैं। इस प्रकार तीनों गुणव्रतों के अतिचार समाप्त हुए।

अब शिक्षाव्रतों के अतिचारों के निर्देश का अवसर आया है ; उनमें प्रथम सामायिक व्रत के अतिचार कहते हैं—

काय-वाङ्-मनसां दुष्टप्रणिधानमनादरः।
स्मृत्यनुपस्थापनं च स्मृताः सामायिके व्रते ॥११५॥

अर्थ—**काया, वचन और मन का दुष्टप्रणिधान, अनादर और स्मृतिभंग होना, ये सामायिकव्रत के पांच अतिचार हैं।**

व्याख्या - काया की पापमय व्यापार में प्रवृत्ति कायदुष्प्रणिधान है। शरीर के विभिन्न अवयवों हाथ, पैर आदि को संकोच कर नहीं रखने, बारम्बार इधर-उधर ऊँचा-नीचा करने से काय-दुष्प्रणिधान होता है। संस्काररहित निरर्थक या संदिग्ध या समझ में न आए ऐसे अनेकार्थक वचन बोलना या पाप में प्रेरित करने वाले वचन बोलना ; **वागदुष्प्रणिधान** है. तथा मन में क्रोध लोभ, द्रोह, ईर्ष्या, अभिमान आदि करना, सावद्य=पापव्यापार में चित्त को विचलित करना, तथा मन में कार्य की आसक्ति से संभ्रम पैदा करना ; मनो-दुष्प्रणिधान है। मन, वचन और काया इन तीनों के योग से ये तीनों प्रकार के अतिचार लगते हैं। कहा भी है 'देखे बिना या प्रमार्जन किये बिना, जमीन पर बैठना, खड़ा रहना इत्यादि प्रवृत्ति करने वाले को यद्यपि हिंसा नहीं लगती, परन्तु असावधानी से. प्रमाद-सेवन करने से उसका सामायिकव्रत शुद्ध नहीं माना जाता। सामायिक करने वाले को पहले अपनी विवेकबुद्धि से विचार करके फिर निरवद्यवचन बोलना चाहिए। अन्यथा सामायिकव्रत दूषित हो जायगा। जो श्रावक-श्राविका सामायिक ले कर घर की चिन्ता किया करते हैं ; उनका मन आर्तध्यान में डूबा होने से, उनका सामायिकव्रत निष्फल व निरर्थक है। **अनादर** का अर्थ है— जैसे-तैसे सामायिक ले लेना, किन्तु कोई उत्साह या आदर उसके प्रति नहीं रखना। जो सामायिक के लिए अनुकूलता होने पर भी नियमित समय पर सामायिक नहीं करता, बहुत कहने-सुनने पर जब कभी समय मिलता है, तब बेगार की तरह सामायिक का समय पूरा करता है, अथवा प्रबल प्रमादादि दोष से सामायिक करके उसी समय उसे पार लेता है ; तो उसे अनादर नामक अतिचार लगता है। कहा भी है—'सामायिक उच्चारण करके उसी समय पार ले (पूर्ण करे), अथवा नियमित समय पर न करे ; मनमाने ढंग से स्वेच्छा से जब इच्छा हो, तब सामायिक कर ले, इस प्रकार [illegible], अव्यवस्थितता एवं अनादर से सामायिक शुद्ध नहीं होता। यह चौथा

अतिचार है। तथा **स्मृत्यनुपस्थान**-सामायिक करने का समय भूल जाना, मैंने सामायिक किया है या नहीं ? अथवा करना है या अभी बाकी है ? यानी सामायिक जैसे उत्तम धर्मानुष्ठान को प्रबल प्रमादादि कारण से भूल जाय तो वहां स्मृत्यनुस्थापन नाम का अतिचार लगता है। क्योंकि धर्मानुष्ठान के स्मरण का उपयोग भूल जाने से मोक्ष-साधक को अतिचार लगता है। कहा है कि 'जो प्रमादी सामायिक कब करना चाहिए ? अथवा किया है या नहीं ? इत्यादि बात को भूल जाता है, उसने सामायिक की भी हो, तो भी उसकी सामायिक निष्फल समझना चाहिए। यह पांचवां अतिचार है।

यहां शंका होती है कि '**काय-दुष्प्रणिधान** आदि से सामायिक निरर्थक है', ऐसा पहले कहा गया है ; वस्तुतः इससे तो सामायिक का ही अभाव है और अतिचार तो व्रत-मलिनतारूप ही होता है। यदि सामायिक ही नहीं है तो उसका अतिचार कैसे कहा जायेगा ? इसलिए कहना चाहिए, यह सामायिक का अतिचार नहीं है, अपितु सामायिक का ही भंग है ! इसका समाधान करते हैं कि---भंग तो जान-बूझ कर होता है, परन्तु अज्ञानता या अनुपयोग से होने से अतिचार लगता है। फिर प्रश्न उठता है कि '**द्विविध त्रिविध**' से पाप-व्यापार-त्यागरूप सामायिक है, उसमें कायादुष्प्रणिधान आदि से तो उक्त नियम का भंग होता है। इससे सामायिक का अभाव होता है और उसके भंग से होने वाले पाप का प्रायश्चित करना चाहिए, और मनोदुष्पणिधान में चंचल मन को स्थिर करना अशक्य है, इसलिए सामायिक करने के वजाय नहीं करना अच्छा है। कहा है कि 'अविधि से करने की अपेक्षा नहीं करना श्रेष्ठ है।' इसके उत्तर में कहते हैं 'तुम्हारी बात यथार्थ नहीं है, क्योंकि सामायिक 'द्विविध त्रिविध' से लिया हुआ होता है; उसमें मन-वचन-काया से पाप व्यापार नहीं करना और नहीं कराना, इस तरह छह कोटि (प्रकार) से पच्चक्खाण होता है। उनमें से एक प्रत्याख्यान भंग होने पर भी शेष तो अखंडित रहता है, अर्थात् सामायिक का पूर्ण रूप से तो भंग नहीं होता है और उस अतिचार का भी 'मिच्छामि दुक्कड़ं' दे कर उसकी शुद्धि हो सकती है। और मन के परिणाम बिगड़ने पर साधक का इरादा वैसा नहीं होने से 'मिच्छामि दुक्कडं' देने से वह शुद्ध हो जाता है। इस तरह सामायिक का सर्वथा अभाव नहीं है। सर्व-विरति सामायिक में उसी प्रकार जान लेना चाहिए ; क्योंकि गुप्ति-भंग होने पर भी साधुओं को सिर्फ 'मिथ्या दुष्कृत' का उच्चारणरूप दूसरा प्रायश्चित्त कहा है। सामायिक का अतिचार-सहित अनुष्ठान (क्रिया) भी अभ्यास करते-करते चिरकाल में जा कर शुद्ध बन जाता है। दूसरे धर्माचार्यों ने कहा भी है—'अभ्यास से ही कार्य-कुशलता आती है, व्यक्ति आगे बढ़ता जाता है। केवल एक बार जल-बिन्दु गिरने से पत्थर में गड्ढा नही पड़ता, बार-बार यह क्रिया होने पर होता है। इसलिए अविधि से करने की अपेक्षा नहीं करना अच्छा है ; यह कहना युक्तिसंगत नहीं है। इस प्रकार का वचन उपेक्षासूचक उद्गार है, और धर्मक्रिया के प्रति अरुचि का परिचायक है। शास्त्रज्ञों का कहना है कि अविधि से करने की अपेक्षा नहीं करना बेहतर है ; यह कथन ईर्ष्यावश कहा गया है।" क्योंकि अनुष्ठान नहीं करने वाले को बड़ा प्रायश्चित्त आता है, जबकि अविधि से करने वाले को लघु-प्रायश्चित्त आता है। क्योंकि धर्मक्रिया न करना तो प्रभु की आज्ञा का भंगरूप महादोष है और क्रिया करने वाले को तो केवल अविधि का दोष लगता है।

कई लोग कहते हैं कि पौषधशाला में श्रावक को अकेले ही सामायिक करना चाहिए, बहुतों के साथ नहीं करना चाहिए। 'एगे अबीए इस शास्त्रवचन के प्रमाण से यह कथन एकान्तरूप से यथार्थ

नहीं समझना चाहिए। क्योंकि इसके विपरीत वचन भी व्यवहारभाष्य में मिलता है। वहाँ कहा है—"राजसुयाई पंचावि पोसहसालाए समिलिया" अर्थात् 'राजपुत्रादि पांचों पौषधशाला में एकत्रित हुए।' अधिक क्या कहें ? ये पांचों अतिचार सामायिकव्रत के कह दिये है।

अब देशावकाशिकव्रत के पांच अतिचार बताते हैं—

प्रेष्यप्रयोगानयने पुद्गलक्षेपणं तथा।
शब्दरूपानुपातौ च व्रते देशावकाशिके ॥११६॥

अर्थ—दूसरे शिक्षाव्रत देशावकाशिक में—(१) प्रेष्य-प्रयोग (२) आनयन (३) पुद्गलक्षेपण (४) शब्दानुपात और (५) रूपानुपात, ये पांच अतिचार लगते हैं।

व्याख्या—दिग्परिमाणव्रत का विशेष रूप ही देशावकाशिक व्रत है। इसमें इतनी विशेषता है कि दिग्व्रत यावज्जीव (आजीवन) या वर्ष अथवा चौमासे के लिए होता है; और देशावकाशिकव्रत तो दिन, प्रहर, मुहूर्त आदि प्रमाण वाला होता है। इसके पांच अतिचार हैं। वे इस प्रकार है— (१) स्वयं नियम किये हुए क्षेत्र के बाहर कार्य करने की आवश्यकता पड़ने पर स्वयं न जा कर दूसरे को भेजना ; स्वयं जाय तो व्रतभंग होता है, इसलिए यह प्रेष्य-प्रयोग अतिचार कहलाता है। देशावकाशिकव्रत इस अभिप्राय से ग्रहण किया जाता है कि जाने-आने के व्यापार से होने वाली जीवविराधना न हो। परन्तु देशावकाशिकव्रती स्वयं करता है, या दूसरे से करवाता है, उसमें कोई विशेष फर्क नहीं पड़ता। बल्कि स्वयं ईर्यासमिति पूर्वक जाए तो विराधना के दोष से भी बच सकता है। दूसरे को समिति का ख्याल नहीं होने से अजयणा आदि के दोष लग सकते है। यह पहला अतिचार है। गमनागमन के लिए निश्चित किये गए स्थान के नियम से बाहर के क्षेत्र से सचेतन द्रव्य दूसरे से मंगवाना, इस बुद्धि से स्वयं जाता है तो व्रतभंग होता है, और दूसरे से मंगवाये तो व्रत-भग नही होता, परन्तु अतिचार लगता है। इस प्रकार यह दूसरा अतिचार है। तथा **पुद्गल-संपात** जहाँ कंकड़, लकड़ी, सलाई आदि पुद्गलों को इस ढग से फेंके, जिससे उस स्थूल संकेत को दूसरा समझ जाय और पास में आने पर वह उसे कार्य कहे, परन्तु स्वयं वह कार्य नहीं करे ; यह तीसरा अतिचार है। **शब्दानुपात** का अर्थ है—स्वयं जिस मकान में हो, उसके बाहर नहीं जाने का नियम ले रखा हो ; फिर भी बाहर का कार्य आ जाए तब, 'यदि मैं स्वयं जाऊँगा तो मेरा नियम भंग होगा, यों समझ कर स्वयं बाहर नहीं जा सकता, दूसरे को बुला नहीं सकता। अतः स्वयं वहाँ खड़ा हो कर बाहर वाले को बुलाने या कोई चीज मंगाने के उद्देश्य से छींकना, या खांसना, इत्यादि अन्य कोई अव्यक्त शब्द करना, जिससे दूसरा नजदीक आए, यह शब्दानुपात नाम का चौथा अतिचार है। इसी कारण से बाहर वाले को अपना रूप बताए, जिससे वह नजदीक आए, यह **रूपानुपात** नाम का पाँचवा अतिचार है। इसका तात्पर्य यह है कि व्रत की मर्यादा के बाहर रहे, किसी मनुष्य को अपने व्रतभंग के भय से बुलाने में असमर्थ हो, तब साधक अपना शब्द, वह सुने इस दृष्टि से प्रगट करे ; अथवा रूप दिखा कर उसे बुलाए ; तो व्रत की सापेक्षता होने से शब्दानुपात और रूपानुपात नाम का चौथा और पाँचवा अतिचार जानना। इस व्रत में प्रथम दो अतिचार-प्रेषण और आनयन, वैसी शुद्ध बुद्धि नहीं होने से सहसा या पूर्वसंस्कार आदि से होते हैं और शेष तीन अतिचार मायावीपन से लगते हैं ; यह रहस्य समझ लेना चाहिए। यहां पूर्वाचार्य कहते हैं कि जिस तरह दिग्व्रत में पाँचों अणुव्रतों का संक्षेपीकरण होता है, उसी तरह देशावकाशिक व्रत में भी पाँचों अणुव्रतों तथा गुणव्रतों आदि का संक्षेपीकरण होता है ; इस पर एक प्रश्न उठता है कि दिग्व्रत में तथा इसमें

अतिचार केवल दिशासम्बन्धी ही सुना जाता है, दूसरे व्रतों के संक्षेपीकरण सम्बन्धी अतिचार नहीं सुना जाता ; तो फिर सर्वव्रतों का संक्षेपरूप देशावकाशिक व्रत है ; ऐसा वृद्धमुनियों ने किस तरह माना है ? इसका समाधान करते हैं कि यह व्रत प्राणातिपात आदि दूसरे व्रतों का संक्षेप-रूप व्रत है। इस व्रत में भी वध, बन्धन आदि अतिचार जानने चाहिए। तात्पर्य यह है कि दिग्व्रत को संक्षेप करने का अभिप्राय क्षेत्र की मर्यादा को संक्षिप्त करने से है ; प्रेषण आनयन आदि अलग अतिचार संभव होते हैं। इसलिए दिग्व्रत-संक्षेप को ही देशावकाशिक व्रत कहा है।

अब पौषधव्रत के अतिचार कहते हैं—

उत्सर्गादानसंस्तारानवेक्ष्याप्रमृज्य च ।
अनादरः स्मृत्यानुपस्थापनं चेति पोषधे ॥११७॥

अर्थ—पौषधव्रत में देखे या प्रमार्जन किये बिना परठना, उसी तरह अयतना से वस्तु ग्रहण करना या रखना, अयतना से आसन बिछाना, पौषध का अनादर करना या स्मरण नहीं रखना ; ये पौषधव्रत के पाँच अतिचार है।

व्याख्या - पौषध में लघुनीति, बड़ीनीति, थूक, कफ आदि जिस स्थान पर परठना हो, वह स्थान आंखों से अच्छी तरह देख-भाल कर वस्त्र के अंचल से पूंजनी से प्रमार्जन (पूंज) करके बाद में यतनापूर्वक परिष्ठापन करे। अर्थात् विवेक से शरीर के उक्त विकृत पुद्गलों को छोड़े। ऐसा नहीं करने से पोपधव्रत का प्रथम अतिचार लगता है। आदान का अर्थ है ग्रहण करना। लकड़ी, पट्टा, तख्त, आदि उपयोगी वस्तु को बिना देखे, प्रमार्जन किए बगैर लेने-रखने से दूसरा अतिचार लगता है। तथा दर्भ, कुश, कबल, वस्त्रादि संथारा (बिछौना) करे, तब देखे या पूंजे बिना बिछाये, तो अप्रत्युप्रेक्षण और अप्रमार्जन नाम का तीसरा अतिचार लगता है। यह अतिचार देखे बिना लापरवाही से, शीघ्रता से, उपयोगशून्यतापूर्वक देखने पूंजने से, जैसे-तैसे प्रमार्जन-प्रतिलेखन करने से लगता है। प्रमार्जन और अवेक्षण शब्द के पूर्व निषेधार्थ सूचक 'नञ्' समास का अकार पड़ा है। वह कुत्सा के अर्थ में होने से जैसे कुत्सित ब्राह्मण को अब्राह्मण कहा जाता है, वैसे ही यहाँ समझ लेना चाहिए। मूल आगम श्रीउपासकदशांगसूत्र में यही बात कही है कि अप्रतिलिखित-दुष्प्रतिलिखित-शय्या-संथारा, अप्रमार्जित - दुष्प्रमार्जित-शय्या-संथारा ; अप्रतिलिखित-दुष्प्रतिलिखित-स्थंडिल (मलमूत्र-परिष्ठापन)-भूमि, अप्रमार्जित-दुष्प्रमार्जितस्थडिल (मलमूत्र डालने की)-भूमि ; यह तीसरा अतिचार है। पौषधव्रत लेने में और उसकी क्रिया या अनुष्ठान के प्रति अनादरभाव रखना अर्थात् उत्साहरहित विधि से पौषध करना, किसी तरह से पौषधविधि पूर्ण करना ; यह 'अनादर' नाम का चौथा अतिचार है। तथा पौषध स्वीकार करके उसे भूल ही जाना, अमुक विधि की या नहीं की ? इसकी स्मृति न रहना—अस्मृति नाम का पाँचवा अतिचार है। ये अतिचार उसे लगते हैं, जिसने सर्वपौषध लिया हो। जिसने देश से (आंशिक) पौषध किया हो, उसे ये अतिचार नहीं लगते हैं।

अब अतिथि-सविभाग-व्रत के अतिचार कहते हैं—

सचिते क्षेपणं तेन, पिधानं काललंघनम् ।
मत्सरोऽन्यापदेशश्च, तुर्यशिक्षाव्रते स्मृताः ॥११८॥

अर्थ—साधु को देने योग्य वस्तु पर सचित्त वस्तु रख देना, सचित्त से ढक देना ;

दान देने के समय का उल्लंघन करना, (समय टाल देना) मत्सर रखना, अपनी वस्तु को पराई कहना ; चौथे शिक्षाव्रत के ये पाँच अतिचार हैं।

व्याख्या—साधु को देने योग्य वस्तु पर सचित्त-सजीव पृथ्वीकाय, पानी का बर्तन, जलते चूल्हे के अंगारे या अनाज आदि वस्तुएँ उन्हें न देने की बुद्धि से स्थापन करना। ओछी बुद्धि वाला ऐसा समझता है कि सचित्त के साथ रखी हुई कोई भी वस्तु साधु नहीं लेते; ऐसा जान कर तुच्छबुद्धि वाला श्रावक देने योग्य वस्तु को सचित्त पर रखे, या जमा दे। साधु नहीं ग्रहण कर सके ; ऐसा विचार करे, तब यह मुझे लाभ हुआ' यह प्रथम अतिचार है। तथा ऊपर कहे अनुसार साधुसाध्वियों को देने की इच्छा से देने योग्य वस्तु सूरण, कन्द, पत्ते, फूल, फल आदि सजीव पदार्थ ढक दे ; यह दूसरा अतिचार है। तथा साधु के भिक्षा के उचित समय बीत जाने के बाद या उसके पहले ही पौषध-व्रत वाला भोजन करे, वह तीसरा अतिचार है , तथा **मत्सर** यानी ईर्ष्या व क्रोध करे अथवा साधु द्वारा किसी कल्पनीय वस्तु की याचना करने पर क्रोध करे ; आहार होने पर भी याचना करने पर नहीं दे। किसी सामान्य स्थिति वाले ने साधु को कोई चीज भिक्षा दी ; उसे देख कर ईर्ष्यावश यह कहते हुए दे कि उसने यह चीज दी है तो मैं उससे कम नहीं हूं। लो, यह ले जाओ। इस तरह दूसरे के प्रति मत्सर (ईर्षा) करके दे। यहां दूसरे की उन्नति या वैभव की ईर्ष्या करके देने से सहज श्रद्धावश दान न होने के कारण अतिचार है। अनेकार्थ-संग्रह में मैंने कहा है—"दूसरे की सम्पत्ति या वैभव को देख कर उस पर क्रोध करना मत्सर है।" यह चौथा अतिचार हुआ। साधु को आहार देने की इच्छा न हो तो ऐसा बहाना बना कर टरका देना कि "गुरुवर ! यह गुड़ आदि खाद्य पदार्थ तो दूसरे का है।" यह **अन्यापदेश** अतिचार कहलाता है। व्यपदेश का अर्थ है – बहाना बनाना। अनेकार्थसंग्रह में अपदेश-शब्द के तीन अर्थ बताये हैं—कारण, बहाना और लक्ष्य। यहाँ बहाने अर्थ में अपदेश शब्द गृहीत है। यह पांचवाँ अतिचार हुआ। ये पांचों अतिचार अतिथिसंविभागव्रत के कहे हैं।

अतिचार की भावना इस तरह समझ लेना चाहिए भूल आदि से पूर्वोक्त दोषों का सेवन हुआ तो अतिचार जानना, अन्यथा व्रतभंग समझना। इस तरह सम्यक्त्वमूलक बारह व्रतों पर विवेचन किया और उसके बाद उनके अतिचारों का भी वर्णन कर दिया। अब उपर्युक्त व्रत की विशेषता बताते हुए श्रावक के महाश्रावकत्व का वर्णन प्रस्तुत करते हैं—

एवं व्रतस्थितो भक्त्या सप्तक्षेत्र्यां धनं वपन् ।
दयया चातिदीनेषु महाश्रावक उच्यते ।

अर्थ—इस तरह बारह व्रतों में स्थिर हो कर सात क्षेत्रों में भक्तिपूर्वक तथा अति-दीनजनों में दयापूर्वक अपने धनरूपी बीज बोने वाला महाश्रावक कहलाता है।

व्याख्या—इस प्रकार पहले कहे अनुसार सम्यक्त्वमूलक अतिचाररहित विशुद्ध बारह व्रतों में दत्तचित्त श्रावक, जिन-प्रतिमा जिनमदिर, जिन-आगम, साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविकारूप सात क्षेत्रों में न्याय से उपार्जन किया हुआ धन लगाए। श्लोक में कहा है कि श्रावक को इन सात क्षेत्रों धनरूपी बीज वोना चाहिए। इसमें '**वपन**' शब्द का प्रयोग करके यह सूचित किया है कि वपन उत्तमक्षेत्र में करना ही उचित है। अयोग्यक्षेत्र में वपन नहीं करना चाहिए। इसलिए '**सप्तक्षेत्र्यां**' (सात खेतों में) कहा है तात्पर्य यह है कि अपने द्रव्य को योग्यतम पात्ररूपी सात क्षेत्रों में भक्तिपूर्वक यथायोग्य खर्च करना चाहिए।

(१) **जिनप्रतिमा**—विशिष्ट लक्षणों से युक्त, देखते ही आल्हाद प्राप्त हो, ऐसी वज्ररत्न, इन्द्रनीलरत्न, अंजनरत्न, चन्द्रकान्तमणि, सूर्यकान्तमणि, रिष्टरत्न, कर्केतरत्न, प्रवालमणि, स्वर्ण, चांदी, चन्दन, उत्तम पाषाण, उत्तम मिट्टी आदि सार द्रव्यों से श्रीजिनप्रतिमा बनानी चाहिए। इसीलिए कहा है—'जो उत्तम मिट्टी, स्वच्छ पाषाण, चांदी, लकडी, सुवर्ण, रत्न, मणि, चन्दन इत्यादि से अपनी हैसियत के अनुसार श्रीजिनेश्वरदेव की सुन्दर प्रतिमा बनवाता है, वह मनुष्यत्व मे और देवत्व में महान सुख को प्राप्त करता है। तथा आल्हादकारी, सर्वलक्षणों से युक्त, समग्र अलंकारों से विभूषित श्रीजिनप्रतिमा के दर्शन करते ही मन में अतीव आनन्द प्राप्त होता है, इससे निर्जरा भी अधिक होती है। इस तरह शास्त्रोक्त विधि से बनाई हुई प्रतिमा की विधिपूर्वक प्रतिष्ठा करे, अष्टप्रकारी पूजा करे, संघयात्रा का महोत्सव करके विशिष्ट प्रकार के आभूषणों से विभूषित करे, विविध वस्त्र अर्पण करे; इस तरह जिनप्रतिमा में धनरूपी बीज बोये अर्थात् धन खर्च करे। अतः कहा है-- अतिसौरभ-पूर्ण सुगन्धितचूर्ण, पुष्प, अक्षत, धूप, ताजे घी के दीपक आदि विभिन्न प्रकार का नैवेद्य, स्वतः पके हुए फल और जलपूर्ण कलशादि पात्र श्रीजिनेश्वरदेव के आगे चढ़ा कर अष्टप्रकारी पूजा करने वाला गृहस्थ श्रावक भी कुछ ही समय में मोक्ष का-सा महासुख प्राप्त करता है।

यहां प्रश्न करते है कि जिन-प्रतिमा राग-द्वेष-रहित होती है, उसकी पूजा करने मे जिन भगवान् को कुछ भी लाभ नहीं है। कोई उनकी कितनी भी अच्छी तरह पूजा करे, फिर भी वे न तो खुश होते हैं, न ही तृप्त होते हैं। अतृप्त या अतुष्ट देवता से कुछ भी फल नहीं मिल सकता।' इसका युक्तपूर्वक उत्तर देते हैं कि यह बात यथार्थ नहीं है। अतृप्त या अतुष्ट चिंतामणि रत्न आदि से भी फल प्राप्त होता है। श्री वीतराग-स्तोत्र में कहा है—'जो प्रसन्न नहीं होता, उससे फल कैसे प्राप्त हो सकता है ?; यह कहना असंगत है। क्या जड़ चिन्तामणि रत्न आदि फल नहीं देता ? अर्थात् देता है। वैसे ही जिनमूर्ति भी फल देती है। तथा 'पूज्यों का कोई उपकार न होने पर भी पूजक के लिए वे उपकारी होते हैं। जैसे मन्त्र आदि का स्मरण करने से उसका तद्रूप फल तथा अग्नि आदि का सेवन करने से गर्मी आदि का फल प्राप्त होता है। इसी तरह जिन-प्रतिमा की सेवापूजा भी लाभ का कारण समझना चाहिए। यहाँ हमने स्वनिर्मित मूर्ति की विधि बताई है। उसी तरह दूसरे के द्वारा निर्मित बिम्बों की पूजा आदि करना चाहिए। तथा किसी ने नहीं बनवाई हो, ऐसी शाश्वत-प्रतिमा का भी पूजन-वन्दनादि यथा-विधि यथायोग्य करना चाहिए। जिनप्रतिमा तीन प्रकार की होती है—(१) स्वयं भक्ति से बनाई हुई जिनप्रतिमा, दूसरों की भक्ति के लिए स्वयं द्वारा मदिर में स्थापित की हुई। जैसे कि आजकल कई श्रद्धालुभक्त बनवाते हैं। (२) मंगलमय चैत्य या गृहद्वार पर मंगल के लिए बिम्ब या चित्र स्थापित किया जाता है। (३) शाश्वत चैत्य होते हैं कोई जिन्हें बनवाता नहीं है, परन्तु शाश्वतरूप में ऊर्ध्व-लोक, अधोलोक और तिर्यक्लोक में शाश्वत प्रतिमा कई जगह विद्यमान होती हैं। तीन लोक में ऐसा कोई स्थान नहीं है कि जो जिन-प्रतिमा से पवित्र न बना हो। श्रीजिनप्रतिमाओं में वीतरागभाव का आरोपण करके ही उनकी पूजाविधि करना उचित है।

(२) **जिनमंदिर**—दूसरा क्षेत्र जिन-भवन है, जहाँ अपना धन (बोना) लगाना चाहिए। हड्डी, कोयले आदि अमंगल शल्यों से रहित भूमि में स्वाभाविक रूप से प्राप्त पत्थर, लकड़ी, आदि पदार्थ ग्रहण करके शास्त्रविधि के अनुसार बढ़ई, सलावट, मिस्त्री, शिल्पकार आदि को अधिक वेतन दे कर षट्-जीवनिकाय के जीवों की यतनापूर्वक रक्षा करते हुए जिनमंदिर बनवाना चाहिए। किन्तु उपर्युक्त व्यक्तियों

से जबरन, मुफ्त में या धोखा दे कर हर्गिज यह काम नहीं करवाना चाहिए। अपने पास धन-सम्पत्ति अच्छी हो तो भरत राजा आदि की तरह रत्नशिलाजटित, सुवर्णतलमय, मणियों के स्तंभों और सोपानों से सुशोभित, रत्नमय सैकड़ों तोरणों से सुशोभित, विशाल मण्डप में पुत्तलिकायुक्त स्तम्भ इत्यादि उत्तम शिल्पकला से सुशोभित मन्दिर बनवाए, जिसमे कपूर, कस्तूरी, अगर आदि प्रज्वलित सुगन्धित धूप से उत्पन्न हुआ धूंआ आकाश को छूता हो, उसके कारण बादल की शका से आनन्दपूर्वक नृत्य करते हुए मोर आदि के मधुर शब्द सुने जाते हो, और जहां चारों तरफ मांगलिक वाद्यों के निनाद से गगनमण्डल गूंज उठता हो, देवदूष्य आदि विविध वस्त्रों का चदोवा बंधा हो और उसमे मोती लगे हों ; तथा मोतियों से लटकते गुच्छों से शोभामय हो रहा हो। जहाँ देवसमूह ऊपर से नीचे आ रहे हों, और दर्शन कर के वापिस जा रहे हों। वे गाते गाते नृत्य करते, उछलते, सिंहनाद करते हों, ऐसा प्रभाव देख कर देवों द्वारा की हुई अनुमोदना से हर्षित जनसमुदाय जहाँ उमड़ रहा हो ; विविध दृश्य, विचित्र चित्र जहां अनेक लोगों को चित्रलिखित से बना देते हों। चामर, छत्र, ध्वजा, आदि अलकारो से जो अलकृत हो और जिसके शिखर पर महाध्वजा फहरा रही हो। अनेक घुंघरूओं वाली छोटी-छोटी पताकाएं फहराने से उत्पन्न शब्दों से दिशाएँ शब्दायमान हो रही हों। ऐसे कौतुक से आकर्षित देवों, असुरो और अप्सराओं का झुंड प्रतिस्पर्धापूर्वक जहाँ सगीत गाता हो ; गायकों के मधुर गीतो की ध्वनि ने जहां देव-गाधर्वो के तुम्बरु की आवाज को भी मात कर दी हो, और वहां कुलांगनाएँ निरन्तर एकत्रित हो कर ताल और लयपूर्वक रासलीला आदि नृत्य करती हो, अभिनय व हावभाव करती हों, जिन्हें देख कर भव्य लोग चमत्कृत होते हों। अभिनययुक्त नाटकों को देखने की इच्छा से आकर्षित करोड़ों रसिकजन जहां एकत्रित होते हो। ऐसा जिनमदिर उच्च पर्वत के शिखर पर अथवा श्रीजिनेश्वरों का जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान, और निर्वाण हुआ हो, ऐसी कल्याणकभूमि मे बनवाना चाहिए अथवा महाराजा सम्प्रति के समान प्रत्येक गाव, नगर एव मोहल्ले मे उत्तम स्थान पर बनवाना चाहिए, यह महाश्रीमान् श्रावक का कर्तव्य है। परन्तु जिसके पास इतना वैभव नहीं हो, उसे आखिरकार तृण-कुटीर के समान भी जिन-मदिर बनवाना चाहिए। कहा भी है– जो जिनेश्वर भगवान् का केवल घास की कुटिया सरीखा भी जिनमन्दिर बनवाता है, तथा भक्तिपूर्वक केवल एक फूल चढ़ाता है, उसका भी इतना पुण्य प्राप्त होता है जिसका कोई नापतौल नहीं किया जा सकता, तब फिर जो व्यक्ति मजबूत पाषाणशिलाओं से रचित बड़ा मंदिर तैयार कराता है, वह शुभभावनाशील पुरुष वास्तव मे महाभाग्य-शाली है। राजा आदि कोई महासम्पन्न व्यक्ति जिनमन्दिर बनवाये तो उसके साथ उसके निर्वाह और भक्ति के लिए बहुत सा भडार, धन, गाँव, शहर या गोकुल आदि का दान देना चाहिए।

इस तरह जिनमंदिररूपी क्षेत्र में अपना धन लगाना चाहिए, तथा कोई मदिर जीर्ण-शीर्ण हो गया हो तो उस का जीर्णोद्धार भी कराना चाहिए। नष्ट या भ्रष्ट भी हो तो उसका उद्धार कराना चाहिए। यहाँ शका करते हैं कि "निरवद्य=पापरहित जिनधर्म के आराधक चतुर श्रावक के लिए जिन मदिर या जिनप्रतिमा, बनवाना या जिनपूजा आदि करना उचित नहीं है ; क्योंकि ऐसा करने में षड्जीवनिकाय के जीवों की विराधना होती है। जमीन खोदना, पत्थर फोड़ना, ईंटें बनाना, खड्डे भरना, ईंटे आदि इकट्ठी करना, जल से उन्हें गीली करना ; इन सब कार्यों में पृथ्वीकाय, अपकाय, वनस्पतिकाय, एवं त्रसकाय आदि जीवों की विराधना होगी। अतः जीवहिंसा किये बिना जिन-मदिर बन नहीं सकता !" इसका उत्तर देते हैं –"जो श्रावक अपने लिए या कुटुम्ब के लिए आरम्भ-परिग्रह

में आसक्त बन कर धनोपार्जन करता है, उसका धनोपार्जन करना निष्फल न हो, इसलिए जिन-मंदिर आदि बनवाने में धन का सदुपयोग करना कल्याण के लिए होता है। इसी के समर्थन में कहते हैं— धर्म के लिए धन का उपार्जन करना युक्त नहीं है। इसी दृष्टि से कहा है— 'धर्म के लिए धन कमाने की इच्छा करने से बेहतर यही है कि उसकी इच्छा नहीं करे। क्योंकि कीचड में पैर बिगाड़ कर फिर उसे धोने की अपेक्षा पहले से कीचड़ का स्पर्श नहीं करना ही उत्तम है।' दूसरी बात, जिनमंदिर आदि बनवाना बावडी कुएँ, तालाब, आदि खुदवाने के समान अशुभकर्म-बन्धन का कारण नहीं है, बल्कि वहाँ चतुर्विध श्रीसंघ का बारबार आगमन, धर्मोपदेश— श्रवण, व्रतपरिपालन आदि धर्मकार्य सम्पन्न होंगे, जो शुभ कर्म-पुण्यरूप या निर्जरारूप हैं। इस स्थान पर छह जीवनिकाय की विराधना होने पर भी यतना रखने वाले श्रावक के दया के परिणाम होने से सूक्ष्मजीवों का रक्षण होने से उसे विराधना-सम्बन्धी पाप-बन्धन नहीं होता। कहा है कि 'शुद्ध अध्यवसाय वाले और सूत्र में कही हुई विधि के अनुसार धर्ममार्ग का आचरण करने वाले यतनावान् श्रावक द्वारा जीवविराधना हो तो भी वह कार्य निर्जरा-रूप फल देने वाला होता है।' समस्त गणिपिटक अर्थात् द्वादशांगी का सार जिन्होंने प्राप्त कर लिया है, उन निश्चय-नयावलम्बी परमर्षियों का कथन है कि 'आत्मा के जैसे परिणाम होते हैं, तदनुसार ही फल मिलता है बाह्यक्रिया के अनुसार नहीं। इसका अर्थ यह हुआ कि जिनमंदिर-निर्माण आदि कार्यों के पीछे निश्चयनय की दृष्टि से हिंसा के परिणाम नहीं हैं, अपितु भक्ति के परिणाम हैं। श्रावक-प्रतिमा अंगीकार करने वाला महाश्रावक, जो अपने कुटुम्ब के लिए भी आरम्भ नहीं करता, वह भी यदि जिनमंदिर आदि बनाता है, तो उसको छह जीव-निकाय की विराधना से पापकर्म का बंध नहीं होता। और जो यह कहा जाता है कि जैसे शरीर आदि के कारणों से छह जीवनिकाय का वध होता है, वैसे ही उसे जिनमन्दिरनिर्माण या जिन-पूजा में भी छह जीव-निकाय का वध होता है; ऐसा कथन अज्ञता का सूचक है। अधिक विस्तार से क्या लाभ ?

(३) **जिन-आगम** तीसरा क्षेत्र जिन-आगम है। इस क्षेत्र में भी श्रावक को धन लगाना चाहिए। क्योंकि मिथ्याशास्त्र से उत्पन्न गलत संस्काररूपी विष का नाश करने के लिए मन्त्र के समान; धर्म-अधर्म, कृत्य-अकृत्य, भक्ष्य-अभक्ष्य, पेय-अपेय, गम्य-अगम्य, तत्त्व-अतत्त्व आदि बातों में हेयोपादेय का विवेक कराने वाला, गाढ अज्ञानान्धकार में दीपक के समान, संसारसमुद्र में डूबते हुए के लिए द्वीप समान, मरुभूमि में कल्पवृक्ष के समान जिनागम इस संसार में प्राप्त होना अतिदुर्लभ है। श्रीजिनेश्वर देव के स्वरूप, उनके सिद्धान्तों और उपदेशों का ज्ञान कराने वाला आगम ही है। स्तुति में भी ऐसा ही कहा है कि 'जिसको अपने सम्यक्त्व-सामर्थ्य से आप जैसे वीतरागपुरुषों का परम आप्तभाव प्राप्त है, हम समझते हैं, ऐसा जो कुवासनारूप दोषों का नाश करने वाला आपका शासन है; आपके उस शासन को मेरा नमस्कार हो।" जिनागम के प्रति प्रगाढ़ सम्मान रखने वाले व्यक्ति को देव, गुरु और धर्म आदि पर बहुमान होता है; इतना ही नहीं; बल्कि किसी समय केवलज्ञान से भी बढ़ कर जिनागम-प्रमाणरूप ज्ञान हो जाता है। उसके लिए शास्त्र में कहा है कि 'सामान्य श्रुतोपयोग के अनुसार श्रुतज्ञानी कदाचित् दोषयुक्त (अशुद्ध) आहार को भी निर्दोष (शुद्ध) मान कर ले आए, तो उसे केवलज्ञानी भी आहाररूप में ग्रहण कर लेते है, नहीं तो, श्रुतज्ञान अप्रमाण हो जाय। श्रीजिनागम का वचन भी भव्यजीवों का भव (संसार) नाश करने वाला है। इसलिए कहा है कि सुनते हैं, जिनागम का एक पद भी मोक्षपद देने में समर्थ है। केवल एक सामायिक पद-मात्र से अनन्त जीव सिद्ध हुए हैं। यद्यपि रोगी को पथ्य-आहार रुचिकर नहीं होता, वैसे ही मिथ्यादृष्टि को जिनवचन रुचिकर नहीं होता। फिर भी स्वर्ग या

अपवर्ग का मार्ग बताने में जिनवचन के सिवाय और कोई समर्थ नही है। इसलिए सम्यग्दृष्टि जीव को आगम पर आदरपूर्वक श्रद्धा करना उचित है। क्योंकि जिसका निकट भविष्य में कल्याण होने वाला हो, वही भव्यजीव जिनवचन को भावपूर्वक स्वीकार करता है। दूसरे को तो यह वचन कान में शूल भोंकने के समान दुःखदायी लगता है। इसलिए विपरीत और अश्रद्धामयी दृष्टि वाले के लिए वह अमृत भी विषरूप बन जाता है। यदि इस जगत् में जिनवचन नहीं होते तो धर्म-अधर्म की व्यवस्था के बिना लोग भवरूप अन्ध-कूप में गिर जाते. और गिरने के बाद उनका वहाँ से उद्धार कैसे होता ?

"जो मलाशय को साफ करना चाहता है, उसे हर्रे खाना चाहिए" वैद्य के इस वचन पर विश्वास रख कर जो हर्रे खा लेता है, उसे उसके प्रभाव से जुलाब लगता है। रोगी को वैद्य के वचन पर विश्वास बैठ जाता है, इतना ही नहीं, बल्कि आयुर्वेदशास्त्र को वह प्रमाण मानने लगता है। इसी तरह अष्टांगनिमित्तशास्त्र में कहे हुए चन्द्र सूर्य या ग्रह की चाल या धातुवाद, रस-रसायण आदि के प्रत्यक्ष प्रभाव पर विश्वास हो जाने से व्यक्ति उन-उन शास्त्रों में कथित परोक्षभावो से सम्बन्धित वचनों को भी जैसे प्रमाणिक मान लेता है; वैसे ही जिनवचन को समझने में जिसकी बुद्धि मंद है ; उसको भी उसमें कहे हुए प्रत्यक्षभावों की तरह परोक्षभावों को या जो दृष्टि या बुद्धि से भी समझ में नही आते, वैसे भावों को भी सत्यरूप में निश्चय मानना चाहिए। इस दुःषमकाल में दिन-प्रतिदिन जनता की बुद्धि मंद होती जा रही है ; जिससे जिनवचन का लगभग उच्छेद हो जाएगा, ऐसा समझ कर श्रीनागार्जन, श्रीस्कंदिल-आचार्य आदि पूर्व-महापुरुषों ने आगमों को लिपिबद्ध करके पुस्तकारूढ़ किये हैं। अतः जिनवचन के प्रति बहुमान रखने वाला श्रद्धालु श्रावक इन आगमादि शास्त्रों को पुस्तकरूप में लिखाए (प्रकाशिक करवाए), वस्त्रादि से लपेट कर आदरपूर्वक जिनागमों की पूजाभक्ति करे-करवाए। इसीलिए कहा है—जो भावुक व्यक्ति श्रीजिनेश्वरदेव के वचनस्वरूप आगमादि शास्त्रों को लिखवाता है, (प्रकाशिक करवाता है), वह पुरुष दुर्गति प्राप्त नहीं करता और भविष्य म गूंगा या जड़-मूढ़ अथवा बुद्धिहीन नहीं होता और अन्धा या मूर्ख आदि नहीं होता है। जो भाग्यशाली पुरुष जिनागम लिखवाता (प्रकाशित करवाता) है, निःसंदेह वह सर्वशास्त्रों का पारगामी हो कर मुक्ति प्राप्त कर सकता है। जिनागम का अध्ययन करने-कराने वाले का वस्त्रादि से पूजा-भक्तिपूर्वक सम्मान करना चाहिए। और भी कहा है 'जो स्वयं जिन-आगम पढ़ता है, दूसरों को पढ़ाता है और पढ़ने-पढ़ाने वालों को सदा वस्त्र, आहार, पुस्तक या पढ़ने की सामग्री देने का अनुग्रह करता है, वह मनुष्य यहीं पर समस्त पदार्थों या तत्वों का जानकार हो जाता है। लिखे हुए शास्त्रों एवं ग्रन्थों को संविग्न एवं गीतार्थ मुनिवर्यों को अतिसम्मानपूर्वक स्वाध्याय या व्याख्यान करने के लिए दान देना चाहिए। किसी भी आगम या ग्रन्थ पर व्याख्यान कराना हो तो प्रतिदिन उसकी पूजा-भक्तिपूर्वक श्रद्धाभाव से उसका श्रवण करना चाहिए। निष्कर्ष यह है कि जिन-आगम के लिए अपना धनदान करके उसका सदुपयोग करना चाहिए।

(४) **साधु-क्षेत्र**— चौथा सम्यक् क्षेत्र साधुगण हैं। श्रीजिनेश्वर भगवान की आज्ञानुसार सम्यक् चारित्र के पालक, दुर्लभ मनुष्यजन्म को सफल करने के लिए संसारसमुद्र से पार उतरने और दूसरे को भी पार उतारने के लिए प्रयत्नशील ; श्रीतीर्थंकर, गणधरों से ले कर आज तक के दीक्षित सामायिक-संयमी साधु-भगवन्तों की यथायोग्य सेवा-भक्ति में अपना धन लगाना चाहिए। वह इस प्रकार—उपकारी साधु-महाराज को कल्पनीय निर्दोष अचित्त आहारादि, रोगनाशक औषधादि ; सर्दी, गर्मी, वर्षा, रोग एवं लज्जा के निवारणार्थ वस्त्रादि और प्रतिलेखन एवं प्रमार्जन करने के लिए रजोहरण आदि देना; आहार

करने के लिए पात्रादि अन्य औपग्रहिक उपकरण-दंड आदि ; तथा रहने के लिए मकान आदि दान रूप में देना चाहिए। ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से साधु के जीवनयापन के लिए उपकारक न हो। इसलिए उनको सयमोपकारी सभी वस्तुओं का दान देना चाहिए। साधु-धर्म में दीक्षित होने के लिए उद्यत, संसारविरक्त अपने पुत्र-पुत्रियों को भी साधुसाध्वियों को समर्पित करना चाहिए। अधिक क्या कहें? जिस-जिस उपाय से मुनिगण निराबाध (पीडारहित) वृत्ति से अपनी स्वपरकल्याणकारी मोक्षसाधना कर सकें; तदनुरूप जो भी कल्पनीय साधनसामग्री दो, वह सब प्रयत्नपूर्वक उन्हें देनी चाहिए। परन्तु यदि कोई साधु जिनवचनविरोधी हो अथवा जो सामग्री साधुधर्म की निन्दा कराने वाली हो, उसे अपनी शक्ति-अनुसार रोकना चाहिए। इसलिए कहा है कि—'समर्थ श्रावक पूर्वोक्त कारणों से प्रभु-आज्ञा से भ्रष्ट साधु की उपेक्षा न करे। अपितु अनुकूल या प्रतिकूल उपायों से उसे हितशिक्षा दे कर मूलमार्ग पर आरूढ़ करने का प्रयत्न करे।

(५) **साध्वीक्षेत्र**—ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप रत्नत्रयसम्पन्न साध्वीक्षेत्र में भी साधु के समान यथोचित आहार आदि का दान दे कर अपने धन का सदुपयोग करना चाहिए। यहाँ शंका करते हैं कि "स्त्रियों में सत्त्वरहितता तथा दुःशीलता आदि दुर्गुण होते हैं इसी कारण स्त्रियों को मोक्ष पाने का अधिकार नहीं है ; तो फिर उनको दिया हुआ दान साधु को दिये गए दान के समान कैसे माना जाय?" इसका समाधान यों देते हैं 'स्त्रियों में सत्त्वहीनता की बात मिथ्या है ; क्योंकि ब्राह्मी आदि कई साध्वियाँ घर-बार छोड़ कर साधुधर्म की अनुपम आराधना करने वाली हुई है, ऐसी महासत्वशाली साध्वियों को सत्त्वहीन कहना उचित नहीं हैं। कहा है कि 'शील-सत्त्व गुणों से प्रसिद्ध आर्या ब्राह्मी, सुन्दरी, राजीमती, प्रवर्तिनी चन्दनबाला आदि महासाध्वियाँ देवों तथा मनुष्यों द्वारा पूजनीय हुई हैं, तथा गृहस्थ-अवस्था में भी इस जगत् में सुन्दर सत्त्व और निर्मलशील से प्रसिद्ध सती सीता आदि स्त्रियों को सत्त्वहीन या शीलरहित कैसे कहा जा सकता है? राज्य, लक्ष्मी, पति, पुत्र, भाई, कुटुम्ब आदि के स्नेह-सम्बन्धों का परित्याग कर दीक्षा का भार उठाने वाली सत्यभामा आदि स्त्रियों को असत्त्वशाली कैसे कहा जा सकता है? इस कारण से रत्नत्रय की आराधिका, प्राणान्त कष्ट में भी शील को सुरक्षित रखने वाली, और महाघोर तपस्या करने में सत्त्व वाली साध्वियाँ दुश्चरित्र कैसे हो सकती हैं? यहां फिर प्रश्न उठाया जाता है कि महापाप और मिथ्यात्व के कारण ही जीव स्त्रीत्व प्राप्त करता है ; अतः सम्यग्दृष्टि जीव कदापि स्त्रीत्व प्राप्त नहीं करता है, तो फिर स्त्रीत्व-शरीर में रहा हुआ आत्मा मोक्ष कैसे जा सकता है? इसके उत्तर में कहते हैं—'ऐसा कहना यथार्थ नही है। सम्यक्त्व की प्राप्ति के समय ही सभी कर्मों की स्थिति एक कोटाकोटी सागरोपम से कम हो जाती है और उस समय मिथ्यात्व मोहनीय आदि का भी क्षयोपशम होता है। मिथ्यात्व-सहित पापकर्म के होने का कोई कारण नहीं। स्त्री को सम्यक्त्व-प्राप्ति होते ही मिथ्यात्व आदि का उदय समाप्त हो जाता है। अतः स्त्री को भी सम्यक्त्व-प्राप्ति की असंभावना नही कह सकते और स्त्री मोक्षसाधना नहीं कर सकती, ऐसा भी नहीं कह सकते। कहा भी है—

'आर्या अर्थात् साध्वी जिनवचन जानती है, उस पर श्रद्धा करती है, समग्ररूप से चारित्र का पालन भी करती है! इस कारण उसके लिए मोक्षप्राप्ति असंभव नहीं है। अदृष्ट (न देखी हुई) चीज विरोध का कारण नहीं हो सकती, अर्थात् मोक्ष की असंभाव्यता का कारण देखे बिना स्त्रियों के लिए मोक्ष-

प्राप्ति असंभव मानना योग्य नहीं माना जा सकता। इससे सिद्ध हुआ कि 'मुक्ति-साधनामूर्ति साध्वियों में साधु के समान अपना धन लगाना योग्य है। साध्वियों की सेवाभक्ति में इतना विशेष समझना चाहिये—'दुराचारी नास्तिकों के जाल से साध्वियों की सुरक्षा करनी चाहिए, तथा उन्हें निवास के लिए अपने घर के नजदीक, चारों तरफ से सुरक्षित और गुप्त द्वार वाला ; मकान, उपाश्रय या रहने का स्थान देना चाहिए। अपने घर की स्त्रियों द्वारा उनकी सेवा करवानी चाहिए ; अपनी पुत्रियों को उनके सम्पर्क में रखना चाहिए, उनसे परिचित कराना चाहिए और अपनी किसी कन्या की दीक्षा लेने की भावना हो तो उसे निःसंकोच समर्पित करना चाहिए। वे कोई करने योग्य कार्य भूल जांय तो याद दिला देना चाहिए। साध्वीजी गलत प्रवृत्ति करती हों तो विनयपूर्वक रोकना चाहिए। अपनी लड़कियां या घर की स्त्रियां अगर उनकी सेवाभक्ति करना भूल जाँय तो उन्हें सावधान करना चाहिए। बार-बार चेतावनी देने पर भी न माने तो उन्हें शिक्षा देनी चाहिए। बार-बार भूल करें तो कठोर वचन से उपालम्भ आदि देना चाहिए। संयमोचित वस्तुएँ दे कर उनकी सेवा करनी चाहिए।

(६) **श्रावक-क्षेत्र**—छठा क्षेत्र श्रावक का है। इस क्षेत्र में अपना धन लगाना चाहिए। श्रावक श्रावक का साधर्मिक माना जाता है। समानधर्मा पुरुषों का समागम जब महापुण्य से होता है, तो फिर उनके अनुरूप सेवा करने की तो बात ही क्या? अपने पुत्र-पुत्री आदि के जन्मोत्सव, विवाह आदि अवसरों पर साधर्मिकों को निमंत्रण देना, विशिष्ट प्रकार का भोजन, ताम्बूल, वस्त्र-आभूषण आदि दे कर उनकी भक्ति करनी चाहिए। यदि उन पर कोई विपत्ति आ पड़ी हो तो अपना धन दे कर उनका उद्धार करना चाहिए। अंतरायकर्म के उदय से कदाचित् उनका वैभव चला गया हो तो सहायता दे कर या रोजगार-धंधे से लगा कर उनकी स्थिति सुधार देनी चाहिए। धर्म में गिरते हुए को पहले की तरह स्थिर कर देना चाहिए। धर्माचरण में प्रमाद करता हो तो उसे याद दिलाना, अनिष्टमार्ग में जाने से रोकना, प्रेरणा देना, बार-बार प्रेरणा करना, धार्मिक अभ्यास कराना व उसकी शंका का समाधान करना; पढ़े हुए को दोहराना, उसके साथ विचार-विमर्श करना, धर्मकथा आदि में यथायोग्य लगाना और कोई विशिष्ट धर्मानुष्ठान या सामूहिक धर्म-क्रिया या सामूहिक धर्माराधना होती हो तो प्रत्येक स्थान पर उसे साथ में लेजाना पौषधशाला आदि बनाना चाहिए।

(७) **श्राविका-क्षेत्र**—सातवां श्राविकारूपी धर्मक्षेत्र है। श्रावक के समान श्राविकावर्ग की उन्नति या उत्कर्ष के लिए भी अपना धन लगाना चाहिए। श्रावक से श्राविका को जरा भी कम या अधिक नहीं समझना चाहिए। ज्ञान-दर्शन-चरित्रसम्पन्न, शील और संतोष गुण के युक्त, महिला चाहे सधवा हो अथवा विधवा, जिन-शासन के प्रति अनुराग रखती हो, उसे साधर्मिक बहन, माता या पुत्री माननी चाहिए। यहाँ यह शंका की जाती है कि 'स्त्रियाँ शील-पालन कैसे कर सकती हैं? और किस तरह वे रत्नत्रययुक्त हो सकती हैं? क्योंकि लोक और लोकोत्तर व्यवहार में तथा अनुभव से स्त्रियाँ दोषभाजन के रूप में प्रसिद्ध हैं। वास्तविक में स्त्रियाँ भूमि के बिना उत्पन्न हुई विषकंदली है, बादल के बिना उत्पन्न हुई बिजली हैं, बिना नाम की व्याधि हैं, अकारण मृत्यु हैं, गुफा से रहित सिंहनी और प्रत्यक्ष राक्षसी हैं। वे असत्-वादिनी, साहसी, और बन्धु-स्नेह-विघातिनी एवं संताप की हेतु हैं। वे अविवेकता की महाकारणभूत होने से दूर से ही त्याज्य हैं। फिर उन्हें दान दे कर उनका सम्मान करना, उनके प्रति वात्सल्य करना किस तरह उचित है? इसके उत्तर में कहते हैं कि 'स्त्रियों में अधिकांशतः दोष होते हैं, यह बात एकान्ततः ठीक नहीं है। पुरुषों में भी यह बात हो सकती है। उनमें भी क्रूर आशय वाले,

नास्तिक, कृतघ्न, स्वामीद्रोही, देव-गुरु के भी वंचक इत्यादि पुरुष बहुत दोषयुक्त पाये जाते हैं ; उनको देख कर महापुरुषों की अवज्ञा करना योग्य नहीं है। इसी प्रकार वैसी स्त्रियों को देख कर सम्पूर्ण स्त्रीजाति को बदनाम करना उचित नहीं हैं। कितनी ही स्त्रियां बहुत ही दोप वाली होती हैं और कितनी ही स्त्रियाँ बहुत गुण वाली होती हैं। श्री तीर्थंकर परमात्मा की माता स्त्री ही होती है; फिर भी उनकी गुण-गरिमा के कारण इन्द्र भी उनकी स्तुति करते हैं, और मुनिवर्य भी उनकी प्रशंसा करते हैं। लोक में भी कहा है कि 'जो युवती किसी उत्तम गर्भ को धारण करती है, वह तीन जगत् में गुरुस्थान प्राप्त करती है।' इसी कारण विद्वान लोगों ने बगैर अतिशयोक्ति के मातृजाति की महिमा का गुणगान किया है। कितनी ही स्त्रियाँ, अपने शील के प्रभाव से आग को जल के समान शीतल, सर्प को रस्सी के समान, नदी को स्थल के समान और विष को अमृत के समान कर देती हैं। चातुर्वर्ण्य-चतुर्विध संघ में चौथा अंग गृहस्थ-श्राविकाओं का बताया है। स्वयं तीर्थंकर भगवान ने सुलसा आदि श्राविकाओं के गुणों की प्रशंसा की है। इन्द्रों ने भी देवलोक में बार-बार उनके चरित्रों को अतिसम्मानपूर्वक कहा है और प्रबल मिथ्यादृष्टि देवों ने भी सम्यक्त्व आदि से उन्हें विचलित करने का प्रयत्न किया है। फिर भी वे विचलित नही हुईं। उनमें से शास्त्रों में सुना है, कोई उसी भव में मोक्ष जाने वाली है, कोई दो या तीन भव करके मोक्ष में जाती है। इसलिए उसके प्रति माता के समान बहन के समान या अपनी पुत्री-समान वात्सल्य रखना चाहिए। यही व्यवहार युक्तियुक्त है।

पांचवें आरे के अन्त में एक साधु, एक साध्वी, एक श्रावक और एक श्राविका रहेंगी। वह क्रमशः दुष्प्रसहसूरि, यक्षिणी साध्वी, नागिल श्रावक और सत्यश्री श्राविका होगी। अतः उस श्राविका को पापमयी वनिता के तुल्य बता कर क्यों बदनाम किया जाय ?। इसी कारण श्राविका (गृहस्थसन्नारी) का दूर से त्याग करना योग्य नहीं है, परन्तु उसके प्रति वात्सल्यभाव रखना चाहिए। अधिक क्या कहें ? सिर्फ सात क्षेत्रों में ही धन लगाने से महाश्रावक नहीं कहलाता ; परन्तु निर्धन, अन्धा, बहरा, लंगड़ा, रोगी, दीन, दु:खी आदि के लिए जो भी अनुकपापूर्वक धन व्यय करता है ; भक्तिपूर्वक नहीं ; वही महाश्रावक है। सात क्षेत्रों में तो भक्तिपूर्वक यथोचित दान देने का कहा है। अतिदीन-दु:खीजनों के लिए तो पात्र-अपात्र का तथा कल्पनीय-अकल्पनीय का विचार किये बिना, केवल करुणा से ही अपना धन लगाना योग्य माना गया है। दीक्षा के समय में श्री तीर्थंकर भगवन्तों ने भी पात्र-अपात्र की अपेक्षा रखे बिना अभेदभाव से केवल करुणापरायण हो कर ही सांवत्सरिक दान दिया था। इस कारण जो सात क्षेत्रों में भक्ति से और दीन-दु:खियों के लिए अतिकरुणा से अपना धन लगाता है, उसे ही महाश्रावक कहना चाहिए। यहां शंका होती है कि ऐसे व्यक्ति को केवल श्रावक न कहकर 'महाश्रावक' क्यों कहा गया ? उसके पूर्व 'महा' विशेषण लगाने का क्या प्रयोजन है ? इसका समाधान करते हैं कि जो अविरति सम्यग्दृष्टि है, या एकाध अणुव्रत का धारक है अथवा जिनवचन का श्रोता है, उसे व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ से श्रावक कहा जाता है। इसीलिए कहा गया है कि "जिसे सम्यग्दर्शन प्राप्त हो गया है, जो हमेशा साधु के मुख से उत्तम श्रावकधर्म की समाचारी सुनता है, वह यथार्थरूप में श्रावक है।" तथा प्रभु-कथित पदार्थों पर चिन्तन करके जो स्वश्रद्धा को स्थिर करता है : प्रतिदिन सुपात्ररूपी क्षेत्र में धनरूपी बीज बोता लगाता) है ; उत्तम साधुओं की सेवा करके पापकर्म क्षय करता है ; उसे आज भी हम अवश्य श्रावक कह सकते हैं। इस निरुक्त-व्याख्या से सामान्य श्रावकत्व तो प्रसिद्ध है ही, किन्तु जो श्रावक समग्र व्रतों का निरतिचार पालन करता है ; पूर्वोक्त सात क्षेत्रों में अपना धन लगाता है, जैनधर्म की

प्रभावना करता है, दीन-दुःखी जीवों पर अत्यन्त करुणा करता है, उसे 'महाश्रावक' कहने में कोई दोष नहीं है। सात क्षेत्रों में धन लगाना चाहिए, इसका व्यतिरेक द्वारा समर्थन करते हैं—

यः सद् बाह्यमनित्यं च, क्षेत्रेषु न धनं वपेत्।
कथं वराकश्चारित्रं दुश्चरं स समाचरेत् ॥१२०॥

अर्थ—जो पुरुष अपने पास होते हुए भी बाह्य और अनित्य धन को योग्य क्षेत्रों में नहीं लगाता, (बोता); वह बेचारा दुष्कर चारित्र का आराधन कैसे कर सकता है ?

व्याख्या—यहाँ 'सत्' शब्द धन का विशेषण क्यों बनाया गया है? इसका उत्तर देते हैं कि सत् का अर्थ है विद्यमान। विद्यमान धन का दान देना संभव है; इसलिए सत् शब्द लगाया है। शरीर आभ्यन्तर वस्तु है; उसकी अपेक्षा से धन बाह्यवस्तु माना जाता है। आन्तरिक वस्तु का त्याग करना अशक्य है; इसलिए बाह्य विशेषण लगाया गया है। बाह्यवस्तु सदा स्थायी टिकने वाली नहीं है। इसलिए 'अनित्य' विशेषण लगाया गया है। धन को चोर, जल, अग्नि, कुटुम्बी, राजा आदि हरण कर लेते हैं। इसलिए 'अनित्य' विशेषण लगाया गया है। इसे प्रयत्नपूर्वक रखने पर भी पुण्य-क्षय होते ही इसका अवश्य नाश हो जाता है। हमारे गुरुदेव भी कहते हैं—'धन को चोर लूट ले जाते हैं, कुटुम्बी लोग लड़ कर हिस्सा ले जाते हैं, राजा जबरन अथवा कर लगा कर ले जाता है, अग्नि जला डालती है, जलप्रवाह बहा ले जाता है अथवा व्यसनासक्ति के कारण मनुष्य का धन पीछे के द्वार से चला जाता है। भूमि में गाड़ कर भलीभांति सुरक्षित रखा हो, फिर भी व्यन्तरदेव हरण कर लेते हैं अथवा मरते समय मानव सब कुछ छोड़ कर परलोक चला जाता है। इसलिए अनित्य धन का थोड़ा-सा भी अंश किसी न किसी उत्तम क्षेत्र में लगाना चाहिए। तेल बहुत हो, परन्तु उसे पर्वत पर नहीं लगाया जाता; वैसे ही धन बहुत हो तो ऐसे-वैसे को दे कर खत्म नहीं किया जाता। इसलिए सात क्षेत्रों में उसे बोना (लगाना) चाहिए। इसीलिए कहा है कि 'सात क्षेत्रों में अपना धनरूपी बीज बोने से सौ, हजार, लाख अथवा करोड़ गुना हो जाता है। पास में सामग्री होते हुए भी जो अपना धन या साधन क्षेत्र में नहीं लगाता; वह बेचारा सत्त्वहीन है। जिस महासत्त्व ने दुश्चारित्र का आचरण किया है, वह कैसे सप्तक्षेत्रों में धनदान कर सकेगा? एकमात्र धन में लुब्ध बना हुआ सत्त्वशून्य व्यक्ति सर्वसंग—त्यागरूप चारित्र का पालन कैसे कर सकेगा? और चारित्र की आराधना किए बिना सद्गति कैसे प्राप्त कर सकेगा? वास्तव में सर्वविरति की प्राप्तिरूप कलशारोपण फल वाला श्रावकधर्मरूप महल है।

अब महाश्रावक की दिनचर्या का वर्णन करते हैं—

ब्राह्मे मुहूर्ते उत्तिष्ठेत् परमेष्ठिस्तुतिं पठन्।
किंधर्मा किंकुलश्चास्मि किंव्रतोऽस्मीति च स्मरन् ॥१२१॥

अर्थ—ब्राह्ममुहूर्त में निद्रा का परित्याग करके महाश्रावक परमेष्ठि-पद की स्तुति करता हुआ उठे। उसके बाद यह स्मरण करे कि 'मेरा धर्म क्या है ? मैंने किस कुल में जन्म लिया है ? और मेरे कौन से व्रत हैं ?

व्याख्या—रात्रि के कुल पन्द्रह मुहूर्त्त होते हैं। उसमें चौदहवाँ मुहूर्त ब्राह्म कहलाता है, उसमें निद्रा का त्याग कर, परममंगल के लिए, दूसरे को सुनाई न दे, इस तरह अरिहंत सिद्ध आदि पंचपरमेष्ठी पद

का **'नमो अरिहंताणं'** इत्यादि नवकार-मन्त्र के पाठ से अत्यन्त आदरपूर्वक मन ही मन स्मरण करे। अतः कहा है कि **'शय्या'** में पड़े-पड़े भी या बैठे-बैठे भी पंचपरमेष्ठि-नमस्कार-मन्त्र का मन में चिन्तन करना चाहिए। क्योंकि इस प्रकार मन में स्मरण करने से मन्त्र का अविनय नहीं होता। यह मन्त्र अत्यन्त प्रभावशाली और सर्वोत्तम है। पलंग पर अथवा शय्या में बैठे बैठे इस मंत्र का उच्चारण करना अविनय है। अन्य किसी आचार्य का मत है कि स्पष्ट उच्चारण करने में भी कोई हर्ज नहीं है। ऐसी कोई अवस्था नहीं है, जिसमें पंच नमस्कार-रूप मन्त्र गिनने का अधिकार न हो। केवल नमस्कार-मंत्र बोलना, इतना ही नहीं, परन्तु मेरा कौन-सा धर्म है ? मैंने किस कुल में जन्म लिया है ? और मैंने कौन-कौन से व्रत अंगीकार किए हैं ? इन सभी भावों को स्मरण करते हुए जाग्रत होना चाहिए। उपलक्षण से — द्रव्य से मेरे गुरु कौन हैं ? क्षेत्र से, मैं किस गाँव या नगर का निवासी हूं ? काल से, यह प्रभातकाल है या सायंकाल है ? भाव से, जैनधर्म, इक्ष्वाकुकुल, अणुव्रतादि व्रतस्मरण करता हुआ धर्म के विषय में विचार करे और उसके विपरीत-चिन्तन का त्याग करे।

शुचिपुष्पामिष-स्तोत्रैर्देवमभ्यर्च्य वेश्मनि ।
प्रत्याख्यानं यथाशक्ति कृत्वा देवगृहं व्रजेत् ॥१२२॥

अर्थ—उसके बाद स्नानादि से पवित्र हो कर अपने गृहमंदिर में भगवान् की पुष्प, नैवेद्य एवं स्तोत्र आदि से पूजा करे, फिर अपनी शक्ति के अनुसार नौकारसी आदि का पच्चक्खान करके बड़े जिनमन्दिर में जाए।

व्याख्या—शौच जाना, दतौन करके मुख शुद्धि करना, जीभ पर से मैल उतारना, कुल्ला कर मुंह धोना, स्नान आदि से शरीर को पवित्र करना; यह पवित्र होने की बाह्यशुद्धि की बात शास्त्रकार नहीं कहते ; इसलिए यह लोकप्रसिद्ध मार्ग होने से इसका अनुवादमात्र किया है। लोकसिद्ध बातों के उपदेश देने की आवश्यकता नहीं रहती। अप्राप्त पदार्थ बताने में ही शास्त्र की सफलता है। मलिन शरीर वाले को स्नान करना, भूखे को भोजन करना, इत्यादि कार्य बताने में शास्त्र की जरूरत नहीं होती। विश्व में धर्ममार्ग बताने में ही शास्त्र की उपयोगिता है। अप्राप्त दुर्लभ वस्तुएँ प्राप्त करने में और स्वाभाविक मोहान्धकार में जो ज्ञान-प्रकाश से वंचित हैं, उन लोगों के लिए शास्त्र ही परमचक्षु है। इस प्रकार आगे भी अप्राप्त विषय में उपदेश सफल है, ऐसा समझ लेना चाहिए और सावद्यकार्य में शास्त्रवचन अनुमोदनरूप नहीं हो सकते। अतः कहा भी है कि 'सावद्य अर्थात् सपाप और पाप-रहित वचनों के अन्तर को जो नहीं जानता, उसे (शास्त्र के विषय में) बोलना भी योग्य नहीं है तो फिर उपदेश देने का अधिकार तो होता ही कहाँ से ? इसलिए शुचित्व की बात यहीं छोड़ कर अब गृह मंदिररूप मंगलचैत्य में अरिहन्त भगवान् की पूजा की बात पर आइए। यहाँ पूजा के भेद बताते हैं—पुष्प, नैवेद्य और स्तोत्र से पूजा करे। यहाँ 'पुष्प' कहने से समस्त सुगन्धित पदार्थ जानना। जैसे विलेपन, धूप, गंधवास और उपलक्षण से वस्त्र, आभूषण आदि भी समझ लेना चाहिए। आमिष अर्थात् नैवेद्य और पेय, जैसे पक्वान्न ; फल, अक्षत, दीपक, जल, घी से भरे हुए पात्र आदि रखे। स्तोत्र में शक्रस्तव (नमुत्थुणं) आदि सद्भूतगुणों के कीर्तनरूप काव्य बोले। उसके बाद प्रत्याख्यान का उच्चारण करे। जैसे नमस्कारसहित अथवा नौकारसी पोरसी आदि तथा अद्धारूप गंटिसहियं आदि संकेत-प्रत्याख्यान यथाशक्ति करे। बाद में भक्ति-चैत्यरूप संघ के जिनेश्वर-मन्दिर में जाए। वहाँ स्नान, विलेपन व तिलक करे। ऋद्धिमान के लिए शस्त्र धारण करना, रथादि सवारी में बैठना इत्यादि स्वतःसिद्ध होने से उपदेश देने की जरूरत

नहीं है। 'प्राप्त वस्तु के बताने में ही शास्त्र की सार्थकता है, यह पहले कहा जा चुका है। मन्दिर में प्रवेश की विधि इस प्रकार है—यदि राजा हो तो समस्त ऋद्धिपूर्वक सर्व-सामग्री, सर्व-धृति, सर्वसैन्य-परिवार, सर्व-पराक्रम इत्यादि प्रभावना से बड़े वैभवपूर्ण ठाठ-बाठ के साथ जाए। यदि सामान्य वैभवसम्पन्न हो तो मिथ्याडम्बर किए बिना लोगों में हास्यपात्र न हो, इस तरह से जाय। उसके बाद—

प्रविश्य विधिना तत्र त्रिः प्रदक्षिणयेज्जिनम् ।
पुष्पादिभिस्तमभ्यर्च्य, स्तवनैरुत्तमैः स्तुयात् ॥१२३॥

अर्थ—जिनमंदिर में विधिपूर्वक प्रवेश करके प्रभु को तीन बार प्रदक्षिणा दे कर पुष्प आदि से उनकी अर्चना करके उत्तम स्तवनों से स्तुति करे।

व्याख्या— प्रभुमन्दिर में विधिपूर्वक प्रविष्ट हो कर श्रीजिनेश्वर भ० को तीन प्रदक्षिणा करनी चाहिए। श्रीजिनमंदिर की प्रवेशविधि इस प्रकर है—पुष्प, ताम्बूल आदि सचित्त द्रव्य तथा छुरी, पादुका, शस्त्र आदि अचित्त पदार्थो का त्याग कर, उत्तरासंग (दुपट्टा) डाल कर मंदिर जाए। वहाँ प्रभु के दर्शन होते ही अंजलि करके उस पर मस्तक स्थापन कर मन को एकाग्र करके पांच अभिगम का त्याग कर 'निसिहि निसिहि' करते हुए मंदिर में प्रवेश करे। यही बात अन्यत्र भी कही है कि—सचित्त वस्तुओं के त्यागपूर्वक, अचित्त वस्तुओं को रख कर अखंड-वस्त्र का एक उत्तरासंग धारण करके आँखों से दर्शन होते ही मस्तक पर दोनों हाथ जोड़ कर और मन की एकाग्रतापूर्वक प्रवेश करे। यदि राजा हो तो भगवान् के मंदिर में प्रवेश करते समय वह उसी समय राजचिह्न का त्याग करता है। अतः कहा है कि 'तलवार, छत्र, पदत्राण (जूते) मुकुट और चामर इन पांचों राजचिह्नों का मंदिर में प्रवेश करते ही त्याग करे। 'पुष्प' आदि से यहां मध्य का ग्रहण किया गया है। इसलिए "**मध्य ग्रहण से आदि और अन्त का भी ग्रहण कर लिया जाता है ;**" इस न्याय से नित्य और पर्व दिनों में विशेष प्रकार से स्नात्रपूर्वक पूजा करनी चाहिए। स्नात्र के समय पहले सुगन्धित चन्दन से जिनप्रतिमा के तिलक करना, उसके बाद कस्तूरी, अगर कपूर और चन्दन-मिश्रित सारभूत सुगन्धियुक्त उत्तम धूप प्रभु के आगे जलाए। धूप खेने के बाद समस्त औषधि आदि द्रव्यों को जलपूर्ण कलश में डाल दे, बाद में कुसुमांजलि डाल कर सर्व औषधि कपूर, केसर, चन्दन, अगुरु आदि से युक्त जल से तथा घी, दूध आदि से प्रभु को स्नान करावे। उसके बाद चन्दन घिस कर प्रभु के विलेपन करे। तत्पश्चात् सुगन्धित चम्पक, शतपत्र कमल, मोगरा, गुलाब आदि की फूलमालाओं से भगवान् की पूजा करे। बाद में रत्न, सुवर्ण एवं मोतियों के आभूषण से अलंकृत वस्त्रादि से आंगी रचे। उसके बाद प्रभु के सम्मुख सरसों, शालि, चावल आदि से अष्टमंगल का आलेखन करे। तथा उनके आगे नैवेद्य, मंगलदीपक, दही, घी आदि रखे। भगवान् के भालस्थल पर गोरोचन से तिलक करे। उसके बाद आरती उतारे। अतः कहा भी है—'श्रेष्ठगन्धयुक्त धूप, सर्व-औषधिमिश्रित जल, सुगन्धित विलेपन, श्रेष्ठ पुष्पमाला, नैवेद्य, दीपक, सिद्धार्थक (सरसों), दही अक्षत, गोरोचन आदि से सोने, मोती व रत्न के हार आदि उत्तम द्रव्यों से प्रभु-पूजा करनी चाहिए।' क्योंकि श्रेष्ठसामग्री से की हुई पूजा से उत्तम भाव प्रकट होते हैं। इसके बिना लक्ष्मी का सदुपयोग नहीं हो सकता।' इस तरह श्री जिनेश्वर भगवान् की भक्तिपूर्वक पूजा करके ऐर्यापथिक प्रतिक्रमण सहित शक्रस्तव (नमुत्थुणं) आदि सूत्रों से चैत्यवंदन करके उत्तम कवियों द्वारा रचित स्तवनों से भगवान् के गुणों का कीर्तन करना चाहिए। उत्तम स्तोत्र का लक्षण यह है—वह भगवान् के शरीर, क्रियाओं व गुणों को बताने वाला, गंभीर, विविध वर्णों से गुम्फित, निर्मल आशय का उत्पादक, संवेगवर्द्धक, पवित्र

एवं अपने पापनिवेदनपरक, चित्त को एकाग्र कर देने वाला, आश्चर्यकारी अर्थयुक्त, अस्खलित, आदि गुणों से युक्त, महाबुद्धिशाली कवियों द्वारा रचित स्तोत्र हो। उससे प्रभु की स्तुति करनी चाहिये, परन्तु निम्न प्रकार के दोषयुक्त स्तोत्र आदि नहीं बोलने चाहिए। जैसे कि—

'ध्यानमग्न होने से एक आंख मूंदी हुई है और दूसरी आंख पार्वती के विशाल नितम्ब-फलक पर शृंगाररस के भार से स्थिर बनी हुई है। तीसरा नेत्र दूर से खींचे हुए धनुष की तरह कामदेव पर की हुई क्रोधाग्नि से जल रहा है। इस प्रकार समाधि के समय में भिन्न रसों का अनुभव करते हुए शंकर के तीनों नेत्र तुम्हारी रक्षा करे।' तथा "पार्वती ने शंकर से पूछा – आपके मस्तक पर कौन भाग्यशाली स्थित है?' तब शंकर ने मूलवस्तु को छिपा कर उत्तर दिया —'शशिकला।' फिर पार्वती ने पूछा—'उसका नाम क्या है?' शंकर ने कहा —'उसका नाम भी वही है'। पार्वती ने पुनः कहा —'इतना परिचय होने पर भी किस कारण से उसका नाम भूल गये? मैं तो स्त्री का नाम पूछती हूं। चन्द्र का नाम नहीं पूछती!' तब शंकर ने कहा —'यदि तुमको यह चन्द्र प्रमाण न हो तो अपनी सखी विजया से पूछ लो कि मेरे मस्तक पर कौन बैठा है?' इस तरह कपट से गंगा के नाम को छिपाने चाहते हुए शंकर का कपटभाव तुम्हारी रक्षा के लिए हो।" तथा "प्रणाम करते हुए कोपायमान बनी पार्वती के चरणाग्ररूप दशनखरूपी दर्पण में प्रतिबिम्बित होते हुए दस और स्वयं मिल कर ग्यारह देहों को धारण करने वाले रूद्र को नमन करो।" तथा कार्तिकेय ने पार्वती से पूछा —'मेरे पिता के मस्तक पर यह क्या स्थित है? उत्तर मिला— चन्द्र का टुकड़ा है।' और 'ललाट में क्या है?' 'तीसरा नेत्र है।' 'हाथ में क्या है?' 'सर्प है।' इस तरह क्रमशः पूछते-पूछते शिवजी के दिगम्बर होने के संबन्ध में पूछने पर कार्तिकेय को बांये हाथ से रोकती हुई पार्वतीदेवी का मधुर हास्य तुम्हारी रक्षा करे।" और भी देखिए—"सुरतक्रीड़ा के अन्त मे शेषनाग पर एक हाथ को जोर से दबा कर खड़ी हुई और दूसरे हाथ से वस्त्र को ठीक करके बिखरे हुए केश की लटों को कंधों पर धारण करती हुई उस समय मुखकान्ति से द्विगुणित शोभाधारी, स्नेहास्पद कृष्ण द्वारा आलिंगित एवं पुनः शय्या पर अवस्थित आलस्य से सुशोभित बाहु वाला लक्ष्मी का शरीर तुम्हें पवित्र करे।"

उपर्युक्त श्लोक में सम्पूर्ण वन्दनविधि समझाई गई है। जैसे—(१) तीन स्थान पर निसीहि, (२) तीन बार प्रदक्षिणा, (३) तीन बार नमस्कार, (४) तीन प्रकार की पूजा, (५) जिनेश्वर की तीन अवस्था की भावना करना, (६) जिनेश्वर को छोड़ कर शेष तीनों दिशाओं में नहीं देखना, (७) तीन बार पैर और जमीन का प्रमार्जन करना, (८) वर्णादि तीन का आलंबन करना, (९) तीन प्रकार की मुद्रा करना और (१०) तीन प्रकार से प्रणिधान करना। ये दस 'त्रिक' कहलाते हैं। इसमें पुष्प से अंगपूजा, नैवेद्य से अग्रपूजा और स्तुति से भावपूजा; इस तरह तीन प्रकार की जिनपूजा बताई है। तथा इस समय जिनेन्द्रदेव की छद्मस्थ, केवली और सिद्धत्व इन तीनों अवस्थाओं का चिन्तन करना होता है। चैत्यवंदन-सूत्रों का पाठ, उनका अर्थ और प्रतिमा के रूप का आलंबन लेना; यह वर्णादित्रिक का आलंबन कहलाता है। मन-वचन-काया की एकाग्रता करना यह तीन प्रकार का प्रणिधान कहलाता है। स्तवन बोलते समय योगमुद्रा, वंदन करते समय जिनमुद्रा, तथा प्रणिधान-(जय वीयराय) सूत्र बोलते समय मुक्ताशुक्ति मुद्रा, ये तीन मुद्राएं कही हैं। नमस्कार पांच अंगों से होता है—दोनों घुटने, दोनों हाथ और पांचवां मस्तक ये पांचों अंग जमीन तक नमाना, पंचांग प्रणाम कहलाता है। दोनों हाथों की दसों अंगुलियां एक दूसरे के बीच में रख कर कोश जैसी हथेली का आकार बना कर, दोनों हाथों की

कोहनी पेट के ऊपर स्थापन करने से योगमुद्रा होती है, जिनमुद्रा में दोनों चरणतलों के बीच में आगे के भाग में चार अंगुल और पीछे चार अंगुल का फासला रख कर दोनों पैर समान रख कर खड़े होना तथा दोनों हाथ नीचे लम्बे लटकते रखना और दोनों हाथों की अंगुलियां एक दूसरे के आमने सामने रखनी होती है और बीच में से हथेली खाली रख कर दोनों हाथ ललाट पर लगाना अथवा अन्य आचार्य के मतानुसार ललाट से थोड़े दूर रखने से मुक्ताशुक्तिमुद्रा होती है।

इरियावहिय सूत्र का अर्थ इसके बाद ऐर्यापथिक-प्रतिक्रमणपूर्वक चैत्यवन्दन करना चाहिए। यहाँ ऐर्यापथिक सूत्र की व्याख्या करते हैं- इस सूत्र में '**इच्छामि पडिक्कमिउं**' से ले कर '**तस्स मिच्छामि दुक्कडं**' तक सम्पूर्ण सूत्र है, इसमें '**इच्छामि पडिक्कमिउं इरियावहियाए विराहणाए** अर्थात् जाने-आने में जिन जीवों की विराधना (पापक्रिया) हुई हो उससे निवृत्त होने की अभिलाषा करता हूं। इसका भावार्थ यह है कि ईर्या-अर्थात् गमन करना, चलना, फिरना। उसके लिए जो मार्ग है, वह ईर्यापथ कहलाता है, उसमें जीवहिंसादि रूपविराधना. ईर्यापथ-विराधना है। उस पाप से पीछे हटना या बचना चाहता हूँ। इस व्याख्या के अनुसार गमनागमन की विराधना से हुए पाप की शुद्धि के लिए ईर्यापथिक प्रतिक्रमण किया जाता है। किन्तु निद्रा से जागने के बाद अथवा अन्य कारणों से भी इरियावहिय पाठ बोला जाता है, इसलिए उसकी व्याख्या दूसरे प्रकार से करते हैं—ईर्यापथ अर्थात् साधु का आचार। यहाँ पर कहा है कि '**ईर्यापथो मौन-ध्यानादिकं भिक्षु-व्रतम्**। अर्थात्-ईर्यापथ मौन, ध्यानव्रत आदि साधु का आचरण है। इस दृष्टि से ईर्यापथविराधना का अर्थ हुआ - साधु के आचरण के उल्लंघनरूप कोई विराधना हुई हो तो उस पाप से पीछे हटने अथवा उसकी शुद्धि करना चाहता हूं। साधु के आचार का उल्लंघन करने का अर्थ है—प्राणियों के प्राण का वियोग करना, असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य, परिग्रह इत्यादि अठारह पापस्थानों में से किसी भी पाप का लगना। इसमे प्राणातिपात का पाप सबसे बड़ा पाप है, शेष पापस्थानकों का उसी में समावेश हो जाता है। ईर्यापथिक विराधना सम्बन्धी पाठ में प्राणातिपात-सम्बन्धी विराधना विस्तार से कही है। विराधना किस कारण से होती है ? इसे कहते हैं—'**गमणागमणे**' अर्थात् जाने या वापस आने के प्रयोजनवश बाहर जाना और प्रयोजन पूर्ण होने पर अपने स्थान पर आना, गमनागमन कहलाता है। इस गमनागमन के करने में कैसे-कैसे विराधना होती है ? उसे कहते हैं—'**पाणक्कमणे, बीयक्कमणे हरियक्कमणे**' प्राण अर्थात् द्वीन्द्रिय से ले कर पंचेन्द्रिय तक सर्वजीवों को पैर से पीड़ा देना, प्राण का अतिक्रमण करना। तथा बीज अर्थात् सर्व-स्थावर एकेन्द्रिय जीवों की विराधना की हो, '**हरियकमणे**'=सर्वप्रकार की हरी वनस्पति जो सजीव होती है ; की विराधना की हो। तथा '**ओसा-उत्तिंग-पणग-दग-मट्टी-मक्कडा-सताणा-संकमणे**।' ओस का जल, (यहां ओस का जल इसलिए ग्रहण किया है कि वह बहुत सूक्ष्म बिन्दुरूप होता है। उस सूक्ष्म अप्काय की भी विराधना नहीं होनी चाहिए) '**उत्तिंग**' अर्थात् गर्दभाकार जीव, जो जमीन में छिद्र बना कर रहते हैं अथवा कीड़ियों का नगर, '**पणग**' अर्थात् पांच रंग की काई (लीलणफुलण-सेवाल)। '**दगमट्टी**' अर्थात् जहाँ लोगों का आना-जाना नहीं हुआ हो उस स्थान का कीचड़, अथवा '**दग**' शब्द से सचित्त अपकाय का ग्रहण करना और **मट्टी**' शब्द से पृथ्वीकाय ग्रहण करना। '**मक्कडा**' अर्थात् मकड़ी का समूह और **संताण**' अर्थात् उसका जाल **संकमणे**' अर्थात् उस पर आक्रमण=विराधना की हो। इस प्रकार नामानुसार जीवों को कहां तक गिनाएँ ? अतः कहते हैं—'**जे मे जीवा विराहिया**' **अर्थात्** जिन किन्हीं जीवों की विराधना करके मैंने उन्हें दुःख दिया हो ; वे कौन से जीव ? '**एगिंदिया**' **अर्थात्** जिसके स्पर्शेन्द्रिय का ही शरीर हो, वह एकेन्द्रिय जीव है, जैसे पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और

वनस्पतिकाय वाले। **'बेइंदिया'** अर्थात् स्पर्श और जीभ हो वह द्वीन्द्रिय जीव है। जैसे केंचुआ शंख आदि। **'तेइंदिया'** अर्थात् जिसके स्पर्श, जीभ और नासिका हो वह त्रीन्द्रिय जीव है ; जैसे चींटी, खटमल आदि **'चउरिंदिया'** अर्थात् जिसके स्पर्श, जीभ, नासिका और आँखें हो वह चतुरिन्द्रिय जीव है ; जैसे भौंरा, मक्खी आदि, **'पंचिंदिया'** अर्थात् जिनके स्पर्श, जीभ, नासिका, आंख और कान हो वे नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव पंचेन्द्रिय जीव है। जैसे पशु, पक्षी, चूहा आदि तिर्यंचजीवों की विराधना की हो। उस विराधना के दस भेद कहते हैं - **'अभिहया'** अर्थात् सम्मुख आते हुए पैर से ठुकराया हो या पैर से उठा कर फेंक दिया हो, **'वत्तिया'** अर्थात् एकत्रित करना अथवा ऊपर धूल डाल कर ढक देना, **'लेसिया'** अर्थात् उन्हें आपस में चिपकाना, जमीन के साथ घसीटना या जमीन में मिला देना, **'संघाइया'** अर्थात परस्पर एक दूसरे पर इकट्ठे करना, एक में दूसरे को फंसा देना ; संघट्टिया' अर्थात् स्पर्श करना अथवा आपस में टकराना। **'परियाविया'** अर्थात् चारों तरफ से पीड़ा दी हो; **'किलामिया'**—अर्थात् मृत्यु के समान अवस्था की हो **'उद्दविया'**—अर्थात् उद्विग्न. भयभ्रान्त कर दिया हो ; **'ठाणाओ ठाणं संकामिया'** अर्थात् अपना स्थान छुड़ा कर दूसरे स्थान पर रखे हों. **'जीवियाओ ववरोविया'** अर्थात् जान से खत्म कर दिया हो, **'तस्स'** अर्थात अभिहया से ले कर दस प्रकार से जीवों को दुःखी किया हो, उस विराधना के पाप से मेरा आत्मा लिप्त हुआ हो तो उस पाप की शुद्धि के लिए **'मिच्छामि दुक्कडं'** अर्थात् वह मेरा पाप मिथ्या = निष्फल हो अथवा नष्ट हो। **'मिच्छामि दुक्कडं'** पद की उसमें गर्भित अर्थों सहित व्याख्या आवश्यक-निर्युक्तिकर्त्ता पूर्वाचार्य प्रत्येक शब्द का पृथक्करण करते हुए इस प्रकार करते हैं –

मित्ति मिउमद्दवत्थे छत्तिय दोसाण छायणे होइ।
मित्ति अमेराए ठिओ दुत्ति दुगुंछामि अप्पाणं ॥१॥

कत्ति कडं मे पावं डत्ति य डेवेमि तं उवसमेणं।
एसो मिच्छा - दुक्कड - पयक्खरत्थो समासेणं ॥२॥

अर्थ—**'मि - च्छा - मि - दु - क्क - डं'** ये छह अक्षर हैं। उनमें प्रथम 'मि' में गर्भित अर्थ है – मार्दव अथवा नम्रता, शरीर और भाव से, दूसरा अक्षर 'च्छा' है, जिसका गर्भित अर्थ है जो दोष लगे हैं, उनका छादन करने के लिए, और पुनः उन दोषों को नहीं करने की इच्छा करना। तीसरा अक्षर 'मि' है, उसका गर्भित अर्थ है मर्यादा, चारित्र की आचार-मर्यादाओं में स्थिर बन कर, चौथा शब्द 'दु' है, जिसका गर्भित अर्थ है—दुगुंछा करना, अपनी पापमयी आत्मा की निंदा करना, पांचवां शब्द 'क्क' अर्थात, अपने कृत पापों की कबूलात के साथ और छठा शब्द 'ड' अर्थात डयन=उपशमन करता हूं। इस तरह 'मिच्छामि दुक्कडं' पद के अक्षरों में गर्भित अर्थ संक्षेप में होता है।

इस प्रकार आलोचना एवं प्रतिक्रमणरूप दो प्रकार के प्रायश्चित्त का प्रतिपादन करके, अब कायोत्सर्गरूप प्रायश्चित्त की इच्छा से निम्नोक्त सूत्रपाठ कहा जाता है। **'तस्स उत्तरीकरणेणं पायच्छित्त करणेणं विसोहीकरणेणं विसल्लीकरणेणं पावाणं कम्माणं** निग्घायणट्ठाए **ठामि काउस्सग्गं।**

'तस्स' अर्थात् जिस **इरियावहिय** सूत्र से आलोचनाप्रतिक्रमण किया है, उसकी फिर से शुद्धि करने के लिए काउस्सग्ग करता हूं। इस प्रकार अन्वय करना है। **'उत्तरीकरणेणं'** का अर्थ है— **इरियावहिय** से पापशुद्धि करने के बाद विशेषशुद्धि के लिए। तात्पर्य यह है कि विराधना से पूर्व आलोचना-प्रतिक्रमण किया है ; उसी के लिए फिर कायोत्सर्गरूप कार्य उत्तरीकरण कहलाता है, उस कायोत्सर्ग से पाप-कर्मों का विनाश होता है। उत्तरीकरण प्रायश्चित्तकरण द्वारा होता है। अतः आगे कहा है— **'पायच्छित्तकरणेणं'**। अर्थात् प्रायः = अधिकृत, चित्त को अथवा जीव को जो शुद्ध करता है या पाप का छेदन करता है, उसे प्रायश्चित्त कहते हैं। जिसके करने से आत्मा विशेष शुद्ध होती है। और वह काउस्सग्ग-प्रायश्चित्त भी विशुद्धि का कारण होने से कहते हैं—**'विसोहीकरणेणं'** अर्थात् अतिचारमलिनता (अपराध) को दूर करके आत्मा की विशुद्धि—निर्मलता करके। वह निर्मलता भी शल्य के अभाव में होती है। इसलिए कहा है—**'विसल्लीकरणेणं'** अर्थात् मायाशल्य, निदान-(नियाण)शल्य और मिथ्यादर्शनशल्य, इन तीनों शल्यों से रहित हो कर। वह किसलिए ? **पावाणं कम्माणं निग्घायणट्ठाए** अर्थात् संसार के कारणभूत ज्ञानावरणीय आदि पापकर्मों का नाश करने के लिए, **ठामि काउस्सग्गं, ठामि** का अर्थ होता है—करता हूं। और **काउस्सग्ग** का अर्थ होता है—काया के व्यापार—शारीरिक प्रवृत्तियों का त्याग। क्या सर्वथा त्याग करते हो ? सर्वथा नहीं, किन्तु कुछ प्रवृत्तियाँ अपवादस्वरूप =आगार(छूट)रूप में—रख कर **काउस्सग्ग** करता हूं। वे इस प्रकार—**अन्नत्थ ऊससिएणं नीससिएणं** अर्थात्—उच्छ्वास और निःश्वास को छोड़ कर। मतलब यह है कि श्वासोच्छ्वास का निरोध करना अशक्य है, इसलिए श्वास खींचने और निकालने की छूट रखी गई है। **खासिएणं**=खांसी आने से, **छिएणं**=छींक आने से, **जंभाइएणं**=जमुहाई आने से, **उड्डुएणं**=डकार आने से, **वायनिसग्गेण**=अपानवायु खारिज होने से **भमलीए**=अकस्मात् शरीर में चक्कर आ जाने से **पित्तमुच्छाए**=पित्त के प्रकोप के कारण मूर्च्छा आ जाने से; **सुहुमेहिं अंगसंचालेहिं**=सूक्ष्मरूप से अंग का संचार होने से—शरीर की बारीक हलनचलन से, **सुहुमेहिं खेलसंचालेहिं**=सूक्ष्म कफ या थूक के संचार से **सुहुमेहिं दिट्ठिसंचालेहिं**=सूक्ष्मरूप से नेत्रों के संचार से, पलक गिरने आदि से, अर्थात्—उच्छ्वास आदि बारह कारणों को छोड़ कर शरीर की क्रिया का त्याग करता हूँ। वह कायोत्सर्ग किस प्रकार का हो ? **एवमाइएहिं आगारेहिं अभग्गो अविराहिओ हुज्ज मे काउस्सग्गो** अर्थात् इस प्रकार ये और इत्यादि प्रकार के पूर्वोक्त आगारों—अपवादों से अखडित, विराधना-रहित मेरा कायोत्सर्ग हो। कुछ आकस्मिक कारण हैं, उन्हें भी ग्रहण कर लेना चाहिए। यानी जब कोई बिल्ली चूहे को पकड़ कर खाने को उद्यत हो, तब चूहे की रक्षा के लिए, अकस्मात् बिजली गिरने को हो, भूकम्प हो जाय या अग्नि-सर्पादि का उपद्रव हो जाय तो बीच में ही कायोत्सर्ग खोल लेने पर भी उसका भंग नहीं होता।

यहाँ प्रश्न होता है कि—**'नमो अरिहंताणं'** कह कर कायोत्सर्ग पूर्ण कर काय-प्रवृत्ति करे तो उसका भंग कैसे हो जायगा ? वस्तुतः ऐसा करने से कायोतसर्गभंग नहीं होना चाहिए। इसके उत्तर में कहते हैं—प्रत्येक **काउस्सग्ग** प्रमाणयुक्त होता है। हालांकि जब तक **'नमो अरिहंताणं'** न कहे, तब तक **काउस्सग्ग** होता है ; तथापि जितने परिमाण में लोगस्स या नवकारमंत्र का काउस्सग्ग करने का निश्चय किया हो, वह पूर्ण करके ही उच्च-स्वर से **'नमो अरिहंताणं'** बोला जाता है, तभी काउस्सग्ग अखंडित व पूर्ण रूप में होता है। काउस्सग्ग पूर्ण होने पर भी **'नमो अरिहंताणं'** न बोले तो काउस्सग्ग-भंग होता है। इसलिए कायोत्सर्ग पूर्ण होने पर **'नमो अरिहंताणं'** बोलना चाहिए। तथा बिल्ली चूहे पर झपट रही हो

उसे बचाने के लिए खिसके या कायप्रवृत्ति करे तो काउस्सग्ग-भंग नहीं होता। तथा चोर, राजा अथवा एकान्त स्थान में भय का कारण उपस्थित होने पर या खुद को अथवा अन्य साधु को सर्प ने काट खाया हो तो बीच में ही 'नमो अरिहंताणं' का सहसा उच्चारण करके कायोत्सर्ग पार ले तो काउस्सग्ग-भग नहीं होता। कहा भी है– अग्नि के फैलने से, जलने से, पंचेन्द्रिय जीव बीच मे से हो कर निकल रहा हो या चोर, राजा आदि का उपद्रव हो अथवा सर्प के काटने से ; इन आगारों से काउस्सग्ग भंग नहीं होता है।

आगार का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—'आक्रियन्ते आगृह्यन्ते इत्याकारः आगारः'। जो अच्छी तरह से किया जाए या अच्छी तरह से ग्रहण किया जाए, उसे आगार कहते हैं। आगार का रहस्य है— कायोत्सर्ग में गृहीत अपवाद। ऐसे आगार न रहें तो कायोत्सर्ग सर्वथा भग्न=विनष्ट नहीं हो तो भी देशतः भग्न (नष्ट) हो ही जाता है। जबकि कायोत्सर्ग में विद्यमान ऐसे आगारों से वह अविराधित होता है। अर्थात् कायोत्सर्ग का भंग नहीं होता है। वह कितने समय तक ? **'जाव अरिहंताणं भगवंताणं नमोक्कारेणं न पारेमि'** अर्थात् जब तक अरिहन्त भगवान् को नमस्कार बोल करके— **'नमो अरिहंताणं'** शब्दों का उच्चारण करके उसको न पार लूं। कायोत्सर्ग पूर्ण होने तक क्या करना है ? इसे कहते हैं **ताव कायं ठाणेणं मोणेणं झाणेणं अप्पाणं वोसिरामि'** अर्थात् तब तक अपनी काया को स्थिर, निश्चल, मौन और ध्यान में एकाग्र करके कायोत्सर्गमुद्रा में रखता हूं। भावार्थ यह है कि 'तब तक अपनी काया को स्थिर करके मौन और ध्यानपूर्वक मन में शुभचिन्तन करने के लिए **'वोसिरामि'** अर्थात्, अपने शरीर को अशुभ व्यापार (कार्य) से निवृत्त (अलग) करता हूं।' कितने ही साधक **'अप्पाणं'** पाठ नहीं बोलते। इसका अर्थ यह हुआ कि पच्चीस श्वासोच्छ्वास-काल-पर्यन्त खड़ा हो कर घुटने के दोनों ओर हाथ नीचे लटका कर, वाणीसंचार रोक कर श्रेष्ठध्यान का अनुसरण करता हुआ, मौन और ध्यानक्रिया से भिन्न=अन्य क्रिया के अभ्यास द्वारा त्याग करता हूं।' **'लोगस्स उज्जोयगरे'** से ले कर **'चंदेसु निम्मलयरा'** तक २५ उच्छ्वास पूर्ण होते हैं। इसके लिए 'पायसमा ऊसासा' यह वचन प्रमाण है। कायोत्सर्ग सम्पूर्ण होने के बाद **'नमो अरिहंताणं'** इस प्रकार बोल कर नमस्कारपूर्वक पार कर पूरा **'लोगस्स'** का पाठ बोले। यदि गुरुदेव हों तो उनके समक्ष प्रगट में बोले ; और गुरुदेव न हों तो मन में गुरु की स्थापना करके ईर्यापथप्रतिक्रमण करके बाद में उत्कृष्ट चैत्यवन्दन आरम्भ करे। जघन्य और मध्यम चैत्यवन्दन तो ईर्यापथिक प्रतिक्रमण के बिना भी हो सकता है।

यहाँ नमस्कारपूर्वक **'णमो अरिहंताणं'** पद बोलना चाहिए और उत्तमकवियों द्वारा रचित काव्य बोल कर चैत्यवन्दन करना चाहिए। उदाहरणार्थ—'वीतरागप्रभो ! आपका शरीर ही आपकी वीतरागता बतला रहा है ; क्योंकि जिस वृक्ष के कोटर में आग हो, वह वृक्ष हरा नहीं दिखाई देता। कई आचार्य कहते है—केवल प्रणाम करना जघन्य चैत्यवन्दन है। प्रणाम पांच प्रकार के हैं—(१) केवल मस्तक से नमस्कार करना, एकांग प्रणाम है, (२) दो हाथ जोड़ना, द्वयंग प्रणाम है, (३) दो हाथ जोड़ना और मस्तक झुकाना त्र्यंग प्रणाम है, (४) दो हाथ और दो घुटनों से नमन करना चतुरंग प्रणाम है, और (५) मस्तक, दो हाथ और दो घुटने, इन पांच अंगों से नमस्कार करना पंचांग प्रणाम है। मध्यम चैत्यवन्दन तो भगवत्प्रतिमा के आगे स्तव, दण्डक और स्तुति के द्वारा होता है। इसके लिए कहा है- केवल नमस्कार से जघन्य चैत्यवन्दन, दण्डक और स्तुति से मध्यम चैत्यवन्दन और विधिपूर्वक उत्कृष्ट चैत्यवन्दन है। ये तीन प्रकार के चैत्यवदन हैं। उत्कृष्ट चैत्यवन्दन के इच्छुक सर्वविरति साधु,

श्रावक अथवा अविरति सम्यग्दृष्टि या अपुनर्बन्धक यथाभद्रक भलीभांति प्रमार्जन और प्रतिलेखन की हुई भूमि पर बैठते हैं, फिर प्रभु की मूर्ति पर नेत्र और मन को एकाग्र करके उत्कृष्ट संवेग और वैराग्य से उत्पन्न रोमांच से युक्त हो कर आँखों से हर्षाश्रु बहाते हैं। तथा यों मानते हैं कि वीतराग प्रभु के चरण-वन्दन प्राप्त होना अतिदुर्लभ है। तथा योगमुद्रा से अस्खलित आदि गुणयुक्त हो कर सूत्र के अर्थ का स्मरण करते हुए **प्रणिपातदण्डकसूत्र (नमोत्थुणं सूत्र)** बोलते हैं। इसमें तेंतीस आलापक पद हैं। ये आलापक दो, तीन चार; तीन, पांच, पांच; दो चार, और तीन पद मिल कर कुल नौ संपदाओं (रुकने के स्थान) में हैं। इन सम्पदाओं के नाम तथा प्रमाण, उनका अर्थ यथा-स्थान कहेंगे।

'नमोत्थुणं' पाठ की व्याख्या—नमोत्थुणं अरिहंताणं भगवंताणं—इसमें 'नमो' पद नैपातिक है। वह पूजा अर्थ में व्यवहृत होता है। पूजा द्रव्य और भाव से संकोच करके (नम कर) करना चाहिए। जिसमें हाथ, सिर पैर आदि शरीर के अवयवों को नमाना, द्रव्यसंकोच है, और विशुद्ध मन को चैत्यवंदन आदि में नियुक्त करना, भावसंकोच है। 'अस्तु' का अर्थ है—'हो'। इस प्रार्थना का आशय विशुद्ध होने से यह धर्मवृक्ष का बीज है। 'णं' वाक्यालंकार में प्रयुक्त किया गया है। जो अतिशय पूजा के योग्य हों, वे अर्हन्त कहलाते हैं। कहा भी है—'वन्दन-नमस्कार करने योग्य, पूजा-सत्कार करने योग्य एवं सिद्धगति प्राप्त करने योग्य अर्हन्त कहलाते है। अब दूसरी व्याख्या करते हैं सिद्धहैमशब्दानुशासन के '**सुगर्द्विषार्हः सत्रिशत्रुस्तुत्ये** ।।५।२।२६। इस सूत्र से वर्तमानकाल में 'अतृश्' प्रत्यय लगता है। इस प्रकार '**अर्हं पूजायाम्**' अर्ह धातु पूजा अर्थ में है, उसके आगे 'अत्' प्रत्यय लग जाने से 'अर्हत्' शब्द बना। अथवा जहाँ अरिहत रूप हो, वहाँ अरि यानी शत्रु, उनके हन्ता (हननकर्ता) होने से अरिहन्त कहलाता है। वे शत्रु हैं—मिथ्यात्व मोहनीय आदि साम्परायिक कर्म जो बन्धन के हेतुभूत हैं। अनेक भवों के जन्म-मरण के महा-दुःख को प्राप्त कराने में कारणभूत मिथ्यात्व आदि कर्मशत्रुओं को नष्ट करने से वे अरिहन्त कहलाते हैं। **तीसरी व्याख्या**—रज को हरण करने से अरहन्त। यहाँ रज से मतलब चार घातिकर्मों से है। जैसे सूर्य बादल में छिपा होने पर भी प्रकटरूप में प्रकाश नहीं दिखता, उसी तरह आत्मा चार घाती-कर्मरूपी रज से ढका हुआ होने से ज्ञानदर्शनादिगुणरूप स्वभाव होने पर भी नहीं दिखता है। इसलिए आत्मगुणों को ढकने वाले घातिकर्म रूपी धूल को नाश करने से वे अरहन्त कहलाते हैं। **चौथी व्याख्या** उनसे कोई भी रहः यानी गुप्त नहीं होने से भी अरहन्त कहलाते हैं। इसी तरह भगवान् के जो ज्ञानदर्शन गुण हैं, उन्हें प्राप्त करने में ज्ञानावरणीय आदि कर्मों की पराधीनता है, उनका सर्वथा नाश करके सम्पूर्ण, अनंत, अद्भुत, अप्रतिपाति, शाश्वत केवलज्ञान—केवलदर्शन उत्पन्न हुआ है, इन दोनों से वे सम्पूर्ण जगत् को सदा एक साथ जानते और देखते हैं। इस कारण उनसे कोई भी बात छिपी नहीं रहती, अतः वे अरहन्त कहलाते हैं। इन तीनों व्याख्याओं में व्याकरण के 'पृषोदरादयः सूत्र' से अर्हत् शब्द की सिद्धि तीन प्रकार से होती है। अथवा 'रहः' का अर्थ एकान्तरूप देश, पर्वतगुफा, स्थान, देश का अन्त, या मध्यभाग होता है। अ शब्द अविद्यमान अर्थ का द्योतक है। यानी सर्वज्ञ एवं सम्पूर्णज्ञ होने से जिनके लिए कोई देश, या स्थानादि एकान्त या गुप्त नहीं रहे, इस कारण छिपी न रहती हो वे **अरहोऽन्तर** कहलाते हैं। अथवा **अरहद्भ्यः** रूप भी होता है। जिसका अर्थ है— राग क्षीण होने से जिसकी किसी भी पदार्थ में आसक्ति नहीं है। अथवा राग-द्वेष का हेतुभूत इच्छनीय अथवा अनिच्छनीय पदार्थगत विषयों का सम्पर्क होने पर भी अपने वीतरागादि स्वभाव का त्याग नहीं करते; इस कारण वे **अरहन्त** कहलाते हैं। अथवा **'अरिहंताणं'** ऐसा पाठान्तर भी है। उसका अर्थ है—कर्मरूपी शत्रु का नाश करने वाले। कहा भी है कि 'आठ प्रकार के कर्म सभी जीवों के शत्रुरूप हैं। उन कर्म आदि शत्रुओं (अरियों) का हनन करने से अरिहन्त कहलाते हैं।'

अरुहंताणं (अरोहदभ्यः) पाठान्तर भी है। जिसका भावार्थ है—कर्मबीज क्षीण होने से जिसके संसार-रूपी अंकुर फिर उगते नहीं। अथवा संसार में जिनका फिर जन्म नहीं होने वाला है, वे भी अरुहत कहलाते हैं। इसलिए कहा भी है कि बीज सर्वथा जल जाने पर से अंकुर प्रगट नहीं होता, वैसे ही कर्म-बीज सर्वथा जल जाने पर भवरूपी अंकुर प्रगट नही होता, यानी जन्म-मरण नहीं होता। वैयाकरणो ने 'अर्हत्' शब्द के प्राकृत भाषा में तीन रूप माने हैं—(१) **अर्हंत** (२) **अरिहंत**, और (३) **अरुहंत**। हमने भी सिद्धहैमव्याकरण के **उच्चार्हति** ॥८।२।१११॥ सूत्र से तीन रूप सिद्ध किए हैं। **'उन अर्हन्तों को नमस्कार हो'** ऐसा सम्बन्ध जानना।

'नमोत्थुणं' **नमोऽस्तु** में नमः शब्द के योग में चतुर्थी विभक्ति हुआ करती है, लेकिन '**चतुर्थ्याः षष्ठी**' ॥६।३।१३१॥ इस सूत्र से प्राकृतभाषा में चतुर्थी के स्थान में षष्ठी विभक्ति का प्रयोग होता है। तथा जो एक ही परमात्मा को मानने वाले हैं; उनका खण्डन करने के लिए बहुवचन का प्रयोग किया है। अद्वैतवादियों के 'एक ही परमात्मा' मत का खण्डन करके व अनेक अरिहन्त परमात्मा है, ऐसा सिद्ध करने के लिए तथा एक के बदले अनेकों को नमस्कार करने से अधिक फल मिलता है; यह बतलाने के लिए भी बहुवचन का प्रयोग किया है। और उन अरिहत भगवान् के नाम, स्थापना द्रव्य और भाव से अनेक भेद हैं। यहां भाव-अरिहत को मेरा नमस्कार हो, ऐसा बतलाने के लिए '**भगवताण**' विशेषण का प्रयोग किया है। भगवंताण में '**भग**' शब्द के चौदह अर्थ होते हैं। वे इस प्रकार हैं—(१) सूर्य (२) ज्ञान (३) माहात्म्य (४) यश (५) वैराग्य (६) मुक्ति (७) रूप (८) वीर्य (९) प्रयत्न (१०) इच्छा (११) श्री (१२) धर्म (१३) ऐश्वर्य और (१४) योनि। इनमें से भग के सूर्य और योनि इन दो अर्थों को छोड़ कर शेष बारह अर्थ यहां मान्य है। जिसमें भग=ज्ञान, वैराग्य आदि हो, उसे भगवान् कहते हैं।

भगवान् के जीवन मे 'भग' शब्द में निहित अर्थों की व्याख्या करते हैं—(१) **ज्ञान**—गर्भ में आये, तब से ले कर दीक्षा तक भगवान् मे मति, श्रुत और अवधि ये तीन ज्ञान होते हैं और दीक्षा लेने के बाद से घातिकर्म के क्षय होने तक चौथा मनःपर्यवज्ञान भी रहता है। तथा घातिकर्म के क्षय होने के बाद अनतवस्तुविषयक समग्रभावप्रकाशक केवलज्ञान प्राप्त हो जाता है। (२) **माहात्म्य** का अर्थ है—प्रभाव अतिशय। भगवान् के सभी कल्याणकों के समय नरक के जीवों को भी सुख उत्पन्न होता है, तथा गाढ़ अन्धकाराच्छन्न नरक में भी प्रकाश हो जाता है। भगवान् के गर्भ में आने पर कुल में धन, समृद्धि आदि की वृद्धि होती है; नहीं झुकने वाले सामंत राजा भी झुकने लगते हैं। तथा दुर्भिक्ष महामारी आदि उपद्रव दूर हो कर वैररहित राज्य-पालन होता है, एव जनपद=देश अतिवृष्टि अनावृष्टि आदि उपद्रवो से रहित होता है। उनके प्रभाव से आसन चलायमान होने से देव, असुर आदि उनके चरण-कमलो में नमस्कार करते है। इस तरह वे प्रभाव=अतिशय वाले होते हैं। (३) **यश**—रागद्वेष, परिषह, उपसर्ग आदि को पराक्रम से जीतने से भगवान् को **यश** मिलता है, उनकी प्रतिष्ठा सर्वदा स्थायी होती है। जिस यश को देवलोक में सुर-सुन्दरी और पाताल में नागकन्या गीत गाती हैं। उस यश की प्रशंसा नित्य देव और असुर करते हैं। (४) **वैराग्य**—अर्हन्त भगवान् को देव और राजा की ऋद्धि का उपभोग करते हुए भी उस पर जरा भी राग नहीं होता। जब दीक्षा अंगीकार करते हैं, तब समस्त भोगों और ऋद्धि-समृद्धि का त्याग करते हैं। फिर उस ऋद्धि से उन्हें क्या लाभ? जब कर्म क्षीण हो जाते हैं, तब सुख-दुःख में, संसार और मोक्ष पर उनका उदासीनभाव होता है। इस तरह तीनों अवस्थाओं में प्रभु वैराग्य-सम्पन्न होते हैं।

यह बात हमने वीतरागस्तोत्र में भी कही है—"हे नाथ ! जब आप देव और नरेन्द्र की ऋद्धि भोगते हैं, तब आपको उसमें जरा भी आनन्द नहीं आता। उस समय भी आपकी रति विरक्तता में रहती है। कामभोग से विरक्त होने से आप में प्रचुर वैराग्य होता है तथा सुख-दुःख में या संसार-मोक्ष में समानभाव से आप औदासीन्य रखते हैं, उस समय भी तो आप वैराग्ययुक्त रहते हैं ? आप कौन-सी अवस्था में विरक्त नहीं हैं ? आप तो सभी अवस्था में वैरागी रहते हैं। (५) **मुक्ति** समग्र क्लेशनाशरूप मुक्ति तो आपके सदा नजदीक रहती है। (६) **रूप** तो आपका अतीव उत्तम है ही। कहा है कि 'सभी देवताओं का सारभूत रूप ग्रहण करके उस रूप को सिर्फ अंगूठे में एकत्र करे ; और उसकी तुलना प्रभु के चरण के अंगूठे से करे तो, देवों का रूप ऐसा दिखता है; मानो दहकते हुए अंगारे में कोयले हों। अतः भगवान का रूप सर्वाधिक श्रेष्ठ है। (७) **वीर्य**—मेरुपर्वत को दण्ड और पृथ्वी को छत्ररूप बनाने का सामर्थ्य भगवान् में होता है। सुनते हैं - जन्म को अभी कुछ ही देर हुई थी कि श्रीमहावीरप्रभु ने इन्द्र की आशंका को दूर करने के लिए बांये पैर के अंगूठे से मेरूपर्वत को हिला दिया था। इतने वीर्यवान (शक्तिशाली) पराक्रमी भगवान होते हैं। (८) **प्रयत्न**—परमवीर्य से उत्पन्न केवलीसमुद्घातरूप प्रयत्न, जो एक रात्रि आदि की महाप्रतिमाओं व अभिग्रह के अध्यवसाय में हेतुभूत उन कर्मों को एक साथ नाश करने के लिए कितना विराट् था ! तथा मन, वचन और काया का योग-निरोध, और उसके योग में प्रगट किया हुआ उत्कृष्ट आत्मवीर्य, मेरुपर्वत के समान अडोल अवस्था ; तथा शैलेशीकरण की अभिव्यक्तिरूप उत्कृष्ट आत्मवीर्य से हुआ प्रयत्न (९) **इच्छा**—जन्मातर मे देवभव में और तीर्थंकरभव में दुःखरूपी कीचड़ से लिप्त जगत को बाहर निकालने की तीव्र इच्छा होती है। (१०) **श्री**—घातीकर्मों का नाश करके पराक्रम से प्राप्त की हुई सम्पूर्ण **केवलज्ञानरूपी लक्ष्मी** से आप परिपूर्ण होते हैं। यह सुखसम्पदा भी अनुपम है। (११) **धर्म**—आप में अनाश्रवरूप महायोगात्मक धर्म है। समग्र कर्मों की निर्जरारूप धर्माचरण तो और भी उत्तम है। (१२) **ऐश्वर्य**—प्रभु के प्रति अतिभक्ति से इन्द्र आदि देवों के द्वारा बनाया हुआ समवसरण तथा अष्ट-प्रातिहार्यादिरूप ऐश्वर्य तीर्थंकर भगवान् के होते हैं। इस प्रकार बुद्धिमान लोगों द्वारा कही हुई ज्ञानादि बारह भेद से युक्त स्तुति करने योग्य होती है। इस तरह दो आलापक (पद) से 'नमुत्थुणं' सूत्र की प्रथम स्तोतव्य—संपदा जानना। यानी स्तुत्य कौन, क्यों और कैसे हैं ? इस पर काफी कह दिया है। अब दूसरी हेतु—संपदा का वर्णन करते हैं—

आइगराणं तित्थयराणं सयंसंबुद्धाणं। आइगराणं का अर्थ है—आदि करने वाले। अर्थात सब प्रकार की नीति और श्रुतधर्म का प्रथम उपदेश देने वाले हैं। इस सामर्थ्य से श्रुतधर्म उनके पास से जाना जाता हैं। यद्यपि यह द्वादशांगी न कभी थी, न कभी होती है और न कभी होगी, तथा हुआ है, होता है, और होगा इस वचन से हमेशा द्वादशांगी है। फिर भी अर्थ की अपेक्षा से इसे नित्य कहा है, शब्द की अपेक्षा से अपने-अपने तीर्थंकरों के शासन में द्वादशांगी की रचना होने से '**श्रुतधर्म की आदि करने वाले**' ऐसा कहने में कोई विरोध नहीं आता है। 'केवलज्ञान होते ही मोक्ष हो जाता है। ऐसा मानने वाले तीर्थंकर को नही मानते। वे कहते हैं कि—'जब तक सभी कर्मों का क्षय नहीं होता, तब तक केवलज्ञान नहीं होता।' इस वचन से तीर्थंकर के होने का कारण नहीं रहता। अतः इसका खण्डन करने हेतु कहते हैं—'**तित्थयराणं**'=तीर्थ की स्थापना करने वाले। जिससे संसार-समुद्र तरा जाए, वह तीर्थ कहलाता है। शासन के आधारभूत साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविकारूप चतुर्विधसंघ, अथवा प्रथम गणधर तीर्थस्वरूप है। भ० महावीर से पूछा गया—'भगवन् ! तीर्थ किसे कहें ?' भगवान् ने कहा—'हे तीर्थरूप गौतम ! तीर्थंकर तीर्थ है, इस नियम से अरिहंत तीर्थ है, चतुर्विध श्रीसंघ और प्रथम गणधर तीर्थ हैं।' तीर्थ की स्थापना या रचना करने वाले तीर्थंकर कहलाते हैं। सम्पूर्ण कर्मों का क्षय होने पर ही केवलज्ञान

है, ऐसा नही, बल्कि चार घातिकर्मों का सम्पूर्ण क्षय होते ही केवलज्ञान होजाता है। केवली में चार अघातिकर्म शेष रहते हैं, वे उसके केवलज्ञान में बाधक नहीं होते। और केवलज्ञान तो ज्ञानावरणीय आदि ४ घातिकर्मों के क्षय होने से प्रगट होता है। अर्हंत केवलज्ञानी ही तीर्थ की स्थापना कर सकते हैं। मुक्त केवलियों अथवा एक साथ आठों कर्मों को क्षय करके मुक्ति प्राप्त करने वालों में तीर्थंकरत्व नहीं हो सकता। इसीलिए कहा—'तीर्थ की स्थापना करने वाले तीर्थंकर को नमस्कार हो।' कई लोग कहते हैं—"इन तीर्थंकरों को भी सदाशिव की कृपा से बोध-ज्ञान होता है, इस विषय में उनके ग्रन्थ का प्रमाण है—**'महेशानुग्रहात् बोध-नियमाविति'** अर्थात् 'महेश की कृपा से बोध-ज्ञान और (शौच संतोष, तप, स्वाध्याय ध्यान होते हैं। परन्तु उनका यह कथन यथार्थ नहीं है, इसीलिए कहा—**सयंसंबुद्धाणं** अर्थात् वे दूसरे के उपदेश बिना भव्यत्वादि सामग्री के परिपक्व हो जाने से स्वयं (अपने आप) ही सम्बुद्ध होते हैं—यथार्थ तत्त्वस्वरूप को जानते हैं। अतः स्वय बोध प्राप्त किया है, उन्हें नमस्कार हो। यद्यपि दूसरे पूर्वभवों में बाकायादा गुरु-महाराज के उपदेश से वे बोध प्राप्त करते हैं, फिर भी तीर्थंकर-भव में तो वे दूसरों के उपदेश से निरपेक्ष ही होते हैं। वे स्वयं ही बोध – प्राप्त करते हैं। यद्यपि तीर्थंकर के भव मे लोकान्तिक देव '**भयवं तित्थं पवत्तेह**' भगवन्! आप तीर्थ (स्थापन) में प्रवृत्त हों; ऐसे वचन से भगवान् दीक्षा अंगीकार करते हैं। तथापि जैसे कालज्ञापक-वैतालिक के वचन से राजा प्रवृत्ति या प्रयाण करता है, वैसे ही देवों की विनति से तीर्थंकर स्वतः दीक्षा अंगीकार करते हैं; उनके उपदेश से नहीं। स्तोतव्य की सामान्य सम्पदा बता कर, अब विशेष सम्पदा बताते हैं—

'पुरिसुत्तमाणं, पुरिससीहाणं पुरिसवरपुंडरीयाणं पुरिसवरगंधहत्थीणं'—तात्पर्य यह है, पुरि-यानी शरीर में शयन करता है, अतः इसे पुरुष कहते हैं। विशिष्ट पुण्यकर्म के उदय से उत्तम आकृति वाले शरीर में निवास करने वाले, उनमें भी उत्तम जीव होने से स्वाभाविक तथा भव्यत्वादि भावों में श्रेष्ठ होने से 'पुरुषोत्तम' कहलाते हैं। वे पुरुषोत्तम इस प्रकार से हैं—अपने संसार के अन्त तक परोपकार करने के आदी होते हैं, अपने सांसारिक सुखों का स्वार्थ उनके लिए गौण होता है, सर्वत्र उचित क्रिया करते हैं, किसी भी समय में दीनता नहीं लाते; जिसमें सफलता मिले, उसी कार्य को आरम्भ करते हैं, दृढ़ता से विचार करते हैं; वे कृतज्ञता के स्वामी, क्लेशरहित चित्त वाले होते हैं। देव-गुरु के प्रति अत्यन्त आदर रखते हैं। उनका आशय गम्भीर होता है। खान से निकला हुआ मलिन और अनघड़ श्रेष्ठ जाति का रत्न भी काच से उत्तम होता है। किन्तु जब उसे शान पर चढ़ा कर घड़ दिया जाता है तो वह और भी स्वच्छ हो जाता है, तब तो काच से उसकी तुलना ही नहीं हो सकती। वैसे ही अरिहन्त परमात्मा के साथ किसी की तुलना नहीं हो सकती। वे सभी से बढ़कर उत्तम होते हैं। ऐसा कह कर बौद्ध जो मानते हैं कि **नास्ति इह कश्चिदभाजनं सत्त्वः**' अर्थात् इस संसार में कोई भी प्राणी अपात्र नहीं है। जीव मात्र सर्वगुणों का भाजन होता है; इसलिए सभी जीव बुद्ध हो सकते हैं; इस बात का खण्डन किया गया है। क्योंकि सभी जीव कदापि अरिहन्त नहीं हो सकते; भव्य जीव ही अरिहन्त हो सकते हैं। बाह्य अर्थ की सत्ता को सत्य मानने वाले व उपमा को असत्य मानने वाले संस्कृताचार्य के शिष्य यों कहते हैं कि 'जो स्तुत्य हैं, उन्हें किसी प्रकार की उपमा नहीं दी जा सकती, क्योंकि **हीनाधिकाभ्यामुपमा मृषा** यानी स्तुत्य को हीन या अधिक से उपमा देना, असत्य है। इस मत का खण्डन करने के लिए कहा है—**पुरिससीहाणं**—पुरुषों में सिंह के समान; मुख्यतया शौर्य आदि गुणों के कारण अरिहन्त भगवान को पुरुष होते हुए भी सिंह के समान कहा है। जैसे सिंह शौर्य, क्रूरता, वीरता, धैर्य आदि गुण वाला होता है, वैसे

अरिहन्त भगवान् भी कर्मरूपी शत्रुओं के निवारण के लिए शूर, कर्मों को उच्छेदन करने में क्रूर, पराजित करने वाले क्रोध आदि को सहन नहीं करने वाले, रागादि से पराभूत न होने वाले महापराक्रमी, वीर्यवान, और तपश्चरण में वीरता के लिए प्रभु प्रसिद्ध हैं ही, तथा वे परिषहों की अवज्ञा करते हैं, उपसर्गों से डरते नहीं, इन्द्रियों के पोषण की चिन्ता नहीं करते, संयममार्ग पर चलने में उन्हें खेद नहीं होता, वे सदा शुभध्यान में निश्चल रहते हैं। अतः इन गुणों के कारण अरिहन्त भगवान् पुरुषों में सिंह के समान हैं। यह कथन असत्य भी नहीं है ; क्योंकि सिंह के समान इत्यादि उपमा देने से उनके असाधारण गुण प्रतीत होते हैं। भगवान् को सजातीय की उपमा देनी चाहिए, विजातीय की उपमा से तो '**विरुद्धोपमा-योगे तद्धर्मापत्त्या तदवस्तुत्वम्**' अर्थात् विरुद्ध (विजातीय) उपमा के योग से उपमेय में उपमा का धर्म आ जाने से उपमेय की वास्तविकता नहीं रहती।' इस न्याय से उपमेय में उपमान के समान धर्म आजाने से भगवान् में पुरुषत्व आदि का अभाव हो जायगा;' चारुशिष्यों के इस मत का खण्डन करते हुए कहते हैं— **पुरिसवरपुंडरीआणं**' अर्थात् पुरुष होने पर भी श्रेष्ठ पुंडरीक के समान अरिहंत को नमस्कार हो। संसार रूपी जल से निर्लिप्त इत्यादि, धर्मों के कारण वे श्रेष्ठ पुंडरीक कमल के समान हैं। जैसे पुंडरीक— कमल कीचड़ में उत्पन्न होता है, जल में बढ़ता है, फिर भी दोनों का त्याग कर दोनों से ऊपर रहता है। वह स्वाभाविक रूप में सुन्दर होता है, त्रिलोक की लक्ष्मी का निवास-स्थान है, चक्षु आदि के लिए आनन्द का घर है उसके उत्तम गुणों के योग से विशिष्ट तिर्यंच, मनुष्य और देव भी कमल का सेवन करते हैं; तथा कमल सुख का हेतुभूत है, वैसे ही अरिहन्त परमात्मा भी कर्मरूपी कीचड़ में जन्म लेते हैं, दिव्यभोगरूपी जल से उनकी वृद्धि होती है, फिर भी वे कर्मों और भोगों का त्याग कर उनसे निर्लेप रहते हैं, अपने अतिशयों से वे सुन्दर हैं और गुणरूपी सम्पत्तियों के निवास-स्थान हैं; परमानन्द के हेतुरूप है; केवलज्ञानादि गुणों के कारण तिर्यंच, मनुष्य और देव भी उनकी सेवा करते हैं, और इससे वे मोक्षसुख के कारण बनते हैं। इन कारणों से अरिहन्त भगवान् पुंडरीककमल के समान हैं। इस तरह भिन्नजातीय कमल की उपमा देने पर भी अर्थ में कोई विरोध नहीं आता। सुचारु के शिष्यों ने विजातीय की उपमा देने से, जो दोप बताया है, वह दोष यहाँ सम्भव नहीं है। यदि विजातीय उपमा के देने से उपमेय में उस उपमा के अतिरिक्त अन्य धर्म भी आ जाते हैं, वैसे ही सिंह आदि की सजातीय उपमा से उस सिंह आदि का पशुत्व आदि धर्म आ जाता है। किन्तु सजातीय उपमा से वैसा नहीं बनता ; वैसे ही विजातीय उपमा से भी वह दोप नहीं लगता। बृहस्पति के शिष्य ऐसा मानते हैं कि यथोत्तरक्रम से गुणों का वर्णन करना चाहिए। अर्थात् प्रथम सामान्य गुणों का, बाद में उससे विशेष गुणों का और उसके बाद उससे भी विशिष्ट गुणों का यथाक्रम से वर्णन करना चाहिए। यदि इस क्रमानुसार व्याख्या नहीं की जाती है तो वह पदार्थ क्रमरहित हो जाता है और फिर गुण तो क्रमशः ही बढ़ते हैं। इसी के समर्थन में वे कहते हैं—'**अक्रमवदसत्**' अर्थात् 'जिसका विकास क्रमश. नहीं होता, वह वस्तु असत् (मिथ्या) है।' श्री अरिहंत परमात्मा के गुणों का विकास भी क्रमशः हुआ है। इसे बताने के लिए प्रथम सामान्य उपमा, बाद में विशिष्ट उपमा देनी चाहिए। उनके इस मत का खण्डन करने के लिए कहते हैं— —'**पुरिसवरगंधहत्थीणं**' अर्थात् श्री अरिहन्त भगवान् पुरुष होने पर भी श्रेष्ठ गन्धहस्ती के समान हैं। जैसे गन्धहस्ती की गन्धमात्र से उस प्रदेश में घूमने वाले क्षुद्र हाथी भाग जाते हैं, वैसे ही अरिहन्त परमात्मा के प्रभाव से, परराज्य का आक्रमण, दुष्काल, महामारी आदि उपद्रवरूपी क्षुद्र हाथी उनके विहाररूपी पवन की गन्ध से भाग जाते हैं। इस कारण से भगवान् श्रेष्ठगन्धहस्ती के समान हैं। यहाँ पहले सिंह की, बाद में कमल की और उसके बाद गन्धहस्ती की उपमा दी है। इसमें गन्धहस्ती से भी

सिंह विशेष बलवान है, जब कि कमल सामान्य है। अतः उनके मत से उपमा का अक्रम है, फिर भी वह दोषरूप नहीं है, क्योंकि वे कहते हैं कि 'व्याख्या में क्रम न हो तो व्याख्या ही असत् होती है।' यह बात युक्तियुक्त नहीं है। वस्तुत, सामान्य हो या विशिष्ट, समस्त गुण आत्मा में परस्पर सापेक्ष रहते हैं। इस लिए उन गुणों या गुणी भगवान् की स्तुति क्रम से या व्युत्क्रम से किसी भी तरह से की जाय; उसमें कोई दोष नहीं लगता। इस प्रकार **पुरिसत्तमाणं**' आदि चार पदों से श्रीअरिहन्त परमात्मा की स्तुति का विशेष हेतु कहा। इस तरह यह तीसरी संपदा का नाम 'स्तोतव्य विशेषहेतुसंपदा है।

वे ही स्तुति करने योग्य श्रीवीतराग परमात्मा सामान्य रूप से इस संसार में किस तरह उपयोगी हैं? इसे बताने के लिए अब पांच पदों द्वारा चौथी संपदा का वर्णन करते हैं—"**लोगुत्तमाण, लोगनाहाणं लोगहियाणं, लोगपईवाणं, लोगपज्जोअगराणं।**" जो शब्द समूह का वाचक होता है, व्याकरणशास्त्रानुसार वह शब्द अनेक अवयवों (अंशों या विभागों) का भी वाचक होता है। लोक शब्द तत्त्वतः धर्मास्तिकायादि आदि पांच अस्तिकायों के समूह वाले चौदह राजू लोक का वाचक है। और उसके विपरीत जहां धर्मास्तिकाय आदि द्रव्यों का अभाव हो, केवल आकाश ही हो, उसे अलोक कहते हैं। फिर भी यहां लोक शब्द से सर्वभव्यजीवरूप लोक समझना चाहिए। यहां पर भगवान् को '**लोकोत्तम**' कहा है। समानजातीयों में उत्तमता ही वास्तविक होती है, निम्न-जातीयों से उच्चजातीय में उत्तमता होने में कोई खास विशेषता नहीं होती। यों तो अभव्य की अपेक्षा सभी भव्यजीव उत्तम हैं ही, इस अपेक्षा से भगवान् की उत्तमता बताने में कोई विशेषता नहीं है। इस लिए वे सजातीय भव्यजीवों में उत्तम हैं; ऐसा कथन यहां अभीष्ट है। क्योंकि समस्त भव्यजीवों में सकल कल्याण के कारणभूत भव्यत्व नाम के भाव केवल भगवान् में ही रहते हैं। ऐसे लोक में उत्तम भगवान् को नमस्कार हो। **लोगनाहाणं** अर्थात् लोक के नाथ। योगक्षेम करने वाला नाथ होता है। अप्राप्त वस्तु को प्राप्त कराना योग है और प्राप्त वस्तु की रक्षा करना क्षेम है। इस दृष्टि से भगवान् लोक में धर्मबीज की स्थापना द्वारा अप्राप्त धर्म को प्राप्त कराते हैं, और धर्म की रागादि उपद्रवों से रक्षा करते-कराते हैं; इसलिए वे भव्यजीवलोक के नाथ हैं। तथा भगवान् को समस्त भव्यजीवरूपी लोक की अपेक्षा से यहां लोकनाथ नही कहा गया है; क्योंकि जो जाति (जन्मतः) भव्य हैं, उनके योग-क्षेमकर्ता भगवान् नहीं हो सकते, यदि ऐसा होता तो समग्र जीवों का मोक्ष हो जाता। इसलिए यहां भगवान् उन भव्यजीवों के ही योगक्षेमकर्ता हो सकते हैं, जो मोक्ष के निकट हैं। ऐसे भव्यजीवों में भगवान् धर्मबीज की स्थापना करके, धर्मांकुर का प्रादुर्भाव और उसका पोषण करने से योग करते हैं एवं रागद्वेषादि आन्तरिक शत्रुओं के उपद्रव से उनका रक्षण करके क्षेम करते हैं। अर्थात् उन विशिष्ट भव्यजीवरूप लोक के नाथ को नमस्कार हो।'

लोगहियाणं—अर्थात् लोक के हित करने वाले को नमस्कार हो। यहां लोक शब्द मे चौदह राजू लोक में एकेन्द्रियजीव से ले कर पंचेन्द्रिय जीव तक सभी व्यवहारराशिगत जीवरूप लोक समझना। चूंकि 'भगवान् सम्यग्दर्शन आदि मोक्षमार्ग का उपदेश दे कर सभी जीवों को दुःख में पड़ने से बचाते हैं; इसलिए वे लोक-हितैषी हैं। **लोगपईवाणं**—अर्थात् लोक-संसार में दीपक के समान प्रकाश करने वाले भगवान् को नमस्कार हो। यहां लोकशब्द से विशिष्ट संज्ञी पंचेन्द्रियजीवरूप लोक समझना चाहिए, क्योंकि भगवान् विशिष्ट संज्ञीजीवों को अपने उपदेशरूपी ज्ञानकिरणों से मिथ्यात्व-अज्ञानरूपी

अन्धकार मिटा कर ज्ञेयभाव का यथायोग्य प्रकाश करते हैं, इस कारण संज्ञीलोक के प्रकाशक होने से वे प्रदीपरूप है। जैसे दीपक अन्धे मनुष्य को प्रकाश नहीं दे सकता, वैसे ही भगवान् भी ऐसे महामिथ्यात्व रूप घोर अन्धकार में मग्न संज्ञी जीवों को प्रतिबोध नहीं दे सकते। इसलिए भगवान् को विशिष्ट संज्ञी जीवरूप लोक में प्रदीप के समान कहा है। तथा **लोगपज्जोअगराणं** अर्थात् लोक में सूर्य के समान प्रद्योत करने वाले भगवान् को नमस्कार हो। यहाँ लोकशब्द से विशिष्ट चौदह पूर्व के ज्ञानवाले ज्ञानीपुरुष ही समझना चाहिए; क्योंकि उनमें ही वास्तविक प्रद्योत हो सकता है। और प्रकाश करने योग्य सात अथवा नौ जीवादि तत्त्वों को वे ही यथार्थरूप से जान सकते हैं। पूर्वधर ही विशिष्ट योग्यतासम्पन्न होते हैं। परन्तु तत्त्वों को प्रकाशित करने मे सभी पूर्वधर एक सरीखे नही होते। क्योंकि पूर्वधर भी योग्यता में परस्पर तारतम्ययुक्त-षट्स्थान-न्यूनाधिक होते हैं। प्रद्योत का अर्थ है—विशिष्ट प्रकार से नयनिक्षेपादि से सम्पूर्ण तत्त्वज्ञान के अनुभव का प्रकाश। ऐसी योग्यता विशिष्ट चतुर्दश-पूर्वधारी में ही होती है। अतः यहाँ विशिष्ट चतुर्दश पूर्वधररूपी लोक में प्रभु सूर्य के समान हैं। जैसे सूर्य से सूर्यविकासी कमल खिलते हैं, वैसे ही भगवत्सूर्य के निमित्त से विशिष्ट पूर्वधरों को जीवादि तत्त्वों का प्रकाश हो जाता है। इस दृष्टि से भगवान **लोकप्रद्योतकर** हैं। इस प्रकार लोकोत्तम आदि पांच प्रकार से भगवान् परोपकारो है। इसलिए स्तोतव्यसंपदा की सामान्य उपयोग के नाम से चौथी पंचपदी सम्पदा बताई। अब विशिष्ट उपयोग संपदा बताने की दृष्टि से हेतुसपदा नाम की पांचवीं संपदा बताते है -

'**अभयदयाणं, चक्खुदयाणं, मग्गदयाणं, सरणदयाणं, बोहिदयाणं**। इसमें प्रथम **अभयदयाणं** का **अर्थ है**—अभय देने वाले भगवान को नमस्कार हो। भय मुख्यतया सात प्रकार का होता है (१) इहलोक-भय (२) परलोक-भय, (३) आदान-भय, (४) अकस्माद्भय, (५) आजीविकाभय, (६) मरणभय, और (७) अपयशभय। भयों का प्रतिपक्षी अभय है। जिसमें भय का अभाव होता है। अर्थात् विशिष्ट आत्म स्वास्थ्य के लिए सम्पूर्ण कल्याणकारी धर्म की भूमिका में कारणभूत पदार्थ अभय कहलाता है। कोई उसे धैर्य भी कहते हैं। इस प्रकार के अभय को देने वाले श्री तीर्थंकर भगवान् ही हैं, क्योंकि वे अपने गुणों के प्रकर्षयोग से अचिन्त्यशक्तिसम्पन्न होते हैं; एव एकान्त परोपकारपरायण होने से भगवान् अभयदाता= भयरहितकर्ता भी है। तथा **चक्खुदयाणं**=चक्षु देने वाले को नमस्कार। भगवान् तत्त्वबोध के कारणरूप विशिष्ट आत्मधर्मरूप चक्षु के दाता है। दूसरे लोग इसे श्रद्धा कहते हैं। जैसे चक्षु के बिना व्यक्ति दूसरे को देख नहीं सकता, वैसे ही श्रद्धा-रहित व्यक्ति आत्मवस्तुतत्त्व के दर्शन करने में अयोग्य होता है। यानी तत्त्वदर्शन नहीं कर सकता। मार्गानुसारी श्रद्धा के बिना सुख प्राप्त नही कर सकता है। कल्याणचक्षु (श्रद्धा) होने पर ही यथार्थ वस्तुतत्त्व का ज्ञान व दर्शन होता है। इस कारण धर्मरूपी कल्पवृक्ष के लिए अमोघबीजरूप श्रद्धा भगवान् से प्राप्त होती है। अतः भगवान चक्षु को देने वाले हैं। '**मग्गदयाणं**'= अर्थात् मोक्षमार्ग देने वाले को नमस्कार हो। यहाँ मार्गदाता का अर्थ है--सर्प की बांबी की तरह सीधी विशिष्ट गुणस्थान-श्रेणी को प्राप्त कराने वाले; स्वरसवाही यानी आत्मस्वरूप का अनुभव कराने वाले, कर्मक्षयोपशम का स्वरूप बताने वाले। जिस पर चित्त का अवक्रगमन हो, जिसमें मोक्ष के अनुकूल चित्त-प्रवृत्ति हो, उसे मार्ग कहते हैं। मोक्षमार्ग के बिना चित्त की प्रवृत्ति शुद्ध या अनुकूल नहीं होती। सुख भी मोक्षमार्ग पर चलने से होता है। मोक्षमार्ग के अभाव में यथायोग्य गुणस्थान की प्राप्ति नहीं हो सकती; क्योंकि मार्ग की विषमता से चित्त की स्खलना होती है और इससे गुण की प्राप्ति में वह चित्त विघ्नरूप होता है। ऐसा सरल सत्यमार्ग भगवान् से ही प्राप्त होता है, इसलिए भगवान् मार्गदाता है।

'सरणदयाणं' अर्थात् शरण को देने वाले भगवान् को नमस्कार हो, भय से पीड़ित का रक्षण करना शरण देना कहलाता है। इस संसाररूपी भयंकर अटवी में अतिप्रबल-रागद्वेषादि से पीड़ित जीवों की आत्माएँ दुःख-परम्परा से होने वाले चित्तसंक्लेश से मूढ़ हो जाती हैं। उन आत्माओं को भगवान् तत्वचिन्तनरूप अध्यवसाय का सुन्दर आश्वासन देते हैं; इसलिए वे शरण—आधाररूप है। दूसरे आचार्य कहते हैं— विशेष प्रकार से तत्व जानने की इच्छा ही शरण है। इस तत्वचिन्तन का अध्यवसाय ही जीव को तत्त्व की प्राप्ति होने में कारणरूप हैं। (१) तत्त्वश्रवण की इच्छा, (२) तत्त्व का श्रवण, (३) तत्त्व का ग्रहण, (४) तत्त्व का हृदय में धारण, (५) इससे विशिष्ट ज्ञान (विज्ञान) की प्राप्ति, (६) विज्ञान से विचार-तर्क करना, (७) तत्त्व का निर्णय करना और (८) तत्त्व के प्रति दृढ़ आस्था रखना; ये बुद्धि के आठगुण तत्त्वचिन्तन के अध्यवसाय से प्रगट होते हैं। यदि तत्त्वचिन्तन का अध्यवसाय न हो तो ये गुण प्रगट नहीं होते, अपितु गुणों का आभास होता है; जिससे आत्मा का कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। अतः अनेक दुःखों से किंकर्तव्यविमूढ़ बने हुए जीव को आश्वासन देने वाली और बुद्धि के गुणों को प्रकाशित करने वाली तत्त्वचिन्तारूपी शरण भगवान् से ही प्राप्त होती है। इसलिए भगवान् शरणदाता हैं। तथा **बोहिदयाणं** अर्थात् बोधिदाता भगवान् को नमस्कार हो। बोधि का अर्थ है—श्री जिनेश्वर-प्रणीत धर्म की प्राप्ति होना। बोधि यथाप्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण इन तीन व्यापारों के सामर्थ्ययोग से होती है। पहले कभी भेदन नहीं की हुई रागद्वेष की ग्रन्थी (गांठ) के भेदन करने से; प्रशम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य रूप पांच लक्षणों के प्रगट होने से जीव को तत्त्वार्थ-श्रद्धारूप सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है। अन्य आचार्यों ने **'बोधि'** को **'विज्ञप्ति'** कहा है। अभय, चक्षु, मार्ग, शरण और बोधि ये पांचों अपुनर्बन्धक को प्राप्त होते हैं। जब पुनर्बन्धन के कारण पांचों अपने यथार्थरूप में प्रगट नहीं होते, तब भगवान इन पांचों अपुनर्बन्धक भावों का दान देते हैं। ये पांचों भाव उत्तरोत्तर पूर्व-पूर्व के फलरूप हैं। वह इस प्रकार से है—अभयदान का फल चक्षु की प्राप्ति, चक्षु का फल सम्यक्मार्ग की प्राप्ति, मार्ग का फल शरण की प्राप्ति और शरण का फल बोधि-(सम्यग्दृष्टि) की प्राप्ति है। यह बोधिबीज भगवान् से प्राप्त होता है। अतः भगवान् बोधिदाता हैं। इसप्रकार भगवान् अभयदाता, चक्षुदाता, मार्गदाता, शरणदाता और बोधिदाता हैं। अतः पूर्वकथनानुसार उपयोग-संपदा की सिद्धि हुई। अब **'स्तोतव्यसंपदा'** की ही विशिष्ट उपयोगरूपसंपदा बताते हैं—

'धम्मदयाणं, धम्मदेसयाणं, धम्मनायगाणं, धम्मसारहीणं धम्मवरचाउरंतचक्कवट्टीणं'

'धम्मदयाणं' का अर्थ है—धर्म के दाता भगवान् को नमस्कार हो। यहाँ धर्म का अर्थ चारित्र-(विरति) रूप धर्म लेना चाहिए। और वह धर्म साधुधर्म और श्रावकधर्म के भेद से दो प्रकार का है। साधुधर्म सर्वसावद्य (पापकारी) व्यापार के त्यागरूप है, पाप का आंशिकरूप से त्यागरूप देशविरतिश्रावकधर्म है। इन दोनों धर्मों को बताने वाले भगवान् ही हैं। उन्हीं से ही धर्म मिल सकता है। अन्य हेतु होने पर भी विरतिधर्म की प्राप्ति में प्रधानहेतु भगवान् ही हैं, इस कारण भगवान् को **धर्मदाता** कहा है। धर्मदाता धर्मदेशना के देने से होता है, अन्य कारण से नहीं, इसलिए कहते हैं —**'धम्मदेसयाणं'**=यानी धर्म का उपदेश देने वाले भगवान् को नमस्कार हो। पहले कहे अनुसार दो प्रकार के विरतिधर्म के उपदेष्टा भगवान् का उपदेश कदापि निष्फल नहीं जाता; प्रत्युत भलीभांति सफल होता है; क्योंकि भगवान् जीव की योग्यतानुसार उपदेश देते हैं। अतः भगवान् सच्चे धर्मोपदेशक हैं। तथा **'धम्मनायगाणं'** अर्थात् धर्म के नायक (स्वामी) भगवान् को नमस्कार हो। पहले कहे अनुसार चारित्रधर्म के स्वामी भगवान् ही हैं; क्योंकि उन्होंने धर्म को आत्मसात् किया है; उन्होंने उस धर्म का पूर्ण रूप से उत्कृष्ट

पालन किया है, एवं उसका उत्तम फल भोग रहे हैं। उनके जीवन में धर्म का विघात या विरह कभी नहीं होता; इस कारण वे ही धर्म के नायक हैं। तथा **धम्मसारहीणं**=अर्थात् धर्म के सारथी भगवान् को नमस्कार हो। भगवान् चारित्रधर्म मे सम्यक्प्रवृत्ति और उसका पालन स्वयं करते हैं और दूसरों से करवाते हैं तथा इन्द्रियों का स्वय दमन करते हैं और दूसरों से कराते हैं, इसलिए वे धर्मरूपी रथ के वास्तविक सारथी हैं। तथा **'धम्मवरचाउरंतचक्कवट्टीणं'**=अर्थात् श्रेष्ठ चातुरन्त धर्मचक्रवर्ती श्री अरिहन्त भगवान् को नमस्कार हो। यहाँ धर्म का अर्थ चारित्रधर्म समझना। यह धर्म कष, छेदन और ताप से अत्यन्त शुद्ध होता है। बौद्ध आदि द्वारा कथित धर्म चक्र की अपेक्षा से ठीक है चक्रवर्ती का चक्र केवल इस लोक का ही हितकारी है, जब कि यह विरतिरूप धर्मचक्र तो दोनों लोक में हितकारी है। इस कारण से यह धर्मचक्र सर्वश्रेष्ठ है तथा नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवरूप चार गतिरूप संसार का अन्त करने वाला होने से वह चातुरन्त है। फिर यह विरतिधर्म रौद्रध्यान, मिथ्यात्व आदि भावशत्रुओं का नाश करने वाला होने से चक्र के समान है। इस तरह भगवान् श्रेष्ठ चातुरन्त धर्मचक्र के प्रवर्त्तक धर्मचक्रवर्ती हैं। इस प्रकार **'धर्मदाता'** आदि पांच प्रकार से भगवान् की विशेष उपयोगिता बता कर स्तोतव्य-संपदा की विशेष उपयोगी नाम की उनकी यह छठी संपदा कही। अब बौद्धों की इस मान्यता का खण्डन करते है कि सर्वज्ञ सभी पदार्थों का ज्ञाता नहीं होता, केवल ईष्ट तत्त्वों का ही ज्ञाता होता है। वे कहते हैं—'जगत् की सभी वस्तुओं को अथवा उसके भावों या पर्यायों को जाने या न जाने, सिर्फ इष्टतत्त्वों को जान लेना ही सर्वज्ञ के लिए बस है। ऐसे सर्वज्ञ को कीड़ों की संख्या के परिज्ञान से क्या मतलब है?' उनका खण्डन करने की दृष्टि से कहते हैं—

'अप्पडिहय-वरनाणदंसणधराणं'—अर्थात् अप्रतिहत (खंडित न होने वाले) ज्ञान-दर्शन के धारक भगवान् को नमस्कार हो। यहाँ पर किसी भी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव में खण्डित न हो कर सर्वदा स्थायी एवं अप्रतिबन्धित होने से, इन्हें 'अप्रतिहत' कहा है। तथा समस्त कर्मों के आवरणों का क्षय हो जाने से क्षायिक भाव प्रगट हुआ; उमसे प्रत्येक सर्वश्रेष्ठ विशेष-बोधरूप केवलज्ञान और सामान्य बोधरूप केवलदर्शन को धारण करते हैं, वे अप्रतिहत-ज्ञानदर्शनधारक कहलाते हैं। भगवान् के ज्ञान-दर्शन आवरणों से सर्वथा मुक्त होते हैं और उनसे सभी विषयों का ज्ञान और दर्शन उन्हें होता है। इसमें भी पहले ज्ञान और फिर दर्शन होता है; इस कथन का कारण यह है कि जीव को समस्त लब्धियाँ जब साकार (ज्ञान) का उपयोग होता है; तभी प्रगट होती हैं, इसलिए ज्ञान को प्राथमिकता और विशिष्टता दी है। ऐसे ज्ञान-दर्शनयुक्त ईश्वर को भी कई दार्शनिक 'छद्मस्थ' (संसारी) मानते हैं। उनका कहना है—'धर्मतीर्थ के रचयिता ज्ञानी-पुरुष परमपद मोक्ष को प्राप्त हो जाने पर तीर्थ-(धर्म) रक्षा के लिए फिर संसार में लौट आते हैं। "जिनका कर्मरूपी इंधन जल गया है तथा जो संसार का नाश कर चुके हैं; वे पुन. संसार में जन्म लेते हैं, और स्वयं द्वारा स्थापित धर्म-तीर्थ का कोई नाश कर देगा, इस भय से मोक्ष में गए हुए भी वे वापिस लौट आते हैं।" इस दृष्टि से तो उनका मोक्ष भी अस्थिर है और स्वयं मुक्त भी हैं और संसारी भी हैं। फिर भी दूसरों को मोक्ष देने में शूरवीर हैं। अहो भगवन्! आपके शासन से भ्रष्ट लोगों पर ऐसा विसंवादरूप मोहराज्य का चक्कर चल रहा है! इस मान्यता का खंडन करने के हेतु कहा—**'विअट्टछउमाणं'** अर्थात् आत्मा के ज्ञानादि गुणों को ढकने वाले ज्ञानावरणीय आदि कर्म तथा उस कर्मबन्धन के योग्य जो अशुद्ध संसारी अवस्था-छद्म अवस्था है, वह छद्म-अवस्था उनकी खत्म हो गई है, अतः उन्हें **'विअट्टछउमाणं'** कहते हैं। जिनकी छद्मावस्था चली गई; उन भगवन्तों को नमस्कार हो। जब तक संसार (छद्मावस्था) नष्ट न हो, तब तक मोक्ष नहीं होता, और मोक्ष होने के

बाद उन्हें पुनः जन्म लेने का कोई कारण नहीं रहता। कोई कहते हैं कि जब अपने द्वारा स्थापित धर्मतीर्थ को कोई नष्ट करता हो, उसकी तौहीन करता हो, तब उसका पराभव करने के लिए वे पुनः जन्म लेते हैं ; ऐसा लूलालंगड़ा बचाव करना भी अज्ञानरूप है ; क्योंकि मोह ममता के बिना तीर्थ पर मोह (आसक्ति) तथा उसके पराभव को सहन नहीं करने से द्वेष एवं उसके रक्षण आदि के विकल्प राग-द्वेष-मोह के बिना नहीं हो सकते। अतः ये विकल्प मोहजन्य ही हैं, और ऐसा मोह होने पर भी उनका मोक्ष है अथवा मोक्ष होने पर भी ऐसा मोह है ; बलिहारी है ऐसे मोही ज्ञानियों की ! ऐसा कहना अज्ञानजन्य कोरा मिथ्याप्रलाप है। इस तरह अप्रतिहत श्रेष्ठज्ञानदर्शन के धारक, एवं कर्म और संसार से मुक्त-स्वरूप वाले भगवान् को स्तोतव्य सिद्ध करके स्तोतव्य संपदा के अन्तर्गत साकारस्वरूपसपदा नामकी दो पद की सातवीं सम्पदा बता दी है।

अब **भ्रान्तिमात्रमसदविद्या'** अर्थात् 'जगत् केवल भ्रान्तिरूप है, इस कारण असत् है, और अविद्यारूप है ; इस कथन से सभी भावों को केवल भ्रान्तिरूप मानने वाले अविद्यावादी श्रीअरिहंतदेव को भी परमार्थ से काल्पनिक असत्स्वरूप मानते हैं, उनका खंडन करते हुए कहते हैं—**'जिणाणं जावयाणं** अर्थात् रागादि शत्रुओं को जीतने एवं जिताने वाले जिनेश्वर भगवान् को नमस्कार हो। जीवमात्र में रागद्वेष आदि अनुभवसिद्ध होने से वे भ्रान्तिरूप, असत या काल्पनिक नहीं हैं। यदि कोई कहे कि राग आदि का अनुभव होता है, परन्तु वह है भ्रमरूप ही; यह सर्वथा असत्य है; क्योंकि स्वानुभव भी कल्पनारूप माना जाय, तो जीव का जो सुख-दुःख आदि का अनुभव होता है; वह भी भ्रमरूप हो जायेगा; और इससे मूल सिद्धान्त ही खत्म हो जायेगा। अतः रागद्वेष आदि सत् हैं और उनको जीतने वाले जिन हैं, वे भी सत् हैं, कल्पनारूप नहीं हैं। **'जावयाण'** अर्थात् रागादि को जिताने वाले भगवान् को नमस्कार हो। जिनेश्वर भगवान् सदुपदेश आदि के द्वारा दूसरी आत्माओं को भी राग-द्वेष आदि शत्रुओं पर विजय कराते हैं। प्रत्येक कार्य में काल को कारण मानने वाले अनन्त के शिष्य भगवान् को भी वस्तुतः ससार-समुद्र से तिरे हुए नहीं मानते ; वे कहते हैं —**'काल एव कृत्स्नं जगदावर्तयति'** अर्थात् 'काल ही सारे जगत् को सर्वभावों में परिवर्तित किया करता है ; इसका खंडन करते हुए कहते हैं—**'तिन्नाणं तारयाणं'** अर्थात् स्वयं संसार से तरते (पार उतरते) हैं और दूसरे को संसार-समुद्र से तारते=पार उतारते हैं ; ऐसे भगवान् को नमस्कार हो। भगवान् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-रूपी नौका के द्वारा संसार-समुद्र से पार उतर चुके ; इसलिए स्वयं तीर्ण है। इस कारण संसार से पार होने के बाद फिर उनका संसार में आना सम्भव नहीं है। यदि वे वापिस संसार में आ जाएँ तो मुक्ति असिद्ध हो जायेगी ; अतः मुक्त आत्मा फिर कभी संसारी नहीं बनते। वे जिस तरह स्वयं ससार से पार उतरते हैं, वैसे ही दूसरे को भी पार उतारते हैं, इस तरह भगवान् तारने वाले भी हैं। जो मीमांसक ज्ञान को प्रत्यक्ष नहीं, अपितु परोक्ष मानते हैं, वे तीर्थंकर को बोध-(ज्ञान)वान या बोधदाता नहीं मानते। वे कहते हैं— **अप्रत्यक्षा हि नो बुद्धिः प्रत्यक्षोऽर्थः'** अर्थात्—हमको वस्तु तो प्रत्यक्ष दिखती है, परन्तु बुद्धि तो प्रत्यक्ष नहीं दिखती है। इसलिए बुद्धि आत्मा से परोक्ष है, यदि वह प्रत्यक्ष होती तो पदार्थ के समान वह भी दीखनी चाहिए।' इसका खंडन करने की दृष्टि से कहते हैं—**'बुद्धाणं बोहयाणं'** अर्थात् स्वयं बोध-(ज्ञान) प्राप्त करने वाले और दूसरों को ज्ञान कराने वाले भगवान् को नमस्कार हो। अज्ञान-निद्रा में सोये हुए इस जगत् में तीर्थंकर को जो जीव-अजीव आदि तत्त्वों का ज्ञान होता है, वह दूसरों के उपदेश बिना ही स्वसंविदित होता है ; इससे वे 'बुद्ध' है। जिस ज्ञान से उस ज्ञान का ज्ञान न हो, उस ज्ञान से पदार्थ का ज्ञान भी नहीं हो सकता।

जैसे दीपक स्वयं अदृष्ट रहे और दूसरे पदार्थ को बताए, ऐसा हो नहीं सकता। वस्तुतः दीपक जैसे अपना और दूसरे पदार्थ का, दोनों का ज्ञान कराता है; वैसे ज्ञान भी स्वय का और अन्य का यानी स्व और पर का ज्ञान कराता है। जैसे इन्द्रियां देखती नहीं हैं, फिर भी पदार्थ का ज्ञान कराती हैं, उसी तरह ज्ञान परोक्ष होने पर भी पदार्थ का ज्ञान करा सकता है; क्योंकि पदार्थज्ञान कराने वाली, जो इन्द्रियां हैं, वे तो भावरूप हैं और भावेन्द्रिय ज्ञानरूप होने से आत्मा को प्रत्यक्ष है। कहा है कि-- **'अप्रत्यक्षोपलब्धस्य नार्थदृष्टिः प्रसिद्धयति'** अर्थात् जिस ज्ञान की प्रत्यक्ष प्राप्ति नहीं होती, उससे पदार्थ का ज्ञान भी नहीं होता है। इस तरह भगवान् में बुद्धत्व भी सिद्ध होता है, और परबोधकर्तृत्व (दूसरे को बोध कराना) भी। अतः भगवान् बोधक भी हैं। 'जगत्-कर्त्ता ब्रह्म मे लीन हो जाना ही मुक्ति है'; ऐसा मानने वाले संतपन के शिष्य तीर्थंकर को भी वास्तव में मुक्त नहीं मानते; वे कहते हैं कि **'ब्रह्मवद् ब्रह्मसंगतानां स्थितिः'** अर्थात् जैसी ब्रह्म की स्थिति है, वैसी ही ब्रह्म में मिलने वालों की स्थिति हो जाती है।' उनके मत का खंडन करते हुए कहते हैं -- **मुत्ताणं मोयगाणं** अर्थात् 'कर्मबन्धन से स्वयं मुक्त हुए और दूसरे को मुक्त कराने वाले भगवान् को नमस्कार हो। जिस कर्म का फल चार गति-रूप संसार-परिभ्रमणरूप है, उस विचित्र कर्मबन्धन से भगवान् मुक्त है, वे कृतकृत्य हैं, उनका कार्य पूर्णरूप से सिद्ध हो चुका है। किन्तु जगत्कर्त्ता के ब्रह्म में लीन हो जाने को पूर्णता मानने से सिद्ध आत्मा की पूर्णता नहीं होती। क्योंकि उनके मतानुसार ब्रह्मा पुनः जगत् की रचना करते हैं, इसलिए आत्मा की पूर्णता का कार्य अधूरा ही है। इतना ही नहीं, परन्तु जगत् की रचना मे एक को हीन दूसरे को उत्तम बनाने से ब्रह्मा में रागद्वेष की भी सिद्धि होती है; क्योंकि रागद्वेष के बिना जीवों की सुख-दुःखयुक्त अवस्था कैसे बनाई जा सकती है? कोई किसी में विलीन हो (मिल) जाय, यह बात भी असंगत है; क्योंकि ऐसा होने पर तो उस आत्मा का अस्तित्व ही खत्म हो गया, उसका तो सर्वथा अभाव हो गया। इस कारण जगत्कर्त्ता में मिलने की बात अज्ञानमूलक है। अतः यह सिद्ध हो जाता है कि तीर्थंकर की आत्मा स्वय कर्म से मुक्त होती है, उसी तरह वह दूसरी आत्माओं को (प्रेरणा दे कर) कर्म-बन्धन से मुक्त भी करती है। अतः भगवान् स्वयं मुक्त है और दूसरों को मुक्त कराते हैं। इस तरह भगवान् रागद्वेष को जीतने-जिताने वाले, तरने-तराने वाले, ज्ञानवान एवं ज्ञानदाता, मुक्त और मुक्त कराने वाले होने से वे अपनी तरह दूसरों को भी सुखफल देने वाले हैं। इस तरह चार पद से 'अपने समान दूसरे को फल देने वाले' नाम की आठवीं सपदा कही। अब 'बुद्धि के योग से ज्ञान होता है', ऐसा मानने वाले सांख्यदर्शनकार भगवान् को सर्वज्ञ और सर्वदर्शी नहीं मानते हैं। वे कहते हैं कि **'बुद्धयध्यवसितमर्थं पुरुषश्चेतयते'** अर्थात् बुद्धि से विचारे हुए अर्थ को ही आत्मा जानता है। इसका अर्थ यह हुआ कि आत्मा स्वयं ज्ञान-दर्शन वाला नहीं हो सकता; परन्तु बुद्धि के द्वारा होने वाले अध्यवसाय से ही वह पदार्थ को जान सकता है। उनकी इस मान्यता का खण्डन करते हुए कहते हैं--**"सव्वन्नूणं सव्वदरिसीणं"** अर्थात् समस्त पदार्थों को जाने, वह सर्वज्ञ और सब को देखे, वह सर्वदर्शी है। ऐसे सर्वज्ञाता सर्वद्रष्टा भगवान् को नमस्कार हो। आत्मा का स्वभाव स्वयं जानना और देखना है, परन्तु कर्मरूपी आवरण से वह अपने स्वभाव का उपयोग नहीं कर सकता है, जब कर्म-आवरण हट जाता है, तब ज्ञान-दर्शन-रूप स्व-स्वभाव से आत्मा सर्व पदार्थों को जानता देखता है। कहा भी है कि "आत्मा स्वयं स्वभावतः निर्मल चन्द्र-समान है, चन्द्रकिरणों के समान आत्मा का ज्ञान है। चन्द्र पर जैसे बादल के आवरण आजाते हैं, वैसे ही जीव पर कर्मरूपी बादल छा जाते हैं।" और ऐसा एकान्त भी नहीं है कि आत्मा को बुद्धिरूपी कारण के बिना बुद्धि का फलरूप विज्ञान नहीं होता। वास्तव में

कारण, कार्य की सिद्धि तक ही उपयोगी होता है, उसके बाद उसकी आवश्यकता नहीं है। जीव के कर्म-रूप आवरण, जब तक टूटते नहीं, तब तक बुद्धिरूप कारण की आवश्यकता रहती है, परन्तु सम्पूर्ण आवरण टूटने के बाद आत्मा का ज्ञान स्वभावतः स्वतः प्रगट हो जाता है ; बुद्धि उसके लिए कोई उपयोगी नहीं रहती। जिसमें तरने की शक्ति न हो, उसके लिए नौका आदि उपयोगी होती है ; परन्तु जिसमें तरने की शक्ति प्रगट हो गई हो उसे नौका आदि की आवश्यकता नहीं है। इसी तरह भगवान् में सहज ज्ञानदर्शन गुण पूर्णतया प्रगट हो चुके हैं, फिर उन्हें बुद्धि की आवश्यकता नहीं है, वे उसके बिना सब कुछ जान सकते हैं और देख सकते हैं। अतः बुद्धिरूप कारण के बिना ही वे सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हैं। दूसरे भी ऐसा कहते हैं कि ज्ञान सभी पदार्थों के विशेषधर्म को बताता है और दर्शन सामान्यधर्म को। इसलिए एक दूसरे का विषय नहीं होने से 'सर्व जानते हैं और सर्व देखते हैं ; ऐसा कहना अयुक्त है। कदाचित् ज्ञान और दर्शन दोनों मिल कर सब कुछ जान या देख सकते है, यह कहना युक्तियुक्त है। ज्ञान स्वतन्त्रता से न तो जान सकता है और न देख सकता है, यह कथन भी युक्त नहीं है, क्योंकि वस्तुतः सामान्य और विशेष इन दोनों में भिन्नता नहीं है। जिस पदार्थ में सामान्यधर्म है, उस पदार्थ में विशेष का भी धर्म होता है। अर्थात् सामान्य और विशेष धर्म जिस पदार्थ का है, उसका पदार्थ-रूप धर्म का आधार (धर्मी) एक ही है और इससे उसके उसी भाव को जीव ज्ञानस्वभाव से तारतम्य रूप में और दर्शनस्वभाव से सामान्य-रूप में जानता है और देखता है। क्योंकि सर्वपदार्थ ज्ञान-दर्शन के पृथक्-पृथक् होते हुए भी दो नहीं है। यहाँ फिर शंका करते हैं कि ज्ञान से समस्त पदार्थों का विशेष तारतम्य-रूप धर्म दिखता है, परन्तु उनमें निहित सामान्य धर्म नहीं दिखता, और दर्शन से सर्वपदार्थों में सामान्य धर्म दिखता है ; परन्तु उनमें निहित तारतम्यरूप विशेषधर्म नहीं दिखता। इन दोनों में से प्रत्येक दोनों धर्मों को नहीं जानता ; अपितु, दोनों धर्मों में से केवल एक धर्म को जानता है। किन्तु जो यह मानते हैं कि एक धर्म का ज्ञाता ज्ञान-सर्वज्ञाता है तथा एक ही धर्म का द्रष्टा दर्शन सर्वदर्शी है, यह अनुचित है।' इसका उत्तर यों देते हैं 'यह कहना यथार्थ नहीं हैं ; क्योंकि सामान्य और विशेषरूप धर्म और उसके आधारभूत पदार्थरूप धर्म एकान्ततः भिन्न ही हैं, ऐसा नहीं है। इस कारण गौणरूप में जिनमें सामान्यसत्ता समान है, ऐसे सभी पदार्थों को आत्मा ज्ञान से विशेषरूप में जानता है और गौणरूप में जिनमें विशेषता है, ऐसे सभी पदार्थों को वही आत्मा दर्शन से सामान्यरूप में देखता है ; इस तरह ज्ञान भी सर्वपदार्थ का ज्ञायक है, और दर्शन भी सर्वपदार्थ का दर्शक है। इस तरह भगवान् सम्पूर्ण ज्ञान-दर्शन-गुणयुक्त हैं। इस कारण वे सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हैं।

ऐसा होने पर भी आत्मा को सर्वगत (व्यापक) मानने वाले मुक्त होने के बाद भी आत्मा को सर्वगत मानते हैं ; वे यह नहीं मानते कि मुक्तात्मा किसी नियत स्थान पर रहता है। उनका कहना है—**'मुक्ताः सर्वत्र तिष्ठन्ति व्योमवत्तापवर्जिताः'** अर्थात् मुक्त आत्माएँ आकाश के समान तापरहित हो कर सर्वत्र व्यापकरूप में रहती हैं। उस मत का खंडन करनेहेतु कहते हैं—**सिवमयलमरुयमणंतमक्खयमव्वाबाहमपुण-रावित्ति-सिद्धिगइ-नामधेयं ठाणं संपत्ताणं'** इसमें प्रथम शब्द है **'शिवं'** अर्थात् सर्वउपद्रवरहित, **'अयलं'** यानी अपने स्वभाव से अथवा किसी भी प्रयोग से जो चलायमान न हो, ऐसा अचल है। **अरुयं'** अर्थात् रोग-रहित हैं, क्योंकि व्याधि और वेदना के कारणभूत शरीर और मन का वहाँ अभाव ही है। **'अणंतं'** अर्थात् वहाँ रही हुई आत्माएँ ज्ञानादि अनन्तचतुष्टय से युक्त है। **'अक्खयं'** अर्थात् कभी नाश नहीं होने वाला वह शाश्वत स्थान है, **'अव्वाबाह'** अर्थात् कर्म नहीं होने से बाधा-पीड़ा से रहित स्थान है **'अपुणरावित्ति'**

अर्थात् जिस स्थान से फिर इस संसार में आना अथवा अवतार लेना नहीं होता। **'सिद्धिगई नामधेयं'** अर्थात् जिनका सम्पूर्ण कार्य सिद्ध हो गया है, जो कृतकृत्य हो चुके हैं, जिन जीवों का प्रयोजन समाप्त हो गया है, उनका वह स्थान चौदहवें राजू लोक के ऊपर अनन्तवें भाग में लोक के अग्रभाग पर स्थित सिद्धिगति नाम से पुकारा जाता है. कर्म से मुक्त आत्माओं का ही उस स्थान पर गमन होने से सिद्धिगति, नाम वाला उत्तम 'ठाणं' अर्थात् शुद्धात्माओं के स्थिर रहने का स्थान, व्यवहारनय, से **'सिद्धिक्षेत्र'** कहा जाता है। जैसा कि कहा है—**"इह बोंदि चइत्ताणं तत्थ गंतूण सिज्झइ"** अर्थात् इस मनुष्यलोक के अन्तिम शरीर का त्याग करके, सिद्धक्षेत्र में जा कर सदा के लिए सिद्ध स्थिर हो जाते हैं।' निश्चयनय से तो आत्मा अपने मूल स्वरूप में ही रहता है और अपने स्वरूप में ही आनंद मानता है, सर्वभाव आत्मभाव में रहते हैं, कोई द्रव्य अपने मूलस्वरूप को नहीं छोड़ता है। पहले कहे अनुसार शिवं, अचलं आदि विशेषण मुक्तात्माओं के लिए है, फिर भी स्थान और स्थानी के अभेद से उपचार द्वारा वहाँ रहने वाले स्थानी का लक्षण स्थान में भी घटा देते हैं। **'संपत्ताणं'** इस प्रकार के स्थान को प्राप्त करने वाले अर्थात् सम्पूर्णरूप से कर्मक्षयरूप संसारी-अवस्था से रहित होने से स्वाभाविक आत्म-स्वरूप प्रगट होने से सिद्ध आत्मा अपना शुद्ध स्वरूप प्राप्त करता है। उस आत्मा को विभु-व्यापक मानें तो ऊपर कहे अनुसार व्यवहार और निश्चयनय के उसे सिद्धि-स्थान प्राप्त नही हो सकता, क्योंकि सर्वगत-व्यापक मानने से सदा सर्वत्र एक-स्वरूप में एक सरीखी स्थिति में रहते हैं, कोई भी स्थान नही बदलते हैं और उससे उनका भाव-स्वरूप नष्ट नहीं होता है, वे नित्य हैं। व्यापक आत्मा के लिए ऐसा एकान्ततः घटित नहीं होगा। इसलिए उनकी संसारी अवस्था नष्ट हो गई और वे अपने स्वरूप में रहते हैं उनसे हेरफेर नहीं होता है, इससे यह निश्चय हुआ कि जो क्षेत्र से सर्वव्यापक नहीं है, वे ही संसारी अवस्था-त्यागरूप मोक्ष अथवा सिद्धिगति नामक स्थान को प्राप्त कर सकते हैं। इसलिए ही **'कायाप्रमाणमात्मा'** अर्थात्—आत्मा अपने शरीर-प्रमाण नाप वाला होता है; ऐसा जो कहा है वह यथार्थ वचन है। ऐसे भगवान् को नमस्कार हो। बुद्धिमान् आत्माओं को ऐसे ही भगवन्तों को नमस्कार करने चाहिए।

इस सूत्र में आदि और अन्त में नमस्कार किया है। इससे मध्य में रहे सभी पदों में नमस्कार का सम्बन्ध जोड़ना चाहिए। और भय को जितने वाले भी अरिहंत भगवान् ही हैं ऐसा प्रतिपादन करते हुए उपसंहार करते हैं **'नमो जिणाणं जिअभयाणं'** अर्थात् श्री जिनेश्वर भगवान् को नमस्कार हो तथा जिन्होंने समस्त भयों को जीत लिया है, उन अरिहन्त भगवान् को नमस्कार हो। इस तरह **'सव्वन्नूणं सव्वदरिसीणं'** से ले कर 'नमो जिणाणं जिअभयाणं' तक इन तीनों वाक्यों से ज्ञानदर्शनादि मुख्य गुण, जो कभी क्षय न होंगे, ऐसे मोक्षरूप प्रधानफल की प्राप्ति नाम की नौवी संपदा जानना। यहाँ शंका करते हैं कि क्या एक ही प्रकार के विशेषणों से बार-बार स्तुति करने से पुनरुक्तिदोष नहीं लगता? इसका उत्तर देते हैं कि 'स्तुति आदि बार-बार कहने पर भी पुनरुक्ति दोष नहीं होता। कहा भी है कि 'स्वाध्याय, ध्यान, तप, औषध, उपदेश, स्तुति, दान, और विद्यमान गुणों का कीर्तन बार-बार करने पर भी पुनरुक्ति दोष नहीं माना जाता। इसी प्रकार इस सूत्र में पुनरुक्ति दोष नहीं है। यह **नमुत्थुणं**—नमस्कार कराने वाला होने से नौ सम्पदाओं वाला होने से इसका दूसरा नाम 'प्रणिपातदण्डक' सूत्र भी है। श्री जिनेश्वर भगवान् तीर्थ स्थापना करते हैं, उससे पहले जन्मादि-कल्याण के समय में अपने विमान में बैठे हुए शक्र-इन्द्र महाराज इस 'नमुत्थुणं सूत्र' से तीर्थंकर-प्रभु की स्तुति करते हैं; इस कारण इसे शक्रस्तव-सूत्र भी कहते हैं। इस सूत्र में अधिकतर भाव-अरिहन्त को ले कर स्तुति की गई है; फिर भी स्थापना-अरिहंतरूप तीर्थंकरदेव की प्रतिमा में भाव-अरिहंत का आरोपण करके प्रतिमा के सम्मुख यह

सूत्र बोला जाय तो कोई दोष नहीं है। प्रणिपातदडकसूत्र के बाद अतीत, अनागत और वर्तमान जिनेश्वर भगवान् को वंदन करने के लिए कितने ही लोग निम्नोक्त पाठ भी बोलते हैं—

जे अ अइया सिद्धा, जे अ भविस्संति णागए काले।
संपइ अ वट्टमाणा, सव्वे तिविहेण वंदामि ॥१॥

'अर्थात् जो भूतकाल में सिद्ध हो गये हैं, जो भविष्यकाल में होने वाले हैं और वर्तमानकाल में जो विचरण करते हैं, उन सभी अरिहन्त भगवन्तों को मन, वचन और काया से वन्दन करता हूं।'

इसके बाद जिनप्रतिमा के सम्मुख खड़े हो कर वंदन करने के लिए जिनमुद्रा से '**अरिहंत चेइयाणं**' आदि सूत्र बोलना चाहिए। उन भाव-अरिहन्तों की प्रतिमारूप चैत्य को अरिहंत-चैत्य समझना। चैत्य का अर्थ प्रतिमा है। चित्त का अर्थ है--अन्तःकरण। चित्त के भाव को अथवा चित्त के कार्य को चैत्य कहते हैं। सिद्धहैमशब्दानुशासन के अनुसार **वर्णाद् दृढ़ादित्वात् ट्यण** ॥७।१।५९। सूत्र से चित्त शब्द के ट्यण प्रत्यय लगने से चैत्य शब्द बना है। बहुवचन मे चैत्यानि (चेइयाइं) होता है। श्रीअरिहंत-भगवान् की प्रतिमाएँ चित्त में उत्तम समाधिभाव उत्पन्न करती हैं, इसलिए इन्हें 'चैत्य कहा गया है। **अरिहंत चेइआणं** करेमि काउस्सग्गं अर्थात् उन अरिहंत के चैत्यों को वंदन करने के लिए काउस्सग्ग करता हूँ। अब काउस्सग्ग शब्द का रहस्यार्थ प्रगट करते है--जब तक शरीर से काउस्सग्ग करता हूं, तब तक काया से निश्चेष्ट हो कर जिनमुद्रा की आकृति का वचन से, मौनपूर्वक और मन से चिन्तन करता हूं। सूत्र के अर्थ का आलंबन-रूप ध्यान करता हूं। और इससे भिन्न क्रियाओं का मैं त्याग करता हूं।" यह काउस्सग्ग किसलिए किया जाता है? इसे बताते हैं—**वंदणवत्तियाए**=वंदन-प्रत्ययार्थ अर्थात् मन, वचन और काया की प्रशस्तप्रवृत्तिरूप वदन के लिए। 'काउस्सग्ग द्वारा वन्दन हो। स्पष्टार्थ हुआ --वन्दन करने की भावना से काउस्सग्ग करता हूं, ताकि मुझे वन्दन का लाभ मिले। तथा '**पुअणवत्तियाए**=गन्धवास पुष्प आदि से अर्चना करना पूजा है; उस पूजा के निमित्त से काउस्सग्ग करता हूं। तथा **सक्कारवत्तियाए** अर्थात् श्रेष्ठ वस्त्र, आभूषण आदि से अर्चना करना सत्कार कहलाता है। तथारूप सत्कार के लिए काउस्सग्ग करता हूं। यहाँ शंका होती है कि मुनि के लिए तो द्रव्यपूजा का अधिकार नहीं है। और यह गन्धवास, वस्त्र, आभूषण आदि द्रव्यपूजा है। फिर वे इस प्रकार की द्रव्यपूजा कैसे कर सकते हैं? और श्रावक तो विविध द्रव्यों से पूजन-सत्कार करते ही हैं, तो फिर काउस्सग्गपाठ से पूजन-सत्कार की प्रार्थना करना, उनके लिए निष्फल है। तब फिर वह क्यों की जाय? इसका उत्तर देते हैं - 'साधु लिए स्वयं द्रव्यपूजा करना निषिद्ध है, परन्तु दूसरे के द्वारा कराने अथवा अनुमोदन करने का निषेध नहीं है। उसका उपदेश देने एवं दूसरे के द्वारा श्री जिनेश्वर भगवान् की की हुई पूजा या सत्कार—(आंगी) के दर्शन करने से व हर्ष से अनुमोदना होती है; इसका भी निषेध नहीं है। कहा है कि—

सुव्वइ अ वइररिसिणा कारवणं पि अ अणुट्ठियमिमस्स।
वायगगंथेसु तहा आगया देसणा चेव ॥१॥

"महाव्रतधारी वज्रस्वामी ने द्रव्यस्तव कराने का कार्य स्वयं ने किया है तथा पू० वाचकवर्य श्रीउमास्वातिजी महाराज के ग्रन्थों में इस विषय पर देशना भी की गई है।" इस तरह साधु को द्रव्यस्तव करने का तथा अनुमोदना का अधिकार है; परन्तु स्वयं को करने का निषेध है। तथा श्रावक के लिए संसारबन्धन तोड़ने हेतु इस प्रकार की द्रव्यपूजा करना उचित है। श्रावक जब स्वयं पूजा-सत्कार

करता है, तो उसके भावों में वृद्धि होती है। इस कारण अधिक फलप्राप्ति के लिए काउस्सग्ग द्वारा वह पूजा-सत्कार की प्रार्थना करता है। इस दृष्टि से यह निष्फल नहीं है। अतः साधु-श्रावक को इसका काउस्सग्ग करने में दोष नहीं है। तथा **'सम्माणवत्तियाए'**=सम्मान के लिए काउत्सग्ग किया जाता है। स्तुति-स्तवन आदि करना सम्मान कहलाता है। अन्य आचार्य मानसिक प्रीति को सन्मान कहते हैं। यह वंदन-पूजन-सत्कार-सम्मान किसलिए किया जाता है? इसे बताते हैं **'बोहिलाभवत्तियाए**=अर्थात् अरिहन्त भगवान् द्वारा कथित धर्म की प्राप्तिरूप बोधिलाभ के लिए काउस्सग्ग करता है। यह बोधिलाभ भी किसलिए? इसे कहते हैं—**निरुवसग्गवत्तिआए**=अर्थात् जन्मादि-उपसर्ग से रहित मोक्ष की प्राप्ति से लिए बोधि का लाभ हो। यहाँ शंका होती है कि 'साधु और श्रावक को तो बोधिलाभ पहले से प्राप्त होता ही है; फिर उसकी प्रार्थना किसलिए? और बोधिलाभ का फल मोक्ष है; जो (मोक्ष) उससे होने ही वाला है; फिर उसकी प्रार्थना किसलिए की जाय? इसके उत्तर में कहते हैं किसी भयंकर कर्मोदय के कारण प्राप्त हुई बोधि का नाश भी हो सकता है; इसलिए उसका नाश न हो, इस हेतु से बोधिलाभ की प्रार्थना करना लाभदायक है और जन्मान्तर में मोक्षप्राप्ति हो, इसके लिए भी प्रार्थना करना हितकारी है। और इसके लिए काउस्सग्ग करना उचित है।

इस प्रकार कायोत्सर्ग करने पर भी उसके साथ श्रद्धा आदि गुणों की वृद्धि न हो तो ईष्टकार्य की सिद्धि नहीं हो सकती। इसीलिए कहते हैं— **'सद्धाए**, मेहाए, धिइए, धारणाए, **अणुपेहाए, वड्ढमाणीए ठामि काउस्सग्गं''** अर्थात् श्रद्धा से, मेधा से, धृति से, धारणा से, अनुप्रेक्षा से, इन सबकी वृद्धि के लिए कायोत्सर्ग करता हूँ। क्रमशः विश्लेषण इस प्रकार है—सद्धाए=श्रद्धा से। अर्थात् मिथ्यात्व-मोहनीयकर्म के क्षयोपशम आदि से आत्मा में प्रगट होने वाली और जल को निर्मल करने वाले जलकान्त मणि के समान चित्त को निर्मल करने वाली श्रद्धा से या श्रद्धा के हेतु से काउस्सग्ग करता हूं। जबरन अथवा अन्य कारणों से नहीं करता; परन्तु **मेहाए**=कुशल बुद्धि से। मेधा का अर्थ है – उत्तमशास्त्र समझने में कुशल, पापशास्त्रों को छोड़ने वाली और ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से प्रगट हुई बुद्धि—दूसरों को समझाने की शक्ति। उस मेधा-बुद्धिपूर्वक काउस्सग्ग करता हूं; न कि जड़ता से अथवा मर्यादापूर्वक न कि मर्यादारहित और **धिइए**=धृति से। अर्थात् मन की समाधिरूप धीरता से काउस्सग्ग करता हूं; न कि रागद्वेषादि से व्याकुल बन कर तथा **धारणाए**=अर्थात् श्री अरिहंत भ० के गुणों को विस्मरण किये बिना धारणापूर्वक (गुणस्मरणपूर्वक) करता हूं; न कि सूने मन से तथा **'अणुप्पेहाए'** अर्थात् अरिहन्त भगवान के गुणों का बार-बार चिन्तन करते हुए करता हूं, न कि अनुप्रेक्षा से रहित। तथा **वड्ढमाणीए**=अर्थात् इस प्रकार की वृद्धि के लिए काउस्सग्ग करता हूं। यहाँ श्रद्धा आदि पांचों परस्पर सम्बन्धित हो कर लाभदायक हैं। श्रद्धा हो तो मेधा होती है, मेधा हो तो धीरता होती है, धीरता से धारणा और धारणा से अनुप्रेक्षा होती है; इस तरह क्रमशः वृद्धि होती है तथा **ठामि काउस्सग्गं'** अर्थात् काउस्सग्ग करता हूं। यहाँ फिर प्रश्न होता है कि—'सूत्र के प्रारंभ में **'करेमि काउस्सग्गं'** कहा था, तो फिर **'ठामि काउस्सग्गं'** कहने की क्या आवश्यकता थी? इसका उत्तर देते हैं—'आपका कहना सत्य है, परन्तु शब्दशास्त्र के न्याय से जो निकट (आसन्न) भविष्य में करना हो, उसके लिए **'अभी करता हूँ'**। इस प्रकार का वर्तमानकाल का प्रयोग किया जाता है। **'सत्सामीप्ये सद्वद्'** ॥५।४।१॥ सिद्धहैमशब्दानुशासन के इस सूत्र के अनुसार वर्तमानकाल समीप में हो तो वह वर्तमानकाल का रूप गिना जाता है। इस न्याय से प्रारम्भ में 'करेमि काउसग्गं' कहा गया है; ऐसा कह कर पहले वहाँ 'भंते! आज्ञा दीजिए, अब कायोत्सर्ग करता हूँ'; इस प्रकार काउस्सग्ग करने की आज्ञा मांगी गई है। वह आज्ञारूप क्रियाकाल

है और अन्त में जो पाठ है, वह "अभी काउसग्ग करता हूँ।" इस प्रकार क्रिया की समाप्ति का काल है। इन दोनों में कथंचित् एकरूपता होने से वर्तमान में उसका प्रारंभ बताने के लिए काउस्सग्ग करता हूं ; ऐसा कहा है—

यहाँ सवाल उठता है कि 'क्या काउस्सग्ग में शरीर का सर्वथा (सब प्रकार से) त्याग किया जाता है? इसका उत्तर यह है—ऐसी बात नहीं है। पहले **अन्नत्थ** सूत्र में बताए गये श्वासोच्छ्वास, खांसी आदि कारणों (आगारों) के सिवाय अन्य काया के व्यापारों का त्याग करता हूँ; यह बताने के लिए **अन्नत्थ ऊससिएणं** आदि सूत्र बोल कर उसी तरह **काउस्सग्ग** करना। काउस्सग्ग आठ श्वासोच्छ्वास का ही होता है तथा उसमें नवकारमंत्र ही गिनना चाहिए, ऐसा एकान्त नियम नहीं है ; अपितु यह लक्ष्य-रूप है। चैत्य-वंदन करने वाला अकेला ही हो तो वह काउस्सग्ग के अन्त में 'नमो अरिहंताणं' कह कर काउस्सग्ग पूर्ण करके जिन तीर्थंकरप्रभु के सम्मुख उसने चैत्यवंदन किया है, उनकी स्तुति बोले। यदि चैत्यवंदन करने वाले बहुत से लोग हों तो एक व्यक्ति काउस्सग्ग पार कर स्तुति बोले, शेष व्यक्ति काउस्सग्ग (ध्यान) में स्थिर रहें और स्तुति पूर्ण होने पर सभी 'नमो अरिहंताणं' कह कर काउस्सग्ग पूर्ण करें। उसके बाद इस अवसर्पिणीकाल के भरतक्षेत्र में चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति करे। चूंकि ये चौबीसों तीर्थंकर एक ही क्षेत्र में और वर्तमान अवसर्पिणीरूपी एक काल में हुए हैं। अतः आसन्न (निकट) उपकारी होने से उनकी स्तुति करना परम आवश्यक है। इस दृष्टि से उनकी स्तुति (चतुर्विंशति-स्तव) करने के लिए '**लोगस्स**' का पाठ कहते हैं—

लोगस्ससूत्र अर्थसहित— "**लोगस्स उज्जोयगरे, धम्मतित्थयरे जिणे।**
अरिहंते कित्तइस्सं, चउवीसंपि केवली ॥१॥

लोक के उद्योत कर्ता, धर्मतीर्थ के संस्थापक, रागद्वेष आदि शत्रुओं के विजेता केवलज्ञानी चौबीस श्रीअरिहन्तों (तीर्थंकरों) की स्तुति करूंगा ॥१॥

इस गाथा में 'अरिहंत' शब्द विशेष्य है। इसकी व्याख्या नमोत्थुणं सूत्र में कहे गये अर्थ के अनुसार समझ लेना। उन चौबीस अरिहन्तों का '**कित्तइस्सं**' मैं कीर्तन करूंगा। यानी नामोच्चारणपूर्वक स्तुति करूंगा। राजा आदि अवस्थाओं में वे द्रव्य-अरिहंत कहलाते हैं, लेकिन यहाँ पर भाव-अरिहन्त की स्तुति करनी है, इसलिए जिन्हें केवलज्ञान उत्पन्न हुआ हो, ऐसे भाव-अरिहन्तों की स्तुति करूंगा, ऐसा कह कर तीर्थंकरों का ज्ञानातिशय प्रगट किया गया है। उनकी संख्या बताने के लिए '**चउवीसंपि**' —चौबीस और अपि शब्द के प्रयोग से चौबीस के अलावा और भी जो अरिहन्त तीर्थंकर हैं, उनकी भी स्तुति करूंगा। वे अरिहन्त कैसे हैं? इसे बताते हैं—'**लोगस्स उज्जोयगरे**' अर्थात् धर्मास्तिकाय आदि पांच अस्तिकायरूप लोक को केवलज्ञान से प्रकाशित-उद्योतित करने वाले हैं। यहाँ शंका होती है कि 'केवलज्ञानी कहने से ही लोक-प्रकाशकत्व का समावेश हो जाता है', फिर 'लोक का उद्योत करने वाले, इस प्रकार अलग से कहने की क्या आवश्यकता थी? इसके उत्तर में कहते हैं—'तुम्हारा कथन सत्य है', फिर भी विज्ञानाद्वैतवादी ऐसा मानते हैं कि—'जगत् ज्ञानरूप है। ज्ञान के बिना और कोई भी तत्त्व सत्य नहीं है। जो दिखता है, वह सब भ्रान्तिरूप है।' यहाँ इसका खण्डन करते हुए कहते हैं - प्रकाशक और प्रकाश्य दोनों अलग-अलग हैं। यानी जगत् प्रकाश्य है और ज्ञान प्रकाशक है। इस तरह प्रकाश करने वाला और प्रकाशित की जाने वाली वस्तु दोनों पृथक् हैं। इसे बताने के लिए ही '**लोक को प्रकाशित करने वाले**' ऐसा कहा है। और लोक के उद्योतकर्ता की स्तुति करने वाले भक्तजन

का इससे उपकार भी होता है। अर्थात् लोक-प्रकाशक के कारण वे लोकोपकारी होने से तथा लोक उनके द्वारा उपकृत होने से वे स्तुति करने योग्य हैं। अनुपकारी की स्तुति कोई नहीं करता, इसलिए उनका उपकारित्व बताने के लिए कहते हैं—'**धम्मतित्थयरे**' अर्थात् 'धर्मप्रधान तीर्थ को करने (रचने) वाले।' इसमें धर्म शब्द की व्याख्या पहले कर चुके हैं। तीर्थ उसे कहते हैं, जिसके द्वारा तरा जाय। अतः धर्म की प्रधानता वाला जो तीर्थ होता है, वह धर्मतीर्थ, धर्ममय या धर्मरूप तीर्थ कहलाता है। जहाँ नदियाँ इकट्ठी होती हैं, वह द्रव्यतीर्थ कहलाता है, ऐसे स्थान का, तथा शाक्य आदि द्वारा स्थापित अधर्मप्रधान तीर्थ का निराकरण करने के लिए यहाँ '**धर्म**' शब्द का प्रयोग किया है। अर्थात् धर्म ही संसारसमुद्र से तरने के लिए पवित्र तीर्थ है। ऐसे धर्मतीर्थ के स्थापक धर्मतीर्थंकर कहलाते हैं। ऐसे अरिहन्त भगवान् देवों, मनुष्यों और असुरों से भरी हुई पर्षदा (धर्म-सभा) में बैठ कर अपनी-अपनी भाषा में सभी समझ सकें, इस प्रकार की पैंतीस गुणों से युक्त वाणी से धर्म समझा कर धर्मतीर्थ की स्थापना करते हैं। इस 'धर्मतीर्थंकर' विशेषण से अरिहन्तों का पूजातिशय और वचनातिशय प्रगट किया गया है। अब उनका अपायापगमातिशय बताते हैं—'**जिणे**' अर्थात् रागद्वेष आदि आभ्यंतर शत्रुओं को जीतने वाले की स्तुति करूंगा। उस स्तुति का रूप प्रगट करते हुए कहते हैं—

उसभमजिअं च वंदे संभवमभिणंदणं च सुमइं च।
पउमप्पहं सुपासं, जिणं च चंदप्पहं वंदे ॥२॥

सुविहिं च पुप्फदंतं, सीअल-सिज्जंस-वासुपुज्जं च।
विमलमणंतं च जिणं, धम्मं संतिं च वंदामि ॥३॥

कुंथुं अरं च मल्लिं वंदे मुणिसुव्वयं नमिजिणं च।
वंदामि रिट्ठनेमिं पासं तह वद्धमाणं च ॥४॥

श्री ऋषभदेव और अजितनाथ जिन को वन्दन करता हूँ तथा संभवनाथ, अभिनंदनस्वामी, पद्मप्रभ, सुपार्श्वनाथ और चन्द्रप्रभस्वामी को मैं वन्दन करता हूं ॥३॥ सुविधिनाथ अथवा पुष्पदंत, शीतलनाथ, श्रेयांसनाथ, वासुपूज्य, विमलनाथ अनंतनाथ धर्मनाथ और शान्तिजिन को मैं वंदन करता हूं ॥४॥ कुंथुनाथ, अरनाथ, मल्लिनाथ, मुनिसुव्रतस्वामी और नमिजिन को मैं वन्दन करता हूं और अरिष्टनेमि, पार्श्वनाथ तथा वर्धमान (महावीर) स्वामी को मैं वन्दना करता हूं ॥५॥

उपर्युक्त तीनों गाथाओं का अर्थ एक साथ कह कर अब उसी अर्थ को विभागपूर्वक, यानी सामान्य और विशेषरूप से कहते है, जो तीर्थंकर भगवान् में घटित हो सकता है। उसमें (१) **उसभ**= ऋषभ का सामान्य अर्थ है—जो परमपद-मोक्ष को प्राप्त करता है; वह ऋषभ है। ऋषभशब्द का प्राकृतभाषा में '**उद् ऋत्वादौ** ॥८।१।१३१॥ सूत्र से **उसहो** रूप बनता है। ऋषभ का दूसरा रूप वृषभ भी मिलता है। उसका अर्थ है—वर्षतीति वृषभः अर्थात् जो दुःखरूपी अग्नि से जलते हुए जगत् को शान्त करने के हेतु उपदेशरूपी वर्षा करता है; वह वृषभ है। **वृषभे वा वा** ॥८।१।१३३॥ सिद्धहैम-सूत्र से वृ को उ करने से **उसहो** रूप होता है, उसी का यह **उसभ** रूप है। विशेष अर्थ यों है—भगवान् की जंघा पर वृषभ का लांछन (चिह्न) होने से और माता मरुदेवी ने स्वप्न में सर्वप्रथम वृषभ देखा था, इसलिए भगवान् का नाम वृषभ अथवा ऋषभ रखा गया था। (२) **अजितनाथ**—परिषह आदि से नहीं जीता जा सका, इससे वह अजित है, यह सामान्य अर्थ है। विशेष अर्थ इस प्रकार है—जब भगवान् गर्भ में थे, तब उनकी माताजी राजा के साथ चौपड़ (पासा) खेल रही थी। राजा से नहीं जीतने के कारण

प्रभु का नाम अजित रखा। (३) **संभवनाथ**—जिनमें चौतीस अतिशयरूपी गुण विशेषप्रकार से संभव है, अथवा जिनकी स्तुति करने से 'शं' अर्थात् सुख प्राप्त होता है। इसमें शषोः सः ॥८।१।२६०॥ सूत्र से प्राकृत-नियम के अनुसार शंभव के बदले संभवरूप होता है। यह सामान्य अर्थ है और विशेष अर्थ यह है—भगवान् जब गर्भ में आये थे, तब देश में आशा से अधिक अन्न पैदा होना संभव हुआ, इसलिए उनका नाम संभव रखा। (४) **अभिनन्दनस्वामी**—देवेन्द्रों ने जिनका अभिनंदन किया है तथा प्रभु जब गर्भ में आये थे, तब इन्द्र आदि ने बारबार माता को अभिनन्दन दिया था, इस कारण उनका नाम अभिनंदन रखा। (५) **सुमतिनाथ** सुमति का अर्थ है—जिसकी सुन्दरबुद्धि हो। भगवान् जब माता के गर्भ में थे, तब माता को सुन्दर निश्चय करने वाली मति-बुद्धि प्रगट हुई थी, अतः उनका नाम सुमति रखा। (६) **पद्मप्रभ** निष्पकता-गुण की अपेक्षा से पद्म के समान कान्ति वाले होने से पद्मप्रभ और भगवान् जब गर्भ में थे, तब माता को पद्म-(कमल) की शय्या में सोने का दोहद उत्पन्न हुआ था, जिसे देवता ने पूर्ण किया था तथा प्रभु के शरीर की कान्ति पद्म-(कमल) के समान लाल होने से **पद्मप्रभ** नाम रखा। (७) **सुपार्श्वनाथ** शरीर का पार्श्वभाग जिसका सुन्दर है, उसे सुपार्श्व-(नाथ) कहते हैं। तथा गर्भ में थे, तब माता के भी पास में सुन्दर शरीर था इसलिए उनका नाम सुपार्श्व रखा। (८) **चन्द्रप्रभ**—चन्द्र की किरणों के समान शान्त लेश्या वाली जिसकी प्रभा है, वह चन्द्रप्रभ है; तथा गर्भ के समय माता को चन्द्रपान करने का दोहद उत्पन्न हुआ था और भगवान् के शरीर की प्रभा चन्द्र-समान उज्ज्वल थी इसलिए भगवान् का नाम '**चन्द्रप्रभ**' रखा था। (९) **सुविधिनाथ**—सु अर्थात् सुन्दर और विधि अर्थात् सब विषयों में कुशलता वाले सुविधिनाथ भगवान् थे। प्रभु जब गर्भ में आये, तब से माता को सभी विषयों में कुशलता प्राप्त हुई थी, इससे प्रभु का नाम सुविधिनाथ रखा तथा इन के दांत फूल की कलियों के समान होने से दूसरा नाम पुष्पदंत भी था। (१०) **शीतलनाथ**—सभी जीवों के सताप को हरण करके शीतलता प्रदान करने वाले होने से शीतलनाथ तथा प्रभु गर्भ में थे, तब पिता को पहले से पित्तदाह हो रहा था, जो किसी भी उपाय से शान्त न होता था; परन्तु गर्भ के प्रभाव से माता के हस्तस्पर्श से वह शान्त हो गया, इसलिए उनका नाम **शीतलनाथ** रखा गया था (११) **श्रेयांसनाथ**—सारे जगत् में प्रशस्त अथवा श्रेयस्कर भुजाएँ आदि होने से श्रेयांस कहा। तथा प्रभु गर्भ मे थे, तब किसी के भी उपयोग में न आई, देवाधिष्ठित शय्या के सर्वप्रथम उपयोग का श्रेय माता को प्राप्त हुआ था, इससे उनका नाम श्रेयांस रखा (१२) **वासुपूज्यस्वामी**—धर, ध्रुव, सोम, अह, अनिल, प्रत्यय और प्रभास एवं आठ वसु जाति के देव हैं, उनके पूज्य होने से वसुपूज्य तथा भगवान् गर्भ में थे, तब से वसु यानी हिरण्य (सोने) से इन्द्र ने राजकुल की पूजा की थी, इस कारण वासुपूज्य अथवा वसुपूज्य राजा के पुत्र होने वासुपूज्य कहलाए। (१३) **विमलनाथ** जिसका मल चला गया है, उसे विमल कहते हैं। अथवा ज्ञान-दर्शन आदि गुणों से जो निर्मल है, वह विमल होता है तथा प्रभु गर्भ में आए तब उनके प्रभाव से माता की मति और शरीर निर्मल होने से भगवान् का नाम **विमल** रखा (१४) **अनन्तनाथ**—अनन्त कर्मों पर विजय पाने वाले अथवा अनन्त ज्ञान-दर्शन आदि गुणों से विजयवान होने से अनन्तजित् कहलाते हैं; तथा जब प्रभु गर्भ में थे, तब माता ने अनन्त रत्नमाला देखी थी अथवा आकाश में अन्त-रहित महाचक्र देखा था; जो तीनों जगत् में विजयी बनाता है, इस कारण **अनन्तजित्** का सक्षिप्त नाम अनन्त रखा। भीमसेन को जैसे भीम कहा जाता है, वैसे ही अनन्तजित् को अनन्त कहा जाने लगा। (१५) **धर्मनाथ**—दुर्गति में पड़ते हुए जीवों को जो धारण करता है, वह धर्म है और भगवान् जब गर्भ में आये थे, तब से माता दानादि धर्म में तत्पर बनी, इससे उनका नाम 'धर्मनाथ' रखा (१६) **शान्तिनाथ**—

शान्ति का योग होने से, स्वयं शान्ति-स्वरूप होने से और दूसरे के लिए शान्तिदाता होने से शान्तिनाथ नाम हुआ। और प्रभु गर्भ में थे तब उनके प्रभाव से देश में उत्पन्न हुई महामारी आदि उपद्रव की शान्ति होने से पुत्र का नाम शान्ति रखा (१७) **कुन्थुनाथ** कु अर्थात् पृथ्वी, उसमें रहने वाले होने से निरुक्त अर्थ कुन्थु हुआ। प्रभु जब गर्भ में आये थे, तब उनके प्रभाव से माता ने रत्नों के कुन्थु यानी ढेर को देखा था, इससे उनका नाम कुन्थुनाथ रखा (१८) **अरनाथ** -सर्वोत्तम महा सात्त्विक, कुल की समृद्धि के लिए उत्पन्न हुए, अतः उनका नाम वृद्ध पुरुषों ने 'अर' रखा, है और गर्भ के प्रभाव से माता ने स्वप्न में रत्नों का अर अर्थात् आरा देखा था, इससे उनके नाम 'अर' रखा (१९) **मल्लिनाथ**—परिषह आदि मल्लों को जीतने वाले; निरुक्त के अनुसार मल्लि का यह अर्थ किया गया है तथा भगवान् जब गर्भ मे थे तब माता को छह ऋतुओं के फूलों की सुगन्धमय मालाओं की शय्या में सोने का दोहद उत्पन्न हुआ था। जिसे देवता ने पूर्ण किया। इससे उनका नाम 'मल्लि' रखा (२०) **मुनिसुव्रतस्वामी**—जगत् की त्रिकाल-अवस्था को जाने अथवा उस पर मनन करे उसे मुनि कहते है; "**मनेरुदेतौ चास्य वा**' उणादि ६१२, व्याकरण के इस सूत्रानुसार मन् धातु के इ प्रत्यय लग कर उपान्त्य अ को उ होने से 'मुनि' शब्द बना तथा सुन्दर व्रत वाले होने से सुव्रत हुआ। इस तरह मुनिसुव्रत शब्द निष्पन्न हुआ। तथा भगवान् जब गर्भ में आये, तब उनके प्रभाव से माता को मुनि के समान सुव्रत पालन की इच्छा हुई, इससे उनका नाम मुनि-सुव्रत रखा (२१) **नमिनाथ** परिषह और उपसर्ग को नमाने (हराने) वाले होने से नमि कहलाये, '**नमेस्तु वा**' उणादि ६१३ सूत्र के द्वारा विकल्प से उपान्त्य में इकार करने से नमि रूप बनता है। जब गर्भ थे, तब उनके प्रभाव से नगर पर चढ़ कर आया हुआ शत्रुराजा भी नम (झुक) गया, इस कारण उनका नाम 'नमि' रखा। (२२) **नेमिनाथ** चक्र की वर्तुलाकार नेमि के समान धर्मचक्र को चलाने वाले और गर्भ के प्रभाव से माता ने रिष्टरत्नों का महानेमि (गोलाकार चक्र) स्वप्न में देखा था, इससे रिष्टनेमि तथा पूर्वदिशा के लिए जैसे अपश्चिम शब्द का प्रयोग किया जाता है, वैसे ही वहाँ निषेध-वाचक 'अ' लगाने से 'अरिष्टनेमि नाम रखा। (२३) **पार्श्वनाथ**—जो सभी भावों को देखता है, वह पार्श्व है, यह निरुक्त अर्थ है, तथा प्रभु जब गर्भ में थे, तब उनके प्रभाव से माता ने अंधकार में सर्प देखा था यह गर्भ का प्रभाव है, ऐसा जान कर पश्यति अर्थात् दिखाई दे वह पार्श्व है, तथा पार्श्व नाम के वैयावृत्य (सेवा) करने वाले यक्ष के नाथ होने से पार्श्वनाथ नाम पड़ा। भीमसेन को भीम कहा जाता है, वैसे पार्श्वनाथ को पार्श्व भी कहा जाता है। (२४) **वर्धमानस्वामी**—जब से उत्पन्न हुए तब से ज्ञान आदि गुणों में वृद्धि की अथवा भगवान् जब माता से गर्भ में आये थे, तब उनके ज्ञाति, कुल, धन, धान्य आदि समृद्धि में वृद्धि होने लगी, इससे पुत्र का नाम वर्धमान रखा। आगे चल कर इनका अतुल पराक्रम देख कर देवों ने 'महावीर' नाम रखा। नामों के अर्थ वाली श्री भद्रबाहुस्वामी-रचित यहाँ बारह गाथाएँ अंकित हैं, जिनका अर्थ ऊपर कहे हुए अर्थ में आजाने से यहाँ पर दुबारा नहीं लिखते।

इस तरह चौवीस तीर्थंकर भगवान् के नामपूर्वक कीर्तन करके अब चित्त की शुद्धि के लिए प्रार्थना करते हैं -

एवं मए अभित्थुआ, विहुअरयमला पहीणजरमरणा।
चउवीसं पि जिणवरा, तित्थयरा मे पसीयंतु ॥५॥

इस प्रकार मेरे द्वारा नामपूर्वक स्तुति किए गए, कर्मरूपी मल से रहित और जरा और मरण से मुक्त चौबीस जिनवर श्री तीर्थंकरदेव मुझ पर प्रसन्न हों ॥५॥

'एवं'=इस तरह **'मया'**- मेरे द्वारा, **'अभित्थुआ'** =नामोल्लेखपूर्वक मैंने जिनकी स्तुति की है, वे जिनेश्वर तीर्थंकरदेव मुझ पर प्रसन्न हों। इस गाथा में प्रयुक्त शब्दों के विशेष वर्णन करने के लिए कहते हैं— **'विहुअरयमला'** रज और मलरूपी कर्मों को जिन्होंने दूर किया है। बंधते हुए कर्मों को रज और पहले बंधे हुए कर्मों को मल कहते हैं। अथवा बद्धकर्मों को रज और निकाचित कर्मों को मल कहते हैं। अथवा गमनागमन आदि क्रिया से वीतरागदशा में बंधते हुए कर्मों को रज और सराग-अवस्था में कषाय के उदय से बंधते हुए कर्मों को मल समझना चाहिए। उक्त रज और मलरूप कर्मों को जिन्होंने नष्ट कर किया है और इससे ही **'पहीण-जरमरणा'** अर्थात् कर्मरूप कारण के अभाव में जिनके जरा-मरण आदि दुःख नष्ट हो गये हैं। वे **'चउवीसंपि'** अर्थात् ऋषभ आदि चौबीस और अपि शब्द से अन्य भी **'जिणवरा'** अर्थात् जिनेश्वर भगवान्। यानी श्रुतकेवली आदि जिनों में उत्कृष्ट केवलज्ञानी होने से मुख्य और **'तित्थयरा'** अर्थात तीर्थ की स्थापना करने वाले तीर्थंकर देव **'मे'** अर्थात् मुझ पर **'पसीयंतु'** प्रसन्न हों। यद्यपि तीर्थंकर भगवान् रागद्वेष से रहित हैं, इसलिए उनकी स्तुति करने से वे तुष्ट अथवा निन्दा करने से रुष्ट नहीं होते। फिर भी स्तुति करने वाले को स्तुतिफल और निन्दा करने वाले को निन्दाफल अवश्य ही मिलता है। जैसे चिंतामणि रत्न, मन्त्र आदि में राग-द्वेष नहीं होने पर भी उनकी आराधना करने से लाभ और विराधना करने से हानि के रूप में फल अवश्य मिलता है। ऐसा ही श्रीवीतराग केवली भगवान् आदि के लिए समझना चाहिए। हमने **'श्रीवीतराग-स्तोत्र'** में कहा है- 'जो प्रसन्न नहीं होते उनकी ओर से फल किस तरह से मिल सकता है? यह कल्पना करना उचित नहीं। क्या जड़ चिन्तामणि आदि फल नहीं देते?' तो यहाँ फिर शंका की जाती है कि 'यदि स्तुति करने से तीर्थंकर प्रसन्न नहीं होते तो फिर **'प्रसन्न हों'** ऐसी प्रार्थना करना व्यर्थ है; ऐसा व्यर्थ प्रलाप क्यों किया जाय?' इसके उत्तर में कहते हैं—'ऐसी बात नहीं है, क्योंकि भक्तिवश ऐसा कहने में दोष नहीं है। कहा भी है —'क्षीणक्लेश वाले वीतराग भगवान् चाहे प्रसन्न न होते हों, फिर भी उनकी स्तुति करना निष्फल नहीं है, क्योंकि स्तुति करने से भावों की शुद्धि तो होती ही है, कर्मों की निर्जरा भी होती है। अतः स्तोता का अपना प्रयोजन सफल होता है। तथा—

कित्तिय-वंदिय-महिया, जे ए लोगस्स उत्तमा सिद्धा।
आरूग्गबोहिलाभं, समाहिवरमुत्तमं दिंतु ॥६॥

जो लोक में सर्वोत्तम सिद्ध हो गये हैं, उन तीर्थंकर भगवान् की मैं मन वचन और काया से स्तुति करता हूँ। कीर्तन-वंदन-स्तवन से वे मुझे आरोग्य, बोधिलाभ और उत्तमसमाधि प्रदान करें ॥६॥

'कित्तिय' अर्थात् प्रत्येक का नामपूर्वक कीर्तन करने से, **'वंदिय'** अर्थात् तीनों योग (मन वचन और काया) से सम्यग्प्रकार से स्तुति करने से **'महिया'** अर्थात् पुष्पादि से पूजा करने से, किसी स्थान पर **मइया'** ऐसा पाठान्तर है, उसका संस्कृत में रूप होता है—**मयका-मया अर्थात्** मेरे द्वारा, कीर्तित, वन्दित और स्तुत (स्तुति किये हुए) ऐसे कौन? उसे कहते हैं—**जे ए लोगस्स उत्तमा** अर्थात् जो कर्ममल नष्ट हो जाने से सर्वजीवलोक में उत्तम हैं, और **'सिद्धा'** अर्थात् सिद्ध हो चुके हैं, कृतकृत्य हो गये हैं। वे **'आरूग्ग-बोहिलाभं'** अर्थात् आरोग्यस्वरूप मोक्ष और इसका कारणभूत बोधिलाभ-अरिहन्त-प्रणीत सम्यग्धर्मप्राप्ति मुझे दें। ऐसा धर्म किसी भी सांसारिक पौद्गलिक सुख की अभिलाषा के बिना केवल मोक्ष-प्राप्ति के लिए ही किया जाता है। वही वास्तव में धर्म माना जाता है। अतः

मोक्ष के लिए बोधिलाभ की प्रार्थना करना और उसके लिए 'समाहिवर' अर्थात् परम स्वस्थचित्तरूप भावसमाधि अर्थात आत्मा का समभाव, 'उत्तमं' वह भी अनेक भेद वाले तारतम्यभाव से रहित सर्वोत्कृष्ट समाधि 'दिंतु' अर्थात् प्रदान करें ; ऐसी वीतराग प्रभु के प्रसन्न न होने पर भी भक्ति से प्रेरित हो कर ऐसी प्रार्थना करना युक्तियुक्त है। कहा भी है—क्षीणरागद्वेष वाले श्रीवीतराग समाधि अथवा बोधिबीज नहीं देते ; फिर भी भक्ति से इस तरह की प्रार्थना करना ; असत्यामृषारूप व्यवहार-भाषा है। जगत् में सभी व्यवहारों में व्यवहारभाषा बोली जाती है। इसलिए यह प्रार्थना भक्तिरूप होने से लाभदायक है। तथा—

चंदेसु निम्मलयरा, आइच्चेसु अहियं पयासयरा।
सागरवरगंभीरा, सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु ॥७॥

चन्द्रों से भी अधिक निर्मल, सूर्यों से भी अधिक प्रकाशकर्त्ता स्वयम्भूरमण समुद्र से भी अधिक गम्भीर सिद्ध भगवान् मुझे सिद्धिपद दें ॥७॥

चंदेसु में 'पञ्चम्यास्तृतीया' ॥८।३।१३६॥ इस सूत्र से प्राकृतभाषा में पंचमी विभक्ति के अर्थ में सप्तमी प्रयुक्त हुई है। इसलिए **चंदेसु** के स्थान पर संस्कृत में **चन्द्रेभ्यः** जानना। **निम्मलयरा**= अतिनिर्मल अर्थात् सारे कर्ममल नाश हो जाने से अनेक चन्द्रों से भी अतिनिर्मल। कहीं **'चंदेहिं'** ऐसा पाठान्तर भी है। **'आइच्चेसु अहियं पयासयरा'** अर्थात् अनेक सूर्यों के प्रकाश से भी अधिक प्रकाशकर्त्ता। सूर्य सीमित क्षेत्रों में प्रकाश करते हैं ; जबकि अरिहन्त केवलज्ञानरूपी सूर्य के प्रकाश से लोकालोक के सभी पदार्थों को प्रकाशित करते हैं। कहा भी है—चन्द्रमा, सूर्य और ग्रहों की प्रभा परिमितक्षेत्र में प्रकाश करती है ; किन्तु केवलज्ञान की प्रभा तो लोक-अलोक को सर्वथा प्रकाशित करती है। तथा **'सागरवरगंभीरा'** अर्थात् परिषहों उपसर्गों आदि से क्षुब्ध न होने वाले, स्वयंभूरमण-समुद्र के समान गम्भीर, **सिद्धा** अर्थात् कर्मरहित होने से कृतकृत्य हुए सिद्धभगवान् **'सिद्धिं मम दिसंतु'** अर्थात् परमपद-मोक्ष मुझे दें।

इस तरह चौबीस जिनेश्वर भगवन्तों की स्तुति करके सारे जगत् में विद्यमान तीर्थंकर-प्रतिमाओं को वंदन आदि करने के लिए, कायोत्सर्ग करने के हेतु **'सव्वलोए अरिहंत-चेइआणं करेमि काउस्सग्ग'** से ले कर **अप्पाणं वोसिरामि** तक का पाठ बोले, इसका अर्थ, अरिहंत चेइआणं और अन्नत्थ-सूत्र में पहले कह आए हैं। केवल **'सव्वलोए'** शब्द का अर्थ नहीं कहा गया था। सव्वलोए का अर्थ है—ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और तिर्यक्-लोक। इन तीनों लोकों में से अधोलोक में चमरेन्द्र आदि के भवन हैं, तिर्यक्लोक में द्वीप, पर्वत, और ज्योतिष्क विमान हैं और ऊर्ध्वलोक में सौधर्म देवलोक आदि के विमान है, जहाँ शाश्वत जिनप्रतिमाएँ है। प्रत्येक मन्दिर में मूल प्रतिमा समाधि का कारण-रूप होने से, सर्वप्रथम मूलनायक की स्तुति करके, तत्पश्चात् सभी अरिहन्तों के गुण एक सरीखे होने से, समग्र लोक के समस्त तीर्थंकरों की सर्वप्रतिमाओं का ग्रहण करके काउस्सग्ग करना। उसके बाद **'नमो अरिहंताणं'** कह कर सर्वतीर्थंकरों की साधारण स्तुति बोलना। क्योंकि काउस्सग्ग किसी और का किया जाय और स्तुति किसी अन्य की बोली जाय तो अतिप्रसंग दोष होता है ; जो उचित नहीं माना जाता। इसलिए सभी तीर्थंकर भगवन्तों की साधारण (Common) स्तुति करनी चाहिए।

अब जिससे उन अरिहन्तों और उनके द्वारा कहे हुए भावों को स्पष्टरूप से जान सकें, ऐसे दीपक के समान सम्यक्श्रुत की स्तुति करनी चाहिए। उस श्रुत के वक्ता आप्तपुरुष अरिहन्त भगवान् की सर्वप्रथम स्तुति करते हैं—

पुक्खरवरदीवड्ढे धायइसंडे अ जंबूदीवे अ।
भरहेरवय-विदेहे धम्माइगरे नमंसामि ॥१॥

पुष्करवरद्वीप में, अर्धद्वीप, धातकीखंड, और जम्बूद्वीप में विद्यमान भरत, ऐरावत और महाविदेहरूप कर्मभूमियों में श्रुत धर्म की आदि करने वाले श्री तीर्थंकरों को नमस्कार करता हूं ॥१॥

व्याख्या—'**भरहेरवयविदेहे**'—अर्थात् भरतक्षेत्र, ऐरावतक्षेत्र और महाविदेह क्षेत्र में यहां समाहारद्वन्द्व-समास करने और भीमसेन का भीम की तरह संक्षिप्त रूप करने से **भरतैरावतविदेह**' शब्द बना है। '**धम्मा**' यानी श्रुत धर्म के, **आइगरे** अर्थात् सूत्र में आदि करने वाले तीर्थंकर भगवान् को **नमंसामि**=नमस्कार करता हूं। उक्त क्षेत्र कहाँ-कहाँ हैं? इसे कहते हैं—**पुक्खरवरदीवड्ढे**=उसे पुष्करवर इसलिए कहा है कि वह पद्मकमल से भी श्रेष्ठ है। यह जम्बूद्वीप से तीसरा द्वीप है। उसके अंदर आधेभाग में मानुषोत्तर पर्वत है, इसलिए उसे पुष्करवरद्वीपार्ध कहा है, उसमें दो भरत, दो ऐरावत और दो महाविदेहक्षेत्र, यों छह क्षेत्र हैं। **धायईसंडे** अर्थात् धातकी नाम के वृक्षों का खण्ड। उस वन में धातकीवृक्षों का बाहुल्य होने से उसका नाम धातकीखंड है। उसमें दो भरत, दो ऐरावत, दो महाविदेह ऐसे छह क्षेत्र है तथा **जबूदीवे**=जम्बू नाम के वृक्षों की प्रधानता होने से इसका नाम जम्बूद्वीप है। एक भरत, एक ऐरावत और एक महाविदेह, ऐसे तीन क्षेत्र हैं। सभी मिला कर ६+६+३=१५ कर्मभूमियाँ हैं; शेष अकर्मभूमि है। इसलिए कहा है—'**भरतेरावतविदेहाः कर्मभूमयोऽन्यत्र देवकुरूत्तरकुरुभ्यः** (तत्त्वार्थसूत्र ३-१६) अर्थात् देवकुरु और उत्तरकुरु के सिवाय भरत, ऐरावत और महाविदेह-क्षेत्र कर्मभूमियाँ हैं। यहाँ पर पहले पुष्करवर बाद में धातकीक्षेत्र और उसके बाद जम्बूद्वीप इस तरह व्युत्क्रम से जो कहा है; वह उन क्षेत्रों की विशालता व मुख्यता बताने की दृष्टि से कहा है। भगवद्वचनों को जो अपौरुषेय व अनादि मानते हैं; उनके मत का खण्डन **धम्माइगरे** (धर्म के आदिकर्ता) शब्द से किया गया है, उस पर तर्क-वितर्क हम पहले कर चुके हैं, वहीं से समझ लेना। प्रश्न है—तीर्थंकर धर्म की आदि करने वाले हैं; यह कैसे कह सकते हैं? क्योंकि '**तप्पुव्विआ अरहया**' अर्थात् उस श्रुतज्ञान के वचनपूर्वक ही अरिहंत होते हैं, इससे सिद्ध हुआ कि श्रुतज्ञान अरिहंत भगवान् के पहले से अनादि से था। इसका उत्तर देते हैं 'ऐसा नहीं है; श्रुतज्ञान और तीर्थंकर भगवान् कारणकार्यसम्बन्ध से बीज और अंकुर के समान हैं। जैसे बीज से अंकुर और अंकुर से बीज होता है; वैसे ही भगवान् भी पहले तीसरे भव (जन्म) में श्रुतधर्म के अभ्यास से तीर्थंकरत्वप्राप्ति और तीर्थंकरत्व से श्रुतधर्म के आदि करने वाले हैं। ऐसा कहने में कोई आपत्ति नहीं है। श्रुतज्ञानपूर्वक ही अर्हन्त होते हैं, ऐसा नियम नहीं है, क्योंकि मरुदेवी आदि को श्रुतधर्म के अभाव में भी केवलज्ञान हुआ था, ऐसा सुना जाता है। केवलज्ञान के शब्द-श्रवण करने से और श्रुतधर्म के अर्थ को जानने से उनको सर्वज्ञत्व प्राप्त होता है। अब श्रुतधर्म की स्तुति कहते हैं कि—

तमतिमिरपडल-विद्धंसणस्स सुरगणनरिंदमहिअस्स।
सीमाधरस्स वंदे, पप्फोडिअ-मोहजालस्स ॥२॥

अज्ञानरूपी अन्धकार के पटल को नष्ट करने वाले, देवसमूह, राजा, चक्रवर्ती आदि से पूजित, मर्यादा को धारण करने वाले और मोहजाल के सर्वथा नाशक श्रुतज्ञान को वन्दन करता हूँ।

तम=अज्ञान और 'तिमिर'=अंधकार अर्थात् अज्ञानरूपी अन्धकार अथवा स्पृष्ट, बद्ध और निधत्त ज्ञानावरणीयकर्म अज्ञान=तम है ; और निकाचित ज्ञानावरणीयकर्म तिमिर-अन्धकार है, उनका **पडल**=समूह ; उसका '**विद्धंसणस्स**'=नाश करने वाला अर्थात् अज्ञान और बद्धकर्म का नाशक और **सुरगणनरिंद-महिअस्स** अर्थात् भवनपति आदि चार निकायों के देवों, तथा चक्रवर्ती, राजा आदि द्वारा से पूजित। सुरासुर आदि आगम की महिमा करते हैं। **सीमाधरस्स**' का अर्थ है—मर्यादा को धारण करने वाले श्रुतज्ञान को। मर्यादा का मतलब है—कार्य-अकार्य, भक्ष्य अभक्ष्य, हेय-उपादेय, धर्म-अधर्म आदि सब की व्यवस्था (मर्यादा) श्रुतज्ञान में ही रहती है। क्वचित् द्वितीयादेः ॥८।३।१३४॥ इस सूत्र से कर्म के अर्थ में द्वितीया के स्थान पर प्राकृत में षष्ठी विभक्ति होती है। **पप्फोडियमोहजालस्स** अर्थात् मिथ्यात्व आदि रूप मोहजाल को जिसने तोड़ दिया है, वंदे=उस श्रुतज्ञान को मैं वन्दन करता हूं, अथवा उसके माहात्म्य को नमस्कार करता हूं। सम्यग्श्रुतज्ञान की प्राप्ति होने के बाद विवेकी आत्मा में राग-द्वेष-कषायादि की मूढता नहीं रहती, उसका विनाश हो जाता है। इस प्रकार श्रुतज्ञान की स्तुति करके उसी ही के गुण बता कर अप्रमाद-विषयक प्रेरणा करते हुए कहते हैं—

> **जाइ-जरा-मरण-सोग-पणासणस्स, कल्लाण-पुक्खल-विसाल-सुहावहस्स।**
> **को देव-दाणव-नरिंद-गणच्चिअस्स, धम्मस्स सारमुवलब्भ करे पमायं ॥३॥**

जन्म, जरा, मृत्यु तथा शोक का सर्वथा नाश करने वाले, कल्याण और प्रभूत विशाल सुख को देने वाले, अनेक देव-दानव-नरेन्द्रगण आदि द्वारा पूजित धर्म (श्रुतचारित्ररूप) के सार-प्रभाव को जान कर कौन बुद्धिमान मनुष्य धर्म की आराधना में प्रमाद करेगा ?

को=कौन बुद्धिमान, **धम्मस्स**=श्रुतधर्म के **सारं**=सामर्थ्य को '**उवलब्भ**'=प्राप्त कर—जान कर, धर्माचरण में, **करे पमायं**=प्रमाद करेगा ? अर्थात् कोई भी समझदार मनुष्य उसमें प्रमाद नहीं करेगा। इस धर्म का सामर्थ्य कैसा है ? उसे कहते हैं—**जाइ-जरा-मरण-सोग-पणासणस्स** अर्थात् जन्म, बुढ़ापा, मृत्यु और मन के शोक आदि दुःखों को मूल से सर्वथा नष्ट करने वाले। श्रुत (शास्त्र) में कहे अनुसार धर्म का अनुष्ठान करने से जन्म, जरा का निश्चय ही नाश होता है। श्रुतज्ञान के आधार पर धर्माचरण में सभी अनर्थों के नाश करने का सामर्थ्य हैं; '**कल्लाण**'=कल्य यानी आरोग्य और अणति=लाता है, वह कल्याण=मोक्ष है। **पुक्खल**=पुष्कल=बहुत, जरा भी कम नहीं; परन्तु **विशाल**=विस्तृत **सुहावहस्स**=सुख की प्राप्ति कराने वाला, अर्थात् श्रुत के अनुसार धर्म का अनुष्ठान करने वाले को अपवर्ग=मोक्ष-सुख प्राप्त होता है, तथा **देव-दाणव-नरिंदगणच्चिअस्स**=वह धर्म (श्रुत-चारित्ररूप) देव, दानव, और चक्रवर्ती आदि के समूह से पूजित है। अतः बुद्धिशाली उसकी आराधना में प्रमाद न करे।' ऊपर कहे अनुसार धर्म के रहस्य को प्रगट करने वाले श्रुतज्ञान में अचिंत्य सामर्थ्य है, उसे कहते हैं—

> **सिद्धे भो ! पयओ णमो जिणमए, नंदीसया संजमे।**
> **देवं-नाग-सुवण्ण-किन्नर-गणस्सब्भूअभावच्चिए ॥**
> **लोगो जत्थ पइट्ठिओ जगमिणं तेलुक्कमच्चासुरं।**
> **धम्मो वड्ढउ सासओ विजयओ, धम्मुत्तरं वड्ढउ ॥४॥**

सुज्ञजनो ! सिद्ध एवं सदा संयमधर्म के अभिवर्द्धक जिनमत (धर्म) को प्रयत्न (आदर) पूर्वक नमस्कार करता हूं, जो सुर, नागकुमार, सुपर्णकुमार, किन्नरगण आदि असुरों द्वारा सच्चे भावों से पूजित है। जिस धर्म के आधार पर यह लोक टिका हुआ (प्रतिष्ठत) है। तथा जिसमें धर्मास्तिकाय आदि सारे द्रव्य एवं तीनों लोक के मनुष्य व सुर-असुर आदि अपने-अपने स्थान पर रहे हुए हैं। ऐसे संयम-पोषक तथा श्रुतज्ञान-समृद्ध एवं दर्शनयुक्त प्रवृत्ति से शाश्वतधर्म की वृद्धि हो और विजय की परम्परा से चारित्र-धर्म की नित्य वृद्धि हो।

'सिद्धे' का अर्थ है—सफल (यानी यह जिनधर्म निःसंदेह फलयुक्त है) अथवा सिद्ध का अर्थ है—सभी नयों मे धर्म व्यापक होने के कारण अथवा सर्वनय इसमें समाविष्ट हो जाते हैं, इस कारण यह सिद्ध है। अथवा कष, छेद, और तापरूप त्रिकोटि से परीक्षित होने के कारण शुद्ध रूप में होने से सिद्ध है। अथवा यह सिद्ध विशेषण श्रुत-आगमरूप है **'भो ! = पश्यन्तु भवन्तः'** आदरपूर्वक आमंत्रण करते हुए कहते हैं--'अजी' आप देखिये तो सही कि इतने अर्से तक मैंने यथाशक्ति सदा संयमाभिवर्द्धक जिस जिन-धर्म की आराधना में प्रसन्नतापूर्वक प्रयत्न किया है, उस जिनमत को नमस्कार हो --**'णमो जिणमए ।'** इस इस प्रकार प्रयत्नशील मैं दूसरों की साक्षी में नमस्कार करता हूँ। यहाँ प्राकृत भाषा के अनुसार चतुर्थी विभक्ति के अर्थ मे सप्तमी विभक्ति हुई है। इस श्रुतज्ञानरूप धर्म के योग में **'नंदी सया संजमे'** अर्थात् हमेशा चरित्र में आनंद और सयम में वृद्धि होती है। श्रीदशवैकालिक सूत्र में कहा है कि **'पढमं नाणं तओ दया'** अर्थात् पहले ज्ञान और बाद में दया (संयम) होती है। वह संयमधर्म कैसा है ! उसे कहते हैं **'देवं-नाग-सुवण्ण-किन्नरगणस्सब्भूअ भावच्चिए'** अर्थात् वैमानिक देव, धरणेन्द्र, नागदेव, सुपर्णकुमार, किन्नर, व्यन्तरदेव उपलक्षण से ज्योतिषी आदि सभी देव उस संयमधर्म का शुद्ध अन्तःकरण के भाव से पूजन करते हैं। यहां देव पर अनुस्वार है, वह छंदशास्त्र के नियमानुसार पादपूर्ति के लिए समझना चाहिए। तथा देवता आदि से हमेशा संयमी पूजित हैं ही। और जिनधर्म का वर्णन करते हैं—**'लोगो जत्थ पइट्ठिओ जगमिणं'** अर्थात् जिस जिनमय धर्म में लोक-दृश्यमान लोक या जिस (ज्ञानालोक) से सारा जगत् देखा जाय, उस ज्ञान से यह संसार प्रतिष्ठित हैं, क्योंकि जितना भी शुद्ध ज्ञान है वह जिनागम के अधीन है; यह जगत् तो ज्ञेयरूप में है। तात्पर्य यह है कि जिनदर्शनरूप आगम की सेवा करने से ही ज्ञान प्रगट होता है और ज्ञान जिनागम में है तथा समस्त जगत् भी आगम से देखा या समझा जाता है। इसलिए यह जगत् भी जिनागम में ही निहित है। कितने ही मनुष्य इस दृश्यमान लोक (सृष्टि) को जगत् मानते हैं, वह ठीक नहीं। इसीलिए यहाँ जगत् का विशेषण दिया है—**'तेलुक्कमच्चासुरं'** अर्थात् मनुष्य, देव व उपलक्षण से शेष सभी जीव यानी ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और तिर्यक्लोकरूप आधारजगत् और उसमें रहे हुए सभी जीव-अजीवादिभावरूप आधेयजगत् है। इस तरह आधाररूप आधेयरूप सारा जगत् जिनदर्शन में प्रतिष्ठित है। इसप्रकार जिनमतरूप यह **'धम्म'** (श्रुत-चारित्ररूप) धर्म **'सासओ'** कभी नाश न होने वाला=अविनाशी धर्म; **वड्ढउ**=बढ़े। वह किस तरह से ? **'विजयओ धम्मुत्तरं'** अर्थात् मिथ्यावादियों पर विजय पाता हुआ तथा श्रुतधर्म की आराधना के बाद चारित्रधर्म में **वड्ढउ**=वृद्धि हो। श्रुतधर्म की आराधना से चारित्रगुण में वृद्धि होती है, इसलिए कहा—'मोक्षार्थी को हमेशा ज्ञानवृद्धि करनी चाहिए और तीर्थंकर-नामकर्म के कारणों में एक कारण यह भी बताया है—**'अपुव्वनाणगहणे'** अर्थात् अपूर्व अभिनव, ज्ञान-ग्रहण करने से तीर्थंकर-नामकर्म बन्धन होता है।

यह प्रार्थना मोक्षबीज के समान होने से वास्तव में अशंसारहित है। इसलिए यह

प्रणिधान=प्रार्थना करके ; श्रुत को ही वन्दन करने के लिए कायोत्सर्ग के निमित्त **'सुअस्स भगवओ करेमि काउस्सग्ग** का पाठ—'वंदण वत्तियाए' से ले कर **'अप्पाणं वोसिरामि'** तक बोलना चाहिए। इसका अर्थ पहले कह आये हैं। केवल **'सुअस्स भगवओ'** का अर्थ बाकी है। श्रुतभगवान् का अर्थ है—प्रथम सामायिक सूत्र (करेमि भंते सूत्र) से ले कर बिन्दुसार नाम के दृष्टिवाद के अन्तिम अध्ययन तक अर्थात् द्वादशांगीरूप समग्र 'श्रुत'; यश, प्रभाव आदि भगों से=ऐश्वर्यों से युक्त होने से भगवत्स्वरूप श्रुतभगवान् की आराधना करने के लिए काउस्सग्ग करता हूं। इसके बाद पहले की तरह काउसग्ग पार कर श्रुत की तीसरी स्तुति बोलना चाहिए। तत्पश्चात् श्रुत में कही हुई अनुष्ठान-परम्परा के फलरूप सिद्ध भगवान् को नमस्कार करने के लिए निम्नोक्त गाथा बोले—

'सिद्धाणंणं बुद्धा पारगयाणं परंपरगयाणं।
लोअग्गमुवगयाणं, नमो सया सव्वसिद्धाणं ॥१॥

सिद्ध, बुद्ध, संसार-पारंगत एवं परम्परा से सिद्ध बने हुए, लोक के अग्रभाग पर स्थित सर्वसिद्धों को सदा मेरा नमस्कार हो ॥१॥

'सिद्धाणं'—अर्थात् सिद्ध यानी कृतकृत्य बने हुए, जो गुणों से सिद्ध हैं, पूर्ण हो गए हैं, भौतिक विषयों की जिन्हें कोई भी इच्छा नहीं है। पकाये हुए चावल फिर से नहीं पकाए जाते, उसी तरह सिद्ध हुए, फिर किसी भी प्रकार की साधना की इच्छा नहीं रखते। ऐसे सिद्ध-भगवन्तों को नमस्कार करता हूँ। इस प्रकार वाक्यसम्बन्ध जोड़ लेना चाहिए। उसमें भी सामान्यतया कर्म आदि अनेक प्रकार से सिद्ध होते हैं। जैसे कि शास्त्रों की टीका में कहा है—कर्म, शिल्प, विद्या, मन्त्र, योग, आगम, अर्थ, यात्रा, अभिप्राय, तप, और कर्मक्षय इस प्रकार इन ११ बातों में सिद्ध होते हैं। (१) **कर्मसिद्ध**—किसी आचार्य के उपदेश के बिना ही किसी ने भार उठाने, खेती करने, व्यापार करने, इत्यादि कार्यों में से कोई कर्म बारबार किया और उस कर्म में वह सह्यगिरि-सिद्ध के समान निष्णात हो गया, तब उसे कर्मसिद्ध कहते हैं। (२) **शिल्पसिद्ध**--किसी आचार्य के उपदेश से कोई लुहार, सुथार, चित्रकला आदि शिल्पकलाओं में से किसी कला का अभ्यास करके कोकास सुथार के समान पारंगत हो जाता है ; वह शिल्पसिद्ध होता है। (३-४) **विद्यासिद्ध, मंत्रसिद्ध**—होम, जाप आदि से फल देने वाली विद्या कहलाती है, और जप आदि से रहित केवल मन्त्र बोलने से सिद्ध हो, वह मन्त्र है। विद्या की अधिष्ठायिका देवी होती है, जबकि मन्त्र का अधिष्ठायक देव होता है। किसी विद्या का अभ्यास करते-करते किसी ने सिद्धि प्राप्त कर ली हो, वह आर्य खपुटाचार्य के समान विद्यासिद्ध कहलाता है। और किसी मन्त्र को सिद्ध कर ले, वह स्तम्भाकर्ष के समान मन्त्रसिद्ध हो जाता है (५) **योगसिद्ध**—अनेक औषधियों को एकत्रित करके लेप, अंजन आदि तैयार करने में निष्णात हो, वह आर्य समिताचार्य के समान योगसिद्ध कहलाता है (६) **आगमसिद्ध**—आगम अर्थात् द्वादश (बारह) अंगों एवं उपांगों तथा सिद्धान्तों, नय-निक्षेपों आदि प्रवचनों व उसके असाधारण अर्थों का गौतमस्वामी के समान विज्ञाता आगमसिद्ध होता है (७) **अर्थसिद्ध**—अर्थ अर्थात् धन। मम्मन के समान दूसरों की अपेक्षा जो अत्यधिक धन प्राप्त करने में कुशल हो, वह अर्थसिद्ध होता है (८) **यात्रासिद्ध**—जलमार्ग अथवा स्थलमार्ग में जो निर्विघ्न रूप से तुण्डिक के समान यात्रा पूर्ण कर चुका हो, वह यात्रासिद्ध होता है (९) **अभिप्रायसिद्ध**—जिस कार्य को जिस तरह करने का अभिप्राय (इरादा) किया हो, उसे अभयकुमार के समान उसी तरह सिद्ध कर ले, वह अभिप्रायसिद्ध कहलाता है (१०) **तपःसिद्ध**—दृढ़प्रहारी के समान जिसमें सर्वोत्कृष्ट तप करने का सामर्थ्य प्रगट हो गया हो, वह तपःसिद्ध है और (११) **कर्मसिद्ध**—मरुदेवी माता के समान ज्ञानावरणीय आदि

आठ कर्मों को मूल से नष्ट करने से जो सिद्ध हो जाता है, या हुआ है ; वह कर्मसिद्ध कहलाता है। ऊपर कहे हुए ११ प्रकार के सिद्धों में से दस को छोड़ कर यहाँ ग्यारहवें **कर्मसिद्ध** को ग्रहण करना चाहिए। ऐसे कर्मसिद्ध को नमस्कार करने के कारण साधक सिद्ध हो जाता है।

'बुद्धाणं' अर्थात् बोधित। अज्ञानरूपी निद्रा में सोये हुए जगत् में दूसरों के उपदेश बिना जीवादि तत्त्वों के स्वरूप को जान कर बोधित हुए। अर्थात् बोध—(ज्ञान) होने के बाद कर्मों का सर्वथा नाश करके जो सिद्ध हुए हैं, उनको मेरा नमस्कार हो! कोई दार्शनिक यह कहते हैं कि—'सिद्ध सिद्धावस्था में संसार और निर्वाण का त्याग करके रहते हैं, जगत् के कल्याण के लिए वे संसार या निर्वाण में नहीं रहते, और जगत् उनका स्वरूप नहीं जान सकता। वे चिन्तामणिरत्न से भी बढ़कर और महान् हैं।' उनके मत का खण्डन करने हेतु कहते हैं—**पारगयाणं** = संसार का पार पाने वाले यानी संसार के प्रयोजन का अन्त पाने वाले, सिद्धों को नमस्कार हो। इस विषय में यदृच्छावादियों का कहना है—जैसे कोई दरिद्र सहसा राजा हो जाता है, वैसे जीव भी सहसा सिद्ध हो जाता है ; इसमें क्रम जैसी कोई वस्तु नहीं है; इस बात का खण्डन करते हुए कहते हैं —**परंपरगयाणं** इस का अर्थ है—परम्परा से बने हुए सिद्ध। तात्पर्य यह है--परम्परा से चौदह गुणस्थानक के क्रम से जिन्होंने आत्मा का पूर्ण विकास कर लिया है, वे ; अथवा किसी प्रकार कर्म के क्षयोपशम आदि के योग से प्रथम सम्यग्दर्शन फिर सम्यग्ज्ञान और उसके बाद सम्यक्चारित्र ; इस क्रम से गुणों का विकास करते हुए परम्परा से सिद्धरूपमोक्षस्थान जिन्होंने प्राप्त किया है, उन्हें नमस्कार करता हूं। कितने ही दार्शनिक मोक्ष का स्थान, जो नियत है, उसे अनियत मानते हैं। उनका कहना है—'जब आत्मा के संसार का अथवा अज्ञानरूपी क्लेश का नाश होता है, तब वह आत्मा रहता तो इसी संसार में है, मगर उसका विज्ञान स्थिर रहता है, और क्लेश का सर्वथा अभाव हो जाने से इस संसार में उसे कदापि लेशमात्र भी बाधा अथवा दुःख नहीं होता है, उनकी इस मान्यता का खण्डन करने के लिए कहते हैं—**लोयग्गमुवगयाणं** = लोक के अग्रभाग में चौदह राजू लोक पर अन्त भाग में 'इषत्प्राग्भारा' नाम की सिद्धशिला पृथ्वी है, उसके 'उप' यानी समीप में ; न कि अन्य स्थान में। सभी सिद्ध कर्मों का क्षय करके उसी स्थान पर स्थित हैं। कहा भी है—'जहाँ सिद्ध की एक आत्मा है, वहीं पर कर्मों का क्षय करके जन्ममरण से मुक्त हुई अनंत दूसरी सिद्ध आत्माएँ एक दूसरे को बाधा पहुंचाए बिना, अनंतसुख-युक्त सुख से रहती हैं, उन्हें मेरा नमस्कार हो। यहाँ शंका करते हैं कि 'जब सभी कर्मों का क्षय हो जाता तब जीव की लोकाग्र तक गति किस तरह होती है? इसका उत्तर देते हैं कि 'पूर्व-प्रयोग आदि के योग से वे सिद्ध जीवगति करते हैं।' कहा है कि — पूर्वप्रयोग की सिद्धि से अर्थात् जैसे धनुष्य से छूटा हुआ बाण पूर्वप्रयोग से स्वयं अपने आप आगे जाता है ; उसी तरह जीव कर्म से मुक्त होने पर अपने आप ऊर्ध्वगति करता है। फिर शंका होती है कि 'जीव सिद्धिक्षेत्र से आगे, ऊँचे, नीचे या तिरछे क्यों नहीं जाता ? इसका समाधान करते हैं कि 'गुरुत्व अर्थात् कर्म का वजन समाप्त हो जाने से और नीचे जाने का और कोई कारण न होने से मुक्त जीव नीचे नहीं जाता है, मिट्टी से लिप्त तुम्बा नीचे जाता है, परन्तु मिट्टी दूर होते ही वह ऊर्ध्वगमन करता है ; वैसे ही जीव कर्म से लिप्त हो, वहाँ तक नीचे रहता है, कर्मरहित होते ही वह ऊर्ध्वगमन करता है। जैसे पानी की सहायता के बिना पानी की सतह पर ऊँचाई में नौका नहीं जाती है वैसे ही जीव भी गति में सहायक धर्मास्तिकाय के न होने से लोकान्त से ऊपर नहीं जाता है ; अपितु ऊपर जा कर लोक के अन्त-भाग में रुक जाता है। और तिरछीगति में कारणरूप योग अथवा उसका व्यापार (प्रवृत्ति) नहीं होने से, तिरछी गति भी नहीं करता है। अतः सिद्ध की लोक के अग्रभाग तक ही उर्ध्वगति होती है।

'नमो सया सव्वसिद्धाणं' अर्थात् जिनके सर्वसाध्य सिद्ध हो गए हैं, अथवा जो तीर्थसिद्ध आदि अलग-अलग रूप में सिद्ध हुए हैं, उन सर्वसिद्धों को मैं सदैव नमस्कार करता हूँ। सिद्ध (परमात्मा) के १५ प्रकार ये हैं—(१) तीर्थसिद्ध, (२) अतीर्थसिद्ध, (३) तीर्थंकरसिद्ध, (४) अतीर्थंकर-सिद्ध, (५) स्वयंबुद्धसिद्ध, (६) प्रत्येकबुद्धसिद्ध, (७) बुद्धबोधितसिद्ध, (८) स्त्रीलिंगसिद्ध, (९) पुरुषलिंगसिद्ध, (१०) नपुंसकलिंग-सिद्ध, (११) स्वलिंग-सिद्ध, (१२) अन्यलिंग-सिद्ध, (१३) गृहस्थलिंग-सिद्ध, (१४) एकसिद्ध और (१५) अनेकसिद्ध।

(१) **तीर्थसिद्ध**—तीर्थ=चतुर्विध श्रमण (साधु) संघ में रहते हुए जो सिद्ध हुआ हो, वह तीर्थसिद्ध है। (२) तीर्थ का विच्छेद हो गया हो अथवा तीर्थ के बीच का अन्तरकाल हो, जब साधुसंस्था का विच्छेद हो गया हो, तब जातिस्मरण आदि ज्ञान के योग से साधना करके मुक्त हुआ हो, अथवा मरुदेवी माता की तरह तीर्थ-स्थापना होने से पहले ही सिद्ध हो जाए अथवा अन्य तीर्थ में भी ज्ञानादि रत्नत्रय की साधना करके मुक्त हो जाय, वह अतीर्थसिद्ध कहलाता है। (३) तीर्थंकर-पद प्राप्त करके सिद्ध हुए भगवान् तीर्थंकरसिद्ध कहलाते हैं। शेष सामान्य केवली हो कर जो सिद्ध हुए हों, वे सभी अतीर्थंकर-सिद्ध हैं। (५) अपने आप बोध (ज्ञान) प्राप्त करके सिद्ध हुए हों, वे स्वयबुद्धसिद्ध हैं। (६) जो प्रत्येक-बुद्ध हो कर सिद्ध हुए हों, वे प्रत्येकबुद्धसिद्ध हैं। स्वयंबुद्ध और प्रत्येकबुद्ध मे बोध-(ज्ञान) की प्राप्ति में, उपधि में, श्रुतज्ञान में और वेष में परस्पर अन्तर होता है। स्वयबुद्ध किसी बाह्य निमित्त या उपदेश के बिना ही बोधित होता है, और प्रत्येकबुद्ध जैसे करकंडु राजा को बैल की वृद्धावस्था देख कर बोध हुआ था, वैसे किसी न किसी बाह्य निमित्त से विरक्तिजनक बोध होता है। स्वयंबुद्ध पात्र आदि बारह प्रकार की उपधि (धर्मोपकरण) रखता है, जबकि प्रत्येकबुद्ध तीन प्रकार के वस्त्र छोड़ कर शेष नौ प्रकार की उपधि रखता है। स्वयबुद्ध को पूर्वजन्म में पढ़े हुए पूर्वों का ज्ञान वर्तमानकाल में रहे ही, ऐसा नियम नहीं। जबकि प्रत्येकबुद्ध को वह ज्ञान अवश्य रहता है। स्वयंबुद्ध साधुवेश को प्राप्त कर गुरुमहाराज के सानिध्य में भी दीक्षा ग्रहण करता है, जबकि प्रत्येकबुद्ध को नियम से देवता साधुवेश देता है, इस प्रकार से इन दोनों मे अन्तर है। (७) ज्ञानी आचार्य आदि के उपदेश से बोध प्राप्त करें और मुक्त हों, वे बुद्धबोधितसिद्ध कहलाते हैं। (८) और इन सभी प्रकार से कितनी ही स्त्री-रूप में सिद्ध होती हैं, वे स्त्रीलिंगसिद्ध कहलाते है। (९) पुरुषरूप में जो मुक्त होते हैं, वे पुरुषलिंगसिद्ध होते हैं। (१०) नपुंसकरूप में जो मोक्ष प्राप्त करते हैं, वे नपुंसकलिंगसिद्ध होते हैं। यहाँ शंका होती है कि 'क्या तीर्थंकर भी स्त्रीलिंग में सिद्ध हो सकते हैं? इसका उत्तर देते है कि 'हाँ हो सकते हैं; **सिद्धपाहुड** (सिद्धप्राभृत) में बताया है कि 'सबसे कम स्त्रीलिंग तीर्थंकर सिद्ध होते हैं, स्त्रीतीर्थंकर के शासन में अतीर्थंकरसिद्ध असंख्यातगुने होते हैं, उनसे स्त्री-तीर्थंकर के तीर्थ में अतीर्थंकर स्त्रीस्वरूप में सिद्ध असंख्यातगुने हैं और इनसे तीर्थंकर के तीर्थ में अतीर्थंकरसिद्ध संख्यातगुने होते हैं अर्थात् तीर्थंकर भी स्त्रियों में सिद्ध होते हैं और उनके तीर्थ में सामान्य केवली अतीर्थंकर और स्त्रीरूप में अतीर्थंकर आदि भी सिद्ध होते हैं। परन्तु उन दोनों में अतीर्थंकर सिद्धों की संख्या अधिक होती है, यानी असंख्यातगुनी ज्यादा होती हैं। तीर्थंकरसिद्ध नपुंसकलिंग में नहीं होते हैं तथा प्रत्येकबुद्धसिद्ध पुरुषलिंग में ही होते हैं। (११) रजोहरण (ओघा) आदि द्रव्यलिंगरूप स्वलिंग में सिद्ध होते हैं, वे स्वलिंगसिद्ध कहलाते हैं। (१२) परिव्राजक आदि अन्यलिंग-(वेश) में सिद्ध=मुक्त होते हैं; वे अन्यलिंगसिद्ध हैं। (१३) मरु-देवी आदि गृहस्थलिंग में सिद्ध हुए हैं, वे गृहस्थलिंग सिद्ध होते हैं। (१४) एक समय में एक ही सिद्ध हो, वहाँ एकसिद्ध और (१५) एक समय में उत्कृष्ट १०८ सिद्ध हुए हों, वहाँ अनेकसिद्ध कहलाते हैं।

इस तरह सिद्ध-(मुक्त) होने के विभिन्न १५ प्रकार हैं। इसलिए कहा भी है कि—एक से ले कर बत्तीस तक साथ में सिद्ध हों तो उत्कृष्ट आठ समय लगता है। तैंतीस से अड़तालीस तक साथ में सिद्ध होने पर उत्कृष्ट सात समय में, उनचास से साठ तक साथ में सिद्ध होने वाले उत्कृष्ट छः समय में, इकसठ से बहत्तर तक सिद्ध होने वाले उत्कृष्ट पांच समय में, तिहत्तर से चौरासी तक सिद्ध होने वाले को उत्कृष्ट चार समय में, पचासी से छियानवे तक सिद्ध होने वाले उत्कृष्ट तीन समय में, सतानवे से एक सौ दो तक साथ सिद्ध होने वाले उत्कृष्ट दो समय में, और एकसौ तीन से एक सौ आठ तक साथ में सिद्ध होने वाले उत्कृष्ट एक समय में मोक्ष जाते हैं। उसके बाद निश्चय ही अन्तर पड़ता है। सिद्ध के जो १५ भेद कहे हैं, उनमें प्रथम तीर्थसिद्ध और बाद में अतीर्थसिद्ध कहा है, इन दोनों में शेष भेद समाविष्ट हो सकते हैं ; क्योंकि तीर्थकरसिद्ध आदि का तीर्थसिद्ध में अथवा अतीर्थसिद्ध में समावेश हो सकता है। फिर अन्य भेद की क्या आवश्यकता है ? इसका उत्तर देते हैं, आपका तर्क उचित है, फिर भी दो ही भेद कहने से सर्वसाधारण को अन्य भेदों का ज्ञान नहीं हो सकता ; इसलिए दूसरे भेदों को बताना जरूरी है. मगर उन्हें उत्तरभेद कहा जा सकता है ! इस तरह सामान्यरूप से सर्वसिद्धों की स्तुति करके निकट उपकारी वर्तमान शासनाधिपति श्री महावीरस्वामी की स्तुति करते हैं—

जो देवाण वि देवो, जं देवा पंजली नमंसंति।
तं देवदेवमहिअं, सिरसा वंदे महावीरं ॥२॥

जो देवों के भी देव हैं, जिनको देव दोनों हाथ जोड़ कर नमस्कार करते हैं, तथा जो इन्द्रों से पूजित हैं, उन श्री महावीर स्वामी को मस्तक झुका कर वन्दन करता हूं ॥२॥

'**जो**'—भगवान् महावीर स्वामी '**देवाण वि** अर्थात् भवनपति आदि सभी देवों के भी पूज्य होने से **देवो=देव** हैं '**जं देवा पंजली नमंसंति**=अर्थात् उन देव को मैं भी विनयपूर्वक दो हाथ जोड़ कर नमस्कार करता हूँ। '**तं देवदेवमहिअं**' अर्थात् वे देवों के भी देव इन्द्रादि से पूजित **महावीरं**—भगवान् महावीर स्वामी को '**सिरसा वंदे**' अर्थात् मस्तक से वंदन करता हूं। मस्तक से वंदन करता हूं, यह कथन अत्यन्त आदरपूर्वक सत्कार बताने के लिए किया है। अब महावीर कैसे हैं ?' इसे विशेषण द्वारा बताते हैं—सर्वथा कर्मों का नाश करने वाले अथवा जो विशेष पराक्रम से मोक्ष में जाते हैं, उन्हें वीर कहते हैं, और उन वीरों में भी महान् वीर भगवान् महावीर हैं, ऐसा देवताओं ने नाम दिया ; उनको मस्तक झुका कर नमस्कार करता हूं। इस प्रकार से स्तुति करके फिर परोपकार के लिए और अपने आत्मभावों की वृद्धि के लिए स्तुति का फल बताने वाली गाथा कहते हैं—

इक्को वि नमुक्कारो, जिणवरवसहस्स वद्धमाणस्स।
संसारसायराओ, तारेइ नरं व नारीं वा ॥३॥

'जिनवरों में उत्तम श्रीवर्धमान स्वामी को किया हुआ एक बार भी नमस्कार, नर या नारी को संसार-सागर से तार देता है।'

'**इक्को वि नमुक्कारो** अर्थात् बहुत बार नमस्कार करने की बात तो दूर रही, केवल एक बार ही नमस्कार—जो द्रव्य से मस्तकादि झुकाने के रूप में शरीर को संकोच करने से और भाव से मन की एकाग्रतारूप नमन (संकोचलक्षण) से '**जिणवरवसहस्स**'=यहाँ 'जिन' कहने से श्रुतजिन, अवधिजिन आदि जिनों से भी बढ़कर केवली जिन, और उनमें भी वर=श्रेष्ठ होने से जिनवर हैं, सामान्य केवलियों में भी तीर्थंकर नामकर्म के उदय वाले भगवान् उत्तम होते हैं। अतः जिनवरों में वृषभसमान। यों तो ऋषभदेव आदि सभी तीर्थंकर वृषभ के समान उत्तम हैं, इस लिए यहाँ पर विशेष नाम कहते हैं, '**वद्धमाणस्स**'

अर्थात् श्री वर्धमान स्वामी को आदरपूर्वक किया हुआ एक बार भी नमस्कार। इस नमस्कार से क्या होता है ? **'संसार सागराओ तारेइ'** अर्थात् तिर्यंच, नारक, मनुष्य और देवरूप जीवों का परिभ्रमण-संसरण ही संसार है, इस संसार में भवस्थिति एवं काय-स्थिति आदि अनेक प्रकार की अवस्था होने से समुद्र के समान उसका पार करना बड़ा कठिन होता है। अतः संसार ही सागर है. इस संसार-सागर से तार देता है- पार उतार देता है। किसको ? **नरं व नारीं वा'** अर्थात् पुरुष अथवा स्त्री को। जैनधर्म में पुरुष की प्रधानता बताने के लिए पहले पुरुष के लिए कहा है, और स्त्रियों को भी उसी भव में तारते हैं, अथवा कर्मक्षय करके संसारसमुद्र को पार करके वे भी मोक्ष में जा सकती हैं, यह बताने के लिए 'नारीं वा' शब्द ग्रहण किया है। दिगम्बरजैन सम्प्रदाय में यापनीय तंत्र (संघ) नामक एक उपसम्प्रदाय है, जो स्त्री को मुक्ति मानता है' वहाँ प्रश्न उठाये गये हैं, क्या स्त्री स्वयं अजीव है ? ऐसा नहीं है। तो फिर क्या वह अभव्य है ? ऐसा भी नहीं है। उसको सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता ? ऐसा भी नहीं है। मनुष्य नहीं है ? ऐसा भी नहीं है। क्या अनार्यरूप में ही उत्पन्न होती है ? ऐसा भी एकान्त नहीं है। असंख्यात वर्ष की आयुष्य वाली युगलिनी ही है ? एकान्त ऐसा भी नहीं है। क्या अतिक्रूरबुद्धि वाली ही है ? ऐसा भी नहीं है। अशुद्ध शरीर वाली ही है ? सर्वथा ऐसा भी नहीं है। क्या वज्रऋषभनाराच संघयण वाली नहीं होती ? ऐसा भी पूर्णतया नहीं है। स्त्री धर्मप्रवृत्ति से रहित नहीं है, अपूर्वकरण गुणस्थानक की विरोधिनी नहीं हैं, अर्थात् वह स्वयं अपूर्वकरण वाली ही होती है, स्त्री में सर्वविरतिरूप छठे गुणस्थानक से चौदहवें गुणस्थानक तक होता है, नौवें गुणस्थान तक ही रहती है, ऐसा भी नहीं है वह ज्ञानादिलब्धिगुण प्राप्त करने में अयोग्य है, ऐसा भी नहीं है। तथा एकान्ततः अकल्याणपथगामिनी है ; ऐसा भी नहीं है, तो फिर स्त्रियाँ उत्तमधर्म (मोक्ष) की साधना नहीं कर सकतीं ; ऐसा क्योंकर कहा जा सकता है ? मतलब यह है कि स्त्रियाँ भी मोक्षमार्ग की साधना कर सकती हैं, और इसी भव में मोक्ष प्राप्त कर सकती हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि 'सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के बाद उत्तमभाव से किया हुआ एक बार का नमस्कार ही संसारसागर से पार उतारने वाला है। जो भी स्त्री या पुरुष ऐसा उत्तम अध्यवसाय प्रगट करता है ; वह उस अध्यवसाय से क्षपकश्रेणी प्राप्त कर संसारसमुद्र से पार हो जाता है। इस तरह मोक्ष प्राप्त कराने वाले अध्यवसाय में नमस्कार कारणरूप है। फिर भी उपचार से कारण को कार्यरूप में मान कर नमस्कार को ही संसार से पार उतारने वाला कहा है। यहाँ प्रश्न होता है कि नमस्कार से ही मोक्ष मिल जाता है तो फिर चारित्रपालन का क्या कोई फल नहीं है ? उत्तर में कहते है—ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि नमस्कार से प्राप्त होने वाला मोक्षप्रापक अध्यवसाय ही निश्चय-चरित्र है। **'सिद्धाणं बुद्धाणं'** सूत्र की तीन गाथा गणधरकृत होने से नियमितरूप से बोली जाती है, कितने ही साधक इसके अतिरिक्त इसके बाद दो गाथाएँ और बोलते हैं। वे इस प्रकार हैं—

> **उज्जितसेलसिहरे, दिक्खा नाणं निसीहिया जस्स।**
> **तं धम्मचक्कवट्टिं, अरिट्ठनेमिं नमंसामि ॥४॥**
>
> **चत्तारि अट्ठ दस दोय वंदिआ जिणवरा चउवीसं।**
> **परमट्ठनिट्ठिअट्ठा, सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु ॥५॥**

उज्जयंत शैल अर्थात् गिरनार (रैवतकगिरि) पर्वत के शिखर पर जिनके दीक्षा, केवलज्ञान और निर्वाण-कल्याणक हुए हैं, उन धर्म-चक्रवर्ती श्री अरिष्टनेमि—नेमिनाथ भगवान् को मैं नमस्कार

करता हूं ।।४।। चार, आठ, दस और दो इस प्रकार चौबीस जिनवर, जिन्होंने परमार्थ से अपना लक्ष्य (मोक्षसुख) सिद्ध (प्राप्त) कर लिया है, वे सिद्ध भगवन्त मुझे सिद्धि प्रदान करें ।।५।

ऐसा कहने के बाद, संचित-पुण्य-पुंज वाले श्रावक उचित कार्यों में उचित प्रवृत्ति करते हैं, यह बताने के लिए. निम्नोक्त पाठ बोलना चाहिए—'**वेयावच्चगराणं, संतिगराणं सम्मदिट्ठिसमाहिगराणं करेमि काउस्सग्गं**' अर्थात् 'श्री जैनशासन की सेवा—रक्षारूप वैयावृत्य करने में तत्पर गोमुखयक्ष, अप्रतिचक्रा, चक्रेश्वरी देवी, यक्ष-यक्षिणी आदि सर्वलोक में शान्ति करने वाले, सम्यग्दृष्टि जीवों को समाधि में सहायता करने वाले, समस्त सम्यग्दृष्टि-शासनदेवों के निमित्त से काउस्सग्ग करता हूं ।' यहाँ सप्तमी विभक्ति के अर्थ में षष्ठी विभक्ति का प्रयोग हुआ है । इसके बाद '**वंदण-वत्तिआए**' आदि नहीं बोल कर '**अन्नत्थ सूत्र**' बोलना चाहिए ; क्योंकि देव अविरति होते है, उनको वंदन-पूजन आदि करना योग्य नहीं है । इस प्रकार करने से ही उनके भावों में वृद्धि हो जाती है और वे स्मरणकर्ता के लिए उपकार-दर्शक बनते हैं । अन्नत्थ सूत्र की व्याख्या पहले की जा चुकी है ; वहीं से समझ लेना । यहाँ केवल वेयावच्च करने वाले देवों की स्तुति करना । बाद में उसी विधि से नीचे बैठ कर पूर्ववत् 'पणिपातदण्डक—(नमुत्थुणं) सूत्र कह कर मुक्ताशक्तिमुद्रापूर्वक प्रणिधान - प्रार्थनासूत्र बोले । वह इस प्रकार है—

जय वीयराय ! जगगुरु ! होउ ममं तह प्रभावओ भयवं !
भवनिव्वेओ, मग्गाणुसारिआ इट्ठफलसिद्धी ।।१।।
लोगविरुद्धच्चाओ, गुरुजणपूआ परत्थकरणं च ।
सुहगुरुजोगो तव्वयणसेवणा आभवमखंडा ।।२।।

'हे वीतराग ! हे जगद्गुरु ! आपकी जय हो । भगवन् ! आपके प्रताप से मुझे संसार के प्रति वैराग्य उत्पन्न हो, मोक्षमार्ग पर चलने की शक्ति प्राप्त हो और इष्टफल की सिद्धि हो ।।१।। प्रभो ! निन्दाजनक, लोकविरुद्ध किसी भी कार्य में मेरी प्रवृत्ति न हो, धर्माचार्य तथा मैं माता-पिता आदि बड़ों के प्रति परिपूर्णरूप से आदरभाव और दूसरों का भला करने में तत्पर बनूं, और प्रभो ! मुझे सद्गुरु का योग मिले तथा उनकी आज्ञानुसार चलने की शक्ति प्राप्त हो । यह सब जहाँ तक मुझे संसार में परिभ्रमण करना पड़े, वहाँ तक अखण्डरूप से प्राप्त हो ।।२।।

जय वीयराय ! जगगुरु ! अर्थात् हे वीतराग ! हे जगद्गुरो ! आपकी जय हो, इस प्रकार भगवान् श्रीत्रिलोकनाथ को बुद्धि में स्थापित करने के लिए आमंत्रण किया है, **होउ मम**=मुझे मिले, **तुह पभावओ**=आप के प्रभाव से—सामर्थ्य से, **भयवं**=भगवन् ! दूसरी बार यह संबोधन दे कर अपनी भक्ति का अतिशय प्रगट किया गया है । क्या मिले ? उसके लिए कहते हैं—'**भवनिव्वेओ**' अर्थात् जन्म-मरण आदि दुःखरूप संसार से निर्वेद—विरक्ति (वैराग्य) । भव से डरे बिना कोई भी मोक्ष के लिए प्रयत्न नहीं करता । संसार में राग रख कर मोक्षमार्ग का प्रयत्न करे, तो वह वास्तविक प्रयत्न नहीं समझा जाता ; क्योंकि वह क्रिया जड़ के समान है । तथा '**मग्गाणुसारिआ**' अर्थात् दुराग्रह का त्याग कर तत्त्वभूत सत्य मार्ग के अनुसार तथा '**इट्ठफलसिद्धी**'=ईष्टफलसिद्धि । इस भव के इष्ट प्रयोजन की प्राप्ति होने से चित्त में स्वस्थता होती है और वह व्यक्ति आत्मकल्याण के कार्यों में प्रवृत्ति कर सकता है । इस आशय से इस लोक के इष्टफल की सिद्धि के लिए प्रार्थना करना अनुचित नहीं है '**लोगविरुद्धच्चाओ**' सभी लोगों में निन्दा आदि हो ; ऐसे लोकविरुद्ध कार्य का त्याग करना । पंचाशक में कहा है—'किसी की भी निन्दा

नहीं करनी चाहिए, विशेषत: गुणवान् की तो कदापि नही करनी चाहिए, क्योंकि वह लोकविरुद्ध है तथा धर्म-आराधना में सरल मनुष्य की कही भूल हो जाय तो उसका हास्य करना, लोगों में माननीय-पूजनीय का अपमान करना, जिसके बहुत विरोधी हों, उनकी सोहबत करना, देश काल और कुल के आचार का उल्लंघन करना; अर्थात् व्यवहार के विरुद्ध चलना, उद्धत वेश धारण करना तथा स्वयं द्वारा किये हुए दान, तप, यात्रा आदि की अपने मुंह से बड़ाई करना ; इसे भी कितने ही आचार्य लोकविरुद्ध मानते हैं तथा साधु-पुरुषों पर संकट आया हो तो उसे देख कर खुश होना, एवं सामर्थ्य होने पर भी संकट से बचाने का प्रयत्न न करना, इत्यादि बातें भी लोकविरुद्ध समझी जाती है। प्रभो ! ऐसे कार्यों का मैं त्याग करूं!" तथा **गुरुजणपूआ**=गुरुजनों की उचित सेवारूप पूजा करना। यद्यपि धर्माचार्य ही गुरु कहलाते हैं; तथापि यहाँ माता-पिता, कलाचार्य आदि को भी गुरुजन (बड़े) समझ लेना चाहिए। योगबिन्दु में कहा है— 'माता-पिता, कलाचार्य, विद्यागुरु, उनके सम्बन्धी, वृद्ध तथा धर्मोपदेशक इन सभी को सत्पुरुष गुरु-तुल्य मानते हैं। '**परत्थकरणं च**'=मर्त्यलोक में सारभूत दूसरे जीवों की भलाई का कार्य=परोपकार करना। वास्तव में यह धर्मपुरुषार्थ का चिह्न है। इस प्रकार से पूर्वोक्त गुणो की प्राप्ति में साधक जीवन में लौकिक सुन्दरता प्राप्त करता है और वही लोकोत्तर धर्म का अधिकारी बनता है। इसलिए कहते हैं— '**सुहगुरुजोगो**'= विशिष्ट चारित्रवान, पवित्र शुभगुरुओं साधुसाध्वियों एवं धर्माचार्यों का संयोग—निश्राय मिले, '**तव्वयणसेवणा**'=उन सद्गुरुओं के वचनानुसार आचरण करना। ऐसे सद्गुरु भगवन्त कभी अहितकर उपदेश नहीं देते। इसलिए उनके वचनों की सेवा 'आभवमखंडा' अर्थात् जब तक संसार में परिभ्रमण करना पड़े, वहाँ तक संपूर्णरूप में प्राप्त हो। यह प्रार्थना खासकर त्याग की अभिलाषारूप होने से (नियाणा) निदानरूप नहीं है; और वह भी 'अप्रमत्तसंयम' नामक सातवें गुणस्थानक के पहले ही होता है। अप्रमत्त गुणस्थानक से आगे जीव को संसार या मोक्ष की अभिलाषा नहीं रहती, उनके लिए शुभ-अशुभ सभी भाव समान होते हैं। इस तरह शुभफल की प्रार्थनारूप **जय वीयराय** की दो गाथा तक उत्कृष्ट चैत्यवन्दन की विधि जानना।

अब इसके आगे के कर्तव्य के सम्बन्ध मे कहते हैं :—

ततो गुरूणामभ्यर्णे प्रतिपत्तिपुरस्सरम्।
विदधीत विशुद्धात्मा, प्रत्याख्यानप्रकाशनम् ॥१२४॥

अर्थ—देव-वंदन करने के बाद गुरु या धर्माचार्य देववंदन करने पधारे हुए हों, अथवा स्नात्रादि-महोत्सव के दर्शन करने या धर्मोपदेश देने पधारे हों अथवा विहार करते हुए पधारे हों, तो उनके पास जा कर साढ़े तीन हाथ दूर खड़े हो कर विनयपूर्वक वंदन करे, उनका व्याख्यान सुने। बाद में देवसमक्ष किया हुआ प्रत्याख्यान दम्भरहित व निर्मलचित्त हो कर गुरु-समक्ष प्रगट करे। क्योंकि प्रत्याख्यान की विधि तीन की साक्षी से होती है— (१) आत्मसाक्षी से, (२) देवसाक्षी से और (३) गुरुसाक्षी से।

पूर्वोक्त श्लोक में—'**प्रतिपत्तिपूर्वक**' ; कहा है। अत: गुरुप्रतिपत्ति (विनय) को दो श्लोकों में कहते हैं—

अभ्युत्थानं तदा लोकेऽभियानं च तदागमे।
शिरस्यंजलि-संश्लेषः स्वयमासनढौकनम् ॥१२५॥

आसनाभिग्रहो भक्त्या, वंदना पर्युपासनम् ।
तद्यानेऽनुगमश्चेति, प्रतिपत्तिरियं गुरोः ॥१२६॥

अर्थ—गुरु महाराज को देखते ही आसन छोड़ कर आदरपूर्वक खड़े हो जाना, उनके सामने जाना, वे आ गये हों तो मस्तक पर अंजलि करके हाथ जोड़ कर 'नमो खमा-समणाणं' वचन बोलना, यह कार्य स्वयं करना, दूसरे से नहीं कराना और स्वयं आसन-प्रदान करना, गुरु-महाराज के आसन पर बैठ जाने के बाद, स्वयं दूसरे आसन पर बैठना, बाद में भक्तिपूर्वक पच्चीस आवश्यक की विशुद्धिपूर्वक वंदना करना। गुरुदेव को कहीं जाना न हो और किसी कार्य में रुके न हों तो पर्युपासना=सेवा करना, उनके जाने पर कुछ दूर तक अनुगमन करना, इस प्रकार गुरु की प्रतिपत्ति (धर्माचार्य का उपचार-विनय) जानना।

उसके बाद गुरुमहाराज से धर्मदेशना सुन कर—

ततः प्रतिनिवृत्तः सन् स्थानं गत्वा यथोचितम् ।
सुधीर्धर्माविरोधेन विदधीतार्थचिन्तनम् ॥१२७॥

अर्थ—मंदिर से वापिस आ कर अपने-अपने उचित स्थान पर (अर्थात् राजा हो तो राजसभा में, मन्त्री आदि हो तो न्यायालय में, व्यापारी हो तो दूकान में) जा कर जिससे धर्म को आंच न आए, इस प्रकार बुद्धिशाली श्रावक धनोपार्जन का चिन्तन करे।

व्याख्या—यहाँ जो अर्थोपार्जन की चिन्ता कही है, वह अनुवादमात्र समझना ; क्योंकि यह बात प्रेरणा के बिना स्वतःसिद्ध है ; इसका विधान इस प्रकार से समझना 'सद्गृहस्थ की अर्थचिन्ता धर्म से अविरोधीरूप में हो। धर्म का अविरोध इस प्रकार समझना—यदि राजा हो तो उसे दरिद्र या श्रीमान्, मान्य हो या अमान्य, उत्तम हो अथवा नीच, किसी के प्रति पक्षपात रखे बिना न्याय करना चाहिए। और राजसेवक को राज्य और प्रजा की निष्ठापूर्वक यथार्थसेवा करनी चाहिए। तथा व्यापारी को चाहिए कि वह झूठे नाप-तौल (बांट-गज) छोड़ कर पन्द्रह-कर्मादानरूप व्यवसाय बन्द करके अर्थ का चिन्तन करे।

ततो माध्याह्निकीं पूजां कुर्यात् कृत्वा च भोजनम् ।
तद्विद्भिः सह शास्त्रार्थं रहस्यानि विचारयेत् ॥१२८॥

अर्थ—तत्पश्चात् दिन की मध्यकालीन प्रभु-पूजा करके फिर भोजन करे। यह आधे श्लोक का भावार्थ है, मध्याह्न को ही भोजन हो, ऐसा कोई नियम नहीं है, जब तीव्र भूख लगी हो, उसी समय को भोजनकाल कहा है। यदि मध्याह्नकाल के पहले भी पच्चक्खाण पार कर देवपूजा करके भोजन करे तो दोष नहीं है। उसकी विधि इस प्रकार है—जिनपूजा, उचित दान, कुटुम्ब परिवार को सारसंभाल लेना, उनके योग्य उचित कर्त्तव्य का पालन करना, भूल हो तो समझाना अथवा उपदेश देना तथा स्वयं द्वारा किए हुए पच्चक्खाण का स्मरण करना।' भोजन करने के बाद यथाशक्ति गंठसी, वेढसी, मुट्ठसी सहित कोई भी पच्चक्खाण कर लेना चाहिए। प्रमाद-त्याग के अभिलाषी आत्मा को एक क्षण भी प्रत्याख्यान के बिना नहीं रहना चाहिए। प्रत्याख्यान करने के बाद शास्त्रों के अर्थ, और तात्पर्य पर विचार-

विमर्श करने हेतु शास्त्रविज्ञों या धर्मगुरुओं का सत्संग करना चाहिए, और गुरु-मुख से उस शास्त्र के रहस्यों को सुनने के बाद बार-बार उस पर परिशीलन, पर्याप्त चिन्तन-मनन आदि न किया जाय, तब तक वह पदार्थ भलीभांति हृदयंगम नहीं हो सकता।

ततश्च सन्ध्यासमये, कृत्वा देवार्चनं पुनः।
कृतावश्यककर्मा च, कुर्यात् स्वाध्यायमुत्तमम् ॥१२९॥

अर्थ—उसके बाद भोजन करके संध्या-समय फिर देव-पूजा करके प्रतिक्रमण आदि षट् आवश्यक क्रिया करे, फिर उत्तम स्वाध्याय करे।

व्याख्या—तत्पश्चात् यदि दो बार भोजन करता हो तो विकाल अर्थात् शाम के समय दो घड़ी पहले भोजन करे। बाद में तीसरी बार अग्रपूजारूप देवार्चन करे। उसके बाद साधु-मुनिराज हों तो उनके दर्शन करके सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वंदनक, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान-लक्षण छह आवश्यक करे। सामायिक का अर्थ है—आर्त्त-रौद्रध्यान का त्याग करके धर्मध्यान का आलम्बन ले कर शत्रु-मित्र, तृण-स्वर्ण आदि में समभाव रखना। इसका स्वरूप पहले कह चुके हैं। बाद में चौबीस तीर्थंकर भगवन्तों के नामोल्लेखपूर्वक गुणों का उत्कीर्तन करना। फिर कायोत्सर्ग में मन में ध्यान करना और कायोत्सर्ग पूर्ण कर प्रगटरूप में स्पष्ट अक्षरों में उस पाठ को बोलना। इसके सम्बन्ध में भी पहले कह आये हैं। तत्पश्चात् वंदनीय धर्माचार्य को पच्चीस आवश्यक-विशुद्ध ; बत्तीस दोष-रहित नमस्काररूप वंदन करना। इसमें पच्चीस आवश्यक इस प्रकार से जानना—वंदन में दो अवनमन ; एक यथाजात, बारह आवर्त्त, चार मस्तक से, तीन गुप्ति से, दो प्रवेश और एक निष्क्रमण ; ये पच्चीस अवश्य करने योग्य आवश्यक हैं। इसमें दो अवनमन हैं—स्वयं को वंदन करने की इच्छा और गुरुमहाराज को प्रकट-रूप में निवेदन—'**इच्छामि खमासमणो ! वंदिउं जावणिज्जाए निसीहिआए**'=अर्थात्— 'हे क्षमाश्रमण ! मैं अपनी शक्ति-अनुसार निष्पापरूप से आपको वंदन करना चाहता हूँ। ऐसा कहते समय मस्तक और शरीर के उच्चभाग को कुछ नमाना ; अवनत या अवनमन कहलाता है (१) फिर आवर्त करके पुनः वापिस आए, तब भी '**इच्छामि**' इत्यादि सूत्र बोल कर फिर इच्छा बताए, तब (२) दूसरा **यथाजात** अर्थात् जन्म के समान, जन्म दो प्रकार का गिना जाता है—एक तो माता के उदर से जन्मग्रहण और दूसरा दीक्षा-ग्रहण करते समय। प्रसवकालिक मुद्रा के समान दो हाथ जोड़ कर मस्तक पर रखे हों, उसी तरह दीक्षा-ग्रहण के समय भी रजोहरण मुखवस्त्रिका वाले दो हाथ जोड़ कर जिस स्थिति में जन्म होता है, वही मुद्रा (स्थिति) गुरुमहाराज को वंदन करते समय होनी चाहिए। यह वदन यथाजात कहलाता है (३) तथा **बारह आवर्त**—गुरुमहाराज को द्वादशावर्त वंदन करते समय गुरुचरणों में तथा अपने मस्तक पर हाथ से स्पर्श करके प्रथम प्रवेश कर '**अहो कायं**' इत्यादि सूत्र उच्चारण करते हुए छह आवर्त करना ; फिर दूसरी बार प्रवेश करे, तब भी दूसरी बार छह आवर्त्त करना. इन दोनों के मिला कर **बारह आवर्त्त** होते हैं। (१५) **चउस्सिर**— जिसमें चार बार मस्तक नमाना पड़ता है, प्रथम वंदन में शिष्य द्वारा '**इच्छामि खमासमणो**' बोलते मस्तक नमाना, बाद में गुरु भी 'अहमवि खामेमि' ऐसा उत्तर देते हुए कुछ सिर नमाते हैं, इस तरह गुरु-शिष्य दोनों का मस्तक नमाना, इसी प्रकार दूसरी बार वंदन मिल कर कुल चार मस्तक नमाना (१९) **त्रिगुप्त**— मन, वचन और काया के योग से एकाग्रता-पूर्वक वंदन करना ; इस तरह तीन वंदन (२२) **दुप्पवेस** गुरुमहाराज के आसन से प्रत्येक दिशा में साढ़े तीन हाथ तक के स्थान का **गुरु-अवग्रह** होता है। अतः दूर रह कर गुरु का विनय करना, फिर

शारीरिक सेवा-वंदनादि के लिए उनकी आज्ञा ले कर उस अवग्रह में प्रवेश करना, यह प्रथम आज्ञा ले कर प्रवेश है, और बाद में फिर निकल कर दूसरी बार प्रवेश करे, यह एक निष्क्रमण (अवग्रह से बाहर निकलना) है। पहले वंदन में 'आवस्सिआए' कह कर बाहर निष्क्रमण नहीं होता। इस तरह दो बार प्रवेश और एक निष्क्रमण मिला कर कुल पच्चीस आवश्यक वदन जानना।

वन्दन के ३२ दोष—(१) अनादृत (२) स्तब्ध (३) अपविद्ध (४) परिपिण्डित (५) टोलगति (६) अंकुश (७) कच्छ-परिंगित (८) मत्स्योद्वर्तन (९) मन.प्रदुष्ट (१०) वेदिकाबद्ध (११) भय (१२) भजंत (१३) मैत्री (१४) गौरव (१५) करण (१६) स्तेन (१७) प्रत्यनीक (१८) रुष्ट (१९) तर्जना (२०) शठ (२१) हीलित (२२) विपरिकुंचित (२३) दृष्टादृष्ट (२४) शृंग (२५) कर (२६) मुक्त (२७) आश्लिष्टानाश्लिष्ट (२८) न्यून (२९) उत्तरचूडा (३०) मूक (३१) ढड्ढर और (३२) चूडलि-दोष ; ये वन्दन के बत्तीस दोष हैं, जिन्हें त्याग कर विधिपूर्वक वंदन करना चाहिए।

व्याख्या—(१) **अनादृतदोष**—आदर-सत्कार के बिना शून्यचित्त से वंदना करना (२) **स्तब्धदोष**—आठ प्रकार के मद के वश हो कर वंदन करना (३) **अपविद्धदोष** अधूरे-अपूर्ण वन्दन करके भाग जाना, (४) **परिपिण्डितदोष**—एक साथ सभी को इकट्ठा एक ही वदन करना अथवा दो हाथ पेट पर तथा दोनों पैर इकट्ठे करके वंदन करना, या सूत्र-उच्चारण करने में अक्षर-संपदाओं के यथायोग्य स्थान पर रुके बिना एक साथ ही अस्पष्ट उच्चारण करना (५) **टोलगति**—टिड्डी की तरह फुदक फुदक कर अस्थिरता से वंदन करना (६) **अंकुश**—गुरुमहराज खड़े हों या सोये हों अथवा अन्य कार्य में लगे हों; उस समय उनका रजोहरण, चोलपट्टा, वस्त्र आदि हाथ से पकड़ कर अथवा अवज्ञा से हाथी पर अकुश लगाने की तरह खड़े हुए गुरु को आसन पर बिठाना, और प्रयोजन पूर्ण होने पर या वन्दन करने के बाद आसन से उठाना। पूज्यपुरुषों के साथ इस प्रकार की खींचातानी करना योग्य नहीं है ; ऐसा करने से उनका अविनय होता है, अथवा रजोहरण पर अकुश के समान हाथ रख कर वन्दन करना अथवा अंकुश से पीड़ित हाथी के समान वन्दन करते हुए सिर हिलाना (७) **कच्छपरिंगित** खड़े-खड़े ही 'तित्तिसणयराए' इत्यादि सूत्र बोलना अथवा बैठे बैठे ही '**अहोकायं काय**' इत्यादि पाठ बोलना, वन्दन करते समय बिना कारण कछुए के समान आगे पीछे रेंग कर वंदन करना (८) **मत्स्योद्वर्तन**—मछली जैसे जल में एकदम नीचे जा कर फिर ऊपर उछल आती है, वैसे ही करवट बदल कर एकदम रेचकावर्त्त करके उछल कर वंदन करे, अथवा वंदन करते समय उछल कर खड़ा होना, मानो गिर रहा हो, इस तरह से बैठ जाना, एकदम वन्दन करके मछली के समान करवट बदल कर दूसरे साधु के पास वन्दन करना (९) **मनःप्रदुष्ट** – गुरु महाराज ने शिष्य को कोई उपालम्भ दिया हो, इससे रुष्ट हो कर उनके प्रति मन में द्वेष रख कर वन्दन करना, अथवा अपने से हीन, गुण वाले को मैं कैसे वन्दन करूं ? 'या' ऐसे गुण-हीन को क्यों वंदन किया जाए ? ऐसा विचार करते हुए वंदन करना (१०) **वेदिकाबद्ध**—वंदन में आवर्त्त देते समय दोनों हाथ दोनों घुटनों के बीच में रहना चाहिए, उसके बदले दोनों हाथ घुटनों पर रखे, अथवा घुटनों के नीचे हाथ रखे, या गोद में हाथ रखे, दोनों घुटनों के बाहर अथवा बीच में हाथ रखे या एक घुटने पर हाथ रखे, और वंदन करे, इस तरह इसके पांच भेद हैं। (११) **भय**—इन्हें वन्दन नहीं करूंगा तो संघ, समुदाय, गच्छ या क्षेत्र से बाहर या दूर कर देंगे ; इस भय से वंदन करना (१२) **भजंत**—मैं वंदन आदि से इन्हें खुश करता हूँ या सेवा करता हूँ, इसलिए गुरु आदि भी मेरी सेवा करेंगे ; मेरे द्वारा सेवा करने से भविष्य में मेरी सेवा होगी ; ऐसा सोच कर अमानत रखने के समान

वन्दन करना (१३) **मैत्री**—इन आचार्य आदि के साथ मेरी मित्रता है, अतः यदि मैं इन्हें वंदन करूंगा तो उनके साथ सदा मित्रता बनी रहेगी, इस लिहाज से वन्दन करना ; (१४) **गौरव**—गुरुवन्दन आदि विधि में मैं कुशल हूं, ऐसा सोचकर आवर्त्त आदि दूसरे को बताने के लिए सुन्दररूप में दे कर अभिमानपूर्वक वंदन करता। (१५) **कारण**—ज्ञानादि के कारण बिना ही वस्त्र-पात्र आदि प्राप्ति के लोभ से वंदन करना अथवा ज्ञानादि-गुण से जगत् में पूज्य बनूं, इस आशय से ज्ञानप्राप्ति के लिए वंदन करना या वन्दनरूप मूल्य से वशीभूत गुरु महाराज मेरी प्रार्थना नहीं ठुकरायेंगे ; इस अभिप्राय से वन्दन करना, (१६) **स्तेन**—मैं दूसरे को वन्दन करूंगा तो छोटा कहलाऊँगा ; इसलिए चोर के समान छिप कर वन्दन करना अर्थात् चोर के समान कोई न देखे, इस प्रकार जल्दी-जल्दी वंदन करना (१७) **प्रत्यनीक**—गुरु महाराज आहार आदि कार्य में व्यग्र हों, तब वन्दन करना, कहा भी है कि—'गुरुमहाराज व्यग्रचित्त हों, प्रमाद या निन्द्रा में हो, आहार-नीहार करते हो या करने की इच्छा हो, तब उन्हें वन्दन नहीं करना चाहिए।' (१८) **रुष्ट**—गुरु महाराज कोपायमान हों, तब बन्दन करना, अथवा स्वयं रुष्ट हो कर या क्रुद्ध हो, उस समय वंदन करना (१९) **तर्जना**—'गुरुदेव ! आप वंदन न करने से न तो गुस्से होते हैं और न वन्दन करने से प्रसन्न ही होते हैं अथवा वंदन करने वाले और न करने वाले का अन्तर आप नहीं जानते, यों बोल कर तर्जना करना, अथवा आप बहुत-से लोगों के बीच मुझसे वंदन करवा कर मुझे नीचा दिखाते हैं, मगर जब आप अकेले होंगे, तब आपको खबर पड़ेगी, यों अँगुली या मस्तक से ताना मार (तर्जना) करके अपमानपूर्वक वंदन करना (२०) **शठ**—कपट से गुरु को अथवा आम लोगों को दिखाना कि यह विनयवान भक्त या शिष्य है। इस प्रकार का उन पर प्रभाव डालना अथवा बीमारी आदि का बहाना बना कर अच्छी तरह वंदन नहीं करना (२१) **हीलित**—'गुरुजी ! वाचकवर्य ! आपको वंदन करने से मुझे क्या लाभ होगा ? यों अपमान करते हुए वन्दन करना (२२) **विपरिकुंचित**—आधा वंदन कर बीच में देशकथादि दूसरी बातें करना आदि (२३) **दृष्टादृष्ट**—बहुतों की आड़ में न दिखाई दे ; अथवा अन्धेरा हो, तब वन्दन न करे, उस समय बैठा रहे, और जब गुरु देखें, तब वंदन करे (२४) **शृंग**—अहोकायं-काय इत्यादि आवर्त्त वाल कर ललाट के मध्यभाग में स्पर्श करके मस्तक के दांये बांये शृंगभाग में स्पर्श करते हुए वंदन करना (२५) **कर**—राजा को कर देने के समान श्रीअरिहन्त भगवान् को भी कर देने के रूप में यह वंदन करना पड़ता है, ऐसा मान कर वंदन करना (२६) **मुक्त**—दीक्षा ले कर मैं राजादि के लौकिक कर से तो छूट गया, मगर इस वंदनरूप कर से नहीं छूट पाया, ऐसा मान कर बिना मन से वन्दन करना (२७) **आश्लिष्टानाश्लिष्ट**—अहोकायं काय इत्यादि बोल कर आवर्त्त करते समय रजोहरण, ललाट, दो हाथ एवं हथेली का स्पर्श करे ; रजोहरण का स्पर्श करे, परन्तु ललाट का स्पर्श न करे ; या ललाट का स्पर्श करे, परन्तु रजोहरण का स्पर्श न करे अथवा दोनों का स्पर्श न करे। चारों में प्रथम भंग निर्दोष है और शेष तीन भंगों से यह दोष लगता है। (२८) **न्यून**—सूत्र के अक्षरों का पूरा उच्चारण न करना, पच्चीस आवश्यक पूर्ण न करके वंदन करना (२९) **उत्तरचूडा** वन्दन करने के बाद उच्चे स्वर से 'मत्थएण वंदामि' बोलना (३०) **मूक**—गूंगे के समान समझ में न आए, इस तरह सूत्र का उच्चारण करके वंदन करना, मन में ही बोल कर वन्दन करना (३१) **ढड्ढर**—बहुत ही उच्चस्वर से बोल कर वंदन करना (३२) **चूडली दोष**—जैसे जलती हुई लकड़ी को ले कर बालक घुमाता है, वैसे ही रजोहरण के सिरे को पकड़ कर घुमाते हुए बन्दन करे, अथवा हाथ लम्बा करके मैं वन्दन करता हूं, यों बोलते हुए वन्दन करे अथवा हाथ घुमाते हुए सभी को वन्दन करना। इस प्रकार गुरु महाराज को वन्दन करते समय बत्तीस दोषों का त्याग कर विधिपूर्वक शुद्ध वन्दन करना चाहिए।

वंदन में शिष्य को गुरु से प्रश्नरूप छह अभिलाषाएं होती हैं —(१) इच्छा (२) अनुज्ञा (३) अव्याबाध (४) संयमयात्रा (५) समाधि (६) अपराध की क्षमायाचना। अन्य स्थानों पर भी ऐसी ही छह अभिलाषाएँ कही हैं। इन छहों के लिए जो-जो पाठ नियत है, उस-उस पाठ से शिष्य प्रश्न करता है। वह शिष्य के षट्-स्थानरूप गुरु वंदन के द्वारा जानना उक्त छहों प्रश्नों का उत्तर गुरु महाराज इस तरह से देते हैं--(१) जैसी तुम्हारी इच्छा (२) अनुज्ञा देता हूं (३) वैसे ही है (४) तुम्हें भी इसी प्रकार से है? (५) इसी तरह से है और (६) मैं भी तुम से क्षमा चाहता हूं। कहा भी है—'तुम्हारी इच्छानुसार आज्ञा देता हूं, वैसे ही है, तुम्हें भी वैसे ही हो, इसी तरह से है, और मैं भी तुम्हें खमाता हूं, इस तरह गुरु महाराज छह उत्तर देते है। इन दोनों की व्याख्या उपयुक्त प्रसंगवश सूत्र की व्याख्या के समय करेंगे। वह गुरुवन्दनसूत्र इस प्रकार है—

"**इच्छामि खमासमणो! वंदिउ जावणिज्जाए निसीहिआए अणुजाणह मे मिउग्गहं, निसीहि, अहो कायं कायसफासं खमणिज्जो मे। किलामो, अप्पकिलंताणं बहुसुभेण भे! दिवसो वइक्कंतो? जत्ता भे! जवणिज्जं च भे! खामेमि खमासमणो! देवसियं वइक्कमं आवस्सियाए, पडिकमामि खमासमणाणं देवसिआए, आसायणाए, तित्तीसन्नयराए जं किंचि मिच्छाए मणदुक्कडाए, वयदुक्कडाए, कायदुक्कडाए, कोहाए, माणाए, मायाए, लोभाए, सव्वकालिआए, सव्वमिच्छोवयाराए सव्वधम्माइक्कमणाए आसायणाए जो मे अइआरो कओ, तस्स खमासमणो पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि।**"

सूत्र-व्याख्या यहाँ पर द्वादशावर्त्त वंदन की इच्छा से शिष्य खमासमणरूप लघुवंदनपूर्वक संडासा प्रमार्जन करके बैठे-बैठे पहले कहे अनुसार पच्चीस बोल से मुहपत्ती और पच्चीस बोल से शरीर का पडिलेहण करे, उसके बाद परमविनयपूर्वक स्वयं मन-वचन-काया से शुद्ध होकर गुरुमहाराज के आसन से (अपने शरीरप्रमाणभूमि रूप) साढ़े तीन हाथ अवग्रह के बाहर खड़े हो कर कमर से ऊपर के भाग को धनुष्य की तरह जरा नमा कर ओघा-मुहपत्ति हाथ में ले कर वंदन करने के लिए इस प्रकार से बोले—'**इच्छामि**' अर्थात् मैं चाहता हूं। किसी के दबाव या बलात्कार से वंदन नहीं करता; अपितु अपनी इच्छा से वंदन करता हूं। '**खमासमणो**'=हे श्रमाश्रमण! इसमें क्षम् धातु के स्त्रीलिंग का आ प्रत्यय लगने से क्षमा शब्द बना है। इसका अर्थ सहन करना होता है। तथा श्रम् धातु के कर्त्ता के अर्थ में अन् प्रत्यय लगने से श्रमण रूप बनता है। इसका अर्थ होता है-- संसार के विषय में उदासीन हो कर जो तप करता है, अथवा ज्ञान-दर्शन-चारित्र के बारे में या आत्मसाधना में जो स्वयं श्रम (पुरुषार्थ) करता है, उसे श्रमण कहते हैं। इसका प्राकृत भाषा के सम्बोधन में **खमासमणो** बनता है। क्षमा ग्रहण करने से मार्दव, आर्जव आदि गुणों का भी ग्रहण हो जाता है। इसका अर्थ है --क्षमा आदि प्रधान गुणों से युक्त श्रमण= क्षमाश्रमण। यहाँ सूचित किया गया है कि—ऐसे क्षमादि गुणों से युक्त होने से वास्तव में वे वन्दनीय हैं; अब क्या करने की इच्छा है? '**वंदिउ**' अर्थात् --आपको वंदन करना है। वह किस तरह? '**जावणिज्जाए निसीहिआए**' इसमें **निसीहिआए** विशेष्य और **जावणिज्जाए** विशेषण है, निसीहिआए अर्थात् जिसमें प्राणातिपात आदि पाप नहीं हैं, ऐसी जावणिज्जाए=सशक्त काया से। इस सम्पूर्ण वाक्य का अर्थ इस प्रकार है—हे क्षमादि गुणों से युक्त श्रमण! वंदन करने में हिंसा आदि न हो, इस तरह सशक्त काया से मैं आपको वंदन करना चाहता हूं। यहाँ पर थोड़ा-सा रुकना चाहिए। इस वंदन के समय गुरु आदि दूसरे कार्य में लगे हों, अथवा कोई विघ्नवाला कार्य हो तो गुरु महाराज कह दें कि थोड़े समय के बाद करना, अभी रहने दे' कारण कहने योग्य हो तो कहें, नहीं कहने योग्य हो तो न भी कहें, ऐसा चूर्णिकार

का मत है । टीकाकार का मत है कि ऐसे समय में मन, वचन और काया तीनों से वन्दन करने का निषेध है, अतः शिष्य संक्षिप्त वंदन कर ले । और यदि गुरु दूसरे कार्य में रुके न हों और उसे वंदन करने की आज्ञा दे दें, और कहें कि---'**छन्देन=अभिप्रायेण**'=तुम्हारी इच्छा हो तो मुझे वंदन करो ; मुझे आपत्ति नहीं ; खुशी से वंदन करो ।' तब वंदन करने हेतु साढ़े तीन हाथ दूर खड़े होकर कहे—**अणुजाणह मे मिउग्गहं**' आप मुझे अवग्रह में प्रवेश करने की आज्ञा दीजिए । यहाँ पर चारों दिशा में अपने शरीर के प्रमाण में साढ़े तीन हाथ भूमि का आचार्य महाराज का अवग्रह होता है, उस में उनकी अनुमति बिना प्रवेश नहीं कर सकता ; कहा भी है—चारों दिशा में अपने शरीर के प्रमाणानुसार स्थान गुरु का अवग्रह होता है, गुरु की आज्ञा बिना उसमें प्रवेश करना कदापि कल्पनीय नहीं है ।' तत्पश्चात् गुरु महाराज कहें 'अणुजाणामि' यानी 'मैं प्रवेश करने की अनुज्ञा देता हूं', तब शिष्य भूमि का प्रमार्जन कर 'निसीहि' कह कर अवग्रह में प्रवेश करे । गुरु महाराज के पास जाने के समय 'निसीहि' का अर्थ है—'सर्व अशुभ व्यापारों का त्याग करता हूँ ।' बाद में संडासा के प्रमार्जनपूर्वक नीचे बैठे और गुरुमहाराज के चरणों के पास जमीन पर ओघा रख कर उस ओघे की दशियों (फलियों) के मध्य भाग में कल्पना से गुरु चरण-युगल की स्थापना करके दाहिने हाथ से मुहपत्ति पकड़ कर, दाहिने कान से बांये कान तक ललाट को तथा दाहिने घुटने को तीन बार प्रमार्जन कर मुहपत्ती दाहिने घुटने पर स्थापित करे ।

उसके बाद 'अकार' उच्चारण करते ही रजोहरण को स्पर्श करके, होकार का उच्चारण करे, उस समय ललाट का स्पर्श करे, उसके बाद 'का' अक्षर के उच्चारण करते समय फिर उसी करह हाथ से ओघे की दशियों का स्पर्श करना और 'यं' बोलते समय दूसरी बार ललाट के मध्य में स्पर्श करना, उसके बाद फिर 'का' बोलते वक्त ओघे और 'य' बोलते वक्त ललाट का स्पर्श करना, उसके बाद 'संफासं' बोलते हुए दो हाथ और मस्तक से रजोहरण का स्पर्श करे उसके बाद मस्तक पर दो हाथ की अंजलि कर गुरुसम्मुख दृष्टि रख कर '**खमणिज्जो मे किलामो**' से ले कर '**दिवसो वइक्कंतो**' तक सूत्र बोलना । इन पदों का अर्थ इस प्रकार है -- **अहो कायं**=गुरु की काया-चरणों को '**काय**'=हाथ और मस्तक रूपी मेरी काया से '**संफासं**'= स्पर्श करता हूँ । यहाँ अध्याहार से, अर्थात् आपश्रीजी के चरणों को मैं नमस्कार करता हूँ, उसकी आज्ञा दें, पहले मांगी हुई आज्ञा के साथ इसका सम्बन्ध है । अनुमति बिना गुरु का अंग—स्पर्श करने का अधिकार नहीं है । बाद में **खमणिज्जो** भे आप क्षमा करने योग्य हैं, हे भगवन् ! आपको '**किलामो** अर्थात् मेरे स्पर्श से आपके शरीर में दुःखरूप तथा '**अप्पकिलंताणं**'=अल्पमात्रा में पीड़ा हुई । '**बहुसुभेण**'=बहुत सुख रूप 'भे'=आपका '**दिवसो वइक्कंतो**'= दिन पूर्ण हुआ है ? यहाँ दिन शब्द से रात्रि, पक्ष, चौमासी और संवत्सरी भी प्रसंगानुसार समझ लेना चाहिए । इसी तरह दो हाथ जोड़ कर गुरु महाराज का प्रत्युत्तर सुनने की इच्छा से शिष्य को गुरु कहे कि 'तहत्ति=वैसे ही हुआ है ; यानी मेरा दिन सुखरूप से पूर्ण हुआ है, इस प्रकार गुरु के शरीर के कुशल-समाचार पूछे । अब तप इसे सम्बन्धी कुशलता पूछते हैं—'जत्ता भे' 'ज' इसे अनुदात्तस्वर से उच्चारण करते समय दोनों हाथों से रजोहरण की दशियों का स्पर्श करे, बाद में हाथ को उठाते हुए रजोहरण और ललाट के मध्य में चौड़ा करते हुए 'त्ता' स्वरित स्वर से उच्चारण करे और अपनी दृष्टि गुरु-मुख के सामने रखे, फिर उन हाथों से ललाट का स्पर्श करते समय उदात्तस्वर से 'भे' अक्षर का उच्चारण करे । यहाँ 'जत्ता'=यात्रा और 'भे'=आपश्री के अर्थ में है-- अर्थात् भगवन् ! आप की क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक भाव वाली संयमयात्रा तप और नियमरूप यात्रा—वृद्धियुक्त है ? गुरुदेव उत्तर दें कि 'तुब्भे वट्टइ=भावार्थ यह है--मेरी तप,

संयम की यात्रा में तो वृद्धि हो रही है, तुम्हारी भी उस यात्रा में आगे वृद्धि होती होगी ? अब निग्रह करने योग्य पदार्थ के विषय में शिष्य फिर से कुशलमंगल पूछता है - **'जवणिज्जं च भे'** उसमें 'ज' अनुदात्त स्वर से उच्चारण करते हुए पूर्ववत् हाथ ओघे से स्पर्श करे, बाद में दोनों हाथ उठा कर ललाट की ओर ले जाते हुए बीच में चौड़ा करके स्वरित स्वर से **'व'** का उच्चारण करे और ललाट पर आते ही उदात्त स्वर से **'णि'** का उच्चारण करे, यह तीन अक्षर बोलने पर प्रश्न अधूरा होने पर भी उत्तर की राह देखे बिना ही फिर अनुदात्त स्वर से **'ज्जं'** बोलते हुए दोनों हाथों से रजोहरण का स्पर्श करे, बाद में रजोहरण को ललाट की ओर ले जाते हुए मध्य में हाथ चौड़े कर स्वरित स्वर से **'च'** का उच्चारण करे, फिर हाथ से ललाट का स्पर्श करते हुए उदात्त स्वर से **'भे'** शब्द उच्चारण करे। उसके बाद गुरु महाराज के प्रत्युत्तर की राह देखे और उसी अवस्था में बैठा रहे। **'जवणिज्जं च भे'** का अर्थ है—नियत्रण करने योग्य आपकी इन्द्रियाँ और मन उपशमादि के सेवन से अबाधित हैं ? तात्पर्य यह है कि 'आप का शरीर, इन्द्रियाँ तथा मन पीड़ा से रहित हैं ? इस तरह भक्तिपूर्वक पूछ कर शिष्य ने गुरु का विनय किया। इसके बाद गुरुदेव ने उत्तर दिया कि **'एवं'**=हाँ, इसी तरह इन्द्रिय आदि से मैं अबाधित हूं।' इसके बाद शिष्य ओघे पर दो हाथ और मस्तक लगा कर अपने अपराध की क्षमायाचना के लिए इस प्रकार कहता है—**'खामेमि खमासमणो ! देवसियं वइक्कमं'** अर्थात् हे श्रमागुणयुक्त श्रमण ! आज सम्पूर्ण दिन में अवश्य करने योग्य अनुष्ठान में विराधनारूप मेरे अपराध हुए हों, उनके लिए आपसे क्षमा मांगता हूं, उसके बाद गुरु भी कहे कि **'अहमवि खामेमि'**=मैं भी तुम्हें खमाता हूं।' अर्थात्—पूरे दिन भर में तुम्हारे प्रति हित-शिक्षा आदि में प्रमाद से अविधि से कोई अपराध हुए हों तो उनके लिए मैं भी क्षमा चाहता हूं।

इसके बाद शिष्य नमस्कारपूर्वक क्षमायाचना करके अपने पैर के पीछे की भूमि का प्रमार्जन कर अवग्रह से बाहर आ कर **'आवस्सिआए'** से ले कर **'जो मे अइआरो कओ'** तक का सूत्र पाठ का उच्चारण करे। इस पाठ में अपने अतिचारों को निवेदन करने हेतु आलोचना (आत्मनिवेदन) नामक प्रायश्चित्त का सूचक सूत्र है। उसके बाद **'तस्स खमासमणो पडिक्कमामि'** इत्यादि पाठ में प्रतिक्रमण के योग्य प्रायश्चित्त विधि की सूचना है। और इसे साधक—फिर मैं ऐसा अपराध नहीं करूंगा और आत्मा को शुद्ध करूंगा' इस तरह की बुद्धि से अवग्रह से बाहर निकलते हुए बोले। 'आवस्सिआए'—इसका अर्थ है—चरणसत्तरी-करणसत्तरीरूप अवश्य करने योग्य कार्यों के आसेवन सूचित करते हुए उसके निमित्त से अयोग्य सेवन हुआ हो, उसका **'पडिक्कमामि'**=प्रतिक्रमण करता हूं। अर्थात् उससे पीछे हटता हूं, यह सामान्य अर्थ कह कर अब विशेषरूप से कहते हैं—**'खमासमणाणं देवसिआए आसायणाए'** अर्थात् क्षमाश्रमण गुरु महाराज के प्रति पूरे दिन में की हुई ज्ञानादि लाभ की होने वाली आशातना की हो, उन अपराधों का मैं प्रतिक्रमण करता हूं। कितनी आशातनाएँ ? उसे कहते हैं **'तित्तीसन्नयराए'** अर्थात गुरु महाराज की तैंतीस आशातनाएँ होती हैं, उनमें से दो, तीन या इससे अधिक आशातनाएँ लगती हैं। सम्पूर्ण दिन में अनेक आशातनाएँ लगने की संभावना होने से यहाँ पर सभी आशातनाओं का उल्लेख किया है। इन आशातनाओं पर आगे विवेचन करेंगे। इस सम्बन्ध में कुछ विशेष कहते हैं—**'जं किंचि मिच्छाए'** अर्थात् जो कोई मिथ्याभाव से यानी उसके निमित्त से विपरीत भावों से किया हो, **मणदुक्कडाए, वयदुक्कडाए, कायदुक्कडाए** अर्थात् दुष्ट मन से या प्रद्वेष के कारण, दुष्ट असभ्य कठोर वचन बोल कर, काया की दुष्टता अथवा अत्यन्त सट कर बैठ कर या साथ चलते शरीर की कुचेष्टा द्वारा आशातना की हो। उनमें भी **'कोहाए, माणाए, मायाए, लोभाए'**=क्रोध-सहित, मान-सहित, माया-सहित या लोभ-

सहित । अर्थात् क्रोधादि करने से या किसी प्रकार के विनयभंग आदि से होने वाली आशातनाएँ दिन में की हों । इसी प्रकार पक्खी, चौमासी, संवत्सरी-सम्बन्धी काल में हुई हो तथा इस जन्म से पूर्व जन्मों में अथवा भूतकाल या भविष्यकाल में जो आशातना हुई हों, साधक उन सबका ग्रहण करके निवेदन करता है---**'सव्वकालियाए'**—अर्थात् सर्वकालविषयक आशातना । भविष्यकाल की आशातना किस तरह से होती है ? इसका उत्तर देते हैं कि 'कल गुरु का इस तरह अनिष्ट या नुकसान करूंगा' इस प्रकार विचार करने से, इसी तरह आगामी जन्मों या भूतकाल में भी में उनके वध आदि का निदान करना संभव हो सकता है, इस प्रकार तीनों काल-सम्बन्धी आशातनाओं से **'सव्वमिच्छोवयाराए'** अर्थात सर्व दंभ-कपट, या माया से पूर्ण गलत प्रवृत्तिरूप असत्क्रिया की आशातनाओं से तथा **'सव्वधम्माइक्कमणाए आसायणाए'**=अष्ट-प्रवचनमाता का पालन, सामान्यरूप से संयम करने योग्य सर्वकार्यरूप सर्वधर्मों में जो अतिक्रमण-विराधनारूप सर्वधर्मों की इत्यादि गुरु की आशातनाओं से. **जो मे अइआरो कओ**=मैंने जो कोई अतिचार=अपराध किया हो, **'तस्स खमासमणो ! पडिक्कमामि'**=हे क्षमाश्रमण ! मैं उन अतिचारों का आपकी साक्षी से प्रतिक्रमण करता हूं, अर्थात् फिर नहीं करने का संकल्प करके अपनी आत्मा को अपराधों से पीछे हटाता हूं । तथा **'निंदामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि'** अर्थात् संसार से विरक्त मैं भतकाल की अपनी पापयुक्त आत्मा की प्रशान्तचित्त से वर्तमानकाल के शुद्ध अध्यवसायों से निन्दा करता हूं, आपकी साक्षी से दुष्टकार्य करने वाली मेरी आत्मा की गर्हा करता हूं, और आत्मा की अशुद्धप्रवृत्ति के अनुमोदन का त्याग करता हूं ।' इस प्रकार गुरुवंदन-सूत्र बोल कर फिर उसी प्रकार अवग्रह के बाहर खड़ा हो कर **इच्छामि खमासमणो** से ले कर **वोसिरामि** तक दूसरी बार सम्पूर्ण पाठ बोले । परन्तु इसमें इतना विशेष समझे कि दूसरी बार के गुरुवंदन में अवग्रह से बाहर निकले बिना ही **'आवस्सियाए'** पद छोड़ कर शेष सारा सूत्रपाठ बोले ।

अब वंदनक-विधि बताने वाली आगमोक्त गाथा का भावार्थ यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं—

आचार का मूल विनय है । वह गुणवान की सेवा करने से होता है । तथा विधिपूर्वक गुरु को वंदन करने से होता है, और उस द्वादशावर्त वंदन की विधि इस तरह जानना ॥१॥ गुरुवंदन करने का इच्छुक साधक यथाजात अवस्था (जन्मसमय की मुद्रा में) स्थित हो कर अवग्रह के बाहर संडासा का प्रमार्जन कर उत्कटिकासन में बैठ कर मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन करके शरीर के ऊपर के आधे भाग का प्रमार्जन करे ॥२॥ बाद में खड़ा हो कर कमर पर कुहनी से चोलपट्टे को दबा कर (पहले चोलपट्ट पर डोरी नहीं बांधते थे) शरीर को नमा कर युक्तिपूर्वक पीछे का भाग धर्म की निंदा न हो, इस प्रकार से ढक ले ॥३॥ दाहिने हाथ की अंगुलियों मे मुहपत्ती और दोनों हाथों में रजोहरण पकड़ कर पूर्वोक्त बत्तीस दोषों से रहित निर्दोष वंदन के लिए गुरुमहाराज के सामने इस प्रकार उच्चारणपूर्वक बोले ॥४॥ **'इच्छामि खमासमणो मे निसीहिआए'** तक बोल कर बाद में गुरु का **'छंदेण'** उत्तर सुन कर अवग्रह की याचना करने के लिए ॥५॥ **'अणुजाणह मे मिउग्गहं'** बोले और गुरु **'अणुजाणामि'** कहे, तब अवग्रहभूमि में प्रवेश करके संडासा प्रमार्जन कर नीचे बैठे ।६। इसके बाद रजोहरण की दशियों का प्रमार्जन कर मस्तक से स्पर्श कराना उपयोगी होगा, ऐसा मान कर भूमि पर स्थापन करे उसके बाद प्रथम ॥७॥ बांये हाथ से एक ओर से पकड़ी हुई मुहपत्ती से बांये कान से ले कर दाहिने कान तक का और ललाट का प्रमार्जन करे ॥८॥ और सिकोड़े हुए बांये घुटने पर प्रमार्जन करके उस पर मुहपत्ती रखे तथा ओघे के मध्यभाग में गुरु के चरण-युगलों की कल्पना (स्थापना) करे ॥९॥ तदनन्तर दोनों हाथ लम्बे करके दोनों जांघों के

मध्यभाग का स्पर्श न हो, इस प्रकार दोनों हाथों से ओघे की दशियों का स्पर्श करते **अकार** का उच्चारण करे ॥१०॥ उसके बाद दोनों हाथों को मुख की ओर घुमा कर ललाट का स्पर्श करते हुए **होकार** का उच्चारण करे । ॥११॥ फिर दोनों हाथों से ओघे का स्पर्श करते हुए '**का**' बोले और '**यकार**' बोलते हुए फिर ललाट का स्पर्श करे ॥१२॥ फिर '**का**' के उच्चारण करते समय तीसरी बार ओघे का स्पर्श करे और '**यकार**' बोलते हुए फिर ललाट का स्पर्श करे ॥१३॥ बाद **सफासं**' पद बोलते हुए रजोहरण को दो हाथ और मस्तक से नमस्कार कर मस्तक ऊँचा करके दोनों हाथ जोड़ कर सुखसाता (कुशलमंगल) पूछने के लिए ॥१४॥ **खमणिज्जो भे किलामो अप्पकिलंताणं बहुसुभेण भे दिवसो (दिवसो, पक्खो, वरिसो वा) वइक्कतो** यों बोल कर क्षणभर मौन रहे ॥१५॥ जब गुरुमहाराज '**तहत्ति**' कहे, तब फिर संयम-यात्रा और यापनिका (इन्द्रिय और मन की निराबाधता) पूछे ; उस समय भी पूर्ववत् दूसरी बार तीन आवर्त्त करना और उसमें स्वर का योग करना ॥१६॥ यहाँ प्रश्न उठता है कि मंदबुद्धि शिष्य पर अनुग्रह-उपकार करने के लिए उस स्वरयोग को किस तरह स्थापन करना चाहिए ? इसका उत्तर देते हैं कि 'जघन्य, उत्कृष्ट और मध्यम स्वर (आवाज) से युक्ति से उच्चारण करके स्थापन करना ॥१७॥ उसमें जघन्य (अनुदात्त) स्वर से रजोहरण पर, उत्कृष्ट (उदात्त) स्वर से ललाट पर और मध्यम (स्वरित) स्वर से दोनों के बीच में स्थापन करना ॥१८॥ अनुदात्त स्वर से '**जकार**', स्वरित स्वर से '**त्ता**' और उदात्त स्वर से '**भे**' अक्षर बोले, और '**ज-व-णि**' ये तीनों अक्षर भी इसी तरह अनुदात्त आदि स्वर से बोले ॥१९॥ तीसरी बार '**ज्जं**' अनुदात्त से '**च**' स्वरित स्वर से और '**भे**' उदात्त स्वर से बोलना । इसी तरह रजोहरण पर मध्य में तथा ललाट पर स्पर्श करते हुए यथायोग्य स्वर से बोलना चाहिए ॥२०॥ प्रथम के तीन आवर्त क्रमशः दो-दो अक्षरों और बाद के तीन आवर्त क्रमशः तीन-तीन अक्षरों के कहे हैं ॥२१॥ इस तरह आवर्त का स्वरूप जान कर अब दूसरे तीन आवर्त की विधि बताते हैं—दो हाथों से रजोहरण का स्पर्श करते हुए '**जकार**' मध्य में '**त्ता**' और ललाट में '**भेकार**' कह कर बाद में गुरु के वचन सुनना ॥२२॥ गुरु जब '**तुब्भं पि वट्टए**' कहें, तब शेष दो आवर्त साथ में करके जब तक गुरु '**एवं**' न बोले तब तक मौन रहें ॥२३॥ गुरु के '**एवं**' कहने के बाद शिष्य रजोहरण पर दो हाथों से अञ्जलि बना कर और मस्तक लगा कर विनयपूर्वक '**खामेमि खमासमणो देवसियं वइक्कमं**' आदि बोले ॥२४॥ बाद में जब गुरु '**अहमवि खामेमि तुमं**' यों कह कर क्षमायाचना की सम्मति दे, तब शिष्य **आवस्सिआए**' कह कर अवग्रह में से निकल जाए ॥२५॥ बाद में शरीर झुका कर सभी अपराधों की क्षमायाचना करके सर्व-दोषों की निंदा, गर्हा और त्याग करे । इस तरह से प्रतिक्रमण-प्रायश्चित्त करे ॥२६॥ इसी प्रकार विनय-पूर्वक तीन गुप्ति से गुप्त (रक्षित) हो कर प्रथम क्षमायाचना करे, फिर उसी तरह दूसरी बार वंदन करे, उसमें भी अवग्रह की याचना, प्रवेश आदि सब पहले की तरह करे, इनमें दो वंदन, दो अवनत और दो प्रवेश होते हैं ॥२७॥ वदन के प्रथम प्रवेश में छह आवर्त्त और दूसरे प्रवेश में छह आवर्त्त होते हैं । वहाँ अ हो आदि अक्षर अलग-अलग बोलने से बारह आवर्त्त समझना ॥२८॥ प्रथम प्रवेश में दो बार सिर झुकाना और दूसरे में भी उसी तरह दो बार सिर झुकाना होता है । इससे चार सिर कहा है और एक **निष्क्रमण** कहा है ॥२९॥ तथा एक **यथाजात** और तीन **गुप्त** सहित चार होते हैं । इन चारों को शेष में मिलाने से कुल पच्चीस आवश्यक होते हैं ।

गुरु की तैंतीस आशातनाएं—**तित्तीसन्नयराए**—वन्दनसूत्र में पहले आ चुका है । गुरुसम्बन्धी उन तैंतीस आशातनाओं को विस्तार से समझाते हैं—(१) शिष्य गुरु के आगे-आगे निष्प्रयोजन चले तो **विनय-भंग रूप** आशातना लगती है । यदि मार्ग बताना हो या किसी वृद्ध, अन्ध आदि की सहायता करने के

लिए आगे चले तो यह दोष नहीं लगता ॥२॥ गुरुजी के साथ दाहिने या बांये चलने से (३) तथा गुरु के एकदम पीछे चलने से । इससे निःश्वास, छींक, श्लेष्म आदि गुरु के शरीर पर पड़ना संभव होने से आशातना लगती है । (४-५-६) इसी तरह आगे, पीछे, बराबर बहुत पास में सट कर खड़े रहने से, ये तीन आशातनाएँ लगती हैं । (७ ८-९) इसी प्रकार आगे, पीछे, बराबर, साथ में, एकदम सटकर पास में बैठने से भी ऐसी तीन आशातनाएँ लगती हैं । (१०) गुरु या आचार्य के साथ शिष्य स्थंडिलभूमि गया हो, वहाँ पहले स्वयं जावे और प्रथम देह शुद्ध करे तो आचमन नाम की आशातना लगती है; (११) गुरु के साथ कोई बात करता हो, उससे गुरु से पहले शिष्य ही बातें करे ; वह पूर्वालापन आशातना है ; (१२) आचार्य के साथ बाहर गया हो, किन्तु वापिस आचार्य के पहले जल्दी लौट कर गमनागमन की आलोचना करे तो **गमनागमन की आलोचना** नामक आशातना होती है ; (१३) आहार ला कर गुरु से पहले किसी छोटे साधु के पास आलोचना करे, बाद में गुरु के पास आलोचना करे; (१४) इसी प्रकार आहार ला कर गुरु से पहले छोटे साधु को दिखा कर बाद में गुरु को दिखाए; (१५) आहार ला कर गुरु को पूछे बिना ही छोटे साधु की इच्छा यथेष्ट पर्याप्त आहार दे देना ; (१६) भिक्षा ला कर पहले किसी छोटे साधु को निमन्त्रण देना, बाद में गुरु को निमंत्रण देना; (१७) स्वयं भिक्षा ला कर उसमें से थोड़ा-सा गुरु को दे कर बाकी का बढ़िया मनोज्ञ वर्ण-रस-गन्ध-स्पर्श वाला स्निग्ध स्वादिष्ट आहार, व्यंजन आदि स्वय खाए ; (१८) रात्रि के समय गुरुमहाराज जब आवाज दें 'कि 'आर्य ! कौन जागता है ? कौन सोता है ? तब यह सुनने पर भी और जागने पर भी उत्तर नहीं दे तो । (१९) इसी प्रकार दिन को या किसी समय गुरुमहाराज के बुलाने पर भी उत्तर नहीं देना । (२०) गुरु के बुलाने पर भी जहाँ पर बैठा हों, सोया हो, वहीं से उत्तर देना अथवा गुरु बुलाएं, तब आसन या शयन से उठ कर पास में जा कर मत्थएण वंदामि' कह कर गुरु की बात सुननी चाहिए ; किन्तु ऐसा नहीं करे तो आशातना लगती है । (२१) गुरु के बुलाने पर 'मत्थएण वंदामि' न कह कर, क्या है ? इस प्रकार तुनक कर बोलना (२२) गुरुमहाराज को शिष्य अविनयपूर्वक रे तू इत्यादि तुच्छ शब्दों से सम्बोधित करे । (२३) रोगी, ग्लान आदि की वैयावृत्य (सेवा) के लिए गुरुमहाराज आज्ञा दें, कि 'तुम यह काम करो; तब शिष्य उलटे गुरु को कहे—तुम स्वयं क्यों नहीं कर लेते ?' गुरु कहे—'तुम प्रमादी हो ।' तब उद्दण्डता से सामने बोले कि 'प्रमादी आप हैं ।' इस तरह सामने उत्तर देना, **तज्जातवचन** नाम की आशातना है । (२४) गुरुमहाराज को कठोर वचन कहे अथवा उनसे उच्चस्वर से बोले । (२५) गुरुमहाराज उपदेश देते हों, तब बीच में बिना पूछे ही **यह तो ऐसा है,** इस प्रकार टोकना । (२६) गुरुजी धर्मकथा करते हों, तब 'यह बात आपको याद नहीं हैं', 'इसका अर्थ आप नहीं समझते' ; इस प्रकार शिष्य बीच बीच में बोले । (२७) गुरुदेव धर्मकथा सुनाते हों, तब उनके प्रति मन में पूज्यभाव नहीं होने से शिष्य चित्त में प्रसन्न नहीं होता, गुरु के वचन की अनुमोदना नहीं करता, 'आपने बहुत सुन्दर कहा' ऐसी प्रशंसा नहीं करता ; इससे उसे **उपहृतमनस्त्व** नाम की आशातना लगती है । (२८) जब गुरु धर्मकथा सुनाते हों, तब शिष्य कहे—'अभी तो भिक्षा का समय हुआ है, या अब सूत्र पढ़ाने या आहार करने का समय है, इत्यादि कह कर सभाभेदन (भंग) करने की आशातना करे । (२९) गुरुजी व्याख्यान करते हों, तब 'मैं व्याख्यान करूँगा' ऐसा कह कर गुरुजी की सभा और व्याख्यान को बीच में ही तोड़ (भंग कर) देना **कथा-छेदन** आशातना है (३०) आचार्य धर्मोपदेश देते हों, उस समय सभा उठने से पहले ही सभा में अपना चातुर्य बताने के लिए शिष्य व्याख्या करने लगे तो आशातना लगती है । (३१) गुरुजी से आगे, ऊंचे अथवा समान आसन पर शिष्य बैठे तो आशातना होती है । (३२) गुरु की शय्या या आसन के पैर लगाना, उनकी आज्ञा के बिना हाथ से स्पर्श करना; इन अपराधों के हो

जाने पर भी क्षमा न मांगना, आशातना है। कहा भी है कि 'गुरु अथवा उनके कपड़े आदि वस्तुओं का शरीर से स्पर्श हो जाय अथवा आज्ञा बिना स्पर्श कर ले तो 'मेरे अपराध क्षमा करें, कह कर शिष्य क्षमा मांगे, और 'आयंदा ऐसी भूल नहीं करूगा' यों कहे।, (३३) गुरु की शय्या, संथारा, आसन आदि पर खड़े होने, बैठने, या सोने से, उपलक्षण से उनके वस्त्र-पात्र आदि किसी भी वस्तु का स्वयं उपयोग करे तो आशातना लगती है।

इस प्रकार ये तैंतीस आशातनाएँ पूर्ण हुई। अब **पुरओपक्खासन्ने** इत्यादि छह गाथाएँ शास्त्र में कही है, उसमें तैंतीस आशातनाओं का विधान है, उसका अर्थ उपर्युक्त विवेचन में आ गया है, इसलिए पुनः नहीं लिखते। यद्यपि ये आशातनाएँ साधु के लिए कही हैं, फिर भी श्रावकवर्ग को भी ये आशातनाएँ लगनी संभव हैं; क्योंकि प्रायः साधु की क्रिया के अनुसार ही श्रावक की अधिकांश प्रवृत्तियाँ-क्रियाएँ होती हैं। सुना जाता है कि 'कृष्ण वासुदेव ने द्वादशावर्त वंदन से अठारह हजार साधुओं को वंदन किया था। इस कारण साधु की तरह श्रावक के लिए भी ये आशातनाएँ यथासम्भव समझ लेनी चाहिए।

इस प्रकार वंदन कर अवग्रह में स्थित हो कर अतिचार की आलोचना करने का इच्छुक शिष्य शरीर को कुछ नमा कर गुरु से इस प्रकार निवेदन करे—'**इच्छाकारेण संदिसह देवसियं आलोएमि**' अर्थात् आपकी इच्छा हो तो आज्ञा दीजिये कि मैं दिन में लगे हुए अतिचारों को आपके सामने प्रगट करूँ। यहाँ दिनसम्बन्धी और उपलक्षण से रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक और सांवत्सरिक अतिचार भी '**आलोएमि**'='**आ**' अर्थात् मर्यादा=विधिपूर्वक अथवा सब प्रकार से और '**लोएमि**'=आपके सामने खोल कर सुनाता हूं।' यहां दिन आदि की आलोचना में काल-मर्यादा इस प्रकार है—दिन के मध्यभाग से ले कर रात्रि के मध्यभाग तक दैवसिक और रात्रि के मध्यभाग से कर दिन के मध्य भाग तक रात्रिक अतिचारों की आलोचना हो सकती है। अर्थात् दिन या रात का प्रतिक्रमण इसी तरह हो सकता है। और पाक्षिक, चातुर्मासिक तथा सांवत्सरिक आलोचना-प्रतिक्रमण तो पन्द्रह दिन का, चातुर्मास का और पूरे वर्षभर का होता है। इसके बाद **आलोएह**'=आलोचना करो' यों गुरु के द्वारा कथित वचन का स्वीकार कर शिष्य '**इच्छं आलोएमि**' कहे अर्थात् आप की आज्ञा स्वीकार करता हूं और आलोचना-क्रिया द्वारा प्रकट में करता हूँ, इस तरह प्रारम्भिक कथन कह कर शिष्य साक्षात् आलोचना के लिए यह पाठ बोलता है—

'**जो मे देवसिओ अइआरो कओ, काइओ, वाइओ, माणसिओ, उस्सुत्तो, उम्मग्गो, अकप्पो, अकरणिज्जो, दुज्झाओ, दुव्विचिंतिओ अणायारो अणिच्छिअव्वो असावग-पाउग्गो, नाणे तह दंसणे, चरित्ताचरित्ते, सुए, सामाइए, तिण्हं, गुत्तीणं, चउण्हं कसायाणं, पंचण्हमणुव्वयाणं तिण्हं, गुणव्वयाणं, चउण्हं सिक्खावयाणं, बारसविहस्स सावगधम्मस्स जं खंडियं जं विराहियं तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।**'

सूत्र की व्याख्या—'**जो मे**' अर्थात् मैंने जो कोई, **देवसिओ अइआरो**=दिवस-सम्बन्धी विधि का उल्लंघन करने के रूप में अतिचार, '**कओ**' किया हो, वह अतिचार भी साधनभेद से अनेक प्रकार के होते हैं। अतः कहा है—'**काइओ, वाइओ, माणसिओ**' अर्थात् शरीर से, वाणी से और मन से मर्यादा-विरुद्ध गलत प्रवृत्ति करने से अतिचार लगे हों, '**उस्सुत्तो**'=सूत्रविरुद्धवचन बोलने से, '**उम्मग्गो**'= क्षायोपशमिकरूप भावमार्ग का उल्लंघन करना उन्मार्ग है, अथवा आत्मस्वरूप (क्षायोपशमिक भाव)

का त्याग कर मोहनीय आदि औदयिक भाव में परिणमन होना उन्मार्ग है ; उससे लगा हुआ अतिचार तथा **'अकप्पो'** अर्थात् कल्प यानी न्यायविधि, आचार तथा चरण-करण-रूप व्यापार (प्रवृत्ति), इससे जो विपरीत हो, वह अकल्प्य कहलाता है। तात्पर्य यह है कि संयम का कार्य यथार्थस्वरूप में नहीं होने से लगे हुए अतिचार में **'अकरणिज्जो'**=सामान्यरूप से नहीं करने योग्य कार्य को करने से लगा अतिचार। ऊपर कहे अनुसार उत्सूत्र आदि शब्द कार्य-कारणरूप से परस्पर सम्बन्धित है। उत्सूत्र हो तो व्यक्ति उन्मार्ग में जाता है, उन्मार्ग पर जाने से कल्प्य-अकल्प्य का विवेक नहीं रहता। अकल्प्य से व्यक्ति अकरणीय कार्य करता है। इस प्रकार कायिक और वाचिक अतिचार का विशेषस्वरूप बताने के लिए उत्सूत्र से उन्मार्ग तक के शब्दों का प्रयोग किया है। अब विशेषतः मानसिक अतिचार के लिए कहते हैं-- **दुज्झाओ** अर्थात् एकाग्रचित्त हो कर दुष्ट ध्यान करने से उत्पन्न आर्त-रौद्र-ध्यानरूपी अतिचार तथा **'दुव्विचिंतिओ'** अर्थात् चंचलचित्त से दुष्टचिन्तनरूप अतिचार कहा भी है कि **'जं थिरमज्झवसाणं तं झाणं, जं चलं तयं चित्तं'** अर्थात् मन का स्थिर अध्यवसाय ही ध्यान कहलाता है, और चचल अध्यवसाय चित्त कहलाता है। यहाँ पर स्थिर और चंचल के भेद कहते हैं -- **अणायारो'** अर्थात् यह श्रावक के लिए आचरण करने योग्य नहीं है अतः अनाचरणीय है और भी अनाचरणीय है--**'अणिच्छिअव्वो'**=इच्छा करने योग्य ही नहीं है। इसलिए **'असावगपाउग्गो'** अर्थात् जिस गृहस्थ ने सम्यक्त्व स्वीकार किया हो, अणुव्रत आदि व्रतनियम अंगीकार किये हों, सदा साधु के पास जाता हो, साधु-श्रावकों की समाचारी या आचारमर्यादा-कर्तव्यकल्प सुनता हो, ऐसे श्रावक के लिए करने योग्य नहीं है। इस प्रकार कह कर अब अतिचार बताने के लिए कहते हैं-- **नाणे तह दंसणे, चरित्ताचरित्ते'** अर्थात् ज्ञान तथा दर्शन के विषय में, तथा स्थूलरूप से आश्रवत्याग यानी सावद्ययोग से विरताविरत (यानी स्थूलरूप से सावद्ययोग त्याग के कारण चारित्र और सूक्ष्मरूप से सावद्ययोग के त्याग के अभाव के कारण अचारित्र ; इस प्रकार **चारित्रा-चारित्र**) जानना। ये देशवरति-आराधना के विषय में लगे हुए अतिचार हुए। अब ज्ञानादि-विषयक अति-चार पृथक्-पृथक् रूप से बतलाते हैं--**'सुए'**=श्रुतज्ञान के विषय में (उपलक्षण से शेष मतिज्ञानादि चार ज्ञान का ग्रहण करना) ज्ञान के विपरीत-उत्सूत्र प्ररूपणा करना, या काल में स्वाध्याय करना आदि ज्ञानाचार के आठ आचारों का पालन नहीं करना, अतिचार है, उसके सम्बन्ध में तथा **'सामाइए'** अर्थात् सामायिक के विषय में, यहाँ सामायिक ग्रहण करने से सम्यक्त्व-सामायिक व देशविरति-सामायिक जानना, सम्यक्त्वसामायिक में शंका, कांक्षा आदि अतिचार हैं। देशविरतिसामायिक के अतिचार के भेद कहते हैं--**'तिण्हं गुत्तीणं'** अर्थात् तीन गुप्ति से खडित किया हो, वह अतिचार, यहाँ मन, वचन और काया के योगों के निरोध में तीन गुप्ति पर श्रद्धा न करने से, तथा विपरीत प्ररूपणा करने से, खण्डन=विराधना करने से **'चउण्हं कसायाणं'**-- अर्थात् क्रोध, मान, माया और लोभरूपी चार कषायों से जिन अप्रशस्त कषायों का करने का निषेध है, उन्हें करने से तथा कषाय-विजय पर अश्रद्धा होने के कारण उनके विपरीत प्ररूपणा करने से तथा **'पंचण्हमणुव्वयाणं, तिण्हं गुणव्वयाण, चउण्हं सिक्खावयाणं'** अर्थात् श्रावक के पांच अणुव्रतों, तीन गुणव्रतों और चार शिक्षाव्रतों में (इनका स्वरूप पहले कह आये हैं), **'बारस-विहस्स सावगधम्मस्स जं खंडियं जं विराहियं'** अर्थात् अणुव्रत आदि सब मिला कर श्रावकधर्म के कुल बारह व्रत होते हैं, उनका देशतः भंग किया हो, अधिक भंग किया हो, मूल से भंग नहीं होने से व्रत की विराधना हुई हो तो **'तस्स मिच्छामि दुक्कडं**=अर्थात् उस दिनसम्बन्धी ज्ञानादिविषय में तथा गुप्ति, चार कषाय, बारह प्रकार के श्रावकधर्मरूप चारित्र के विषय में खण्डन=विराधनारूप अतिचार

लगा हो तो वह मेरा पाप मिथ्या हो। इस प्रकार पाप का प्रतिक्रमण करता हूँ। मेरे लिए वह करने योग्य नहीं है, क्योंकि दुष्कर्तव्य है।

उसके बाद शिष्य आधे शरीर को नमा कर उत्तरोत्तर बढ़े हुए वैराग्य से सम्पन्न हो कर माया, अभिमान आदि से रहित हो कर अपने सभी अतिचारों की विशुद्धि के लिए, इस प्रकार का सूत्र बोले— **'सव्वस्सवि देवसिअं दुच्चितियं, दुब्भासिय, दुच्चिट्ठियं इच्छाकारेण संदिसह।'** इसका अर्थ इस तरह से है= **सव्वस्सवि देवसियं'**=सारे दिन में अणुव्रत आदि सभी के विषय में नहीं करने योग्य के करने से और करने योग्य के नहीं करने से जो अतिचार लगे हों, वे किस प्रकार से? उसे कहते हैं—**दुच्चितियं**= आर्त्तरौद्रध्यानरूप दुष्टचिन्तन करने से, मानसिक अतिचार **'दुब्भासिय**=पापकारी दुर्भाषण करने से वचन-विषयक अतिचार तथा **'दुच्चिट्ठियं'** निषिद्ध या दुष्ट चेष्टाएँ (दौड़ना, कूदना इत्यादि कायिक क्रियाएँ करने से लगे हुए कायिक अतिचार। उन अतिचारों का प्रतिक्रमण करने के हेतु कहते हैं - **'इच्छाकारेण संदिसह** (भगवं) अर्थात् भगवन्! किसी के दबाव या जोरजबर्दस्ती से नहीं, किन्तु अपनी इच्छा से मुझे प्रतिक्रमण करना - (दोष से पीछे हटना) है, उसके लिए अनुमति दें, यों कहकर शिष्य मौनपूर्वक गुरु के सम्मुख खड़ा रह कर उत्तर की प्रतीक्षा करे। जब गुरु **पडिक्कमह'** 'प्रतिक्रमण करो, कहें तब शिष्य बोले **'इच्छं'**=मुझे आपकी आज्ञा प्रमाण है। **तस्स मिच्छामि दुक्कडं** = उपर्युक्त समस्त अतिचाररूप मेरा पाप मिथ्या हो। अर्थात् मैं इन दोषों या अपराधों से जुगुप्सा करता हूं। इसके बाद **वंदित्तु सूत्र** बोला जाता है, उसमें अतिचार का विस्तार से प्रतिक्रमण है। इसके बाद गुरु-सम्बन्धी जो दैवसिक अतिचार लगे हों, उन अपराधों की क्षमायाचना के लिए दो बार वंदनपाठ बोले। तदन्तर अवग्रह में खड़े-खड़े आधा शरीर नमा कर शिष्य अपने अपराधों की क्षमायाचना के लिए गुरु से इस प्रकार निवेदन करे— **इच्छाकारेण संदिसह'**=भगवन्! मेरी अपनी इच्छा है, मुझे आज्ञा दें। किस बात की आज्ञा? उसे कहते हैं —**'अब्भुट्ठिओऽहं अब्भितर-देवसिअं खामेमि'** अर्थात् आपके प्रति दिन में मेरे द्वारा अपराध हुए हों, उनकी क्षमा मांगने के लिए, अन्य इच्छाओं को छोड़ कर क्षमायाचना करने के लिए तत्पर बना हूं। किसकी क्षमायाचना करनी है? उसे कहते हैं —**'अब्भिंतरदेवसियं**=दिन में जो अतिचार लगने की संभावना हुई हो; उनके लिए **खामेमि'**=मैं क्षमायाचना करता हूं। यहाँ पर अतिचार का अध्याहार जानना। अन्य आचार्य इस स्थान पर दूसरा पाठ बोलते हैं— **"इच्छामि खमासमणो'! अब्भुट्ठिओमि अब्भितर-देवसिअं खामेउ"** यहाँ 'इच्छामि' आदि का अर्थ है—क्षमायाचना की इच्छा करता हूं। हे क्षमाश्रमण! केवल क्षमायाचना की इच्छा ही नहीं करता; परन्तु मैं क्षमा मांगने के लिए आपके समीप उपस्थित हुआ हूं, ऐसा कह कर मौनपूर्वक गुरु के आदेश की प्रतीक्षा करे। जब गुरु कहें—**'खामेउ'** =क्षमा मांगो; तब गुरुमहाराज के वचन को आदरपूर्वक शिरोधार्य करते हुए कहे कि —**'इच्छं खामेमि'** =आपकी आज्ञा स्वीकार कर अपने अपराध को खमाता हूँ। यहाँ से क्षमायाचना की क्रिया प्रारंभ करते हैं, इसके बाद विधिपूर्वक दो हाथ, दो घुटने और मस्तक को जमीन पर लगा कर और मुहपत्ती को मुंह के पास रख कर इस प्रकार पाठ बोले—

"जं किंचि अपत्तिअं परपत्तिअं, भत्ते, पाणे, विणए, वेयावच्चे, आलावे, संलावे, उच्चासणे, समासणे, अन्तरभासाए उवरिभासाए, जं किंचि मज्झ विणयपरिहीणं सुहुमं वा बायरं वा, तुब्भे जाणह, अहं न जाणामि, तस्स मिच्छामि दुक्कडं।"

सूत्र-व्याख्या—'जं किंचि'—जो कोई सामान्य-सहज **'अपत्तिअं'**=अल्प अप्रीतिरूप और

'परपत्तिअं'=विशेष अप्रीतिरूप अथवा किसी दूसरे निमित्त से तथा उपलक्षण से मेरे निमित्त से आपके प्रति मेरा या मेरे प्रति आपका ऐसा कोई अपराध हुआ हो, वह मिथ्या हो ; इस प्रकार अन्तिम पद के साथ जोड़ना । अपराध किन-किन विषयों में हुआ ? **'भत्ते'**=भोजन में **'पाणे'**=पानी में **'विणए'**=विनय-व्यवहार मे खड़े आदि होने में **वेयावच्चे'**=औषध, पथ्य, अनुकूल आहार आदि के सहायक होने में **आलावे**=एक बार बोलने में आलाप से, **'संलावे'**=परस्पर अधिक वार्तालाप करने में **'उच्चासणे'**=आपके सामने ऊँचे आसन से बैठने से **'समासणे'**=आपके बराबर आसन लगा कर बैठने से तथा **अन्तरभासाए'**= गुरुदेव किसी से बात करते हों, तब बीच में बोलने से **उवरिभासाए'**=गुरु ने जो बात कही हो, उसे अधिक बढ़ा-चढ़ा कर कहने से **'जं किंचि'**=जो कोई सहजभाव अथवा सर्व प्रकार से **'मज्झ'**=मेरे से **'विणय-परिहीण'**=अविनय से-विनयाभाव से हुआ है । **'सुहुमं वा बायरं वा'**=अल्पप्रायश्चित से शुद्ध होने वाले सूक्ष्म, या विशेषप्रायश्चित से शुद्ध होने वाले बादर, (स्थूल), यहाँ दूसरी बार वा का प्रयोग दोनों के विषय में मिथ्यादुष्कृत देने के लिए हैं । **'तुब्भे जाणह, अहं न जाणामि'**=आप सकलभाव को या उन मेरे अपराधों को जानते हैं, मैं नहीं जानता । मूढ होने से मैं अपने अपराध को भी नहीं जानता और मैंने जो अपने अपराध गुप्तरूप से किये हों वे आपको नहीं बताये हों, उन्हें (मेरे उन अपराधों को) मैं जानता हूं । और आप दूसरों के किए हुए अपराध नहो जानते ; और मैं भी विस्मृति आदि के कारण कई अपराधों को नहीं जानता हूंगा ; तथा आपके सामने प्रत्यक्ष किये हुए अपराध मैं और आप जानते है । इस प्रकार अपराध के चार विकल्प किए ; वे सभी यहाँ पर समझ लेना । **'तस्स'**=उस अप्रीति-विषयक और अविनय-विषयक अपराध के लिए **'मिच्छा मि दुक्कड'**=मेरा पाप मिथ्या हो, अपने गलत आचरण का पश्चात्ताप या स्वीकार रूप प्रतिक्रमण करता हूं ; (ऐसा जैनशासन में पारिभाषिक वाक्य है) 'प्रयच्छामि' अर्थात् देता हूं ; यह पद अध्याहार्य समझना । **'तस्स मिच्छामि दुक्कडं** इस पद का दूसरा अर्थ इस तरह है- **'तस्स'** अर्थात् अप्रीति और अविनय से हुआ वह मेरा अपराध **''मिच्छा'**=मोक्ष-साधन में विरोध करने वाला है 'मे'=मुझको **'दुक्कडं'**=वह पापरूप है । इस तरह अपने दोषों की स्वीकृति रूप प्रतिक्रमण अथवा अपराध की क्षमायाचना जानना ।

पहले वंदन में आलोचना और क्षमापना के लिए वंदन करने का विधान किया है, इसके बाद **'देवसिअं आलोउं'** और **'अब्भुट्ठिओ'** सूत्र की व्याख्या जानना । नहीं तो उसका अवसर प्रतिक्रमण आवश्यक में आता है इस तरह द्वादशावर्तवन्दनविधि पूर्ण हुई । वंदन करने से कर्मनिर्जरारूप मोक्ष होता है । कहा भी है —

''श्री गौतम स्वामी ने प्रभु महावीर भगवान् को पूछा कि 'भगवन् ! वंदन करने से जीव को क्या लाभ होता है ?' भगवान् ने कहा—गौतम ! ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्म जो गाढ़ रूप में बांधे हों, वे कर्म वन्दन से शिथिल हो जाते हैं । लम्बे काल तक स्थिर नहीं रहते, तीव्र रस वाले हों वे कर्म मंद रस वाले हो जाते हैं, और बहुतप्रदेश वाले कर्मबन्धन किये हों, वे अल्पप्रदेश वाले हो जाते हैं । इससे अनादि-अनंत संसाररूपी अटवी में दीर्घकाल तक भ्रमण नहीं करना पड़ता ।'' दूसरा प्रश्न फिर पूछा— ''भगवन्त् ! गुरु-वंदन करने से जीव को क्या फल मिलता है ?'' भगवान् ने कहा—'गौतम ! गुरुवंदन करने से जीव नीचगोत्रकर्म का क्षय करके उच्चगोत्रकर्म का बन्धन करता है, और अप्रतिहत-आज्ञाफल अर्थात् जो गुरु की आज्ञा को खंडित नहीं करता, वह सौभाग्यनामकर्म उपार्जन करता है' 'विनयोपचार

करने योग्य गुरुवर्ग की सेवा और पूजा तीर्थंकर की आज्ञा श्रुतधर्म की आराधना और क्रिया के समान समझना चाहिए।

अब प्रतिक्रमण कहते हैं—इसमें '**प्रति**' उपसर्ग है, जिसका अर्थ है—विपरीत अथवा प्रतिकूल। और '**क्रम**' धातु है; इसका अर्थ है—पादविक्षेप—पैर-स्थापन करना। प्रति उपसर्गपूर्वक क्रम धातु के साथ भाव अर्थ में अनट् प्रत्यय लगने से '**प्रतिक्रमण**' शब्द बना है। प्रतिक्रमण का भावार्थ है—शुभयोग से अशुभयोग में गये हुए आत्मा का फिर से शुभयोग में वापिस लौट आना। कहा भी है—'प्रमादवश हुआ आत्मा अपने स्थान से परस्थान में अर्थात् स्वभाव से विभावदशा में गया हो, उसका फिर लौट कर स्व-स्थान में आ जाना प्रतिक्रमण कहलाता है। प्रति का विपरीत अर्थ करके व्याख्या करते हैं—क्षायोपशमिक भाव में से औदयिक भाव के वश हुआ आत्मा फिर प्रतिकूल गमन करे, अर्थात् क्षयोपशमिक भाव में वापिस लौट आए, तो उसे भी प्रतिक्रमण कहते हैं। यह तो ऊपर की तरह ही अर्थ हुआ। एक अर्थ यह भी हो सकता है—**प्रति प्रति क्रमणं=प्रतिक्रमणम्**=यानी मोक्षफलदायक, शुभयोग के प्रति (शुभयोग की ओर) क्रमण=गमन प्रतिक्रमण है। कहा है 'मायाशल्य आदि सर्वशल्यों से रहित साधु को मोक्षफल देने वाला और शुभयोग की ओर ले जाने (व्यवहार कराने) वाला प्रतिक्रमण कहलाता है। यह प्रतिक्रमण भूत, भविष्य और वर्तमान इन तीनों कालों के पापकर्मों के सम्बन्ध में होता है। यहाँ शंका करते हैं कि प्रतिक्रमण तो भूतकालविषयक ही होता है। कहा है कि—'भूतकाल के किए हुए पापों का प्रतिक्रमण करता हूं वर्तमान काल के पापों का संवर करता (रोकता) हूं और भविष्यकाल के पापों का पच्चक्खाण करता हूं।' इसमें भूतकाल का प्रतिक्रमण ही कहा है, तो फिर तीनों कालों का प्रतिक्रमण कैसे होता है? इसका उत्तर देते हैं—'प्रतिक्रमण' शब्द का अर्थ 'अशुभयोग से निवृत्त हो (रुक) जाना', इतना ही समझना चाहिए। यह भी तो कहा है—जैसे मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण है, वैसे असंयम का प्रतिक्रमण, कषाय का प्रतिक्रमण, प्रमाद का प्रतिक्रमण और अप्रशस्त (खराब) योग का प्रतिक्रमण भी है। निष्कर्ष यह है कि इन पांचों से रुकना प्रतिक्रमण कहलाता है। इसमें निंदा द्वारा अशुभयोग से निवृत्तिरूप भूतकाल-सम्बन्धी प्रतिक्रमण, संवर द्वारा वर्तमान अशुभयोग से निवृत्तिरूप वर्तमानकाल का प्रतिक्रमण और पच्चक्खाण से भविष्यकाल-सम्बन्धी अशुभयोग से निवृत्तिरूप प्रतिक्रमण है। इस तरह तीनों काल-सम्बन्धी अशुभयोग से निवृत्तिरूप त्रिकाल-प्रतिक्रमण होने में कोई आपत्ति नहीं है। फिर यह प्रतिक्रमण दैवसिक आदि भेद से पांच प्रकार का है। जो दिन के अन्त में किया जाय, वह दैवसिक; रात के अन्त में किया जाय; वह रात्रिक, पक्ष के अन्त में किया जाय, वह पाक्षिक, जो चार मास के अन्त में किया जाय, वह चातुर्मासिक और संवत्सर-(वर्ष) के अन्त में किया जाय, वह सांवत्सरिक प्रतिक्रमण कहलाता है। पुनः यह प्रतिक्रमण दो प्रकार का है- ध्रुव और अध्रुव। भरत और ऐरावत क्षेत्रों में प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरों के तीर्थ में ध्रुवरूप है; नित्य-अपराध हुए हों चाहे न हुए हों, फिर भी सुबह-शाम उभयकाल प्रतिक्रमण करना लाजमी होता है और बीच के २२ तीर्थंकरों के तीर्थ में एवं महाविदेहक्षेत्र में कारणवश अर्थात् दोष लगे हों तभी, प्रतिक्रमण किया जाता है, अतः वह अध्रुव है। इसी बात को कहा है—'प्रथम और अन्तिम जिनेश्वर का धर्म सप्रतिक्रमण है; अर्थात् उनके शासन में साधुसाध्वियों के लिए दोनों समय प्रतिक्रमण करना आवश्यक है, और बीच के २२ तीर्थंकरों के तीर्थ में कारणवश (दोष लगे तभी) प्रतिक्रमण करना होता है।' प्रतिक्रमण की विधि पूर्वाचार्यों ने बताई है; वह गाथाओं के अनुसार जानना। हम यहाँ सिर्फ उनका अर्थ दे रहे हैं—

'पांच प्रकार के आचार की विशुद्धि के लिए साधु और श्रावक भी गुरु के साथ प्रतिक्रमण करे, और गुरुमहाराज के अभाव में श्रावक अकेला भी करे ॥१॥ सर्व-प्रथम देववन्दन करके प्रारम्भ में चार खमासमण। दे कर **'भगवान हूं !'** ·· ····आदि कह कर भूमितल पर मस्तक लगा कर **'सव्वस्स वि'** बोले। उसके बाद सारे अतिचारों का **'मिच्छा मि दुक्कडं'** दे ॥२॥ उसके बाद **सामायिकसूत्रयुक्त 'इच्छामि ठामि काउस्सग्गं'** आदि सूत्र बोल कर दोनों हाथ नीचे लटका कर कोहनी से चोलपट्टे को कमर के उपर दबा कर रखे ॥३॥ और घोटक आदि १६ दोषों से रहित काउसग्ग करे। उसमें चोलपट्टा नाभि से चार अंगुल नीचे और घुटने से चार अंगुल ऊपर रखे, (श्रावक भी इस तरह धोती रखे) ॥४॥ काउस्सग्ग में दिन में लगे हुए अतिचार को क्रमशः हृदय में धारण-(स्मरण) करे और णमोक्कारमंत्र बोल कर काउस्सग्ग पूर्ण करे। फिर प्रकटरूप में पूरा लोगस्स कहे ॥५॥ तदनन्तर संडासा प्रमार्जन कर नीचे बैठ कर, दोनों हाथों को, स्पर्श न हो इस तरह लम्बे करके पच्चीस बोल से मुहपत्ती और पच्चीस बोल से शरीर का प्रतिलेखन करे ॥६॥ उसके बाद खड़े हो कर विनय-सहित विधिपूर्वक बत्तीस दोषों से रहित पच्चीस आवश्यक-विशुद्ध वन्दन करे ॥७॥ तदनन्तर कमर के ऊपर के भाग को अच्छी तरह नमा कर दोनों हाथों में मुहपत्ती और रजोहरण पकड़ कर, काउस्सग्ग में विचार किये हुए अतिचारों को ज्ञानादिक्रमानुसार गुरु के सामने प्रगट में निवेदन करे। ॥८॥ उसके बाद जयणा और विधिपूर्वक बैठ कर यतना से अप्रमत्त बन कर **'करेमि भंते'** आदि कह कर **'वंदित्तु सूत्र'** बोले, उसमें **अब्भुट्ठिओ मि आराहणाए** आदि का शेष सूत्र बोलते समय विधिपूर्वक द्रव्य-भाव दोनों प्रकार से खड़ा हो जाय ॥९॥ तत्पश्चात् दो बार वन्दना दे कर मंडली में पांच अथवा इससे अधिक साधु हों तो **अब्भुट्ठिओ** बोल कर तीन से क्षमायाचना करे और बाद में दो वंदना दे कर **आयरिय उवज्झाय** आदि तीन गाथा बोले ॥१०॥ उसके बाद **'करेमि भंते, इच्छामि ठामि,** इत्यादि काउस्सग्ग के सूत्र कह कर काउस्सग्ग (ध्यान) में स्थित हो कर चारित्र के अतिचारों की शुद्धि के लिए दो लोगस्स का चिन्तन करे ॥११॥ उसके बाद विधिपूर्वक काउस्सग्ग पूर्ण कर सम्यक्त्व की शुद्धि के लिए प्रगटरूप में **लोगस्स** बोले तथा उसी की शुद्धि के लिए **सव्वलोए अरिहंत-चेइयाणं,** कह कर, उन चैत्यों की आराधना के लिए काउस्सग्ग करे ॥१२॥ उसमें एक लोगस्स का ध्यान करे, दर्शनशुद्धि वाले उस काउस्सग्ग को पार कर फिर श्रुतज्ञान की शुद्धि के लिए **'पुक्खरवर-दीवड्ढे'** सूत्र बोले ॥१३॥ फिर **'चंदेसु निम्मलयरा'** तक पच्चीस श्वासोच्छ्वास प्रमाण वाला लोगस्स का काउस्सग्ग करे और विधिपूर्वक पूर्ण करे। उसके बाद शुभ अनुष्ठान के फलस्वरूप **'सिद्धाणं बुद्धाणं'** का सिद्धस्तव बोले ॥१४॥ तदनंतर श्रुत-स्मृति के कारणभूत श्रुत देवता का काउस्सग्ग करे; उसमें नवकार-मन्त्र का ध्यान पूर्ण करके श्रुत देवता की स्तुति बोले अथवा सुने ॥१५॥ इस प्रकार क्षेत्र देवता का भी काउस्सग्ग करे, उसकी स्तुति बोले या सुने। बाद में प्रगट में नवकार-मन्त्र बोले। फिर संडासा प्रमार्जन कर नीचे बैठे ॥१६॥ उसके बाद पूर्वोक्त विधि के अनुसार मुहपत्ती-प्रतिलेखन करके दो वन्दना देकर **'इच्छामो अणुसट्ठिं'** कह कर घुटने के सहारे नीचे बैठे ॥१७॥ फिर गुरुमहाराज **'नमोऽस्तु'** की एक स्तुति कहें, उसके बाद बढ़ते अक्षर और बढ़ते स्वर से तीन स्तुति पूर्ण कहे; तदनन्तर **शक्रस्तव-नमोत्थुणं** और स्तवन बोल कर दैवसिक प्रायश्चित्त का काउस्सग्ग करे ॥१८॥ इस प्रकार दैवसिक प्रतिक्रमण का क्रम पूर्ण हुआ।

रात्रिक प्रतिक्रमण की विधि भी इसी प्रकार है। इसमें पहले **'सव्वस्स वि'** कह कर **'मिच्छामि दुक्कडं'** से प्रतिक्रमण की स्थापना करके काउस्सग्ग करे ॥१९॥ उसके बाद विधिपूर्वक चारित्राचार की

शुद्धि के लिए काउस्सग्ग में एक लोगस्स का चिन्तन करे; फिर दूसरा काउस्सग्ग दर्शनशुद्धि के लिए करे, उसमें भी एक लोगस्स का ध्यान करे ।।२०।। तीसरे काउस्सग्ग में क्रमशः रात में लगे हुए अतिचारों का चिन्तन करके काउस्सग्ग पूर्ण करे और **'सिद्धाणं बुद्धाणं'** बोल कर संडासा-प्रमार्जन कर घुटनों के बल खड़े पैरों से नीचे बैठे ।।२१।। पहले कहे अनुसार मुहपत्ती पडिलेहण करे, दो वन्दना दे कर रात्रि के अतिचार की आलोचना कह कर **'वंदित्तुसूत्र'** कहे। उसके बाद दो वन्दना दे कर **अब्भुट्ठिओ** सूत्र से क्षमायाचना करे, फिर दो वन्दना दे और **आयरिअ उवज्झाए** की तीन गाथा आदि सूत्र कह कर तप-चिन्तन का काउस्सग्ग करे ।।२२।। उस काउस्सग्ग में मन में निश्चय करे कि **अपनी संयमयात्रा में हानि न पहुंचे इस तरह से मैं छह महीने का तप करूं** । उत्कृष्ट छह महीने तप करने की स्वयं की शक्ति न हो ।।२३।। तो एक दिन, दो दिन, तीन दिन इस प्रकार एक-एक दिन कम करते-करते पांच महीने का चिन्तन करे। इतना सामर्थ्य न हो तो उसमें भी एक-एक दिन कम करते-करते चार महीने, फिर तीन महीने, दो महीने तक का सोचे। उसका भी सामर्थ्य न हो, तो कम करते-करते एक महीने के तप का चिन्तन करे ।।२४।। इतना भी सामर्थ्य न हो तो उसमें भी तेरह दिन कम करते हुए चौंतीस भक्त (सोलह उपवास रूप) तप का चिन्तन करना; वैसी भी शक्ति न हो तो दो-दो भक्त कम करते-करते आखिर चतुर्थभक्त (एक उपवास) तक के तप का चिन्तन करना। उस शक्ति के अभाव में आयंबिल आदि से ले कर पोरसी-नमुक्कारसी तक का चिन्तन करे ।।२५।। इस तरह चिन्तन करते हुए जिस तप को कर सकता है; उस तप का हृदय में निश्चय करके काउस्सग्ग पूर्ण करे। फिर प्रगट में लोगस्स कहे। तदनन्तर मुहपत्ति-पडिलेहण करे। दो वन्दना दे कर निष्कपट भाव से मन में धारण किया हो, उस तप का गुरु से पच्चक्खाण ग्रहण करे ।।२६।। बाद में **'इच्छामो अणुसट्ठिं'** बोल कर नीचे बैठ कर **'विशाल-लोचन-दलं'** की तीन स्तुति मंदस्वर से बोले, बाद में शक्रस्तव आदि से देववंदन करे ।।२७।।

पाक्षिक प्रतिक्रमण चतुर्दशी के दिन करना चाहिए, उसमें पूर्ववत् वंदित्तु सूत्र तक दैवसिक प्रतिक्रमण करे, उसके बाद सम्यग्रूप से पाक्षिक प्रतिक्रमण इस क्रम से करे ।।२८।। प्रथम पक्खी मुहपत्ती पडिलेहण कर दो वन्दना दे, बाद में **'संबुद्धा'** क्षामणा कर पाक्षिक अतिचार की आलोचना करे; फिर वन्दना दे कर प्रत्येक क्षामणा कर क्षमायाचना करना, बाद में वन्दना दे कर पाक्षिक सूत्र कहे ।।२९।। उसके बाद **'वंदित्तु'** सूत्र बोले; उसमें **'अब्भुट्ठिओमि आराहणाए'** पद बोलते हुए खड़े हो कर **'वंदित्तु'** सूत्र पूर्ण करके बाद में काउस्सग्ग करे। उसके बाद मुहपत्ती पडिलेहण कर वन्दना देकर **'समत्त'**—समाप्त क्षामणा और चार **थोभ** वंदना करे ।।३०।। उसके बाद पूर्व-विधि-अनुसार शेष रहा दैवसिक प्रतिक्रमण पूर्ण करे। परन्तु श्रुतदेवता के स्थान पर भुवनदेवता का काउस्सग्ग करे और स्तवन के स्थान पर **'अजित शांति—स्तव** कहे, इतना-सा अन्तर समझ लेना चाहिए। ।।३१।। इस तरह पाक्षिक विधि के अनुसार क्रमशः चातुर्मासिक और सांवत्सरिक प्रतिक्रमण-विधि जानना। केवल उसमें जिस-जिस प्रकार का प्रतिक्रमण हो, उसका नाम कहना। ।।३२।। तथा उनके काउस्सग्ग अनुक्रम से बारह, बीस और नवकारमन्त्र-सहित द्रव्य से चालीस लोगस्स करना और **'संबुद्धामणा'** आदि में तीन, पांच और साधुओं को यथाक्रम से **'अब्भुट्ठिओमि'** का क्षामणा करना ।।३३।। प्रतिक्रमण में **'वंदित्तु'** सूत्र का विवेचन ग्रन्थ विस्तृत हो जाने के भय से यहां नहीं कर रहे हैं।

कायोत्सर्ग—(काउसग्ग) का अर्थ है—शरीर का त्याग करना। उसका विधान यह है कि शरीर से जिनमुद्रा में खड़े हो कर अथवा अपवाद रूप वृद्धताग्लानत्व आदि कारणवश आदि एकाग्रतापूर्वक स्थिर

हो कर बैठना। शब्द से मौन धारण करना, और मन से शुभध्यान करना। श्वासोच्छ्वासादि अनिवार्य शारीरिक चेष्टाओं के सिवाय-मन वचन-काया की समग्र प्रवृत्तियों का त्याग करना कायोत्सर्ग कहलाता है। वह **काउस्सग्ग** जितने श्वासोच्छ्वास का हो, उतने प्रमाण में नवकार या लोगस्स का चिन्तन करे। उसके पूर्ण होने पर **'नमो अरिहंताणं'** का उच्चारण करना। यहां तक ऊपर कहे अनुसार कायोत्सर्ग करे। वह कायोत्सर्ग दो प्रकार का है—एक चेष्टा (प्रवृत्ति) वाला और दूसरा उपसर्ग (पराभव) के समय में; जाने-आने आदि की प्रवृत्ति के लिए। इरियावहि आदि का प्रतिक्रमण करते समय जो काउस्सग्ग किया जाता है, वह चेष्टा (प्रवृत्ति) के लिए जानना, और जो उपसर्ग-विजय के लिए किया जाता है, वह पराभव के लिए जानना। कहा है कि **चेष्टा और पराभव** की दृष्टि से कायोत्सर्ग के दो भेद हैं। भिक्षा के लिये जो प्रवृत्तियाँ की जाती हैं, वे चेष्टा-कायोत्सर्ग के अन्तर्गत आती हैं एवं उपसर्ग के लिए जो किया जाय, वह पराभव से अन्तर्गत आता है। चेष्टा-कायोत्सर्ग जघन्य आठ से लेकर पच्चीस, सत्ताईस, तीन सौ, पांच सौ, और ज्यादा से ज्यादा एक हजार आठ श्वासोच्छ्वास प्रमाण वाला होता है। और उपसर्ग आदि पराभव के लिए जो कायोत्सर्ग किया जाता है, वह एक मुहूर्त से ले कर बाहुबलि के समान एक वर्ष तक का भी होता है। वह काउस्सग्ग तीन प्रकार की मुद्रा से होता है—**खड़े-खड़े, बैठे-बैठे** और सोए-सोए भी होता है। इन तीनों के प्रत्येक के चार-चार भेद हैं। उसमें से पहला प्रकार है—**'उच्छ्रितोच्छ्रित'** है। अर्थात् द्रव्य और भाव दोनों प्रकार से खड़े होना अर्थात् द्रव्य से शरीर से खड़े होना और भाव से धर्म या शुक्लध्यान में खड़े (स्थिर) होना। दूसरा—**'उच्छ्रितानुच्छ्रित'** है। अर्थात् द्रव्य से खड़े रहने के लिए उच्छ्रित और भाव से कृष्णादि अशुभलेश्या (परिणाम) के होने से अनुच्छ्रित। तीसरा—**अनुच्छ्रितोच्छ्रित** है। अर्थात् द्रव्य से नीचे बैठ कर और भाव से धर्मध्यान या शुक्लध्यान में उद्यत हो कर, तथा चौथा **'अनुच्छ्रितानुच्छ्रित'** अर्थात् द्रव्य से शरीर से नीचे बैठना और भाव से कृष्णादि लेश्या के उतरते अशुभपरिणामों के कारण परिणामों से नीचे बैठना। इस प्रकार बैठते, उठते और सोते हुए के चार चार भेद जानना। कायोत्सर्ग दोषों से बच कर करना चाहिए। कायोत्सर्ग के इक्कीस दोष आचार्यों ने बताए हैं—

कायोत्सर्ग के दोष—(१) घोड़े के समान एक पैर से खड़े हो कर काउस्सग्ग करना, **घोटक दोष** है। (२) जोरदार हवा से कांपती हुई बेल के समान शरीर को कंपाना, **लतादोष** है (३) खंभे का सहारा ले कर काउस्सग्ग करना, **स्तम्भदोष** (४) दीवार का सहारा ले कर काउस्सग्ग करना **कुड्यदोष** है। (५) ऊपर छत के मस्तक अड़ा कर काउस्सग्ग करना, **मालदोष** है, (६) भीलनी के समान दोनों हाथ गुह्य-प्रदेश पर रख कर काउस्सग्ग करना, **शबरीदोष** है; (७) कुलवधू के समान मस्तक नीचे झुका कर काउस्सग्ग करना, **वधूदोष** है; (८) बेड़ी में जकड़े हुए के समान दोनों पैर लम्बे करके अथवा इकट्ठे करके कायोत्सर्ग में खड़ा होना, **निगडदोष** है, (९) नाभि के ऊपर और घुटने से नीचे तक चोलपट्टा बांध कर काउस्सग्ग करना **लम्बोत्तरदोष** है। (१०) जैसे स्त्री वस्त्रादि से स्तन को ढकती है, वैसे ही डांस-मच्छर के निवारण के लिए अज्ञानतावश काउस्सग्ग में स्तन या हृदयप्रदेश ढकना, **स्तनदोष** है; अथवा धायमाता जैसे बालक को स्तनपान कराने के लिए स्तनों को नमाती है; वैसे स्तन अथवा छाती को नमा कर काउस्सग्ग करना भी स्तनदोष है। (११) बैलगाड़ी जैसे पीछे के दोनों पहियों के सहारे अधर खड़ी रहती है, वैसे ही पीछे की दोनों एड़ियों या आगे के दोनों अंगूठे इकट्ठे करके अथवा दोनों अलग-अलग रख कर अविधि से काउस्सग्ग करना वह **शकटोर्ध्विका** नामक दोष है (१२) साध्वी के समान मस्तक के सिवाय बाकी के पूरे शरीर को कायोत्सर्ग में वस्त्र से ढक लेना, **संयतीदोष** है (१३) घोड़े की

लगाम के समान चरवले या ओघे के गुच्छ को पकड़ कर कायोत्सर्ग में खड़े रहना, **खलीनदोष** है। अन्य आचार्य कहते हैं कि लगाम से पीड़ित घोड़े के समान कायोत्सर्ग में बार-बार सिर हिलाना, या सिर को ऊपर-नीचे करना, खलीनदोष है (१४) कायोत्सर्ग में कौए के समान आँखों को इधर-उधर नचाना या अलग-अलग दिशाओं में देखना, **वायसदोष** है। (१५) जूं होने के भय से चोलपट्टे को इकट्ठा करके कपित्थफल की तरह मुट्ठी में पकड़ कर काउस्सग्ग करना **कपित्थ-दोष है**; इसी तरह मुट्ठी बंद करके काउस्सग्ग करने से भी वही दोष लगता है, (१६) भूतग्रस्त की तरह काउस्सग्ग में बार-बार सिर धुनना, **शीर्षोत्कम्पित** दोष है : (१७) गूंगे के समान समझ में न आए, ऐसे अव्यक्त अस्पष्ट शब्द कायोत्सर्ग में बोलना, **मूकदोष** है ; (१८) 'लोगस्स' की संख्या गिनने के लिए पौरों पर अंगुलि चलाते हुए काउस्सग्ग करना, **अंगुलीदोष** है ; (१९) दूसरी ओर आँखें फिराने के लिए आँखों की भौहों को नचाते-घुमाते हुए काउसग्ग करना, **भ्रूदोष** है, (२०) मदिरा उबालते समय होने वाले बुड़बुड़ शब्द की तरह बुदबुदाते हुए काउसग्ग करना, **वारुणीदोष** है ; दूसरे आचार्य का कहना है, शराब पी कर मतवाले बने हुए के समान इधर-उधर झूमते हुए काउसग्ग करना **वारुणीदोष** है और (२१) जैसे स्वाध्याय करते समय दोनों होठ हिलते हैं, वैसे ही होठ हिलाते हुए काउसग्ग करना, **अनुप्रेक्षादोष** कहलाता है। संक्षेप में कायोत्सर्ग के दोषों के नाम इस प्रकार हैं—घोटक, लता, स्तम्भ, कुड्य, माल, शबरी, वधू, निगड़, लम्बोत्तर, स्तन, ऊर्ध्वी, संयती, खलीन, वायस, कपित्थ, शीर्षोत्कम्पित, मूक, अंगुलि, भ्रू, वारुणी, और प्रेक्षा। कई आचार्य इनके अलावा कुछ दोष और बताते हैं – जैसे कायोत्सर्ग के समय थूकना, शरीर के अंगों को छूना, खुजलाना, प्रायः चंचलता रखना, सूत्रोक्त विधि के पालन में कमी रखना, वयसीमा की उपेक्षा करना, काल-मर्यादा का उल्लंघन करना, आसक्तिमय व्यग्र चित्त रखना, लोभवश चित्त को चंचल करना, पाप-कार्य में उद्यम करना, कार्याकार्य में विमूढ़ बन जाना, पट्टे या चौकी पर खड़े हो कर काउसग्ग करना ; इत्यादि दोष हैं। काउसग्ग का फल भी निर्जरा ही है। अतः कहा है कायोत्सर्ग में विधिपूर्वक खड़े रहने से शरीर के अंगोपांग ज्यों-ज्यों टूटते-दुखते है; त्यों-त्यों सुविहित आत्मा के आठ प्रकार के कर्मसमूह टूटते जाते हैं। कायोत्सर्ग के सूत्रों का अर्थ और व्याख्या हम पहले कर चुके हैं।

प्रत्याख्यान प्रति+आ+ख्यान, इन तीन शब्दों से प्रत्याख्यान शब्द बना है। प्रति का अर्थ है—प्रतिकूल प्रवृत्ति, आ=मर्यादापूर्वक और **ख्यान** – कथन करना ; अर्थात्– अनादिकाल से विभावदशा मे रहे हुए आत्मा के द्वारा वर्तमान स्वभाव से प्रतिकूल मर्यादाओं का त्याग करके अनुकूल मर्यादाओं का स्वीकार करना, प्रत्याख्यान अथवा पच्चक्खाण कहलाता है। इसके दो भेद हैं– मूलगुण रूप और उत्तरगुणरूप। साधुओं के लिए पांच महाव्रत और श्रावकों के लिए ५ अणुव्रत मूलगुण है। साधुओं के लिए पिंडविशुद्धि आदि उत्तरगुण हैं और श्रावकों के लिए गुणव्रत और शिक्षाव्रत उत्तरगुण है। मूल-गुण में हिंसा आदि पांच पापो के सर्वतः और देशतः त्यागरूप प्रत्याख्यान (नियम) होते है, जबकि उत्तरगुण मे साधुओं के लिए पिंडविशुद्धि आदि श्रावकों के लिए दिग्व्रतादि के नियम प्रतिपक्षभाव के त्याग के रूप में होते हैं। जिसने पहले उचित समय पर अपने आप प्रत्याख्यान (नियम) ग्रहण किये हों, ऐसे प्रत्याख्यान के स्वरूप का जानकार श्रावक प्रत्याख्यान के पूर्व विशेषज्ञ गुरु के समक्ष सविनय उपयोग-पूर्वक चित्त की एकाग्रता के साथ प्रत्याख्यान के लिए जाता है और वे जिस प्रत्याख्यान का पाठ बोलते हैं, तदनुसार स्वयं भी उसके अर्थ पर चिन्तन करते हुए उस प्रत्याख्यान का स्वीकार करे। इस सम्बन्ध में प्रत्याख्यान की चतुर्भंगी द्रष्टव्य है –(१) स्वयं भी प्रत्याख्यान का अर्थ जाने और कराने वाला गुरु भी जाने, पहला शुद्ध भंग है। (२) प्रत्याख्यानदाता गुरु जाने, परन्तु लेने वाला न जाने, यह दूसरा शुद्धा-

शुद्ध भंग है। यदि प्रत्याख्यान कराते समय गुरु लेने वाले को संक्षेप में समझा कर प्रत्याख्यान कराए तो तो यह अंग भी शुद्ध हो सकता है। (३) गुरु प्रत्याख्यानविधि से अनभिज्ञ हो ; किन्तु शिष्य अभिज्ञ हो, यह तीसरा अशुद्ध-शुद्ध भंग है यह भंग भी विज्ञ गुरु के योग के अभाव में गुरु के प्रति बहुमान होने से गुरु के बदले साक्षीरूप में पिता, चाचा, मामा, बड़े भाई आदि को मान कर प्रत्याख्यान करे तो पूर्ववत् शुद्ध माना जा सकता है (४) किन्तु जहाँ गुरु भी प्रत्याख्यानविधि से अनभिज्ञ हो और शिष्य भी विवेक-हीन हो, वहाँ दोनों अशुद्ध होने से चौथा भंग अशुद्ध ही है।

मूलगुण का प्रत्याख्यान प्रायः जीवनपर्यन्त का होता है ; जब कि उत्तरगुण का प्रत्याख्यान प्रायः प्रतिदिन उपयोगी होता है। उत्तरगुणप्रत्याख्यान भी दो प्रकार है—संकेतप्रत्याख्यान और अद्धा-प्रत्याख्यान। संकेत-प्रत्याख्यान वह है, जिसमें श्रावक पोरसी आदि का प्रत्याख्यान करके बाहर खेत आदि पर गया हो या घर पर रहा हो, परन्तु भोजन मिलने से पहले तक वह प्रत्याख्यान किये बिना न रहे ; इस दृष्टि से मुट्ठी, गांठ या अंगूठे आदि खोलने के संकेत से ही अपना प्रत्याख्यान पूर्ण कर लेता है। यानी वह निम्नोक्त संकेतरूप में प्रत्याख्यान इस प्रकार करता है कि 'जब तक मैं अंगूठे, मुट्ठी या गांठ को न खोल लू, अथवा घर में प्रवेश न करूं, जब तक पसीने की बूंदें न सूख जांय, तब तक, इतने श्वासो-च्छ्वास पूरे न हों, पानी से भीगी चारपाई जब तक सूख न जाय, अथवा जब तक इसमें से बूंदें टपकनी बद न हो जांय, अथवा जब तक दीपक न बुझ जाय, तब तक मैं भोजन नहीं करूंगा। कहा भी है—अंगुठा, मुट्ठी, गांठ, घर, पसीना, श्वासोच्छ्वास, बिन्दु, दीपक आदि के संकेत की अपेक्षा से किये जाने वाले प्रत्याख्यान को अनन्तज्ञानी धीरपुरुषों ने संकेत-प्रत्याख्यान कहा है। अद्धापच्चक्खाण उसे कहते हैं, जिसमें काल की मर्यादा - सीमा हो। वह दस प्रकार का है। वे दस प्रकार ये हैं—(१) नवकार-सहित-नौकारसी, (२) पोरसी, (३) पुरिमड्ढ (पूर्वार्द्ध), (४) एकासण, (५) एकलठाणा, (६) आयंबिल, (७) उपवास, (८) दिवसचरिम अथवा भवचरिम, (९) अभिग्रह और (१०) निविग्गई या विग्गइय (विकृतिक)-सम्बन्धी। ये दसों कालप्रत्याख्यान हैं।

यहाँ शका होती है कि एकासण आदि प्रत्याख्यान में तो स्पष्टरूप से काल की कोई मर्यादा नहीं मालूम होती, फिर उसे कालप्रत्याख्यान क्यों कहा गया ? इसका समाधान यों देते हैं कि यह ठीक है कि एकासन के साथ कालमर्यादा की आवश्यकता नहीं है. परन्तु पूर्वाचार्यों द्वारा इसकी भी कालमर्यादा (सीमा) बांधी है, और एकासन जैसे प्रत्याख्यान अद्धाप्रत्याख्यान के साथ किये जाते हैं, इसलिए वह भी अद्धा-प्रत्याख्यान कहलाता है। प्रत्याख्यान आगारसहित कराना चाहिए, अन्यथा वह भंग हो जाता है। और प्रत्याख्यान का भंग होना या करना बहुत बड़ा दोष है। इसीलिए महर्षियों ने कहा है व्रत-प्रत्याख्यानभंग हो जाने से बहुत बड़ा दोष लगता है, जबकि जरा से भी प्रत्याख्यान (नियम) का पालन करने में गुण है। धर्मकार्य में लाभ-हानि का विवेक करना बहुत आवश्यक है। इसके लिए प्रत्याख्यान के साथ कुछ आगार बताये जाते हैं। आगार का अर्थ है—प्रत्याख्यान भंग न हो, इसलिए व्रत, नियम या प्रत्याख्यान लेते समय उसके साथ रखी हुई मर्यादा, छूट, (रियायत या अपवाद)। किस-किस प्रत्याख्यान में कितने-कितने और कौन-कौन से आगार हैं ? इसके लिए वे क्रमशः बताते हैं—नमस्कार-उच्चारणपूर्वक पारने योग्य मुहूर्तकाल-प्रमाण नौकारसी प्रत्याख्यान में दो आगार होते हैं, जिनके बारे में हम यथावसर आगे कहेंगे। यहां एक शंका होती है कि नौकारसी पच्चक्खाण में निश्चितरूप से कालमर्यादा मालूम नहीं होती, इसलिए इसे संकेतप्रत्याख्यान क्यों न कहा जाय ? इसका समाधान यों करते हैं कि यह बात यथार्थ नहीं

है। यहाँ 'नमुक्कारसहियं' शब्द में 'नमुक्कार' शब्द के साथ 'सहियं' शब्द जुड़ा हुआ है. सहियं का अर्थ है—सहित। अतः 'सहियं' शब्द मुहूर्तकालसहित का द्योतक है। फिर 'सहियं' शब्द विशेषण है। और विशेषण से विशेष्य का बोध होता है। अतः 'सहिय' शब्द से 'मुहूर्तकालसहित' अर्थ निकलता है। यहाँ फिर प्रश्न उठाया जाता है कि यहाँ 'मुहूर्त' शब्द तो है नहीं, फिर वह विशेष्य कैसे हो सकता है?' इसका उत्तर देते हैं कि शास्त्र में इसे काल-पच्चक्खाण में गिना है, और प्रहर आदि काल वाले पोरसी आदि पच्चक्खाण तो आगे अलग से हम कहेंगे, इसलिए उसके पहले यह पच्चक्खाण मुहुर्त-प्रमाण का माना जाता है, इसलिए नमुक्कार सहित पच्चक्खाण में मुहूर्त-काल है, यह समझ लेना चाहिए। फिर शंका की जाती है कि इसका काल एक मुहुर्त के बदले दो मुहूर्त का क्यों नहीं रखा गया?' इसका समाधान यह है कि 'नौकारसी में केवल दो ही आगारों की छूट रखी है, जबकि पोरसी में छह आगार रखे हैं। 'नमुक्कारसहियं' में दो आगार रखने से उसका अल्प-फल मिलता है, क्योंकि एक मुहूर्त के अनुपात में ही तो उसका फल मिलेगा! अतः यह नमुक्कारसी (नमस्कारसहित) का प्रत्याख्यान एक मुहूर्त प्रमाण का ही समझना। वह अल्पकाल का पच्चक्खान भी नमस्कारमन्त्र के साथ है। अर्थात् सूर्योदय होने के बाद एक मुहुर्त पूर्ण होने के बाद भी जब तक नवकार-मन्त्र का उच्चारण न करे, तब तक वह पच्चक्खान पूर्ण नहीं होता। किन्तु दो घड़ी से पहले ही यदि नवकार-मन्त्र बोल कर पच्चक्खान पार ले तो, प्रत्याख्यानकालमर्यादा के अनुसार उसका काल अपूर्ण होने से प्रत्याख्यान भंग हो जाता है। इससे सिद्ध हुआ कि नमुक्कारसी पच्चक्खाण सूर्योदय से मुहूर्तप्रमाणकाल और नवकारमन्त्र के उच्चारणसहित होता है। अब प्रथम मुहुर्त किस तरह लेना? सूत्र प्रमाण से पोरसी के समान वह सूत्र इस प्रकार है—

"उग्गए सूरे नमोक्कार-सहियं पच्चक्खाइ, चउव्विहं पि आहारं, असणं, पाणं, खाइमं, साइमं, अण्णत्थणाभोगेणं सहसागारेणं वोसिरइ।"

सूत्र व्याख्यार्थ—'उग्गए सूरे' अर्थात् सूर्य-उदय से ले कर '**नमोक्कार-सहिअ**' अर्थात् पंच-परमेष्ठि-नमस्कार-महामन्त्र-सहित और समस्त धातु 'करना' अर्थ में व्याप्त होते हैं, इस न्याय '**पच्चक्खाइ**' अर्थात् नमस्कार सहित प्रत्याख्यान करता है। इसमें **पच्चक्खाण** देने वाले गुरुमहाराज के अनुवाद-रूप कहे जाने वाले वचन हैं, उसका स्वीकार करने वाला शिष्य '**पच्चक्खामि**' अर्थात्—मैं पच्चक्खाण करता हूं' ऐसा बोले, इसी तरह वोसिरइ (व्युत्सृजति) के स्थान में भी गुरु-महाराज के कथित वचन का स्वीकार करने के लिए शिष्य अनुवाद के रूप में '**वोसिरामि**=(त्याग करता हूं)' बोले। व्युत्सर्ग (त्याग) किसका किया जाय?, इसे बताते हैं—'**चउव्विहं पि आहारं**=चार प्रकार के आहार का त्याग करता हूँ। इस विषय में सम्प्रदाय-परम्परागत अर्थ इस प्रकार है – प्रत्याख्यान करने के पूर्व रात्रि से ले कर चारों आहार का त्याग करना नौकारसी है, अथवा रात्रिभोजन-त्याग व्रत को उसकी तटीय सीमा तक पहुँच कर पार उतरते हुए सूर्योदय से एक मुहूर्त (४८ मिनट) काल पूर्ण होने पर नमस्कारमंत्र के उच्चारणपूर्वक पारणा करने से नौकारसीपच्चक्खाण पूर्ण होता है। अशन-पान आदि चार प्रकार के आहार की व्याख्या पहले की चुकी है। यहाँ प्रत्याख्यान भंग न होने के कारण बताते हैं—'**अण्णत्थणाभोगेणं सहसागारेणं**'। यहाँ पंचमी के अर्थ में तृतीया विभक्ति का प्रयोग किया गया है। अनाभोग और सहसाकार, इन दो कारणों से प्रत्याख्यान खण्डित नहीं होता। अनाभोग का अर्थ है—अत्यन्त विस्मृति के कारण के लिये हुए पच्चक्खाण को भूल जाना और सहसाकार का अर्थ है—उतावली या हड़बड़ी में की गई प्रवृत्ति अथवा अकस्मात्=हठात् (यकायक) मुंह में चीज डाल लेने या पड़ जाने

की हुई क्रिया। जैसे गाय दुहते समय अचानक दूध के छींटे या स्नान करते समय सहसा उछल कर पानी के छींटे मुंह में पड़ जाना सहसाकार है। ऐसा हो जाने पर पच्चक्खाण भंग नहीं होता। **'वोसिरइ'** का **अर्थ** पहले कह चुके हैं।

अब पोरसी के पच्चक्खाण का पाठ कहते हैं—

'पोरिसी पच्चक्खाइ, उग्गए सूरे चउव्विहं पि आहारं, असणं, पाणं, खाइमं, साइमं, अण्णत्थणा-भोगेणं सहसागारेणं, पच्छन्न-कालेणं दिसामोहेणं साहुवयणेणं सव्वसमाहिवत्तिआगारेणं वोसिरइ।"

पोरिसी (पौरुषी) का अर्थ है सूर्योदय के बाद पुरुष के शरीर-प्रमाण छाया आ जाय, उतने समय को पौरुषी (पोरसी) कहते हैं। उसे प्रहर (पहर) भी कहते हैं। इतने काल प्रमाण तक चारों प्रकार के आहार का त्याग (पच्चक्खाण) करना पौरुषी या पौरसी पच्चक्खाण कहलाता है। वह पच्चक्खाण किस रूप में होता है? इसे कहते हैं—अशन, पान, खाद्य और स्वाद्यरूप चारों प्रकार के आहार का त्याग करता हूँ। 'वोसिरइ' क्रियापद के साथ इस वाक्य का सम्बन्ध जोड़ना। इस प्रत्याख्यान में ६ आगार है; पहला और दूसरा दोनों आगार नमुक्कारसी के पच्चक्खाण के समान ही समझ लेने चाहिए। बाकी के **पच्छन्नकालेणं दिसामोहेणं साहुवयणेणं सव्वसमाहिवत्तिआगारेणं** ये ४ आगार हैं। अतः ये ६ आगार रख कर पोरसीपच्चक्खाण (सूर्योदय से ले कर एक प्रहर तक) मैं चारों आहार का त्याग करता हूं। **पच्छन्नकालेणं** का अर्थ है—बादलों के कारण, आकाश में रज उड़ने से या पर्वत की आड़ में सूर्य के ढक जाने से, परछाई के न दिखने के कारण प्रत्याख्यान पूर्ण होने के समय का मालूम न होने के कारण कदाचित् पोरसी आने से पहले पच्चक्खाण पार लेने पर भी उसका भंग नहीं होता। परन्तु जिस समय वह खा रहा हो, उस समय कोई ठीक समय बता दे, या ठीक समय ज्ञात हो जाय तो आधा खा लिया हो, वहीं रुक जाय; शेष भोजन पूर्ण समय होने पर ही करे। यदि अपूर्ण समय जानने के बाद भी भोजन करता है तो उसका वह पच्चक्खाण भंग हो जाता है। **'दिसामोहेणं**=दिशाओं का भ्रम हो जाने से पूर्व को पश्चिमदिशा समझ कर अपूर्ण समय में भी भोजन कर लेता है तो इस आगार के होने से पच्चक्खाण भंग नहीं होता। यदि भ्रान्ति मिट जाय और सही समय मालूम हो जाय तो पहले की तरह वहीं रुक जाय। यदि वह भोजन करता ही चला जाता है तो उसका पच्चक्खाण खण्डित हो जाता है। **'साहुवयणेणं- उद्घाटा पौरुषी'** इस प्रकार के साधु के कथन के आधार पर समय आने से पूर्व ही पोरसी पार ले तो उक्त आगार के कारण प्रत्याख्यानभंग नहीं होता। यानी साधु पोरसी-पच्चक्खाण के पूर्ण होने से कुछ पूर्व ही पोरसी पढ़ावें, उस समय **'बहुपडिपुण्णा पोरसी'** यों उच्चस्वर से आदेश मांगे, उसे सुन कर श्रावक विचार करे कि पोरसी पच्चक्खाण पारने का समय हो चुका है; इस भ्रम (मुगालते) से भोजन कर ले तो उसका पच्चक्खाण भंग नहीं होता। मगर पता लग जाने के बाद वहीं भोजन करता रुक जाय, तब तो ठीक है, अगर न रुके तो अवश्य ही प्रत्याख्यानभंग का दोष लगता है। पोरसी का पच्चक्खाण करने के बाद तीव्र शूल आदि पीड़ा उत्पन्न हो जाय, पच्चक्खाण पूर्ण होने तक धैर्य न रहे और आर्त्तध्यान-रौद्रध्यान होता हो, असमाधि पैदा होती हो तो **'सव्वसमाहिवत्तिआगारेणं** नामक आगार (छूट) के अनुसार प्रत्याख्यान पूर्ण होने के समय से पहले ही औषध, पथ्यादि ग्रहण कर लेने पर भी उसका पच्चक्खाण भंग नहीं होता अथवा किसी भयंकर व्याधि की शान्ति के लिए वैद्य आदि पोरसी आने से पहले ही भोजन करने के लिए जोर दें तो प्रत्याख्यानभंग नहीं होता। थोड़ा खाने के बाद उस बीमारी में कुछ राहत मालूम दे तो समाधि (शान्ति) होने पर उसका कारण जानने के बाद भोजन करता हुआ

रुक जाय। साड्ढपोरिसी अर्थात् डेढ़पोरसी का पच्चक्खाण के पाठ भी पोरसी पच्चक्खाण के समान है, फर्क सिर्फ इतना ही है कि पोरिसी के स्थान में साड्ढपोरिसी बोले।

अब पुरिमड्ढ पच्चक्खाण का पाठ कहते हैं—

सूरे उग्गए पुरिमड्ढं पच्चक्खाइ. चउव्विहंपि आहारं असणं, पाणं, खाइमं, साइमं, अणत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं, पच्छन्नकालेणं, दिसामोहेणं, साहुवयणेणं, महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तिआगारेणं वोसिरई।

पुरिमड्ढ (पुरिमार्द्ध) का अर्थ है—पूर्वं च तदर्धं च पूर्वार्द्धम् यानी दिन के पहले आधे भाग (दो पहर) तक का प्रत्याख्यान (नियम)। प्राकृत में इसका रूप 'पुरिमड्ढ' बनता है। इसमें सात आगार हैं—छह आगारों का अर्थ पहले कहा जा चुका है। सातवां आगार 'महत्तरागारेणं' है, जिसका अर्थ है—जो पच्चक्खाण अंगीकार किया है, उससे अधिक कर्मनिर्जरारूप महालाभ का कोई कारण आ जाय तो पच्चक्खाण का समय आने से पूर्व भी आहार कर लेने पर उसका प्रत्याख्यान भंग नहीं होता। जैसे कोई साधु बीमार हो अथवा उस पर या संघ पर कोई संकट आ गया हो, अथवा चैत्य, मन्दिर या संघ आदि का कोई खास काम हो, जो दूसरे से या दूसरे समय में नहीं हो सकता हो, इत्यादि महत्त्वपूर्ण (महत्तर) कारणों को ले कर 'महत्तरागारेणं' आगार के अनुसार समय पूरा होने से पहले भी पच्चक्खाण पारा (पूर्ण किया) जा सकता है। यह आगार नौकारसी, पोरसी आदि प्रत्याख्यानों में इसलिए नहीं बताया गया है कि ये प्रत्याख्यान तो बहुत थोड़े समय तक के हैं, जबकि इसका समय लम्बा है। अब एकासन (एकाशन) पच्चक्खाण का वर्णन करते हैं। इसमें भी आठ आगार हैं। इसका सूत्रपाठ इस प्रकार है—

"एकासणं पच्चक्खाइ, चउव्विहंपि, तिविहंपि वा आहारं असणं, पाणं खाइमं साइमं, अन्नत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं, सागारिआगारेणं, आउंटणपसारेणं, गुरु-अब्भुट्ठाणेणं, पारिट्ठावणियागारेणं महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिवत्तिआगारेणं वोसिरइ।"

मैं एकासन का पच्चक्खाण करता हूं। एकासन (एकाशन) का अर्थ है—एक ही समय आहार करना, अथवा एक ही आसन पर या आसन से, गुदा का भाग चलायमान न हो, इस तरह बैठे-बैठे आहार करना। एकाशन 'तिविहार' होता है तो आहार करने के बाद भी 'पानी' लिया जा सकता है, किन्तु चउविहार हो तो आहार के समय ही पानी लिया जा सकता है, बाद में नहीं। इसमें उक्त आठ आगारों में से पहले के दो और अन्तिम दो आगारों का अर्थ पहले बताया जा चुका है। बीच के चार आगारों का स्वरूप बताते हैं—'सागारिआगारेणं'=जो आगार के सहित हो, उसे सागारिक कहते हैं, अथवा सागारी गृहस्थ को भी कहते हैं, उससे सम्बन्धित जो आगार हो, उसे भी सागारिकागार कहते हैं। इस आगार का तात्पर्य यह है—साधु का आचार है कि गृहस्थ की दृष्टि पड़े, वहाँ बैठ कर साधुसाध्वी को आहार नहीं करना चाहिये; क्योंकि ऐसा करने से जिनशासन की बदनामी (निन्दा) होती है। इसीलिए महर्षियों ने कहा—"षट्जीवनिकाय (प्राणिमात्र) पर दया करने वाले साधुसाध्वी आहार या निहार (मलमूत्रादि-निवारण) गृहस्थ के सम्मुख करें अथवा जुगुप्सित (घृणित) या निन्दित कुलों से आहार-पानी ग्रहण करे तो इससे शासन (धर्मसंघ) की अपभ्राजना (बदनामी) होती है। ऐसा करने से उसे सम्यक्त्व (बोधि) प्राप्ति दुर्लभ हो जाती है।" इसी कारण साधु का ऐसा आचार है कि साधु जहाँ बैठ कर आहार कर रहा हो, वहाँ यदि उस समय कोई गृहस्थ (भाई बहन) आ जाय और उसी समय

चला जाय, तब तो साधु भोजन के लिए वहीं बैठा रहे ; लेकिन वह (गृहस्थ) वहाँ काफी देर तक रुका रहे तो फिर साधु को वहाँ नही बैठे रहना चाहिए। क्योंकि अधिक समय तक एक ही आसन पर (भोजन स्थगित किये) बैठे रहने से स्वाध्याय, सेवा आदि अन्य दैनिक चर्याओं में विघ्न पड़ेगा ; इस कारण साधु (या साध्वी) वहाँ से उठ कर यदि दूसरे स्थान पर बैठ कर आहार करते हैं तो इस आगार के कारण उनका एकासन पच्चक्खाण भंग नहीं होता। यह विधान साधु की अपेक्षा से किया गया। अब गृहस्थ की अपेक्षा से इस आगार का तात्पर्य यह है कि कोई गृहस्थ एकासन के लिए आहार करने बैठा हो, उस समय किसी के देखने या नजर लगने से हजम न होने की आशंका से यदि वह स्थान बदलता है तो सागारिकागार के कारण उसका एकासन पच्चक्खाण खंडित नहीं होता। तथा **आउंटणपसारेणं**= आकुंचन-प्रसारण करने से यानी घुटने, जंघा, पैर आदि को सिकोड़ने या पसारने (फैलाने—लम्बे, चौड़े करने) से। मतलब यह है कि कई व्यक्ति भोजन करते समय अधिक देर तक एक आसन से स्थिरतापूर्वक बैठ नहीं सकते ; बीमारी, अशक्ति या बुढ़ापे आदि के कारण उनके अंगोपांग ज्यादा देर तक एक ही आसन से बैठना सहन नहीं कर सकते, ऐसे व्यक्ति एकासन करते समय यदि शरीर के अंगोपांग सिकोड़ते या पसारते हैं, लम्बा-चौड़ा करते हैं, उसमें जरा-सा आसन चलायमान हो जाय तो इस आगार (छूट) के कारण उनका एकासन-प्रत्याख्यान खंडित नहीं होता। तथा **गुरु-अब्भुट्ठाणेणं**= इसका अर्थ है एकासन में भोजन करते समय यदि गुरुदेव पधारें तो उनके विनय के लिये आसन पर खड़े हो जाने पर भी इस आगार के कारण पच्चक्खाण भंग नहीं होता। गुरुविनय खड़े हो कर किया जाता है, जिसे करना आवश्यक है। अतः भोजन करते समय भी कोई खड़े हो कर बड़ों का विनय करता है, तो उससे उसका एकासन-भंग नहीं होता। **पारिट्ठावणिआगारेणं**= भुक्तशिष्ट अतिमात्रा मे आनीत वस्तु को निरवद्य स्थान में डालना—त्याग कर देना या किसी तपस्वी साधुसाध्वी को दे देना, परिष्ठापन कहलाता है। तात्पर्य यह है कि साधु की भिक्षा में आहार मात्रा से अधिक आने से बच गया हो ; दूसरे दिन के लिए उसे रखना तो कल्पनीय नहीं है, ऐसी दशा में उसे परिठाने (डालने) के सिवाय कोई चारा न हो, उस समय उस आहार को पच्चक्खाण (एकासन आदि) वाला खा ले तो परिष्ठापनिकागार के कारण उसका पच्चक्खाण भंग नहीं होता। क्योंकि उक्त आहार को परिठाने-फेंकने पर तो जीवविराधना आदि कई दोष लगते हैं, जबकि शास्त्र-मर्यादानुसार उस परिष्ठापन-योग्य आहार को पच्चक्खाण वाला साधु (साध्वी) खा ले तो उसमे अधिक गुण हैं। इस कारण बढ़ा हुआ आहार गुरु-आज्ञा से पच्चक्खाण वाला कर ले तो उसका पच्चक्खाण भंग नहीं होता। **'वोसिरइ'**—अर्थात् इन आगारों के अलावा एक ही आसन और आहार के अतिरिक्त आसन या आहार का त्याग करता हूं।

अब **एकलठाणा** के पच्चक्खाण का स्वरूप बताते हैं। इसमें सात आगार हैं। इसका पाठ भी एकासन के समान ही है। सिर्फ 'एगासणं' के बदले **'एगलठाणं'** बोलना और आउंटण **पसारणेणं** का आगार छोड़ कर सभी आगारों को बोलना चाहिए। क्योंकि एगलठाणा में यह नियम है कि शरीर के अंग जिस तरह रखे हों, उसी तरह अन्त तक रख कर भोजन करना चाहिए। अर्थात् एक ही स्थिति में अंगोपांग रखना एकलठाणा है। मुंह और हाथ को हिलाए बिना तो भोजन किया ही नहीं जा सकता, अतः इन दोनों को हिलाने का इसमें निषेध नहीं है। **आउंटण-पसारेणं** आगार को छोड़ने का विधान एकासन और एकलठाणा पच्चक्खाण में अन्तर बताने के लिए किया गया है। अन्यथा, ये दोनों पच्चक्खाण एक सरीखे हो जाते। अब आयम्बिल पच्चक्खाण का स्वरूप बताते हैं। इसमें आठ आगार है। आयंबिल पच्चक्खाण का सूत्रपाठ इस प्रकार है—

'आयंबिलं पच्चक्खाइ, अण्णत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं, लेवालेवेणं, गिहत्थसंसट्ठेणं, उक्खित्त विवेगेणं, पारिट्ठावणियागारेणं, महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिवत्ति आगारेणंवोसिरइ।'

आयम्बिल जैनधर्म का पारिभाषिक शब्द है। शब्दशः इसका अर्थ होता है—आयं यानी आयाम=ओसामण (मांड) और अम्ल=चौथा खट्टा पानी या खटाई; उपलक्षण से तमाम विगई, मिर्च-मसाले आदि स्वादवर्द्धक या स्निग्ध वस्तुओं के असेवन का ग्रहण कर लेना चाहिए। जिसमें प्रायः नीरस (स्वादरहित), रूखी-सूखी खाद्यवस्तुओं—चावल, गेहूं, चने, उड़द आदि का भोजन (एक बार) करके निर्वाह किया जाय, उसे जैनशासन में आयंबिल या आचाम्ल तप कहते हैं। तात्पर्य यह है कि आयंबिल-पच्चक्खाण में स्वाद जीतने के लिए पौष्टिक, सरस, स्वादिष्ट, चटपटी गरिष्ठ आदि वस्तुओं से रहित रूखा-सूखा, नीरस भोजन करना होता है। इसमें प्रथम दो आगारों और अन्तिम तीन आगारों की व्याख्या पहले की जा चुकी है। बीच के तीन आगारों की व्याख्या इस प्रकार है—**'लेवालेवेणं'**=लेप और अलेप से। अर्थात् आयंबिल करने वाले के लिए अकल्पनीय (असेवनीय) घी, तेल, गुड़ (मीठा), दूध, दही, मिर्च-मसाले, हरे साग, सूखे मेवे, पके फल आदि वस्तुओं का लेप आयंबिल के योग्य रूखे-सूखे भोजन या बर्तन के साथ पहले से लगा हो तो उसका आगार है; अथवा भोजन व बर्तन के लेप तो न लगा हो, लेकिन तेल आदि अकल्पनीय वस्तुओं से लिप्त हाथ या कपड़े से साफ किये हुए या पोंछे हुए बर्तन में भोजन किया गया हो, तो उस अलेप का आगार है। मतलब यह कि लेप और अलेप के आगार के कारण पच्चक्खाण भंग नहीं होता। तथा **'गिहत्थसंसट्ठेणं'**=अर्थात् आहार देने वाला गृहस्थ जिस चमचे या कुड़छी आदि से साधु के पात्र में भोजन देता है, उसके साथ प्रत्याख्यान में अकल्प्य कोई विगई, या मिर्च-मसाले आदि वस्तु लगी हो अथवा आयंविल करते समय कुड़छी आदि में लगी उस अकल्प्य वस्तु का अंशमात्र मिला हो, आयम्बिलयोग्य आहार में उस वस्तु का स्वाद भी स्पष्ट रूप से मालूम होता हो, फिर भी ऐसी लेपायमान वस्तु के खाने पर इस आगार के कारण आयंबिल पच्चक्खाण का भंग नहीं होता। तथा **'उक्खित्तविवेगेणं'**=अर्थात् आयंबिल में खाने योग्य रूखी रोटी, चने, चावल आदि वस्तु पर आयंबिल में नहीं खाने योग्य सूखी विगई (गुड़, मिठाई आदि) रखी हो, उसे अच्छी तरह उठा लेने के बाद भी उसका अंश अथवा लेप रोटी चावल आदि पर लगा हो तो आयंबिल में खाने से इस आगार के कारण पच्चक्खाण भंग नहीं होता है। अर्थात् आयंबिल में कल्प्य (खाने योग्य वस्तु) में अकल्प्य वस्तु का स्पर्श हो गया हो तो आयम्बिल भंग नहीं होता। परन्तु हलवा, साग आदि वस्तु को पूर्णरूप से उठा नहीं सकते; अतः वह (विगई आदि) कल्प्य खाद्य के रूप लगी रह जाती है; इससे रूखी रोटी चावल आदि खाने पर व्रतभंग होता है। इस तरह इन आगारों (छूटों) के अतिरिक्त आयंबिल में नहीं खा सकने योग्य अन्य चारों आहारों का त्याग करता हूं। शेष पदों का अर्थ पहले आ चुका है।

अब उपवास के पच्चक्खान का वर्णन करते हैं। इसके पांच आगार हैं। यहाँ प्रथम उपवास—पच्चक्खाण का सूत्र पाठ कहते हैं—

"उग्गए सूरे अभत्तट्ठं पच्चक्खाइ चउव्विहंपि, तिविहंपि वा आहारं असणं, पाणं, खाइमं, साइमं अण्णत्थणाभोगेणं सहसागारेणं परिट्ठावणिआगारेणं, सव्वसमाहिवत्तिआगारणं वोसिरइ।"

उग्गए सूरे अर्थात् सूर्योदय से ले कर। इसका यह अर्थ हुआ कि भोजन करने के बाद शेष दिन के समय में उपवास नहीं हो सकता है। तथा 'अभत्तट्ठं=अर्थात् जिस प्रत्याख्यान में भोजन करने का प्रयोजन नहीं हो, उसे अभक्तार्थ (उपवास) कहते हैं। इसके आगार पूर्ववत् हैं। इसमें 'पारिट्ठा-

वज्जिआगार' विशेषरूप में है। यदि तिविहार उपवास किया हो तो उसे पानी पीने की छूट होने से बढ़ा हुआ आहार गुरु की आज्ञा से खा कर पानी पी सकता है, परन्तु जिसने चउव्विहार उपवास किया हो, वह तो आहार-पानी दोनों बढ़ गये हों, तभी खा सकता है पानी न बढ़ा हो तो अकेला आहार नहीं खा सकता।' **'वोसिरइ'**=उपर्युक्त आगारों के अतिरिक्त अशनादि चारों या तीनों अशनादि आहार का त्याग करता है।

अब पानी-सम्बन्धी पच्चक्खान कहते हैं, उसमें पोरसी, पुरिमड्ढ, एकासना, एकलठाणा, आयंबिल तथा उपवास के पच्चक्खान में उत्सर्गमार्ग में चौविहार पच्चक्खान करना युक्त है, फिर भी तिविहार पच्चक्खान किया जाय और पानी की छूट रखी जाय, तो उसके लिए छह आगार बताए हैं। वे इस प्रकार हैं—

"पाणस्स लेवाडेण वा, अलेवाडेण वा अच्छेण वा बहुलेण वा ससित्थेणं वा असित्थेण वा वोसिरइ।"

पोरसी आदि के आगारों में **'अण्णत्थणाभोगेणं'** आगार के साथ इसे जोड़ना और जो तृतीया विभक्ति है उसे पंचमी के अर्थ में समझना। तथा 'लेवाडेण वा'=ओसामण अथवा खजूर, इमली आदि के पानी से या जिस वर्तन आदि में उसके लेपसहित पानी हो, उसके सिवाय त्रिविध आहार का मैं त्याग करता हूँ। अर्थात् ऐसा लेपकृत पानी उपवास अथवा एकासन आदि में भोजन के बाद पीए तो भी पच्चक्खान का भंग नहीं होता है। प्रत्येक शब्द के साथ अथवा अर्थ में वा शब्द (अव्यय) है। वह लेपकृत-अलेपकृत आदि सर्व प्रकार के पानी **'पाणस्स'**=पानी के पच्चक्खान में अवर्जनीय रूप में विशेष प्रकार से बताने के लिए समझना, वह इस प्रकार से **'अलेवाडेण वा'**=जिस वर्तन आदि में लेप न हो, परन्तु छाछ आदि का नितारा हुआ पानी हो, उस अलेपयुक्त पानी के पीने से भी इस आगार के कारण पच्चक्खाण भंग नहीं होता है। तथा **'अच्छेण वा'** तीन बार उबाले हुए पानी शुद्ध स्वच्छ जल से **'बहुलेण वा'** तिल या कच्चे चावल का धोवन, बहुल जल अथवा गुडल जल कहलाता है। उससे तथा **'ससित्थेण वा'**=पकाये हुए चावल या मांड, दाना अथवा ओसामन वाले पानी को कपड़े से छान कर पीये तो, इस आगार से पच्चक्खान का भंग नहीं होता है, तथा **'असित्थेण वा'**=आटे के कण का नितारा हुआ पानी भी इसी प्रकार के पानी के आगार के समान समझना।

अब **चरम प्रत्याख्यान** के सम्बन्ध में कहते हैं—चरम अर्थात् अन्तिम पच्चक्खाण। इसके दो भेद हैं—एक दिन के अन्तिम भाग का और दूसरा भव=जीवन के अन्तिम भाग तक का होता है, इन दोनों पच्चक्खानों को क्रमशः **दिवसचरिम और भवचरिम** कहते हैं। भवचरिम प्रत्याख्यान यावज्जीव—जब तक प्राण रहे, तब तक का होता है। दोनों के चार-चार आगार हैं; जिन्हें निम्नोक्त सूत्रपाठ में बताए हैं—

"दिवसचरिमं, भवचरिमं वा पच्चक्खाइ; चउव्विहं पि आहारं असणं पाणं खाइमं साइमं अण्णत्थणाभोगेणं सहसागारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तिआगारेणं वोसिरइ।"

यहाँ शंका करते हैं कि एकासन आदि पच्चक्खाण भी इसी तरह से होता है, फिर दिवसचरिम पच्चक्खाण की क्या आवश्यकता है? अतः दिवसचरिम पच्चक्खाण निष्फल है। इसका समाधान करते हैं कि यह कहना यथार्थ नहीं है। एकासन आदि में 'अण्णत्थणाभोगेणं' इत्यादि आठ आगार हैं, जबकि

दिवसरिम में केवल चार ही आगार हैं। अतः इसमें आगार (अपवाद= छूट) कम होने से यह पच्चक्खाण सफल ही है। यद्यपि साधुसाध्वियों के रात्रिभोजन का त्रिविध-त्रिविध (तीनकरण तीन योग) से आजीवन त्याग होता है, और गृहस्थ के एकासन आदि का पच्चक्खाण भी दूसरे दिन सूर्योदय तक का होता है; (क्योंकि दिवस-शब्द का अर्थ दिन होता है, वैसे ही पूरी रात्रिसहित दिन यानी 'अहोरात्र' भी होता है। अर्थात् अहोरात्र शब्द भी दिवस का पर्यायवाची (समानार्थक) होता है।) तथापि जिनके रात्रिभोजन का त्याग हो, उन साधु-श्रावकों को फिर से रात्रिभोजनत्यागरूप दिवसचरम प्रत्याख्यान पुनः उस पच्चक्खाण का स्मरण (याद) करा देता है, इसलिए सफल है। **भवचरिमपच्खाण** में सिर्फ दो आगार ही होते हैं। इसमें **सर्वसमाधि-प्रत्ययरूप आगार** और **'महत्तरागार'** की जरूरत नहीं रहती; सिर्फ **अनाभोग** और **सहसाकार** इन दो आगारों से भवचरिम-पच्चक्खाण हो जाता है। उपयोगशून्यता अथवा सहसा उंगली आदि मुंह में डालना संभव होने से इस प्रत्याख्यान में ये दो आगार ही रखे गए हैं। क्योंकि चरम-प्रत्याख्यानकर्ता इन दोनों आगारों का सर्वथा त्याग नहीं कर सकता।

अब अभिग्रह प्रत्याख्यान का स्वरूप बताते हैं। किसी न किसी रूप में तपत्याग के अनुरूप कोई संकल्प या नियम करना, अभिग्रह कहलाता है। वह दण्ड का प्रमार्जन-प्रतिलेखन करने, उठने, देने आदि विविध नियमों के रूप में होता है। ऐसा कोई भी अभिग्रहयुक्त पच्चक्खाण करना अभिग्रह प्रत्याख्यान कहलाता है। इसमें चार आगार हैं। इसका सूत्रपाठ इस प्रकार है—**'अभिग्गहं पच्चक्खाइ, अण्णत्थणाभोगेणं, महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिवत्तिआगारेणं वोसिरइ।'** इन पदों की व्याख्या पहले की जा चुकी है। इतना जरूर समझ लेना है कि यदि कोई साधु वस्त्रत्यागरूप अभिग्रह। प्रत्याख्यान करता है, तो उसके साथ **'चोलपट्टागारेणं'** नामक पंचम आगार अवश्य बोले इस आगार के कारण यदि किसी गाढ़कारणवश वह चोलपट्टा धारण कर लेता है तो भी उसके इस पच्चक्खाण का अंग नहीं होता। **अब विग्गइ-पच्चक्खाण** का स्वरूप बताते हैं। इसमें आठ या नौ आगार बताये गए हैं। इसका सूत्रपाठ **इस प्रकार है—**

विग्गइओ पच्चक्खाइ, अण्णत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं, लेवालेवेणं, गिहत्थसंसट्ठेणं, उक्खित्त-विवेगेणं, पडुच्चमक्खिएणं, परिट्ठावणियागारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तिआगारेणं वोसिरइ।"

अमुक खाद्य पदार्थ जो प्रायः मन में विकार पैदा करने में कारणभूत होते हैं, उन्हें जैन-परिभाषा में विग्गई (विकृतिक) कहा जाता है। इसके दस भेद हैं। वे इस प्रकार हैं—१—दूध, २—दही, ३—घी, ४—मक्खन, ५—तेल, ६—मद्य, ८—मधु, ९—मांस और १०—तली हुई वस्तुएँ। (१) दूध—गाय, भैंस बकरी, ऊंटनी और भेड़ इन पांचों का दूध विग्गई है। (२) ऊंटनी के दूध का दही नहीं बनता; अतः इसे छोड़ कर शेष चारों का **दही** विग्गई है। (३-४) इसी प्रकार इन चारों का **मक्खन** और घी विग्गई है। (५) तिल, अलसी, नारियल तथा सरसों (इसमें 'लाहा' भी शामिल है), इन चारों के तेल विग्गई में माने जाते हैं, अन्य तेल विग्गई में नहीं माने जाते; वे केवल लेपकृत माने जाते हैं। (६) इक्षुरस या ताड़रस को उबाल कर बना हुआ नरम व सख्त दोनों प्रकार का गुड़ विग्गई है। (गुड़ के अन्तर्गत खांड, चीनी, बूरा, शक्कर, मिश्री तथा इनसे बनी हुई मिठाइयाँ भी विग्गई में मानी जाती हैं।) (७) **मद्य**—शराब (मदिरा) दो प्रकार की है। एक तो महुड़ा, गन्ना, ताड़ी आदि के रस से बनती है, उसे काष्ठजन्य मद्य कहते हैं; दूसरा, आटे आदि को सड़ा-गला कर उसे बनाया जाता है; उसे पिष्टजन्य कहते हैं। (दोनों प्रकार का मद्य (शराब) महाविकृतिकारक होने से सर्वथा त्याज्य है।)

(८) **मधु**—शहद तीन किस्म का होता है। एक मधुमक्खी से, दूसरा कुन्ता नामक उड़ने वाले जीवों से और तीसरा भ्रमरी के द्वारा तैयार किया हुआ होता है। (ये तीनों प्रकार के शहद उत्सर्गरूप से वर्जित हैं) (९) **मांस** भी तीन प्रकार का होता है,—जलचर का, स्थलचर का और खेचर जीवों का। जीवों की चमड़ी, चर्बी, रक्त, मज्जा, हड्डी आदि भी मांस के अन्तर्गत हैं। (१०) **तली हुई चीजें**—घी या तेल में तले हुए पूए जलेबी आदि मिठाइयाँ, चटपटे मिर्चमसालेदार बड़े, पकौड़ आदि सब भोज्यपदार्थों की गणना **अवगाहिम** (तली हुई) में होती है; ये सब वस्तुएँ विग्गइ हैं। अवगाह शब्द के भाव-अर्थ में 'इम' प्रत्यय लगने से अवगाहिम शब्द बना है। इसका अर्थ होता है - तेल, घी आदि से भरी कड़ाही में अवगाहन करके-डुबो कर जो खाद्यवस्तु, जब वह उबल जाय तब बाहर निकाली जाय। यानी तेल घी आदि में तलने के लिए खाद्यपदार्थ डाला जाय और तीन बार उबल जाने के बाद उसे निकाला जाय; ऐसी वस्तु मिठाई, बड़े, पकौड़, या अन्य तली हुई चीजें भी हो सकती हैं और वे शास्त्रीय परिभाषा में विग्गई कहलाती हैं। वृद्ध आचार्यों की धारणा है कि अगर चौथी बार की तली हुई कोई वस्तु हो तो वह नीवी (निविग्गई) के योग्य मानी जाती है। ऐसी नीवी (निविग्गई=विग्गईरहित) वस्तु योगोद्वाहक साधु के लिए नीवी (निर्विकृतिक) पच्चक्खाण में कल्पनीय है। अर्थात्—तली हुई वस्तु (विग्गई) के त्याग में भी योगोद्वहन करने वाले साधु-साध्वी नीवी पच्चक्खाण में भी तीन घान (बार) के बाद की तली हुई मिठाई या विग्गई ले सकते है, बशर्ते कि बीच में उसमें तेल या घी न डाला हो। वृद्धाचार्यों की ऐसी भी धारणा है कि जिस कड़ाही में ये चीजें तली जा रही हो, उस समय उसमें एक ही पूआ इतना बड़ा तला जा रहा हो, जिससे कड़ाही का तेल या घी पूरा का पूरा ढक जाय तो दूसरी बार की उसमें तली हुई मिठाई आदि चीजें योगोद्वाहक साधु-साध्वी के लिए नीवी पच्चक्खाण में भी कल्पनीय हो सकती हैं। परन्तु वे सब चीजें लेपकृत समझी जाएँगी। उपर्युक्त दस प्रकार की विग्गइयों में मांस एवं मदिरा तो सर्वथा अभक्ष्य हैं, मधु और नवनीत कथंचित् अभक्ष्य हैं। शेष ६ विग्गइयाँ भक्ष्य हैं। इन भक्ष्य विग्गइयों में से एक विग्गई से ले कर ६ विग्गइयों तक का पच्चक्खाण अलग-अलग भी लिया जा सकती है और एक साथ सभी विग्गइयों का पच्चक्खाण भी नीवी पच्चक्खाण के साथ लिया जा सकता है। इसमें जो आगार हैं, उनका अर्थ पूर्ववत् समझ लेना चाहिए। विशेष आगार ये हैं—**'गिहत्थ-संसट्ठेणं'**—अर्थात् गृहस्थ ने अपने लिए दूध में चावल मिलाए हों, उस दूध में चावल डालने के बाद अगर वह दूध (उस बर्तन में) चार अंगुल ऊपर हो तो वह विग्गई नहीं माना जाएगा। वह संसृष्टद्रव्य है और नीवी पच्चक्खाण में ग्राह्य है, किन्तु यदि दूध चार अंगुल से ज्यादा ऊपर हो तो वह विग्गई में शुमार है। इसी तरह दूसरी विग्गइयों में भी संसृष्टद्रव्य का आगार आगमों से जान लेना। मतलब यह है कि गृहस्थ द्वारा संसृष्ट द्रव्य साधु-साध्वी नीवी में खा लें तो उनका पच्चक्खाण इस आगार के कारण भंग नहीं होता। **'उक्खित्तविवेगेणं'**—अर्थात् आयम्बिल से आगारों में कहे अनुसार सख्त द्रव्य आदि का त्याग होते हुए भी कदाचित् गुड़ आदि किसी कठिन द्रव्य का कण रह जाय और वह खाने में आ जाय तो भी उक्त पच्चक्खाण भंग नहीं होता। किन्तु यह आगार (छूट) सिर्फ कठोर (सख्त) विग्गई के लिए है, तरल विग्गई के लिए नहीं। **'पडुच्चमक्खिएणं'** अर्थात्—रूखी रोटी आदि नरम रखने के लिए अल्पमात्रा में गृहस्थ द्वारा उसे चुपड़ दी जाती हो, उसे खा लेने पर भी **'प्रतीत्यम्रक्षित'** नामक आगार के कारण यह पच्चक्खाण भंग नहीं होता; बशर्ते कि उसे खाने पर घी का स्वाद जरा भी मालूम न हो। उंगली में लगे हुए मामूली तेल, घी आदि रोटी आदि के लग जांय, उसे खाने पर भी

यह पच्चक्खाण भंग नहीं होता। परन्तु विशेषरूप से घी आदि डाल कर खाना उक्त धारविग्गई के पच्चक्खाण वाले के लिए कल्पनीय नही है। इस प्रकार विग्गई के पच्चक्खाण वाले के लिए कल्पनीय नहीं है। इस प्रकार विग्गई-त्याग और उपलक्षण से नीवी-पच्चक्खाण के जो आगार बताए हैं, उनकी यतना रख कर, बाकी का **वोसिरई**=त्याग करता हूँ। त्याग की हुई किसी विग्गई में गुड़ का टुकड़ा रखा हो तो उसे उठा कर वह विग्गई ली जा सकती है। इस दृष्टि से गुड़ विग्गई के नौ और दूध आदि तरल विग्गई के आठ-आठ आगार समझ लेने चाहिए।

आगारों का दिग्दर्शन कराने वाली इसी बात की पोषक आगमगाथाओं का अर्थ यहां प्रस्तुत करते हैं - 'नमुक्कारसहिय (नौकारसी) पच्चक्खाण के दो, पोरसी के ६, पुरिमड्ढ (पूर्वार्द्ध) पच्चक्खाण के सात, एकासन के ८, उपवास के ५, पानीसहित उपवासादि के ६, दिवसचरम और भवचरम प्रत्याख्यान के ४, अभिग्रह के ४ अथवा अन्य चार तथा नीवी के ८ या ९ आगार होते हैं। इनमें भी अप्रावरण अभिग्रह में पांच और शेष अभिग्रह पच्चक्खाण में चार आगार होते हैं। यहाँ शंका होती है कि नीवी के लिए कहे हुए आगार विग्गई-त्यागरूप पच्चक्खाण के अन्तर्गत बताए हैं; तो कोई तमाम विग्गइयों का त्याग न करके कुछ विग्गइयों की छूट रखता है, किसी या किन्हीं विग्गइयों का ही त्याग करता है; ऐसे विग्गई-पच्चक्खाण में आगार किस तरह समझने चाहिए ?' इसका समाधान यह है कि नीवीपच्चक्खाण के साथ ही उपलक्षण से परिमित-विग्गई-पच्चक्खाण का भी ग्रहण कर लेना चाहिए। उसमें भी वे ही आगार समझने चाहिए। अर्थात् नीवी में जो आगार बताए हैं, वे ही आगार (परिमित) **विग्गई-पच्चक्खाण** में भी हैं। इसी प्रकार एकासन के साथ **बियासणा** तथा **पोरसी** के साथ साड्ढपोरसी और **पुरिमड्ढ** के साथ **अवड्ढ** का पच्चक्खाण समझ लेना चाहिए। अप्रमत्तता की वृद्धि होने से उस पच्चक्खाण के साथ बोलना अनुचित नहीं है। एकासनादि-सम्बन्धी आगार एक सरीखे होने से बियासना में; पोरसी, साड्ढपोरसी आदि में समझ लेना। क्योंकि चउव्विहार में जो आगार हैं, वे ही तिविहार, दुविहार पच्चक्खाण के आगार है, उसी तरह बिआसणा आदि व एकासन आदि के आगार आसनादि शब्द की समानता से युक्त हैं। यहाँ शंका होती है कि बियासणा आदि पच्चक्खाण यदि अभिग्रहरूप हैं, तो उसके चार आगार होने चाहिए, अधिक क्यों? इसका समाधान यों करते हैं कि एकासन आदि के समान ही उसका ग्रहण, पालन, रक्षण आदि होने से उनके साथ समानता है; इसलिए बियासन में भी उतने ही आगार जानने चाहिए। अन्य आचार्यों की मान्यता है कि बियासन आदि के पच्चक्खाण मूल पच्चक्खाणों में नहीं गिनाये गए है। मूल में एकासन आदि दस पच्चक्खाण ही माने गये है, अतः इतने ही ठीक है। यदि कोई एकासन आदि पच्चक्खाण करने में असमर्थ हो, तो वह अपनी भावना और शक्ति के अनुसार पोरसी आदि उच्चपच्चक्खाण कर सकता है। इससे भी अधिक लाभ-प्राप्ति के अभिलाषी को उस (पोरसी आदि) के साथ गंठिसहित, मुट्ठिसहित आदि प्रत्याख्यान करना उचित है। क्योंकि गंठिसहित आदि पच्चक्खाण भी अप्रमत्तदशा को बढ़ाने वाले और फलदायी हैं। ये पच्चक्खाण स्पर्शनादि गुण वाले होते और सुप्रत्याख्यान कहलाते हैं। इसी के समर्थन में सभी प्रत्याख्यानों की सम्यक्शुद्धि के हेतु कहा है—**फासियं, पालियं, सोहियं, तीरियं, कीट्टिय, आराहियं**। इस तरह प्रत्याख्यान की शुद्धि पूर्वोक्त ६ प्रकार से होती है। (१) **फासियं** (स्पर्शित)=प्रत्याख्यान के समय विधिपूर्वक उसका स्पर्श प्राप्त होना; (२) **पालियं** (पालित)=ग्रहण किये हुए प्रत्याख्यान का बार-बार उपयोगपूर्वक स्मरण रख कर उसे भलीभांति सुरक्षित रखना—भंग होने से बचाना या पालना; (३) **सोहियं** (शोभित)=आये हुए आहार में से

गुरु, तपस्वी, बाल, ग्लान, वृद्ध आदि को पहले द कर बचे हुए आहार को स्वयं सेवन करना ; (४) **तीरियं** (तीरित) = प्रत्याख्यान की अवधि पूर्ण हो जाने के बाद थोड़ा समय तक स्थिरता करके बाद में आहार करना। (५) **कीट्टियं** (कीर्तित)=प्रत्याख्यान के अनुरूप आहार करते समय यह याद करके कि मैंने आज अमुक प्रत्याख्यान अंगीकार किया है ; भोजन करे ; अथवा जो प्रत्याख्यान ग्रहण किया है, उसकी महत्ता का बखान करना—कीर्तन करना भी कीर्तित कहलाता है। (६) **आराहियं** (आराधित)=इन सभी प्रकार की शुद्धि के साथ आगारों को भलीभांति मद्दे नजर रखते हुए लिये हुए प्रत्याख्यान को अमल में लाना।

अब प्रत्याख्यान के अनन्तर और परस्पर, दो प्रकार के फल बताते हैं। पच्चक्खाण करने से आने वाले कर्मों के द्वार बद हो जाते हैं; इससे इच्छा-तृष्णा का उच्छेद होता है। तृष्णा शान्त होने से अनुपम उपशमभाव प्रगट होता है ; इस कारण से प्रत्याख्यान शुद्ध होता है। शुद्ध प्रत्याख्यान से साधक चारित्रधर्म का यथार्थस्वरूप प्राप्त करता है। इससे पूर्वकृत (पुराने) कर्मों की निर्जरा होती है, जिससे उत्तरोत्तर गुणस्थान की प्राप्ति करते-करते साधक एक दिन केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है ; और केवलज्ञान से शाश्वतसुख-स्थानरूप मोक्षफल प्राप्त होता है। इस तरह प्रत्याख्यान परम्परा से मोक्ष-फलदाता है। इस प्रकार प्रत्याख्यान-आवश्यक-सहित छह आवश्यकों के स्वरूप का वर्णन पूर्ण हुआ। 'श्रावक के लिए केवल चैत्यवन्दन आदि ही अवश्यकरणीय हैं, उसे इन षट्-आवश्यकों को करने की आवश्यकता नहीं'; ऐसा कदापि प्रतिपादन नहीं करना चाहिए। इसीलिए कहा है- 'श्रमण या श्रावक के लिए रात या दिन के अन्त में ये (छह) अवश्य करने योग्य हैं, इसीलिए इनका नाम आवश्यक (प्रतिक्रमण) कहा है। इसी तरह आगम में भी श्रावक को प्रतिक्रमणादि अवश्य करने का कहा है। यहाँ **चैत्यवंदन** आदि के समान **आवश्यक** को बताना उचित नहीं है। क्योंकि प्रतिक्रमणादि आवश्यक का विधान तो **'अंते अहो-निसिस्स'** कह कर 'दिन और रात के अन्त में' उभयकाल किया गया है; जबकि चैत्यवन्दन का विधान त्रिकाल है। अनुयोगद्वारसूत्र में भी लोकोत्तर आवश्यक का लक्षण बताते हुए इसके महत्त्व के सम्बन्ध में कहा है— जो साधु-साध्वी या श्रावक-श्राविका आवश्यकसूत्र और उसके अर्थ में एकाग्रचित्त रहते हैं, उसमें तन्मय हो जाते हैं, उसी लेश्या में तल्लीन व उसी के अर्थ में उपयोग वाले हो कर उसी में ही तीनों करणों को अर्पित कर देते हैं, एवं केवल उसी की भावना में ओत-प्रोत हो कर दोनों समय आवश्यक (प्रतिक्रमणादि) करते हैं ; उनके उस आवश्यक को लोकोत्तर भाव-आवश्यक समझना।' इस आगम-वचन के अनुसार श्रावकों के लिए भी आवश्यक (प्रतिक्रमणादि) करने का विधान है। छह आवश्यक करने के बाद श्रावक स्वाध्याय करे अणुव्रत-विधि पर विचार करे, अथवा पंचपरमेष्ठी-नमस्कारमंत्र की माला फेरे, अथवा पांच प्रकार का स्वाध्याय करके समय का सदुपयोग करे। स्वाध्याय के पांच प्रकार ये हैं—(१) **वाचना**=शास्त्र या ग्रन्थ पढ़ना, (२) **पृच्छना**=उसके विषय में प्रश्न पूछना, (३) **पर्यटना**=पढ़ा हुआ ज्ञान विस्मृत न हो जाय, इस दृष्टि से बारबार उसे दोहराना—आवृत्ति करना ; (४) **अनुप्रेक्षा**=सूक्ष्मपदार्थों के सम्बन्ध में परस्पर चर्चा करके निःशंक बनना अथवा तदनुकूल चिन्तन-मनन करना ; (५) **धर्मकथा**—शास्त्रीय विषयों पर धर्म-कथा या व्याख्यान अथवा प्रवचन कहना, सुनना।

यदि साधु-साध्वियों के उपाश्रय में व्याख्यान=उपदेश सुनने जाने की शक्ति न हो अथवा कोई राजा या महाऋद्धिमान श्रावक हो, या बाहर जाने में अड़चन या कठिनाई हो तो वह अपने घर में ही आवश्यक, स्वाध्याय आदि करे। यह उत्तम निर्जरा का कारणरूप है। कहा भी है कि 'श्रीजिनेश्वर'

ने बाह्य और आभ्यन्तर रूप से बारह प्रकार के तप बताए हैं, उनमें स्वाध्याय के समान कोई तप नहीं है, न होगा, न हुआ है।' और भी कहा है कि "स्वाध्याय से ध्यान होता है और स्वाध्याय से परमार्थ भी जाना जा सकता है ; स्वाध्याय में तन्मय बना हुआ आत्मा क्षण क्षण में वैराग्य प्राप्त करता है।"

इस प्रकार १२९वें श्लोक का भावार्थ पूर्ण हुआ —

न्याय्ये काले ततो, देव-गुरु-स्मृति-पवित्रितः ।
निद्रामल्पामुपासीत, प्रायेणाब्रह्मवर्जकः ॥१३०॥

अर्थ—**स्वाध्याय आदि करने के बाद उचित समय तक देव एवं गुरु के स्मरण से पवित्र बना हुआ एवं प्रायः अब्रह्मचर्य का त्यागी या नियमित जीवन बिताने वाला श्रावक अल्पनिद्रा ले।**

व्याख्या—रात्रि के प्रथम पहर तक, या आधी रात तक अथवा शरीर स्वस्थता के अनुसार, स्वाध्यायादि करने के बाद श्रावक अल्पनिद्रा का सेवन किस प्रकार करे ? इसे बताते हैं -भट्टारक श्री अरिहंतादि देव, धर्माचार्य, गुरुमहाराज का मन में स्मरण कर पवित्र बना हुआ आत्मा, उपलक्षण से चार शरण अंगीकार करके, पापमय कृत्यों की निन्दा और सुकृत्यों की अनुमोदना कर पंच-परमेष्ठी भगवन्तों का स्मरण इत्यादि करे। इन सभी के स्मरण किये बिना आत्मा पवित्र नहीं बन सकता। इसलिए श्रीवीतरागदेव का स्मरण इस प्रकार करे— "**नमो वीयरागाणं सव्वण्णूणं तिलोक्कपूइआणं जहट्ठिअवत्थुवाईणं** अर्थात् नमस्कार हो श्री वीतराग, सर्वज्ञ, त्रिलोकपूज्य, यथार्थरूप से वस्तुतत्त्व के प्रतिपादक, श्री अरिहंत परमात्मा को। इसके बाद गुरुदेवों का स्मरण इस प्रकार करे—'**धन्यास्ते ग्राम-नगर-जनपदादयो येषु मदीया धर्माचार्या विहरन्ति**" अर्थात 'उन गांवों, नगरों, देशों प्रान्तों आदि को धन्य है, जहाँ मेरे धर्माचार्य गुरुदेव विचरण कर रहे हैं। शयन से पूर्व और निद्रात्याग के पश्चात् इस प्रकार से चिन्तन करे। अल्पनिद्रा में निद्रा विशेष्य है और अल्प विशेषण है। यहाँ पर अल्प का विधान किया है ; निद्रा का नहीं। क्योंकि जिस वाक्य में विशेषणसहित विधि-निषेध होता है, उसका विधान विशेषणपरक होता है, विशेष्यपरक नहीं, इस न्याय से यहाँ 'निद्रा लेना' विधान नहीं है। निद्रा तो दर्शनावरणीय कर्म के उदय से अपने आप आती है। नहीं बताये हुए पदार्थ में ही शास्त्र की सफलता मानी जाती है ; यह बात पहले कही जा चुकी है। इसलिए यहाँ निद्रा में अल्पत्व का विधान किया गया है। और गृहस्थ प्रायः अब्रह्मचर्य = मैथुनसेवन का त्याग करता ही है। और भी देखिये —

निद्राच्छेदे योषिदंगसत्तत्वं परिचिन्तयेत् ।
स्थूलभद्रादिसाधूनां तन्निवृत्तिं परामृशन् ॥१३१॥

अर्थ—**रात को जब नींद खुल जाय, तब स्थूलभद्रादि मुनियों ने जिस प्रकार स्त्रियों के अंग की मलिनता, जुगुप्सनीयता और निःसारता का विचार किया था, उसी प्रकार अंगनाओं के अंगों के यथार्थ तत्त्व का चिन्तन करे और उनकी तरह स्त्रियों से निवृत्ति का स्मरण करते हुए अपने शरीर के वास्तविक स्वरूप पर विचार करे।**

श्रीस्थूलभद्रमुनि का सम्प्रदायपरम्परागम्य चरित्र इस प्रकार है—

कामविजेता महामुनि स्थूलभद्र

चन्द्रमा की चांदनी मे प्रकाशित रात्रि की आकाशगंगा से प्रतिस्पर्धा करने वाली कमल-संगम से उसके तेज को पराजित कर देने वाली गंगा नदी के तट पर मनोहर पाटलीपुत्र नगर था। वहाँ कल्याण के स्वामी के तुल्य, त्रिखण्डाधिपति, शत्रुस्कन्धनाशक नंद नाम का राजा राज्य करता था। संकट में श्री का रक्षक, संकट-रहित बुद्धिनिधान शकटाल नाम का उसका सर्वश्रेष्ठ मंत्री था। उसका बड़ा पुत्र प्रखरबुद्धिसम्पन्न, विनयादि-गुणागार, सुन्दर, सुडौल एवं चन्द्रवत् आनन्ददायक स्थूलभद्र था। तथा नन्दराजा के हृदय को आनन्ददायक, गोशीर्षचन्दन के समान भक्तिमान श्रीयक नाम का उसका छोटा पुत्र था। उसी नगर में रूप और कान्ति में उर्वशी के समान लोकमनोहारिणी कोशानाम की वेश्या रहती थी। स्थूलभद्र उसके साथ दिनरात विविध भोगविलासों और आमोदप्रमोदो में तन्मय रहता था। उसे वहाँ रहते एक-एक करते हुए बारह वर्ष बीत गए। शकटाल-मंत्री नंदराजा के दूसरे हृदय के समान, अत्यन्त विश्वासपात्र और अंगरक्षक बना हुआ था। उसी नगर में कवियों, वादियों और वैयाकरणों में शिरोमणि वररुचि नामक ब्राह्मणों का अगुआ रहता था। वह इतना बुद्धिशाली था कि प्रतिदिन १०८ नये श्लोक बना कर राजा की स्तुति करता था। किन्तु वररुचि कवि के मिथ्यादृष्टि होने के कारण शकटाल मंत्री कभी उसी प्रशंसा नहीं करता था। इस कारण नंदराजा उस पर प्रसन्न तो होता था, मगर उसे तुष्टिदान नहीं देता था। दान न मिलने का कारण जान कर वररुचि शकटालमंत्री की पत्नी की सेवा करने लगा। वररुचि की सेवा से प्रसन्न हो कर एक दिन मंत्री-पत्नी ने उससे पूछा—"भाई! कोई कार्य हो तो बतलाओ।" इस पर वररुचि ने कहा "बस, बहन! काम यही है कि तुम्हारा पति राजा के सामने मेरे काव्यों की प्रशंसा कर दे।" उसके इस अनुरोध पर मंत्री-पत्नी ने एक दिन अवसर देख कर मंत्री के सामने इस बात का जिक्र किया तो उसने कहा "मैं उस मिथ्यादृष्टि की प्रशंसा कैसे कर सकता हूं।" फिर भी पत्नी के अत्यन्त आग्रहवश मत्री ने उस बात को मंजूर किया। सच है, **'बालक, स्त्री और मूर्ख का हठ प्रबल होता है।'** एकदिन वररुचि नंदराजा के सामने अपने बनाये हुए काव्य प्रस्तुत कर रहा था, तभी महामंत्री ने **'अहो सुन्दर-सुभाषितम'** कह कर प्रशसा की। इस पर राजा ने उसे एकसौ आठ स्वर्णमुद्राएँ ईनाम दीं। वस्तुतः **'राजमान्य पुरुष के अनुकूल वचन भी जीवनदाता होते हैं।'** अब तो प्रतिदिन राजा से एक सौ आठ स्वर्णमुद्राएं वररुचि को मिलने लगीं।

एकदिन शकटालमंत्री ने राजा से पूछा—"आप वररुचि को क्यो दान देते हैं?" राजा ने कहा—"अमात्यवर! तुमने इसकी प्रशंसा की थी, इस कारण मैं देता हूं। यदि मुझे देना होता तो मैं पहले से ही न देता? किन्तु जिस दिन से तुमने उसकी प्रशंसा की, उसी दिन से मैंने उसे दान देना प्रारम्भ किया है।" इस पर मंत्री ने कहा—"देव! मैंने उसकी प्रशंसा नहीं की थी; मैंने तो उस समय दूसरे काव्यों की प्रशंसा की थी। वह तो दूसरों के बनाये हुए काव्यों को अपने बनाये हुए बता कर आपके सामने प्रस्तुत करता है।" राजा ने पूछा—"क्या यह बात सच है?" मंत्री ने कहा—'बेशक! इन काव्यों को मेरी पुत्री भी बोल सकती है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण मैं कल ही आपको बता दूंगा।" शकटाल के ७ पुत्रियाँ थीं—यक्षा, यक्षदत्ता, भूता, भूतदत्ता, सेणा वेणा, और रेणा। वे सातों बुद्धिमती थीं। उनमें से पहली (यक्षा) एक बार सुन कर, दूसरी दो बार, तीसरी तीन बार, यों क्रमशः सातवीं पुत्री सात बार सुन कर याद कर लेती थी। दूसरे दिन मंत्री ने अपनी सातों पुत्रियों को राजा के सामने

एक पर्दे के पीछे कोई न देखे, इस तरह बिठा दी। सदा की भांति पण्डित वररुचि ने १०८ नये श्लोक बना कर प्रस्तुत किए। उसके तुरंत बाद मंत्री की यक्षा आदि सातों पुत्रियों ने क्रमश: वे श्लोक ज्यों के त्यों पुन: बोल कर सुना दिए। इस तरह राजा लड़कियों के मुंह से सात बार वररुचि-निर्मित श्लोकों को सुन कर अतिरुष्ट हो गया। उसने अब वररुचि को दान देना बंद कर दिया। सच है, मन्त्रियों के पास अपकार और उपकार दोनों के उपाय होते हैं।

वररुचि को भी एक उपाय सूझा। वह गंगातट पर पहुंचा और गंगा के पानी में एक यंत्र स्थापित किया। यंत्र के साथ वह पहले से १०८ स्वर्णमुद्राएँ कपड़े की एक पुटली में बांध देता। फिर सुबह गंगा की स्तुति करता, उस समय पैर से यंत्र को दबाता, जिससे सारी मुहरें उछल कर उसके हाथ में आ जाती थी। इस तरह वह प्रतिदिन करता था। नगर में सर्वत्र इसकी शोहरत हो गई। नागरिकों में बड़ा कुतूहल पैदा हुआ। वे विस्मयविमुग्ध हो कर उसे देखने आने लगे। धीरे-धीरे यह बात राजा के कानों में पहुंची। अत: राजा ने मंत्री को बुला कर उसके सामने वररुचि की प्रशंसा की। इस पर मंत्री बोला -'यदि यह बात सच है तो प्रातःकाल आप स्वयं वहाँ देखने पधारें' इसके बार मंत्री ने अपने एक विश्वस्त व्यक्ति को समझा कर गुप्तरूप से उसका भेद लेने के लिए भेजा। वह वहाँ जाकर पक्षी के समान वृक्ष के एक खोखले में छिप कर बैठ गया और देखता रहा कि वररुचि क्या करता है? इधर वररुचि गंगाजल में स्थापित यंत्र में चुपचाप १०८ स्वर्णमुद्राओं की पोटली रख कर घर चला गया। उसके जाने के बाद उस गुप्त पुरुष ने चुपके से स्वर्णमुद्राओं की वह जीवनसर्वस्व पोटली उठाई और उसे ले कर वह सीधा शकटालमंत्री के पास पहुंचा और उन्हें एकान्त में बुला कर चुपचाप वह पोटली सौंप दी तथा उसका सारा भेद मंत्री को बता दिया। रात बीतते ही सुबह मंत्री उस पोटली को अपने साथ ले कर राजा के साथ गंगा नदी पर पहुंचा। ज्यों ही वररुचि ने देखा कि आज राजा स्वयं यह कौतुक देखने पधारे हैं, त्यों ही अभिमानी बन कर मूढ़ वररुचि जोर-जोर से अधिकाधिक स्तुति करने लगा। स्तुति पूर्ण होते ही उसने पैर से उस यंत्र को दबाया, लेकिन स्वर्णमुद्राओं की पोटली उछल कर बाहर नहीं आई अत: वह भौंचक्का हो कर पानी में हाथ डाल कर द्रव्य को टटोलने लगा मगर धन की पोटली नहीं मिली। अत: वररुचि का चेहरा उतर गया। वह अवाक् हो कर बैठ गया। तभी महामंत्री ने उसे छेड़ते हुए कहा—"क्या पहले रखा हुआ धन गंगा नहीं दे रही है, जिसे तू बार-बार ढूंढ़ रहा है? यह ले, तेरा धन! पहिचान कर ले ले इसे!" यों कहते हुए मंत्री ने वररुचि के हाथ में वह स्वर्णमुद्राओं की वह पोटली थमा दी। यह देख कर वररुचि के हृदय में तहलका मच गया। स्वर्णमुद्राओं की उस पोटली ने वररुचि की सारी प्रतिष्ठा मिट्टी में मिला दी। इसलिए वह मौत से भी बढ़कर असह्य दशा का अनुभव कर रहा था। शकटालमंत्री ने राजा से कहा—'देव! देखिये इसकी पोपलीला को! लोगों को ठगने के लिए यह शाम को इस यंत्र के अंदर द्रव्य डाल देता है, और सुबह स्तुति का ढोंग रच कर इसे ग्रहण करता है!' राजा ने कहा—"तुमने इसके इस प्रपंच का मेरे सामने भंडाफोड़ कर बहुत अच्छा किया।" यों कह कर राजा विस्मित नेत्रों से वररुचि को देखता हुआ अपने महल में पहुंच गया।

शकटाल मंत्री के इस रवैये से वररुचि मन ही मन बहुत क्रुद्ध हो गया और इस अपमान का बदला लेने की ठानी। एक दिन वररुचि ने मंत्री के घर की किसी दासी को प्रलोभन दे कर उससे उसके घर की सारी बातें पूछीं। मंत्री की दासी ने बताया कि मंत्री पुत्र श्रीयक के विवाह की तैयारी हो रही है। उसमें राजा को भी भोजन का आमंत्रण दिया गया है। नंदराजा को उस समय नजराना देने

के लिए शस्त्र भी तैयार किये जा रहे हैं। क्योंकि शस्त्रप्रिय राजा को शस्त्र ही भेंट दिये जाते हैं।' मंत्री के छिद्र को जान कर वररुचि ने बालकों को इकट्ठे किये और उन्हें खाने को चने दे कर, यह सिखाया कि "देखो, तुम लोग जगह-जगह लोगों के सामने इस तरह कहो—'राजा को इस बात का पता नहीं है कि शकटाल मंत्री राजा को मार कर श्रीयक को राजगद्दी पर बिठाना चाहता है।' बच्चे रोजाना जगह-जगह यह बात लोगों के सामने कहने लगे। धीरे-धीरे लोगों ने यह बात राजा से जा कर कही। राजा ने सोचा—'बालक जो बोलते हैं, श्रेष्ठ नारियां जो कहती हैं, तथा औत्पातिकी भाषा में जो बोला जाता है, वह कभी मिथ्या (निष्फल) नहीं होता।' अतः राजा ने इस बात का निर्णय करने के लिए अपने एक विश्वस्त पुरुष को शकटाल मंत्री के यहाँ पता लगाने भेजा। उसने मंत्री के घर में सारी खोजबीन करके पता लगाया और वहाँ जो कुछ देखा था, हूबहू आ कर राजा से कह सुनाया। सेवा (राजकार्य) के समय जब मंत्री ने राजा के सामने उपस्थित हो कर नमस्कार किया, तो राजा अपना मुंह फिरा कर बैठा। मंत्री राजा के भाव को फौरन ताड़ गया। उसने घर आ कर श्रीयक से कहा— मालूम होता है, किसी द्वेषी ने अपने लिए राजा को उलटा समझा कर भड़का दिया है। इसी कारण राजा हम पर कुपित हो गया है। अतः अब वह अवश्य ही अपने कुल को नेस्तनाबूद करेगा। इसलिए वत्स ! यदि तू मेरी आज्ञा के अनुसार करना स्वीकार कर लेगा तो हमारे कुल की रक्षा हो जायगी। वह आज्ञा यह है कि जब मैं राजा को नमस्कार करने के लिए सिर झुकाऊँ, तब फौरन ही तलवार से तुम मेरा सिर उड़ा देना। और यों कहना कि 'चाहे पिता ही क्यों न हो, अगर वह स्वामिभक्त नहीं है तो उसका वध कर डालना ही उचित है। बेटा ! मैं अब बूढ़ा हो चला हूं, दो-चार साल जीया न जीया ; इस तरह से मरूंगा तो कुलगृह के स्तम्भ-समान तू तो कम से कम चिरकाल तक मौज करेगा।'' यह सुन कर श्रीयक गद्गद् कंठ से रोता हुआ बोला—'तात ! ऐसा घोरपापकर्म तो चाण्डाल भी नहीं करता ; मुझ से यह कैसे होगा ?' तब मंत्रीश्वर ने कहा—"अगर तू ऐसा विचार करेगा तो केवल दुश्मनों का ही मनोरथ पूर्ण करेगा और यमराज-सा कोपायमान राजा हमें कुटुम्बसहित मार डालेगा। अतः मेरे एक के नाश से अगर सारे कुटुम्ब की रक्षा होती हो तो मुझे इसका जरा भी रंज नहीं होगा। रही तेरे धर्म की रक्षा की बात ; सो मैं पहले से ही अपने मुंह में तालपुट विष रख कर राजा को नमस्कार करूंगा ; अतः तू मुझ मृत के मस्तक को काट देना, जिससे तुझे पितृहत्या का पाप नहीं लगेगा।" इस तरह बहुतेरा समझाने पर बड़ी मुश्किल से श्रीयक ने बात स्वीकार की ; क्योंकि 'बुद्धिशाली व्यक्ति भविष्य के शुभ के लिए वर्तमान समय को भयंकर बना देते हैं।' पिता की आज्ञा मान कर श्रीयक ने राजसभा में राजा के सामने ही पिता का मस्तक काट डाला। राजा यह देख कर हक्का-बक्का-सा हो कर श्रीयक से पूछने लगा 'वत्स ! ऐसा दुष्कर अकार्य तूमने क्यों किया ?' श्रीयक ने कहा—"आपने देखा कि मेरा पिता राजद्रोही है ; अतः मैंने उसे मारा है। सेवक सदा स्वामी के मनोऽनुकूल ही व्यवहार करते हैं। यदि स्वयं को दोष दीखे तो विचारणीय होता है ; परन्तु स्वामी को अगर किसी सेवक में दोष दिखाई दे तो उसका तुरन्त प्रतिकार करना ही उचित है ; वहाँ कोई विचार करना उचित नहीं।"

महामन्त्री शकटाल की मरणोत्तरक्रिया करने के बाद नंदराजा ने श्रीयक को बुला कर कहा — यह समस्त राज्य-व्यवस्था कार्यभार तुम संभालो और यह लो मन्त्री-मुद्रा।" इस पर श्रीयक ने राजा को प्रणाम करके कहा—'देव ! पिता के समान मेरा बड़ा भाई स्थूलभद्र मौजूद है, जो मेरे पिता की कृपा से आनंदपूर्वक कोशा-गणिका के यहाँ बारह वर्ष से सुखभोगपूर्वक जीवन बिता रहा है। वही इस राज्य के मंत्रित्व का प्रथम अधिकारी है।' यह बात सुन कर राजा ने स्थूलभद्र को बुलाया और उसे मंत्री-मुद्रा

स्वीकार करने को कहा। तब स्थूलभद्र ने कहा—मैं पहले इस पर भलीभांति सोचविचार करके ही आपकी आज्ञा का पालन कर सकूंगा।" राजा ने कहा—'आज ही विचार कर लो।" इस प्रकार कहने पर स्थूलभद्र ने अशोकवन में जा कर सोचा "राजसेवक दरिद्र के समान समय पर शयन, भोजन, स्नान आदि सुख-साधनों का उपभोग नहीं कर सकता। भरे हुए घड़े में जैसे और पानी की गुंजाइश नहीं रहती, वैसे ही स्वराष्ट्र की चिन्ता में व्यग्र राजसेवक के चित्त में प्राणवल्लभ के लिए भी जरा भी गुंजाइश नहीं रहती। अपने तमाम निजी स्वार्थों को तिलांजलि दे कर वह एकमात्र राजा की सेवा करता है. फिर भी बांधे हुए पशु को जैसे कौए नोंच-नोंच कर हैरान करते हैं, वैसे ही दुष्ट लोग उसे हैरान करते रहते हैं। वह बुद्धिमान जितना अपने शरीर और धन को निचोड़ कर राजा की सेवा के लिए जीतोड़ पुरुषार्थ करता है, क्या उतना ही पुरुषार्थ अपनी आत्मा के लिए नहीं कर सकता ?" यों विचार करते-करते स्थूलभद्र को ससार से विरक्ति हो गई।! उन्होंने स्वयं पचमुष्टि केश-लोच किया और रत्नकम्बल की दशियों का रजोहरण बना कर साधुवेष पहन कर तत्काल वह महासत्व राजसभा में प्रविष्ट हुआ। राजा से उन्होने निवेदन किया—"मैंने इस स्थिति में रहने का विचार कर लिया है और आपको धर्मलाभ हो। यों आशीर्वादसूचक वचन कह कर वह महासत्त्व राज्यसभा से इसी प्रकार बाहर निकल गए, जिस प्रकार केसरीसिंह गुफा से बाहर निकलता है। राजा ने गवाक्ष में बैठे-बैठे स्थूलभद्र को जाते हुए देखा कि कहीं यह वैराग्य होने का बहाना बना कर वेश्या के यहां तो नहीं जाता ? परन्तु जब राजा ने यह जान लिया कि वह वेश्यागृह को उसी तरह छोड़ कर जा रहा है, जैसे, दुर्गन्धपूर्ण लाश को देखते ही आदमी नाक-भौं सिकोड़ कर चला जाता है। राजा ने सिर हिलाया और विचार किया कि निश्चय ही भगवान् वैरागी बने है। मैंने इनके विषय में गलत अनुमान लगाया। इस तरह अपनी आत्म-निन्दा करते हुए स्थूलभद्र का अभिनन्दन किया। श्रीस्थूलभद्र ने भी आचार्य श्रीसंभूति-विजय के पास जा कर सामायिक-पाठ का उच्चारण करके दीक्षा अंगीकार की। इसके बाद नन्दराजा ने श्रीयक के हाथ में गौरव पूर्वक समग्रराज्य-व्यवस्था के कार्यभार की मंत्री-मुद्रा दी और मंत्री के सारे अधिकार उसे सौंप दिये। श्रीयक भी सदा श्रेष्ठ न्याय और कुशलता से राज्य-व्यवस्था में सावधानी रखता था, मानो साक्षात् शकटाल ही हो। वह विनयपूर्वक कोशा के यहां जाता था। भाई के स्नेह-सम्बन्धवश उसकी प्रिया का भी कुलीनपुरुष सत्कार करते हैं। स्थूलभद्र के वियोग से दुःखित कोशा भी श्रीयक को देख कर जोर-जोर से रोने लगी। ईष्ट को देख कर दुःखी पुरुष दुःख से अधीर हो जाते हैं। वे अपने हृदय में दुःख को अधिक देर तक टिकाए नहीं रख सकते। इसके बाद श्रीयक ने कोशा से कहा—'आर्ये ! बताओ हम इसमें क्या कर सकते हैं ? पापी वररुचि ने ही मेरे पिता की हत्या करवाई। अकाल में उत्पन्न वज्राग्नि के समान स्थूलभद्र का अकारण वियोग भी उसने ही कराया है। अतः मन-स्विनि ! जब तक वररुचि की तुम्हारी बहन उपकोशा में आसक्ति है ; तब तक उसका प्रतिकार करने का कोई विचार कर लो। उपकोशा को गुप्तरूप से समझा कर किसी भी बहाने से वररुचि में शराब पीने की आदत डाल दो।' अपने स्नेही के वियोग में वैर का बदला लेने के लिये देवर के चातुर्य से उसने ऐसा करना मंजूर किया और धीरे-धीरे उपकोशा को सारी बातें चुपचाप समझा दी। कोशा की सलाह से उसकी छोटी बहन उपकोशा ने उसी तरह किया। वररुचि को जबरन शराब पीने को बाध्य कर दिया। स्त्री अपने गुलाम बने हुए पुरुष से क्या नहीं करा सकती है ? वररुचि ब्राह्मण को अपनी इच्छानुसार मदिरापान करवा कर प्रातःकाल उपकोशा ने अपनी बहन कोशा के पास जा कर सारी बातें कहीं।

कोशा ने श्रीयक सारी बातें बतला दीं। उसे सुन कर श्रीयक ने सोचा कि 'आज पिता के वैर का बदला मैंने अच्छी तरह ले लिया।' महामंत्री शकटाल की मृत्यु के बाद वररुचि राजा की सेवा में तत्पर रहता था। वह सदा राजकुल के प्रत्येक कार्य में उपस्थित रहता था। अतः राजा और प्रजाजन उसे सम्मानपूर्वक देखते थे। एक समय नन्दराजा ने शकटाल मंत्री के गुणों का स्मरण करते हुए उदासीन-से बने हुए राजसभा में गद्-गद स्वर से श्रीयक से कहा - 'इन्द्र की सभा में जैसे बृहस्पति है, वैसे ही मेरी सेवा में भक्ति-शक्तिमान महाबुद्धिशाली महामंत्री शकटाल था। परन्तु दैवयोग से वह इस प्रकार चल बसा। सचमुच, उसके बिना मुझे यह राजसभा सूनी-सूनी-सी लगती है।' श्रीयक ने भी कहा—"देव ! आपकी बात बिल्कुल सत्य है। परन्तु इस विषय में हम क्या कर सकते हैं ? यह सब करतूत मद्यपानरत पापी वररुचि भट्ट की है।" राजा ने पूछा—"क्या यह मदिरापान भी करता है ?" श्रीयक ने कहा—"देव ; कल ही: मैं आपको प्रत्यक्ष बता दूंगा।" इस कौतुक को देखने के लिये दूसरे दिन राजसभा में सभी पुरुष आये। उनमें से एक विश्वस्त व्यक्ति ने, जो पहले से समझाया हुआ था, सर्वप्रथम वररुचि को सुन्दर पद्म (कमल) दिया। उसी समय किसी ने दुरात्मा वररुचि को मदनफल का रस लगा कर दूसरा कमल भेंट किया। 'ऐसी अद्भुत सुगन्धि और इतनी सुन्दरता इस कमल में है ; भला यह कहाँ का होगा ?' यों कमल का बखान करते हुए राजा आदि सभी ने अपना-अपना कमल नाक के लगाया। वररुचि भट्ट ने भी सूंघने की उत्सुकता में अपना कमल नाक के पास रखा। कमल को सूंघते ही रात को पी हुई चन्द्रहास-मदिरा की उसे कै हुई। "धिक्कार है ! ब्राह्मण-जाति में मृत्युदण्ड के योग्य मदिरापान करने वाले इस नराधम को ! इस प्रकार सबके द्वारा तिरस्कृत हो कर वररुचि सभा से बाहर निकल भागा। बाद में अपनी शुद्धि के लिए उसने ब्राह्मण-पण्डितों से प्रायश्चित्त मांगा। इस पर उन्होंने कहा—'मदिरापान के पाप की शुद्धि उबलते हुए गर्मागर्म शीशे का रस पीने के प्रायश्चित्त से ही हो सकती है।' वररुचि भी ब्राह्मणों द्वारा दी गई प्रायश्चित्त-व्यवस्थानुसार शीशे को एक हंडिया में गर्म करके उसे पी गया। उसके शरीर का आन्तरिक भाग गर्मागर्म शीशे के पीने से कुछ ही देर में गल गया और उसके प्राणपखेरू उड़ गये। इधर स्थूलभद्र मुनि भी आचार्य श्रीसंभूतिविजय के पास ज्ञान-दर्शन-चारित्र की आराधना करते हुए श्रुतसमुद्र में पारंगत हुए। वर्षावास निकट आते ही एक मुनि ने गुरुमहाराज श्रीसंभूतिविजय को वंदना करके उनके सामने अपने अभिग्रह (संकल्प) का निवेदन किया — गुरुदेव ! मैं चार महीने उपवास करके सिंह की गुफा के द्वार पर काउस्सग्ग (ध्यान) में खड़ा रह कर वर्षावास बिताऊंगा।' दूसरे मुनि ने निवेदन किया कि मैं चार महीने उपवास करके दृष्टिविष सर्प की बांबी के पास काउस्सग करके रहूंगा। तीसरे मुनि ने चार महीने उपवास करके कुँए की चौखट पर मंडूकासन से काउस्सग्ग करके रहने का अभिग्रह निवेदित किया। तीनों साधुओं को अभिग्रह के योग्य जान कर गुरु महाराज ने आज्ञा दे दी। उस समय स्थूलभद्रमुनि ने गुरुमहाराज की सेवा में वंदन करके निवेदन किया—"प्रभो ! मैंने ऐसा अभिग्रह किया है कि मैं कामशास्त्र में कथित विचित्र करण, आसन आदि शृंगाररस-उत्तेजक चित्रों से परिपूर्ण कोशा वेश्या की चित्रशाला में तपश्चरण किये बिना षड्रसयुक्त भोजन करते हुए चौमासे के चार महीने व्यतीत करूं गुरुमहाराज ने श्रुतज्ञान में उपयोग लगा कर देखा और स्थूलभद्र को उक्त अभिग्रह के योग्य जान कर अनुमति दे दी। अतः चारों साधु अपना-अपना मनोनीत अभिग्रह पूर्ण करने के लिए अपने-अपने मनोनीत स्थल पर पहुंच गये। स्थूलभद्र मुनि भी कोशा वेश्या के गृहद्वार पर पहुंचे। कोशा को पता लगते ही बाहर निकाल कर वह हाथ जोड़ कर स्वागत के लिए उपस्थित हुई। कोशा ने मुनि को देख कर

सोचा—'स्वभाव से ही सुकुमारतन, केले के स्तम्भ के समान जंघा से महाव्रतभार उठाने में असमर्थ, मुनिश्री मेरे यहाँ पधारे हैं।' अतः तुरन्त ही कोशा ने कहा—'स्वामिन् ! स्वागत् है आपका ! पधारिये और मुझे अब आज्ञा दीजिए कि मैं क्या करूँ ? यह तन, मन, धन, परिवार सब आपका ही है। स्थूलभद्र मुनि ने कहा—'भद्रे ! मुझे चातुर्मास में निवास के लिए अपनी चित्रशाला दो।' उत्तर में कोशा ने कहा—"स्वामिन् ! आप सहर्ष ग्रहण कीजिए इसे।" और उसने अपनी चित्रशाला झाड़-पोंछ कर उनके रहने के लिए तैयार कर दी। अतः मुनि स्थूलभद्र ने अपनी आत्मबलवत्ता से धर्म के समान कामस्थली-रूपी उस चित्रशाला में प्रवेश किया। इसके बाद प्रतिदिन वह षटरसयुक्त आहार देती। तदनन्तर जब-तब मुनि को अपने व्रत से विचलित करने के लिए सोलह शृंगार से सजधज कर वह मुनि के सामने बैठती ; उस समय वह ऐसी लगती थी, मानो उत्कृष्ट अप्सरा हो। इस तरह मुनि को आकृष्ट करने के लिए वह बार-बार कुशलतापूर्वक नृत्य, गीत, हावभाव, कटाक्ष आदि करने लगी। करण, आसन पूर्वोपभुक्त शृंगार-क्रीड़ा, प्रबल सुरत-क्रीड़ा आदि का भी बार-बार स्मरण कराने लगी। मतलब यह है कि महा-मुनि को विचलित करने के लिये एक से एक बढ़ कर, जितने भी कामोत्तेजक उपाय हो सकते थे, कोशा ने वे सभी आजमाए। लेकिन वे सभी उपाय वज्र पर नख से विलेखन के समान निष्फल हुए। इस तरह प्रतिदिन मुनि को विक्षुब्ध करने के लिए वह प्रयत्न करती थी। परन्तु वे जरा भी विचलित न हुए। बल्कि महामुनि पर उपसर्ग प्रहार करने वाली कोशा ने ज्यों-ज्यों अनुकूल उपसर्ग किये, त्यों-त्यों महामुनि की ध्यानाग्नि अधिकाधिक प्रज्ज्वलित होने लगी ; जैसे मेघजल से बिजली विशेष प्रदीप्त हो उठती है। आखिरकार कोशा वेश्या हार गई। उसने अपनी भूल स्वीकार की, और नतमस्तक हो कर कहने लगी—"स्वामिन् ! मैं अपनी नासमझी के कारण पहले की तरह आपके साथ कामक्रीड़ा की अपेक्षा रखती थी ; लेकिन आप तो चट्टान की तरह अडोल रहे। धिक्कार है मुझे !" इस प्रकार पश्चात्ताप करती हुई वह मुनि के चरणों में झुक गई। मुनि के इन्द्रिय-विजय की पराकाष्ठा से प्रभावित हो कर कोशा ने श्रावक-धर्म ग्रहण किया और इस प्रकार का अभिग्रह किया कि—'यदि कदाचित् प्रसन्न हो कर राजा चाहे और उसे यह तन अर्पण करना पड़े तो उस एक पुरुष को छोड़ कर अन्य सभी पुरुषों का मैं त्याग करती हूं।' इस तरह स्थूलभद्रमुनि ने सुखपूर्वक चौमासा पूर्ण किया।

तीनों मुनि अपने-अपने अभिग्रह के अनुसार चौमासा पूर्ण करके क्रमशः गुरु-चरणों में पहुंचे। सिंहगुफावासी साधु आया, तब गुरु ने कुछ खड़ हो कर उसे कहा—'दुष्करकारक, वत्स ! तुम्हारा स्वागत करता हूं।' इसी तरह और दो साधु भी आए उनका भी गुरुमहाराज ने दुष्करकारक कह कर स्वागत किया। एकसरीखी प्रतिज्ञा करने वाले को स्वामी भी समान सत्कार देते हैं। इसके बाद पूर्ण-प्रतिज्ञ स्थूलभद्र भी गुरुदेव की सेवा में आए ; तब गुरुमहाराज ने खड़े हो कर कहा—'दुष्कर-दुष्करकारक ! महात्मन् तुम्हारा स्वागत करता हूं।'' यह सुन कर पहले आया हुआ एक मुनि ईर्ष्या से जल भुन गया। वह मन ही मन सोचने लगा। 'गुरुजी ने मंत्रीपुत्र होने के कारण स्थूलभद्र मुनि का पक्ष लिया है और उत्तम शब्दों से सम्बोधित किया है। यदि षट्रसभोजन करने वाले का कार्य दुष्कर-दुष्कर है तो मैं भी अगले वर्ष वैसी ही प्रतिज्ञा करूंगा।' इस प्रकार मन में निश्चित कर लिया। आठ महीने संयम की आराधना करते हुए उक्त मुनि ने पूर्ण किये। वर्षाकाल आते ही कर्जदार के समान सिंहगुफावासी साधु हर्षित हो कर गुरुमहाराज के पास पहुंचा और उनके सामने अपनी प्रतिज्ञा दोहराई। 'भगवन् ! इस वर्ष मैं कोशा-वेश्या के यहां रह कर सदा षट्रसयुक्त भोजन करते हुए चौमासा बिताऊंगा। गुरुदेव ने ज्ञान में उपयोग लगा कर देखा और विचार किया कि केवल स्थूलभद्र के प्रति ईर्ष्या

से इसने यह अभिग्रह अंगीकार किया है। अतः उसे कहा—'वत्स ! यह अभिग्रह दुष्करातिदुष्कर है। तुम इसके पालन में समर्थ नहीं हो। इसलिए ऐसा अभिग्रह मत करो। उसमें पूर्णतया उत्तीर्ण होने में तो मेरुसमान स्थिर स्थूलभद्र ही समर्थ हैं।' इस पर उस मुनि ने प्रतिवाद करते हुए गुरु से कहा—'मेरे लिये तो यह कुछ भी दुष्कर नहीं हैं, तो फिर दुष्कर-दुष्कर की बात ही कहाँ रही ? अतः मैं इस अभिग्रह में अवश्य ही सफल बनूंगा। गुरु ने कहा 'इस अभिग्रह से तुम भविष्य के लिए भी भ्रष्ट और पूर्वकृत तप-संयम से भी नष्ट हो जाओगे ; क्योंकि बलबूते से अधिक बोझ उठाने से अंगोपांगों का नाश होता है।" किन्तु अपने आपको पराक्रमी समझने वाले उस मुनि ने गुरु-वचन को ठुकरा कर कामदेव के निवासगृह के समान कोशागणिका के भवन की ओर प्रस्थान किया।

दूर से आते मुनि को देख कर कोशा ने विचार किया कि मालूम होता है कि यह मुनि स्थूलभद्रमुनि के प्रति ईर्ष्या के कारण ही मेरे यहाँ आ रहा है। फिर भी मुझे श्राविका होने के नाते इसे पतित होने से बचना चाहिए। यों सोच कर वेश्या ने खड़े हो कर मुनि को वन्दन किया। मुनि ने सती कोशा से उसकी चित्रशाला चार माह रहने के लिए मांगी। कोशा ने सहर्ष चित्रशाला खोल दी और उसमें ठहरने की अनुमति दे दी। मुनि ने उसमें प्रवेश किया और रहने लगा। षट्रसयुक्त भोजन के बाद मध्याह्न में मुनि की परीक्षा के लिए रूप-लावण्य-भंडार कोशा उनके पास आई। कोशा की कमल-सी आंखे देखते ही मुनि एकदम विकारयुक्त हो गये। जिस प्रकार की रूपवती स्त्री थी, उसी प्रकार का स्वादिष्ट विविधरसयुक्त भोजन मिल जाय तो विकार पैदा होने में क्या कमी रह सकती है ? काम-ज्वर से पीड़ित मुनि ने कोशा से सहवास की प्रार्थना की। उसके उत्तर में कोशा ने कहा—'भगवन् ! हम ठहरी वेश्या ! हम तो धन देने से ही वश में हो सकती हैं !'' मुनि ने कहा—''मृगलोचने ! तुम मुझ पर प्रसन्न हो ; मगर बालू में से तेल प्राप्त हो तो हमारे पास से धन प्राप्त हो सकता है। यह तो असंभव है, प्रिये !' कोशा ने प्रतिबोध देने के लिहाज से मुनि से कहा—'असंभव क्यों है ?' नेपालदेश के राजा से कोई पहली बार ही मिले, जिसे उसने पहले कभी देखा न हो, तो उस साधु को वह रत्नकम्बल भेंट देता है। अतः आप वहां जा कर रत्नकम्बल ले आइये।" कोशा ने तो मुनि को विरक्ति हो जाने की दृष्टि से कहा था, लेकिन उस बात को वह मुनि बिलकुल सच्ची मान बैठा और अपनी साधुमर्यादा को ठुकरा कर अनेक विघ्न वाला वर्षाकाल होने पर भी बालक की तरह अपने व्रतों को पापपंक से लिप्त मिट्टी में मिलाते हुए वह चौमासे में ही वहाँ से चल पड़ा। नैपाल पहुंच कर राजा से रत्नकम्बल ले कर मुनि वापिस आ रहा था कि रास्ते मे एक चोरपल्ली दिखाई दी; जहाँ बहुत से चोर रहते थे। उन्होंने एक तोता पाल रखा था। उसने मुनि को देख कर कहा— 'लाख मूल्य वाला आ रहा है। यह सुन कर पेड़ पर बैठे चोरों के राजा ने दूसरे चोर से पूछा— यह कौन आ रहा है ?' उसने कहा—'कोई भिक्षु आ रहा है और उसके पास कुछ दिखता तो है नहीं।' साधु जब पास में आया, तब चोरों ने पकड़ कर उसकी अच्छी तरह तलाशी ली। मगर उसके पास कुछ भी न मिला। अतः चोरों ने उसे निर्द्रव्य जान कर छोड़ दिया। किन्तु उसके जाने के बाद फिर तोता बोला— यह लाख मूल्य वाला जा रहा है।' अतः चोर-सेनापति ने उसे फिर पूछा—'भिक्षो ! सच सच बता दे ! तेरे पास क्या है ? तब मुनि ने उससे कहा—मैं तुमसे क्या छिपाऊँ, वेश्या को देने के लिए नेपाल-नरेश से मैंने रत्नकम्बल प्राप्त किया था। उसे मैंने बांस की नली में छिपा रखा है। कहो तो दे दूं।" चोरों ने मुनि को भिक्षु समझ कर छोड़ दिया। मुनि वहाँ से सीधे कोशावेश्या के यहाँ पहुंचा और उसे वह रत्नकम्बल भेंट कर दिया। कोशा

ने मुनि के देखते ही देखते तत्काल निःशंक हो कर उसे गन्दी नाली में फेंक दिया। मुनि ने कहा—"भद्रे! इतने महामूल्यवान् और अतिपरिश्रम से प्राप्त रत्नकम्बल को तुमने गन्दे नाले में फेंक दिया? शंखग्रीवे! तुमने उसे फेंकते समय जरा भी विचार नहीं किया? इस पर कोशा ने तपाक से कहा—"विचारमूढ़ मुने! तुम इस रत्नकम्बल की चिन्ता कर रहे हो, लेकिन स्वयं चारित्ररत्नमय मुनिजीवन को वासनारूपी नरक के गंदे गड्ढे में फेंक रहे हो; उसकी भी कोई चिन्ता है तुम्हें? यह सुनते ही मुनि एकदम चौंक उठे। कोशा की इस प्रबल फटकार से वे सहसा वैराग्य की ओर मुड़े। अपने को संभालते हुए उन्होंने वेश्या से कहा - 'बहन! वास्तव में तुमने मुझे आज सोते से जगाया है। सुन्दर प्रतिबोध दिया है और संसार-समुद्र से गिरते हुए मुझे बचाया है। वास्तव में तुमने महान् कार्य किया है। अब मैं स्वस्थ हूं और संयमी जीवन में लगे हुए अतिचारों (पापों-दोषों) के उन्मूलन के लिए गुरुमहाराज के चरणों में जा रहा हूं। भाग्यशालिनी! तुम्हें धर्मलाभ हो।' कोशा ने भी मुनि से कहा — आपके निमित्त से मैं भी अपराधिनी बनी, उसके लिए 'मिच्छामि दुक्कडं' देती हूँ। ब्रह्मचर्यव्रत में तन्मय होते हुए भी आपको मैंने विचलित करने का प्रयत्न किया और नेपाल जाने का कष्ट दिया। तथा आपको प्रतिबोध देने के लिए मैंने आपकी इस प्रकार आशातना की; उसके लिए मैं आपसे क्षमा चाहती हूं; क्षमा करें! मैं चाहती हूं कि अब आप शीघ्र ही गुरुजी की सेवा में पहुँच जांय।' मुनि भी गुरु के पास पहुंचे और उनके सामने आत्मनिवेदनपूर्वक आलोचना करके प्रायश्चित्त के रूप में घोर तपश्चरण करने लगे।

एक दिन खुश हो कर नन्दराजा ने एक रथकार को कोशा वेश्या के यहाँ भेजा। परन्तु वेश्या राजा के अधीन होने से अनुरागरहित हो कर उसके साथ सहवास करती थी। रथकार के समक्ष वह सदा यही कहा करती थी कि 'स्थूलभद्र से बढ़कर कोई महापुरुष नहीं है।' रथकार ने मन में सोचा —'इसे ऐसा कोई चमत्कार बताऊँ, जिससे यह मेरे प्रति अनुराग करने लगे।' ऐसा सोचकर एक दिन वह गृहोद्यान में जा कर एक पलंग पर बैठ गया और कोशा के मनोरंजन के लिए अपना विज्ञान—चातुर्य बतलाया कि आमों के एक गुच्छे को निशाना ताक कर एक बाण से बींध दिया। फिर उस बाण को दूसरे बाण से, दूसरे को तीसरे से इस तरह बाणों की कतार अपने हाथ तक लगा दी। बाद में आम के गुच्छों की डाली को अस्त्राकार बाण से काट डाली। और तो और एक-एक बाण मानो अपने हाथ के पास हो, इस तरह खींच कर आमों का गुच्छा वहीं बैठे-बैठे ही कोशा वेश्या को समर्पित कर दिया। यह देख कर वेश्या ने कहा -'अब मेरी भी नृत्य-कला देखिये।' यह कह कर उसने सरसों का एक ढेर लगवाया। उस पर बीच में एक सुई खड़ी कर दी। फिर सारे ढेर को फूल की पंखुड़ियों से ढक दिया। तत्पश्चात् उसने उस सुई पर इस ढंग से नृत्य किया कि न तो सुई से उसे जरा भी चोट लगी, और न उससे एक भी पंखुड़ी आगे-पीछे हुई। यह देख कर रथकार ने खुश हो कर कोशा से कहा —'तुम्हारे दुष्कर कार्य को देख कर मैं बहुत प्रसन्न हूं। अतः मेरे पास जो भी वस्तु है, उसे मांगो, मैं तुम्हें अवश्य दूंगा।" इस पर वेश्या ने कहा—"मैंने ऐसा कोई दुष्कर कार्य नहीं किया; जिससे आप इतने प्रभावित हुए हैं; बल्कि अभ्यास करने वाला इससे भी अधिक दुष्कर कार्य कर सकता है। यह आम का गुच्छा बींध डालना या सुई पर नृत्य करना, दुष्कर नहीं है, क्योंकि अभ्यास के बल पर यह कार्य सिद्ध हो सकता है। परन्तु बिना ही अभ्यास के स्थूलभद्र ने जो कार्य किया है; वह तो सचमुच ही अतिदुष्कर है। जिसने मेरे साथ लगातार बारह वर्ष तक रह कर नित्य-नये विषयसुखों का उपभोग किया; उसी चित्रशाला में चार मास रह कर स्थूलभद्र ब्रह्मचर्य आदि व्रतों में अखण्डित और अडोल रहे। जहाँ

नेवले का आवागमन होता हो, वहाँ दूध दूषित होने से बच नहीं सकता; वैसे ही स्त्री के निवास वाले स्थान में पुरुष का दूषित होने से बचना दुष्कर है। स्थूलभद्रमुनि के सिवाय अनेक योगी दूषित हुए हैं। स्त्री के पास एकान्त में सिर्फ एक दिन भी अविचलित रहने में कौन समर्थ है? जबकि स्थूलभद्रमुनि चार महीनों तक अखण्डब्रह्मचर्यव्रती रहे। यद्यपि उनका आहार षट्रसों से युक्त स्वादिष्ट था; उनका निवास चित्र-शाला में था; स्त्री भी उनके पास थी और एकान्त स्थान भी था। फिर भी स्थूलभद्र मुनि चलायमान नहीं हुए। जहाँ अग्नि के समान स्त्री के पास रहने से धातु के समान कठोरहृदय पुरुष भी पिघल जाते हैं; वहाँ हम उस महामुनि स्थूलभद्र को वज्रमय ही देखते हैं। दुष्करानिदुष्कर कार्य करने वाले महासत्व श्रीस्थूलभद्रमुनि का वर्णन करने के बाद अब दूसरे का वर्णन करने को मुंह नहीं खुलता। उस पर ताला ही लगाना जरूरी है। यह सुनते ही रथकार ने कोशा से पूछा —"तुम जिसका इतना बखान कर रही हो; वह महासत्वशिरोमणि स्थूलभद्र कौन है? तब उसने कहा —"जिसका चरित्र-चित्रण मैंने तुम्हारे सामने किया है; वह नंदराजा के मन्त्री स्व-शकटाल का पुत्र स्थूलभद्र है।' यह सुन कर आश्चर्यमुद्रा से रथी हाथ जोड़ कर कहने लगा—'तो समझ लो! आज से मैं भी उन स्थूलभद्र महामुनि का एक सेवक हूं।' रथकार को संसारविरक्त देख कर कोशा ने उसे धर्म का ज्ञान दे कर उसकी बची-खुची मोहनिद्रा भी नष्ट कर दी। अब वह प्रतिबोधित हो चुका था। अतः कोशा ने उपयुक्त अवसर जान कर उसे अपना अभिग्रह (संकल्प-नियम) बताया। जिसे सुन कर विस्मय से विस्फारित नेत्रों से रथी ने कहा 'भद्रे! स्थूलभद्रमुनि के गुण-कीर्तन करते हुए तुमने मुझे प्रतिबोधित किया है। अतः आज से मैं तुम्हारे बताये हुए मार्ग पर ही चलूंगा। तुम अपने स्वीकृत अभिग्रह पर सुखपूर्वक बेखटके दृढ़तापूर्वक चलो। लो मैं जाता हूं; तुम्हारा कल्याण हो।" यों कह कर रथकार सीधा स्थूलभद्रमुनि के चरणों में पहुंचा और उनसे उसने मुनिदीक्षा अंगीकार कर ली।

मुनिवरेण्य स्थूलभद्र भी कठोर व्रतों की आराधना करते हुए कालयापन कर रहे थे। अकस्मात् लगातार बारह वर्ष का भीषण दुष्काल पड़ा। उस समय सारा साधु-संघ समुद्रतट पर चला गया। वहाँ पर भी कालरात्रि के समान भयंकर दुष्काल की छाया पड़ी हुई थी। साधुओं को भी आहार-पानी सुलभ नहीं था। इस कारण शास्त्र-स्वाध्याय न होने से श्रुतज्ञान की आवृत्ति न होने के कारण जो कुछ शास्त्र (श्रुत) कण्ठस्थ था, वह भी विस्मृत होने लगा।" अभ्यास और आवृत्ति के बिना बड़े-बड़े बुद्धिमानों का पढ़ा हुआ कण्ठस्थ श्रुतज्ञान भी नष्ट हो जाता है। अतः अब शेष श्रुतज्ञान को नष्ट होने से बचाने के लिए श्रीसंघ ने उस समय पाटलीपुत्र में श्रमणसंघ को एकत्रित किया और जिन-जिन को जितने-जितने अंग, अध्ययन, उद्देश्य आदि कण्ठस्थ याद थे, उन सबको सुन कर एवं अवधारण कर श्रीसंघ ने ग्यारह ही अंगों को लिपिबद्ध संगृहीत किया। बारहवें अंग दृष्टिवाद का कोई अतापता नहीं मिल रहा था, विचार करते-करते संघ को याद आया कि श्रीभद्रबाहु स्वामी दृष्टिवाद के ज्ञाता हैं। उनसे इसे उपलब्ध किया जाय। अतः उन्हें बुलाने के लिए संघ ने दो साधुओं को भेजा। वे दोनों मुनि भद्रबाहु की सेवा में पहुंचे। वंदन करके करबद्ध हो कर उन्हें निवेदन किया— भगवन्! श्रीसंघ ने आपको पाटलीपुत्र पधारने के लिए आमंत्रित किया है।' इस पर उन्होंने कहा — मैंने महाप्राण-ध्यान प्रारम्भ किया है, अतः मेरा वहाँ आना नहीं हो सकता।' यह निराशाजनक उत्तर ले कर दोनों मुनि श्रमणसंघ के पास लौट आये और भद्रबाहुस्वामी ने जो कहा था, उसे कह सुनाया। श्री (श्रमण) संघ ने इस पर क्षुब्ध हो कर अन्य दो मुनियों को उन्हें बुला लाने की आज्ञा दी कि 'तुम आचार्यश्री के पास जा कर

कहना— 'जो आचार्य श्रीसघ की आज्ञा न माने, उसे क्या दंड दिया जाना चाहिए ?' जब वे यह कहें कि 'उसे संघ से बहिष्कृत कर देना चाहिए।' तब तुम दोनों एक साथ उच्चस्वर से आचार्यश्री से कहना— 'तो भगवन् ! आप भी उस दण्ड के भागी हैं !' दोनों मुनि वहां पहुंचे और उन्होंने आचार्यश्री को उसी तरह कहा। अतः आचार्य भद्रबाहु ने कहा —"श्रीसंघ भगवान् मेरे प्रति ऐसा न करे। परन्तु मुझ पर कृपा करके बुद्धिमान शिष्यों को यहां भेजे। मैं यहां रहते हुए ही उन्हें प्रतिदिन सात वाचना दूंगा। पहली वाचना भिक्षाचर्या करके लौटते ही दूंगा; दूसरी स्वाध्यायकाल में, तीसरी बहिर्भूमि से वापिस आने पर और चौथी विकाल के समय तथा शेष तीन वाचनाएं आवश्यक समय पर दूंगा। इस तरह प्रतिदिन सात वाचना दूंगा ; जिससे संघ का कार्य भी बदस्तूर हो जायगा और मेरी साधना भी निर्विघ्न सिद्ध हो जायगी।" यह सुन कर वे दोनों मुनि वापिस पाटलीपुत्र लौटे और श्रीभद्रबाहु ने जैसा कहा था, वह उन्होंने श्रीसंघ के सामने प्रस्तुत कर दिया। इससे श्रीसंघ प्रसन्न हो कर अपने को भाग्यशाली मानने लगा। श्रीसंघ ने इस पर विचार करके स्थूलभद्र आदि पांच-सौ मुनियों को वहां भेजा। भद्रबाहुस्वामी पांचसौ मुनियों को प्रतिदिन सात वाचना देने लगे। परन्तु अत्यधिक वाचना होने के कारण उद्विग्न हो कर अन्य सभी मुनिवर तो अपने-अपने स्थान पर लौट गए। केवल एक स्थूलभद्रमुनि ही वहां रहे।

एक दिन आचार्यश्री भद्रबाहु-स्वामी ने स्थूलभद्रमुनि से पूछा— "मुने ! तुम्हें सतत वाचना से उद्वेग तो नहीं होता ?" तब स्थूलभद्र ने कहा—"भगवन् ! मुझे उद्वेग तो नहीं होता ; परन्तु वाचना बहुत ही अल्प मिलती है। आचार्यश्री ने कहा— "अब मेरी ध्यान-साधना लगभग पूर्ण होने वाली है। उसके पूर्ण होते ही मैं तुम्हें यथेच्छ वाचना दे सकूंगा।" ध्यान-साधना पूर्ण होने के बाद आचार्यश्री ने स्थूलभद्र को उनकी इच्छानुसार वाचना देनी शुरू की। लगभग दस पूर्व में दो वस्तु कम तक का अध्ययन हुआ था कि उसके बाद श्रीभद्रबाहु-स्वामी विहार करके क्रमशः पाटलीपुत्र पधारे और नगर के बाहर उद्यान में ठहरे। उस समय ग्रामानुग्राम विहार करती हुई स्थूलभद्र की सात बहनें (साध्वियां) भी उसी नगर में पधारी हुई थीं। उन्होंने आचार्यश्री का पदार्पण सुना तो वन्दन के लिए वहां आईं। गुरुमहाराज को वन्दन करके उन्होंने पूछा —'भगवन् ! स्थूलभद्रमुनि कहां है ?' आचार्यश्री ने कहा—"इसी मकान की ऊपरी मंजिल पर वे हैं।" बहनें भाई (साधु) को वन्दनार्थ ऊपर की मंजिल पर जाने लगीं, उस समय बहनों को आते देख कर कुछ कौतुक (चमत्कार) बताने के लिहाज से स्थूलभद्रमुनि ने सिंह का रूप बना लिया। भाई के बदले सिंह का रूप देख कर सभी साध्वियां एकदम घबरा कर उल्टे पैरों लौट आईं और गुरुमहाराज से निवेदन किया 'गुरुदेव ! मालूम होता है, बड़े भाई को सिंह खा गया ; क्योंकि वहां तो केवल एक सिंह बैठा है।" आचार्यश्रीजी ने अपने ज्ञान में देखा और जान कर आज्ञा दी—"वहीं जाओ और बड़े भाई को वन्दन करो। वह वहीं पर है, वह सिंह नहीं है। अतः साध्वियां वापिस गईं, तब वे अपने असली रूप में थे। साध्वियों ने स्थूलभद्रमुनि को वन्दन किया और अपनी आपबीती सुनाई— 'मुनिवर्य ! जब श्रीयक ने विरक्त हो कर दीक्षा ली तो हमने भी दीक्षा ले ली। परन्तु उसे प्रतिदिन इतनी अधिक भूख लगती थी कि वह एक दिन भी एक एकासन करने में समर्थ नहीं था। पर्युषण में संवत्सरी महापर्व आया तो मैंने बड़ी बहन के नाते श्रीयक मुनि से कहा—"भाई ! आज तो महापर्व का दिन है। अतः नौकारसी के स्थान पर पोरसी का पच्चक्खाण कर लो।" मेरे कहने से उन्होंने वही पच्चक्खाण किया। पच्चक्खाण पूर्ण होने पर मैंने कहा—'भाई ! थोड़ी देर और रुक जाओ। और चैत्यपरिपाटी की धर्मयात्रा करते हुए भगवद्दर्शन करोगे, इतने में पुरिमड्ढ पच्चक्खाण आ जायेगा।' यह बात भी उन्होंने

स्वीकार कर ली . तदनन्तर तीसरे प्रहर तक के अवड्ढ-पच्चक्खाण करने के लिए कहा ; उसे भी पूर्ण कर लिया । तब फिर मैंने कहा 'अब तो थोड़ी देर बाद ही प्रतिक्रमण का समय हो जायगा ; फिर रात हो जायेगी । उसे सो कर सुखपूर्वक काटी जा सकेगी । इसलिए अब उपवास का पच्चक्खाण ले लो ।" मेरे आग्रह से उसने उपवास का पच्चक्खाण अंगीकार कर लिया । किन्तु रात को क्षुधा से अत्यंत पीड़ित हो गये, पेट में असह्य दर्द उठा और उसी में देव, गुरु देव, व नमस्कारमन्त्र का स्मरण करते हुए उनका देहान्त हो गया । मर करके वे देवलोक में पहुंचे । लेकिन ऐसा करने मे मुझे ऋषिहत्या का पाप लगा है । अतः मैंने खिन्न हो कर श्रमणसंघ से इसका प्रायश्चित्त मांगा । इस पर सघ ने कहा--"तुमने तो शुद्धभाव से तप करवाया था । तुम्हारी भावना उनको मारने की कतई नही थी । इसलिए तुम्हें इसका कोई प्रायश्चित्त नहीं आता ।" तब मैंने कहा---'इस बात को वर्तमान तीर्थंकर भगवान् साक्षात् कहें तो मेरे मन का समाधान हो सकता है ; तभी मुझे शान्ति मिल सकती है । अन्यथा मेरे दिल से यह शल्य नहीं जायेगा ।' इस पर समग्र संघ ने कायोत्सर्ग किया, जिसके प्रभाव से शासनदेवी उपस्थित हुई और कहने लगी---' बताइये, मैं आपका कौन-सा कार्य करू ? संघ ने कहा--"इन साध्वीजी को वर्तमान तीर्थंकर सीमंधर-स्वामीजी के पास ले जाओ ।' देवी ने कहा- 'इनकी निर्विघ्नगति के लिये आप सब काउस्सग्ग में ही रहना ।' संघ ने भी वैसे ही किया । तब देखते ही देखते देवी ने मुझे श्री सीमंधर-स्वामी के पास पहुंचाया । वहाँ मैंने प्रभु को वदना की । भगवान् ने मेरे आने का प्रयोजन जान कर कहा--"भरतक्षेत्र से आई हुई साध्वी निर्दोष है ।" तत्पश्चात मेरे पर कृपा करके उन्होने मुझे आश्वस्त करने के लिए दो चूलिकाएँ रच कर दीं । देवी के साथ वापस मैं यहां अपने स्थान पर लौटी । वहाँ से निःशंक हो कर मैंने वे दोनों चूलिकाएँ श्री संघ को अर्पण की ।" इस प्रकार कह कर मुनि स्थूलभद्र से आज्ञा ले कर वे सब अपने उपाश्रय में आ गईं ।

साध्वियों के जाने के बाद स्थूलभद्रमुनि जब वाचना लेन के लिये आचार्यश्री के पास आये तो उन्होंने वाचना देने से इन्कार करते हुए कहा--"मुनि ! तुम वाचना के अयोग्य हो ।" स्थूलभद्र स्मरण करने लगे कि दीक्षा से ले कर आज तक मे मैंने कौन-सा अपराध किया है । बहुत विचार करने पर भी जब उन्हें अपनी एक भी भूल याद नहीं आई ; तब उन्होंने आचार्यश्री से कहा---"गुरुदेव ! मेरा ऐसा कौन-सा अपराध है. जिससे आपने मुझे वाचना देने से इन्कार कर दिया ? मुझे तो अपराध याद नहीं आता ।" अतः गुरु ने कहा---शान्तम् ! पापम् !! गजब की बात है ! अपराध करके भी तुम्हें वह याद नहीं आता ?' यह कहते ही स्थूलभद्रमुनि को अपनी भूल का ख्याल आया । उसी समय वे गुरुजी के चरणों मे पड़ कर माफी मांगने लगे और बोले 'गुरुदेव ! भविष्य में ऐसी गलती कदापि नही करूँगा । इस बार तो मुझे माफ कर दीजिए ।' 'भविष्य मे तुम ऐसी गलती नहीं करोगे, परन्तु अभी तो तुमने अपराध किया है । इसलिए अब तुमको वाचना नहीं दी जानी चाहिए ।' आचार्य भद्रबाहु ने कहा । उसके बाद मुनिस्थूलभद्र के कहने से सकल संघ ने मिल कर गुरुमहाराज से प्रार्थना की । महाकोप होने पर भी उस पर प्रसन्न होने में महापुरुष ही समर्थ होते हैं । आचार्यश्री ने संघ से कहा---' इस समय इसने ऐसा किया है, तो इसके बाद मन्दसत्व आत्माएँ भी इसी प्रकार इसका उपयोग करेंगी । इसलिए बाकी के पूर्व मेरे पास ही रहने दो, इस भूल का दण्ड उसे ही मिले और दूसरे को पूर्व पढ़ाने वाले को भी मिलना चाहिए ।" बाद में संघ के अतिआग्रह पर उन्हें ज्ञान से उपयोग लगा कर देखा तो मालूम हुआ कि शेष पूर्व मेरे से तो विच्छिन्न नहीं होने वाले है : परन्तु भविष्य में अन्य महामुनि से विच्छेद होने की संभावना है; अब बाकी के पूर्व तुम्हें किसी दूसरे को नहीं पढ़ाने हैं ।" इस प्रकार शर्त तय होने के बाद भद्रबाहुस्वामी ने स्थूलभद्र

मुनि को वाचना दी। इस प्रकार स्थूलभद्र महामुनि समस्त पूर्वों को धारण करने वाले हुए। बाद में आचार्यपद प्राप्त कर उन्होने भविष्य के कल्याण के लिए जीवों को प्रतिबोध दिया। स्त्री-सम्बन्ध से निवृत्ति प्राप्त कर समाधिभाव में लीन बने श्रीस्थूलभद्रमुनि क्रमशः देवलोक में गये। इस प्रकार उत्तम साधुवर्ग एवं बुद्धिमान भव्य-आत्माएं सर्वप्रकार से संसारिकसुखों के त्यागरूप विरति की भावनाओं का चिन्तन करे। इस प्रकार स्थूलभद्रमुनि का संक्षिप्त जीवनवृत्तान्त पूर्ण हुआ।

अब स्त्रियों के अंगों का वास्तविक स्वरूप प्रस्तुत करते हैं—

यकृच्छकृन्मल-श्लेष्म-मज्जाऽस्थिपरिपूरिताः ।
स्नायुस्यूता बहिरम्याः स्त्रियश्चर्मप्रसेविकाः ॥१३२॥

अर्थ—**जैसे जिगर का टुकड़ा, विष्ठा, दांत, नाक, कान व जीभ का मैल, श्लेष्म, मज्जा, वीर्य, रुधिर, हाड़ आदि के टुकड़े भर कर चमड़े के तार से सिली हुई मशक बाहर से सुन्दर दिखाई देती है, वैसे ही स्त्रियों का शरीर सिर्फ बाहर से रमणीय लगता है, उसके अंदर तो जिगर, मांस, विष्ठा, मल, श्लेष्म, कफ, मज्जा, चर्बी, खून और हड्डियाँ आदि भरे हैं, केवल ऊपर चमड़ा मढ़ा हुआ है।**

बहिरन्तर्विपर्यासः स्त्रीशरीरस्य चेद् भवेत् ।
तस्यैव कामुकः कुर्याद् गृद्ध्र-गोमायु-गोपनम् ॥१३३॥

अर्थ—**यदि स्त्री के शरीर को उलट-पलट दिया जाय अर्थात् भीतरी भाग को बाहर और बाहर के भाग को भीतर कर दिया जाय; तो कामी पुरुष को दिन-रात गिद्धों, सियारों आदि से उसकी रक्षा के लिए पहरा बिठाना पड़े। खाने के पदार्थ मांस आदि देख कर दिन में गिद्ध और रात को सियार खाने के लिए आते हैं। कामुक आदमी उन्हें हटाते-हटाते ही हैरान हो जायेगा। उस घिनौने शरीर के साथ सम्भोग करने का अवसर ही नहीं मिलेगा।**

स्त्री शस्त्रेणापि चेत्कामो, जगदेतज्जिगीषति ।
तुच्छपिच्छमयं शस्त्रं किं नादत्ते स मूढधीः? ॥१३४॥

अर्थ—**यदि मूढ़मति कामदेव स्त्री-शरीररूपी गंदे शस्त्र से सारे जगत को जीतना चाहता है तो फिर वह पिच्छरूप तुच्छशस्त्र को क्यों नहीं ग्रहण करता?**

व्याख्या—यदि कामदेव घिनौने स्त्री-शरीररूपी शस्त्र से तीन जगत् को जीतना चाहता है तो फिर मूढ़बुद्धि वाले कौए आदि के पंख के रूप में तुच्छ शस्त्र क्यों नहीं ग्रहण कर लेता? कहने का तात्पर्य यह है कि यदि कामदेव असार एवं श्लेष्म, कफ आदि तथा रस, रक्त, मांस, चर्बी हड्डी, मज्जा, शुक्र आदि गंदे पदार्थों से भरे हुए और कठिनाई से प्राप्त होने वाले स्त्रीरूपी शस्त्र से सारे संसार को नमा कर जीतने की अभिलाषा करता है तो फिर अनायास सुलभ और अपवित्रता से रहित कौए आदि के पंख को ले कर अपना हथियार बना लेना। हो न हो, वह मूर्ख इस बात को भूल ही गया है। लोकप्रचलित कहावत है कि 'अपने घर के आंगन में पैदा हुए आक के पेड़ में मधु मिल जाय तो कौन ऐसा मूर्ख होगा जो पहाड पर चढ़ने का परिश्रम करेगा? अनायास ही इष्ट पदार्थ की सिद्धि हो जाय तो कोई भी विद्वान प्रयत्न नहीं करता। तथा नींद खुल जाने पर इस प्रकार चिन्तन करे—

संकल्पयोनिनाऽनेन हहा ! विश्वं विडम्बितम् ।
तदुत्खनयेऽभिसंकल्पं मूलमस्येति चिन्तयेत् ॥१३५॥

अर्थ—ओहो ! संकल्प से उत्पन्न होने वाले इस कामदेव ने तो सारे संसार को विडम्बना में डाल रखा है । अतः मैं विषय-विकार की जड़ इस संकल्पविकल्प को ही उखाड़ फेंकूंगा । इस प्रकार का चिन्तन करे ।

व्याख्या—काम की कल्पना या केवल विचार करना उसकी उत्पत्ति का वास्तविक कारण नहीं माना जाता ; फिर भी संकल्प उसकी योनि अर्थात् उत्पत्ति-कारण है ; यह सारे विश्व में अनुभवसिद्ध है । इस कामदेव ने सारे जगत् को परेशान कर रखा है । 'समग्र विश्व' इसलिये कहा गया है कि ब्रह्मा इन्द्र महादेव आदि मान्य व्यक्ति भी स्त्री के दर्शन, आलिंगन, स्मरण आदि कारणों से इसकी विडम्बना से नहीं बचे । सुना है, पुराणों में उल्लेख है कि 'महादेव और गौरी के विवाह में ब्रह्माजी पुरोहित बने थे, पार्वती से महादेव ने प्रणय-प्रार्थना की थी, गोपियों की अनुनय-विनय श्रीपति विष्णु ने की थी, गौतमऋषि की पत्नी के साथ क्रीड़ा करने वाला इन्द्र था, बृहस्पति की भार्या तारा पर चन्द्र आसक्त था और अश्वा पर सूर्य मोहित था ।' इस कारण ऐसे निःसार हेतु खड़े करके कामदेव ने जगत् को हैरान कर डाला है ; यह अनुचित है । "अतः अब मैं जगत् को विडम्बित करने वाले काम के मूल संकल्प को ही जड़मूल से उखाड़ फेंकूंगा ;" इस प्रकार स्त्रीशरीर के अशुचित्व एवं असारत्व पर तथा संकल्पयोनि (काम) के उन्मूलन इत्यादि पर चिन्तन-मनन करे । तथा निद्राभंग होने पर ऐसा भी विचार करे—

यो यः स्याद् बाधको दोषस्तस्य तस्य प्रतिक्रियाम् ।
चिन्तयेद् दोषमुक्तेषु, प्रमोदं यतिषु व्रजन् ॥१३६॥

अर्थ—दोष से मुक्त मुनियों पर प्रमोदभाव रख कर अपने में जो-जो बाधक दोष दिखाई देता हो, उससे मुक्त होने के प्रतिकार (उपाय) का विचार करे ।

व्याख्या—प्रशान्तचित्त के बाधक दोष राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, मोह, लोभ, काम, ईर्ष्या मत्सरादि दिखाई देते हैं । अतः उनका प्रतिकार करने के लिए चिन्तन-मनन करना चाहिए । तात्पर्य यह है कि राग हो तो उसके प्रतिपक्षी वैराग्य का विचार करे, इसी प्रकार द्वेष के समय मैत्री-भाव, क्रोध के समय क्षमा, मान के समय नम्रता, माया के समय सरलता, लोभ के समय संतोष, मोह के समय विवेक, कामविकार की उत्पत्ति के समय स्त्री-शरीर के विषय में अशौचभावना, ईर्ष्या के समय ईर्ष्यापात्र व्यक्ति को कार्य में सहायता दे कर या उसके प्रति सद्भाव रख कर, मत्सर के समय दूसरे की तरक्की देख कर प्रमोदभाव (चित्त में दुःख न मान कर)=प्रसन्नता की अभिव्यक्ति, इस प्रकार प्रत्येक दोष की प्रतिक्रिया का मन में विचार करना चाहिए । ऐसा कभी नहीं सोचना चाहिए कि ऐसा करना असंभव है । क्योंकि इस विश्व में अनेक मुनिवर एवं गुणिजन सफल दिखाई देते हैं ; जिन्होंने जड़ जमाए हुए कठोरतम दोषों का भी त्याग करके आत्मा को गुणसम्पन्न बनाई है । इसीलिए कहा है—'सद्गृहस्थ को दोषों से रहित मुनियों पर प्रमोदभाव रखते हुए बाधक दोषों से मुक्त होने का विचार करना चाहिए । दोषमुक्त मुनि के दृष्टान्त से (आदर्श जीवन से) आत्मा में प्रमोदभाव जागृत होता है और आत्मा में जड़ जमाए हुए दोषों को छोड़ने में आसानी रहती है ।

दुःस्थां भवस्थितिं स्थेम्ना, सर्वजीवेषु चिन्तयन् ।
निसर्गसुखसर्गं तेष्वपवर्गं विमार्गयेत् ॥१३७॥

अर्थ—स्थिर हो कर, वह चिन्तन करे कि संसार-परिभ्रमण सभी जीवों के लिए अटपटा व दुःखमय है। अतः इस प्रकार का युक्तिपूर्वक विचार करे कि संसार के सभी जीव कैसे शाश्वत व स्वाभाविक मोक्षसुख प्राप्त करें ?

व्याख्या—सभी जीवों की भवस्थिति बड़ी दुःसह व बेढब है। जीव कभी तिर्यंचगति में, कभी नरकगति में कभी मनुष्यगति में और कभी देवगति में जाता है ; जहाँ उसे तरह-तरह की यातनाएँ मिलती हैं। तिर्यंचगति में वध-बन्धन, मार, पराधीनता, भूख, प्यास, अतिभार लादना, अंगों-अवयवों का छेदन आदि दुःख सहने पड़ते हैं। नरकगति में एक दूसरे के वैर-विरोध व क्लेश की उदीरणा (प्रेरणा) से परमाधार्मियों से और क्षेत्र के कारण नाना प्रकार की यातनाएँ स्वाभाविक ही भोगनी पड़ती हैं। करौत से शरीर काटना, कुंभी में पकाना, खराब नोकदार कांटों वाले शाल्मली वृक्ष से आलिंगन कराना, वैतरणी नदी में तैरना, इत्यादि महादुःख हैं। मनुष्यभव में भी दरिद्रता, व्याधि, रोग, पराधीनता, वध, बन्धन आदि कई दुःख हैं। देवगति में भी ईर्ष्या, विषाद, दूसरों की सम्पत्ति देख कर जलना, च्यवन (मरण), ६ महीनों का संताप इत्यादि दुःख हैं। इस प्रकार संसार-परिभ्रमण दुःखरूप है ; ऐसी दुःखद स्थिति पर चिन्तन करे कि संसार के सभी मोहमायालिप्त जीव जन्म-मरण आदि सभी दुःखों से मुक्त हो कर मोक्ष को कैसे प्राप्त करें ? जागने के बाद इस प्रकार चिन्तन करे—

संसर्गेऽप्युपसर्गाणां दृढव्रतपरायणाः ।
धन्यास्ते कामदेवाद्याः श्लाघ्यास्तीर्थकृतामपि ॥१३८॥

अर्थ—देव, मनुष्य और तिर्यंच आदि के द्वारा कृत उपसर्गों का सम्पर्क हो जाने पर भी अपने व्रत के रक्षण और पालन में दृढ़ श्रीकामदेव आदि श्रावकों को धन्य है ; जिनकी प्रशंसा तीर्थंकर भगवान् महावीर ने भी की थी ; ऐसा चिन्तन करे।

कामदेव श्रावक की सम्प्रदायपरम्परागत कथा इस प्रकार है—

उपसर्ग के समय व्रत में दृढ़ : कामदेव श्रावक

गंगानदी के किनारे झुके हुए बांसों की कतार के समान मनोहर एवं चैत्य-ध्वजाओं से सुशोभित चम्पानाम की महानगरी थी। वहाँ पर सर्प के शरीर के समान लम्बी भुजाओं वाला, लक्ष्मी के कुलगृहसदृश जितशत्रु राजा राज्य करता था। इसी नगरी में मार्ग पर स्थित विशाल छायादार वृक्ष के समान अनेक लोगों का आश्रयदाता एवं बुद्धिशाली कामदेव गृहस्थ रहता था। साक्षात् लक्ष्मी की तरह, रूप-लावण्य से सुशोभित उत्तम-आकृतिसम्पन्न भद्रा नाम की उसकी धर्मपत्नी थी। कामदेव के पास छह करोड़ स्वर्णमुद्राएँ जमीन में गाड़ी हुई सुरक्षित थीं ; इतनी ही मुद्राएँ व्यापार में लगी हुई थीं, और इतना ही धन घर की साधन-सामग्री वगैरह में लगा हुआ था। उसके यहाँ ६ गोकुल थे, प्रत्येक में १० हजार गायों का परिवार था।

एक बार विभिन्न जनपदों में विचरण करते हुए भगवान् महावीर वहां पधारे। वे नगरी के बाहर पृथ्वी के मुखमण्डन पूर्णभद्र नामक उद्यान में विराजे। कामदेव ने सुना तो वह भी प्रभु-चरणों में

पहुँचा और उनकी कर्णप्रिय सुधामयी धर्मदेशना सुनी। उसके बाद विश्ववन्द्य भगवान् महावीर से निर्मल-बुद्धि कामदेव ने बारह व्रतो वाला गृहस्थधर्म अंगीकार किया। कामदेव ने भद्रा के सिवाय अन्य समस्त स्त्रीसेवन का त्याग किया। छह गोकुल के अलावा अन्य सभी गोकुलों का और निधान, व्यापार गृहव्य-वस्था के लिए क्रमशः छह-छह करोड़ स्वर्णमुद्राओं के उपरान्त धन का त्याग किया। खेती के लिये ५०० हलों की जमीन में पांच-सौ खेतों का परिमाण किया। इतने ही छकड़े, गाड़ियाँ परदेश से माल लाने के लिए रखे, उसके उपरान्त का त्याग किया और परदेश लाने-पहुंचाने वाली चार सवारी गाड़ियाँ मर्यादा में रखीं। बाकी गाड़ियों का त्याग किया। एक सुगन्धित काषायवस्त्र (तौलिया) अंग पोंछने के लिये रख कर, अन्य सब का त्याग किया। हरी मुलहठी का दांतुन रख कर अन्य किस्म के दांतुनों का तथा क्षीर-आमलक के सिवाय अन्य फलों का त्याग किया, तेलमर्दन करने के लिये सहस्रपाक अथवा शतपाक के अलावा तेलों के इस्तेमाल का त्याग किया। शरीर पर लगाने वाली खुशबूदार मिट्टी की उबटन के अलावा तमाम उबटनों का त्याग किया। तथा स्नान के लिये आठ घड़ों से अधिक पानी इस्तेमाल करने का त्याग किया; चंदन व अगर के घिसे हुए लेप के सिवाय अन्य लेप तथा पुष्प-माला और कमल के अतिरिक्त फूलों का त्याग किया। कानों के गहने तथा अपने नाम वाली अंगूठी के अलावा आभूषणों का त्याग किया; दशांग और अगरबत्ती की धूप के सिवाय और धूपों का त्याग किया। घेवर और खाजा रख कर अन्य सभी मिठाईयों का त्याग किया। पीपरामूल आदि से उबाल कर तैयार किए हुए काष्ठपेय (गुड़राब) के अलावा पेय, कलमी चावल के सिवाय अन्य चावल तथा उड़द, मूंग और मटर के अतिरिक्त दालों (सूपों) का त्याग किया: शरदृऋतु म निष्पन्न गाय के घी के सिवाय अन्य स्निग्ध वस्तुओं का, स्वस्तिक, मंडूक और पालक की भाजी के सिवाय अन्य भाजी का त्याग किया। वर्षाजल के अतिरिक्त जल का एवं सुगन्धित ताम्बूल के सिवाय ताम्बूल का त्याग किया।

इस प्रकार नियम ले कर भगवान को वन्दन कर कामदेव अपने घर आया। उसकी धर्मपत्नी भद्रा ने भी जब अपने पति के व्रत-ग्रहण की बात सुनी तो उसने भी तीर्थंकर महावीर के पास जा कर श्रावक के बारह व्रत अंगीकार किये। इसके बाद कुटुम्ब का भार बड़े पुत्र को सौंप कर स्वयं कामदेव पौषधशाला में अप्रमत्तभाव से व्रतों का पालन करने लगा। एक दिन कामदेव काउस्सग्ग (ध्यान) में लीन था। तभी रात के समय उसे विचलित करने के लिये कोई मिथ्यादृष्टि देव विकराल पिशाच का रूप धारण करके वहाँ आया। उसके सिर के बाल पीले और क्यारी में पके हुए धान के समान प्रतीत होते थे। उसका कपाल खप्पर के समान, भौंह नेवले की पूंछ-सी और कान सूप-सरीखे आकार के थे। इसके नाक के दोनों नथूने ऐसे लगते थे मानो जुड़ा हुआ चूल्हा हो। दोनों ओठ ऊंट के-से मालूम होते थे, और दाँत एकदम हल जैसे थे। उसकी जीभ सांप की-सी और मूंछ घोड़े की पूंछ सरीखी थी। उसकी दो आँखें तपी हुई पीली पतीली की नांई चमक रही थीं। उसके होठ का निचला भाग शेर का-सा था। उसकी ठुड्डी हल के मुंह के समान थी। गर्दन ऊंट के समान लम्बी और छाती नगर के दरवाजे सरीखी चौड़ी थी। पाताल सरीखा उसका गहरा पेट था और कुंए के समान नाभि थी। उसका पुरुषचिह्न अजगर के समान था। उसके दोनों अण्डकोष चमड़ की कुप्पी के समान थे। ताड़वृक्ष की तरह लम्बी लम्बी उसकी दो जांघें थीं, पर्वत की शिला के समान उसके दो पैर थे। अचानक बिजली के कड़ाके की-सी भयंकर कर्कश उसकी आवाज थी। वह कानों में आभूषण के बदले नेवला डाले हुए था; उसके सिर पर चूहे की मालाएँ डाली हुई थीं और गले में कछुए की मालाएं पड़ी थीं। बाजूबंद के स्थान पर वह

सर्प धारण किये हुए था। उसने सहसा क्रुद्ध हो कर म्यान से तलवार निकाली और चाबुक सरीखी भयंकर तर्जनी उंगली उठा कर धमकाता हुआ कामदेव से इस प्रकार कहने लगा—'अरे धूर्त ! अनचाही वस्तु के अभिलाषी ! यह तूने क्या ढोंग कर रखा है ? बेचारा तेरे जैसा दंभी आदमी स्वर्ग या मोक्ष चाहता है ? छोड़ दे, इस कार्य को। वरना, पेड़ से जैसे फल गिरते हैं ; वैसे ही इस तीखी तलवार से तेरे मस्तक को काट कर जमीन पर गिरा दूंगा। इस प्रकार से पिशाच की भयंकर अट्टहासपूर्ण धमकी भरी गर्जना सुन कर भी कामदेव अपनी समाधि से जरा भी चलायमान नहीं हुआ। क्या अष्टापद कभी भैंसे की आवाज के क्षुब्ध हुआ है ? जब कामदेव श्रावक अपने शुभध्यान से लेशमात्र भी चलायमान न हुआ, तो अधमदेव ने दो-तीन बार उन्हीं बातों को दोहराया। बार बार धमकियां दीं, इस पर भी जब वह विचलित न हुआ तो उसने दूसरा दांव फैंका, मतवाले हाथी का रूप बना कर। सच है, 'दुष्टजन अपनी शक्ति को तोले बिना ही अधर्म कार्य करने से बाज नहीं आते।' उसने ऐसा विशाल और विकराल हाथी का शरीर धारण किया जो काले-कजरारे सजल मेघ के समान अत्यन्त ऊंचा था; मानो चारों ओर से सिमट कर एक ही जगह मिथ्यात्व का ढेर लग गया हो। उसके भयंकर लम्बे-लम्बे दो दंतशूल यमराज के भुजदंड के समान लगते थे। कालपाश की-सी अपनी सूंड ऊंची करके उसने कामदेव से कहा—'अरे मायावी ! छोड़ दे, इस मायाजाल को और आ जा मेरी शरण में ! मेरी आज्ञा में सुख-पूर्वक रह। किसी पाखंडी गुरु ने तुझे बहका कर इस मोहदशा में डाला है। अगर तू अब भी इस धर्म के ढोंग को नहीं छोड़ेगा, तो देख ले, इसी सूंडरूपी डंडे से उठा कर आकाश में तुझे बहुत ऊंचा उछाल फैंकूंगा और जब तू वापिस आकाश से नीचे गिरने लगेगा, तब मैं तुझे इस दंतशूल पर ऐसे झेलूंगा,जिससे तेरा शरीर दंतशूल से आरपार बिंध जायगा। फिर लकड़ी की तरह तुझे चीर डालूंगा ; कुम्हार जैसे मिट्टी को रौंदता है, वैसे ही अपने पैरों से तेरे शरीर को रौंद डालूंगा ; जिससे तेरी करुणमृत्यु हो जायगी। इतने पर भी न मरा तो तिल के समान कोल्हू में पीर कर क्षणभर में तेरे शरीर का एकपिंड बना दूंगा।' उन्मत्त बने हुए देव ने इस तरह भयंकर से भयंकर वचन कहे, मगर ध्यान में मग्न कामदेव श्रावक ने कोई भी प्रत्युत्तर न दिया।

दृढ़चित्त कामदेव को ध्यान में अडोल देख कर दुष्टाशय देव ने इसी प्रकार दो-तीन बार फिर वे ही बातें दोहराई, फिर भी जब वह चलित नहीं हुआ, तब सूण्डदण्ड से उठा कर आकाश में ऊंचा उछाला, फिर वापिस गिरते हुए को घास के पूले की तरह झेल लिया और दंतशूल से बींध डाला। तत्पश्चात् उसे पैरों से कुचला। 'धर्मकार्यों के विरोधी दुरात्मा कौन-सा अकार्य नहीं कर बैठते ?' लेकिन महासत्व कामदेव ने यह सब धैर्यपूर्वक सहन किया। वह पर्वत के समान अडोल रहा। उसने जरा भी स्थिरता नहीं छोड़ी। ऐसे उपसर्ग (विपत्ति) आ पड़ने पर भी वह ध्यान से विचलित नहीं हुआ, तब अहंकारी अधमदेव ने सांप का रूप बनाया। और पूर्ववत् फिर उसने कामदेव को डराने की चेष्टाएं कीं। परन्तु वह धीर पुरुष अपने ध्यान में एकाग्र था। वह जरा भी डरा नहीं, डिगा नहीं। अपने वचन निष्प्रभाव और निष्फल होते देख कर तथा कामदेव को और ज्यादा निर्भीक व मजबूत देख कर वह सर्पाकार अधम देव तबले पर जैसे चमड़ा मढ़ा जाता है ; वैसे ही सर्प के रूप में उसके सारे शरीर पर लिपट गया और कामदेव को निर्दयतापूर्वक तीक्ष्ण दांतों से अत्यन्त जोर से डसा। फिर भी अपने ध्यानामृत में मस्त बने कामदेव ने इस वेदना की कुछ भी परवाह नहीं की। तदनन्तर सब ओर से हार-थक कर उस देव ने अपना असली दिव्यरूप बनाया। फिर चारों दिशाओं को प्रकाशित करते

हुए उसने पौषधशाला में प्रवेश किया और नम्रतापूर्वक हाथ जोड़ कर कामदेव से कहने लगा- "धन्य हो कामदेव, आपको ! वास्तव में इन्द्र ने देवसभा में जब आपकी प्रशंसा की, तब मैं उसे सहन न कर सका। इसलिये मैं यहां आपको चलायमान करने के लिये आया था। क्योंकि कभी-कभी स्वामी भी अपने स्वामित्व के अभिमान में आ कर वास्तविकता से विपरीत तथ्य को गलतरूप में भी प्रस्तुत कर देते है। इस कारण मैंने विविधरूप बना कर तरह-तरह से आपकी कठोर परीक्षा ली थी। परन्तु मुझे कहना होगा कि इन्द्रमहाराज ने जैसी आपकी प्रशंसा की थी ; वैसे ही आप धीर, वीर, निःशंक एवं धर्म में दृढ़ है। परीक्षा करते समय मैंने आपको बहुत परेशान किया ; उसके लिए मैं अपने उन अपराधों की क्षमा चाहता हूं।" इस प्रकार कामदेव से बारबार अनुनय-विनय करके देव अपने स्थान को वापिस चला गया। अखण्डव्रती कामदेव ने भी अपना कायोत्सर्ग पूर्ण किया।

गुणों के प्रति सहजभाव से वात्सल्य से ओत-प्रोत श्रीवीरप्रभु ने अपने समवसरण (धर्मसभा) में उपसर्गों को समभाव से सह कर व्रत में दृढ़ रहने वाले कामदेव श्रावक की प्रशंसा की। दूसरे दिन श्रावक कामदेव त्रिभुवन-स्वामी श्रीवीरप्रभु के चरणकमलों में वंदन करने आया, तब भगवान् ने गौतम आदि मुनियों से इस प्रकार कहा—"आयुष्मान श्रमणो ! गृहस्थधर्म में भी कामदेव ने ऐसे ऐसे भयंकर उपसर्गों का समभाव एवं निर्भयता से सामना किया तो फिर साधुधर्मतत्पर सर्व-संग-परित्यागी तुम सरीखे त्यागियों को तो ऐसे उपसर्ग विशेषरूप से सहन करने चाहिए।" अपने जीवन की ढलती उम्र में कामदेव श्रावक ने कर्मों को निर्मूल करने के उपायभूत श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं की क्रमशः आराधना की। अन्तिम समय में संलेखना करके अनशनव्रत अंगीकार किया और उत्तम समाधिपूर्वक मृत्यु प्राप्त कर वह अरुणाभ नामक विमान में चार पल्योपम की आयुष्य वाला देव बना। वहां से आयुष्य पूर्ण कर महाविदेहक्षेत्र में जन्म ले कर सिद्धपद प्राप्त करेगा। जिस तरह कामदेव श्रावक ने उपसर्ग के सकट-कालीन अवसर पर भी अपने व्रत-पालन में अडिग रह कर स्वाभाविक धैर्य धारण किया था, जिसकी प्रशंसा तीर्थंकर भगवान् ने भी की थी, उसी तरह उत्तम आत्माओं को भी व्रतपालन में धैर्यपूर्वक अडिग रहना चाहिए। यह था कामदेव का दृढ़धर्मिष्ठ जीवन !

निद्रात्याग के बाद धर्मात्मा श्रावक को इस प्रकार विचार करना चाहिए—

जिनो देवः, कृपा धर्मो, गुरवो यत्र साधवः ।
श्रावकत्वाय कस्तस्मै न श्लाघयेत् विमूढधीः ॥१३९॥

अर्थ—जिस श्रावकधर्म में रागादि शत्रुओं के आदर्श विजेता देव हैं ; पंचमहाव्रत में तत्पर धर्मोपदेशक संयमी साधु गुरु हैं ; दुःखियों के दुःखों को दूर करने की अभिलाषारूप दयामय धर्म है, फिर कौन ऐसा मूढ़बुद्धि होगा, जो इस श्रावकत्व (श्रावकधर्म) की सराहना नहीं करेगा ? अवश्य ही तारीफ करेगा।

विशेषार्थ - मगर रागादि-युक्त देव श्रावक के लिए पूजनीय नहीं होते ; हिंसामय यज्ञादिरूप धर्म, धर्म नहीं होता और आरम्भ-परिग्रह आदि में रचे-पचे साधु गुरु नहीं होते। अब निद्रात्याग के बाद श्रावक के मनोरथरूप भावनाएँ सात श्लोकों में प्रस्तुत करते हैं—

जिनधर्मविनिर्मुक्तो मा भूवं चक्रवर्त्यपि ।
स्यां चेटोऽपि दरिद्रोऽपि, जिनधर्माधिवासितः ॥१४०॥

अर्थ—ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूप जैनधर्म से रहित (वंचित) हो कर मैं चक्रवर्ती बनना भी नहीं चाहता ; क्योंकि धर्म के बिना वह पद नरक में ले जाता है। किन्तु जैनधर्म से सुसंस्कृत परिवार में दरिद्र या दास होना मुझे स्वीकार है, क्योंकि वहां धर्मप्राप्ति सुलभ है।

त्यक्तसंगो जीर्णवासा, मलक्लिन्नकलेवरः।
भजन् माधुकरीं वृत्तिं मुनिचर्यां कदा श्रये ?।१४१।।

अर्थ -मेरे लिए कब वह मंगलमय शुभ दिन आएगा, जब मैं सभी परपदार्थों के के प्रति आसक्ति का त्यागी, जीर्णशीर्ण वस्त्रधारी हो कर मलिन-शरीर की परवाह न करते हुए माधुकरी (भिक्षावृत्ति) का आश्रय ले कर मुनिचर्या का ग्रहण करूंगा ?

व्याख्या—माधुकरी वृत्ति का तात्पर्य यह है कि जैसे भौंरा दूसरों के द्वारा बोए हुए पौधों के फूलों से थोड़ा-थोड़ा रस ले कर पान करता है बल्कि फूलों को तनिक भी पीड़ा नहीं पहुंचाते हुए वह अपनी आत्मा को तृप्त कर लेता है ; वैसे ही भिक्षु भी गृहस्थों के द्वारा अपने लिए तैयार किये हुए आहार में से थोड़ा-थोड़ा आहार किसी को पीड़ा पहुँचाए बिना इस प्रकार की दानैषणा और भक्तैषणा-पूर्वक ग्रहण करके अपनी तृप्ति कर लेते है। इस जगत् में बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह से मुक्त हो, उसे श्रमण कहते है। जिस तरह भौंरा स्वाभाविक रूप से तैयार हुए पुष्पों से पराग लेता है उसी तरह साधु भी स्वतः स्वाभाविक रूप से निष्पन्न हुए आहार से शरीर और संयमयात्रा चलाने के लिए थोड़ा-सा आहार लेता है। भौंरे की उपमा दे कर बताया है कि मुनि द्वारा गृहीत भिक्षा से दूसरे जीवों को जरा भी आघात न पहुंचे ; इसी का नाम माधुकरीवृत्ति है। निष्कर्ष यह है कि श्रावक ऐसा मनोरथ करे कि कब मैं माधुकरीवृत्ति से जी कर मूलगुण और उत्तरगुणयुक्त मुनिचर्या का सेवन करूंगा ? तथा –

त्यजन् दुःशीलसंसर्गं गुरुपादरजः स्पृशन्।
कदाऽहं योगमभ्यस्यन् प्रभवेयं भवच्छिदे ! १४२।।

अर्थ व्यभिचारियों, भांडों, भवैयों, वेश्याओं आदि लौकिक दुःशीलाचारियों तथा पासत्थ, ओसन्न, कुशील, संसक्त, यथाच्छन्दक (स्वच्छन्दाचारी); इन लोकोत्तर दुःशीलाचारियों की संगति करना दुःशीलसंसर्ग कहलाता है। उनका त्याग करके गुरुमहाराज के चरणरज का स्पर्श करता हुआ ज्ञानदर्शनचारित्ररूप तीनों योगों का बार-बार अभ्यास करके भव= जन्म-मरण के चक्र को समाप्त करने में कब समर्थ बनूंगा ?

महानिशायां प्रकृते कायोत्सर्गे पुराद् बहिः।
स्तम्भवत् स्कन्धकर्षणं, वृषाः कुर्युः कदा मयि ?१४३।।

अर्थ कब मैं महाघोर रात्रि के समय नगर के बाहर प्रकृति के रम्यप्रदेश में कायोत्सर्गलीन बनूंगा और कब बैल मुझे खंभा समझ कर अपना कंधा घिसेंगे ?

भावार्थ—प्रतिमाधारण करने वाला श्रावक नगर के बाहर एकाग्रता से कायोत्सर्ग करे, तब बैल उसके शरीर को खंभे की भ्रांति से अपना कंधा या गर्दन घिसें ; यह बात साधु होने की अभिलाषा

की अपेक्षा से समझना चाहिए। जिनकल्पी साधु तो हमेशा कायोत्सर्ग (ध्यान) मे लीन रहते है। प्रतिमाधारी श्रावक सोचे कि कब मुझ ऐसी तल्लीनता प्राप्त होगी ? इसी प्रकार—

वने पद्मासनासीनं क्रोडस्थित-मृगार्भकम् ।
कदाऽऽघ्रास्यंति वक्त्रे मां जरन्तो मृगयूथपा ॥१४४॥

अर्थ—**बन में मैं पद्मासन लगा कर बैठा होऊं ; उस समय हिरन के बच्चे विश्वासपूर्वक मेरी गोद में आ कर बैठ जाएं और क्रीड़ा करें। इस प्रकार मेरे शरीर की परवाह किये बिना मृगों की टोली के बूढ़े मुखिया कब विश्वास-पूर्वक मेरे मुंह को सूघगे ?**

भावार्थ—यहां '**वृद्धमृग**' कहने का अभिप्राय यह है कि वे मनुष्य पर सहसा विश्वास नही करते। परन्तु परमसमाधि को निश्चलता देख कर वे वृद्धमृग भी ऐसे विश्वासी बन जाये कि निर्भयता से मुख चाटे अथवा सूंघे। तथा—

शत्रौ मित्रे तृणे स्त्रैणे, स्वर्णेऽश्मनि मणौ मृदि ।
मोक्षे भवे भविष्यामि निर्विशेषमतिः कदा ?॥१४५॥

अर्थ—**कब मैं शत्रु और मित्र पर तृण और स्त्री-समूह पर ; स्वर्ण और पाषाण पर, मणि और मिट्टी पर तथा मोक्ष और ससार पर समबुद्धि रख सकूंगा ?**

व्याख्या—शत्रुमित्रादि से ले कर मणि-मिट्टी तक पर समान-बुद्धि रखने वाले मिल सकते हैं किन्तु परम-वैराग्यसम्पन्न आत्मा तो वह है, जिसे कर्म-वियोगरूपमोक्ष और कर्मसम्बन्धरूप ससार मे भी कोई अन्तर नहीं दिखता। कहा भी है—'**मोक्षे भवे च सर्वत्र निःस्पृहो मुनिसत्तमः**' अर्थात्—वही मुनि उत्तम है, जो मोक्ष अथवा भव (ससार) के प्रति सर्वत्र निःस्पृह (निष्कांक्ष) रहता है। इस प्रकार श्रावक के मनोरथ क्रमशः उत्तरोत्तर बढ़कर होते जाते हैं। इस प्रकार प्रथम श्लोक मे जिनधर्म के प्रति अनुराग का मनोरथ, दूसरे श्लोक में साधु-धर्म स्वीकार करने का मनोरथ, तीसरे श्लोक मे साधुधर्म की चर्या के साथ उत्कृष्ट चारित्र की प्राप्ति का मनोरथ, चौथे श्लोक में कायोत्सर्ग आदि निष्कम्पभाव की प्राप्ति का मनोरथ, पांचवें श्लोक में सर्वप्राणिविश्वसनीय बनने का मनोरथ और छठे मे परम-सामायिक तक पहुंचने का मनोरथ बताया है।

अब उपसंहार करते हुए कहते हैं—

अधिरोढुं गुणश्रेणिं निःश्रेणीं मुक्तिवेश्मनः ।
परानन्दलताकन्दान् कुर्यादिति मनोरथान् ।१४६॥

अर्थ—**मोक्षरूपी महल में प्रवेश के हेतु गुण(गुणस्थान)-श्रेणीरूपी निःश्रेणी पर चढ़ने के लिए उत्कृष्ट आनन्दरूपी लताकन्द के समान उपर्युक्त मनोरथ करे।**

भावार्थ—जैसे कन्दों से लता उत्पन्न होती है, वैसे ही इन मनोरथों से परमसामायिकरूप परमानन्द प्रगट होता है। इसलिए इन सातों श्लोकों के अनुसार मनोरथों का चिन्तन करना चाहिए। अब उपसंहार करते हैं—

इत्थ ।रावकों चर्यामप्रमत्तः समाचरन् ।
यथाव त्कवृत्तस्थो गृहस्थोऽपि विशुद्धयति ।।१४७।।

अर्थ—इस प्रकार पूरे एक दिन और रात की श्रावकचर्या का अप्रमत्तभाव से पालन करता हुआ भी जो श्रावक, श्रावक की शास्त्रोक्त ग्यारह प्रतिमारूप सद्व्रत की सविधि आराधना करता है, वह गृहस्थ (साधु न) होने पर भी पापों का क्षय करके विशुद्ध हो जाता है।

वह प्रतिमा कौन-सी है ; जिसकी साधना करने पर गृहस्थ श्रावक भी विशुद्ध हो जाता है? इसे कहते हैं—

श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएँ

प्रतिमा का अर्थ है—विशिष्ट साधना की प्रतिज्ञा, जिसमें श्रावक सकल्पपूर्वक अपने स्वीकृत यम-नियमों का दृढ़ता से पालन करता है। ये प्रतिमाएँ श्रावक के लिए ग्यारह है। (१) **दर्शन-प्रतिमा**—शंकादि दोषरहित, प्रशमादि लक्षणों से युक्त, स्थैर्यादि भूषणों से भूषित, मोक्षमार्ग के महल की नींव के समान सम्यग्दर्शन का ; भय, लोभ, लज्जादि, विघ्नों से रहित निरतिचार विशुद्धरूप से लगातार एक मास तक पालन करना। (२) **व्रत-प्रतिमा**—पूर्वप्रतिमा के पालन के सहित बारह व्रतों का दो मास तक लगातार निरतिचार एवं अविराधितरूप से पालन करना। (३) **सामायिक-प्रतिमा**—पूर्वप्रतिमाओं की साधना के सहित दोनों समय अप्रमत्तरूप से ३२ दोषों से रहित शुद्ध सामायिक लगातार तीन महीने तक करना। (४) **पौषध-प्रतिमा**—पूर्वप्रतिमाओं के अनुष्ठानसहित निरतिचाररूप से ४ महीने तक प्रत्येक चतुष्पर्वी पर पौषध का पालन करना। (५) **कायोत्सर्ग-प्रतिमा**—पूर्वोक्त चार प्रतिमाओं का पालन करते हुए पांच महीने तक प्रत्येक चतुष्पर्वी में घर के अंदर, घर के द्वार पर अथवा चौक में परिषह-उपसर्ग में सारी रातभर चलायमान हुए बिना काया के व्युत्सर्गरूप में कायोत्सर्ग करना। इस प्रकार उत्तर-उत्तर की प्रतिमा में पूर्व-पूर्व प्रतिमाओं का अनुष्ठान निरतिचार पालन करना और प्रतिमा के अनुसार कालमर्यादा उतने ही महीने समझना। (६) **ब्रह्मचर्य-प्रतिमा**—पूर्वप्रतिमाओं के अनुष्ठानसहित छह महीने तक त्रिकरण-योग से निरतिचार ब्रह्मचर्य का पालन करना। (७) **सचित्तवर्जन-प्रतिमा**—सात महीने तक सचित्तपदार्थसेवन का त्याग करना। (८) **आरम्भवर्जनप्रतिमा**—आठ महीने तक स्वयं आरम्भ करने का त्याग करना। (९) **प्रेष्य-वर्जनप्रतिमा**—नौ महीने तक दूसरे से भी आरम्भ कराने का त्याग करना। (१०) **उद्दिष्टवर्जनप्रतिमा**—दस महीने तक अपने लिए तैयार किया हुआ आहार भी खाने का त्याग करना। (११) **श्रमणभूत प्रतिमा** ग्यारह महीने तक स्वजन आदि का संग छोड़ कर रजोहरण, पात्र आदि साधुवेश ले कर साधु की तरह चर्या करे। बालों का लोच करे या क्षुरमुंडन करे। अपने गोकुल, उपाश्रय आदि स्वतंत्र स्थान में रह कर भिक्षाचरी करते हुए साधना करे। भिक्षा के लिए घरों में जाकर "**प्रतिमाप्रतिपन्नाय श्रमणोपासकाय भिक्षां दत्त** अर्थात् 'प्रतिमाधारी श्रमणोपासक को भिक्षा दो ; इस प्रकार बोल कर आहार ग्रहण करे। आहारदाता को '**धर्मलाभ**'—शब्द का उच्चारण किये बिना सुसाधु के सदृश सुन्दर आचारों का पालन करे। इन्हीं ११ प्रतिमाओं का लक्षण संक्षेप में इस प्रकार बताया गया है—**दर्शनप्रतिमा** - वह है जिसमें सम्यक्त्वधारी आत्मा का चित्त मिथ्यात्व का क्षयोपशम होने से शास्त्र-विशुद्ध व दुराग्रहरूपी कलंक से रहित होता है। निरतिचार अणुव्रत आदि बारह व्रतों का पालन करना, दूसरी **व्रत-प्रतिमा** है। सामायिक का शुद्धरूप से पालन करना, तीसरी **सामायिक-प्रतिमा** है। अष्टमी,

चतुर्दशी, पूर्णिमा और अमावस्या ये चारों तिथियां मिल कर **चतुष्पर्वी** कहलाती है। इन पर्वों के दिन सम्यगरूप से पौषध करना, चौथी पौषध-प्रतिमा है। पूर्वकथित समस्त अनुष्ठानों से युक्त हो कर चारों पर्वदिनों में रात्रि को घर के अन्दर या घर के बाहर द्वार पर अथवा चौक में परिषह-उपसर्ग आने पर भी निश्चेष्ट कायोत्सर्ग धारण करके रहना, पांचवीं **कायोत्सर्ग-प्रतिमा है। ब्रह्मचर्य-प्रतिमा** में ब्रह्मचर्य का दृढतापूर्वक पालन करना होता है। सातवीं **सचित्तवर्जन-प्रतिमा** में अचित्त आहार का ही उपयोग करना होता है। आठवीं **आरम्भवर्जनप्रतिमा** में सावद्यारम्भ का त्याग करना। नौवीं **प्रेष्यवर्जनप्रतिमा** में दूसरों से भी आरम्भ नहीं कराना; दसवीं **उद्दिष्टवर्जन प्रतिमा** में अपने लिए बनाए हुए आहार का भी त्याग करना, ग्यारहवीं **श्रमणभूत-प्रतिमा** में निःसंग बन कर साधुवेश एवं काष्ठपात्र, रजोहरण वगैरह ले कर साधुवत् चर्या करना। सिर के बालों का लोच या मुंडन करना तथा अन्य क्रियाएं भी सुसाधु के समान करना। तथा पूर्वोक्त श्रमणगुणों के प्रति आदर-शील बने। अब पांच श्लोकों द्वारा श्रावक के लिए संलेखना की विशेषविधि कहते हैं

सोऽथावश्यकयोगानां भंगे मृत्योरथागमे।
कृत्वा संलेखनामादौ, प्रतिपद्य च संयमम् ॥१४८॥

अर्थ—**श्रावक जब यह देखे कि आवश्यक संयम-प्रवृत्तियों (धार्मिक क्रियाओं) के करने में शरीर अब अशक्त व असमर्थ हो गया है अथवा मृत्यु का समय सन्निकट आ गया है; तो सर्वप्रथम संयम का अंगीकार करके संलेखना करे।**

व्याख्या संलेखना का अर्थ है- शरीर और कषायों को पतले करने के लिए आहार और क्रोधादि का त्याग करना। इसमें पहले शरीर—संलेखना करना होता है यानी क्रमशः भोजन का त्याग करके शरीर को कृश करना, जिससे अनायास ही सब धातुओं का क्षय हो जाय। नहीं तो, अन्तिम समय में शरीरधारी जीव को आर्त्तध्यान होगा। और दूसरी कषाय-संलेखना है, इसमें शरीर कृश होने के साथ साथ क्रोध, मान माया, लोभ, मोह, मत्सर, द्वेष, काम आदि कषाय भी कृश होने चाहिए। नहीं तो, उस संलेखनाधारी साधु की तरह होगा, जिसे उसके गुरु ने कहा था—'मैं इसकी प्रशंसा नहीं करता कि तेरी यह अंगुली किस तरह टूट गई? उस पर विचार कर। इसलिए भाव-संलेखना कर। अनशन (संथारा) करने की उतावल न कर।' इत्यादि विस्तार से बताया गया है। संलेखनाधारक श्रावक यथोचितरूप से संयम भी अंगीकार करे। उसकी समाचारी इस प्रकार समझनी चाहिए—श्रावक समस्त-श्रावकधर्म—उद्यापन को हो जानना हो तो अन्त में संयम स्वीकार करे। ऐसे श्रावक को अन्त में संयमधर्म में भी शेष रही धर्मस्वरूप-संलेखना अंगीकार करनी चाहिए। इसी दृष्टि से कहा है कि - **संलेहणा उ अंते न निओआ जेण पव्वइज्ज कोई।** जो अन्तिम समय में भी संयम अंगीकार करता है, वह संयम लेने के पश्चात् समय में संलेखना करके समाधिपूर्वक प्रसन्नता से मृत्यु का स्वीकार करे और संलेखना के बाद जो संयम अंगीकार नहीं करता, वह आनन्द श्रावक की भांति समाधिमरण प्राप्त करे।

आनन्द श्रावक की कथा का प्रसंग आगे आएगा।

जन्म-दीक्षा-ज्ञान-मोक्ष-स्थानेषु श्रीमदर्हताम्।
तदभावे गृहेऽरण्ये, स्थण्डिले जन्तुवर्जिते ॥१४९॥

अर्थ संलेखना करने के लिए अरिहन्त-भगवन्तों के जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान अथवा निर्वाण-कल्याणक के पवित्र तीर्थस्थलों पर पहुंच जाए। यदि कल्याणभूमि निकट में न हो तो, किसी एकान्तगृह (मकान), घर, वन या जीवजन्तु से रहित एकान्त, शान्त, भूमि में संलेखना करे।

व्याख्या जहां श्री अर्हन्त तीर्थंकर-प्रभुओं के जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान और निर्वाण हुए हैं, वे कल्याणकभूमियाँ कहलाती है। ऐसी किसी एक कल्याणकभूमि में संलेखनाधारक पहुंच जाए। तीर्थंकरों के जन्मादिस्थल कहां-कहां हैं। इसे बताते हैं— ऋषभदेवादि २४ तीर्थंकरों की **जन्म-कल्याणक भूमियां** क्रमशः इस प्रकार समझना - (१) इक्ष्वाकुभूमि,(२) अयोध्या, (३) श्रावस्ती (४) विनीता, (५) कौशलपुर, (६) कौशाम्बी,(७) वाराणसी,(८) चन्द्रानना,(चन्द्रपुरी) (९) काकंदी, (१०) भद्दिलपुर,(११) सिंहपुर (१२) चम्पापुरी, (१३) कम्पिला, (१४) अयोध्या, (१५) रत्नपुर, (१६-१७-१८) गजपुर-हस्तिनापुर, (१९) मिथिला, (२०) राजगृह, (२१) मिथिला, (२२) शौरिपुर, (२३) वाराणसी, (२४) कुण्डपुर (वैशाली-क्षत्रियकुण्ड)। उनकी **दीक्षा-कल्याणक-समितियाँ** इस प्रकार हैं—श्री भगवान ऋषभदेव की दीक्षा विनीता नगरी में, भगवान अरिष्टनेमि की द्वारावती-द्वारिका में और शेष बाईस तीर्थंकरों ने अपनी-अपनी जन्म-भूमि में ही दीक्षा ग्रहण की थी। श्री ऋषभदेव भगवान् ने सिद्धार्थवन में, वासुपूज्य भगवान ने विहार-गृह में, धर्मनाथ भगवान् ने वप्रगा में, मुनिसुव्रतस्वामी ने नील गुफा में, पार्श्वनाथ भगवान् ने आश्रमपद में, महावीर प्रभु ने ज्ञातृखण्ड में और शेष तीर्थंकरों ने सहस्राम्रवन उद्यान में दीक्षा-ग्रहण की थी। **केवल-ज्ञानकल्याणकभूमियाँ**—श्री ऋषभदेव भगवान् को पुरिमताल में, श्री महावीर भगवान् को ऋजुबालुका नदी के तट पर और शेष तीर्थंकरों को, उन्होंने जिस उद्यान में दीक्षा ली थी, उसी स्थान के पास केवल-ज्ञान हुआ था। **निर्वाणकल्याणकभूमियां**—श्री ऋषभदेव भगवान् अष्टापद पर्वत पर, भगवान् महावीर पावापुरी में शेष बीस तीर्थंकर सम्मेदशिखर पर निर्वाण प्राप्त हुए। इन कल्याणक-भूमियों में से किसी एक स्थल पर मरणरूप अन्तिमक्रिया स्वीकार करे। यदि जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान और निर्वाण का कल्याणक-स्थान नहीं मिले या निकटवर्ती न हो या मृत्यु के समय पहुंचने की स्थिति न हो तो, घर में, साधुओं के स्थान में—उपाश्रय में, जंगल में अथवा शत्रुंजय आदि सिद्धक्षेत्र में जा कर भूमि का प्रति-लेखन-प्रमार्जन करके यानी जीवजन्तु से रहित भूमि देख कर, तथा कल्याणक-भूमि आदि में भी जीव जन्तुरहित जगह का प्रमार्जन-प्रतिलेखन करके शान्त एकान्त स्थान में संलेखना करे।

त्यक्त्वा चतुर्विधाहारं नमस्कार-परायणः।
आराधनां विधायोच्चैश्चतुःशरणमाश्रित ॥१५०॥

अर्थ सर्वप्रथम अशन-पान-खादिम-स्वादिमरूप चार प्रकार के आहार का त्याग करके परमेष्ठि-नमस्कार-महामंत्र का स्मरण करने में तत्पर हो जाय। तदनन्तर निरतिचार-रूप से ज्ञानादि की आराधना करे और अरिहन्त, सिद्ध, साधु और धर्मरूपी चार शरणों का आश्रय स्वीकार करे। अथवा अपनी आत्मा का उक्त चारों श्रद्धेय तत्वों को समर्पित करते हुए उच्चस्वर से बोले— "अरिहते सरणं पवज्जामि, सिद्धे सरणं पवज्जामि, साहू सरणं पव-ज्जामि, केवलिपन्नत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि" अर्थात् मैं अरिहन्त भगवान् का शरण स्वीकार करता हूं, सिद्ध परमात्मा का शरण स्वीकार करता हूं, साधु भगवन्तों का शरण स्वीकार

करता हूं, और वीतराग केवलज्ञानी तीर्थंकरों द्वारा कथित धर्म का शरण स्वीकार करता हूं।

इहलोके, परलोके, जीविते, मरणे तथा।
त्यक्त्वाऽऽशंसां निदानं च समाधिसुधयोक्षितः ॥१५१॥

अर्थ—(१) **इहलौकिक आकांक्षा, (२) पारलौकिक आकांक्षा, (३) जीविताकांक्षा, (४) मरणाकांक्षा और (५) कामभोगाकांक्षा से प्रेरित हो कर निदान करना, सल्लेखना के इन ५ अतिचारों का त्याग करके समाधिसुधासिक्त हो जाय।**

व्याख्या—पांच प्रकार के अतिचार-सहित यावज्जीव अनशन का स्वीकार करना चाहिए। वे पाच अतिचार य हैं=(१) अनशन करने के बाद इस लोक में मोह एव रूप, धन, पूजा, कीर्ति, आदि की आकांक्षा रखना, ( ) सलेखना (अनशन) करके परलोक में देवलोक आदि की ऋद्धि-समृद्धि, देवांगना आदि को पाने की इच्छा रखना, (३) अधिक समय तक जीवित रहने की इच्छा करना। अपनी पूजा, प्रशंशा अधिक होते देख कर अथवा बहुत से दर्शनार्थी लोगों को अपने दर्शनार्थ आते-जाते देख कर सभी लोगों से प्रशसा सुन कर अनशन-परायण साधक यों सोचे कि ज्यादा दिन जीऊं तो अच्छा रहे! (४) चारों आहार का त्याग होने पर अमुक स्वर्गीय साधक की तरह का ठाठबाठ या आडम्बर भी होगा, यह सोच कर मृत्यु (प्राणत्याग) की आकाक्षा से संल्लेखना करना; अथवा किसी ने अनशन किया हो परन्तु शरीर मे बीमारी ज्यादा बढ़ जाय, कोई उत्कृट पीड़ा हो या अनादर (सत्कार-पूजा= प्रशसा आदि ने) होने के कारण जल्दी मरने की इच्छा करना मरणाशंसा है। तथा (५) निदान का अर्थ है—स्वयं ने दुष्कर तप या किसी व्रत-नियम का पालन किया हो, उसके बदले में उन तप आदि के फलस्वरूप 'जन्मान्तर में मैं चक्रवर्ती, वासुदेव, राजा, महाराजा सौभाग्यशाली अथवा रूपवान मनुष्य या देव बनूं' इस प्रकार के निदान (दुसंकल्प) का त्याग करना चाहिए। पुन वह किस प्रकार से? उसे कहते हैं समाधि=परमस्वस्थतारूपी सुधा से सिंचित रहे अर्थात् समाधिभाव में लीन रहे।

परीषहोपसर्गेभ्यो, निर्भीको जिनभक्तिभाक्।
प्रतिपद्येत मरणमानन्दः श्रावको यथा ॥१५२॥

अर्थ—**तथा परिषह और उपसर्ग भी आ जाएं, फिर भी भयभीत न हो तथा जिनेश्वर भगवान् की भक्ति में तन्मय तथा रहे स्वयं आनंद श्रावक के समान समाधिमरण को प्राप्त करे।**

व्याख्या कर्मों की निर्जरा के लिए परिषहों (अपने धर्म की सुरक्षा के लिए सहने योग्य कष्टों) को सहन करना चाहिए।

धर्मपालन करते समय आने वाले परिषहों (कष्टों) से जरा भी घबराना या विचलित नहीं होना चाहिए। परिषह बाइस हैं। वे इस प्रकार से हैं—(१) क्षुधापरिषह, (२) तृष्णा, (३) शीत, (४) उष्ण, (५) दंश-मशक, (६) अचेलकत्व, (७) अरति, (८) स्त्री, (९) चर्या, (१०) निषद्या, (११) शय्या, (१२) आक्रोश, (१३) वध, (१४) याचना, (१५) अलाभ, (१६) रोग, (१७) तृण-स्पर्श,

(१८) मल, (१९) सत्कार, (२०) प्रज्ञा, (२१) अज्ञान और (२२) अदर्शन-परिषह। इन २२ परिषहों पर विजय प्राप्त करना संलेखनाव्रती तथा महाव्रती साधक के लिए आवश्यक है।

बाइसपरिषह —(१) **क्षुधापरिषह** क्षुधा से पीड़ित, शक्तिशाली विवेकी साधु गोचरी की एषणा का उल्लंघन किए बिना अदीनवृत्ति से (घबराये बिना) केवल अपनी संयमयात्रा के निर्वाह के लिए भिक्षार्थ जाए। संलेखनाधारी साधक भूख लगने पर समभाव से सहन करे। (२) **तृषा-परिषह**—तत्वज्ञ-मुनि प्यासा होने पर मार्ग में पड़ने वाले नदी, तालाब, कुंए आदि का सचित्त पानी देख कर उसे पीने की इच्छा न करे, परन्तु दीनता छोड़ कर अचित्त जल की गवेषणा करे। संलेखनाधारी भी प्यास लगने पर उसे समभाव से सहे। (३) **शीत-परिषह** ठंड से पीड़ित होने पर पास में वस्त्र या कम्बल न हो तो भी अकल्पनीय वस्त्रादि ग्रहण नहीं करे, न ठंड मिटाने के लिए आग जलाए या आग तापे। (४) **उष्ण-परिषह**— धरती तपी हो, फिर भी गर्मी की निन्दा न करे और न ही पंखे या स्नान आदि की अभिलाषा करे। (५) **दंश-मशकपरिषह** — डांस-मच्छर, खटमल आदि जीवों द्वारा डसने या काटने का उपद्रव होने पर भी उन्हें त्रास न देना, उन पर द्वेष न करना, किन्तु माध्यस्थ्यभाव रखना, क्योंकि प्रत्येक जीव आहारप्रिय होता है। (६) **अचेलक-परिषह**—वस्त्र न हो, अशुभ वस्त्र हो तब 'यह वस्त्र अच्छा है, यह खराब है'; ऐसा विचार न करे। केवल लाभालाभ की विचित्रता का विचार करे। परन्तु वस्त्र के अभाव में दुःख न माने। (७) **अरति-परिषह**—धर्मरूपी उद्यान में आनन्द करते हुए साधु या साधक विहार करते-बैठने-उठने अथवा संयम-अनुष्ठान करते या धर्मपालन करते हुए कभी अरति, अरुचि या उदासीनता न लाए, बल्कि मन को सदा स्वस्थ और मस्ती में रखे। (८) **स्त्री-परिषह**—दुर्ध्यान कराने वाली, संगरूप, कर्मपंक में मलिन करने वाली, मोक्षद्वार की अर्गला के समान स्त्री को स्मरण करने मात्र से धर्म का नाश होता है। इसलिए इसे याद ही न करना चाहिए। (९) **चर्या-परिषह**—गांव, नगर, कस्बे आदि में अनियतरूप में रहने वाला साधु किसी भी स्थान में ममत्व रखे बिना विविध अभिग्रह धारण करते हुए अकेला भी हो, फिर भी नियमानुसार विहार आदि की चर्या करे; विचरण करे। (१०) **निषद्या-परिषह**—स्मशानादिक स्थान में रहना निषद्या-स्थान कहलाता है। उसमे स्त्री, पशु या नपुंसक के निवास से रहित स्थान में अनुकूल या प्रतिकूल उपसर्ग सहन करते हुए निर्भयता से रहना। (११) **शय्या-परिषह** —शुभ अथवा अशुभ शय्या मिलने पर अथवा सुख या दुःख प्राप्त होने पर मन में रागद्वेष नहीं करना चाहिए। इसे सुबह तो छोड़नी ही है;' ऐसा विचार कर हर्ष-शोक नहीं करना चाहिए। (१२) **आक्रोश-परिषह**—आक्रोश करने वाले पर क्रोध नहीं करना, अपितु क्षमा रखना, समभाव से सहना। क्योंकि क्षमा रखने या क्षमा देने वाला श्रमण कहलाता है। बल्कि आक्रोश करने वाले को उपकारी-बुद्धि से देखना चाहिए। (१३) **बध-परिषह**—मुनि को कोई मारे, पीटे, उस समय यह विचारे कि आत्मा का नाश तो कभी नहीं होता। क्रोध की दुष्टता से कर्मबन्ध और क्षमा के द्वारा गुण-उपार्जन होता है; अतः उसे मारने न जाए, अपितु वध-परिषह सहन करे। (१४) **याचना-परिषह**—भिक्षाजीवी साधु दूसरों के द्वारा दिये हुए पदार्थ से अपनी जीविका चलाते हैं। अतः याचना करने में साधु-साध्वी न तो शर्म रखे और न दुःख ही माने। याचना से घबरा कर गृहस्थजीवन स्वीकारने की इच्छा न करे। (१५) **अलाभ-परिषह**— अपने लिये या दूसरे के लिए दूसरों से आहारादि न मिलने पर दुःख और मिलने पर लाभ का अभिमान न करे। किसी ने आहारादि नहीं दिया तो उस व्यक्ति या गांव की निन्दा न करे।

(६) **रोग-परिषह**—रोग होने पर घबराए नहीं। उसकी चिकित्सा करने की अभिलाषा न रखे, बल्कि अदीन मन से शरीर और आत्मा की भिन्नता समझ कर उस रोग को सहन करे। (१७) **तृण-स्पर्श-परिषह**– तिनके, घास आदि का बिछौना बिछाया हो, कपड़ा बहुत बारीक हो; इस कारण उसकी नोकें चुभती हो, दर्द होता हो तो, सहन करे ; परन्तु कोमल गुदगुदी शय्या की इच्छा न करे। (१८) **मल-परिषह**— धूप या पसीने से सारे शरीर पर मैल जम गया हो, बदबू आ रही हो, उससे मुनि उद्विग्न न हो। पानी में डुबकी लगा कर या तैर कर स्नान करने की इच्छा न रखे और न मैल घिस कर दूर करने की इच्छा रखे। (१६) **सत्कार-परिषह**—किसी की ओर से विनय, पूजा, दान, सम्मान, प्रतिष्ठा या वाहवाही की अपेक्षा साधु को नहीं रखनी चाहिए। सत्कार न मिले तो उससे मन में दीनता, हीनता या क्षोभ न लाए। यदि सत्कार मिले तो हर्ष या अभिमान न करे। (२०) **प्रज्ञा-परिषह**—दूसरे को अधिक बुद्धिशाली देख कर और अपनी अल्पबुद्धि जान कर मन में खेद न करे और स्वयं में अधिक बुद्धि हो तो उसका अभिमान न करे ; न ही दूसरों को ज्ञान देने में खिन्न हो ; (२२) **अज्ञान-परिषह** ज्ञान और चारित्रयुक्त होने पर भी मैं छद्मस्थ हूँ, ऐसा अज्ञान सहन करे और मन में विचार करे कि ज्ञान क्रमानुसार क्षयोपशम से ही प्राप्त होता है। (२२) **अदर्शन-परिषह**—सम्यक्त्व प्राप्त न होने से वस्तु-तत्व को यथार्थरूप से न समझने या न मानने पर दुःख न करे। सम्यग्दर्शन प्राप्त होने पर उसका अभिमान न करे और माने कि जिनेश्वर भगवान्-कथित जीव, अजीव, धर्म, अधर्म, पुनर्जन्म आदि परोक्ष होने पर भी सत्य हैं।

इस तरह कर्मों की निर्जरा (अंशतः क्षय) के लिए निर्भय, इन्द्रिय-विजेता और मन, वचन काया पर नियंत्रण करने वाले मुनि शारीरिक, मानसिक या प्राकृतिक परिषहों को समभाव से सहन करे। ज्ञानावरणीय वेदनीय, मोहनीय और अन्तराय कर्मों के उदय से परीषह होते हैं। वेदनीय कर्म से क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशादि, चर्या, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श और मलपरिषह उत्पन्न होते हैं। ज्ञानावरणीयकर्म के उदय से प्रज्ञा और अज्ञान तथा अन्तरायकर्म के उदय से अलाभ होता है। यह चौदह परिषह छद्मस्थ को होते हैं और वेदनीय कर्म के उदय से क्षुधा तृषा, शीत, उष्ण दंश, चर्या, वध मल, शय्या, रोग तृणस्पर्श जिन-केवली को भी हो सकते हैं। उपसर्ग आने पर भी वे निर्भय रहते हैं। उप= अर्थात् समीप में, कष्टों का जिससे सर्जन हो, उसे उपसर्ग कहते है अथवा जिससे परेशान किया जाय उसे उपसर्ग कहते हैं। वह चार प्रकार का है। (१) देवकृत, (२) मनुष्यकृत (३) तिर्यंच-कृत और (४) स्वतःकृत। इन चारों के प्रत्येक के चार-चार भेद हैं –(१) हास्य से, (२) द्वेष से, (३) विचार-विमर्श परीक्षा करने के लिए और (४) इन सबके इकट्ठे होने से मिश्ररूप से। यह (चौथे प्रकार का) उपसर्ग देवता द्वारा होता है। मनुष्यसम्बन्धी उपसर्ग, हास्य, द्वेष, विमर्श और दुःशीलसग से होते है। तिर्यच-विषयक उपसर्ग भय, क्रोध, आहार अथवा परिवार के रक्षण के लिए होता है। वह इन कारणों से प्रेरित हो कर मारता है, गिराता है या रोकता है। शरीर में वेदना हो अथवा वात-पित्त कफ और सन्निपात होने से भी उपसर्ग होता है। इस तरह परीषहों और उपसर्गों को समभाव से सहन करने वाला आराधक एवं जिनेश्वर-भगवान् के प्रति भक्तिमान होता है। कहा है कि—ससार-समुद्र से पारंगत श्रीजिनेश्वर देवों ने भी अन्तिम संलेखना आराधना (समाधिमरण-साधना) का अनुष्ठान किया है ; ऐसा जान कर सभी को आदरभक्तिपूर्वक उसकी आराधना करनी चाहिए। कहा भी है—प्रथम तीर्थंकर श्रीऋषभदेव ने निर्वाण के रूप में शरीर की अन्तक्रिया छह उपवास के अनशनरूप

अन्तक्रिया स्वीकार की थी। इसी प्रकार आराधना करता हुआ आनन्दश्रावक की भांति समाधिमरण स्वीकार करे। आनन्दश्रावक की सम्प्रदायपरम्परागम्य कथा इस प्रकार है—

आनन्दश्रावक की अन्तिम धर्मक्रिया

उन दिनों वाणिज्यक अन्य नगरों से बढ़-चढ़ कर ऋद्धि-समृद्धियुक्त प्रसिद्ध नगर था। वहां प्रजा का विधिपूर्वक पालक, पितातुल्य जितशत्रु नामक विख्यात राजा था। उस नगर में अपने दर्शन से दूसरों की आंखों को आनन्द देने वाला, धरती पर मानो दूसरा चन्द्र आया हो, ऐसा आनन्द नाम का गृहपति रहता था। जैसे रोहिणी चन्द्र की पत्नी मानी जाती है, वैसे ही रूपलावण्य से मनोहर शिवानंदा नाम की उसकी धर्मपत्नी थी। उसके पास जमीन में निधानरूप में गाड़ी हुई, गृहसामग्री में लगी हुई और व्यापार में लगी हुई चार-चार करोड़ स्वर्णमुद्राएँ थीं। तथा गायों के चार बड़े गोकुल थे। उस नगर के वायव्य कोण में कोल्लाक नामक उपनगर में आनन्द के बहुत सगे-सम्बन्धी रहते थे। उस समय भूमंडल पर विचरण करते हुए सिद्धार्थनदन, श्रीवर्धमानस्वामी उस नगर के द्युतिपलाश नामक उद्यान में पधारे। जितशत्रु राजा ने प्रभु का आगमन सुना तो वह भी परिवार-सहित शीघ्र प्रभु-वंदनार्थ गया। आनन्द भी पैदल चल कर अनेक मनुष्यों को साथ ले कर प्रभु के चरण-कमलों में पहुंचा और उनकी अमृतवर्षिणी धर्म-देशना सुन कर अपने कान पवित्र किये। फिर प्रभु के चरणों में नमस्कार कर महामना आनन्द ने प्रभु से बारह व्रतरूप गृहस्थधर्म अंगीकार किया। अपनी शिवानंदा स्त्री को छोड़ कर अन्य सब स्त्रियों का त्याग किया। निधान, प्रविस्तर और व्यापार में लगी हुई चार-चार करोड़ स्वर्णमुद्राओं को छोड़ कर अन्य सम्पत्ति का त्याग किया। चार गोकुल के उपरांत गोकुल का तथा पांच सौ हल से जितनी खेती हो, उससे अधिक खेती का त्याग किया। दिग्यात्रा अर्थात् प्रत्येक दिशाओं में व्यापारार्थ जाने के लिये चार सवारी गाड़ियों के अलावा अन्य यानों का त्याग किया। अंग पोंछने के लिए सुगन्धित काषाय वस्त्र (तौलिया) के अलावा अन्य वस्त्रों का भी त्याग किया। हरी मुलहठी के दतौन के सिवाय अन्य दतौनों का तथा क्षीर आमलक के सिवाय अन्य फलों का त्याग किया। सहस्रपाक और शतपाक के अतिरिक्त तेलों की मालिश का त्याग किया, सुगन्धित विलेपन-योग्य पदार्थ से अतिरिक्त विलेपन का त्याग किया। स्नान करने के लिए आठ घड़े पानी से अधिक इस्तेमाल करने का त्याग किया। पहनने के लिए एक सूती वस्त्र के जोड़े से अधिक वस्त्र का त्याग किया ; चन्दन, अगुरु और केसर के लेप के सिवाय अन्य लेपों का त्याग किया। मालतीपुष्प की माला और कमल के सिवाय फूलों का त्याग किया। कर्ण-आभूषण तथा मुद्रिका के अलावा समस्त आभूषणों का त्याग किया। दशांग धूप व अगर के धूप के अलावा अन्य धूपों का भी त्याग किया। घेवर और पूए के अलावा अन्य मिठाइयों का त्याग, काष्ठ से तैयार की हुई पेय (राब) एवं कलमी चावल के अलावा ओदन का त्याग किया। उड़द, मूंग, मटर के अलावा, सूपों (दालों) का त्याग, शरदृऋतु में तैयार हुए, गाय के घी के अलावा अन्य घी का त्याग, स्वस्तिक, मण्डूकी, पालक से सिवाय और भाजी का त्याग, घी-तेल से छौंक कर तैयार की हुई खट्टी दाल (कढ़ी) के सिवाय दाल का तथा वर्षा के जल के सिवाय अन्य जल का और पांच सुगन्धित ताम्बूल के अतिरिक्त मुखवास का त्याग किया।

इसके बाद आनन्द भगवान् को वन्दना करके घर आया। उसने स्वीकृत गृहस्थ-धर्म की विधि शिवानन्दा को सहर्ष सुनाई। उसे सुन कर स्वकल्याणार्थ गृहस्थधर्म स्वीकार करने की अभिलाषिणी शिवानन्दा भी रथ में बैठ कर उसी समय भगवान् के चरणों में पहुंची और तीन जगत् के गुरु को वंदन

कर उसने भी भलीभांति समझ कर श्रावकधर्म अंगीकार किया। भगवान् की अमृतमयी वाणी श्रवण कर वह हर्षित हुई और विमानतुल्य तेजस्वी धर्मरथ में बैठ कर वह अपने घर लौटी। उस समय श्रीगौतम स्वामी ने सर्वज्ञ भगवान् से पूछा 'यह महात्मा आनन्द श्रावक साधुधर्म स्वीकार करेगा या नहीं? त्रिकालदर्शी सर्वज्ञ भगवान् ने कहा—'आनन्द दीर्घकाल तक श्रावक के व्रतों का पालन करेगा। उसके बाद आयुष्य पूर्ण कर सौधर्मकल्प नामक प्रथम देवलोक के अरुणप्रभ विमान में चार पल्योपम की स्थिति वाला श्रेष्ठ देव होगा।'

इधर आनन्द श्रावक को बारह व्रतो का सतत सावधानी के साथ पालन करते हुए चौदह वर्ष बीत गये। शुद्ध स्थिरप्रज्ञ आनंद ने एक बार रात के अन्तिम प्रहर में विचार किया कि मैं इस नगर में बहुत से लोगों का आधारभूत हूं; उनकी चिन्ता करते-करते ही कहीं मेरा पतन न हो जाए। यदि ऐसा हुआ तो मेरे द्वारा स्वीकृत सर्वज्ञ-कथित धर्म में अतिचारादि दोष लग जायेंगे। इत्यादि प्रकार से मन में शुभ भाव-पूर्वक चिन्तन करते हुए आनन्द श्रावक प्रातःकाल उठा। उसने अपने संकल्पानुसार कोल्लाक सन्निवेश में अतिविशाल पौषधशाला बनवाई। वहाँ उसने अपने मित्र, सम्बन्धी, बन्धु आदि को निमंत्रण दे कर उन्हें भोजन करवाया। फिर उनके सामने अपने परिवार का सारा भार अपने बड़े पुत्र को सौंपा और मित्रज्ञातिस्वजन आदि का सम्मान कर उनकी अनुमति ले कर धर्मकार्य की अभिलाषा से वह पौषध-शाला में गया। वहाँ कषायजनित कर्मों और शरीर को कृश करता हुआ महात्मा आनंद भगवान् के कथनानुसार आत्मा के समान धर्म का पालन करने लगा। स्वर्ग और मोक्ष में चढ़ने के लिए निःश्रेणी के समान श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं में वह उत्तरोत्तर चढ़ने लगा। तीव्र तपश्चर्या करते हुए उस महासत्व ने शरीर का रक्त और मांस सूखा दिया। चमड़ा लपेटी हुई लकड़ी के समान उसका शरीर दिखाई देने लगा। एक दिन रात को आनन्द-श्रावक धर्म-जागरण करता हुआ व सतत तपस्या में आनन्द मानता हुआ, इस प्रकार विचार करने लगा कि 'जब तक मुझ में खड़े होने की शक्ति है, जब तक मैं दूसरो को बुलाने में समर्थ हूं तथा मेरे धर्माचार्य यहाँ विचरते हैं, तब तक दोनों प्रकार की मारणान्तिक संलेखना स्वीकार करके चारों आहार का त्याग कर लूं।'' ऐसा विचार कर आनंद श्रावक ने उसे क्रियान्वित किया।' 'महात्मा लोगों के विचार और व्यवहार में कभी भिन्नता नहीं होती।' जीवन और मरण के विषय में निःस्पृह और समभाव के अध्यवसायी आनन्द को अवधिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से अवधिज्ञान प्राप्त हुआ।

इधर विहार करते हुए श्रीवीर परमात्मा फिर द्युतिपलाश उद्यान में पधारे और उनका धर्मोपदेश पूर्ण होने के बाद श्री गौतम गणधर ने नगर में भिक्षार्थ प्रवेश किया। भिक्षाटन करते हुए वे आनन्द श्रावक से विभूषित कोल्लाक सन्निवेश में आहार-पानी लेने पधारे। गौतमस्वामी के आगमन से लोगों को आश्चर्य हुआ। आम रास्ते पर खड़े लोग एकत्रित हो कर गौतम स्वामी से कहने लगे— 'श्रीवीर परमात्मा के पुण्यशाली श्रावक शिष्य आनन्द ने अनशनव्रत अंगीकार किया है, उसे किसी भी प्रकार के सांसारिक सुखों की अभिलाषा नहीं है।' उसे सुन कर गौतमस्वामी ने विचार किया कि— 'चलूं, उस श्रावक को दर्शन दे दूं।' इस विचार से वे उसकी पौषधशाला में पहुंचे। अकस्मात् अचिन्तित रत्नवृष्टि के समान उनके दर्शन होने में आनंद श्रावक अत्यन्त हर्षित हुआ और वन्दन करते हुए उसने कहा कि 'भगवन्! क्लिष्ट अनशन तप करने से मुझ में खड़े होने की शक्ति नहीं है। अतः आप निकट पधारें; जिससे आपके चरणकमल स्पर्श करूँ।' इस पर महामुनि गौतम आनन्दश्रावक के निकट आ

कर खड़े रहे, तब चरणों में मस्तक रख कर आनंद ने त्रिकरणशुद्ध वन्दन किया। फिर आश्वस्त हो कर उनसे पूछा—'भगवन् ! गृहस्थ को अवधिज्ञान प्राप्त होता है या नहीं ?' उसके उत्तर में गौतमस्वामी ने कहा—'हाँ, होता है।' तब आनंद ने कहा भगवन् ! गुरुदेव की कृपा से मुझ गृहस्थ को अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ है। पूर्व, दक्षिण और पश्चिम इन तीनों दिशाओं में सौ-सौ योजन तक, तथा समुद्र-जल तक एवं उत्तरदिशा में हिमवान् पर्वत तक मुझे दीखता है। इसी तरह प्रभो ! ऊपर सौधर्म देवलोक तक और नीचे रत्नप्रभापृथ्वी के लोलुयच्चुय तक मुझे दिखाई देता है।' यह सुन कर गौतमस्वामी ने कहा—"आनंद ! गृहस्थ को अवधिज्ञान जरूर होता है, परन्तु इतने विषयों का ज्ञान नहीं होता। अतः इसका प्रायश्चित्त करो !" आनंद ने कहा—'भगवन् ! मुझे इतना अवधिज्ञान है अतः क्या विद्यमान पदार्थ को सत्य को कहने में प्रायश्चित्त आता है ? यदि प्रायश्चित्त आता भी हो तो भगवन् ! इस विषय में आपको लेना चाहिए।" गौतमस्वामी से जब आनंद ने इस प्रकार कहा तो उन्हें भी कुछ-कुछ शंका हुई। और वे सीधे श्रीवीरप्रभु के पास पहुंचे। उन्हें आहार-पानी बताया और आनंद के अवधिज्ञान के विषय में जो आशंका थी, उसे निवेदन कर गौतमस्वामी ने प्रकटरूप में पूछा- "प्रभो ! इस विषय में आनंद प्रायश्चित्त का भागी है, या मैं ? आलोचना मुझे करनी चाहिए या आनन्द को ?" प्रभु ने कहा—"गौतम ! 'मिच्छामि दुक्कडं' तुम्हें देना चाहिए, और आनंद से जा कर क्षमा मांगनी चाहिए।" प्रभु की आज्ञा मान कर क्षमाभंडार गौतमस्वामी ने आनंदश्रावक से क्षमायाचना की। इस तरह आनंदश्रावक बीस वर्ष तक श्रावक-धर्म का पालन करके अनशनपूर्वक आयुष्य पूर्ण कर अरुणवर नामक विमान में देव हुआ। वहाँ से आयुष्य पूर्ण कर महाविदेह में जन्म ले कर परमपद मोक्ष प्राप्त करेगा। यह है आनन्द की सफल जीवन-यात्रा का वृत्तान्त।

उपर्युक्त कथानुसार श्रावक की भावीगति का दो श्लोकों द्वारा वर्णन करते हैं—

प्राप्तः सकल्पेष्विन्द्रत्वम् अन्यद् वा स्थानमुत्तमम्।
मोदतेऽनुत्तरप्राज्य-पुण्य-सम्भारभाक् ततः ॥१५३॥
च्युत्वोत्पद्य मनुष्येषु, भुक्त्वा भोगान् सुदुर्लभान्।
विरक्तो, मुक्तिमाप्नोति, शुद्धात्माऽन्तर्भवाष्टकम् ॥१५४॥

अर्थ—इस प्रकार शास्त्रानुसार श्रावकधर्मपालक गृहस्थ सौधर्म आदि देवलोक में इन्द्रपद या अन्य उत्तम स्थान प्राप्त कर लेता है। अपने उत्कृष्ट पुण्यपुंज के कारण वह सुखी रहता है। वहाँ से च्यव कर वह मनुष्ययोनियों में उत्पन्न हो कर विविध दुर्लभ सुखों का उपभोग करता है। फिर उनसे विरक्त हो कर कर्मक्षय करके शुद्धात्मा हो कर आठ भवों के अंदर-अंदर मुक्ति पा लेता है।

व्याख्या—श्रावकधर्म का यथार्थरूप से पालन करने वाला गृहस्थ सौधर्म आदि देवनिकाय में उत्पन्न होता है। सम्यग्दृष्टि अन्य तीन देवनिकायों में उत्पन्न नहीं होता। और देवलोक में भी वह इन्द्र-पद, सामानिक, त्रायस्त्रिंश पारिषद्य और लोकपाल आदि का स्थान प्राप्त करता है। 'उत्तम' कहने का मतलब यह है कि दास, किल्विषिक या अन्य हीन जाति का देव वह नहीं होता। जहाँ उत्पन्न होता है, वहाँ सर्वोत्कृष्ट और महापुण्य का उपभोग करता हुआ आनन्द में रहता है। उत्तम रत्नों से बना हुआ

विमान, बड़े-बड़े उद्यान, स्नान करने के लिए सुन्दर वापिकाएँ, विचित्र रत्न, आभूषण, वस्त्र, अंगसेविका देवांगनाएँ, कल्पवृक्षों की पुष्पमाला पर मडराते हुए भौंरो की तरह करोड़ों देवता सेवा के लिए परस्पर प्रतिस्पर्द्धा करते हुए जय-जयकार के नारों से आकाश गूंजा देते हैं। वहाँ मन में इच्छामात्र से समग्र विषय-सुख की प्राप्ति होती है। विविध प्रकार से सिद्धायतनों की यात्रा करने से अत्यन्त हर्ष होता है। इन सब अनन्य असाधारण सुखों का अनुभव पूर्वपुण्य-प्रकर्ष से होता है। वैमानिक देवलोक से आयु पूर्ण करके मनुष्यभव में वह विशिष्ट देश, जाति, ऐश्वर्य, रूप आदि प्राप्त करके औदारिक शरीर में जन्म लेता है और वहाँ शब्द-रूप-रस-गंध-स्पर्श-विषयक अनुपम भोगों का उपभोग करता है। इसी बीच वैराग्य का निमित्त पा कर सांसारिकसुख से उत्कृष्ट विरक्तिभाव प्राप्त करके वह सर्वविरति स्वीकार करता है, और उसी जन्म में क्षपकश्रेणि पर आरूढ़ हो कर क्रमशः केवलज्ञान प्राप्त करके समस्त कर्मों को निर्मूल कर शुद्धात्मा बन कर मुक्ति प्राप्त करता है। यदि उसी जन्म मे मुक्ति प्राप्त न कर सका तो वह जीव कितने भवों में मुक्ति प्राप्त करता है? इसे कहते हैं — वह जीव आठ भवों के अंदर-अंदर मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

पूर्वोक्त तीन प्रकाशों मे कहे हुए विषयों का उपसंहार करते हुए कहते हैं—

इति संक्षेपतः सम्यग् रत्नत्रयमुदीरितम्।
सर्वोऽपि यदनासाद्य, नासादयति निर्वृतिम् ॥१५५॥

अर्थ एवं व्याख्या—इस प्रकार तीन प्रकाशों द्वारा ज्ञान-दर्शन-चारित्रात्मक रत्नत्रयरूप योग का स्वरूप कहा है। वह किस प्रकार कहा है? सम्यक् यानी जिनागमों के साथ विरोध न आए इस तरह संक्षेप में कहा है। छद्मस्थ के लिए विस्तार से कहना दुःशक्य है; इसीलिए संक्षेप में वर्णन किया गया है। रत्नत्रय के बिना अन्य किसी कारण से निर्वाणप्राप्ति हो सकती है या नही? इस शका का समाधान करते हुए कहते हैं इन सभी (तीनों) में से एक भी न्यून हो तो मुक्ति नहीं हो सकती। कहा है कि काकतालीय न्याय से भी त्रिरत्नप्राप्ति किये बिना कोई मुक्ति नही पा सकता। जो जीवादि तत्वों को नहीं जानता; जीवादिपदार्थों पर श्रद्धा नही करता, नये कर्म बांधता है और पुराने कर्मों का धर्म-शुक्ल-ध्यान के बल से क्षय नहीं करता; वह संसार के बन्धन से छूट कर मुक्ति नहीं पा सकता। इसीलिए 'सर्वोऽपि' कह कर यह पुष्टि कर दी है कि ज्ञान, दर्शन और चारित्र की संयुक्त आराधना से ही कोई व्यक्ति मुक्ति प्राप्त कर सकता है; अन्यथा नही।

इस प्रकार परमार्हत श्री कुमारपाल राजा की जिज्ञासा
से आचार्यश्री हेमचन्द्रसूरीश्वररचित अध्यात्मोप-
निषद् नामक पट्टबद्ध अपरनाम योगशास्त्र
का स्वोपज्ञविवरणसहित तृतीय
प्रकाश सम्पूर्ण हुआ।

ॐ अर्हते नमः

४ : चतुर्थ प्रकाश

पहले के तीन प्रकाशों में धर्म और धर्मी के भेदनय की अपेक्षा से ज्ञानादि रत्नत्रय को आत्मा की मुक्ति का कारणरूप निरूपण किया है। अब अभेदनय की अपेक्षा से आत्मा के साथ ज्ञानादि रत्नत्रय के एकत्वभाव का निरूपण करते हैं

आत्मैव दर्शन-ज्ञान-चारित्राण्यथवा यतेः।
यत् तदात्मक एवैष, शरीरमधितिष्ठति ॥१॥

अर्थ—अथवा यति-(साधु) का आत्मा ही दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूप है; क्योंकि दर्शनादिरत्नत्रयात्मक आत्मा शरीर में रहता है।

व्याख्या—मूल श्लोक में 'अथवा' शब्द का प्रयोग अभेदनय की अपेक्षा से दूसरा विकल्प बताने के लिए किया है। आत्मा ही दर्शन-ज्ञान-चारित्र-स्वरूप है; दर्शनादि आत्मा से भिन्न नहीं है। यति (मुनि) का आत्मा के साथ सम्बन्ध जोड़ना, दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वरूप आत्मा ही यति के शरीर में स्थित है। दर्शनादि आत्मा से अलग नहीं है, आत्मस्वरूप है। इसीसे वह (रत्नत्रय) मुक्ति का कारणरूप बनता है। आत्मा से भिन्न हो, वह मुक्ति का कारण नहीं बन सकता। देवदत्त के ज्ञानादि से, यज्ञदत्त को मुक्ति नहीं मिल सकती। अभेद का समर्थन करते हैं—

आत्मानमात्मना वेत्ति, मोहत्यागाद् य आत्मनि।
तदेव तस्य चारित्रं, तज्ज्ञानं तच्च दर्शनम् ॥२॥

अर्थ आत्मा को आत्मा स्वयं जानता है; ऐसा ज्ञान मूढ़-व्यक्ति को नहीं होता, अतः कहा है कि मोह का त्याग करने से आत्मा अपनी आत्मा के द्वारा अपनी आत्मा में जानता है, वही उसका चारित्र है, वही ज्ञान है और वही श्रद्धारूपी दर्शन है।

अब आत्मज्ञान की स्तुति करते हैं -

आत्माऽज्ञानभवं दुःखमात्मज्ञानेन हन्यते।
तपसाऽप्यात्मविज्ञानहीनैश्छेत्तुं न शक्यते ॥३॥

अर्थ—आत्मा को अज्ञान के कारण दुःख होता है, और वह दुःख आत्मज्ञान से ही नष्ट किया जाता है। जो आत्मज्ञान से रहित हैं, वे मनुष्य तपस्या आदि से भी दुःख का छेदन नहीं कर सकते।

व्याख्या—इस संसार में आत्मज्ञान के बिना सभी प्रकार के दुःख प्राप्त होते हैं। जैसे प्रकाश से अन्धकार का नाश होता है, वैसे ही प्रतिपक्षभूत आत्मज्ञान के द्वारा दुःख का नाश होता है। इस विषय में कई लोग शंका उठाते हैं कि 'कर्मक्षय करने का मुख्य कारण तो तप है, ज्ञान नहीं है, इसलिए कहा भी है कि—'पहले गलत आचरण से कर्मबन्धन किया हो उसका प्रतिक्रमण नहीं किया हो, ऐसे कर्मों को भोगे बिना छुटकारा नहीं होता, अथवा तपस्या करके कर्मों का क्षय कर मुक्ति प्राप्त की जा सकती है।' इसका समाधान यों करते हैं कि—'अज्ञानी आत्मा दुःख को तपस्या या अन्य किसी अनुष्ठान से काट नहीं सकता। आत्मा विशुद्धज्ञान से ही दुःख का छेदन कर सकता है, ज्ञान के बिना तप अल्पफलदायी होता है। कहा भी है—'करोड़ वर्ष तक तप करके अज्ञानी जितने कर्मों का क्षय करता है, उतने कर्मों को तीन गुप्तिधारक ज्ञानी एक श्वासोच्छ्वास मात्र में क्षय कर लेता है।' इससे यह फलित हुआ कि बाह्य-पदार्थों या इन्द्रियविषयों का त्याग कर रत्नत्रय के सर्वस्वभूत आत्मा में प्रयत्न करना चाहिए। अन्यदर्शनी कहते हैं—"**आत्मा वाऽरे श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यश्च**" अर्थात् 'अरे! यह आत्मा श्रवण करने योग्य, मनन करने योग्य और ध्यान करने योग्य है।' आत्मज्ञान, आत्मा से जरा भी भिन्न नहीं है। परन्तु ज्ञानस्वरूप आत्मा को आत्मा अपने अनुभव से जान सकता है। इससे भिन्न कोई आत्मज्ञान नहीं है। इसी तरह दर्शन और चारित्र भी आत्मा से भिन्न नहीं है। इस प्रकार का चिद्रूप आत्मा ज्ञानादि के नाम से भी पुकारा जाता है। यहाँ शंका होती है कि 'अन्य विषयों को छोड़ कर इसे आत्मज्ञान ही क्यों कहा जाता है? अन्य विषयों का ज्ञान भी तो अज्ञानरूप दुःख को काटने वाला है! समाधान करते हैं कि 'ऐसी बात नहीं है, सभी विषयों में आत्मा की ही मुख्यता है। कर्म के कारणभूत, शरीर धारण करने में आत्मा ही दुःखी होती है, और कर्म के क्षय होने से वही आत्मा सिद्धस्वरूप होने पर सुखी होती है। इसी बात को आगे कहते हैं—

अयमात्मैव चिद्रूपः शरीरी कर्मयोगतः।
ध्यानाग्निदग्धकर्मा तु सिद्धात्मा स्यान्निरञ्जनः। ४॥

अर्थ—**समस्त प्रमाणों से सिद्ध आत्मा वास्तव में चेतन-ज्ञानस्वरूप है; क्योंकि 'जीव का लक्षण उपयोग है।' शरीरी तो वह कर्म के संयोग से बनता है; किन्तु अन्य विषयों में ऐसा नहीं बनता, इससे अन्य विषयों का ज्ञान प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं है। जब यह आत्मा ही शुक्लध्यानरूपी अग्नि से समस्त कर्मरूपी इंधन को भस्म कर शरीररहित हो जाता है, तब मुक्तस्वरूप सिद्धात्मा निरंजन निर्मल बन जाता है।**

अयमात्मैव संसारः, कषायेन्द्रियनिर्जितः।
तमेव तद्विजेतारं, मोक्षमाहुर्मनीषिणः॥५॥

अर्थ—**कषाय और इन्द्रियों के वशीभूत यह आत्मा ही नरक-तिर्यंच-मनुष्य-देवगति-परिभ्रमणरूप संसार है और जब यही आत्मा कषायों और इन्द्रियों को जीत लेता है, तो उसी को बुद्धिशाली पुरुषों ने मोक्ष कहा है।**

व्याख्या—स्वस्वरूप की प्राप्ति के अतिरिक्त कोई मोक्ष नहीं है, जो आनन्दस्वरूप है, उसमें भी आत्मा अपना स्वरूप ही प्राप्त करता है। इस कारण से आत्मज्ञान की उपासना करनी चाहिए।

दर्शन और चारित्र भी उसी में गतार्थ हो कर प्राप्त हो जाते हैं। आत्मा को इस श्लोक में कषायों और इन्द्रियों का विजेता कहा है।

अतः सर्वप्रथम कपायों का विस्तार से निरूपण करते हैं—

स्युः कषायाः क्रोध-मान-माया-लोभाः शरीरिणाम् ।
चतुर्विधास्ते प्रत्येकं, भेदे. संज्वलनादिभिः ॥६॥

अर्थ **क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाय हैं, जो शरीरधारी आत्मा में होते हैं। संज्वलन आदि के भेद से क्रोधादि प्रत्येक कषाय के चार-चार भेद हैं।**

व्याख्या—क्रोध, मान, माया और लोभ को कषाय कहा जाता है। अथवा जिसमे जीवों की हिंसा हो, उसे कपाय कहते हैं। 'कष्' का अर्थ है—संसार अथवा कर्म और उसका 'आय' अर्थात् प्राप्त होना कषाय है। इसके कारण बार-बार संसार में आवागमन करना पड़ता है। कषाय शरीरधारी समारी जीवों के ही होता है, मुक्तात्मा को नहीं होता। क्रोधादि चार प्रकार का कषाय संज्वलनादि के भेद से प्रत्येक चार-चार प्रकार का है। जैसे—क्रोध के चार भेद है—संज्वलनक्रोध, प्रत्याख्यानावरणक्रोध, अप्रत्याख्यानावरणक्रोध और अनन्तानुबन्धी क्रोध। इसी तरह मान, माया और लोभ के भी चार-चार भेद समझ लेना।

अव संज्वलनादि कपायों के लक्षण कहते हैं—

पक्षं संज्वलनः प्रत्याख्यानो मासचतुष्टयम् ।
अप्रत्याख्यानको वर्षं, जन्मानन्तानुबन्धकः ॥७॥

अर्थ एवं व्याख्या—संज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ की कालमर्यादा पंद्रह दिन तक की रहती है। संज्वलनकषाय घास की अग्नि के समान अल्पसमय तक जलाते हैं। अथवा परिषह आदि के आने से जलने का स्वभाव हो जाता है। '**प्रत्याख्यान**'—जैसे भीमसेन को भीम कहा जाता है, वैसे ही यहां प्रत्याख्यानावरण शब्द को संक्षेप में 'प्रत्याख्यान' कहा है। प्रत्याख्यानावरण-कषाय सर्व विरति प्रत्याख्यान (नियम) को रोकने वाला है; यह चार महीने तक रहता है। अप्रत्याख्यानावरण कषाय में 'नञ्' समास अल्पार्थक है, इसलिए अर्थ हुआ—जो देशविरति प्रत्याख्यान को रोकता है। इसके चारों कषाय एक वर्ष तक रहते हैं। अनन्तानुबन्धी कर्म बांधने वाला कषाय मिथ्यात्व-सहित होने से अनन्तभवों तक उसकी परम्परा चलती है। अनंतानुबन्धी क्रोधादि-कषाय जन्मपर्यन्त तक रहता है। प्रसन्नचन्द राजर्षि आदि के क्षणमात्र की स्थिति होने पर भी वह अनुबन्धी कषाय है, अन्यथा नरकयोग्य कर्मों के उपार्जन का अवसर नहीं आता।

इस तरह काल का नियम करने पर भी संज्वलन आदि लक्षण में अभी अपूर्णता होने से दूसरे लक्षण आगे बताते हैं—

वीतराग-यति-श्राद्ध-सम्यग्दृष्टित्वघातकाः ।
ते देवत्व-मनुष्यत्व-तिर्यक्त्व-नरकप्रदाः ॥८॥

अर्थ—वे संज्वलनादि चार कषाय क्रमशः वीतरागत्व, साधुत्व, श्रावकत्व और सम्यक्त्व का घात करते हैं, तथा ये क्रमशः देवत्व, मनुष्यत्व, तिर्यक्त्व और नरकत्व प्राप्त कराते हैं।

व्याख्या— 'त्व' प्रत्यय सभी के साथ जोड़ने से अर्थ हुआ—कषायचतुष्टय वीतरागत्व, साधुत्व, श्रावकत्व और सम्यक्त्व का क्रमशः घात करता है। वह इस प्रकार सज्वलन-क्रोधादि कषाय के उदय में साधुत्व तो होता है, परन्तु वीतरागत्व नहीं रहता, प्रत्याख्यानावरणीय कषाय के उदय में श्रावकत्व तो रहता है, किन्तु साधुत्व नही रहता, अप्रत्याख्यानावरणीय के उदय में सम्यग्दृष्टित्व तो रहेगा, परन्तु देशविरति-श्रावकत्व नहीं रहेगा और अनन्तानुबंधी कषाय के उदय में सम्यग्दृष्टित्व भी नहीं रहता है। इस तरह संज्वलन वीतरागत्व का घात, प्रत्याख्यानावरणीय साधुत्व का घात, अप्रत्याख्यानावरणीय श्रावकत्व का घात और अनन्तानुबन्धी सम्यक्त्व का घात करता है। इस तरह स्पष्ट लक्षण बताया। अब श्लोक के उत्तरार्ध में कषायो का फल कहते हैं—सज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ के रहते देवगति का फल मिलता है, प्रत्याख्यानावरण क्रोधादि के रहते मनुष्यगति, अप्रत्याख्यानावरण कषाय के होने से तिर्यंचगति और अनन्तानुबन्धी कषाय से नरकगति मिलती है। अब इन सज्वलनादि चार कषायो का स्वरूप उपमा दे कर समझाते हैं—संज्वलन आदि चार प्रकार का क्रोध क्रमशः जल मे रेखा, रेत मे रेखा, पृथ्वी पर रेखा और पर्वत की रेखा के समान होता है। तथा चार प्रकार का मान बेंत की छड़ी के समान, काष्ठ की लकड़ी के समान, हड्डी के समान और पत्थर के स्तम्भ के समान होता है। चार प्रकार की माया बांस की छाल के समान, लकड़ी की छाल के समान, मेंढे के सींग के समान और बांस की जड़ के समान है और चार प्रकार का लोभ हल्दी के रंग के समान, सकोरे में लगे मैल के समान, गाड़ी के पहिये के कीट के समान तथा किरमिची रंग के समान होता है।

अब चारों कषायों के अधीन होने से होने वाले दोष बतलाते हैं—

तत्रोपतापकः क्रोधः, क्रोधो वैरस्य कारणम्।
दुर्गतेर्वर्तनी क्रोधः, क्रोधः शम-सुखार्गला ॥९॥

अर्थ—इन चारों में प्रथम कषाय क्रोध शरीर और मन दोनों को संताप देता है; क्रोध वैर का कारण है, क्रोध दुर्गति की पगडंडी है और क्रोध प्रशमसुख को रोकने के लिए अर्गला के समान है।

व्याख्या—इस श्लोक में क्रोधशब्द का बार-बार प्रयोग इसलिए किया गया है कि क्रोध अत्यन्त दुष्ट और हानिकारक है, आत्मा के लिए। यह अग्नि की तरह अपने आपको और पास में रहे हुए को संताप से जला डालता है। क्रोध से वैरपरम्परा इसी तरह बढ़ती जाती है, जैसे सुभूम और परशुराम वैरी बन कर परस्पर एक दूसरे के घातक हो गए थे। क्रोध दुर्गति यानी नरकगति में ले जाने वाला है।

क्रोध स्वयं को कैसे जलाता है, इसका समर्थन आगामी श्लोक में करते हैं—

उत्पद्यमानः प्रथमं दहत्येव स्वमाश्रयम्।
क्रोधः कृशानुवत् पश्चादन्यं दहति वा न वा ॥१०॥

अर्थ—किसी प्रकार का निमित्त पाकर क्रोध उत्पन्न होते ही सर्वप्रथम आग की तरह अपने आश्रयस्थान (जिसमें वह उत्पन्न होता है, उसी) को ही जलाता है। बाद में अग्नि की तरह दूसरे को जलाए, चाहे न भी जलाए। यदि सामने वाला व्यक्ति क्षमाशील होगा तो गीले वृक्ष के समान उसे जला नहीं सकेगा।

व्याख्या—यहाँ पर क्रोध के विषय में आन्तर-श्लोकों का भावार्थ प्रस्तुत करते हैं—

'कोई साधक आठ वर्ष कम पूर्वकोटिवर्ष तक चारित्र की आराधना करे, उतने ही वर्ष के तप को क्रोधरूपी आग क्षणभर में घास के ढेर के समान जला कर भस्म कर देती है। अतिशय पुण्य-पुंज से पूर्ण घट में संचित किया हुआ, समतारूपी जल क्रोधरूपी विष के सम्पर्कमात्र से पलभर में अपेय बन जाता है। क्रोधाग्नि का धुंआ फैलता-फैलता रसोईघर की तरह आश्चर्यकारी गुणों के धारक चारित्ररूपी चित्र की रचना को अत्यन्त श्याम कर देता है। वैराग्यरूपी शमीवृक्ष के छोटे-छोटे पत्तों से प्राप्त शमरस को अथवा चिरकाल से आत्मा में उपार्जित शमामृत को पलाश के बड़े पत्तों के समान क्रोध नीचे गिरा देता है। जब क्रोध की वृद्धि होती है, तब प्राणी कौन-सा अकार्य नहीं करता? सभी अकार्य करता है। द्वैपायनऋषि ने क्रोधाग्नि पैदा होने से यादवकुल को और प्रजासहित द्वारिका नगरी को जला कर भस्म कर दिया था। क्रोध करने से कभी-कभी जो कार्य की सिद्धि होती मालूम होती है, वह क्रोध के कारण से नहीं होती, उसे पूर्वजन्म में उपार्जित प्रबल पुण्यकर्म का फल समझना चाहिए। अपने दोनों जन्मों को बिगाड़ने वाले, अपने और दूसरे के अर्थ का नाश करने वाले क्रोधरूपी जल को जो अपने शरीर में धारण करता है, उसे धिक्कार है! प्रत्यक्ष देख लो, क्रोधान्धता से निर्दय बना आत्मा पिता, माता, गुरु, मित्र, सगे भाई, पत्नी और अपना विनाश कर डालता है।

क्रोध का स्वरूप बता कर उस पर विजय प्राप्त करने के लिए उपदेश देते हैं—

क्रोधवह्नेस्तदह्नाय शमनाय शुभात्मभिः।
श्रयणीया क्षमैकैव संयमारामसारणिः ॥११॥

अर्थ—उत्तम आत्मा को क्रोधरूपी अग्नि को तत्काल शान्त करने के लिए एकमात्र क्षमा का ही आश्रय लेना चाहिए। क्षमा ही क्रोधाग्नि को शान्त कर सकती है। क्षमा संयम-रूपी उद्यान को हराभरा बनाने के लिए क्यारी है।

व्याख्या—प्रारम्भ में ही क्रोध को न रोका जाए तो बढ़ने के बाद दावानल की तरह उसे रोकना होता अशक्य है। कहा है कि—थोड़ा-सा ऋण, जरा-सा भी घाव, थोडी-सी अग्नि और थोड़े-से भी कषायों का जरा भी विश्वास नहीं करना चाहिए। क्योंकि थोड़े को भी विराट् बनते (बढ़ते) देर नहीं लगती।" इसलिये क्रोध आते ही तत्काल क्षमा का आश्रय लेना चाहिए। इस जगत् में क्रोध को उपशान्त करने के लिए क्षमा के सिवाय और कोई उपाय नहीं है। क्रोध का फल वैर का निमित्त होने से उलटे वह क्रोध को बढ़ाता है, शान्ति नहीं दे सकता। इसलिए क्षमा ही क्रोध को शान्त करने वाली है। वह क्षमा कैसी है? इसके उत्तर में कहते हैं—क्षमा संयमरूपी उद्यान की क्यारी के समान है। क्षमा से नये-नये संयम-स्थान और और अध्यवसाय-स्थानरूप वृक्षों को रोपा जाता है, उसकी वृद्धि की जाती है। उद्यान में अनेक प्रकार के वृक्ष बोए जाते हैं। उसमें पानी की क्यारी बनाने से वृक्षों के पुष्प,

फल, पत्ते आदि बढ़ते हैं। क्षमा प्रशान्त-वादितारूप चित्त की परिणति है। उसे क्यारी का रूप देने से नये-नये प्रशम-परिणाम उत्पन्न होते हैं। इस विषय के श्लोकों का भावार्थ प्रस्तुत करते हैं –

"आमतौर पर अपकारी मनुष्यों पर क्रोध का रोकना अशक्य है, इसके विपरीत अपनी सहन-शक्ति के प्रभाव से अथवा किसी प्रकार की भावना से क्रोध रोका जा सकता है। जो अपने पाप को स्वीकार करके मुझे पीड़ा देना चाहता है ; वह बेचारा अपने कर्मों का ही मारा है, कौन ऐसा मूर्ख होगा जो उस मनुष्य पर क्रोध करेगा ? कोई नही ! 'मैं अपकारी पर क्रोध करूं' इस प्रकार के परिणाम यदि तेरे मन में जागृत होते हैं, तो फिर तू दुःख के कारणरूप अपने कर्मों पर क्रोध क्यों नहीं करता ? कुत्ता ढेला फेंकने वाले को न काट कर, ढेले को काटने जाता है, जबकि सिंह बाण की ओर दृष्टि किए बिना ही बाण फेंकने वाले को पकड़ने जाता है। आत्मार्थी क्रूरकर्मों से प्रेरित व्यक्ति पर क्रोध नहीं करता ; अपितु अपने कर्मों पर ही करता है ; जबकि साधारण मनुष्य कर्मों पर क्रोध करने की अपेक्षा दूसरे (निमित्त) पर क्रोध करता है। कुत्ते के समान दूसरो को भौंकने या बोलने से क्या लाभ ? अपने कर्मों को कोस, उन्हें ही डांट। सुनते हैं कि—'श्रमण भगवान् महावीर स्वामी कर्मों को क्षय करने की इच्छा से चला कर म्लेच्छदेश में गये थे, तो फिर अनायासप्राप्त हुई क्षमा क्यों नहीं धारण करना चाहते ? तीन जगत् का प्रलय अथवा रक्षण करने में समर्थ प्रभु ने यदि क्षमा रखी थी तो फिर केले के समान अल्पसत्व तेरे सरीखे व्यक्ति क्षमा क्यों नही रख सकते ? इस प्रकार अनायास प्राप्त पुण्य क्यो नहीं कमा लेते, ताकि कोई भी तुम्हे पीड़ा न दे सके। अब तो अपने प्रमाद की निंदा करते हुए क्षमा को स्वीकार करो। क्रोध में अन्धे बने हुए मुनि में और क्रोध करने वाले चांडाल मे कोई अन्तर नही है। इस कारण क्रोध का त्याग कर उज्ज्वल बुद्धि की स्थलीरूप क्षमा का सेवन करना चाहिए। एक ओर क्रोध करने वाले महातपस्वी महामुनि थे, दूसरी ओर केवल नवकारसी का पच्चक्खाण करते थे; क्रोधरहित कूरगडुक मुनि। परन्तु देवताओं ने महामुनि को छोड कर कूरगडुक मुनि को वंदन किया था। शास्त्रदृष्टि से कलुषित मर्मस्पर्शी वचनों को सुन कर दुःखी होने के बजाय यह विचार करो कि—'कहने वाला यदि मुझे सत्य कहता है, तो उस पर कोप क्यों किया जाय ? यदि वह झूठ बोलता है तो उन्हें उन्मत्त-(पागल) के वचन मान लिये जांय ! यदि कोई वध करने के लिए आता है तो मुस्करा कर उसकी ओर देखे कि वध तो मेरे कर्मों से होने वाला है, यह मूर्ख वृथा ही नृत्य करता है। यदि मारने आये तो अपने मन में ऐसा विचार करे कि—'मेरा आयुष्यकर्म पूर्ण होने पर ही मेरी मृत्यु होगी। या ऐसा विचार करे कि—'यदि मेरे पाप नही होते तो यह बेचारा मुझे क्यों मारने आता ? सभी पुरुषार्थों के हरणकर्ता क्रोध पर तो तू क्रोध नही करता, तो फिर अल्प अपराध करने वाले दूसरे पर तू इतना क्रोधित क्यों होता है ? इसलिए धिक्कार है तुझे ! सभी इन्द्रियों को शिथिल करने वाले उग्र सर्प के समान आगे बढ़ते हुए क्रोध को जीतने के लिए बुद्धिमान सपेरे की विद्या के समान लगातार निर्दोष क्षमा धारण करे।'

अब मान-कषाय का स्वरूप कहते हैं—

विनय-श्रुत-शीलानां त्रिवर्गस्य च घातकः ।
विवेक-लोचनं लुम्पन्, मानोऽन्धंकरणो नृणाम् ॥१२॥

अर्थ—मान विनय का, श्रुत का, और शील-सदाचार का घातक है तथा धर्म, अर्थ और काम तीनों का घातक है। मान मनुष्यों के विवेकरूपी चक्षु को नष्ट करके अन्धा बना देता है।

व्याख्या – मान गुरुजन आदि बड़े लोगों के प्रति उपचाररूप विनय, श्रुत अर्थात् विद्या, शील अर्थात् सुन्दर स्वभाव का घातक है। जाति आदि के मद में पिशाच-सम अभिमानी बन कर व्यक्ति गुरु आदि का विनय नहीं करता। गुरु की सेवा नहीं करने से अविनयी विद्या प्राप्त नहीं कर सकता इसके कारण सभी लोगों की अवज्ञा करने वाला अपना दुःस्वभाव प्रगट करता है। मान केवल विनयादि का ही घातक नहीं है; बल्कि धर्म, अर्थ और कामरूपी त्रिवर्ग का भी घातक है। अभिमानी व्यक्ति इन्द्रियों को वश नहीं कर सकता; इससे उसमें धर्म कैसे हो सकता है? मानी मनुष्य अक्खड़पन के कारण राजादि की सेवा में परायण नही होने से अर्थ की प्राप्ति कैसे कर सकता है? काम की प्राप्ति भी व्यक्ति मृदुता होने पर ही कर सकता है। ठूंठ के समान अभिमान मे अक्कड़ बना हुआ काम-पुरुषार्थ कैसे सिद्ध कर सकता है? जो व्यक्ति पहले देखता था; और उसे बाद में मानकषाय अन्धा बना देता है। वह किसको? मनुष्य को। क्या करता है? कृत्य-अकृत्य चिन्तनरूप विवेक-लोचन का लोप कर देता है। 'एक तो निर्मल चक्षु वह सहज विवेक होता है।' इस वचन से विवेक ही नेत्र कहलाता है। ज्ञान-वृद्धों की सेवा नहीं करने वाला मानी अपने विवेक-लोचन का अवश्य लोप (नाश) करता है। अतः मान अन्धत्व पैदा करता है; यह सहज ही समझी जाने जैसी बात है।'

अब मान के भेद बता कर उसके फल कहते हैं—

जाति-लाभ-कुलैश्वर्य-बल-रूप-तपःश्रुतैः ।
कुर्वन् मदं पुनस्तानि, हीनानि लभते जनः ॥१३॥

अर्थ—जो व्यक्ति जाति, लाभ, कुल, ऐश्वर्य, बल, रूप, तप और ज्ञान; इन मद के आठ स्थानों (कारणों) में जिस किसी का मद करता है; वह जन्मान्तर में उसी की हीनता प्राप्त करता है।

व्याख्या इस विषय पर आंतरश्लोकों का भावार्थ कहते हैं—'उत्तम, मध्यम और अधम आदि अनेक प्रकार का जातिभेद देख कर समझदार मनुष्य कभी जातिमद नहीं करता। शुभकर्म के योग से उत्तमजाति मिलने के बाद फिर अशुभकर्म के योग से हीनजाति में जन्म लेता है, इस प्रकार अशाश्वत जाति प्राप्त कर कौन मनुष्य जाति का अभिमान करेगा? अन्तरायकर्म के क्षय होने से लाभ (कोई पदार्थ प्राप्त) होता है, उसके बिना नहीं। अतः वस्तुतत्त्व को जानने वाला लाभमद नहीं करता। दूसरे की कृपा से अथवा दूसरे के प्रयत्न आदि से महान् लाभ होने पर भी महापुरुष किसी भी प्रकार से लाभमद नहीं करते। अकुलीन की बुद्धि, लक्ष्मी और शीलसम्पन्नता देख कर महाकुल में जन्म लेने वाला कुलमद न करे। 'कुल का कुशीलता और सुशीलता से क्या सम्बन्ध है? इस प्रकार जान कर विचक्षण पुरुष कुलमद नहीं करते। वज्र को धारण करने वाले इन्द्र के तीन लोक के ऐश्वर्य (वैभव) को जान-सुन कर कौन ऐसा व्यक्ति होगा, जो किसी शहर, गाँव, धन, धान्य आदि के ऐश्वर्य का अभिमान करेगा? दुःशीला (बदचलन) स्त्री के समान निर्मलगुण वाले के पास से भी ऐश्वर्य चला जाता है, और दोषों का सहारा करता है; इसलिए विवेकी पुरुष को ऐश्वर्य का अहंकार नहीं करना चाहिए। बड़े-बड़े महाबली भी रोग आदि के कारण क्षण में निर्बल हो जाते हैं। इसलिए पुरुष में बल अनित्य होने से उसका भी मद करना उचित नहीं। बलवान भी वृद्धावस्था में, मृत्यु के समय अथवा अन्य कर्म के उदय के समय निर्बल होते देखे जाते हैं। इसलिए बलमद करना निरर्थक है। सात धातुओं से बना हुआ यह शरीर भी बढ़ता-घटता रहता है, वृद्धावस्था में रोगों से व्याप्त हो जाता है; अतः कौन ऐसे क्षणभंगुर

शरीर के रूप का मद करेगा ? सनत्कुमार चक्रवर्ती का रूप कितना सुन्दर था ? थोड़े ही समय में उसके रूप की सुन्दरता नष्ट हो गई। ऐसा विचार करके कौन ऐसा पुरुष होगा ; जो स्वप्न में भी रूप का मद करेगा ? श्रीऋषभदेव भगवान् और श्रीमहावीरस्वामी के तप की पराकाष्ठा सुन कर अपने अत्यन्त अल्पतप का कौन अभिमान करेगा ? जिस तपस्या से एकसाथ कर्म-समूह टूट सकते हैं, उसका अभिमान करने से तो उलटे कर्म-समूह बढ़ जाते हैं। दूसरों के द्वारा रचित शास्त्रों का अभ्यास करके अपनी अल्पबुद्धि के प्रयास से ग्रन्थ तैयार करके अपने में उसको ले कर सर्वज्ञता का अभिमान करने वाला तो अपने ही अंगों का भक्षण करता है। श्री गणधर भगवान् में द्वादशांगी के निर्माण करने और स्मरण करने की शक्ति थी ; उसे जान कर कौन बुद्धिमान पुरुष श्रुत का अभिमान करेगा ? कोई नहीं करेगा।

कितने ही आचार्य ऐश्वर्यमद और लाभमद के स्थान पर वल्लभतामद और बुद्धिमद कहते हैं। वे उनके सम्बन्ध में इस प्रकार उपदेश देते हैं दरिद्र पुरुष उपकार के भार के नीचे दब कर बुरे काम करके दूसरे मनुष्यों की वल्लभता (प्रियता) प्राप्त करता है ; भला, वह उसका मद कैसे कर सकता है ? जो दूसरे की कृपा से मिली हुई वल्लभता को पा कर गर्व करता है, वह वल्लभता के चली जाने पर शोकसमुद्र में डूब जाता है। बुद्धि के विविध अंग, उसको बढ़ाने की विधि, उसके विकल्प, तथा उसके अनन्तपर्यायों की न्यूनाधिकता एवं तरतमता देखते हुए षट्स्थानपतित के भेद से अनन्तगुनी बुद्धि के धनी द्वारा सूत्र का अर्थ ग्रहण करने-कराने, नवीन रचना करने अर्थ पर चिन्तन एवं उसका अवधारण करने आदि विषयों में प्राचीनकालिक महापुरुष सिंहवत् अनन्तविज्ञानातिशययुक्त होते थे; यह जान कर इस काल का अल्पबुद्धि पुरुष अपनी बुद्धि का अहंकार कैसे कर सकता है ?"

इस प्रकार मान का स्वरूप एवं उसके भेदों का प्रतिपादन किया। अब मान के प्रतिपक्षभूत मार्दव (जो मान पर विजय प्राप्त करने का उपाय है) का उपदेश देते हैं—

उत्सर्पयन् दोषशाखा गुणमूलान्यधो नयन् ।
उन्मूलनीयो मानद्रुस्तन्मार्दव-सरित्प्लवैः ॥१४॥

अर्थ—दोष रूपी शाखाओं को विस्तृत करने वाले और गुणरूपी मूल को नीचे ले जाने वाले मानरूपी वृक्ष को मार्दव-नम्रतारूपी नदी के वेग से जड़सहित उखाड़ फैंकना चाहिए।

व्याख्या—मान को वृक्ष की उपमा दे कर दोनों की यहाँ तुलना की गई है। मानी पुरुष के दोष वृक्षशाखा के समान ऊँचाई में फैलते है। वे दोष शाखाएँ हैं और गुण मूल है, जो ऊपर फैलने के बजाय नीचे जाता है। अर्थात् दोषों का समूह बढ़ता जाता है. और गुणों का समूह घटता जाता है। ऐसे मान-वृक्ष को कैसे उखाड़ा जाय ? इस सम्बन्ध में कहते हैं -'मार्दव नम्रतारूपी लगातार बहने वाली नदी की तेज धारा (वेग) के द्वारा मानवृक्ष को उखाड़ना चाहिए। ज्यों-ज्यों मदवृक्ष बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों गुणरूपी मूल छुप जाते हैं और दोषरूपी शाखाएँ बढ़ती जाती हैं ; जिन्हें कुल्हाड़े आदि से उखाड़ना अशक्य है ; उसे तो नम्रता-भावनारूपी नदी के तीव्र जलप्रवाह से ही समूल उखाड़ी जा सकती हैं। उससे ही उखाड़ना चाहिए।

यहाँ इसी विषय के आंतरश्लोकों का भावार्थ कहते हैं—

मार्दव का अर्थ है मृदुता-कोमलता, उद्धतता का त्याग। उद्धतता मान का स्वाभाविक उपाधि-रहित स्वरूप है। जाति आदि जिस-जिस विषय में अभिमान पैदा हो, उसका प्रतिकार करने के लिए नम्रता का आश्रय लेना चाहिए। प्रत्येक स्थान पर कोमलता, नम्रता और विनय करना और पूज्य पुरुषों का तो विशेष प्रकार से विनय करना चाहिए। क्योंकि पूज्य पुरुषों की पूजा करने से पाप साफ हो जाते हैं, व्यक्ति पाप से मुक्त हो जाता है। बाहुबली मुनि अभिमान के वश हो कर पापरूपी लताओं से घिरे थे, और जब मन में नम्रता का चिन्तन किया तो, उसी समय पाप से मुक्त हो कर केवलज्ञान प्राप्त कर लिया था। चक्रवर्ती संसार का सम्बन्ध छोड़ कर वैरी के घर भी भिक्षार्थ जाते हैं। वास्तव में मान छोड़ कर मार्दव ग्रहण करना अतिकठिन है। दीक्षा ले कर चक्रवर्ती भूतपूर्व रंक साधु को भी तत्काल वंदन करता है। अपना पूर्वाभिमान छोड़ कर चिरकाल तक उसकी सेवा करता है। इस प्रकार मान-सम्बन्धी दोषों का विचार करके नम्रता का आचरण करने से अनेक गुण पैदा होते हैं। यह जान कर अभिमान का त्याग करके साधुधर्म के विशिष्ट गुण—मार्दव में तन्मय हो कर तत्क्षण उसका आश्रय लेना चाहिए।"

अब मायाकषाय का स्वरूप बताते हैं—

असूनृतस्य जननी, परशुः शीलशाखिनः।
जन्मभूमिरविद्यानां माया दुर्गतिकारणम् ॥१५॥

अर्थ- **माया असत्य की जननी है, वह शील अर्थात् सुन्दर स्वभावरूप वृक्ष को काटने के लिए कुल्हाड़ी है, अविद्या अर्थात् मिथ्यात्व एवं अज्ञान की जन्मभूमि है और दुर्गति का कारण है।**

भावार्थ—वास्तव में देखा जाय तो माया के बिना झूठ ठहर नहीं सकता। माया का अर्थ ही है, दूसरों को ठगने का परिणाम। दूसरों को ठगने के लिए जो माया करता है, वह परमार्थ से अपने आपको ही ठगता है। अतः माया के फल का निर्देश करते हैं -

कौटिल्यपटवः पापाः मायया बकवृत्तयः।
भुवनं वञ्चयमाना वञ्चयन्ते स्वमेव हि ॥१६॥

अर्थ—कुटिलता करने में कुशल पापी बगुले के समान दम्भी वृत्ति वाले माया से जगत् को ठगते हुए वास्तव में अपने आप को ही ठगते हैं।

व्याख्या—तृतीय कषाय माया है; उससे जो जगत को ठगता है, वह अपनी आत्मा को ही ठगता है। अपने पापकार्यों को छिपाने की वृत्तिवाला बगुले के समान मायारूप पापकर्म करता है। जैसे बगुला मछली आदि को धोखा देने के लिए धीरे-धीरे चेष्टा करता है, उसी तरह कपट करने वाला भी जगत् को ठगने के लिए बगुले के सदृश चेष्टा करता है। यहां शंका होती है कि मायावी जगत् को ठगता है और वह अपनी माया को छिपाता फिरता है तो वह संचितमाया का इतना बोझ कैसे उठा लेता है? इसके उत्तर में कहते हैं—ठगने की कुशलता के बिना कोई दूसरे को कदापि नहीं ठग सकता, और न अपनी माया को ही छिपा सकता है। जो कुटिलता में पटु होता है, वही दूसरों को ठगने और उसे छिपाये रखने में समर्थ हो सकता है। यहाँ इस सम्बन्ध में कुछ आन्तर श्लोकों का भावार्थ प्रस्तुत

करते हैं—राजा लोग कूटनीति, षड्यंत्र, जासूसी और गुप्त प्रयोगों द्वारा कपटपूर्वक विश्वस्त व्यक्ति का घात करके धन के लोभ से दूसरों को ठगते हैं। ब्राह्मण मस्तक पर तिलक लगा कर, हाथ आदि की विविध मुद्राओं का प्रदर्शन करके, मंत्र जप कर तथा दूसरों की कमजोरी का लाभ उठा कर हृदयशून्य हो कर बाह्य दिखावा करके लोगों को ठग लेते हैं। वणिक्जन नापतौल के झूठ बांट बना कर कपट-क्रिया करके भोलेभाले लोगों को ठगते हैं। कई लोग सिर पर जटा धारण कर, मस्तक मुंडा कर या लम्बी लम्बी शिखा=चोटी रखवा कर, भस्म रमा कर, भगवें वस्त्र पहन कर या नंगे रह कर; हृदय मे परमात्मा और धर्म के प्रति नास्तिकता और ऊपर से पाखंड रच कर भद्र श्रद्धालु यजमानों को ठग लेते हैं। स्नेहरहित वेश्याएँ अपना हावभाव, विलास, मस्तानी चाल दिखा कर अथवा कटाक्ष फैंक कर या अन्य कई तरह के नृत्य, गीत आदि विलासों से कामी पुरुषों को क्षणभर में आकर्षित करके ठग लेती हैं। जूआरी झूठी सौगन्धे खा कर, झूठे कौड़ी और पासे बना कर धनवानों से रुपये ऐंठ लेते हैं; दम्पती, माता-पिता सगे भाई, मित्र, स्वजन, सेठ, नौकर तथा अन्य लोग परस्पर एक दूसरे को ठगने में नहीं चूकते। धन-लोलुप पुरुष निर्लज्ज हो कर खुशामद करने वाले चोर से तो हमेशा सावधान रहता है, किन्तु प्रमादी को ठग लेता है। कारीगर और चांडाल अपने पुरखों से प्रचलित व्यापार-धन्धे से अपनी आजीविका चलाते हैं, मगर छल से शपथ खा कर अच्छे-अच्छे सज्जनों को ठग लेते हैं। क्रूर व्यन्तरदेव आदि कुयोनि (नीचजाति) के भूत, प्रेत, पिशाच, राक्षस आदि मनुष्यों और पशुओं को प्रमादी जान कर प्राय: अनेक प्रकार से हैरान करते हैं। मछली आदि जलचर जन्तु प्रपंचपूर्वक अपने ही बच्चों को निगल जाते हैं, किन्तु मछुए उन्हें भी कपटपूर्वक जाल आदि बिछा कर पकड़ लेते हैं। ठगने में चतुर शिकारी विभिन्न उपायों से मूर्ख स्थलचर जीवों को अपने जाल में फंसा लेते हैं, बांध लेते हैं, और फिर मार डालते हैं। हिंसक बहेलिए थोड़े से मांस खाने के लोभ में बेचारे चिड़िया, तोता, मैना, तीतर, बटेर आदि आकाश-चारी पक्षियों को अतिक्रूर बन कर निर्दयता से बांध लेते हैं। इस प्रकार सारे संसार में आत्मवंचक लोग एक दूसरे को ठगने में रत हो कर अपने धर्म और सद्‌गति का नाश कर बैठते हैं। अत: बुद्धिमान व्यक्ति को तिर्यञ्चजाति में उत्पत्ति की बीजरूप, अपवर्गनगरी की अर्गला के समान, विश्वासवृक्ष के लिए दावाग्नि-तुल्य माया का त्याग कर देना चाहिए। पूर्वभव में श्रीमल्लिनाथ अर्हन्त के जीव ने अल्पमाया की थी, उस मायाशल्य को दूर न करने के कारण अर्थात् आलोचना और प्रायश्चित्त द्वारा आत्मशुद्धि न करने के कारण उन्हें माया के योग से जगत्पति तीर्थंकर के रूप में स्त्रीत्व मिला था।

अब माया को जीतने के लिए उसकी प्रतिपक्षी सरलता की प्रेरणा करते हैं—

तदार्जवमहौषध्या जगदानन्दहेतुना।
जयेज्जगद्‌द्रोहकरीं मायां विषधरीमिव ॥१७॥

अर्थ—इसलिए जगत् का अपकार—द्रोह करने वाली मायारूपी सर्पिणी को जगत् के जीवों को आनन्द देने वाली ऋजुता=सरलतारूपी महौषधि से जीतना चाहिए।

व्याख्या—जगत् के लोगों के लिए आरोग्यदायिनी प्रीतिविशेष ऋजुता (आर्जव) है, जो कपट भाव के त्यागपूर्वक मायाकषाय पर विजय प्राप्त करा कर मुक्ति का कारण बनती है। इस विषय में आन्तरश्लोकों का भावार्थ प्रस्तुत करते हैं—"अन्यधर्मीय शास्त्रों में भी सिद्धान्तरूप में बताया है कि मुक्तिनगरी का अगर कोई सीधा रास्ता है तो वह सरलता का है; शेष जो मार्ग है, वह तो आचार का ही विस्तार है। थोड़े में यह समझ लो कि कपट सर्वथा मृत्यु का कारण है, जबकि सरलता अजर-अमर होने का

कारण है। इतना ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है; बाकी का सब बकवास है। जगत् में सरलता का धनी मानव प्रीतिभाजन बनता है, जबकि कुटिलता से भरा मनुष्य सब को उद्विग्नता प्राप्त करता है। सरल-चित्त व्यक्ति संसारवास में रहता हुआ भी अनुभव करने योग्य सहज स्वाभाविक मुक्ति सुख का अनुभव करता है। कुटिलता की कील में जकड़ा हुआ क्लिष्टचित्त एवं छल में शिकारी के समान दक्ष मनुष्य स्वप्न में भी उस सुख को कैसे प्राप्त कर सकता है? भले ही मनुष्य समग्र कलाओं में चतुर हो, समस्त विद्याओं में पारंगत हो, लेकिन बालक की-सी सरलता तो किसी भाग्यशाली को ही नसीब होती है। अज्ञानी बालक की सरलता ही उसे प्रीतिभाजन बना देती है। यदि कोई मनुष्य सर्वशास्त्रों के अर्थ में परिनिष्ठ हो, और साथ ही उसमें सरलता हो तो कहना ही क्या! सरलता स्वाभाविक है, कुटिलता बनावटी है। अतः स्वाभाविक धर्म को छोड़ कर कृत्रिम और अधर्मरूप माया को कौन पकड़ेगा? छल-प्रपंच, धोखाधड़ी, झूठफरेब करने, चुगली खाने और मुंह पर कुछ और बोलने और हृदय में कुछ और भाव रखने आदि बातों में निपुण लोगों के सम्पर्क में आ कर विरले ही भाग्यशाली स्वर्णप्रतिमा के समान निर्विकारी बने रह सकते हैं। गणधर श्रीगौतम स्वामी श्रुतसमुद्र में पारंगत थे, फिर भी आश्चर्य है कि वे नवदीक्षित के समान सरलता के धनी बन कर भगवद्वचन सुनते थे। कितने ही दुष्कर्म किये हों; लेकिन सरलता से जो अपने कृत दुष्कर्मों की आलोचना कर लेता है, वह समस्त कर्मों का क्षय कर देता है। परन्तु यदि लक्ष्मणा साध्वी की तरह कपट रख कर दम्भपूर्वक आलोचना की तो उसका पाप अल्पमात्र होते हुए भी वह संसारवृद्धि का कारण बनेगा। मोक्ष उसे ही मिलता है, जिसकी आत्मा में सब प्रकार की सरलता हो। जिसके मन, वाणी और कर्म (काया) में कुटिलता भरी है, उसकी मुक्ति किसी प्रकार भी नहीं होती। अतः सरलपरिणामी साधकों का चरित्र निर्दोष बताया है और कुटिल परिणामी साधक उग्रकर्मबन्धन के भागी बनते हैं। विवेकबुद्धि से इन दोनों की तुलना करके शुद्ध बुद्धि वाले मुमुक्षु को अनुपम सरलभाव का आश्रय लेना चाहिए।"

अब लोभकषाय का स्वरूप बताते हैं—

आकरः सर्वदोषाणां गुणग्रसनराक्षसः ।
कन्दो व्यसनवल्लीनां लोभः सर्वार्थबाधकः ॥१८॥

अर्थ— **जैसे लोहा आदि सब धातुओं का उत्पत्तिस्थान खान है, वैसे ही प्राणातिपात आदि समस्त दोषों की खान लोभ है। यह ज्ञानादि गुणों को निगल जाने वाला राक्षस है, आफत (दुःख) रूपी बेलों का कन्द (मूल) है। वस्तुतः लोभ धर्म-अर्थ-काम-मोक्षरूप समस्त अर्थों—पुरुषार्थों में बाधक है।**

भावार्थ—लोभ-कषाय सर्वदोषों की खान, समग्र गुणों का घातक, दुःख का हेतु, और सर्वपुरुषार्थघातक है। अतः लोभ दुर्जेय है।

आगे तीन-श्लोकों में लोभ का स्वरूप बताते हैं।

धनहीनः शतमेकं, सहस्रं शतवानपि ।
सहस्राधिपतिर्लक्षं, कोटिं लक्षेश्वरोऽपि च ॥१९॥

कोटीश्वरो नरेन्द्रत्वं, नरेन्द्रश्चक्रवर्त्तिताम् ।
चक्रवर्ती च देवत्वं, देवोऽपीन्द्रत्वमिच्छति ॥२०॥

इन्द्रत्वेऽपि हि सम्प्राप्ते, यदीच्छा न निवर्तते ।
मूले लघीयांस्तल्लोभः सराव इव वर्धते ।२१॥

अर्थ—निर्धन मनुष्य सौ रुपये की अभिलाषा करता है, सौ पाने वाला हजार की इच्छा करता है, और हजार रुपयों का स्वामी लाख रुपये पाना चाहता है, लक्षाधिपति करोड़ की लालसा करता है, और कोटीपति राजा बनने का स्वप्न देखता है राजा को चक्रवर्ती बनने की धुन सवार होती है और चक्रवर्ती को देव बनने की लालसा जागती है। देव भी इन्द्रपद प्राप्त करना चाहता है। मगर इन्द्रपद प्राप्त होने पर भी तो इच्छा का अन्त नहीं आता है। अतः प्रारम्भ में थोड़ा-सा (छोटा-सा) लोभ होता है, वही बाद में शैतान की तरह बढ़ता जाता है।

व्याख्या—लोभ के सम्बन्ध में प्रस्तुत आन्तरश्लोकों का भावार्थ कहते हैं—"जैसे सभी पापों में हिंसा बड़ा पाप है, सभी कर्मों में मिथ्यात्व महान् है और समस्त रोगों में क्षयरोग महान् है, वैसे ही सब अवगुणों में लोभ महान् अवगुण है। अहा! इस भूमण्डल पर लोभ का एकच्छत्र साम्राज्य है। लोभ के कारण ही एकेन्द्रिय पेड़पौधे भी निधान मिलने पर उसे अपनी जड़ में दबा कर, पकड़ कर ढंक रखते हैं। धन के लोभ से द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरीन्द्रिय जीव भी अपने गाड़े हुए निधान पर मूर्च्छापूर्वक जगह बना कर रहते हैं। सर्प, गोह, नेवले, चूहे आदि पंचेन्द्रिय जीव भी धन के लोभ से निधानवाली जगह पर आसक्तिवश बैठे रहते हैं। पिशाच, मुद्गल, भूत, प्रेत, यक्ष आदि अपने या दूसरे के धन पर लोभ व मूर्च्छावश निवास करते है। आभूषण, उद्यान, बावड़ी आदि पर मूर्च्छाग्रस्त हो कर देवता भी च्यव कर पृथ्वीकायादि योनि में उत्पन्न होता है। साधु उपशान्तमोह-गुणस्थान तक पहुंच कर क्रोधादि पर विजय प्राप्त कर लेने पर भी एकमात्र अल्पलोभ के दोष के कारण नीचे के गुणस्थानों में आ गिरता है। मांस के टुकड़े के लिए जैसे कुत्ते आपस में लड़ते हैं, वैसे ही एक माता के उदर में जन्मे हुए सगे भाई भी थोड़े-से धन के लिए परस्पर लड़ते हैं। लोभाविष्ट मनुष्य गांव, पर्वत एवं वन की सीमा पर अधिकार जमाने के लिए सहृदयता को तिलांजलि दे कर ग्रामवासी राज्याधिकारी, देशवासी और शासकों में परस्पर फूट डाल कर विरोध पैदा करके उन्हें एक दूसरे का दुश्मन बना देता है। अपने में हास्य, शोक, द्वेष या राग की अतिमात्रा न होने पर भी मनुष्य लोभ के कारण मालिक के आगे नट की तरह नाचता है, उसका प्रेमभाजन बनने का नाटक करता है। लोभरूपी गड्ढे को भरने का ज्यों-ज्यों प्रयत्न किया जाता है, त्यों-त्यों वह अधिकाधिक गहरा होता (बढ़ता) जाता है। आश्चर्य है, समुद्र तो कदाचित् जल से पूरा भर सकता है, परन्तु तीनों लोकों का राज्य मिलने पर भी लोभ-समुद्र नहीं भरता। मनुष्य ने अनन्तबार भोजन, वस्त्र, विषय एवं द्रव्यपुंज का उपभोग किया है, मगर तब भी उन पर मन में लोभ का अंश कम नहीं होता। यदि लोभ छोड़ दिया है तो तप से क्या प्रयोजन और अगर लोभ नहीं छोड़ा है, तो भी निष्फल तप से क्या प्रयोजन ? समस्त शास्त्रों के परमार्थ का मन्थन कर मैं इस निर्णय पर पहुंचा हूं कि महामतिमान साधक को सिर्फ एकमात्र लोभ को नष्ट करने का पुरुषार्थ करना चाहिए।"

अब लोभविजय का उपाय बताते हैं—

लोभसागरमुद्वेलमतिवेलं महामतिः ।
संतोषसेतुबन्धेन, प्रसरन्तं निवारयेत् ॥२२॥

अर्थ— **लोभरूपी समुद्र को पार करना=लांघना अत्यन्त कठिन है। उसके बढ़ते हुए ज्वार को रोकना दुष्कर है। अतः महाबुद्धिमान पुरुष को चाहिये कि संतोषरूपी पुल बांध कर उसे आगे बढ़ने से रोक ले।**

व्याख्या—संतोष लोभ का प्रतिपक्षी मनोधर्म है। जैसे जल को रोकने के लिए बांध बांधा जाता है, वैसे ही लोभकषाय को रोकने और उस पर विजय पाने के लिए सन्तोषरूपी बांध बांधा जाना चाहिए। इस विषय में कुछ आन्तरश्लोक हैं, जिनका भावार्थ यहां प्रस्तुत करते हैं—"जैसे मनुष्यों में चक्रवर्ती और देवों में इन्द्र सर्वोत्तम माना जाता है, वैसे ही सब गुणों में सन्तोष सर्वोत्तम गुण माना जाता है। सन्तुष्ट साधु और असन्तुष्ट चक्रवर्ती इन दोनों के सुखदुःख की तुलना की जाए तो साधु अधिक सुख से युक्त मालूम होगा, और चक्रवर्ती अधिक दुःख से युक्त। संतोषामृत-पान की इच्छा से स्वाधीन बना हुआ चक्रवर्ती क्षणभर में छह खण्ड के राज्य को छोड़ कर निःसगता-निःस्पृहता अपना लेता है। जिसके जीवन में धन की तृष्णा खत्म हो गई है, उसके सामने सम्पदाएँ हाथ जोड़े खड़ी रहती है। उंगली से कान को बंद कर लेने पर कान में शब्दो के अद्वैत में वृद्धि हो जाती है; जो शब्द कान से दूर था, वह अपने आप कान में गूंजने लगता है। संतोष प्राप्त होने पर प्रत्येक वस्तु से वैराग्य हो जाता है। दोनों आँखें मूंद लेने पर निःसंदेह सारा चराचर विश्व भी ढक जायगा। जिसने केवल एक संतोष गुण को हासिल नहीं किया उसके केवल इन्द्रियों के दमन करने से और सिर्फ काया को कष्ट देने से क्या लाभ? संतोष से निश्चय ही मुक्तिलक्ष्मी के मुख का दर्शन होता है। जो शरीरधारी इस सांसारिक जिंदगी में रहते हुए भी लोभ से दूर रहता है, वह यहीं मुक्तिसुख का अनुभव करता है। क्या मुक्ति के सिर पर कोई सींग लगे होते हैं? राग-द्वेष से मिश्रित अथवा विषयजनित सुख किस काम का? क्या संतोष से उत्पन्न सुख मोक्षसुख से कम है? दूसरों को विश्वास दिलाने वाले शास्त्र के सुभाषितों के कोरे उच्चारण से कौन-सा सुख मिल जायगा? आँखें बंद करके जरा संतोष के आस्वाद से होने वाले सुख का मन में विचार करो! यदि तुम यह स्वीकार करते हो कि 'कारण के अनुरूप कार्य होता है;' तो संतोषजनित आनन्द से मोक्षानन्द की प्रतीति करो। यह ठीक है कि तुम कर्मों को निर्मूल करने के लिए तीव्र तप करते हो; किन्तु वह तप भी संतोषविहीन हुआ तो उसे निष्फल समझना। सुखार्थी मनुष्य केवल खेती, नौकरी, पशुपालन या कोई व्यापार करके कौन-सा सुख प्राप्त कर सकता है? क्या संतोषामृत का पान करने से आत्मनिवृत्तिरूप सुख का परम लाभ नहीं कर सकता? अवश्य कर सकता है। घास के बिछौने पर सोने वाले संतोषी को जो सुख मिल सकता है, वह पलंग पर या गद्दे-तकियों पर सोने वालों को कैसे नसीब हो सकता है? असंतोषी धनिक भी अपने स्वामी के सामने तिनके के समान है; जबकि संतोषी के सामने वह स्वामी भी तिनके के समान है; चक्रवर्ती और इन्द्र का वैभव परिश्रम से मिलता है लेकिन अन्त में तो वह भी नाशवान है, जबकि संतोष से मिलने वाला सुख बिना ही परिश्रम से प्राप्त होता है और वह शाश्वत भी रहता है।

इस प्रकार लोभ का सारा प्रतिपक्ष रूप परमसुख-साम्राज्यस्वरूप संतोष में जानना चाहिए। इसलिए लोभाग्नि से फँसते हुए परिताप को शान्त करने के लिए संतोषामृतरस पी कर आत्मगृह में रति करो।" इसी बात को समुच्चयरूप में एक श्लोक में कहते हैं—

क्षान्त्या क्रोधो, मृदुत्वेन मानो, मायाऽऽर्जवेन च ।
लोभश्चानीहया, जेयाः कषायाः इति संग्रहः । २३॥

अर्थ—क्रोध को क्षमा से, मान को नम्रता से, माया को सरलता से, और लोभ को निःस्पृहता=संतोष से जीते । इस प्रकार चारों कषायों पर विजय प्राप्त करना चाहिए ; यह समुच्चयरूप में निचोड़ है । यद्यपि कषायजय और इन्द्रियजय दोनों को समानरूप से मोक्ष का कारण बताया है, फिर भी एक अपेक्षा से कषायजय मुख्य है और इन्द्रियजय उसका कारण है ।

इसी बात को स्पष्ट करते हैं—

विनेन्द्रियजयं नैव, कषायान् जेतुमीश्वरः ।
हन्यते हैमनं जाड्यं, न विना ज्वलितानलम् ।२४॥

अर्थ—इन्द्रियों को जीते बिना कोई भी साधक कषायों को जीतने में समर्थ नहीं हो सकता । हेमन्तऋतु का भयंकर शीत प्रज्वलित अग्नि के बिना मिट नहीं सकता ।

भावार्थ—इन्द्रियविजय को कषायविजय का हेतु (कारण) बताया गया है । यद्यपि कषायजय और इन्द्रियजय दोनों एक ही समय में होते हैं ; फिर भी उनमें प्रदीप और प्रकाश के समान कार्यकारण भाव होता है । इन्द्रियविजय कारण है और कषायविजय कार्य है । हेमन्तऋतु की ठंड की जड़ता के समान कषाय है, और जलती हुई आग के समान इन्द्रियजय है । जिसने इन्द्रियां नहीं जीतीं, समझ लो, उसने कषायों को नहीं जीता । इन्द्रियविजय के बिना केवल कषायविजय का पुरुषार्थ आगे चल कर अपाय (आपत्ति) का कारण बनता है ।

इसे ही आगामी श्लोकों में बता रहे हैं—

अदान्तैरिन्द्रियहयैश्चलैरपथगामिभिः ।
आकृष्य नरकारण्ये, जन्तुः सपदि नीयते ॥२५॥

अर्थ—इन्द्रियरूपी घोड़ों को काबू में न करने पर वे चंचल और उन्मार्गगामी बन कर प्राणी को जबरन खींच कर शीघ्र नरकरूपी अरण्य में ले जाते हैं ।

भावार्थ—इन्द्रियों को यहाँ घोड़े की उपमा दी है । घोड़े का स्वभाव चंचल होता है, अगर सवार उस पर काबू न रखे तो वह अटपटे उजड़ बीहड़ में भगा ले जाता है ; इन्द्रियों को वश में नहीं रखने वाले को वे जबरन उन्मार्ग पर चढ़ा देती हैं और जीव को नरक में ले जाती हैं । मतलब यह है कि इन्द्रियों को नहीं जीतने पर जीव नरकगामी होता है ।

इन्द्रियों का गुलाम कैसे नरक में जाता है ? इसे कहते हैं—

इन्द्रियैर्विजितो जन्तुः कषायैरभिभूयते ।
वीरैः कृष्टेष्टकः पूर्वं वप्रः कैः कैर्न खण्ड्यते ?॥२६॥

अर्थ—जो जीव इन्द्रियों से पराजित हो जाता है, उस पर कषाय हावी हो जाते हैं ।

वीर लोग जब किले की एक ईट खींच कर खिसका देते हैं तो उसके बाद कौन उसे खण्डित नहीं कर देते ? फिर ता कमजोर आदमी भी उसे नष्टभ्रष्ट कर देते हैं।

व्याख्या—जो आत्मा इन्द्रियों पर विजय प्राप्त नहीं कर सकता, उसे कषाय भी दबा देते हैं ; वे उस पर चढ़ बैठते हैं। इसलिए कषायों को जीतने के लिए इन्द्रियों पर विजय पाने का पहले उपदेश दिया है। इसके विपरीत, जो इन्द्रियविजय का पराक्रम नहीं करता ; वह इन्द्रियों के द्वारा कषायों के अधीन हो कर नरकगामी बनता है। यहाँ शंका होती है कि कोई व्यक्ति इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने में असमर्थ हो तो उसे इन्द्रियविजय में रुकावट आ सकती है, कषायविजय में रुकावट आने का तो अवसर ही कैसे आ सकता है ? इसी का समाधान एक दृष्टान्त द्वारा करते हैं—"एक बहादुर योद्धा किले की एक ईट खींच लेता है तो उसके दुर्बल साथी भी टपाटप एक-एक ईंट खींच कर उस किले को ढहा देते हैं, इसी प्रकार इन्द्रियों से पराजित व्यक्ति साधारण मनुष्य के समान कषायों से तुरन्त पराजित हो जाता है। क्योंकि कषाय प्रायः इन्द्रियों का ही अनुसरण करते हैं। इसलिए जिसने इन्द्रियाँ वश में नहीं की ; वह कषायों से पराभूत हो कर नरक में जाता है, तथा इस लोक व इस जन्म में अपना नुकसान कर बैठता है।

इसे ही कहते हैं—

कुलघाताय पाताय, बन्धाय च वधाय च ।
अनिर्जितानि जायन्ते, करणानि शरीरिणाम् ॥२७॥

अर्थ—अविजित (काबू में नहीं की हुई) इन्द्रियाँ शरीरधारियों के कुल को नष्ट कराने वाली, पतन, बन्धन और वध कराने वाली होती हैं।

व्याख्या – इन्द्रियों का दमन न करने से ये उच्छृंखल इन्द्रियाँ इसी जन्म मे वंश का विनाश, राज्यभ्रष्टता कारागार के बन्धन और प्राणनाश को न्यौता दे देती हैं। रावण इन्द्रियो को वश न कर सका, उसने परस्त्री के साथ रमण करने की इच्छा की; इस कारण राम-लक्ष्मण ने उसके कुल का विनाश कर दिया था। यह दृष्टान्त पहले बता चुके हैं। इन्द्रियाँ वश में न होने से सुदामराजा के समान शासक राज्यच्युत या पतित हो जाता है।

एक नगर में सुदामराजा राज्य करता था। उसे अलग-अलग किस्म का मांस खाने का बहुत शौक था। वह अत्यन्त आसक्तिपूर्वक मांस खाता और अपने आप में बहुत खुश रहता था। एक दिन उसके रसोइए ने मांस पका कर रखा था, कि जरा से इधर-उधर होते ही उसे बिल्ली चट कर गई। नगर के श्रद्धालु श्रावकों ने राजा को प्रसन्न करके उस दिन अमारिपटह की घोषणा करवाई थी; इसलिए उस दिन किसी जीव का वध न होने से कहीं किसी प्रकार का मांस न मिला। अतः राजा की नाराजगी के डर से रसोइये ने किसी बालक को ला कर उसका मांस पकाया और राजा को खिला कर संतुष्ट किया। राजा को वह मांस बहुत स्वादिष्ट लगा, अतः उसने एकांत में ले जा कर रसोइये को शपथ दिला कर पूछा तो रसोईये ने सारी बात सच-सच कह दी। राजा को अब मनुष्य के मांस खाने की चाट लग गई। उसने नगरभर मे जितने भी बालक थे, उन्हें पकड़ लाने के लिए जगह-जगह सेवकों को तैनात कर दिया। नगरनिवासियों को इस बात का बात का पता लगा तो उन्होंने मंत्री, राज्याधिकारी

आदि सब को अपने पक्ष में करके एकमत हो कर राजा को खूब शराब पिला कर मूर्च्छित कर दिया। बाद मे उसे बांध कर जंगल में छोड़ आए। जिह्वेन्द्रिय के वश हो कर सुदामराजा अपने राज्य से च्युत हुआ, परिवार और कुल से अलग हुआ और जंगल में पड़ा-पड़ा कुत्ते की तरह कराहता रहा। इन्द्रियाँ जिसके वश मे नहीं, उसे चण्डप्रद्योत राजा की तरह बंधन में डाल देती हैं। इन्द्रियों के वशवर्ती मनुष्य रावण के समान मौत के मेहमान बनते हैं। इसकी कथा पहले आ चुकी है। यहाँ इस विषय कुछ आन्तर श्लोक है, जिनका भावार्थ प्रस्तुत कर रहे हैं---इन्द्रियों के विषयों में आसक्त हो कर कौन-सा जीव विडम्बना नहीं पाता? और तो और शास्त्र के परमार्थ को जानने वाले शास्त्रार्थमहारथी भी बालकवत् चेष्टा करते हैं। बाहुबलि पर भरतचक्री ने चक्र-महास्त्र फैंका था, फिर भी बाहुबलि की विजय हुई और भरत की पराजय। यह सब इन्द्रियों का ही नाटक था! वे तो उसी भव में मोक्ष जाने वाले थे फिर भी उन्होंने शस्त्रास्त्रों से संग्राम किया था: वस्तुतः गृहस्थ तो दुरन्त इन्द्रियों से बार-बार दण्डित होते हैं; यह बात तो समझ मे आती है; मगर प्रशान्तमोही पूर्वधारी साधक इन्द्रियों से दण्डित होते हैं यह बात आश्चर्यजनक है। खेद है, देव, दानव और मानव इन्द्रियों से अधिक पराजित हुए हैं। बेचारे कितने बड़े तपस्वी होते हुए भी कुत्सित कार्य करने में पीछे नहीं रहते। इन्द्रियों के वशीभूत हो कर मनुष्य अभक्ष्यभक्षण कर जाते हैं; अपेय पदार्थ पी जाते हैं, असेव्य का भी सेवन करते हैं। इन्द्रियाधीन लाचार बना हुआ मनुष्य अपने कुलशील का त्याग करके निर्लज्ज हो कर वेश्या के यहाँ नीच कार्य एवं गुलामी भी करता है। मोहान्ध पुरुष परद्रव्य और परस्त्री में जो प्रवृत्ति करता है, उसे अस्वाधीन इन्द्रियों का नाटक समझना। जीवों के हाथ, पैर, इन्द्रियां और अंगों को काट लिया जाता है, यहाँ तक कि उन्हें मार डाला जाता है, उन सबमें इन्द्रियों की गुलामी ही कारण है। इसलिए दूर से ही प्रणाम हो, ऐसी इन्द्रियों को! जो दूसरों को विनय का उपदेश देते है, और स्वयं इन्द्रियों के आगे हार खा जाते हैं, उन्हें देख कर विवेकीपुरुष मुंह पर हाथ ढक कर हंसते हैं। इस जगत में चींटी से ले कर इन्द्र तक जितने भी जीव हैं, इनमें केवल वीतराग को छोड़ कर सभी इन्द्रियों से पराजित होते हैं।"

इस प्रकार सामान्य रूप से इन्द्रियों के दोष बताए। अब स्पर्शन आदि प्रत्येक इन्द्रिय के पृथक्-पृथक् दोष पांच श्लोकों मे बताते हैं—

वशात् स्पर्शसुखास्वाद-प्रसारितकरः करी।
आलानबन्धनक्लेशमासादयति तत्क्षणात् ॥२८॥
पयस्यगाधे विचरन् गिलन् गलगलामिषम्।
मैनिकस्य करे दीनो मीनः पतति निश्चितम् ॥२९॥
निपतन् मत्त-मातङ्ग-कपोले, गन्धलोलुपः।
कर्णताललताघातात् मृत्युमाप्नोति षट्पदः ॥३०॥
[illegible]श-शिखालोकविमोहितः ।
रभसेन पतन् दीपे शलभो लभते मृतिम् ॥३१॥
हरिणो हरिणीं गीतिमाकर्णयितु-[illegible]धुरः।
अ[illegible], याति व्याधस्य वेध्यताम् ॥३२॥

अर्थ—हथिनी के स्पर्श-सुख का स्वाद लेने के लिए सूंड फैलाता हुआ हाथी क्षणभर में खंभे के बन्धन में पड़ कर क्लेश पाता है। अगाध जल में रहने वाली मछली जाल में लगे हुए लोहे के कांटे पर मांस का टुकड़ा खाने के लिए ज्यों ही आती है, त्यों ही निःसंदेह वह बेचारी मच्छीमार के हाथ में आ जाती है। मदोन्मत्त हाथी के गंडस्थल पर गंध में आसक्त हो कर भौंरा बैठता है, परन्तु उसके कान की फटकार से मृत्यु का शिकार हो जाता है। सोने के तेज के समान चमकती हुई दीपक की लौ के प्रकाश को देख कर पतंगा मुग्ध हो जाता है और दीपक पर टूट पड़ता है; जिससे वह मौत के मुंह में चला जाता है। मनोहर गीत सुनने में तन्मय बना हुआ हिरन कान तक खींचे हुए शिकारी के बाण से बिंध जाता है। मृत्यु को प्राप्त करता है।"

इसका उपसंहार करते हुए कहते है—

एवं विषय एकैकः, पञ्चत्वाय निषेवितः।
कथं हि युगपत् पञ्च, पञ्चत्वाय भवन्ति न?॥३३॥

अर्थ—इस प्रकार स्पर्शन, रसना, नासिका, चक्षु और कर्ण इन पाँचों इन्द्रियों में से एक-एक इन्द्रिय का विषय भी सेवन करने पर मृत्यु का कारण हो जाता है; तो एक साथ पांचों इन्द्रियों के विषयों का सेवन करने से मृत्यु का कारण क्यों नहीं होगा? अवश्यमेव होगा।

भावार्थ—कहा है कि 'एक में आसक्त होने से पांचों इन्द्रियों का नाश कराता है तो एक साथ जो पांचों इन्द्रियों के विषयो में मूढ़ बन कर आसक्त होता है, वह तो मर कर भस्मीभूत ही हो जाता है।'

इन्द्रियों के दोष कह कर अब उन पर विजय प्राप्त करने का उपदेश देते हैं—

तदिन्द्रियजयं कुर्यात् मनःशुद्ध्या महामतिः।
यां विना यम-नियमैः कायाक्लेशो वृथा नृणाम्॥३४॥

अर्थ—इसलिए महाबुद्धिमान साधक मन की शुद्धि द्वारा इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करे। क्योंकि इन्द्रियों पर विजय प्राप्त किये बिना यम-नियमों का पालन करना मनुष्यों के लिए व्यर्थ ही कायाक्लेश (शरीर को कष्ट देना) है।

व्याख्या—इन्द्रियां द्रव्य और भाव से दो प्रकार की हैं। चमड़ी, जीभ, नासिका, आँख और कान यह आकाररूपपरिणत जो पुद्गलद्रव्यरूप हैं, वे द्रव्य-इन्द्रिय हैं; और स्पर्श, रस, गंध, दर्शन तथा श्रवणरूप विषयों की अभिलाषा करना भावेन्द्रिय है। उसकी आसक्ति का त्याग करना तथा उस पर विजय प्राप्त करना चाहिए। इस सम्बन्ध में आन्तर श्लोकों का भावार्थ प्रस्तुत करते हैं—'इन्द्रियसमूह से पराजित जीव अनेक दुःखों से परेशान रहता है। इसलिए सभी दुःखों से मुक्त होने हेतु इन्द्रियों पर नियंत्रण रखना चाहिए। इस विषय में सर्वथा प्रवृत्ति बन्द कर देना, इन्द्रियविजय नहीं है, अपितु प्रवृत्ति रागद्वेष से रहित हो; तभी इन्द्रियविजय कहलाता है। इन्द्रियों के निकटस्थ विषयों के संयोग को हटाना असंभव है; इसलिए बुद्धिमान व्यक्ति उक्त विषय के निमित्त से होने वाले राग-द्वेष का त्याग करते हैं। संयम-योगी की इन्द्रियां सदा मारी हुई और न मारी हुई दोनों प्रकार की होती हैं। हितकर संयम-योग

में इन्द्रियाँ बिना मारी हुई रहती हैं और प्रमाद आदि अहितकर योगों मे मारी हुई रहती है। अर्थात— यमनियमों के पालन में इन्द्रियों को मारे (हनन किये) बिना ही वे सयमाराधना म तत्पर रहती हैं, लेकिन विषय, कषाय, प्रमाद आदि मे इन्द्रियाँ मारी (हनन की) जाती है। इन्द्रियों को जीतने का रहस्य यही है। इन्द्रियविजय से मोक्ष होता है और इन्द्रियों से पराजित होने पर संसार में परिभ्रमण ! दोनों का अन्तर जान कर जो हितकर (अच्छा) लगे उसी पर चलो। रूईभरे गद्दे आदि के मुलायम स्पर्श और पत्थर आदि के कठोर स्पर्श पर होने वाली रति-अरति पर कर्मबन्ध का सारा दारोमदार है। अतः स्पर्श के प्रति होने वाली रति-अरति का त्याग करके स्पर्शेन्द्रियविजेता बन। सेवन करने योग्य स्वादिष्ट एव सरस वस्तु पर प्रीति और नीरस पदार्थों पर अप्रीति को छोड़ कर भलीभांति जिह्वेन्द्रिय-विजयी बन। सुगंधित पदार्थ मिले या दुर्गन्धित ; वस्तु के पर्याय और परिणाम जान कर रागद्वेष किये बिना तू घ्राणेन्द्रिय पर विजय प्राप्त कर। मन और आँखों को आनन्द देने वाले मनोहररूप देख कर और उसके विपरीत कुरूप देख कर हर्ष या घृणा किये बिना नेत्रेन्द्रिय पर विजयी बन। वीणा और अन्य वाद्यों के मधुर कर्णप्रिय स्वरलहरी के प्रति राग और भद्दे, बीभत्स, कर्णकटु कर्कश और अपमानित करने वाले गधे, ऊंट आदि शब्द सुन कर द्वेष या रोष किये विना कर्णेन्द्रिय पर विजय प्राप्त कर। इस जगत् में कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है, जो एकान्त मनोहर हो या सर्वथा अमनोहर ; जिसका इन्द्रियों ने आज तक सभी जन्मों में अनुभव नही किया हो। फिर तू उसमे माध्यस्थभाव क्यों नहीं रखता ? तू शुभविषयों के प्रति अशुभत्व और अशुभवस्तु के प्रति शुभत्त्व की कल्पना करता है ; फिर अपनी इन्द्रियों को कैसे राग से मुक्त और विराग से युक्त बनाएगा ? तू जिस कारण से किसी वस्तु के लिए कहता है कि—इसके प्रति प्रीति (मोह) होनी चाहिए, उसी पर घृणा और द्वेष हो सकता है ! वस्तुतः पदार्थ अपने आप में न शुभ है, न अशुभ ; मनुष्य की अपनी दृष्टि ही शुभ या अशुभ होती है। अतः विरक्तचित्त हो कर इन्द्रियविषयों के आश्रवरूप राग-द्वेष का त्याग और इन्द्रियविजेता बनने का मनोरथ करना चाहिए।

इन दुर्जेय इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने का क्या उपाय है ? उसे बताते हैं—प्रथम तो मन की निर्मलता आवश्यक है, साथ ही यमनियम का पालन भी जरूरी है। वृद्धसेवा तथा शास्त्राभ्यास आदि भी इन्द्रियविजय के कारण हैं। इन सब में असाधारण कारण तो मन की शुद्धि है। दूसरे कारण ऐकान्तिक और आत्यन्तिक नहीं हैं। मन की निर्मलता के बिना यम-नियमादि होने पर भी वे इन्द्रिय-विजय के कारण नहीं हो सकते। इसी श्लोक में कहा है—'तां विना यमनियमो' इत्यादि। यम यानी पचमहाव्रतरूप मूलगुण और नियम यानो पिंडविशुद्धि-समितिगुप्तिरूप उत्तरगुण, उपलक्षण से वृद्धसेवा आदि कायापरिश्रम। किन्तु मनःशुद्धि के बिना यह सारा पुरुषार्थ निष्फल है। मरुदेवी आदि की तरह कई व्यक्तियों को तो मनःशुद्धि स्वाभाविक होती है और कई लोगों को यम-नियम आदि उपायों से मन को नियंत्रित करने पर होती है।

अनियंत्रित मन क्या करता है ? इसके बारे मे आगामी श्लोक में कहते हैं—

मनः क्षपाचरो भ्राम्यन्नपशंकं निरंकुशम् ।
प्रपातयति संसाराऽऽवर्तगर्ते जगत्त्रयीम् ॥३५॥

अर्थ— निरंकुश मन राक्षस की तरह निःशंक हो कर भाग-दौड़ करता है और तीनों जगत् के जीवों को संसाररूपी भंवरजाल के गड्ढे में गिरा देता है।

व्याख्या—मन दो प्रकार का है—द्रव्यमन और भावमन। विशिष्ट आकार में परिणत पुद्गल, द्रव्यमन है; जबकि उन पुद्गलद्रव्यों की उपाधि से उत्पन्न होने वाले संकल्परूप आत्मपरिणाम भावमन है। मन ही संकल्परूप राक्षस है, जिसका स्वभाव दुर्विषयों में प्रवृत्ति कराने का है। इस कारण यह उस-उस विषय में स्थिरता का अवलम्बन नहीं लेता। मन कैसे भ्रमण करता है? इसके उत्तर में कहते हैं – निःशंकता से। स्वरूपभावना के प्रदेश से निर्गत मन निरंकुश हो कर संसाररूपी आवर्त के गड्ढे में ऐसा गिरता है कि उससे बाहर निकलना भी कठिन हो जाता है। तीनों लोकों में ऐसा कोई भी जीव न होगा, जिसे निरंकुश मन ने संसाररूपी गर्त में न गिराया हो।

पुनः अनियन्त्रित मन के दोष बताते हैं—

तपभा· ंस्तपामुक्तौ, गन्तकामान् शरीरिणः।
वात्येव तरलं चेतः, क्षिपत्यन्यत्र कुत्रचित् ॥३६॥

अर्थ—'मुक्ति प्राप्त करने के इच्छुकों और कठोर तपश्चर्या करने वाले शरीरधारियों को भी अस्थिर (चंचल) मन यानी भावमन आंधी की तरह कहीं का कहीं फेंक देता है।'

अनियंत्रित मन के और भी दोष प्रगट करते हैं—

अनिरु· मनस्कः सन् योगश्रद्धां दधाति यः।
पद्भ्यां जिगमि· ग्रामं स पंगुरिव हस्यते ॥३७॥

अर्थ—मन का निरोध किये बिना ही जो मनुष्य योग प्राप्त होने का विश्वास कर लेता है; उसकी वह योगश्रद्धा लंगड़े आदमी द्वारा दूसरे गाँव जाने की इच्छा की तरह विवेकी लोगों में हंसी का पात्र बनती है।

मनोनिरोध न करने से केवल योगश्रद्धा ही निष्फल है, इतना ही नहीं, ऐसा चंचल मन अनेक अशुभकर्मों को आने का न्यौता दे देता है; इस बात को आगामी श्लोक के उत्तरार्द्ध से बता कर पूर्वार्द्ध से मनोनिरोध का फल बताते हैं—

मनोरोधे निरुध्यन्ते कर्माण्यपि समन्ततः।
अनिरुद्धमनस्कस्य, प्रसरन्ति हि तान्यपि ॥३८॥

अर्थ – विषयों से मन को रोक लेने से चारों ओर से कर्मों के आगमन (आस्रव) रुक जाते हैं। जो मनुष्य मन का निरोध नहीं करता, उसके कर्म चारों ओर से बढ़ते जाते हैं।

भावार्थ—मनोनिरोध से ज्ञानावरणीय आदि कर्म आने से रुक जाते हैं, क्योंकि कर्मों का आगमन (आस्रव) मन के अधीन है। जो मन का निरोध नहीं करता, वह कर्मों को बढ़ाता है; क्योंकि कर्मबन्धन निरंकुश मन के अधीन है। इसलिए मन पर नियन्त्रण करने का प्रयत्न अवश्य करना चाहिए।

इसी बात को कहते हैं—

मनः कपिरयं वि· वपरिभ्रमणलम्पटः।
नियंत्रणीयो यत्नेन ·क्तिमिच्छुभिरात्मनः ॥३९॥

अर्थ—मन बंदर है, ऐसा बंदर, जो सारे विश्व में भटकने का शौकीन है। अतः मोक्षाभिलाषी पुरुष को अपने मनमर्कट को प्रयत्नपूर्वक वश में करना चाहिए।

व्याख्या—मन बंदर की तरह चंचल है; यह बात सर्वत्र अनुभवसिद्ध है। मन और बंदर की समानता बताते हैं—बंदर जैसे जंगल में स्वच्छन्द भटकता है, उसके भ्रमण पर कोई अंकुश नहीं होता; वैसे ही मन भी विश्वरूपी अरण्य में बेरोकटोक भटकता है। इसीलिए कहा है—मन भिन्न-भिन्न विषयों को पकड़ कर चंचलतापूर्वक भ्रमण करने का शौकीन है। ऐसे अनियंत्रित मन की चपलता को छुड़ा कर उसे उचित विषयों में लगा देना चाहिए। वह कैसे लगाया जाय? अभ्यासरूप प्रयत्न से। ऐसा कौन करे? आत्मा की मुक्ति का इच्छुक। आशय यह है कि मन की चपलता को रोकने वाला ही मुक्ति की साधना में समर्थ हो सकता है।

अब इन्द्रियविजय में कारणभूत मनःशुद्धि की प्रशंसा करते हैं—

दीपिका खल्वनिर्वाणा, निर्वाणपथदर्शिनी।
एकैव मनसः शुद्धिः समाम्नाता मनीषिभिः ॥४०॥

अर्थ—पूर्वाचार्यों ने माना है कि—यम-नियम आदि के बिना अकेली मनःशुद्धि भी ऐसी दीपिका है, जो कभी बुझती नहीं और सदा निर्वाणपथ दिखाने वाली है।

भावार्थ—कहा भी है—ज्ञान, ध्यान, दान, मान, मौन आदि शुभयोग में कोई अत्यन्त उद्यम करता हो, लेकिन उसका मन साफ (निर्मल) न हो तो उसका वह उद्यम राख में घी डालने जैसा समझना चाहिए।

अब अन्वय-व्यतिरेक से मनःशुद्धि से अन्यान्य लाभ बताने की दृष्टि से उपदेश देते हैं—

सत्यां हि मनसः शुद्धौ सन्त्यसन्तोऽपि यद् गुणाः।
सन्तोऽप्यसत्यां नो सन्ति, सैव कार्या बुधैस्ततः ॥४१॥

अर्थ—यदि मन की शुद्धि हो और दूसरे गुण न हों, तो भी उनके फल का सद्भाव होने से क्षमा आदि गुण रहते ही हैं; इसके विपरीत, यदि मन की शुद्धि न हो तो दूसरे गुण होने पर भी क्षमा आदि गुण नहीं हैं, क्योंकि उसके फल का अभाव है। इस कारण विवेकी पुरुषों को अवश्य ही फलदायिनी मनःशुद्धि करनी चाहिए।"

जो ऐसा कहते हैं कि 'मनःशुद्धि की क्या आवश्यकता है? हम तो तपोबल से मुक्ति प्राप्त कर लेंगे। उन्हें प्रत्युत्तर देते हैं—

मनः शुद्धिमबिभ्राणा, ये तपस्यन्ति मुक्तये।
त्यक्त्वा नावं भुजाभ्यां ते, तितीर्षन्ति महार्णवम् ॥४२॥

अर्थ—जो मनुष्य मनःशुद्धि किए बिना मुक्ति के लिए तपस्या का परिश्रम करते हैं; वे नौका को छोड़ कर भुजाओं से महासागर को पार करना चाहते हैं।"

'तप-सहित ध्यान मुक्ति देने वाला है' यों कह कर जो मनःशुद्धि की उपेक्षा करते हैं और 'ध्यान ही कर्मक्षय का कारण है' ऐसा प्रतिपादन करते हैं, उन्हें उत्तर देते हैं—

तपस्विनो मनःशुद्धि विनाभूतस्य सर्वथा ।
ध्यानं खलु मुधा चक्षुर्विकलस्येव दर्पणः ॥४३॥

अर्थ अंधे के लिए जैसे दर्पण व्यर्थ है, उसी प्रकार मनःशुद्धि के बिना कोरे तपस्वी का ध्यान करना सर्वथा निरर्थक है ।

भावार्थ यद्यपि मनःशुद्धि के बिना तप और ध्यान के बल से नौ ग्रैवेयक तक चला जाता है ; ऐसा सुना जाता है । परन्तु वह कथन प्रायिक समझना चाहिए । और ग्रैवयकप्राप्ति तो संसारफल है, जिसे फल की गणना में नहीं माना गया है ; जिसका फल मोक्ष हो, उसे ही यहाँ फल माना गया है। इसलिए मनःशुद्धि के बिना कोरे ध्यान से मोक्षफल की अपेक्षा रखना व्यर्थ है । यद्यपि दर्पण रूप देखने का साधन है । परन्तु जिसके आँखें नहीं हैं, उसके लिए दर्पण बेकार है ; इसी तरह मनःशुद्धि के बिना ध्यान व्यर्थ है ।

अब उपसंहार करते हैं—

तदवश्यं मनःशुद्धिः कर्तव्या सिद्धिमिच्छता ।
तपः-श्रुत-यमप्रायैः किमन्यैः कायदण्डनैः?॥४४॥

अर्थ—अतः सिद्धि (मुक्ति) चाहने वाले साधक को मन की शुद्धि अवश्य करनी चाहिए । अनशनरूप तप, श्रुत (शास्त्र) का स्वाध्याय, महाव्रतरूप यम और भी दूसरे नियम रूप अनुष्ठान करने से सिवाय कायक्लेश (शरीर को दण्ड देने) के और क्या लाभ मिलेगा ?

व्याख्या—यहाँ यह बात भी जोड़नी चाहिए कि 'मन की शुद्धि कैसे होती है ? लेश्या की विशुद्धि से मन की निर्मलता होती है । इसलिए प्रसंगवश यह बताते हैं कि लेश्याएँ कौन-कौन-सी हैं ?

लेश्याओं का वर्णन

लेश्याएँ छह हैं – कृष्ण, नील, कापोत, तेजो, पद्म और शुक्ल । कर्मवर्गणा के अनुरूप वर्ण-द्रव्य की सहायता से आत्मा में तदनुरूप परिणामों का आना लेश्या है । यद्यपि आत्मा तो स्फटिक के समान निर्मल-स्वच्छ है । किन्तु कृष्ण आदि लेश्याद्रव्य को ले कर ही आत्मा में लेश्या-शब्द का व्यवहार होता है । काले रंग के अशुभपुद्गलों के सन्निपात से आत्मा के परिणाम अशुद्धतम होते हैं । इस कारण वह आत्मा कृष्णलेश्याधिकारी माना जाता है । नीले रंग के द्रव्यों के सन्निकर्ष से आत्मा के परिणाम अशुद्धतर होते हैं, इसलिए वह आत्मा नीललेश्याधिकारी माना जाता है । कापोतवर्ण वाले द्रव्य के सन्निधान से आत्मा के परिणाम अशुद्ध होते हैं, इस कारण वह आत्मा कापोतलेश्यावान् कहलाता है । पीतवर्ण वाले द्रव्य के सन्निधान से आत्मा के परिणाम तदनुरूप शुद्ध होते हैं, इससे आत्मा तेजोलेश्या वाला कहलाता है । पद्मवर्ण वाले द्रव्यों के सन्निकट होने से आत्मा के परिणाम तदनुरूप शुद्धतर होते हैं, इसलिए वह आत्मा पद्मलेश्यायुक्त माना जाता है । और शुक्लवर्ण वाले द्रव्यों के सान्निध्य से आत्मा के परिणाम शुद्धतम (बिलकुल शुद्ध) होते हैं, इसलिए वह आत्मा शुक्ललेश्यावान् होता है । कृष्ण, नील आदि समस्त द्रव्यकर्मप्रकृतियों का निःस्यंद (निचोड़) उस-उसकी उपाधि से निष्पन्न होने वाली भावलेश्या है । वही कर्म के स्थितिबन्ध में कारणभूत है । प्रशमरतिप्रकरण की ३८वीं गाथा में कहा है—"कृष्ण,

नील, कापोत, तैजस, पद्म, और शुक्ल नाम की ये ६ लेश्याएँ हैं; जो कर्मबन्ध की स्थिति को उसी तरह सुदृढ़ कर देती हैं, जिस तरह चित्रकर्म में सरेस रंग को स्थायी व पक्का बना देता है।" इस तरह पूर्वोक्त छह लेश्याएँ आत्मा के परिणामरूप होने से अशुद्धतमा, अशुद्धतरा, अशुद्धा, शुद्धा शुद्धतरा, और शुद्धतमा कहलाती हैं। लेश्याओं का स्वरूप समझाने के लिए जामुन के पेड़ का तथा ग्रामघातक का दृष्टान्त विस्तृतरूप से दिया जाता है। अतः इस विषय को समझाने वाली आगमोक्त गाथाओं का भावार्थ यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं—"एक जंगल में छह पुरुषों ने एक जामुन का पेड़ देखा, जो पके हुए फलों से परिपूर्ण था, और उसकी डालियाँ भार से नमी हुई थीं। पेड़ को ऐसी हालत में देख कर सभी ने जामुन खाने की अपनी-अपनी इच्छा प्रगट की और कहने लगे—"जामुन कैसे खाएँ ?' उनमें से एक ने कहा—"इस पेड़ पर चढ़ना तो बहुत मुश्किल है, जान का खतरा है; इसलिए इसे जड़ से ही काट दिया जाय, ताकि निश्चिन्त होकर जामुन खा सकें।" दूसरे ने कहा—"अजी! इतने बड़े पेड़ को काटने से क्या फायदा होगा? हमें फल ही खाने हैं, तो सिर्फ इस पेड़ की बड़ी-बड़ी डालियाँ काट कर नीचे गिरा लें, और फिर खाएँ।" तीसरे ने कहा हमारा काम तो छोटी डालियाँ काट लेने से ही चल जायगा, फिर बड़ी डालियाँ काटने से क्या मतलब ?' चौथे ने कहा—"अजी! फल के गुच्छे-गुच्छे तोड़ लेने से ही हमारा काम बन जायगा।' पांचवें ने कहा—"हमें तो सिर्फ पके हुए खाने लायक फलों को ही तोड़ लेना चाहिए।' सबसे अन्त में छठे ने कहा—'हमें पेड़ से फल तोड़ने की क्या आवश्यकता है? जितने फल खाने हैं, उतने तो पेड़ के नीचे गिरे पड़े हैं, उन्हें ही ले कर खा लें।' इस दृष्टान्त का उपनय करते हुए कहते हैं—जिसने पेड़ को जड़ से काटने को कहा था, वह कृष्णलेश्यावाला है; जिसने बड़ी शाखाओं के काटने को कहा था, वह नीललेश्या वाला है; जिसने छोटी टहनियाँ काटने का कहा था, वह कापोत-लेश्या वाला है; जिसने गुच्छे-गुच्छे तोड़ लेने को कहा था, वह तेजोलेश्या वाला है; जिसने सिर्फ पके फल तोड़ने का कहा था, वह पद्मलेश्यावान् है और जिसने पेड़ से टूट कर अपने आप धरती पर पड़े हुए फलों को लेने को कहा था; वह शुक्ललेश्यावाला है।

इसे एक दूसरे दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं—"एक बार छह लुटेरे किसी गाँव को लूटने के लिए चले। उनमें से एक लुटेरे ने कहा—"गाँव में दो पैर वाले या चार पैर वाले जो भी प्राणी मिलें, सबको मार डालो।" दूसरे ने कहा—"चार पैर वाले पशुओं को क्यों मारा जाय, सिर्फ दो पैर वाले मनुष्यों को मारना चाहिए।" तीसरे ने कहा—"अजी, स्त्रियों को क्यों मारा जाय! सिर्फ पुरुषों को ही मार डाला जाय!" चौथे ने कहा—"सभी पुरुषों को न मार कर जिनके पास हथियार हों, उन्हें ही मार डाला जाय!" पांचवें ने कहा—अजी! हमें तो उसको मारना चाहिए; जो हमारे सामने आ कर लड़ाई करे! तब छठे ने कहा—"छोड़ो मारने की बात को! हमें तो केवल धन ले लेना चाहिए।" इसका उपसंहार यों हैं—'जो सभी को मारने का कहता था, वह कृष्णलेश्या के परिणाम वाला था; जो मनुष्यों का मारने का कहता था, वह नीललेश्यावान् जो केवल पुरुषों को मारने का कहता था, वह कापोतलेश्यायुक्त, जो केवल शस्त्र-अस्त्रवालों को मारने का कहता था, वह तेजोलेश्यावान्, जो सामने आ कर लड़ने वाले को मारने का कहता था, वह पद्मलेश्यावान् एवं जो केवल धन ले लेने की बात कहता था, वह शुक्ललेश्यावाला के परिणामों से युक्त था। इन छहों लेश्याओं में प्रथम तीन लेश्याएँ अप्रशस्त (खराब) हैं और अन्तिम तीन लेश्याएँ प्रशस्त (अच्छी) हैं। जब जब आत्मा विशुद्ध, विशुद्धतर होता जाता है, तब तब लेश्याएँ बदलती रहती हैं। मृत्यु के समय जिस लेश्या के परिणाम होते हैं, तदनुसार ही जीव को गति प्राप्त होती है। इसीलिए भगवान् ने कहा—'जल्लेसे मरइ तल्लेसे उववज्जई';

अर्थात् जीव जिस लेश्या में मरता है, उसी लेश्यावाली गति में पैदा होता है।' भगवद्गीता आदि अन्य धर्मग्रन्थों में भी कहा है—'अन्ते च नरतश्रेष्ठ ! या मतिः, सा गतिर्नृणाम्' अर्थात् अन्तिम समय में जैसी मति होती है, तदनुसार ही मनुष्यों की गति होती है।' यहाँ जो 'मति' शब्द का प्रयोग किया गया है, वह चेतनारूप है ; तब फिर 'जैसी मति वैसी गति' यह बात इसके साथ कैसे संगत हो सकती है ? हाँ मति का अर्थ अशुद्धतम आदि परिणाम किया जाय, तब तो परमर्षि का यह कथन युक्तिसंगत हो सकता है। छह लेश्याओं में से कृष्णलेश्यावाला जीव नरकगति में, नीललेश्यावाला जीव स्थावरयोनि में, कपोत लेश्यावाला जीव तिर्यंचगति में, पीतलेश्या वाला जीव मनुष्यगति में, पद्मलेश्या वाला देवगति में और शुक्ललेश्या वाला जी मोक्ष में जाता है। अधिक क्या कहें, अशुद्धलेश्याओं को छोड़ कर शुद्ध लेश्याओं को स्वीकार करने से ही मन की उत्तरोत्तर शुद्धि हो सकती हैं।

इसी प्रकार मन.शुद्धि के कुछ छुटपुट उपाय बताते हैं—

मनःशुद्ध्यैव कर्त्तव्यो राग-द्वेष-विनिर्जयः ।
कालुष्यं येन हित्वाऽऽत्मा स्वस्वरूपेऽवतिष्ठते ।।४५।।

अर्थ—आत्मस्वरूप भावमन की शुद्धि के लिए प्रीति-अप्रीतिस्वरूप राग-द्वेष का निरोध करना चाहिए। अगर रागद्वेष उदय में आ जाएँ तो उन्हें निष्फल कर देने चाहिए। ऐसा करने से आत्मा मलिनता (कालुष्य) का त्याग करके अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाता है।

रागद्वेष की दुर्जयता तीन श्लोकों द्वारा समझाते हैं—

आत्मायत्तमपि स्वान्तं, कुर्वतामत्र योगिनाम् ।
रागादिभिः समाक्रम्य, परायत्तं विधीयते ।।४६।।
रक्ष्यमाणमपि स्वान्तं, समादाय मनाग् मिषम् ।
पिशाचा इव रागाद्याश्छलयन्ति मुहुर्मुहुः ।।४७।।
रागादितिमिरध्वस्तज्ञानेन मनसा जनः ।
अन्धेनाऽन्ध इवाकृष्टः पात्यते नरकावनौ ।।४८।।

अर्थ—'योगियों के समान अपने मन को वशीभूत करने का प्रयत्न करते-करते बीच में ही राग-द्वेष-मोह आदि विकार हमला करके क्षणभर में मूढ़ और द्वेषी बना कर रागादि के अधीन कर देते हैं।'

'यम-नियम आदि से भावमन की विकारों से रक्षा करते हुए भी योगियों के मन को रागादि पिशाच कोई न कोई प्रमादरूपी बहाना ढूँढ कर बार-बार छलते रहते हैं। जैसे मंत्रतंत्रादि द्वारा पिशाचों से रक्षा करने पर भी मौका पा कर छल से वे साधक को पराधीन कर देते हैं, वैसे ही रागादि पिशाच योगियों के मन को छलते रहते हैं।'

'रागादिरूपी अन्धकार से जिसके सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन नष्ट हो जाते हैं, उस योगी का मन उसी तरह खींच कर नरक के कुंए में गिरा देता है, जिस तरह एक अन्धा दूसरे अन्धे को खींच कर कुंए में गिरा देता है।'

भावार्थ--अन्धकार आंख के प्रकाश को ढक देता है ; इसी प्रकार रागादि भी आत्मा के सम्यग्ज्ञान-सम्यग्दर्शनरूपी प्रकाश को ढक देते हैं। इस कारण जब साधक के ज्ञान और दर्शन (तत्त्वप्रज्ञा) नष्ट हो जाते हैं तो दर्शनज्ञानभ्रष्ट मन उसे अपने वश में करके नरक के कुंए में गिरा देता है। जैसे एक अन्धा दूसरे अन्धे को कुंए में गिरा देता है, वैसे ही रागादि से अन्धा मानस, मानसिक अन्ध मनुष्य को भी नरक के कुंए में गिरा देता है। मतलब यह है कि मन से अन्धा हो कर मनुष्य नरक के कुंए में गिरता है।

इसी विषय में लिखित कुछ आन्तरश्लोकों का भावार्थ यहां प्रस्तुत करते हैं—

द्रव्यादि चार पर रति, प्रीति, मोह या आसक्ति को राग कहते हैं और उन्हीं पर अरति, अरुचि, घृणा या ईर्ष्या को द्वेष कहते हैं। राग और द्वेष, ये दोनों सभी जीवों के लिए महाबन्धन हैं। इन्हें ही समस्तदुःखरूपी वृक्ष के मूल और स्कन्ध कहा है। यदि जगत् में राग और द्वेष ये दोनों न होते तो सुख को देख कर कौन विस्मित और हर्षित होता ? दुःख से कौन दीन-हीन बनता ? और कौन मोक्ष नहीं प्राप्त कर लेता ? सब ही प्राप्त कर लेते। राग के बिना अकेला द्वेष नहीं होता और द्वेष के बिना अकेला राग नहीं होता। दोनों में से किसी एक को छोड़ देने पर दोनों ही छूट जाते हैं। काम आदि दोष राग के सेवक हैं और मिथ्याभिमान आदि द्वेष के परिवार के हैं। राग और द्वेष का पिता, नायक, बीज और परमस्वामी, इन दोनों से अभिन्न और दोनों से रक्षित-पालित, समस्त दोषों का पितामह मोह है। इस प्रकार ये तीनों दोष मुख्य हैं। इनके सिवाय ऐसा कोई दोष नहीं है, जिसका समावेश इनमें न हो सके। ये ही तीन जगत् के समस्त जीवों को संसाररूपी अरण्य में परिभ्रमण कराते हैं। जीव (आत्मा) स्वभावतः स्फटिकरत्न के समान सर्वथा निर्मल है, परन्तु इन रागादि उपाधियों के कारण वह रागादिस्वरूप कहलाता है। अफसोस ! ये रागादि चोर देखते ही देखते जीव की आत्मिक सम्पत्ति का हरण कर लेते हैं। इनके कारण विश्व अराजक बना हुआ है ; अथवा अपने स्वरूप में स्थित जीव का अपने सामने ही इन रागादि लुटेरों से सर्व ज्ञान लुट जाता है। निगोद में जितने जीव हैं और जो जीव कुछ ही समय में मुक्ति में जाने वाले हैं, वे सभी इन निष्करुण मोहादि सेना के अधीन हो जाते हैं। अरे ! रागादि-दोषो ! क्या तुम्हें मुक्ति के साथ या मुमुक्षु के साथ वैर है कि इन दोनों के योग (रत्नत्रयमय) को रोकते हो ?' तुम्हें (रागादि दोषों को) क्षय करने में समर्थ तो अरिहन्त ही हैं। उनके समान और कोई समर्थ नहीं है। उन्होंने जगत् को जला देने वाली दोषाग्नि शान्त कर दी है। जिस प्रकार व्याघ्र, सर्प, जल और अग्नि पास में हों तो मुनि डरते नहीं हैं, इसी प्रकार दोनों लोकों में, इस जन्म और आगामी जन्मों में अपकारकर्ता रागादि से भी मुनि नहीं डरते। वास्तव में उनके पास रागरूपी सिंह और द्वेषरूपी बाघ बैठे रहते हैं, क्योंकि उन योगियों ने मार्ग ही महासंकट का चुना है।

अब रागद्वेष पर विजय पाने का उपाय बताते हैं—

अस्ततन्द्रैरतः पुम्भिर्निर्वाणपदकांक्षिभिः।
विधातव्यः समत्वेन रागद्वेषद्विषज्जयः ॥४९॥

अर्थ—अतः निर्वाणपद पाने के अभिलाषी योगी पुरुषों को तन्द्रा (प्रमाद) छोड़ कर सावधानी के साथ समत्व के द्वारा रागद्वेषरूपी शत्रुओं पर विजय प्राप्त करना चाहिए।

रागद्वेष को जीतने के लिए समता का उपाय कैसा है ? इसे बताते हैं—

अम[illegible]जनन, [illegible]णे मज्जताम् ।
जायते सहसा पुंसा, रागद्वेषमलक्षयः ॥५०॥

अर्थ—जैसे जल में स्नान करने से मैल दूर हो जाता है, उसी तरह अतीव आनन्द-जनक समभावरूपी जल में स्नान करने वाले पुरुषों का भी रागद्वेषरूपी मैल सहसा दूर हो जाता है ।

समत्व केवल एक रागद्वेष को ही नहीं मिटाता ; अपितु समस्त कर्मों को भी क्षय करता है। उसे ही कहते हैं—

प्रणिहन्ति क्षणार्धेन, साम्यमालम्ब्य कर्म तत् ।
यन्न हन्यान्नरस्तीव्रतपसा जन्मकोटिभिः ॥५१॥

अर्थ करोड़ों जन्मों तक तीव्र तपस्या करके जिन ज्ञानावरणीय आदि कर्मों को मनुष्य नष्ट नहीं कर सकता ; उन्हीं कर्मों को समता का आश्रय ले कर मनुष्य आधे क्षण में नष्ट कर सकता है ।

साधक समभाव से अन्तर्मुहूर्त में किस तरह समस्त कर्मों को नष्ट कर देता है, इसे कहते हैं—

कर्म जीवं च संश्लिष्टं परिज्ञातात्मनिश्चयः ।
विभिन्नीकुरुते साधुः सामायिकशलाकया ॥५२॥

अर्थ--कर्म और जीव परस्पर संश्लिष्ट (जुड़े=चिपके हुए) हैं। जिसे आत्मस्वरूप का निश्चित ज्ञान हो गया है, वह साधु समभाव=सामायिकरूपी सलाई से इन्हें पृथक् कर लेता है ।

व्याख्या-- जीव और कर्म का संयोग हुआ है ; ये दोनों अलग-अलग हैं ; एक नहीं हैं ; इस प्रकार जिसने आत्मनिश्चय से जाना है, वह मुनि सामायिकरूपी शलाका से जीव और कर्म को पृथक्-पृथक् कर लेता है। जैसे श्लेषद्रव्य से आपस में चिपके हुए पात्रादि को सलाई से अलग कर दिया जाता है, उसी तरह संयोग-सम्बन्ध से सम्बद्ध जीव और कर्म को भी सामायिक से पृथक् किया जा सकता है। इसी का नाम कर्मक्षय है ; निर्वाणपद की प्राप्ति है। पुद्गलों का आत्यन्तिक-सर्वथा क्षय कदापि नहीं होता, क्योंकि द्रव्य नित्य है। आत्मा से कर्म-पुद्गलों के पृथक् हो जाने को ही कर्मक्षय कहते हैं। यहाँ शंका होती है कि 'साधु सामायिकरूपी सलाई से कर्मों को अलग कर देते हैं, यह कथन केवल वाणी-विलास है।' इसका समाधान करते हैं कि आत्मज्ञान का अभ्यास करते-करते जब ज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशम से जो आत्मस्वरूप का निर्णय भलीभांति कर लेता है ; अनुभव कर लेता है, वह आत्मा जीव और कर्म को सामायिक-शलाका से अलग कर सकता है। वह बार-बार स्वसंवेदन-आत्मानुभव से आत्मा का दृढ़ निश्चय करता है कि आत्मस्वरूप को आवृत करने-ढकने वाले कर्म आत्मा से भिन्न-स्वरूप वाले हैं।' वही साधक परमसामायिक के बल से जीव और कर्म को अलग-अलग करता है।

आत्म-निश्चय के बल से साधक केवल कर्म को ही अलग करता है ; इतना ही नहीं, किन्तु आत्मा को परमात्म-स्वरूप का दर्शन भी कराता है। इसे ही कहते हैं—

रागादिध्वान्तविध्वंसे, कृते सामायिकांशुना ।
स्वस्मिन् स्वरूपं पश्यन्ति योगिनः परमात्मनः ॥५३॥

अर्थ—सामायिकरूपी सूर्य के द्वारा राग, द्वेष और मोह का अन्धकार नष्ट कर देने पर योगी पुरुष अपनी आत्मा में परमात्म-स्वरूप का दर्शन कर लेते हैं।

व्याख्या—आत्मस्वरूप का निरोध करने वाले होने से रागादि ही अन्धकार हैं। उनका नाश सामायिकरूपी सूर्य से होता है। अतः प्रत्येक आत्मा में स्वाभाविकरूप से परमात्मस्वरूप निहित है; उस स्वरूप को तब योगीपुरुष देखने लगते हैं। वास्तव में विचार करें तो सभी आत्मा परमात्मस्वरूप ही है। प्रत्येक आत्मा में केवलज्ञान का अंश निहित है। आगम में परममहर्षियों ने कहा है—**'सव्वजीवाणं पि अ णं अक्खरस्साणंतभागो निच्चुग्घाडिओ चेव।'** अर्थात् सभी जीवों में अक्षर का अनन्तवां भाग नित्य अनावृत=खुला रहता है।' सिर्फ रागादि दोषों से कलुषित होने के कारण ही आत्मा में साक्षात् परमात्म-स्वरूप प्रगट नहीं होता। सामायिकरूपी सूर्य का प्रकाश होने से रागादि-अंधकार दूर हो जाता है और आत्मा में परमात्म-स्वरूप प्रगट हो जाता है।

अब समता के प्रभाव का वर्णन करते हैं—

स्निह्यन्ति जन्तवो नित्यं, वैरिणोऽपि परस्परम् ।
अपि स्वार्थकृते साम्यभाजः साधोः प्रभावतः ॥५४॥

अर्थ यद्यपि साधु अपने स्वार्थ के लिए समत्व का सेवन करते हैं; फिर भी समभाव की महिमा ऐसी अद्भुत है कि उसके प्रभाव से नित्य वैर रखने वाले सर्प-नकुल जैसे जीव भी परस्पर प्रेम-भाव धारण कर लेते हैं।

व्याख्या—कहने का तात्पर्य यह है कि समभाव का ऐसा प्रभाव है कि चाहे साधक ने अपने लिये समभाव किया; मगर नित्यशत्रु भी परस्पर मैत्रीभाव रखने लगते हैं। इसलिए पंडितजन स्तुति करते हैं कि "देव! हाथी केसरीसिंह के पैर को सूंड से खींच कर अपने कपोल-स्थल के साथ खुजलाता है, सर्प नेवले के मार्ग को रोक कर खड़ा रहता है, सिंह विशाल गुफा के समान मुंह फाड़े तैयार रहता है; किन्तु मृग बार-बार विश्वास से उसे सूंघता है। जहाँ ऐसे क्रूर पशु भी शान्तचित्त हो जाते हैं, ऐसे सभी के साम्यस्थान=समवसरणभूमि की मैं प्रार्थना=स्तुति करता हूं।" लेकिन शास्त्रों ने भी साम्य-युक्त योगी की स्तुति इस प्रकार की है। योगियों के पास जाने से वैर छूट जाता है। इस विषय के आन्तरश्लोकों का भावार्थ कहते हैं—"चेतन और अचेतन पदार्थ में, इष्ट और अनिष्ट में जिसका मन नहीं मुर्झाता उसे साम्य कहते हैं। कोई आ कर गोशीर्ष-चन्दन से शरीर पर लेप करे अथवा कोई शस्त्र से भुजाओं का छेदन करे; फिर भी चित्तवृत्ति रागद्वेष से रहित रहे, उसे अनुत्तर साम्य कहते हैं। कोई स्तुति करे, तो उस पर प्रीति न हो, और कोई श्राप दे निंदा करे तो उस पर द्वेष न हो, परन्तु दोनों के प्रति जिसका चित्त समान रहे, वही साधक साम्य का अवगाहन करता है। इसमें किसी प्रकार का हवन, तप अथवा दान करना नहीं पड़ता। वस्तुतः बिना मोल के खरीदे हुए साम्यमात्र से ही यह निर्वृत्ति होती है। उत्कृष्ट और क्लिष्ट प्रयत्नसाध्य रागादि की उपासना करने से क्या लाभ? क्योंकि बिना प्रयत्न से मिलने वाला यह मनोहर सुख तो साम्य ही देता है। तू इसी का आश्रय ले। परोक्ष पदार्थ को नहीं मानने वाला नास्तिक स्वर्ग और मोक्ष को नहीं मानेगा; परन्तु वह स्वानुभवजन्य

साम्यसुख का तो अपलाप नहीं कर सकेगा। कवियों के प्रलाप में मस्त बन कर उस कल्पित अमृत में क्यों मूढ़ बना है ? अरे मूढ़ ! आत्म-संवेद्यरसरूपी साम्यामृत के रसायन का पान कर। खाने योग्य, चाटने योग्य, पीने योग्य और चूसने योग्य रसों से विमुख बने हुए भी साधु भी बार-बार स्वेच्छा से साम्यामृत-रस का पान करते हैं। गले में सर्प लिपटा हो या कल्पवृक्ष के पुष्पों की माला पड़ी हो ; फिर भी जिसे अप्रीति या प्रीति नहीं होती, वही समता का धनी है। साम्य कोई गूढ़ पदार्थ या किसी आचार्य द्वारा देय मुष्टिरूप उपदेश अथवा और कुछ भी नहीं है। बालक हो या पण्डित ; दोनों के भवरोग मिटाने के लिए साम्य एक तीसरी औषधि है। शान्त योगी जो अत्यन्त क्रूर कर्म करते हैं, वे भी साम्य-शस्त्र से रागादि-परिवार को नष्ट करते हैं। समभाव का यह परम प्रभाव तुम भी प्राप्त करो !, जो पापियों को भी क्षणभर में परमस्थान प्राप्त कराता है। उसी समभाव की उपस्थिति में रत्नत्रय की सफलता है, किन्तु उसके अभाव में निष्फलता है। ऐसे महाबलवान उस समभाव को नमस्कार हो ! समस्त शास्त्रों और उनके अर्थों का अवगाहन करने के बाद उच्चस्वर से चिल्ला-चिल्ला कर हम तुम्हें कहते हैं कि इस लोक में अथवा परलोक में अपने को या दूसरों को साम्य के बिना और कोई सुख देने वाला नहीं है। उपसर्ग के अवसर पर या मृत्यु के समय इस कालोचित साम्य के बिना और कोई उपाय नहीं है, शान्ति का। राग-द्वेष आदि शत्रुओं का नाश करने में निपुण अनेक प्राणियों ने साम्य-साम्राज्य-लक्ष्मी का उपभोग करके शाश्वत शुभगति और उत्तम पदवी प्राप्त की है। इस कारण इस मनुष्यजन्म को सफल करने का इच्छुक साधक निःसीम सुखसमूह से परिपूर्ण इस साम्य-समभाव को प्राप्त करने में प्रमाद न करे।"

यहाँ शंका होती है कि 'सभी दोषों के निवारण का कारण समत्व है, इसे जान कर तो हमें प्रसन्नता है, किन्तु यदि उस साम्य का प्रतिरोधी कोई उपाय हो और उस उपाय के निवारण का भी दूसरा उपाय हो, एव उसे हम सहजभाव से कर सकें, तो हम निराकांक्ष हो कर आनन्द का अनुभव कर सकेंगे।' इसका समाधान मन में सोच कर दो श्लोकों में करते हैं—

साम्य स्यात् निर्ममत्वेन तत्कृते भावनाः श्रयेत् ।
अनित्यताशरणभवमेकत्वमन्यताम् ॥५५॥
अशौचमाश्रवविधिं, सवंरं कर्मनिर्जराम् ।
धर्मस्वाख्याततां लोकं, द्वादशीं बोधिभावनाम् ॥५६॥

अर्थ एवं व्याख्या - पूर्वोक्त साम्य ममत्वरहित होने से होता है। प्रश्न होता है कि साम्य और निर्ममत्व में क्या अन्तर है ? उत्तर देते हैं—साम्य राग, और द्वेष इन दोनों का विरोधी-प्रतिपक्षभूत है ; जबकि निर्ममत्व सिर्फ राग का विरोधी है। इसलिए दोनों को रोकने के लिए साम्य कहा है। अतः शक्तिशाली राग का विनाश करने वाला निर्ममत्व उपाय भी साम्य में समाविष्ट हो जाता है। जैसे बलवान् सैन्य हो, उसमें किसी बलवान् का विनाश हो गया हो तो, दूसरों का भी विनाश करने में कठिनता नहीं होती ; इसी तरह संग के निग्रह का प्रधानहेतु निर्ममत्व है, वही हीनबल वाले द्वेषादि के विनाश के लिए हो सकता है। अधिक क्या कहें ! निर्ममत्व का उपाय बताते हैं निर्ममत्वभाव जागृत करने के लिए योगी को अनुप्रेक्षाओं-भावनाओं का आलम्बन लेना चाहिए। उन बारह भावनाओं के नाम इस प्रकार है—(१) अनित्यभावना (२) अशरणभावना (३) संसारभावना (७) एकत्वभावना (५) अन्यत्वभावना (६)

अशौचभावना (७) आश्रवभावना (८) संवर भावना (९) निर्जराभावना (१०) धर्मस्वाख्यात-भावना (११) लोक-भावना और (१२) बोधिदुर्लभभावना। ये बारह भावनाएँ है। इन १२ भावनाओं का स्वरूप क्रमशः बताया जायेगा। इनमे सर्वप्रथम अनित्य-भावना का स्वरूप कहते हैं—

यत्प्रातस्तन्न मध्याह्ने, यन्मध्याह्ने न तन्निशि।
निरीक्ष्यते, भवेऽस्मिन् ही ! पदार्थानामनित्यता ॥५७॥

शरीरं देहिनां सर्व-पुरुषार्थ-निबन्धनम्।
प्रचण्ड - पवनोद्धूत - घनाघन - विनश्वरम् ॥५८॥

कल्लोल-चपला लक्ष्मीः संगमाः स्वप्नसन्निभाः।
वात्या-व्यतिकरोत्क्षिप्ततूल-तुल्यं च यौवनम् ॥५९॥

अर्थ—प्रातःकाल जो दिखाई देता है, वह मध्याह्न में नहीं दिखाई देता और मध्याह्न में जो दृष्टिगोचर होता है; वह रात में नजर नहीं आता। इसलिए अफसोस है इस संसार में समस्त पदार्थ अनित्य हैं ॥५७॥ देहधारियों का यह शरीर समस्त पुरुषार्थों का आधार है। परन्तु वह भी प्रचण्डवायु से उड़ाये गये बादलों के समान विनश्वर है ॥५८॥ लक्ष्मी समुद्र की तरंगों के समान चपल है; प्रियजनों के संयोग स्वप्न के समान क्षणिक हैं और यौवन वात्याचक्र (आंधी) से उड़ाई गई आक की रुई के समान अस्थिर है।

व्याख्या—इसके सम्बन्ध में कुछ आन्तरश्लोक हैं। उनका भावार्थ प्रस्तुत करते है—अपने पर अथवा दूसरों पर सभी दिशाओं से आपत्तियाँ आया ही करती हैं। जीव यमराज के दांतरूपी यंत्र में पड़ा हुआ कष्ट से जी रहा है। चक्रवर्ती, इन्द्र आदि का शरीर वज्र के समान है। परन्तु उसके साथ भी अनित्यता लगी है तो फिर केले के गर्भ के समान निःसार शरीर वालों का क्या कहना? जो निःसार शरीर में रहना चाहता है; मानो वह जीर्ण सूखे पत्तों से बने हुए पुरुष के शरीर में रहना चाहता है। मृत्युरूपी व्याघ के मुख-कोटर में स्थित शरीरधारी को बचाने में कोई भी मन्त्र, तन्त्र या औषधि समर्थ नहीं हैं। आयुष्य की वृद्धि होने के साथ जीव को पहले वृद्धावस्था और बाद में यमराज अपना ग्रास बनाने की जल्दी करता है। धिक्कार हो, जन्मधारी जीवों को; जो यह भलीभांति जानते हैं कि यह जीव यमराज के अधीन है, फिर वे आहार का एक भी कौर कैसे ले सकते हैं! फिर आयुकर्म की तो बात ही क्या कहें? जैसे पानी में बुलबुला पैदा हो कर तुरन्त ही नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार जीव का शरीर उत्पन्न हो कर क्षणभर में विनष्ट हो जाता है। धनवान हो या दरिद्र, राजा हो रंक, पंडित हो या मूर्ख सज्जन हो या दुर्जन, यमराज सब को एक समान हरण करने वाला है। उसमें गुणों के प्रति उदारता नहीं है: दोषों के प्रति द्वेष नहीं है। जैसे दावाग्नि सारे जंगल को जला कर भस्म कर देती है; वैसे ही यमराज सब प्राणियों को नष्ट कर देता है। कुशास्त्र पर मोहित होने पर भी कोई ऐसी शका नहीं कर सकता कि किसी भी उपाय से यह काया निरापद रह सके। जो मेरुपर्वत को दण्ड और पृथ्वी को छत्ररूप बनाने में समर्थ है, वह भी अपने को या दूसरों को मृत्यु के मुख से बचाने में असमर्थ है। चींटी से ले कर देवेन्द्र तक कोई भी समझदार मनुष्य कभी ऐसा नहीं कहेगा कि "मैं यमराज के शासन में काल को ठग लूंगा।" और हे बुद्धिशाली! यौवन को भी अनित्य ही समझो; क्योंकि बल और रूप का हरण करने वाला बुढ़ापा उसे

जर्जरित कर देता है। यौवनवय में जो कामिनियाँ काम की इच्छा से तुम्हारी अभिलाषा करती थीं, वे वृद्धावस्था में तुम पर थूकती हैं, तुम्हारे पास भी नहीं फटकतीं। जिस धनवानों ने बहुत ही क्लेशपूर्वक वह कमाया, उसे बिना खर्च किये सुरक्षित रखा, उनका वह धन भी क्षणभर में नष्ट हो जाता है। विद्वानों ने धन को पानी के बुलबुले की अथवा बिजली के प्रकाश की उपमा दी है! जैसे ये चीजें देखते ही देखते नष्ट हो जाती हैं, वैसे ही धन नष्ट हो जाता है। मित्रों, बन्धुओं और सगेसम्बन्धियों के संयोग के साथ भी वियोग जुड़ा हुआ है। इस प्रकार सदा अनित्यता का विचार करने वाला पुत्र की मृत्यु के समय शोक नहीं करता। नित्यता के ग्रह-भूत से ग्रस्त मूढ़ मनुष्य ही मिट्टी का बर्तन टूटने पर रोता है। इसलिए इस जगत् में केवल देहधारियों का शरीर, धन, यौवन या बन्धु-बान्धव ही अनित्य नहीं हैं, अपितु सचेतन-अचेतन सारा ही विश्व अनित्य है। सन्तपुरुष कहते हैं एकमात्र धर्म ही नित्य है।"

अब इस अनित्यभावना का उपसंहार करते हुए कहते हैं—

इत्यनित्यं जगद्वृत्तं स्थिरचित्तः प्रतिक्षणम्।
तृष्णाकृष्णाहिमंत्राय निर्ममत्वाय चिन्तयेत् ॥६०॥

अर्थ—इस प्रकार स्थिरचित्त से प्रतिक्षण तृष्णारूपी काले भुजग को वश करने के मंत्र के समान निर्ममत्वभाव को जगाने के लिए जगत् के अनित्यस्वरूप का चिन्तन करना चाहिए।

अब अशरणभावना के सम्बन्ध में कहते हैं—

इन्द्रोपेन्द्रादयोऽप्येते यन्मृत्योर्यान्ति गोचरम्।
अहो तदन्तकातंके कः शरण्यः शरीरिणाम्? ॥६१॥

अर्थ—अहो! जब इन्द्र, उपेन्द्र, आदि देव, वासुदेव, चक्रवर्ती आदि मनुष्य भी मृत्यु का विषय बन जाते हैं; तब मृत्यु के आतंक के समय जीवों को शरण देने वाला कौन है? मृत्यु के समय इन्द्र की भी कोई रक्षा नहीं कर सकता।

पितुर्मातुः स्वसुर्भ्रातुस्तनयानां च पश्यताम्।
अत्राणो नीयते जन्तुः कर्मभिर्यमसद्मनि ॥६२॥

अर्थ—पिता, माता, बहन, भाई और पुत्र आदि स्वजनों के देखते ही देखते कर्म अत्राण-शरणविहीन प्राणी को चारगतिरूप यमराज के सदन में ले जाते हैं! उस समय कोई भी उसकी रक्षा नहीं कर सकता। वास्तव में जीव अपने कर्मानुसार चतुर्गतिरूप संसार में—विविध गतियों व योनियों में जाता है।

शोचन्ति स्वजनानन्तं, नीयमानान् स्वकर्मभिः।
नेष्यमाणं तु शोचन्ति नात्मानं मूढबुद्धयः ॥६३॥

अर्थ—मूढ़बुद्धि लोग अपने कर्मों के द्वारा मृत्यु के द्वार पर ले जाए जाते हुए स्वजनों के लिए शोक करते हैं; परन्तु वे मूर्ख यों सोच कर अपने लिए शोक नहीं करते कि हम भी भविष्य में एक दिन मौत का शिकार बन जाएँगे।

अब अशरणभावना का उपसंहार करते हैं—

संसारे दुःखदावाग्नि-ज्वलज्ज्वालाकरालिते ।
वने मृगार्भकस्येव शरणं नास्ति देहिनः ॥६४॥

अर्थ—वन में सिंह का आक्रमण होने पर हिरन के बच्चे को कोई भी बचा नहीं सकता ; इसी प्रकार दुःखरूपी दावाग्नि की जाज्वल्यमान भीषण ज्वालाओं से जलते हुए संसार में जीव को बचाने वाला कोई नहीं है ।

व्याख्या—यह है अशरण भावना का स्वरूप ! इस सम्बन्ध में कुछ आंतरश्लोकों का भावार्थ प्रस्तुत हैं—'अष्टांग आयुर्वेद के विशेषज्ञ, औषध, या मृत्युंजय आदि मन्त्र कोई भी मृत्यु से बचा नहीं सकते । चारों ओर से नंगी तलवारों का पींजरा हो और उसमें चारों ओर चतुरंगिणी सेना से घिरा हुआ राजा सुरक्षित बैठा हो, फिर भी यम के सेवक उसे रंक के समान जबरन खींच ले जाते हैं । जलाशय के बीचोबीच बनाए हुए स्तम्भ के ऊपरी भाग में एक पींजरा था, उसमें एक राजा ने अपने प्रिय पुत्र को मृत्यु से बचाने के लिए सुरक्षित रखा था, किन्तु वहाँ से भी मृत्यु खींच कर ले गई तो फिर दूसरों का तो कहना ही क्या ? सगर चक्रवर्ती के साठ हजार पुत्र थे ; लेकिन उन शरणरहित पुत्रों को ज्वलनप्रभ देव ने क्षणभर में तिनके की तरह एकदम जला कर भस्म कर दिया । स्कन्दकाचार्य की आँखो के सामने ही उनके पांचसौ शिष्यों को यमराजतुल्य पालक पुरोहित कोल्हू में पीर कर मार रहा था, तब उनका शरणदाता कोई भी नहीं हुआ । जैसे पशु मृत्यु के प्रतीकार का उपाय नहीं जानता, उसी प्रकार पण्डित भी मृत्यु के प्रतीकार का उपाय नहीं जानता । धिक्कार है, ऐसी मूढ़ता को ! दुनिया मे ऐसे-ऐसे पराक्रमी पुरुष हुए हैं, जिन्होंने अपनी तलवार के बल पर सारी दुनियाँ को निष्कंटक बना दिया था, लेकिन वे ही शूरवीर यमराज की तनी हुई भ्रकुटि देख कर भय से दातों तले उगली दबा लेते थे ! इन्द्र भी जिसे स्नेहपूर्वक आलिंगन करके अपने आधे आसन पर बिठाते थे, वह श्रेणिक राजा भी अन्तिम समय में शरणरहित होगया था । ऐसी दुर्दशा हो गई कि सुनी भी न जा सके । तलवार की धार पर चलने के समान महाव्रतों का पालन करने वाले पवित्र मुनि ; जिन्होंने अपने जीवन में जरा भी पापकर्म नहीं किया ; वे भी मृत्यु का प्रतीकार करने में असमर्थ रहे । वास्तव मे यह संसार अशरणरूप है, अराजक है, अनाथ है, अनायक है, इसमें मृत्यु का कोई भी प्रतीकार नहीं कर सकता, यह यमराज का कौर बन रहा है । धर्म को प्रतीकाररूप माना जाता है, मगर वह भी मृत्यु का प्रतीकार नहीं है । वह शुभगति का दाता या शुभगति का कर्ता माना जाता है । इस प्रकार तीनों लोकों में भयंकर यमराज निरंकुश हो कर ब्रह्मा से ले कर चींटी तक के तमाम जीवों से परिपूर्ण समग्र जगत् को कवलित करने से नहीं थकता । खेद है कि सारा जगत् इसमे परेशान हो रहा है । अतः धर्म की शरण स्वीकार करो ।" इस प्रकार अशरणभावना का वर्णन किया ।

अब तीन श्लोकों में संसार भावना का स्वरूप बताते हैं—

श्रोत्रियः श्वपचः स्वामी, पत्तिर्ब्रह्मा कृमिश्च सः ।
संसारे नाट्ये नटवत् संसारी हन्त ! चेष्टते ॥६५॥

अर्थ—अफसोस है, इस संसाररूपी नाट्यशाला में नट की तरह संसारी जीव

विभिन्न चेष्टाएँ करता है। कभी वेदपाठी श्रोत्रिय बनता है, कभी चाण्डाल, कभी सेवक, कभी प्रजापति (ब्रह्मा) बनता है, और कभी कीड़ा बनता है।

भावार्थ—जैसे नाटककार भिन्न-भिन्न वेष बदल कर नाट्यमंच पर आता है, वैसे ही संसारी जीव भी विचित्र कर्मरूपी उपाधि के कारण विविध शरीरों को धारण करके संसार के रंगमंच पर आता है और नाटक का पार्ट अदा करता है। जो वेदगामी ब्राह्मण था, वही कर्मानुसार चांडाल बनता है, और जो स्वामी था, वह मर कर सेवक के रूप में पैदा होता है, जो प्रजापति था, वह कीट के रूप में जन्म लेता है। आश्चर्य है संसार की इस विचित्रता को देख कर! परमार्थदृष्टि से तो उसका (आत्मा का) रूप इस प्रकार का नहीं है।

न याति कतमां योनिं, कतमां वा न मुञ्चति।
संसारी कर्मसम्बन्धादवक्रयकुटीमिव ॥६६॥

अर्थ— संसार में परिभ्रमण करता हुआ जीव कर्म के संयोग से किराये की कुटिया के समान किस योनि में नहीं जाता और किस योनि को नहीं छोड़ता?

भावार्थ—मतलब यह है कि जीव समस्त योनियों में जन्म लेता है और मरता है। इस संसार में एकेन्द्रिय से पञ्चेन्द्रिय तक की ८४ लाख जीवयोनियों में से ऐसी कोई योनि नहीं, जहाँ संसारी जीव न गया हो, अथवा जिस योनि को न छोड़ा हो। जैसे गृहस्थ किराये पर कोई झोंपड़ी लेता है, और जरूरत न होने पर उसे छोड़ देता हैं, वैसे ही संसारीजीव को कर्मों के सम्बन्ध से शरीर भी कुछ अर्से तक मिलता है, किन्तु कर्म भोगने के बाद उस योनि को छोड़ देता है और दूसरी योनि ग्रहण कर लेता है। समय पा कर उस योनि को भी छोड़ देता है। किन्तु किसी एक नियत योनि को पकड़े नहीं रखता।

समग्रलोकाकाशेऽपि नानारूपैः स्वकर्मतः।
बालाग्रमपि तन्नास्ति यन्न स्पृष्टं शरीरिभिः ॥६७॥

अर्थ—समग्र लोकाकाश में बाल की नोक पर आए, इतना स्थान भी नहीं बचा है; जिसे शरीरधारियों ने अपने विविध कर्मों के उदय से नानारूप में जन्म-मरण पा कर स्पर्श न किया हो।

व्याख्या—आकाश दो प्रकार का है—लोकाकाश और अलोकाकाश। जिसमें धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश काल, पुद्गल और जीव ये ६ द्रव्य विद्यमान हों, उसे लोकाकाश और जिसमें ये न हों, उसे अलोकाकाश कहते हैं। कहा भी है—'धर्मास्तिकाय आदि द्रव्यों की प्रवृत्ति जिस क्षेत्र में हो, उस द्रव्यसहित क्षेत्र को लोक और इससे विपरीत हो, उसे अलोक कहते हैं।' सूक्ष्म, बादर, साधारण और प्रत्येकरूप एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय एवं पंचेन्द्रिय आदि भिन्न-भिन्न इन्द्रियों वाले जीवों में संसारीजीव अपने-अपने कर्मानुसार स्वतः जन्म-मरण करते रहते हैं; इसमें ईश्वर आदि की कोई प्रेरणा नहीं है। अन्य दार्शनिकों ने कहा—'यह अज्ञानी जीव अपने सुख-दुःखरूप कर्म-फल को स्वयं भोगने में असमर्थ होता है, इसलिए वह ईश्वर से प्रेरित हो कर स्वर्ग या नरक में जाता है।' इसमें ईश्वर की प्रेरणा और कर्मों की फलनिरपेक्षता मानें तो विश्व के इन विविध रूपों का स्वतंत्र

अस्तित्व ही नहीं रहता। अगर इन्हें कर्मसापेक्ष मानें तो ईश्वर की अस्वतंत्रता तथा निष्फलता सिद्ध होती है। इसलिए स्वर्गनरकादिगमन मे प्रेरक कर्म ही है, इसके लिए ईश्वर को बीच में डालने की क्या आवश्यकता है ? जैसा कि वीतरागस्तोत्र में हमने कहा है—कर्मफल भुगतवाने की अपेक्षा से यदि ईश्वर को माना जाय तो वह हमारे समान स्वतंत्र सिद्ध नहीं होगा और कर्म के कारण से ही जगत की विचित्रता मानें तो फिर निष्क्रिय (नपुंसक) ईश्वर को बीच में रखने से क्या प्रयोजन ? इस सम्बन्ध में यहाँ कुछ आन्तरश्लोकों का भावार्थ प्रस्तुत करते है—

नरकगति के दुःख—कर्मों के कारण पीड़ित संसार नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवरूप चार गतिरूप है। इनमें से जिसमें सबसे अधिक दुःख होते है, उसे नरकगति कहते है। नरक सात हैं। पहले के तीन नरकों मे उष्णवेदना होती है। चौथे नरक में शीतोष्ण वेदना, और शेष तीन नरकों में शीत-वेदना होती है। इस प्रकार नरकजीवों को क्षेत्र के अनुसार वेदना (दुःख) होती है। जहाँ उष्ण और शीत वेदना होती है, उन नरकों में यदि लोहे का पर्वत टूट कर पड़े तो नीचे धरती तक पहुँचने से पहले ही वह पिघल जाता है, अथवा जम जाता है या बिखर जाता है। नरक के जीव परस्पर पिछले वैरभाव को कुरेद-कुरेद कर एक दूसरे को दुःखी करते रहते हैं, अथवा परमाधार्मिक देवों द्वारा उन्हें दुःख मिलता है। नारकजीव तीनों प्रकार के दुःखों को बारबार भोगता हुआ नारकीय पृथ्वी पर निवास करता है। नारकजीव कुम्भीपाक में उत्पन्न होता है, फिर परमाधार्मिक असुर छोटे-से सुराख के समान द्वार में से लोहे की सलाई की तरह जबर्दस्ती खीच कर उसे बाहर निकालते हैं। जैसे धोबी शिला पर कपड़े को पछाड़ता है, वैसे ही परमाधार्मिक नारकीयजीवो के हाथपैर आदि पकड़ कर वज्रयुक्त कांटों वाली शिला पर उसे पछाड़ते हैं। जैसे करौत से लकड़ी चीरी जाती है, वैसे ही नारकों को असुर भयंकर करौत से चीरते हैं। जैसे कोल्हू में तिल पेरे जाते हैं, वैसे ही नारकों को कोल्हू में पेरा जाता है। जब वह प्यास से पीड़ित होता है तो बेचारे को गर्मागर्म खौलते हुए शीशे या तांबे के रस वाली वैतरणी नदी में बहाते हैं। जब धूप से नारक छाया में जाना चाहता है तो उसे असिवन की छाया में पहुँचाया जाता है; जिससे उसकी छाया में खड़े रहने पर उस पर तलवार की धार के समान पत्ते गिरते है, जिनसे तिल के समान उसके शरीर के सैकड़ों टुकड़े हो जाते है। पूर्वजन्म मे परस्त्री के साथ की हुई रमणक्रीड़ा याद दिला कर असुर उसे वज्र के समान तीखे कांटो वाले शाल्मलिवृक्ष की डाली के साथ तथा तपाई हुई लोहे की पुतली के साथ आलिंगन कराते है। पूर्वजन्म में खाये हुए मांस की बात याद दिला कर उसके ही अंगों से मांस काट-काट कर उसे खिलाते हैं, तथा मदिरापान का स्मरण करा कर गर्मागर्म शीशे का रस पिलाते हैं। आग पर सेकना, डंडे की तरह उछालना, तेज शूली से बींधना, कुम्भीपाक में पकाना, उबलते हुए तेल मे तलना, गर्म रेत पर चने के समान भुनना, इत्यादि हजारों किस्म की यातनाएँ पापात्मा नारकीय जीव परवश हो कर नरक में सतत विलाप करते हुए सहते हैं; रो-रो कर दुःख भोगते हैं। बगुले, कंक आदि क्रूर हिंसक पक्षी चोंचों से उनके शरीर को छिन्नभिन्न कर देते हैं। आंख आदि इन्द्रियाँ खींच कर निकाल लेते हैं। शरीर से पृथक् हुए उनके अवयव पुनः जुड़ जाते हैं। इस प्रकार नारकीय जीव महादुःख से पीड़ित और सुख के लेशमात्र अनुभव से वंचित हो कर लगातार तेतीस सागरोपम लम्बे समय तक नरक में रहता है।

तिर्यञ्चगति के दुःख—तिर्यंचगति मिलने पर कितने ही जीव एकेन्द्रिय में पृथ्वीकाय का रूप प्राप्त करते हैं, जिसमें हल आदि शस्त्र से उसे खोदा जाता है हाथी-घोड़े आदि के पैरों द्वारा उसे कुचला

जाता है, जलप्रवाह से भीगना पड़ता है, दावाग्नि से जलना पड़ता है, नमक, खार, मूत्रादि क्षार जल वगैरह से व्यथित होना, उबलते पानी में नष्ट होना, कुम्हार आदि के आंवे में पकना, घड़े, ईंट आदि के रूप में पकना, कीचड़ बनना एवं मिट्टी की कुंडी के रूप में सोना आदि गलाते समय आग में तपना पड़ता है तथा कठोर पत्थर की चोट सहनी पड़ती है, नदी की तेज धार से कट जाना एवं पर्वतों के रूप में टूट कर गिरना पड़ता है। अप्कायत्व प्राप्त करके सूरज की गर्म किरणों में तपना, हिम बन कर जम जाना, धूल में सूखना, खारे, खट्टे आदि विविध जलजाति के परस्पर इकट्ठे होने पर, बर्तन में उबालने पर या प्यासे जीवों द्वारा जल पी जाने पर अपकायिक जीवों को मृत्यु का सामना करना पड़ता है। अग्निकायिक जीवों का जल आदि से घात होता है; घन आदि से चोट खाना, ईंधन आदि से जलना इत्यादि रूप में अग्निकाय को वेदना सहनी पड़ती है। वायुकायिक जीवों का हनन पंखे आदि से होता है, शीत, उष्ण आदि द्रव्यों के संयोग से उनकी क्षण-क्षण में मृत्यु होती है, पूर्व आदि विभिन्न दिशाओं की सभी हवाएँ इकट्ठी होने से वायुकायिक जीवों की विराधना होती है। मुंह, नाक आदि की हवा से भी विराधना होती है, सर्प आदि द्वारा वायु का पान किया जाता है। कन्द, मूल, फल फूल, त्वचा, गुल्म, गुच्छा, नीलण-फूलण आदि दस प्रकार के वनस्पतिरूप एकेन्द्रिय जीवों का विनाश छेदन, भेदन अग्नि में पचन-पाचन, परस्पर घर्षण, आदि से होता है। इसी प्रकार सुखाने, पीलने घिसने, कूटने, पीटने, क्षार आदि डालने, भड़भूंजे आदि से भूंजने, उबलते हुए तेल, पानी आदि में तलने, दावानल से जल कर राख बनने, नदी की तेज धारा से जड़ से उखड़ जाने, आंधी आदि से टूट पड़ने, खाने वाले के आहाररूप बनने इत्यादि रूप में भी वनस्पतिकायिक जीवों का घात होता है। सभी प्रकार की वनस्पति सभी जीवों का भोजनरूप बनती है। इसे सब प्रकार के शस्त्रों द्वारा लगातार क्लेश होता रहता है। द्वीन्द्रियरूप जीवों में सर्दी, गर्मी, वर्षा, अग्नि आदि का क्लेश सहना पड़ता है, केंचुआ पैरों से दब जाता है, मुर्गे आदि भी खा जाते है, पोरे पानी के साथ निगले जाते है, शंख आदि मारे जाते हैं, जौंक निचोड़ी जाती है, पेट में पड़े हुए केंचुए आदि को औषध से गिरा कर मारा जाता है। त्रीन्द्रिय जीव जूं, खटमल, पिस्सू आदि को मसल दिया जाता है, कई शरीर से दब जाते हैं, चींटी पैर से दब जाती है या झाड़ू आदि से सफाई करते समय मर जाती है, कीचड़ में फंस जाती है। धूप या गर्म पानी में जलना पड़ता है। कुंथुआ आदि बारीक जीव आसन आदि से दब कर मर जाते हैं, इस प्रकार की अनेक वेदनाएँ और मृत्यु के दुःख भोगने पड़ते है। चतुरिन्द्रिय जीव मक्खी, मच्छर आदि का अनेक कारणों से नष्ट हो जाता है। मधुमक्खी, भौंरे आदि का शहद ग्रहण करने वाले लोग ढेला आदि फैंक कर विराधना करते हैं। पंखे आदि से डांस, मच्छर वगैरह का ताड़न होता है। मक्खी, मकोड़ों आदि को छिपकली या गोह आदि खा जाते हैं। पचेन्द्रिय जलचर जीव प्राय: एक दूसरे को निगल जाते है। मत्स्यगलागल न्याय प्रसिद्ध है। समुद्र में बड़ी मछली छोटी मछली को निगल जाती है। जल में मछुए जाल डाल कर पकड़ लेते हैं, बगुले खा जाते हैं, कई चमड़ी उधेड़ कर उसके मांस को पका कर खा जाते हैं, कई चर्बी के लिए प्राणी को मार कर उसकी चर्बी निकाल लेते हैं; स्थलचर में उत्पन्न होने वाले निर्बल हिरन आदि को बलवान मांसलोलुप सिंह, चीता, भेड़िया आदि खा जाते हैं; शिकारी, बहेलिए, शिकार के शौकीन या मांसलोलुप या क्रीड़ारसिक लोग कई जीवों की हिंसा करते हैं। बेचारे स्थलचर पशुओं को भूख, प्यास, ठंड, गर्मी, अतिभारवहन, मार सहना, चाबुक, अंकुश आदि की फटकार सहना ये और इस प्रकार की वेदनाएँ सहनी पड़ती हैं। आकाश में उड़ने वाले पक्षी तोता, कबूतर, चील, चिड़िया, तीतर आदि को बाज, गिद्ध, बिल्ली आदि मांसभक्षी प्राणी खा जाते हैं। मांसलोलुप कसाई, शिकारी आदि विविध उपायों से अनेक प्रकार की यातनाएँ दे कर उन्हें

पकड़ते हैं और मार डालते हैं। बेचारे तिर्यंचों को पानी, आग, शस्त्र आदि का भय तो हमेशा बना रहता है। कई बार बंधे हुए व पराधीन होने से विवश हो कर मर जाते हैं। उनके अपने-अपने कर्म-बन्धनों के कारण होने वाले कितने दुःखों का वर्णन करें ?

मनुष्य गति के दुःख - मनुष्यजीवन में अनार्यदेश में जन्म ले कर मनुष्य इतने पापकर्म करता है, जिनका कथन भी अशक्य है। आर्यदेश में जन्म ले कर भी बहुत-से चांडाल म्लेच्छ भंगी, कसाई, वेश्या आदि बन कर अनेक पापों का उपार्जन करते हैं और दुःखानुभव करते हैं। आर्यवंश में जन्म लेने वाले भी अनार्यों की-सी चेष्टा करके दुःख, दारिद्र्य और दौर्भाग्य की ज्वाला में जल कर दुःख भोगते हैं। दूसरों के पास अधिक सम्पत्ति और अपने पास कम सम्पत्ति देख-देख कर या दूसरों की गुलामी, नौकरी आदि करके मन में कुढ़ता हुआ आदमी दुःखी हो कर जीता है। रोग, बुढ़ापा, मृत्यु, प्रियजनवियोग, आदि दुःखों से घिरा रह कर अथवा नीचकर्म करने से बदनाम हो कर मनुष्य दयनीय और दुःखी हालत में जीता है। बुढ़ापा, रोग मृत्यु या गुलामी में उतना दुःख नहीं है, जितना नरकवास या गर्भवास में है। योनियंत्र में से जब जीव बाहर निकलता है, उस समय जो दुःखानुभव होता है, वह वस्तुतः गर्भवास के दुःख से भी अनन्तगुना ज्यादा होता है। बचपन में मनुष्य मल-मूत्र में लिपटा रहता है, उसी में खेलता रहता है, जवानी में मैथुनचेष्टा करता है और बुढ़ापे में श्वासरोग, दम, खांसी आदि रोगों से ग्रस्त रहता है— इसे शर्म नहीं आती ; जब कि पुरुष बाल्यकाल में विष्ठा खाने वाले सूअर-सा, जवानी में मदन के गधे-सा और बुढ़ापे में बूढ़े बैल-सा बन कर पुरुष नहीं रहता। मनुष्य बचपन में माता का, यौवन में युवती का और बुढ़ापे में पुत्रादि का मुख देखता है, मगर अन्तर्मुख —आत्मसम्मुख नहीं देखता। धन की आशा में व्याकुल मनुष्य खेती, नौकरी, व्यापार, पशुपालन आदि कार्यों में रचा-पचा रह कर अपने जीवन को व्यर्थ खो देता है। कभी चोरी करता है, कभी जुआ खेलता है, किसी समय नीच के साथ दुष्टता करता है। इस प्रकार मनुष्य बार-बार संसार में परिभ्रमण के कारणों को अपनाता है। मोहान्ध मनुष्य सुखी हालत में कामभोगों में और दुःखी हालत में दैन्य और रुदन करने में ही अपना जीवन समाप्त कर देता है परन्तु उसे धर्मकार्य नहीं सूझता। मतलब यह है कि अनन्त कर्मसमूह को क्षय करने में समर्थ आत्मा मनुष्यत्व प्राप्त करके भी पापकर्म करके पापी बनता है। ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूपी रत्नत्रय का आधारभूत मानवशरीर प्राप्त करके सोने के बर्तन में शराब भरने की तरह इसे पापकर्म से परिपूर्ण करता है। संसार-समुद्र में स्थित जीव को किसी तरह बड़ी मुश्किल से मणिकांचनसंयोग की तरह चिन्तामणि रत्न से भी बढ़ कर बहुमूल्य मानवजीवन मिला है, लेकिन वह कौआ उड़ाने के लिए रत्न को फैंकने के समान अपने कीमती जीवन को खो देता है। स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति का असाधारण कारण-रूप यह मनुष्यत्व प्राप्त होने पर भी मनुष्य नरक-प्राप्ति के उपायभूत कार्यों को करने में जुटा रहता है। अनुत्तरविमानवासी देवता भी जिस मनुष्यगति को पाने के लिए प्रयत्नपूर्वक लालायित रहते हैं, उस मानवजीवन को पा कर भी पापी मनुष्य उसका पाप में उपयोग करता है। नरक के दुःख तो परोक्ष है, परन्तु नरजन्म के दुःख तो प्रत्यक्ष हैं ; उनका विस्तृत वर्णन कहाँ तक करें !

देवगति के दुःख—शोक, क्रोध, विषाद, ईर्ष्या, दैन्य आदि के वशीभूत बुद्धिशाली देवों में भी दुःख का साम्राज्य चल रहा है। दूसरे की महान समृद्धि देख कर अपने द्वारा पूर्वजन्म में उपार्जित अल्प सुकृत को जान कर देव चिरकाल तक उसके लिए शोक करता हैं। दूसरा बलवान देव उसके पीछे पड़ा हो और वह प्रतीकार करने में असमर्थ हो गया हो, तब तीक्ष्ण क्रोध-शल्य के अधीन हो कर निरन्तर मन

में दुःखी होता रहता है कि मैंने पूर्वजन्म में कोई सुकृत नहीं किया, जिससे यहां मैं दूसरों का आज्ञापालक सेवक देव बना हूं। दूसरों की अधिकाधिक समृद्धि देख कर देवता को विषाद होता है। दूसरे देवों के उत्कृष्ट विमान, भवन, उपवन, रत्न और सम्पदाएँ देख कर सारी जिंदगीभर देव ईर्ष्या की आग में जलता रहता है। दूसरे से लुट गया हो, सारी समृद्धि खो दी हो, तब दीनवृत्ति धारण करके हे प्राणेश! हे प्रभो! हे देव! मुझ पर प्रसन्न हों; इस प्रकार गद्गद स्वर से पुकारता है। कान्दर्पिक आदि देवों को पुण्ययोग से भले ही स्वर्ग प्राप्त हुआ हो, लेकिन वहां भी वे काम, क्रोध और भय से पीड़ित रहते हैं, वे अपना असली स्थान नहीं पाते। देवलोक से च्युत होने का चिह्न देख कर देव विलाप करता है कि पता नहीं, अब यहां से च्युत होने के बाद किसके गर्भ में स्थान मिलेगा? इस तरह कल्पवृक्ष की कभी न मुर्झाने वाली पुष्पमाला के मुर्झाने के साथ ही देवों का मुखकमल मुर्झा जाता है। हृदय के साथ-साथ सारा शरीर का ढांचा शिथिल हो जाता है और महाबली से भी कम्पित न होने वाला कल्पवृक्ष भी कांपने लगता है। स्वीकृत प्रिया के साथ मानो अकाल में शोभा और लज्जा ने साथ-साथ अपराध किया हो, इस तरह देवी देव को अपराधी जान कर छोड़ कर चली जाती है। वस्त्रों की निर्मल शोभा भी क्षणभर में फीकी पड़ जाती है। आकाश में अकस्मात् मेघाडम्बर होने से जैसे वह श्याम हो जाता है, वैसे देव का चेहरा पाप से श्याह और निस्तेज हो जाता है। जो अब तक दीनतारहित थे, वे दीन बन जाते हैं, निद्राहीन थे, वे निद्रित हो गए। मौत के समय जैसे चींटियों के पंख आ जाते हैं, वैसे ही च्यवन के समय देवों को भी दीनता और निद्रा आ कर घेर लेती है; न्यायधर्म का अतिक्रमण करके विषयों में वह अत्यधिक आसक्त हो जाता है और यत्नपूर्वक मरने की इच्छा से कुपथ्य-सेवन भी करना चाहता है। भविष्य में दुर्गति होगी, यह जान कर उसकी वेदना से विवश होने से निरोग होने पर भी उसके सभी अंग-प्रत्यंगों के जोड़ टूटने लगते हैं। पदार्थ को झटपट समझने में पटु बुद्धि भी सहसा चली जाती है। अब तो वह दूसरे के वैभव का उत्कर्ष देखने में भी असमर्थ हो जाता है। निकटभविष्य में ही गर्भवास का दुःख आ पड़ने वाला है, इस भय से वह सिहर उठता है, अपने अंगों को कंपा कर दूसरों को डराता है। अपने च्यवन के निश्चित आसार जान कर विमान, नन्दनवन या बावड़ी आदि में किसी में भी रुचि नहीं रखता। वे उसे आग के आलिंगन के समान लगने लगते हैं। वह रातदिन यही विलाप करता रहता है—अरी प्रिये!, हाय! मेरे विमान!, अरे! मेरी बावड़ी!, ओह! कल्पवृक्ष!, मेरा देवत्व समाप्त होने के बाद फिर कब मैं तुम्हें देखूंगा?, अहा! अमृतरस के समान तुम्हारा हास्य!, ओह! अमृततुल्य लाल-लाल होठ!, अहो! अमृतसम झरने वाली वाणी!, हा! अमृतवल्लभा!, हाय! रत्नजटित स्तम्भ!, हाय! मणिमय स्पर्श, ओफ! रत्नमयवेदिका!, अब तुम किसका आश्रय लोगे? हाय! रत्नमय सोपानों वाली कमलों और उत्पलों से सुशोभित यह बावड़ी किसके काम आएगी? हे पारिजात! हे मन्दार! हे संतान! हे हरिचन्दन! कल्पवृक्ष! क्या तुम सब मुझे छोड़ दोगे? अरे रे! क्या मुझे अब स्त्री के गर्भवासरूप नरक में पराधीनता में वास करना होगा?, हाय! वहाँ भी क्या बार-बार अशुचिरस का आस्वादन करना पड़ेगा? क्या मुझे अपने किए कर्मों के अनुसार जठराग्नि के चूल्हे में अपने को सेकने का दुःख उठाना पड़ेगा? कहाँ ये रतिनिधान-सी देवांगनाएँ और कहाँ वे अशुचि झरती हुई बीभत्स मानुषी स्त्री?' इस प्रकार यह देव देवलोक की वस्तुओं को याद कर-करके झूरता रहता है और यों विलाप करते-करते ही अचानक क्षणभर में उसका जीवनदीप बुझ जाता है।

इस प्रकार चारों गतियों में स्थित संसारी प्राणियों को इस संसार में जरा भी सुख नहीं है ; इतना ही नहीं, सिर्फ शारीरिक और मानसिक दुःख भी बहुत अधिक है। ऐसा समझ कर यदि तुम भव-भ्रमण के भय से सदा के लिए मुक्त होना चाहते हो तो ममता को दूर कर सतत शुद्धाशयपूर्वक संसार-भावना का ध्यान करो। इस प्रकार संसारभावना पूर्ण हुई।

अब दो श्लोकों द्वारा एकत्वभावना का प्रतिपादन करते हैं—

एक उत्पद्यते जन्तुरेक एव विपद्यते।
कर्माण्यनुभवत्येकः प्रचितानि भवान्तरे।।६८।।

अर्थ– **यह जीव अकेला असहाय ही उत्पन्न होता है और अकेला ही शरीर छोड़ कर मर जाता है, तथा जन्म-जन्मान्तर में संचित कर्मों को भी यह अकेला ही भोगता है।**

श्री भगवान् ने कहा है—परलोक में किये हुए कर्म इस लोक में भोगने पड़ते हैं ; वैसे ही इस लोक में किये हुए कर्म इस लोक में भी भोगे जाते हैं।

अन्यैस्तेनार्जितं वित्तं, भूयः सम्भूय भज्यते।
स त्वेको नरकक्रोड़े, क्लिश्यते निजकर्मभिः। ६९।।

अर्थ—**उसके द्वारा महारम्भ और महापरिग्रह आदि उपायों से अर्जित धन का उपभोग दूसरे बन्धु-बान्धव, कुटुम्ब परिवार, नौकर आदि मिल कर करते हैं। परन्तु वह धन का उपार्जन करने वाला तो अकेला ही अपने दुष्कर्मों से नरक की गोद में जा कर महा-दुःख भोगता है।**

व्याख्या—इसके सम्बन्ध में उक्त आन्तरश्लोकों का भावार्थ प्रस्तुत करते हैं—'दुःखरूपी दावानल से भयंकर विशालसंसाररूपी अरण्य में कर्माधीन हो कर यह आत्मा अकेला ही परिभ्रमण करता है। बन्धु, बान्धव, स्वजन आदि कोई भी जीव के सहायक या हिस्सेदार नहीं होते। प्रश्न होता है—सुख-दुःख का अनुभव करने वाली यह काया तो सहायक होगी न ? इसके उत्तर में कहते है—"नहीं ; यह काया पूर्वभव से ही साथ नही आई और न जन्मान्तर मे साथ जायेगी ; फिर यह कैसे सहायक हो सकती है ? तुम्हारी यह मान्यता भी यथार्थ नहीं है कि जीव के धर्म और अधर्म ये दो ही सहायक हैं। क्योंकि मोक्ष में धर्म या अधर्म की सहायता नहीं है। इसलिए शुभाशुभकर्म करता हुआ जीव अकेला ही संसार में परिभ्रमण करता है ; और उन कर्मों के अनुरूप शुभाशुभ फल भोगता है तथा अनुत्तर मोक्ष-लक्ष्मी को भी अकेला ही प्राप्त करता है। वहाँ किसी भी प्रकार के सम्बन्धी का सम्बन्ध नहीं होता और न काम आता है। अतः संसार में होने वाले दुःखों को तथा मोक्ष में होने वाले सुखों को वह अकेला ही भोगता है, उसमें किसी की सहायता या हिस्सेदारी नहीं होती। तैराक अकेला हो तो भी वह बड़े से बड़े समुद्र को शीघ्र पार कर सकता है, परन्तु छाती, हाथ, पैर आदि इकट्ठे बांध ले या अन्य कोई परिग्रह साथ में रखे तो वह पार नहीं हो सकता। इसलिए धन, शरीर आदि से (ममत्व से) विमुख हो कर ही एकाकी स्वस्थ आत्मा संसारसमुद्र से पार हो सकता है। पाप करने से जीव अकेला ही नरक में जाता है, इसी प्रकार पुण्य करने से भी अकेला स्वर्ग में जाता है और पाप-पुण्य दोनों का क्षय करके अकेला ही मोक्ष में जाता है। ऐसा समझ कर निर्ममत्वप्राप्ति के लिए दीर्घकाल तक एकत्वभावना का ध्यान करना चाहिए। इति एकत्वभावना।

अब अन्यत्वभावना का स्वरूप बताते हैं—

यत्राऽन्यत्वं शरीरस्य, वैसादृश्याच्छरीरिणः ।
धन-बन्धु-सहायानां, तत्राऽन्यात्वं न दुर्वचम् ॥७०॥

अर्थ—**जहाँ आत्मा और शरीर आधार-आधेय, अरूपी-रूपी, चेतन-अचेतन (जड़), नित्य-अनित्य हैं ; तथा शरीर जन्मान्तर में साथ नहीं जाता है, जबकि आत्मा जन्मान्तर में भी साथ रहता है ; इससे शरीर और शरीरी (आत्मा) की भिन्नता-विसदृशता स्पष्ट प्रतीत होती है, तब फिर वहाँ यह कहना असत्य नहीं है कि धन, बन्धु, माता-पिता, मित्र, सेवक, पत्नी-पुत्र आदि तथाकथित सहायक (आत्मा से) भिन्न हैं ।**

भावार्थ—जब आत्मा से शरीर को भिन्न स्वीकार कर लिया है तो धनादि पदार्थों को, (जो प्रायः शरीर से सम्बन्धित हैं) भिन्न मानने में कौन-सी आपत्ति है ?

अन्यत्वभावना का फल सिर्फ निर्ममत्व है, इतना ही नहीं ; और भी फल है; उसे बताते हैं—

यो देह-धन-बन्धुभ्यो, भिन्नमात्मानमीक्षते ।
क्व शोकशंकुना तस्य, हन्तातङ्कः प्रतन्यते ॥७१॥

अर्थ—**जो अपनी आत्मा को शरीर, धन, स्वजन, बन्धु आदि से भिन्नस्वरूप देखता है, उसका आत्मा वियोगजनित शोकरूपी कील से भला कैसे आतंकित—पीड़ित हो सकता है ?**

व्याख्या—इस विषय में प्रयुक्त आन्तरश्लोकों का भावार्थ दे रहे हैं—'अन्यत्व का अर्थ है भिन्नता । वह भिन्नता आत्मा और शरीर, धन, स्वजन आदि के बीच में स्पष्ट प्रतीत होती है । यहाँ शंका होती है कि देहादि पदार्थ इन्द्रियों से जाने जा सकते हैं, जबकि आत्मा तो अनुभव का विषय है, तब फिर इनका एकत्व हो ही कैसे सकता है ? इस प्रकार जब आत्मा और शरीर आदि पदार्थों का भिन्नत्व स्पष्ट है, तब शरीर पर प्रहार करने पर आत्मा को उसकी पीड़ा क्यों महसूस होती है ?" इसका समाधान यों है—जिस व्यक्ति को आत्मा और शरीरादि में भेदबुद्धि नहीं है ; जो इन दोनों को एक ही मानता है, उसके शरीर पर प्रहार करने से आत्मा को अवश्य पीड़ा होती है, लेकिन जिसने शरीर और आत्मा का भेद भलीभांति हृदयंगम कर लिया है, उसे अपने शरीर पर प्रहार होने पर भी आत्मा में पीड़ा नही होती । अन्तिम तीर्थंकर परमात्मा श्री महावीर प्रभु पर १२ वर्ष तक बहुत उपसर्ग हुए ; संगमदेव ने उन पर कालचक्र फैंका था, ग्वाले ने उनके पैरों पर खीर पकाई थी ; फिर भी देह को आत्मा से भिन्न अनुभव करने वाले प्रभु की आत्मा में दुःख न हुआ । देह और आत्मा की भिन्नता का ज्ञाता नमिराज था । जब उसकी मिथिला नगरी जल रही थी, तब देवेन्द्र ने उससे कहा—'यह तुम्हारी मिथिला जल रही है ।" तब नमिराज ने उत्तर दिया 'इसमें मेरा कुछ भी नहीं जल रहा है ।' भेदविज्ञान कर लेने वाले आत्मा पर यदि पिता-सम्बन्धी दुःख आ पड़े तो भी वह दुःखी नहीं होता । जबकि नौकर पर दुःख आ पड़े तो उस पर आत्मीयता—ममता होने से अपना मान लेने के कारण दुःख होता है । पुत्र भी 'अपना नहीं, पराया है' यह जान कर सेवक को स्वकीयरूप में स्वीकार करता है तब उस पर पुत्रादि से अधिक प्रीति होती है । राजभण्डारी पराये धन को अलग बांध कर रखता है, उसी तरह 'परपदार्थ में ममत्व-

बुद्धि रखने वाले भव्यात्मन् ! तुम इस बात का विवेक करो और मिथ्याभावना का परित्याग कर ममत्वछेदिनी अन्यत्वभावना का लगातार अवलम्बन लो।' इस प्रकार अन्यत्वभावना पूर्ण हुई।

अब अशुचिभावना के सम्बन्ध में कहते हैं—

रसासृग्मांसमेदोऽस्थिमज्जा शुक्रान्त्रवर्चसाम् ।
अशुचीनां पदं कायः, शुचित्वं तस्य तत् कुतः ? ॥७२॥

अर्थ—आहार करने के बाद उसका रस बनता है, रस से रक्त, रक्त से मांस, मांस से चर्बी, चर्बी से मेद और मेद से हड्डी, हड्डी से मज्जा, मज्जा से वीर्य और वीर्य से आंतें और आंतों से विष्ठा बनती है। इस प्रकार यह शरीर अशुचि (गंदे) पदार्थों का भाजन है, तब फिर यह काया पवित्र कहाँ से हो सकती है ?

जो काया को पवित्र मानते हैं, उन्हें उपालम्भ देते हुए कहते हैं—

नवस्रोतः स्रवद्विस्ररसनिःस्यन्दपिच्छिले ।
देहेऽपि शौचसंकल्पो महन्मोहविजृम्भितम् ॥७३॥

अर्थ—दो नेत्र, दो कान, दो नाक के नथुने, मुख, गुदा और लिंग ; ये शरीर में नौ द्वार हैं, इनमें से निरन्तर झरती रहती गंदगी (बदबूदार घिनौनी चीज) से देह लिपटा रहता है। ऐसे घिनौने शरीर के बारे में भी पवित्रता की कल्पना करना, महामोह की ही विडम्बना है।

इसके सम्बन्ध में अंकित आन्तरश्लोकों का भावार्थ प्रस्तुत कर रहे हैं—"वीर्य और रज से उत्पन्न होने वाला, मल के रस से बढ़ने वाला और गर्भ में जरायु (पतली चमड़ी की झिल्ली) से ढका हुआ यह शरीर कैसे पवित्र हो सकता है ? माता के खाये हुए अन्न, जल, पेयपदार्थ से उत्पन्न, रसनाड़ी द्वारा बह कर आये हुए उस रस को पी-पी कर संवर्धित ; इस शरीर को कौन पवित्र मानेगा ? अशुचिदोष एवं धातुओं के मल से व्याप्त, कृमि, केंचुआ आदि के स्थानरूप से रोगरूपी सर्प जिसके चारों ओर लिपटे हुए हैं, ऐसे शरीर को कौन पवित्र कह सकता है ? विलेपन करने के लिए अगर, कपूर, चन्दन, कक्कोल, कस्तूरी आदि सुगन्धित पदार्थ घिस कर लगाये हों, वे भी कुछ देर बाद मलिन हो जाते हैं, तब इस शरीर में शुद्धता कैसे हो सकती है ? सुगन्धित ताम्बूल (पान) मुंह में दबा कर रात को सो जाए और प्रातःकाल जागने के बाद सूंघे तो मुंह में से बदबू निकलती है, तो फिर इस शरीर को कैसे शुद्ध माना जाए ? स्वभाव से सुगन्धित गन्ध, धूप, फूलों की माला आदि चीजें भी शरीर के सम्पर्क से दुर्गन्धमय बन जाती हैं, तब इस शरीर को पवित्र कैसे कहा जाय ? शराब के गंदे घड़े के समान इस शरीर पर सैकड़ों बार तेलमालिश करने या विलेपन करने पर अथवा करोड़ों घड़ों से इसे धोने पर भी यह पवित्र नहीं हो सकता। जो लोग कहते हैं कि मिट्टी, पानी, हवा, सूर्य-किरण आदि से शरीर की शुद्धि हो जाती है, उन्हें लकीर के फकीर समझने चाहिए। यह बात तो ठोक-पीट कर वैद्यराज बनाने के समान है। मद, अभिमान और काम के दोषों को दूर करने वाला साधक शरीर के प्रति अशुचिभावना द्वारा ही निर्ममत्व के महाभार को उठाने में समर्थ हो सकता है। अधिक क्या लिखें। बस, यही अशुचिभावना है।

अब आस्रवभावना का स्वरूप बताते हैं—

मनोवाक्कायकर्माणि योगाः कर्म शुभाशुभम् ।
यदाश्रवन्ति जन्तूनामाश्रवास्तेन कीर्तिताः ।।७४।।

अर्थ—मन, वचन और काया के व्यापार (प्रवृत्ति या क्रिया) योग कहलाते हैं। इन योगों के द्वारा ही जीवों में शुभाशुभ कर्म चारों ओर से खिंच कर आते हैं। इसीलिए इनको (योगों को) ही 'आश्रव' कहा गया।

व्याख्या—शरीरधारी आत्मा अपने समस्त आत्मप्रदेशों से मनोयोग्य शुभाशुभ पुद्गल मनन करने के लिए ग्रहण करता है। तथा उसमें अवलम्बन करणभाव का लेता है। इसकी अपेक्षा से आत्मा को विशेष पराक्रम करना पड़ता है, उसे मनोयोग कहते हैं। वह मन पचेन्द्रिय के होता है; तथा देहधारी आत्मा वचनयोग से पुद्गल ग्रहण कर छोड़ देता है। आत्मा उस वचनत्व से करणता प्राप्त करता है। उक्त वचनकरण के सम्बन्ध से आत्मा में बोलने की शक्ति प्राप्त होती है, उसे ही वचनयोग कहते हैं। वह द्वीन्द्रियजीव को होता है। काया का अर्थ है, आत्मा का निवासस्थान। काया के योग से ही जीव में वीर्य-परिणाम उत्पन्न होते हैं, इसे ही कायायोग कहते हैं। मन, वचन और काया इन तीनों के सयोग से आत्मा में वीर्यरूप में योग वैसे ही परिणत होता है, जैसे अग्नि के संयोग से ईंट आदि लाल रंग वाली बन जाती है। कहा भी है—वीर्य, स्थाम, उत्साह, पराक्रम, चेष्टा, शक्ति और सामर्थ्य, ये सब शब्द योग के पर्यायवाची हैं। यह योग दुर्बल या वृद्ध मनुष्य को लट्ठी के सहारे की तरह जीव का उपकारी सहायक है। मन के योग्य पुद्गलों का आत्मप्रदेश में परिणमन होना मनोयोग है; भाषायोग्य पुद्गलों का वचनत्व-वक्तृत्वरूप में परिणमन होना वचनयोग है और कायायोग्य पुद्गलों का गमनादि योग्य क्रिया के हेतुरूप में परिणमन होना, कायायोग है। यह योग शुभ और अशुभ दो प्रकार का है। इससे सातावेदनीय और असातावेदनीय कर्म उत्पन्न होते हैं; इस कारण इसे आश्रव कहा है। जिससे आत्मा में कर्मों का आगमन होता रहे, उसे आश्रव कहते हैं। जिससे शुभाशुभ कर्मों का आगमन-आश्रव हो, उसे योग कहा है; क्योंकि इससे तदनुरूप कार्य होता है; इसलिए विवेक से इन्हें शुभ और अशुभ-कर्म के हेतु बताते हैं—

मैत्र्यादिवासितं चेत कर्म सूते शुभात्मकम् ।
कषाय-विषयाक्रान्तं वितनोत्यशुभं मनः ।।७५।।

अर्थ—मैत्री, प्रमोद, करुणा और उपेक्षा (माध्यस्थ्य) लक्षण से युक्त चार भावनाओं से भावित मन पुण्यरूप शुभकर्म उपार्जित करता है। इससे सातावेदनीय, सम्यक्त्व, हास्य, रति, पुरुषवेद, शुभायु, शुभनाम, और शुभगोत्र प्राप्त करता है, जबकि वही मन क्रोधादि-कषायों और इन्द्रियविषयों से आक्रान्त (अभिभूत) होने पर अशुभकर्म उपार्जित करता है। इससे असातावेदनीय आदि प्राप्त करता है।

शुभार्जनाय निर्मिथ्यं श्रुतज्ञानाश्रितं वचः ।
विपरीतं पुनर्ज्ञेयं अशुभार्जनहेतवे ।।७६।।

अर्थ—शुभकर्म के उपार्जन के लिए द्वादशांगी गणिपिटकरूप श्रुतज्ञान के अनुकूल वचन बोलने चाहिए। इसके विपरीत अशुभकर्म के उपार्जन के लिए श्रुतज्ञानविरोधी वचन जानने चाहिए।

शरीरेण सुगुप्तेन शरीरी चिनुते शुभम्।
सततारम्भिणा जन्तुघातकेनाऽशुभं पुनः ॥७७॥

अर्थ— सावद्य-कुचेष्टाओं से सुगुप्त (बचाये हुए) शरीर से शरीरी (जीव) शुभकर्मों का संचय करता है, जबकि सतत आरम्भ में प्रवृत्त रहने वाले या प्राणियों की हिंसा करने वाले शरीर से वही अशुभ कर्मों का संग्रह करता है।

व्याख्या—सम्यक्रूप से कुप्रवृत्तियों से रक्षित काया की प्रवृत्ति अथवा कायोत्सर्ग आदि की स्थिति में निश्चेष्टापूर्वक काया की प्रवृत्ति करना काययोग है। ऐसे काययोग से जीव सातावेदनीय आदि शुभ (पुण्य) कर्मों का उपार्जन करता है; जबकि महारम्भ या लगातार आरम्भ में प्रवृत्त अथवा जीवों के घातक शरीर से जीव असातावेदनीय आदि अशुभ (पाप) कर्मों का उपार्जन करता है। निष्कर्ष यह है कि मूल मे शुभाशुभ योग से शुभाशुभ कर्म उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार प्रतिपादन करने से कार्य-कारण-भाव मे विरोध नहीं आता। 'शुभयोग से शरीर शुभफल का हेतु बनता है', यह बात यहाँ प्रसंगवश कही गई है। भावना-प्रकरण में तो अशुभयोग से अशुभ फल का हेतु होते हुए भी उससे वैराग्य पैदा हो जाता है। इसलिए कार्यकारणभाव का प्रतिपादन करना चाहिए। इसको कहे बिना भी जीव अशुभहेतु का संग्रह कर बैठते हैं।

कषाया विषया योगाः प्रमादाऽविरती तथा।
मिथ्यात्वमार्त्तरौद्रे, चेत्यशुभप्रतिहेतवः ॥७८॥

अर्थ—कषाय, पांचों इन्द्रियों के विषय, अशुभयोग, प्रमाद, अविरति, मिथ्यात्व और आर्त-रौद्रध्यान; ये सभी अशुभकर्मबन्धन के हेतु हैं।

व्याख्या—क्रोध, मान, माया, लोभरूप चार कषाय, कषायों से सम्बन्धित हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, पुरुषवेद, स्त्रीवेद और नपुंसकवेद, ये मिला कर नौ नोकषाय, पांचों इन्द्रियों के २३ विषयों की कामना, मन-वचन काया के व्यापाररूप तीन योग; अज्ञान, संशय विपर्यय, राग-द्वेष, स्मृतिभ्रंश, धर्म के प्रति अनादर, योगों में दुष्प्रवृत्ति, इस तरह आठ प्रकार का प्रमाद, पाप का अप्रत्याख्यानरूप अविरति, मिथ्यादर्शन, आर्तध्यान और रौद्रध्यान का सेवन, ये सब अशुभकर्मों के आगमन (आश्रव) के कारण है। यहाँ प्रश्न होता है कि इन (उपर्युक्त) सबको तो बन्धन के हेतु कहे हैं। जैसे कि वाचकमुख्यश्री उमास्वाति ने कहा है- '**मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः**' अर्थात् मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और अशुभयोग ये कर्मबन्ध के हेतु हैं।' तब फिर आश्रव-भावना मे आश्रव के हेतु न कह कर इन बन्धहेतुओं को क्यों कहा गया? इसके उत्तर में कहना है कि तुम्हारा प्रश्न यथार्थ हैं, महापुरुषों ने इन्हें आश्रवभावना में ही कहा है, बन्ध को भावना के रूप मे नहीं बताया। आश्रवभावना ही उसे समझा जा सकता है; क्योंकि आश्रव से ग्रहण किया हुआ कर्मपुद्गल आत्मा के साथ सम्बद्ध होने पर बन्ध कहलाता है। इसीलिए तत्त्वार्थसूत्र में आगे कहा है- '**सकषायत्वाज्जीवः**

कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बन्धः' अर्थात् कषायसहित जीव कर्म के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है, उसे बन्ध कहते हैं। इसीलिए बन्ध और आश्रव दोनों के अन्तर की यहाँ विवक्षा नहीं की। फिर यह शंका उठाई जाती है कि आत्मा के साथ कर्मपुद्गलों का क्षीर-नीर की तरह एकमेक हो जाना बन्ध कहलाता है; तब फिर आश्रव को बन्ध क्यों नहीं कहा जाता? इसका समाधान यह है—यद्यपि तुम्हारी बात युक्तियुक्त है, तथापि आश्रव द्वारा नहीं ग्रहण किये हुए कर्मपुद्गल बन्ध के अन्तर्गत कैसे हो सकते हैं? इस कारण कर्मपुद्गलों के ग्रहण के लिए कारणरूप आश्रव को बन्ध का हेतु बताने में कोई दोष नहीं है। फिर यह सवाल उठता है कि तो फिर उपर्युक्त पांचों को आश्रवहेतु कहना चाहिए, बन्धहेतु कहना व्यर्थ है! उत्तर मे कहते हैं ऐसी बात नही है। यहाँ बन्ध और आश्रव की एकरूपता की दृष्टि से कहा है, वस्तुतः यह पाठ आश्रवहेतु का है; इसलिए सबको अपनी-अपनी जगह यथार्थरूप में समझ लेना।

यहाँ आन्तरश्लोकों का भावार्थ प्रस्तुत करते हैं—"कर्मपुद्गलों को ग्रहण करने के कारण यह आश्रव कहलाता है। कर्म के ज्ञानावरणीय आदि ८ भेद हैं। **ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्म** के आश्रवहेतु ये हैं—'ज्ञान-दर्शनरूप गुण और इन गुणों से युक्त गुणियों के ज्ञानदर्शन प्राप्त करने में अन्तराय (विघ्न) डालना, उन्हें खत्म करना, उनकी निन्दा व आशातना करना, उनकी हत्या करना, उनके साथ डाह या ईर्ष्या करना। **सातावेदनीय** (पुण्य) कर्म के आश्रवहेतु ये हैं—देवपूजा, गुरु-सेवा, सुपात्रदान, दया, क्षमा, संयमासंयम, देशविरति, कर्म से मलिन न होना, बालतप आदि। **असातावेदनीय** (पाप) कर्म के आश्रवहेतु ये हैं—स्वयं दुःखी होना, दूसरों को दुःखी करना, शोक करना-कराना, वध, उपताप, आक्रन्दन (विलाप) एवं पश्चात्ताप करना-कराना। **दर्शनमोहनीय कर्म के आश्रव** के हेतु ये हैं—वीतराग, श्रुतज्ञान, संघ, धर्म और सब देवों की निन्दा करना, तीव्र मिथ्यात्व के परिणामवश सर्वज्ञ, सिद्ध परमात्मा एवं अर्हन्तदेव या देवों के लिए अपलाप करना, इन्हें झुठलाना, इनके अस्तित्व से इन्कार करना, धर्मात्मा पुरुषों पर दोषारोपण करना, उन्मार्ग का उपदेश या कथन करना, अनर्थ का आग्रह रखना, असंयमी की पूजा-प्रतिष्ठा करना, पूर्वापरविचार किये बिना कार्य करना और गुरु आदि का अपमान वगैरह करना; इत्यादि। ऐसे अकार्य करने वालों को सम्यग्दर्शन प्राप्त होना अतिकठिन होता है। कषाय के उदय से आत्मा में तीव्र परिणाम (आवेश) होना **चारित्रमोहनीय कर्म** के आश्रव का हेतु है। इससे जीव को चारित्ररत्न प्राप्त नहीं होता। **हास्यमोहनीयनोकषाय** आश्रव के हेतु—हास्य करने ता उत्तेजन पैदा होना, कामोत्तेजक मजाक करना, हंसी मजाक उडाने का स्वभाव, अधिक बोलते रहना, दीनताभरे वचन बोलना आदि। **रतिनोकषाय-आश्रवहेतु**—नये-नये ग्राम, देश, नगरादि देखने की उत्कण्ठा, अश्लील चित्रादि देखने का शौक, आमोद-प्रमोद का स्वभाव, खेलतमाशे देखने की आदत, दूसरे का मन ललचाना, दूसरे को आकर्षित करना आदि। **अरतिनोकषाय-आश्रवहेतु**—दूसरे की रति (प्रेम) का भंग करना, बुरे (अकुशल) कार्यों को प्रोत्साहन देना आदि। **भयनोकषाय-आश्रवहेतु**—स्वयं भयभीत होना, दूसरों को डराना-धमकाना, आतंक पैदा करना, क्रूर (निर्दय) बनना, हैरान करना, पीड़ित करना आदि। **शोकनोकषाय-आश्रवहेतु**—स्वयं शोक (चिन्ता) करना, दूसरे को शोकमग्न करना, शोक के वशीभूत (अतिचिन्तित) हो कर रोना, विलाप करना, दुःखित होना आदि। **जुगुप्सानोकषाय-आश्रव के हेतु**—चतुर्विधसंघ की निन्दा करना, अवर्णवाद (अपशब्द) कहना, संघ एवं साधुओं की बदनामी करना, गाली देना सदाचार, धर्म एवं सदाचारी से जुगुप्सा, घृणा करना, दूसरों में उनके प्रति नफरत फैलाना, दूसरों की श्रद्धा डांवाडोल करना आदि। **स्त्रीवेदनोकषाय-आश्रव के हेतु ये हैं**—ईर्ष्या, विषया-

सक्ति, मूर्च्छा, असत्यवादिता, अतिवक्रता, दम्भ (माया) करना, परदारसेवन में आसक्ति रखना आदि। **पुरुषवेदनोकषाय-आश्रवहेतु**—अपनी स्त्री में ही संतोष रखना, ईर्ष्यारहित वृत्ति, कषायमन्दता, सुन्दर आचारसेवन आदि। **नपुंसकवेदनोकषाय-आश्रवहेतु**—'स्त्रीपुरुष दोनों के साथ मैथुनसेवन की लालसा, उग्र कषाय, तीव्र कामाभिलाषा, व्रताचरण में दम्भ करना, स्त्री का व्रत-भंग करना आदि। **चारित्र-मोहनीयकर्म के सामान्यरूप में आश्रवहेतु**—साधुओं की निन्दा करना, धर्म का विरोधी बनना, धर्माचरण मे विघ्न डालना, मद्यमांस में रत रहना, अविरति की प्रशंसा करना, श्रावकधर्म-पालन में विघ्न डालना, अचारित्रीजनों के गुणगान करना, चारित्र में दोष बताना, कषाय, नोकषाय या अन्य आवेश की उदीरणा (उत्तेजना) पैदा करना आदि। **आयुष्यकर्म के आश्रव के हेतु**—पंचेन्द्रिय जीवों का वध करना, बहुत ही आरम्भ करना, महापरिग्रह रखना, मांसाहार करना, उपकारी का उपकार भूल जाना, बल्कि अनुपकार करना, सदा वैरभाव रखना, रौद्रध्यान करना, मिथ्यात्वानुबन्धी कषाय, कृष्ण-नील-कापोतलेश्या रखना, झूठ बोलना, परद्रव्य का अपहरण करना, बार-बार मैथुन-सेवन करना, इन्द्रियों को निरकुश रखना आदि **नरकायु-आश्रव** के हेतु हैं; उन्मार्ग का उपदेश देना, सन्मार्ग का लोप करना, चित्त में मूढ़ता रखना, आर्त्तध्यान करना, शल्य से युक्त रहना, माया करना, आरम्भ-परिग्रह में रत रहना, अतिचारसहित व्रत एवं शील का पालन, नील और कापोत लेश्या रखना, अप्रत्याख्यानावरणीय कषाय-सेवन ये **तिर्यञ्चायु-आश्रव** के हेतु हैं। अल्पारम्भ, अल्पपरिग्रह, स्वभावाविक मृदुता (नम्रता) सरलता कापोत और तेजोलेश्या वाला, धर्मध्यान में अनुराग, प्रत्याख्यानीकषाय, मध्यमपरिणामी, सत्कार करने वाला, देव-गुरु का पूजन, आगन्तुक का मधुरवचनों से सत्कार, प्रियभाषण, सुखपूर्वक समझी जा सकने वाली लोकयात्रा में माध्यस्थ्यभाव, ये सब **मनुष्यायु-आश्रव** के हेतु हैं और **देवायु-आश्रव** के हेतु ये हैं—सरागसंयम, देशसंयम, अकामनिर्जरा, कल्याणकारक मित्र से सम्पर्क रखना, धर्मश्रवण कराने का स्वभाव, योग्यपात्र को दान देना, तपःश्रद्धा, रत्नत्रय की विराधना न करना, मृत्यु के समय पद्म-पीतलेश्या के परिणाम, बालतप करना, अग्नि, जल आदि साधनों से प्राणत्याग करने की वृत्ति, अव्यक्त सामायिक करना आदि **देवायुकर्म के आश्रव का हेतु** है। **नामकर्म-आश्रव के हेतु**—मनवचनकाया की वक्रता, परवंचन, माया के प्रयोग करना, मिथ्यात्व, चुगली, चंचलचित्त रखना, नकली बनावटी सोना आदि बनाना, झूठी साक्षी देना; वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श आदि के सम्बन्ध में अन्यथा (विपरीत) कथन करना, किसी के अंगोपांग काट देना, यंत्र-कर्म करना अथवा पक्षियों को पींजरे में बंद करना, झूठे नाप-तोल (गज व बांट) रखना, दूसरे की निन्दा एवं स्वप्रशंसा करना; हिंसा-असत्य-चोरी-अब्रह्मचर्य-महारम्भ-महापरिग्रह-सेवन करना, कठोर असभ्यवचन बोलना, अच्छा वेष धारण करने का अभिमान करना, उटपटांग यद्वातद्वा बोलना, आक्रोश करना, सौभाग्य (सुहाग) नष्ट करना, कामण-टुमण (मारण-मोहन-उच्चाटन आदि) का प्रयोग करना, दूसरे से उपद्रव कराना या स्वयं करना, कौतुक (खेलतमाशे) करना-कराना, भांड-विदूषक की-सी चेष्टा करना, किसी की फजीहत या बदनामी करना, वेश्या को आभूषण देना, दावाग्नि लगाना, देवादि के लिए गंध (पदार्थ) की चोरी करना, तीव्र कषाय करना, मन्दिर, उपाश्रय या उद्यान नष्ट करना या उजाड़ना, कोयले बनाने या बेचने का धंधा करना, ये सब **अशुभ-नामकर्म-आश्रव** के हेतु हैं। इन (पूर्वोक्त) से विपरीत तथा संसारभीरुता, प्रमाद त्याग करना, सद्भाव में पूर्ण-अपूर्ण रहना, क्षमादि गुण धारण करना, धर्मात्मा पुरुषों के दर्शन से आनन्द मानना, उनका स्वागत करना इत्यादि; **शुभनामकर्म-आश्रव** के हेतु हैं। अरिहन्त, सिद्ध, गुरु, स्थविर, बहुश्रुत, गच्छ, श्रुतज्ञान, तपस्वी आदि की भक्ति करना, आवश्यक, व्रत और शील में अप्रमाद रखना, विनय, ज्ञानाभ्यास,

तप, त्याग, बार-बार ध्यान करना, तीर्थप्रभावना, सघ में समाधि करना, साधुओं की सेवा (वैयावृत्य), अपूर्व नवीन ज्ञान ग्रहण करना और दर्शनविशुद्धि इन बीस स्थानकों (तप) की आराधना तीर्थंकरनामकर्म आश्रव की हेतु है। प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेव भगवान् और अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर स्वामी ने इन बीस स्थानक-तप की आराधना की थी, शेष तीर्थंकरों ने इनमें से एक, दो, तीन या सबकी आराधना की थी। **गोत्रकर्म के आश्रव के हेतु**--दूसरे की निन्दा, मजाक, अवज्ञा, अनादर करना, सद्गुणों का लोप करना, किसी में दोष हो या न हो, फिर भी दोषों का कथन करना, आत्मप्रशंसा करना, अपने में गुण हो या न हो, लेकिन गुणों का ही कथन करना, अपने दोषों को छिपाना, जाति आदि का अभिमान करना ; ये सब नीचगोत्र-नामकर्म के आश्रवहेतु हैं और इनसे विपरीत अभिमानरहित रहना, मन, वचन, काया से विनय करना आदि उच्चगोत्र के आश्रव के हेतु हैं। **अन्तरायकर्म के आश्रव के हेतु**—दान, लाभ, पराक्रम (वीर्य), भोग और उपभोग इनमें कारणवश या अकारण ही विघ्न डालना, अन्तराय कर्म के आश्रव का हेतु है। प्रसंगवश यह आश्रव शुभ भी हो जाता है, अन्यथा जीवों को वैराग्य का कोई निमित्त नहीं रहता। इस प्रकार आश्रव को अशुभ जान कर भव्यजीवों को निर्ममत्व के सम्पादनहेतु आश्रवभावना का चिन्तन करना चाहिये।

अब संवरभावना का निरूपण करते हैं—

सर्वेषामास्रवाणां तु निरोधः संवरः स्मृतः।
स पुनर्भिद्यते द्वेधा, द्रव्यभावविभेदतः ॥७९॥

अर्थ—पूर्वोक्त सभी आश्रवों को रोकना संवर कहलाता है। यह तो अयोगी केवलियों में ही होता है। यह कथन सर्वसंवर की अपेक्षा से है। एक, दो, तीन आदि आश्रवों को रोकना देशसंवर कहलाता है। सर्वसंवर अयोगीकेवली नामक चौदहवें गुणस्थानक में होता है। सर्वसंवर और देशसंवर दोनों के द्रव्य और भाव की अपेक्षा से दो-दो भेद होते हैं।

अब उन दो भेदों के सम्बन्ध में कहते हैं—

यः कर्म पुद्‌गलादानच्छेदः स द्रव्यसंवरः।
भवहेतुक्रिया-त्यागः स पुनर्भावसंवरः ॥८०॥

अर्थ—आश्रवद्वार से कर्मपुद्‌गलों के आगमन का निरोध करना, द्रव्यसंवर है, और संसार की कारणभूत क्रियाओं का त्याग करना, भावसंवर है।'

अब कषाय, विषय, योग आदि से अशुभकर्म हेतु के प्रतिपक्षभूत अर्थात् विरोधी उपाय की महत्ता बताते हैं—

येन येन ह्युपायेन, रुध्यते यो य आश्रवः।
तस्य तस्य निरोधाय, स स योज्यो मनीषिभिः ॥८१॥

अर्थ—जो जो आस्रव जिस-जिस उपाय से रोका जा सकता है, उसे रोकने के लिए विवेकीपुरुष उस उस उपाय को काम में लाए।

आश्रव के निरोधोपाय बताते हैं—

क्षमया मृदुभावेन, ऋजुत्वेनाऽप्यनीहया ।
क्रोधं मानं तथा माया, लोभं रुन्ध्याद् यथाक्रमम् ।।८२।।

अर्थ—संयमप्राप्ति के लिए प्रयत्न करने वाला योगी क्षमा से क्रोध को, नम्रता से मान को, सरलता से माया को और संतोष से लोभ को रोके ।

कषायों के प्रतिपक्षीभावों से क्षय बता कर अब विषयों का संवर कहते हैं—

असंयमकृतोत्सेकान्, विषयान् विषसन्निभान् ।
निराकुर्यादखण्डेन, संयमेन महामतिः ।।८३।।

अर्थ—इन्द्रियों पर असंयम से प्रबल बने हुए, विषतुल्य विषयों को महाबुद्धिमान मुनि अखंड-संयम से रोके ।

भावार्थ—विषयसुख भोगते समय मधुर लगता है, लेकिन परिणाम में विष के समान होता है। अतः स्पर्शादिविषयों में उन्मत्त बनी हुई इन्द्रियों के सामर्थ्य को अखंड संयम से ही रोका जा सकता है ।

अब योग, प्रमाद और अविरति के प्रतिपक्ष को कहते हैं—

तिसृभिर्गुप्तिभिर्योगान्, प्रमादं चाप्रमादतः ।
सावद्ययोगहानेनाविरतिं, चापि साधयेत् ।।८४।।

अर्थ—मन, वचन और काया के योग (व्यापार) को मन, वचन और काया की रक्षा रूप तीन गुप्तियों द्वारा, मद्यपान, विषय-सेवन, कषाय, निद्रा, विकथारूप पांच प्रकार के अथवा अज्ञान, संशय, विपर्यय, राग, द्वेष, स्मृतिभ्रंश, धर्म में अनादर, योगों की दुष्प्रवृत्ति-रूप आठ प्रकार के प्रमाद के प्रतिपक्षी अप्रमाद को सिद्ध करे और सावद्य (पाप) व्यापार वाले योग को त्याग कर अविरति को विरति से सिद्ध करे ।

अब मिथ्यात्व एवं आर्त्त-रौद्रध्यान के प्रतिपक्षी कहते हैं—

सद्दर्शनेन, मिथ्यात्वं शुभस्थैर्येण चेतसा ।
विजयेतार्त्त-रौद्रे च संवरार्थं कृतोद्यमः ।।८५।।

अर्थ—सम्यग्दर्शन से मिथ्यात्व पर विजय प्राप्त करे, धर्मध्यान-शुक्लध्यानरूप चित्त की स्थिरता से आर्त्तरौद्रध्यान पर विजय प्राप्त करे। कौन करे? संवर के लिए उद्यम करने वाला योगी करे ।

इस सम्बन्धी आंतरश्लोकों का भावार्थ कहते हैं—

व्याख्या—जिस घर के चारों तरफ राजमार्ग हों और बहुत से दरवाजे हों, और वे बंद नहीं किए गए हों तो उनमें धूल अवश्य घुसती है। और यदि अंदर की दीवार खिड़की या दरवाजे पर तेल लगा हो, वे चिकने हों तो धूल उस पर अच्छी तरह चिपक कर उनके साथ एकरूप हो जाती है। परन्तु दरवाजे बन्द किए गये हों तो धूल अन्दर प्रवेश नहीं कर सकती और न तेल के साथ एकरूप हो

कर चिपक भी सकती है। अथवा मान लो, एक तालाब है, उसमें पानी आने के सभी रास्ते खोल दिये जांय तो पानी उसमें तेजी से घुस जाता है, और अगर पानी आने के द्वार बन्द कर दिये जांय तो जरा भी पानी उसमें नहीं आ सकता। जैसे नौका में छिद्र हो जाए तो उसमें पानी भर जाता है, किन्तु छिद्र बंद कर दिया जाए तो उसमें जरा भी पानी प्रवेश नहीं कर सकता ; वैसे ही आस्रवद्वाररूप त्रियोगों को चारों तरफ से रोक दिया जाए तो संवरस्वरूप आत्मा में कर्मद्रव्य का प्रवेश नहीं हो सकता। मतलब यह है कि संवर करने से आस्रवद्वार का निरोध होता है। और क्षमा आदि भेद से संवर अनेक प्रकार का है। जिस जिसका संवर किया हो, उसे उस संवर के नाम से प्रतिपादन किया जाता है। फिर जिस गुणस्थानक में जो-जो संवर होता है, उसे उसी संवर के नाम से पुकारा जाता है। जैसे मिथ्यात्व का अनुदय हो तो उस गुणस्थानक में मिथ्यात्वसंवर कहलाता है। तथा देशविरति आदि में, अविरति का संवर और अप्रमत्तसंयतादि में प्रमादसंवर माना गया है। प्रशान्त और क्षीणमोहादिक गुणस्थान में कषायसंवर होता है ; अयोगिकेवलिगुणस्थान में संपूर्ण योग का संवर होता है। इस तरह आस्रवनिरोध के कारणरूप संवर का विस्तृत वर्णन किया। अतः भावनागण-समुदाय में शिरोमणि संवरभावना का भव्यजीव चिन्तन करे। इति संवरभावना।'

अब निर्जराभावना कहते हैं—

संसारबीजभूतानां, कर्मणां जरणादिह।
निर्जरा सा स्मृता द्वेधा, सकामाकामवर्जिता ॥८६॥

अर्थ—संसार-भ्रमण के बीजभूत कर्मों का आत्मप्रदेश से झड़ जाना या पृथक हो जाना निर्जरा है। वह दो प्रकार की है—सकामनिर्जरा और अकामनिर्जरा।

व्याख्या—चार गति में भ्रमणस्वरूप संसार के कारणभूत कर्मों का आत्मप्रदेश से रसानुभवपूर्व कर्मपुद्गलों के खिर जाने, अलग हो जाने को शास्त्रों में निर्जरा कहते हैं। वह निर्जरा दो प्रकार की है—'मेरे कर्मों की निर्जरा हो' ऐसी इच्छापूर्वक या विशुद्ध उद्देश्यपूर्वक तप आदि करना ; सकामनिर्जरा है। इस लोक और परलोक के फल की इच्छा करना निर्जरा नहीं है, क्योंकि साधक के लिए ऐसी इच्छा करना निषिद्ध है। कहा भी है कि 'इस लोक के सुख की अभिलाषा से तपस्या नहीं करनी चाहिए, परलोक में ईष्टसुखप्राप्ति के लिए भी तप नहीं करना चाहिए ; कीर्ति, प्रशंसा, एवं वाहवाही आदि के लिए भी तपश्चर्या नहीं करनी चाहिए ; निर्जरा (आत्मशुद्धि) के लाभ के सिवाय अन्य प्रयोजन से तप नहीं करना चाहिए।" यह है सकामनिर्जरा का स्वरूप। इसके विपरीत अकामनिर्जरा है, जो पूर्वोक्त अभिलाषा से रहित है। वह इस अभिलाषा से रहित है कि मेरे पापकर्मों का नाश हो।'

पुनः दोनों प्रकार की निर्जरा की व्याख्या करते हैं—

ज्ञेया सकामा यमिनाम्, अकामा त्वन्यदेहिनाम्।
कर्मणां फलवत्पाको यदुपायात् स्वतोऽपि हि ॥८७॥

अर्थ—संयमीपुरुषों की निर्जरा सकाम समझनी चाहिए और उनसे अतिरिक्त जितने भी एकेन्द्रिय से ले कर पंचेन्द्रिय तक के जीव हैं, उनकी निर्जरा अकाम है। जैसे फल दो

प्रकार से पकता है, एक तो उपाय से, दूसरे स्वतः ही पेड़ पर ; वैसे ही जिसमें कर्मों को तप आदि उपायों से शीघ्र भोग कर क्षय किया जाता है, वह सकामनिर्जरा है, और जिसमें समय पर कर्म स्वतः उदय में आ कर अनिच्छा से जबरन भोगे जाते हैं, तब क्षय होते हैं, वह अकाम निर्जरा है।

व्याख्या—'मेरे कर्मों की निर्जरा हो', इस अभिप्राय से जो संयमीपुरुष कर्मक्षय करने के लिए तपस्या करते हैं, उन्हें उस तपस्या से इहलौकिक या पारलौकिक सुख की इच्छा नहीं होती ; वही अकामनिर्जरा है। संयमी के अतिरिक्त एकेन्द्रिय आदि जीवों की कर्मक्षयरूप फल से निरपेक्ष जो निर्जरा है, वह अकामनिर्जरा है। वह इस प्रकार होती है—पृथ्वीकाय से वनस्पतिकाय तक एकेन्द्रिय जीव सर्दी, गर्मी, वर्षा, जल, अग्नि, शस्त्र आदि के घाव, छेदन-भेदन आदि के कारण असातावेदनीय कर्म का अनुभव करते हैं, इससे नीरसकर्म अपने आत्मप्रदेश से अलग हो जाते हैं। विकलेन्द्रिय जीव भूख, प्यास, ठंड, गर्मी, आदि के रूप में तथा पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च छेदन-भेदन, अग्नि, शस्त्र आदि के रूप में असातावेदनीय (दुःख) कर्म भोगते हैं। नरक में तीन प्रकार की भयंकर वेदना होती है—भूख, प्यास, व्याधि, दरिद्रता आदि दुःखों के रूप में वहाँ असातावेदनीय कर्म भोगते हैं। यही हाल असंयमी मनुष्यों का है। मतलब यह कि असंयमी जीव बिना इच्छा के आ पड़े हुए दुःखों को लाचारी से—परवश हो कर भोगते हैं और इस प्रकार कर्मों का आत्मप्रदेश से पृथक् हो जाना अकामनिर्जरा है। यहाँ शंका होती है कि सकाम और अकामनिर्जरा के दोनों भेदों का पृथक स्वरूप तो कोई नहीं दिखाई देता? इसके समाधान के लिए दृष्टान्त देते हैं—असातावेदनीय कर्म का फलभोग दो प्रकार से होता है—अपने आप और उपाय से। जैसे वृक्ष के फल एक तो पेड़ पर स्वतः पक कर नीचे गिर जाते हैं, दूसरे उपाय से पकाये जाते हैं। आम आदि फलों को निर्वातस्थान में घास से ढक कर पकाया जाता है, या फिर वे काल (समय) आने पर स्वतः पेड़ पर ही पक जाते हैं। जिस प्रकार फलों का पकाना दो तरह से होता है, उसी प्रकार कर्मों की निर्जरा भी दो तरह से होती है ; एक तो तपस्या आदि उपाय से शीघ्र निर्जरा हो जाती है, वह सकामनिर्जरा है, और कर्मोदय से कर्म निरुपाय हो कर भोगे जांय, वहाँ अकामनिर्जरा है। इस कारण निर्जरा के दो भेद कहे हैं। फिर शंका उठाई जाती है कि फल दो प्रकार से पकता है, इससे कर्मनिर्जरा का क्या वास्ता?' बेशक सम्बन्ध है, फल पकने के प्रकारों की तरह, कर्मनिर्जरा भी दो प्रकार से होती है। यहाँ पकना निर्जरारूप है। निर्जरा में कर्मफल का पकना होता है।'

अब सकामनिर्जरा के हेतु दृष्टान्त द्वारा स्पष्टतः समझाते हैं—

सदोषमपि दीप्तेन, सुवर्णं वह्निना यथा।
तपोऽग्निना तप्यमानस्तथा जीवो विशुद्ध्यति ॥८८॥

अर्थ—जैसे सदोष (मैलसहित) सोना प्रदीप्त आग में तपाने पर शुद्ध हो जाता है, वैसे अशुभकर्मरूप दोष से युक्त जीव भी तपरूपी अग्नि में तपने पर विशुद्ध हो जाता है।

व्याख्या—जिससे रस आदि धातु एवं कर्म तपें, उसे तप कहते हैं। कहा भी है—'जिससे रस, रुधिर, मांस, चर्बी, हड्डी, मज्जा और शुक्र आदि धातुएँ एवं अशुभकर्म तप कर भस्म हो जांय, उसे निरुक्ति (व्युत्पत्ति) के अनुसार तप कहते हैं। वही निर्जरा का हेतु है।' कहा है कि 'यदि पुष्ट होते हुए

भी दोषों का प्रयत्नपूर्वक शोषण किया जाय तो दोषक्षय होते हैं, इसी प्रकार संवर से रोके हुए संचित कर्मों को आत्मा तपस्या से जला देता है।

तप बाह्य और आभ्यन्तर दो प्रकार का है। सर्वप्रथम बाह्यतप के भेद कहते हैं—

अनशनमौनोदर्यं वृत्तेः संक्षेपणं तथा।
रसत्यागस्तनुक्लेशो लीनतेति बहिस्तपः ॥८९॥

अर्थ—आहारत्यागरूप अनशन, ऊनोदरी, वृत्तिसंक्षेप, रसपरित्याग, कायक्लेश एवं संलीनता ; इस प्रकार बाह्यतप ६ प्रकार का है।

व्याख्या—(१) **अनशन**—तप दो प्रकार का है। एक परिमित समय के लिए, दूसरा जीवन-पर्यन्त तक का। **इत्वरिक अनशन**—जो नमस्कारसहित (नौकारसी) से ले कर भगवान् महावीर के शासन में ६ महीने (लगातार) निराहार तक होता है। श्रीऋषभदेव के शासन में एक वर्ष तक और बीच के २२ तीर्थंकरों के शासन में ८ मास तक का अनशन हो सकता था। **जीवनपर्यन्त का अनशन** तीन प्रकार का है—**पादपोपगमन, इंगिनी और भक्तप्रत्याख्यान। पादपोपगमन** के दो भेद हैं—**व्याघात-सहित, व्याघातरहित।** आयुष्य शेष होने पर किसी व्याधि के उत्पन्न होने से साधक महावेदना भोग रहा हो, उस समय इस प्रकार का अनशन करके प्राणत्याग किया जाय वह सव्याघात होता है ; दूसरा निर्व्याघात अनशन इस प्रकार का होता है कि कोई महाभाग्यशाली यह सोच कर कि 'मैंने अपने शिष्य को ग्रहण व आसेवन शिक्षा दे कर तैयार किया, गच्छ का भलीभांति पालन किया, उग्रविहार भी किया, अब उम्र पक जाने के कारण समाधिमरण के लिए तैयार हुआ हूँ' इस प्रकार उम्र परिपक्व हो जाने पर त्रसस्थावरजन्तुरहित स्थान पर वृक्ष की तरह निश्चेष्ट हो कर स्थिर रहे, चित्त प्राण छूटने तक प्रशस्त ध्यान में स्थिर रखे। इस कारण पादपोगमन अनशन दो प्रकार का कहा। **इंगिनीमरण**—शास्त्रोक्त क्रियाविशेष से युक्त जो अनशन होता है, वह इंगिनी है। इस मरण को स्वीकार करने वाला उसी क्रम से आयुष्य की स्थिति जान कर, तथाप्रकार की स्थंडिलभूमि में अकेला चार प्रकार के आहार का त्याग करके छाया से धूप मे और धूप से छाया में आते-जाते, स्थानपरिवर्तन करते समय शुभध्यान-परायण रह कर समाधिपूर्वक प्राणत्याग करता है। तीसरा यावज्जीव अनशन **भक्तप्रत्याख्यान** है। इसमें साधक गच्छ-सम्प्रदाय में रहता हुआ कोमल संथारा बिछा कर, शरीर और उपकरणों की ममता का त्याग करके चारों आहार का प्रत्याख्यान करे। स्वयं नमस्कारमंत्र का उच्चारण करे अथवा सेवा में रहे हुए साधु नमस्कारमंत्र सुनाएँ। करवट बदलना हो, तब करवट बदले और समाधिपूर्वक मृत्यु स्वीकार करे, उसे भक्तप्रत्याख्यान अनशन कहते हैं। (२) **ऊनोदरी**—जिसमें उदर के लिए पर्याप्त आहार से कम किया जाय, यानी उदर ऊन=कम रखा जाय, वह ऊनोदरी तप कहलाता है। उसकी क्रिया या भाव औनोदर्य है। इसके चार भेद हैं—अल्पाहार-ऊनोदरी, आधे से कम ऊनोदरी, अर्ध-ऊनोदरी, और प्राप्त आहार से कुछ कम ऊनोदरी। पुरुष का आहार ३२ कौर का माना जाता है। यहाँ उत्कृष्ट और जघन्य छोड़ कर मध्यम कवल का ग्रहण करना। अपने मुख-विवर के अनुसार कवल लेना चाहिए ; जिससे मुख विकृतिमय न दिखाई दे। आठ कौर का आहार करना अल्पाहार ऊनोदरी है, जिसमें आधे के करीब (निकट) यानी १२ कौर लिये जांय, वह उपार्ध-ऊनोदरी होती है ; सोलह कौर लिये जांय तो अर्ध-ऊनोदरी होती है। बत्तीस कौर का आहारप्रमाण माना जाता है, उनमें एक, दो आदि क्रम से कम

करते-करते चौबीस कौर तक लेने से कुछ न्यून ऊनोदरी कहलाता है। चारों प्रकारों वाली ऊनोदरी में भी एक-एक कौर कम करने से अनेक भेद वाली ऊनोदरी हो सकती है। यह सब ऊनोदरी-विशेष तप है। स्त्री का आहार २८ कौर का माना जाता है। कहा भी है—'पुरुष की कुक्षि बत्तीस कौर (ग्रास) आहार से पूर्ण हो जाती है, जबकि स्त्री का आहार २८ कौर का समझना।" पूर्वोक्त भेदों के अनुसार स्त्री के लिए भी न्यून आहारादि ऊनोदरी तप समझ लेना चाहिये। (३) **वृत्तिसंक्षेप**—जिससे जीवन टिक सके, उसे वृत्ति कहते हैं। उस वृत्ति का संक्षेप करके दत्ति-परिमाण करना या एक-दो-तीन आदि घर का अभिग्रह (नियम) करना, अथवा मोहल्ला, गाँव या आधे गाँव का नियम करना। अभिग्रह के अन्तर्गत द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावरूप से भी नियम लिया जाता है। (४) **रसपरित्याग**—जो शरीर और धातु को पुष्ट करे, उसे रस कहते हैं; यह रस विकार का कारण होने से शास्त्रीय भाषा में इसे 'विग्गई' अथवा 'विकृतिक' कहते हैं। इसमें मद्य, मांस, मधु, मक्खन, घी, दूध, दही, तेल, गुड़, पकवान, मिठाई इत्यादि विग्गई का त्याग करना रस-त्याग है। (५) **कायाक्लेश**—आगमोक्त-विधि के अनुसार धर्मपालन के लिए काया से कष्ट सहना। यहाँ शका होती है कि 'शरीर तो अचेतनरूप है, फिर उसे कायाक्लेश कैसे हो सकता है? इसके उत्तर में कहते हैं—शरीर और शरीरधारी जीव का क्षीर-नीर-न्यायेन अभेद-सम्बन्ध है। इस कारण आत्मा के क्लेश को कायक्लेश कहा जा सकता है। परम्परानुसार कायक्लेश विशिष्ट आसन आदि करने से होता है। शरीर की शृंगार-विभूषा, साजसज्जा और शुश्रूषा न करना, केशलोच इत्यादि करना भी कायाक्लेश है। शंका होती है—परिषह और कायक्लेश में क्या अन्तर है? इसका समाधान यह है—स्वेच्छा से क्लेश सहन करना कायाक्लेश है, और अनिच्छा से या दूसरे द्वारा दिये हुए क्लेशों-दुःखों का अनुभव करना परिषह है। इस प्रकार इन दोनों में अन्तर है। **संलीनता**—विविक्त आसन, स्त्री-पुरुष-नपुंसक से रहित शून्य घर देवकुल, सभा, पर्वत-गुफा आदि किसी एकान्त, शान्त, विविक्त स्थान में रहना, अपनी इन्द्रियों या अंगोपांगों को सिकोड़ कर रखना, विषयों से गोपन-(रक्षण) करना, मन, वचन, काया, इन्द्रियों तथा कषायों को रोकना संलीनता तप है।

ये छह प्रकार के बाह्य तप हुए। ये तप बाह्यद्रव्यों की अपेक्षा रखते हैं, दूसरों को भी प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं, कुतीर्थियों एवं गृहस्थों के लिए भी आचरणीय हैं; अतः इन्हें बाह्यतप कहा गया है। इन छह प्रकार के बाह्यतपों से आसक्तित्याग, शरीर का लाघव, इन्द्रियविजय करने से संयम की रक्षा और कर्मों की निर्जरा होती है।

अब आभ्यन्तर तप के भेद बताते हैं—

प्रायश्चित्तं, वैयावृत्यं, स्वाध्यायो, विनयोऽपि च।
व्युत्सर्गोऽथ शुभं ध्यानं, षोढेत्याभ्यन्तरं तपः ॥९०॥

अर्थ—प्रायश्चित्त, वैयावृत्य, स्वाध्याय, विनय, व्युत्सर्ग और शुभध्यान ये ६ प्रकार के आभ्यन्तर तप हैं।

व्याख्या—(१) **प्रायश्चित्त**—मूलगुणों और उत्तरगुणों में थोड़े-से भी अतिचार लगे हों, तो वे गुणों को मलिन कर देते हैं। उनकी शुद्धि के लिए प्रायश्चित्त अथवा प्रचुरप्रमाण में जिससे आचारधर्म चलता है, वह अधिकतर साधुसाध्वियों में होता है, उसमें विशुद्ध रहने के लिए जो विचार किया जाता है, स्मरण किया जाता है, वह प्रायश्चित्तरूप अनुष्ठानविशेष कहलाता है, अथवा प्रायश्चित्त वह कहलाता

है, जहाँ अतिचार (व्रतों में) प्राय: यानी अधिकतर मन (चित्त) में ही लगे हों, वचन और काया से फिर वह सेवन नहीं करता हो। अथवा प्राय: यानी पाप और चित्त अर्थात् उसका विशोधन अर्थात्—जिससे पापों की शुद्धि होती हो, वह प्रायश्चित्त है। चिति धातु संज्ञान और विशुद्धि अर्थ में प्रयुक्त होता है। प्रायश्चित्त १० प्रकार का है—(१) आलोचना, (२) प्रतिक्रमण, (३) तदुभय (मिश्र), (४) विवेक, (५) व्युत्सर्ग, (६) तप, (७) छेद, (८) मूल, (९) अनवस्थाप्य और (१०) पारांचिक। **(१) आलोचना**—आलोचना का अर्थ है—गुरु के सम्मुख अपने अपराध प्रगट करना। अपराध जिस प्रकार सेवन किया हो, उसी क्रम से उनके सामने व्यक्त करना चाहिए। जिस अपराध में अधिक प्रायश्चित्त आता हो, उसकी पहले आलोचना करे, बाद में क्रमश: अन्त तक आलोचना करे। जिस प्रकार से दोषों का आसेवन किया हो, उसी प्रकार क्रमानुसार दोषों को गुरु के सामने प्रगट करना आलोचना है। आलोचन प्रायश्चित्त के आनुलोम्य होता है। गीतार्थ शिष्य के लिए ऐसा विधान है कि "वह पंचक, दशक, पंचदशक क्रम से गुरु, लघु, अपराध के अनुरूप जान कर यदि बड़ा अपराध हो तो प्रथम प्रगट करे, तदनन्तर उससे छोटा, फिर उससे भी छोटा इस क्रम से आलोचना करना चाहिए।" **(२) प्रतिक्रमण**—अतिचार के परिहारपूर्वक वापिस स्वस्वरूप मे लौट आना प्रतिक्रमण है। वह **'मिथ्या दुष्कृत'**—युक्त सच्चे हृदय से पाप के प्रायश्चित्त के सहित होता है। उसमें ऐसा निश्चय किया जाता है कि फिर ऐसा पाप नहीं करूंगा। **(३) तदुभय** (मिश्र)—जिसमें आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों साथ हों। पहले गुरु के सामने आलोचना करना; बाद में गुरु की आज्ञानुसार प्रतिक्रमण करना। **(४) विवेक**—सचित्त या जीवयुक्त आहार, पानी, उपकरण, शय्या आदि पदार्थों का त्याग करना। **(५) व्युत्सर्ग—कायोत्सर्ग**; अनेषणीय, दोषयुक्त आदि पदार्थों का त्याग करने में, जाने-आने में, पापयुक्त (बुरे) स्वप्न-दर्शन में, नौका में बैठ कर सामने वाले किनारे पर जाने में, शौचादि के लिए स्थंडिल जाने-आने मे, मल-मूत्र-परिष्ठापन में, विशिष्ट प्रणिधानपूर्वक, मन-वचन-काया के व्यापार का त्याग करने के रूप में, अर्थात् उन दोषों को मिटाने के लिए कायोत्सर्गरूप में प्रायश्चित्त करना। **(६) तप**—छेदग्रन्थ अथवा जीतकल्पसूत्र के अनुसार यदि किसी तप से विशुद्धि होती हो तो उस तप को करना तथा उसका सेवन करना। **(७) छेद**—तपस्या से काबू में न आ सके, ऐसे उद्दण्ड शिष्य का दीक्षापर्याय ५ दिनरात के क्रम से काट देना छेद-प्रायश्चित्त है। **(८) मूल**—महाव्रतों को मूल से वापिस देना। **(९) अनवस्थाप्य**—अतिदुष्टपरिणामी साधु विशेष तप नहीं करता हो, तब उसे व्रत देना, फिर उससे इतना तप कराना कि वह स्वयं उठने-बैठने में भी अशक्त बन जाय। उसे वहाँ तक तप कराने के बाद जब वह दूसरे साधु से प्रार्थना करे—"आर्य! मुझे खड़ा होना है, तब वह साधु उस प्रायश्चित्ती साधु से बात किये बिना चुपचाप उसका कार्य कर दे। कहा भी है—"मुझे खड़ा करो, बिठा दो, भिक्षा ला दो। पात्र-प्रतिलेखन कर दो'; यों वह प्रायश्चित्ती कहे, तब कोपायमान प्रिय बान्धव के समान दूसरा साधु मौनपूर्वक (बिना बोले) उसका कार्य कर दे। इतना तप कर ले, तब उसे बड़ी दीक्षा देनी चाहिए। **(१०) पारांचिक**—प्रायश्चित्त से काम न हो, अथवा उस आखिरी प्रायश्चित्त से बढ़कर—आगे प्रायश्चित्त न हो, अथवा अपराध का अन्तिम स्थान प्राप्त कर लिया हो, उस प्रायश्चित्त को पारांचिक कहते हैं। ऐसे बड़े अपराध करने वाले का वेष से, कुल से, गुण से, अथवा संघ से बहिष्कार करना। पूर्वाचार्यों ने इस १० प्रायश्चित्तों में से छेद तक के प्रायश्चित्त को घाव की चिकित्सा के समान कहा है। इसमें बहुत ही छोटे शल्य—छोटे फांस बाहर निकाले जा सकते हैं, जो शरीर में रक्त तक न पहुंचे हो, केवल चमड़ी के साथ लगे हों; वैसे ही कई छोटे—अपराध (फांस की तरह) प्रायश्चित्त के द्वारा झटपट निकाले (मिटाये) जा सकते हैं। यदि वहाँ छिद्र पड़ गया हो तो मर्दन करने की आवश्य-

कता नहीं; क्योंकि शल्य अल्प होने से छिद्र भी अल्प होता है। दूसरा शल्य ऐसा है कि (फांस) बाहर निकाल दें तो छिद्र का मर्दन करना होता है, परन्तु कान के मैल से छिद्र भरने की जरूरत नहीं है। तीसरे प्रकार का शल्य अधिक गहरा हो गया हो तो उसे बाहर निकाल देने के बाद शल्य-स्थान का मर्दन कर उसमें कान का मैल भर दिया जाता है। चौथे प्रकार का शल्य ऐसा है, जिसे खींच कर बाहर निकाला जाता है, मर्दन किया जाता है और वेदना दूर करने के लिए खून भी दबा कर बाहर निकाल दिया जाता है। पांचवें प्रकार का शल्य ऐसा है, जो अत्यन्त गहरा घुस गया है, उसे निकालने के लिए आने-जाने, चलने आदि की क्रिया बंद की जाती है; छठा शल्य ऐसा है, जिसे खींच कर निकालने के बाद केवल हित, मित, पथ्यकर भोजन किया जाता है, या निराहार रहना पड़ता है। सातवें प्रकार का शल्य ऐसा है, जिसके खींच कर निकालने के बाद उस शल्य से जहां तक खून, मांस आदि दूषित हो गए हो ; वहां तक उसका छेदन कर दिया—गोद दिया जाता है। यदि सर्प, गोह आदि जहरीले जानवर ने काट खाया हो, अथवा दाद, खाज आदि रोग हो गया हो, तथा पहले बताए हुए उपाय से भी पीड़ा न मिटती हो, बल्कि और अधिक बढ़ रही हो तो, शेष अंगो की रक्षा के लिए हड्डी सहित अंग को काट डाला जाता है। इस प्रकार द्रव्यव्रण (बाह्य घाव) के दृष्टान्त से मूलगुण-उत्तरगुणरूप चारित्रशरीर में हुए अपराधरूपी घाव या छिद्र होने पर उसकी चिकित्सा=शुद्धि आलोचना से ले कर छेद तक की प्रायश्चित्तविधि से करनी चाहिए। पूज्य आचार्य श्री भद्रबाहु स्वामी ने कहा है - 'पहला शल्य ऐसा है, जो इतना नोकदार नहीं है, खून तक नहीं पहुंचा है, केवल चमड़ी तक ही लगा है, तो उसे खींच कर निकाल दिया जाता है, घाव इतना गहरा नहीं होता कि उस पर मर्दन करना पड़े। दूसरा शल्य खींच कर मर्दन किया जाता है ; कांटा (शल्य) अगर और अधिक गहरा चला गया हो तो ऐसे तीसरे शल्य को बाहर निकाल कर उस जगह को मर्दन कर दे और छिद्र मे कान का मैल भर दे। चौथे प्रकार के शल्य को खींचने के बाद पीड़ा न हो, इसके लिए उस जगह को दबा कर खून निकाल दिया जाता है। पांचवें प्रकार का शल्य ऐसा है, जो अत्यन्त गहरा चला जाता है, तो उसे निकालना हो तो हलनचलन की क्रिया बद की जाती है। छठे शल्य को निकालने के बाद घाव को मिलाने के लिए हित, मित, पथ्यकर भोजन किया जाता है, अथवा भोजन करना बंद कर दिया जाता है। सातवें प्रकार का शल्य ऐसा होता है कि उसके लगने के बाद अग का जितना भाग सड़ जाता है या बिगड़ जाता है, वहाँ के मांस को काट दिया जाता है। परन्तु इतने पर भी पीड़ा या बीमारी आगे बढ़ती हुई न रुके या सर्प आदि जहरीले जंतु ने काटा हो या खुजली या सड़ान वाला रोग हो गया हो तो शेष अंग की रक्षा के लिए हड्डीसहित उस अंग को काटना पड़ता है। शरीर में इन आठ प्रकार के शल्यों की तरह मूलगुण-उत्तरगुणरूप परमचारित्रपुरुष के शरीर की रक्षा करने के लिए अपराधरूपी शल्य से होने वाले भावरूपी घाव की चिकित्सा करनी चाहिए। भिक्षाचर्या आदि में लगे हुए अतिचाररूप पहले प्रकार के घाव की शुद्धि गुरु के पास जा कर आलोचना करने—प्रगट करने मात्र से हो जाती है। अकस्मात् समिति या गुप्ति से रहित होने के अतिचाररूप दूसरे प्रकार के घाव की शुद्धि प्रतिक्रमण से होती है, शब्दादि विषयों के प्रति जरा राग-द्वेषरूप तृतीय अतिचार (व्रण) लगा हो तो आलोचना व प्रतिक्रमण दोनों से शुद्धि होती है। चौथे में अनैषणीय आहारादि-ग्रहणरूप अतिचार जान कर उसका विवेक करने (परठाने) से शुद्धि होती है। पांचवां अतिचारव्रण कायोत्सर्ग से, छठा अतिचारव्रण तप से, और सातवां अतिचारव्रण छेदविशेष से शुद्ध होता है। प्रमाददोष का त्याग करना, भाव की प्रसन्नता से शल्य-अनवस्था दूर करना, मर्यादा का त्याग न करना, संयम की आराधना दृढ़तापूर्वक करना ; इत्यादि प्रायश्चित्त के फल हैं।

(२) **वैयावृत्य**— निर्ग्रन्थ-प्रवचन या आगम में कथित क्रियाओं के अनुष्ठान में प्रवृत्ति करना या उसका भाव वैयावृत्य है। व्याधि, परिषह, मिथ्यात्व आदि का उपद्रव होने पर उसका प्रतीकार करना तथा बाह्यद्रव्य के अभाव में अपनी काया से अपने पूज्यपुरुषों या रुग्ण आदि साधुओं या संघ आदि की अनुरूप परिचर्या, उपचार या सेवाशुश्रूषा करना भी वैयावृत्य है। आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, तपस्वी नवदीक्षित, रुग्ण-साधु, समानधर्मी, कुल गण और संघ ये १० वैयावृत्य के उत्तम पात्र हैं। इनकी व्याख्या इस प्रकार है—**आचार्य**—जो स्वयं पांच आचारों का विशुद्ध पालन करे एवं दूसरों से पालन करावे; अथवा जिनकी आचर्या—सेवा की जाए, वह आचार्य है। इसके पांच प्रकार हैं—(१) प्रव्राजकाचार्य, (२) दिगाचार्य, (३) उद्देशकाचार्य, (४) समुद्देशकाचार्य और (५) वाचनाचार्य। सामायिक, व्रतादि का आरोपण करने वाले प्रव्राजकाचार्य कहलाते हैं सचित्त अचित्त, मिश्र वस्तु की अनुज्ञा देने वाले दिगाचार्य होते है। योगादि क्रिया कराने वाले तथा श्रुतज्ञान का प्रथम उद्देश करने वाले उद्देशकाचार्य होते हैं। उद्देश करने वाले गुरु के अभाव में उसी श्रुत का समुद्देश और अनुज्ञा की विधि करने वाले समुद्देश कानुज्ञाचार्य होते हैं। परम्परागत उत्सर्ग—अपवादरूप अर्थ की जो व्याख्या करे, प्रवचन का अर्थ बता कर जो उपकार करें; अन्न, निपद्या आदि की जो अनुज्ञा दें, आम्नाय के अर्थ को बतावें, आचारविषयक या स्वाध्यायविषयक कथन करें; वे वाचनाचार्य कहलाते हैं। इस तरह पांच प्रकार के आचार्य होते हैं। इन आचार्यों की अनुज्ञा से साधुसाध्वी विनयपूर्वक जिसके पास शास्त्रों का अध्ययन-स्वाध्याय करें वह **उपाध्याय** है। **स्थविर** का अर्थ सामान्यतया वृद्ध साधु होता है। इसके तीन भेद है—श्रुतस्थविर, दीक्षा स्थविर और वयःस्थविर। समवायांगसूत्र तक का अध्ययन जिसने कर लिया हो, वह श्रुतस्थविर, जिनकी मुनिदीक्षा को २० वर्ष हो गए हों, वह दीक्षास्थविर और जो साठ वर्ष या इससे अधिक उम्र का हो गया हो, वह वय.स्थविर कहलाता है। चार उपवास से ले कर कुछ कम ६ मास तक की तपस्या करने वाला **तपस्वी** कहलाता है। नई दीक्षा लेने वाला, शिक्षा देने के योग्य साधु **शैक्ष्य या नवदीक्षित** कहलाता है। रोगादि से निर्बल क्लिष्ट शरीर वाला मुनि **ग्लानसाधु** होता है। बारह प्रकार के संभोग (व्यवहार) के लेने-देने वाले, व्यवहार वाले **समानधर्मी या साधर्मिक** कहलाते हैं। एक ही जाति या समान समाचारी (आचारसहित) वाले साधुसाध्वियों के गच्छों के समूह को समुदाय तथा चन्द्रादि नाम वाले समूह को **कुल**, एक आचार्य की निश्राय में रहने वाले साधु-समुदाय के गच्छ एवं कुल के समूह को **गण** (जैसे कोटिक आदि गण) तथा साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविकाओं का चतुर्विध समुदाय **संघ** कहलाता है। इन आचार्य से ले कर संघ आदि की, आहार, पानी, वस्त्र, पात्र, उपाश्रय, तख्त, चौकी, पट्टा, शय्या संस्तारक, आदि धर्म-साधन दे कर या औषध भिक्षा आदि दे कर सेवाभक्ति करना, रोग आदि संकट या कोई उपद्रव आने पर उनका वैयावृत्य करना, अटवी पार करने में सहयोग देना, उपसर्ग आदि के मौके पर उनकी सारसंभाल करना इत्यादि वैयावृत्य के रूप है।

(३) **स्वाध्याय**—अकाल के समय को टाल कर, स्वाध्यायकाल में मर्यादापूर्वक स्वाध्याय करना, यानी पोरसी आदि की अपेक्षा से सूत्रादि का अध्ययन करना स्वाध्याय है। स्वाध्याय पाच प्रकार का है—वाचना, पृच्छना, परावर्तन (पर्यटना), अनुप्रेक्षा और धर्मकथा। शिष्यों को सूत्रादि पढ़ाना - **वाचना** है; सूत्र के अर्थ में सन्देह होने पर उसके निवारणार्थ, या अर्थनिश्चय करने के लिए पूछना—**पृच्छना** है; सूत्र और अर्थ का मन में चिन्तन—**अनुप्रेक्षा** है; शुद्ध उच्चारणसहित बार-बार दोहराना—**परावर्तन** है; धर्मोपदेश देना, व्याख्या करना, अनुयोगपूर्वक वर्णन करना **धर्मकथा** है।

(४) **विनय**—जिससे आठ प्रकार के कर्म दूर हो जांय, वह विनय है। उसके चार भेद है—ज्ञानविनय दर्शनविनय, चारित्रविनय और उपचारविनय। अत्यन्त सम्मानपूर्वक ज्ञान ग्रहण करना, अभ्यास या स्मरण करना—ज्ञानविनय है ; सामायिक से ले कर लोकबिन्दुसार तक के श्रुतज्ञान में तीर्थंकरप्रभु ने जो पदार्थ कहे हैं, वे सत्य ही हैं, इस प्रकार निःशंक व श्रद्धावान होना—दर्शनविनय है। चारित्र और चारित्रवान पर सद्‌भाव रखना, उनके सम्मुख स्वागतार्थ जाना, हाथ जोड़ना आदि चारित्रविनय है। परोक्ष में भी उनके लिए मन-वचन-काया से अंजलि करना, उनके गुणोत्कीर्तन करना उन्हें स्मरण आदि करना उपचारविनय है।

(५) **व्युत्सर्ग**—त्याज्य पदार्थों का त्याग करना, व्युत्सर्ग है। इसके भी दो भेद हैं—बाह्य और आभ्यन्तर। बारह प्रकार से अधिक किस्म की उपाधि का त्याग करना—बाह्यव्युत्सर्ग है अथवा अनेषणीय या जीवजन्तु से युक्त सचित्त अन्न जल आदि पदार्थों का त्याग करना भी बाह्य व्युत्सर्ग है। अन्तर में कषायों का तथा मृत्यु के समय शरीर का त्याग करना अथवा उपसर्ग आने पर शरीर पर से ममत्व का त्याग करना आभ्यन्तर व्युत्सर्ग है। प्रश्न होता है कि प्रायश्चित्त के भेदों में पहले व्युत्सर्ग कहा है; फिर यहाँ तप के भेदों में इसे दुबारा क्यों कहा गया ? इसके उत्तर में कहते है—वहाँ तो बार-बार अतिचारों की शुद्धि के लिए कहा गया है। यहाँ सामान्यरूप से निर्जरा के लिए व्युत्सर्गतप बताया गया है, इसलिए इसमें पुनरुक्तिदोष नहीं है।

(६, **शुभध्यान**—आर्त्त और रौद्रध्यान का त्याग कर धर्म और शुक्ल ये दो शुभध्यान करना। आर्त्त-रौद्रध्यान की व्याख्या पहले की जा चुकी है ; धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान की व्याख्या आगे करेंगे।

इस तरह छह प्रकार का आभ्यन्तर तप हुआ। यह तप आभ्यन्तर इसलिए कहा गया है कि यह आभ्यन्तर कर्मों को तपाने-जलाने वाला है, अथवा आत्मा के अन्तर्मुखी होने से केवली भगवान् द्वारा ज्ञात हो सकता है।

द्वादश तपों में सबसे अन्त में ध्यान को इसलिए सर्वोपरि स्थान दिया गया कि मोक्षसाधना में ध्यान की मुख्यता है। कहा भी है—यद्यपि संवर और निर्जरा मोक्ष का मार्ग है, लेकिन इन दोनों में तप श्रेष्ठ है और तपों में भी ध्यान को मोक्ष का मुख्य अंग समझना चाहिए।

अब तप को प्रकटरूप से निर्जरा का कारण बताते हैं—

दीप्यमाने तपोवह्नौ, बाह्ये चाभ्यन्तरेऽपि च।
यमी जरति कर्माणि, दुर्जराण्यपि तत्क्षणात् ॥९१॥

अर्थ—बाह्य और आभ्यन्तरतपरूपी अग्नि जब प्रज्वलित होती है, तब संयमी पुरुष दुःख (मुश्किल) से क्षीण होने वाले ज्ञानावरणीयादि कर्मों को (अथवा दुष्कर्मवन को) शीघ्र जला कर भस्म कर देता है।

व्याख्या—संयम द्वारा तपस्या से कर्मों को जला देने का कारण तो मुख्यतया यह है कि तप से निर्जरा होती है। परन्तु तप निर्जरा का हेतु है, यह तो उपलक्षण से कहा, परन्तु वह संवर का भी हेतु है। वाचकमुख्य उमास्वाति ने कहा है—'तप से संवर और निर्जरा दोनों होती है।' तप संवर करने वाला होने से वह आते हुए नये कर्मपुंज को रोक देता है और पुराने कर्मों की निर्जरा भी करता है तथा

निर्वाणपद प्राप्त कराता है। इस विषय में प्रयुक्त आन्तरश्लोकों का भावार्थ यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं—जैसे चारों ओर से सरोवर के द्वार प्रयत्नपूर्वक बंद कर दिये जांय तो नया जलप्रवाह सरोवर में आने से रुक जाता है; वैसे ही आश्रवों का निरोध करने से संवर से समावृत आत्मा नये-नये कर्मद्रव्यों से नहीं भरता। जिस तरह सरोवर में इकट्ठा किया हुआ जल सूर्य के प्रचण्डताप से सूख जाता है; उसी तरह जीव के पहले बांधे हुए संचित समस्त कर्म तप से सुखाए जांय तो क्षणभर में सूख कर क्षीण हो जाते हैं। बाह्यतप की अपेक्षा आभ्यन्तरतप निर्जरा का प्रबल कारण है। उसमें भी ध्यानतप का तो मुनियों के जीवन में एकछत्र राज्य होता है। दीर्घकाल से उपार्जित बहुत-से प्रबलकर्मों को ध्यानयोगी तत्काल क्षीण कर देता है। जैसे शरीर में उत्पन्न हुआ अजीर्ण आदि विकार (दोष) लंघन करने से सूख जाता है, वैसे ही आत्मा में पूर्वसंचित विकाररूप कर्म तप से सूख जाते हैं। जैसे प्रचण्डवायु से मेघसमूह छिन्न-भिन्न या विलीन हो जाते हैं; वैसे ही तपस्या से भी कर्मसमूह छिन्नभिन्न हो जाते हैं। यदि संवर और निर्जरा इन दोनों से दोनों ओर से कर्मों को क्षय करने का कार्य जारी रहे तो आत्मा प्रकर्षस्थिति प्राप्त करके इन्हीं दोनों की स्थिरता (ध्रुवता) से मोक्ष प्राप्त कर लेता है। दोनों प्रकार के तपश्चरण से निर्जरा करता हुआ निर्मलबुद्धि आत्मा एक दिन सर्वकर्मक्षयरूप मोक्ष प्राप्त करता है। इस प्रकार की निर्भयता से तप को पुष्ट करने वाली, समग्र कर्मों की विघातक, संसारसमुद्र पार करने के लिए सेतुबंध के समान, ममताघात में कारणभूत निर्जराभावना का चिन्तन करना चाहिए।

अब धर्म-स्वाख्यात-भावना के सम्बन्ध में कहते हैं—

स्वाख्यातः खलु धर्मोऽयं भगवद्भिर्जिनोत्तमैः।
यं समालम्बमानो हि, न मज्जेद् भवसागरे ॥९२॥

अर्थ—**जिनोत्तम भगवन्तों ने इस धर्म का भलीभांति प्रतिपादन किया है। जिसका आलम्बन लेने वाला जीव संसारसागर में नहीं डूबता।**

भावार्थ—धर्म का विशेषण यहाँ सु+आ+ख्यात=स्वाख्यात है, जिसका अर्थ है—कुतीर्थिक धर्म की अपेक्षा प्रधानत्व से युक्त, अविधि का निषेध करने वाला तथा मर्यादाओं से निश्चित किया हुआ एवं वीतराग-सर्वज्ञों द्वारा कथित धर्म।

अब इस सम्यग्धर्म के दस भेद कहते हैं—

संयमः सूनृतं शौचं ब्रह्माकिंचनता तपः।
क्षान्तिर्मार्दवमृजुता मुक्तिश्च दशधा स तु ॥९३॥

अर्थ—**वह धर्म दस प्रकार का है—(१) संयम, (२) सत्य, (३) शौच, (४) ब्रह्मचर्य, (५) अकिंचनता, (६) तप, (७) क्षमा, (८) मृदुता, (९) सरलता और (१०) निर्लोभता।**

व्याख्या—(१) **संयम**—का अर्थ जीवदया है। वह १७ प्रकार का है। पृथ्वीकाय, अपकाय, अग्निकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय पर संयम; दो-तीन-चार और पांच इन्द्रियों वाले जीवों का मन-वचन-काया द्वारा कृत, कारित और अनुमोदन से सरम्भ, समारम्भ के त्यागरूप संयम करना; इसी प्रकार पुस्तकादि अजीवरूप संयम भी ९ प्रकार का है। दुःषमकालदोष के प्रभाव से, बुद्धिबल-कम होने से शिष्यों के उपकारार्थ यतनापूर्वक प्रतिलेखन-प्रमार्जन सहितपुस्तकादि रखना **अजीवसंयम** है।

इसी प्रकार **प्रेक्षा-संयम** है, बीज, जन्तु, हरी वनस्पति आदि से रहित स्थंडिलभूमि आँख से देख कर तथा शयन, आसन आदि देख कर करना। सावद्यव्यापारयुक्त गृहस्थ को प्रेरणा न करना; सावद्यकार्यों के प्रति उपेक्षा करना **उपेक्षा-संयम** है। आँख से दृष्टि-प्रतिलेखन करना, रजोहरणादि से भूमि पर शयन-आसनादि का प्रमार्जन करना तथा एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते समय पृथ्वी पर चलते हुए सचित्त, अचित्त या मिश्र पृथ्वी की धूल पैरों के लगी हो तो उसका प्रमार्जन करना—**प्रमार्जनसंयम** है। दोषयुक्त, अनैषणीय आहारपानी हो या अनुपकारक **वस्त्र-पात्र** आदि जीवों से संसक्त हों तो ऐसे अन्न-जल-वस्त्रादि को निरवद्य निर्जीव स्थान पर विवेकपूर्वक परठना (डाल देना) **परिष्ठापनसंयम** है। किसी की हानि, अभिमान, ईर्ष्या आदि से युक्त मन से निवृत्त हो कर उसे धर्मध्यान आदि में प्रवृत्त करना **मन.संयम** है। हिंसाकारी, कठोर, कटु आदि सावद्यवचनों से निवृत्त हो कर शुभभाषा में वचन की प्रवृत्ति करना **वचनसंयम** है। काया से दौड़ना, भागना, कूदना, निरर्थक भटकना आदि सावद्यप्रवृत्तियों का त्याग कर शुभक्रिया में प्रवृत्ति करना **कायासंयम** है। इसीतरह प्राणातिपातनिवृत्तिरूप संयम भी १७ प्रकार का है—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति दो, तीन, चार और पांच इन्द्रियों वाले जीव, अजीव, प्रेक्षा, उपेक्षा, प्रमार्जना, प्रतिलेखना, पारिष्ठापना, मन, वचन और काया का संयम।

(२) **सूनृत**—अर्थात् प्रिय सत्यवचन बोलना। कठोरता, पैशुन्य (चुगली), असभ्यता, चपलता, या जीभ दबा कर, रुक-रुक कर, हकलाते हुए, शीघ्रता से, संदेहयुक्त, ग्राम्य, रागद्वेषयुक्त, कपट-पापसहित, निन्दा आदि वचनों से बच कर माधुर्य, उदार, स्पष्ट, उत्तम पदार्थ प्रगट करने वाला, श्रीअरिहन्तप्रभु के कथनानुसार, सार्थक लोकव्यवहारप्रचलित, भावार्थग्राह्य, देशकालानुरूप, संयमयुक्त, परिमिताक्षरयुक्त, हितकारी गुणों में पूर्ण, वाचना-पृच्छना आदि के समय पूछने पर उत्तर देने के लिए, मृषावादरहित वचन बोलना सूनृत (सत्य) है।

(३) **शौच**—अपने संयम पर पापकर्मरूपी लेप न लगने देना, शौच है। उसमें भी अदत्तादानत्यागरूप या लोभाविष्ट हो कर परधनग्रहणेच्छात्यागरूप **अर्थशौच** मुख्य है। लौकिक ग्रन्थों में भी कहा है—'सभी शौचों में अर्थशौच महान् है। जिसका जीवन अर्थ के मामले में शुचि (पवित्र) है, वह शुचि है। मिट्टी या जल से हुई शुचि (शुद्धि) वास्तविक शुचि नहीं है।" इस प्रकार का अशुचिमान जीव इस लोक या परलोक में भावमलरूप कर्मों का संचय करता है। उसे उपदेश दिया जाय, फिर भी वह अपने कल्याण की बात नहीं मानता। इसलिए यहाँ अदत्तादानत्यागरूप **शौचधर्म** समझना चाहिए।

(४) **ब्रह्मचर्य**—नौ प्रकार की ब्रह्मचर्यगुप्ति से युक्त उपस्थ-संयम, गुप्तेन्द्रिय-विषयक संयम ब्रह्मचर्य है। 'भीमसेन' को संक्षेप में 'भीम' नाम से पुकारा जाता है, वैसे ही यहाँ 'ब्रह्मचर्य' को 'ब्रह्म' कहा है। ब्रह्मचर्य महान् होने से आत्मरमणता के लिए गुरुकुलवास का सेवन करना भी ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य अब्रह्म की निवृत्तिरूप भी है।

(५) **आकिंचन्य**—जिसके पास कुछ भी द्रव्य न हो, वह अकिंचन होता है, उसका भाव आकिंचन्य है। आकिंचन्यधर्म वाले शरीरधारी मुनि उपलक्षण से शरीर, धर्मोपकरण आदि के प्रति या सांसारिक पदार्थों के प्रति निर्ममत्व होते हैं। वे निष्परिग्रही हो कर अपने लिए भोजन पानी आदि भी संयममात्रा के निर्वाह के लिए ही लेते हैं। जैसे गाड़ी के पहिये की गति ठीक रखने के लिए उसकी धुरी में तेल डाला जाता है, वैसे ही शरीररूपी गाड़ी की गति ठीक रखने के लिए वे मूर्च्छारहित हो कर

आहार-पानी लेते हैं। रजोहरण और वस्त्रपात्रादि अन्य उपकरण भी संयम एवं शरीर की रक्षा के लिए धारण करते हैं; किन्तु लोभ या ममता से धारण नहीं करते। यही परिग्रहत्यागरूप आकिंचन्य का रहस्य है।

(६) तप—यह संवर और निर्जरा का हेतुरूप होता है, जिसका वर्णन पहले कर आए हैं। वह पूर्वोक्त बारह प्रकार का होता है, किन्तु प्रकीर्णकरूप मे अनेक प्रकार का भी है। वह इस प्रकार है· यवमध्य, वज्रमध्य, चान्द्रायण, कनकावली, रत्नावली, सर्वतोभद्र, भद्रोत्तर, वर्धमान आयबिलतप इत्यादि। बारह प्रकार की भिक्षुप्रतिमा भी तप है, जिसमें एक महीने से ले कर क्रमशः सात महीने तक सात प्रतिमाएँ है, उसके बाद सात-सात रात्रि की तीन प्रतिमाएँ हैं, फिर तीन दिन-रात्रि की एक और एक दिन-रात्रि की एक प्रतिमा होती है।

(७) क्षान्ति—शक्य हो, या अशक्य, उसे सहन करने के परिणाम बढ़ाना क्षमा है। क्रोध का निमित्त मिलने पर आत्मा मे सद्भाव एवं दुर्भाव का विचार करने से; क्रोध करने से उत्पन्न होने वाले दोपों पर विचार करने मे, बालस्वभाव का चिन्तन करने से, अपने कृतकर्मों के उदय मे आने का चिन्तन करने से एवं क्षमागुण धारण करने से होने वाले लाभ का विचार करने से क्षमा उत्पन्न होती है। यदि दूसरे लोग मुझ में दोप के कारण मेरे पर आक्रोश करते हैं, वह तो मेरे ही दोषों के अस्तित्व (सद्भाव) को कहते हैं। यदि मुझ में वह दोप नही है, तो वे असत्य बोलते हैं, अतः मुझे उन पर क्षमा करनी चाहिए। कहा भी है—यदि कोई आक्रोश करता है तो बुद्धिमान समझदार आदमी को वस्तुतत्व पर विचार करना चाहिए कि यदि उसका आक्रोश सत्य है तो उस पर कोप करने से क्या लाभ और यदि असत्य है तो अज्ञानी के प्रति क्रोध करने से भी क्या फायदा? यों क्रोध के दोषों का चिन्तन करके क्षमा रखनी चाहिए। क्रोध करने वाला तो अवश्य ही पापकर्म का बन्धन करता है; उससे दूसरे को मारने की भावना जागती है, अहिंसाव्रत ही खत्म हो जाता है। क्रोध के आवेश में आ कर साधक अपने सत्यव्रत को भी नष्ट कर देता है। क्रोधावेश में दीक्षा-अवस्था की बात को भूल जाता है। और अदत्तादान—चोरी करता है। द्वेष में आ कर पर-पाखंडिनी स्त्री के साथ (मानसिक रूप से) अब्रह्मसेवन करके चौथे व्रत का भी खण्डन करता है। अत्यन्त क्रोधी बना हुआ योगी अविरति गृहस्थों से सहायता की अपेक्षा रख कर उन पर ममता-मूर्छा भी करता है, इससे पांचवां व्रत भी नष्ट हो जाता है; फिर उत्तरगुणों के भंग की तो बात ही कहां रही? वे भी खत्म हो जाते हैं। क्रोधी आत्मा गुरु का अपमान करके आशातना कर बैठता है। इस प्रकार क्रोध के दोपों पर विचार करे। बालस्वभाव (बेसमझी वाले) पर भी क्षमा रखे। उसके स्वभाव पर यों चिन्तन करे कि बाल (अज्ञानी) जीव किसी समय परोक्ष तो कभी प्रत्यक्ष आक्रोश करता है, कभी तो आक्रोश करते हुए ताडन करने लगता है, कभी मारने-पीटने लगता है, कभी धर्मभ्रष्ट करना चाहता है; उस समय यह सोचें कि 'मेरा इतना सद्भाग्य है कि यह मेरे पीठ पीछे आक्रोश करता है सामने या प्रत्यक्ष में तो कुछ नहीं बोलता; इतना तो भला है। कदाचित् प्रत्यक्ष में आक्रोश करता हो, तब यों कहे कि—'यह आदमी कितना भला है कि मुख से आक्रोश के शब्द बोल कर ही रह जाता है, मुझे मारता नहीं है।" यदि मारता हो तो यह कहे कि यह भला आदमी केवल मारता-पीटता ही है, मेरे प्राणों का नाश तो नहीं करता। यदि कोई जान लेने पर उतारू हो तो यह कहे कि यह प्राणनाश ही तो करता है, मुझे धर्म से भ्रष्ट तो नहीं करता।" इस प्रकार आगे से आगे अभाव में अपना लाभ माने और बालस्वभाव पर विचार करे। स्वयं किये हुए कर्म उदय में आए

तब ऐसा विचार करने पर क्षमाभाव आता है। पूर्वकृतकर्मों का फल इस प्रकार से होता है। कर्म का फल भोगे बिना या तप किये बिना निकाचितकर्मों का क्षय नहीं होता। अवश्य भोगने योग्य कर्मफल में दूसरा तो निमित्तमात्र होता है। कहा है—सभी जीव अपने-अपने पूर्वकृतकर्मों का फल प्राप्त करते हैं, अपराध करने में या उपकार (गुण) करने में दूसरा तो सिर्फ निमित्तमात्र ही होता है। इस तरह स्वयंकृत कर्म के उदयकाल में विचार करना चाहिये। क्षमा के गुणधर्म का विचार करने से क्षमागुण प्रगट होता है। क्षमा धारण करने से अनायास ही क्रोध का निमित्त मिलने पर भी क्रोध नहीं होता, शुभध्यान का अध्यवसाय रहता है परमसमाधि उत्पन्न होती है, अन्तरात्मा में स्थायी प्रसन्नता होती है, किसी को मारने के लिए शस्त्र ढूंढने का प्रयत्न नहीं होना, आवेश नहीं आता, चेहरे पर प्रसन्नता झलकती है, क्रोध से आँखें लाल नहीं होती, परन्तु चेहरा उज्ज्वल रहता है, पसीना नहीं होता, कंपन नहीं होता तथा दूसरों को मारने की भावना नहीं होती। ये और इस प्रकार के गुण क्षमा रखने से प्राप्त होते हैं। क्षमाधर्म क्रोध का प्रतिपक्षी है।

(८) **मार्दव**—का अर्थ है— मृदुता-कोमलता-नम्रता-अभिमानरहितता। मार्दव अहंकार का निग्रह करने से होता है। अहंकार जातिमद आदि के रूप में ८ प्रकार का होता है, जिसकी चर्चा हम पहले कर आए हैं। इसलिए जाति, कुल, बल, रूप, लाभ, तप, बल्लभता, (या ऐश्वर्य) और बुद्धि (या श्रुत) के मद में अन्धा बना हुआ—पुरुषार्थहीन पुरुष इहलोक और परलोक के लिए हितकर बात को भी देख नहीं पाता; इत्यादि मददोष-परिहार का कारणभूत मान का प्रतिपक्षी मार्दवधर्म है।

(९) **सरलता**—का अर्थ है—ऋजुता, मन-वचन-काया की एकरूपता या तद्रूप सरलता—अवक्रता, कुटिलता-रहित व्यवहार मायारहित जीवन। मायावी अपने वचन के अनुसार कार्य नहीं करता। इसलिए हरएक के लिए वह शंका का स्थान बना रहता है, अविश्वासपात्र होता है। कहा भी है—मायावी पुरुष यद्यपि अपराध नहीं करता, तथापि वह अपने मायावी स्वभाव के दोष के कारण सर्प के समान प्रत्येक के लिए अविश्वसनीय होता है। इस प्रकार माया का प्रतिपक्षी सरलताधर्म है।

(१०) **मुक्ति**—निर्लोभता—अर्थात् बाह्य तथा आभ्यन्तर-विषयक तृष्णा का विच्छेद होना। लोभ और आशा—अपेक्षा का अभाव होना। लोभाविष्ट पुरुष क्रोध, मान, माया, हिंसा, असत्य, चोरी अब्रह्म, परिग्रहरूप दोषसमूह से पुष्ट होता है। कहा भी है—सर्वनाश का आश्रयस्थान और समस्त दुःखों का एकमात्र राजमार्ग लोभ है। लोभ के चंगुल में फंसा हुआ लोभी व्यक्ति क्षण-क्षण में नये नये दुःख पाता रहता है। इसलिए लोभ का त्यागरूप निर्लोभता है। स्वपरहित, आत्मप्रवृत्ति, ममत्व का अभाव, निःसंगता, परद्रोह न करना, रजोहरण आदि संयमपालन के उपकरणों पर भी मूर्च्छारहित रहना इत्यादि लक्षण वाला मुक्तिधर्म है।

इस प्रकार धर्म के दस भेद हैं। यहाँ शंका होती है कि सत्य, संयम, शौच, ब्रह्म, अकिंचनता आदि का समावेश तो महाव्रतों में हो जाता है और क्षमा, मार्दव, आर्जव, और मुक्ति इनका समावेश संवरप्रकरण में हो जाता है; तप को संवर और निर्जरा का कारणरूप बताया ही है, तब फिर धर्म-प्रतिपादन के प्रसंग में पुनः इन दस धर्मों को कहने का क्या प्रयोजन है? इससे तो पुनरुक्तिदोष हुआ!" इसका समाधान करते हैं कि यद्यपि यहाँ संयम आदि का फिर से कहने का कोई प्रसंग नहीं था; परन्तु संयम आदि दस प्रकार के धर्म का प्रकारान्तर से प्रतिपादन इसलिए किया गया है कि यह श्री अरिहन्त भगवान् द्वारा स्वाख्यात (अच्छी तरह से कहा हुआ) धर्म है। इसलिए कहना आवश्यक था। धर्मगुण के

सम्बन्ध में व्याख्या करने वाला होने से तथा अनुप्रेक्षा के निमित्त से भगवान् की स्तुति करने वाला होने से यह जो कुछ कहा है, वह वास्तविक है।"

अब प्रसंगवश धर्म का प्रभाव बताते हैं---

धर्मप्रभावतः कल्पद्रुमाद्या ददतोप्सितम् ।
गोचरेऽपि न ते यत्स्युर्धर्माधिष्ठितात्मनाम् ॥९४॥

अर्थ —धर्म के प्रभाव से कल्पवृक्ष, चिन्तामणिरत्न आदि (सुषमाकाल में वनस्पति और पाषाणरूप होने पर भी) धर्मात्मा जीवों को अभीष्ट फल देते हैं। वे ही कल्पवृक्ष आदि दुःषमकाल आदि में दृष्टिगोचर भी नहीं होते, फिर भी ईष्ट (अर्थप्राप्तिरूप) फल प्रदान करते हैं।

और भी कहा है—

अपारे व्यसनाम्भोधौ, पतन्तं पाति देहिनम् ।
सदा सविधवर्त्येक-बन्धुर्धर्मोऽतिवत्सलः ॥९५॥

अर्थ—धर्म अपार दुःख-समुद्र में गिरते हुए मनुष्य को बचाता है, तथा सदैव निकट रहने वाला एकमात्र बन्धु है ; वही अतिवत्सल है।

यहाँ अनर्थ-परिहाररूप फल बतलाया है। तथा—

आप्लावयति नाम्भोधिराश्वासयति चाम्बुदः ।
यन्महीं स प्रभावोऽयं, ध्रुवं धर्मस्य केवलः ॥९६॥

अर्थ—समुद्र इस पृथ्वी को डूबा नहीं देता, तथा बादल पृथ्वी पर जो उपकार करता है ; वह निःसंदेह एकमात्र धर्म का ही प्रभाव है। इसमें अनर्थ का परिहार और अर्थप्राप्तिफल कहा है।'

अब साधारणधर्म का साधारण फल कहते हैं—

न ज्वलत्यनलस्तिर्यग् यदूर्ध्वं वाति नानिलः ।
अचिन्त्यमहिमा तत्र धर्म एव निबन्धनम् ॥९७॥

अर्थ— जगत् में अग्नि की ज्वालाएं यदि तिरछी जातीं तो वह भस्म हो जाता और वायु ऊर्ध्वगति करता तो जीवों का जीना कठिन हो जाता। किन्तु ऐसा नहीं होता, इसका कारण धर्म का अचिन्त्य प्रभाव ही है।

मिथ्यादृष्टि भी कहते हैं कि 'अग्नि की ज्वाला ऊपर को उठ कर जलाती है और वायु तिरछी गति करता है, उसमें कोई अदृष्ट ही कारण है।' तथा—

निरालम्बा निराधारा विश्वाधारा वसुन्धरा ।
यच्चावतिष्ठते तत्र, धर्मादन्यन्न कारणम् ॥९८॥

अर्थ—किसी अवलम्बन के बिना, शेषनाग, कछुआ, वराह, हाथी आदि आधार के

बिना इस चराचर विश्व का आधाररूप पृथ्वी जो ठहरी हुई है, इसमें धर्म के अतिरिक्त अन्य कोई भी कारण नहीं है।

सूर्याचन्द्रमसावेति विश्वोपकृतिहेतवे।
उदयेते जगत्यस्मिन्, नूनं धर्मस्य शासनात् ॥९९॥

अर्थ—यह सूर्य और चन्द्रमा जगत् के परोपकार के लिए इस लोक में प्रतिदिन उदित होते रहते हैं, इसमें निश्चय ही धर्म के शासन का प्रभाव है।

अबन्धूनामसौ बन्धुरसखीनामसौ सखा।
अनाथानामसौ नाथो, धर्मो विश्वैकवत्सलः ॥१००॥

अर्थ—जिसका इस संसार में कोई बन्धु नहीं है उसका धर्म ही बन्धु है; क्योंकि विपत्ति में सहायता करने वाला, उससे पार उतारने वाला धर्म बन्धु ही है। जिसका कोई मित्र नहीं है उससे प्रेम करने वाला धर्म ही मित्र है। जिसका कोई नाथ नहीं है, उसका योग और क्षेम करने वाला धर्म ही नाथ है। कहा है कि 'जो योग और क्षेम करने वाला हो, वही नाथ कहलाता है।' इसलिए जगत् में अद्वितीय वत्सल यदि कोई है तो वह धर्म ही है। गाय के द्वारा बछड़े को स्नेह से जो सहलाया जाता है, उसे वात्सल्य कहते हैं; उसके समान सारे जगत् के लिए प्रीति (वत्सलता) का कारण होने से धर्म भी वत्सल है।

अब अनर्थफल की निवृत्ति होने से सामान्य व्यक्ति भी धर्म करना चाहते हैं। अतः धर्म का फल कहते हैं—

रक्षो-यक्षोरग-व्याघ्र-व्यालानलगरादयः।
नापकर्तुमलं तेषां यैर्धर्मः शरणं श्रितः ॥१०१॥

अर्थ—जिन्होंने धर्म का शरण स्वीकार किया है, उनका राक्षस, यक्ष, सर्प, व्याघ्र, सिंह, अग्नि और विष आदि अपकार (नुकसान) नहीं कर सकते।

अब मुख्य अनर्थ रोकने के लिए और उत्तम पदार्थ की प्राप्तिरूप धर्म का फल कहते हैं—

धर्मो नरकपाताल-पातादवति देहिन.।
धर्मो निरुपमं यच्छत्यपि सर्वज्ञवैभवम् ॥१०२॥

अर्थ—धर्म जीवों को नरकरूपी पाताल में गिरने से बचाता है। धर्म अनुपम सर्वज्ञ का वैभव भी प्राप्त कराता है।

व्याख्या—धर्म के शेष फल तो आनुषंगिक समझने चाहिए। इसके सम्बन्ध में आन्तरश्लोकों का भावार्थ प्रस्तुत करते हैं—'पूर्वोक्त दस प्रकार के यतिधर्म को मिथ्यादृष्टि ने नहीं देखा (माना); और यदि किसी ने कभी कहा है तो केवल वाणी से वर्णन किया है, आचरण से आचरित करके नहीं कहा। किसी भी तत्व का अर्थ प्रत्येक व्यक्ति की वाणी से होता है, किसी के मन में भी होता है, परन्तु उसे आचरण में ला कर क्रियान्वित करता हो, उसे समझना कि वह जिनधर्म का आराधक है। वेदशास्त्र में परवश बुद्धि वाले और उनके सूत्रों को कण्ठस्थ करने वाले तत्व से धर्म को लेशमात्र भी नहीं जानते।

गोमेध, अश्वमेध आदि विभिन्न प्राणिवधमूलक यज्ञ करने वाले एवं प्राणिघात करने-कराने वाले याज्ञिक में धर्म कैसे हो सकता है ? अश्रद्धेय, असत्य एवं परस्पर विरोधी वस्तु का प्रलाप करने वाले पुराण और उसके रचयिता पौराणिक का यह कौन-सा धर्म है ? गलत व्यवस्था से दूसरे के द्रव्य को हरण कर लेने वाले, मिट्टी और जल आदि को ही शौचधर्म कहने वाले स्मार्त आदि के जीवन में धर्म कैसे हो सकता है ? नहीं देना चाहने वाले यजमान से भी सर्वस्व लेना चाहने वाले, धन के लिए प्राणहरण करने वाले ब्राह्मण की यह अकिंचनता कैसे कही जा सकती है ? रातदिन मुंह साफ करके खाने वाले, किन्तु भक्ष्य-अभक्ष्य के विवेक से रहित बौद्धधर्मियों का तपधर्म ही कहां रहा ? 'कोमल शय्या पर सोना, प्रातःकाल मधुररस का पान करना, दोपहर को भोजन करना, शाम को ठंडा पानी पीना और आधी रात को किशमिश और शक्कर खाना चाहिए। इस प्रकार इच्छानुसार खाने-पीने में ही शाक्य (बौद्ध) ने सुन्दर धर्म बताया है।' जरा-से अपराध पर क्षणभर में शाप देने वाले लौकिक ऋषियों में क्षमाधर्म का जरा भी अंश नहीं होता। 'हमारी ब्राह्मण-जाति ही सर्वोत्तम है ;' इस प्रकार के जातिमद में मत्त, दुर्व्यवहार वाले एवं इसी प्रकार के चित्त वाले चार आश्रमों में रहने वाले ब्राह्मणों में मार्दवधर्म कहां से हो सकता है ? हृदय में दम्भ के परिणाम चल रहे हों और बाहर से बकवृत्ति धारण करने वाले पाखण्डव्रतधारकों में सरलता का अंशमात्र भी कहां से हो सकता है ? पत्नी, घर, पुत्रादि परिवार और सदैव परिग्रह में रचेपचे लोभ के एकमात्र कुलगृह—ब्राह्मण में मुक्ति (निर्लोभता) धर्म भी कैसे हो सकता है ?

इसलिए राग, द्वेष या मोह से रहित केवलज्ञानी अरिहन्त भगवान् की इस धर्मस्वाख्यातभावना का चिन्तन करना चाहिए। मिथ्यावचन राग, द्वेष या मोह-अज्ञान के कारण ही निकलते हैं। इन दोषों का वीतराग में अभाव होने से अरिहन्त मिथ्यावादी कैसे हो सकते हैं ? जो रागद्वेषादि से कलुषित चित्त वाले हैं, उनके मुख से सत्य वचन का निकलना सम्भव नहीं है। वे इस तरह यज्ञ कराना, हवन कराना, इत्यादि तथा अनेक बावड़ी, कुंए, तालाब, सरोवर आदि ईष्टापूर्त कार्य करके पशुओं का घात करा कर स्वर्गलोक के सुख बताने वाले, ब्राह्मणों को भोजन कराने से पितरों की तृप्ति कराने की इच्छा वाले, घी की योनि आदि करवा कर तद्रूप प्रायश्चित्त कराने वाले, पांच आपत्तियों के कारण स्त्रियों का पुनर्विवाह जायज बताने वाले, जिनके पुत्र न होता हो, ऐसी स्त्रियां के लिए क्षेत्रज अपत्य (दूसरे पुरुष के साथ नियोग से उत्पन्न) का कथन करने वाले, दूषित स्त्रियों की रज से शुद्धि वताने वाले, कल्याणबुद्धि से यज्ञ में मारे हुए बकरे आदि से आजीविका चलाने वाले, सौत्रामणि यज्ञ में सात पीढ़ी तक मदिरापान कराने वाले, विष्ठाभक्षण करने वाली गाय के स्पर्श से पवित्रता मानने वाले, जलादि से स्नान करने मात्र से पापशुद्धि वताने वाले, वड़, पीपल, आंवले आदि वृक्षों की पूजा करने-कराने वाले, अग्नि में घी आदि के होमने से देवदेवियों की प्रसन्नता मानने वाले ; धरती पर गाय दूहने से अमंगल की शान्ति मानने वाले ; स्त्रियों को नीचा दिखाने की तरह, उनके लिए वैसे ही व्रत और धर्म का उपदेश देने वाले, तथा जटाधारण करने, कान छिदाने, शरीर पर भस्म रमाने, लंगोट लगाने, आक, धतूरा, विल्वपत्र, तुलसी आदि से देवपूजा करने वाले ; नितम्ब बजाते हुए, नृत्य, गीत आदि बार-बार करते हुए, मुंह से बाजे की-सी आवाज निकालते हुए और असत्यभाषा बोलते हुए मुनि देवों और लोगों को छलते हुए, व्रतभंग कर दासत्व और दासीत्व की इच्छा करके बार-बार पाशुपतव्रत ग्रहण करने और त्यागने वाले हैं; औषधि आदि प्रयोग में जूं को मारते हैं, मनुष्य की हड्डी के आभूषण धारण करते हैं, त्रिशूल और खाटे के पाये को ढोए फिरते हैं, खप्पर में भोजन करते हैं ; घंटा, नुपूर धारण करते हैं। मदिरा, मांस और

स्त्रियों के भोग में आसक्त बने हुए निरन्तर नितम्ब पर घंटा बांधे बार-बार नृत्य-गीत करने वालों में भला धर्म कैसे हो सकता है ? तथा अनन्तकाय, कन्दमूल, फल और पत्तों का भोजन करने वाले तथा स्त्रीपुत्र के साथ वनवास स्वीकार करने वाले तथा भक्ष्याभक्ष्य, पेयापेय या आचरणीय-अनाचरणीय सब पर समभाव रखने वाले योगी के नाम प्रसिद्धि पाने वाले कौलाचार्य के अन्तेवासी शिष्य तथा दूसरे अथवा जिन्होंने जिनेन्द्रशासन के रहस्य को जाना नहीं है, उनमें धर्म कहां से हो सकता है ? उस धर्म का फल क्या है ?, उसकी सुन्दर (शुद्ध) मर्यादाओं का कथन किस प्रकार का है ? इसे वे कहां से जान सकते है ? श्री जिनेश्वर भगवान् के धर्म का इस लोक और परलोक मे जो फल है, वह तो गौणफल है, उसका मुख्यफल तो मोक्ष बताया है। किसान खेती करता है या अनाज बोता है---अनाज प्राप्त होने की इच्छा से ; लेकिन घास, पात आदि बीच मे मिल जाते है, वे तो आनुषंगिक फल है। इसी तरह धर्म का यथार्थ फल तो अपवर्ग-मोक्ष है, सांसारिक फल तो आनुषंगिक है। श्री जिनेन्द्रकथित धर्म के आश्रित स्वाख्यातता-भावना पर बार-बार ध्यान देने से ममत्वरूप विषयविकारों के दोषों से मुक्त बन कर साधक परमप्रकर्ष वाला साम्यपद प्राप्त करता है। इस प्रकार धर्मस्वाख्याततभावना पूर्ण हुई।

अब लोकभावना का निरूपण करते हैं—

कटिस्थकरवैशाख-स्थानकस्थ-नराकृतिम् ।
द्रव्यैः पूर्ण स्मरेल्लोकं स्थित्युत्पत्ति-व्ययात्मकैः ॥१०३॥

अर्थ— कमर पर दोनों हाथ रख कर और पैरों को फैला कर खड़े हुए मनुष्य की आकृति के समान आकृति वाले और उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य धर्म वाले द्रव्यों से पूर्ण लोक का चिन्तन करे।

व्याख्या— दोनों हाथ कमर पर रखे हों और वैशाख-संस्थान से दोनों पैर फैलाए हुए हों, इस प्रकार खड़े हुए पुरुष की आकृति के समान चौदह राजूप्रमाण लोकाकाश-क्षेत्र की आकृति का चिंतन करना चाहिए। लोकाकाश क्षेत्र कैसा है ? इसके उत्तर में कहते हैं---स्थिति, उत्पत्ति और व्ययरूप द्रव्यों से परिपूर्ण क्षेत्र है। स्थिति का अर्थ है—ध्रुवता, स्थायीरूप से टिके रहना ; कायम रहना। उत्पत्ति का अर्थ है--उत्पन्न होना और व्यय का अर्थ है नष्ट होना। जगत् के सभी पदार्थ स्थिति-उत्पाद-व्ययस्वरूप हैं। श्री उमास्वाति ने तत्वार्थसूत्र में कहा है---'उत्पाद-व्यय ध्रौव्ययुक्तं सत्।' आकाश आदि नित्यानित्य रूप से प्रसिद्ध हैं। प्रत्येक पदार्थ प्रतिक्षण उस-उस पर्याय से उत्पन्न होता है, फिर नष्ट होता है। दीपक आदि के भी उत्पाद और विनाश दोनों योग बनते रहते हैं। परन्तु एकान्त स्थिति-योग अथवा एकान्त उत्पाद या विनाशयोग वाला कोई पदार्थ नहीं होता है। हमने '**अन्ययोगव्यवच्छेद-द्वात्रिंशिका** में कहा है—"दीपक से ले कर आकाश तक सभी वस्तुएँ समस्वभाव वाली हैं, वे कोई भी स्याद्वाद की मुद्रा का उल्लंघन नहीं करतीं। उसमें से एक वस्तु सर्वथा नित्य ही है और दूसरी वस्तु एकान्त अनित्य है, ऐसा प्रलाप आपकी आज्ञा के विद्वेषी ही करते हैं।"

अब लोकस्वरूपभावना का स्वरूप बताते हैं—

लोको जगत्-त्रयाकीर्णो, भुवः सप्ताऽत्र वेष्टिताः ।
घनाम्भोधि-महावात-तनुवातैर्महाबलैः ॥१०४॥

अर्थ—यह लोक तीन जगत् से व्याप्त है। उसे ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोक के नाम से पुकारा जाता है। अधोलोक में सात नरकभूमियां हैं, जो महासमर्थ घनोदधि, घन वात और तनुवात से क्रमशः वेष्टित हैं।

व्याख्या—पूर्वोक्त आकृति और स्वरूपवाला लोक अधो, तिर्यक् और ऊर्ध्व तीन लोक से व्याप्त है। अधोलोक में रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा और महातमः प्रभा; ये यथार्थ नाम वाली सात नरकभूमियां हैं। तथा अनादिकाल से प्रसिद्ध निरन्वर्थक नाम वाली हैं। वह इस प्रकार—घर्मा, वंशा, शैला अंजना, रिष्टा, मघा और माघवती। वे रत्नप्रभा आदि प्रत्येक के नीचे उत्तरोत्तर अधिकाधिक चौड़ी हैं। इनमें क्रमशः ३० लाख, २५ लाख, १५ लाख, १० लाख, ३ लाख, पांच कम एक लाख और पांच नारकावास हैं। उनके नीचे और आसपास चारों ओर गोलाकार वेष्टित (घिरा हुआ) महाबलशाली घनोदधि (जमा हुआ ठोससघनसमुद्र) है, फिर घनवात (जमी हुई ठोस वायु) है, तदनन्तर है—तनुवात (पतली हवा)। महाबल से यहां 'पृथ्वी को धारण करने में समर्थ' से तात्पर्य है। इसमें प्रत्येक पृथ्वी के नीचे घनोदधि है, जो मध्यभाग में बीस हजार योजन मोटा है, घनवात (महावायु) की मोटाई घनोदधि से मध्यभाग में असंख्यातयोजन है और तनुवात घनवात से असंख्यातयोजन स्थूल है। उसके बाद असंख्यात योजनसहस्र आकाश है। यह बीच की मोटाई का नाप है। उसके बाद क्रमशः दोनों तरफ घटते-घटते आखिरी वलय के सदृश नाप वाला होता है। रत्नप्रभा के घनोदधि वलय की चौड़ाई सिर्फ ६ योजन है, घनवातवलय की चौड़ाई ४॥ योजन और तनुवातवलय की चौड़ाई १॥ योजन है। रत्नप्रभा के वलयमान पर घनोदधि में योजन का तीसरा भाग होता है, घनवात में एक कोस और तनुवात में कोस का तीसरा भाग होता है। इस तरह शर्कराप्रभा में वलयमान समझना। शर्कराप्रभा के वलयमान के ऊपर भी इसी प्रकार प्रक्षेप करना (मिलाना)। इसी प्रकार पूर्व-पूर्व वलयमान पर ऊपर कहे अनुसार सात पृथ्वी तक मिलाते हुए आगे बढ़ते जाना। कहा भी है—"घम्मा के प्रथम वलय की लंबाई कोस का तीसरा भाग है, दूसरे वलय की लंबाई एक गाऊ-कोस और अन्तिम वलय की लंबाई कोस का तीसरा हिस्सा; इत्यादि प्रकार से ध्रुव में मिलाते जाना। इसी तरह सात पृथ्वी तक मिलाना। प्रक्षेप करने के बाद वलय की चौड़ाई का नाप इस प्रकार जानना—"दूसरी वंशा नाम की पृथ्वी में प्रथम वलय का विष्कम्भ (चौड़ाई) ६ योजन और एक तिहाई ($६\frac{१}{३}$) योजन, दूसरे वलय में $४\frac{३}{४}$ योजन और तीसरे वलय में $१\frac{१}{१२}$ योजन होता है। इस तरह सब मिला कर इकट्ठे करने से वंशा (शर्कराप्रभा) नामक द्वितीय नरकभूमि की सीमा से $१२\frac{२}{३}$ योजन के अन्त में अलोक है। शैला (बालुकाप्रभा) नाम की तृतीय नरकभूमि के प्रथम वलय का विष्कम्भक ६ योजन है, दूसरा वलय $५\frac{२}{३}$ योजन है और तीसरा है $१\frac{२}{३}$ योजन। कुल मिला कर $१३\frac{१}{३}$ योजन में बालुकाप्रभा की सीमा पूर्ण होती है। इसके आगे अलोक है। चौथी पंकप्रभा (अंजना) नामक नरकपृथ्वी के वलयों में प्रथम का विष्कम्भ ७ योजन, दूसरे का $५\frac{१}{४}$ योजन, और तीसरे का $१\frac{३}{४}$ योजन, इस प्रकार कुल १४ योजन के बाद अलोक आता है। धूमप्रभा (रिष्टा) नाम की पंचम नरकभूमि में तीनवलय क्रमशः $७\frac{१}{३}$, $५\frac{१}{२}$, $१\frac{५}{६}$ योजन विष्कंभ हैं। उसके बाद यानी $१४\frac{२}{३}$ योजन के बाद अलोक है। तमःप्रभा (मघा) नामक छठी नरक के तीन वलय हैं, उनमें प्रथम घनोदधिवलय का विस्तार $७\frac{२}{३}$, दूसरे का $५\frac{३}{४}$ और तीसरे का $१\frac{११}{१२}$ योजन चौड़ाई है। महातमःप्रभा (माघवती) नामक सप्तमनरकभूमि का प्रथम वलय ८ योजन, दूसरा वलय ६ योजन और तीसरा वलय २ योजन लम्बा चौड़ा है, अर्थात् कुछ १६ योजन के बाद अलोक समझना। पृथ्वी के

आधारभूत घनोदधि, घनवात और तनुवात इन तीनों वलयों की पृथ्वी के चारों ओर वलयाकार से अंतिम भाग तक जितनी चौड़ाई होती है, उतनी ही पृथ्वी की ऊँचाई का नाप होता है।

पुनः लोक का स्वरूप बताते हैं—

वेत्रासनसमोऽधस्तात्, मध्यतो झल्लरीनिभः।
अग्रे मुरजसंकाशो, लोकः स्यादेवमाकृतिः॥१०५॥

अर्थ—यह लोक नीचे के भाग में वेत्रासन के आकार का है यानी नीचे का भाग विस्तृत है और ऊपर का भाग क्रमशः संकुचित (सिकुड़ा हुआ) है; मध्यभाग झालर के आकार का है और ऊपर का भाग मृदंग के-से आकार का है। तीनों लोकों की इस प्रकार की आकृति मिलाने से पूरे लोक का आकार बन जाता है।

व्याख्या—लोक का अधोभाग वेत्रासन के समान, नीचे का भाग विस्तृत और ऊपर से उत्तरोत्तर क्रमशः संकुचित होता चला जाता है। लोक का मध्यभाग झालर (बाजे) के समान तथा ऊपर का भाग मृदंग के समान—यानी ऊपर और नीचे का भाग सिकुड़ा हुआ और बीच में विस्तृत होता है। इस तरह तीन आकार वाला लोक है।

पूज्य उमास्वाति ने प्रशमरति-प्रकरण में कहा है कि—'इस लोक में अधोलोक नीचे मुख किए हुए औंधे रखे हुए सकोरे के आकार का है, तिरछा लोक थाली-सरीखे आकार का है, और ऊर्ध्व-लोक खड़े किये हुए मृदंग के आकार का है।' यहाँ पर अधोलोक, तिर्यग्लोक और ऊर्ध्वलोक के मध्य-भाग में रुचकप्रदेश की अपेक्षा से मेरुपर्वत के समान गोस्तनाकार चार आकाशप्रदेश हैं। नीचे के भाग में उसी के ऊपरिभाग में उसी तरह दूसरे चार रुचकप्रदेश हैं; इसी तरह आठ रुचकप्रदेश के नीचे उच्च आकाश प्रदेश है। कहा है कि 'तिरछे लोक के समान मध्यभाग में आठ रुचकप्रदेश हैं, इनसे ही दिशा और विदिशा की उत्पत्ति हुई है।

उन रुचकप्रदेशों से नीचे और ऊपर नौ-नौसौ योजन तक तिरछालोक है। इसकी मोटाई अठारह-सौ योजन-प्रमाण है। तिरछालोक के नीचे नौ-सौ योजन छोड़ने के बाद लोक का अंतिम भाग है। वह सात राजू-प्रमाण अधोलोक है, उसमें पूर्वोक्त स्वरूपवाली सात पृथ्वियाँ है। उसमें प्रथम रत्नप्रभा की पृथ्वी में एक लाख अस्सी हजार योजन ऊँचाई अथवा मोटाई है। उसके ऊपर और नीचे एक-एक हजार योजन छोड़ कर बीच में एक लाख ७८ हजार योजन के अन्दर भवनपति देवों के भवन-(मकान) हैं। वे भवनपतिदेव क्रमशः असुर, नाग, विद्युत्, सुपर्ण, अग्नि, वायु, स्तनित, उदधि, द्वीप और दिक्कुमार नाम के हैं। वे चूड़ामणि, सर्प, वज्र, गरुड़, घट, अश्व, वर्धमान, मगर, सिंह और हाथी के चिह्न वाले होते हैं। उन भवनपतिदेवों के दक्षिणदिशा और उत्तरदिशा में व्यवस्थित रूप से दो-दो इन्द्र होते हैं। असुरकुमार देवों के चमरेन्द्र और बलीन्द्र नामक दो इन्द्र होते हैं, नागकुमार देवों के धरणेन्द्र और भूतानंद इन्द्र होते हैं। विद्युत्कुमार देवों के हरि और हरिसह नामक दो इन्द्र होते हैं। सुपर्णकुमार देवों के वेणुदेव और वेणुदालि नामक दो इन्द्र हैं। अग्निकुमार देवों के अग्निशिख और अग्निमाणव नामक इन्द्र हैं। वायुकुमार देवों के इन्द्र वेलंब, और प्रभंजन हैं। स्तनितकुमार देवों के इन्द्र सुघोष और महाघोष हैं। उदधिकुमार देवों के इन्द्र जलकान्त और जलप्रभ हैं। द्वीपकुमार देवों के इन्द्र पूर्ण और वशिष्ठ है। दिक्कुमार देवों के इन्द्र अमित और अमितवाहन हैं। इसी रत्नप्रभा पृथ्वी के ऊपर एक हजार योजन में ऊपर-नीचे के सौ-सौ योजन छोड़ कर, बीच के आठ-सौ योजन में आठ प्रकार के

पिशाच, भूत, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किम्पुरुष, महोरग और गन्धर्व; ये व्यन्तरदेव हैं, जो क्रमशः कदंबवृक्ष सुलसवृक्ष, वटवृक्ष, खट्वांग-तापस उपकरण, अशोकवृक्ष, चम्पकवृक्ष, नागवृक्ष, तुम्बरूवृक्ष के चिह्न वाले हैं। ये व्यन्तर तिरछालोक में वास करते हैं, इन व्यन्तरदेवों के नगर भी हैं। इनमें भी दक्षिण और उत्तर दिशा में दो दो इन्द्रों की व्यवस्था है। वे इस प्रकार हैं -पिशाचों के काल और महाकाल, भूतों के सुरूप और प्रतिरूप, यक्षों के पूर्णभद्र और मणिभद्र, राक्षसों के भीम और महाभीम, किन्नरों के किन्नर और किम्पुरुष, किम्पुरुषों के सत्पुरुष और महापुरुष, महोरगों के अतिकाय और महाकाय, और गन्धर्वों के गीतरति और गीतयशा नामक इन्द्र हैं। उसी रत्नप्रभा में प्रथम सौ योजन के नीचे और ऊपर के दस दस योजन को छोड़ कर बीच में अस्सी योजन में अणपन्नी, पणपन्नी, आदि उतने ही दक्षिण और उत्तर दिशा में व्यवस्थित बने हुए आठ व्यतरनिकायदेव हैं और उनके भी प्रत्येक के दो दो इन्द्र हैं।

तथा रत्नप्रभा पृथ्वी के समतल प्रदेश से ७९० योजन ऊपर ज्योतिष्कदेवों का निम्न प्रदेश है, उसके ऊपर दस योजन में सूर्य है, इससे आगे अस्सी योजन पर चन्द्र है; उसके ऊपर बीस योजन में तारा और ग्रह हैं। इस तरह कुल ज्यातिर्लोक एक सौ दस योजन मोटाई वाला है। ग्यारह सौ इक्कीस योजन जम्बूद्वीप के मेरु को स्पर्श किए बिना और लोक के आखिर से ग्यारह सौ ग्यारह योजन स्पर्श किए बिना सर्वदिशा में मंडलाकार व्यवस्थितरूप ध्रुव को छोड़ कर ज्यातिश्चक्र भ्रमण करता है। कहा है कि—"ग्यारह सौ इक्कीस और ग्यारह सो ग्यारह इस तरह मेरुपर्वत और अलोक इन दोनों के बाहर के भाग में ज्योतिश्चक्र घूमता रहता है।

यहाँ सब से ऊपर स्वातिनक्षत्र और सबसे नीचे भरणिनक्षत्र है, सबके दक्षिण में मूलनक्षत्र और सब के उत्तर में अभीचिनक्षत्र है। इस जम्बूद्वीप में दो चन्द्र और दो सूर्य हैं, लवणसमुद्र में चार चन्द्र और चार सूर्य हैं, धातकीखंड में बारह चन्द्र और बारह सूर्य हैं, कालोदधिसमुद्र में ४२ चन्द्र और ४२ सूर्य हैं, पुष्करवरार्ध में ७२ चन्द्र और ७२ सूर्य हैं। इस तरह मृत्युलोक में कुल १३२ चन्द्र और १३२ सूर्य होते हैं। ८८ ग्रह, २८ नक्षत्र, ६६९७५ से अधिक तारे तथा उसके कोटाकोटिप्रमाण एक एक चन्द्र का परिवार है। चन्द्र का विमान $\frac{५६}{६१}$ योजन लम्बा चौड़ा है, सूर्य का विमान $\frac{४८}{६१}$ योजन लम्बा चौड़ा है, आधा योजन ग्रह का विमान है, नक्षत्र का विमान एक कोस का है, तारा का सर्वोत्कृष्ट आयुष्यवाला आधे कोस का विमान है, और सबसे जघन्य आयुष्यवाले का विमान पांच-सो धनुष्य-प्रमाण का होता है। सब विमानों की मोटाई चौड़ाई से आधी होती है। ये विमान ४५ लाख योजन प्रमाणवाले मनुष्यक्षेत्र में होते हैं। चन्द्र आदि के विमान के आगे सिंह दक्षिण में हाथी, पश्चिम में वृषभ, और उत्तर में अश्व होते हैं। सूर्य और चन्द्र के सोलह हजार आज्ञापालक आभियोगिक देव होते हैं। ग्रह के आठ हजार, नक्षत्र के चार हजार, तारा के दो हजार आभियोगिक परिवार होता है। अपनी देवगति और देवपुण्य होने पर भी चन्द्रादि आभियोग्यकर्म के कारण उसी रूप में उपस्थित होते हैं। मानुषोत्तर पर्वत के बाद पचास हजार योजन क्षेत्र-परिधि की वृद्धि से संख्या में बढ़े हुए शुभलेश्या वाले ग्रह, नक्षत्र, तारा के परिवार घंटा की आकृति के समान असंख्यात हैं। वे स्वयंभूरमणसमुद्र से लाख योजन अन्तर वाली श्रेणियों में रहते हैं।

मध्यभाग में जम्बूद्वीप और लवणादिसमुद्र सुन्दर सुन्दर नाम वाले, आगे से आगे दुगुनी-दुगुनी परिधि (व्यास-गोलाई) वाले असंख्यात वलयाकार द्वीप और समुद्र हैं, और आखिर में स्वयंभूरमण समुद्र है।

जम्बूद्वीप के मध्यभाग में मेरुपर्वत सोने की थाली के समान एक हजार योजन नीचे पृथ्वी के अन्दर छुपा हुआ है। यह ९९ हजार योजन ऊँचा है, मूल में १००९० $\frac{10}{11}$ विस्तृत है। धरतीतल में दस हजार योजन विस्तार वाला, ऊपर हजार योजन चोड़ा, तीन कांड विभाग वाला है। यह अधोलोक में १०० योजन, तिरछालोक में १८०० योजन और ऊर्ध्वलोक में ९८१०० योजन है। इस तरह मेरुपर्वत तीनों लोक को विभक्त करता है। इसमें भद्रशाल, नंदन, सोमनस और पांडुक नाम के चार वन हैं; जिनमे प्रायः शुद्ध पृथ्वी, पाषाण, वज्र, पत्थरों से परिपूर्ण एक हजार योजन-प्रमाण वाला प्रथम काण्ड है। चांदी, सोना, अंकरत्न और स्फटिकरत्न की प्रचुरता से युक्त ६३ हजार योजन वाला दूसरा कांड है, छत्तीस हजार योजन वाला स्वर्णबाहुल्य तीसरा कांड है। वैडूर्यरत्न की अधिकता से युक्त चालीस योजन ऊँची उसकी चूलिका है, वह मूल में बारह योजन लम्बी, मध्य में आठ योजन, और ऊपर चार योजन लम्बी है। मेरुपर्वत के प्रारम्भ में तलहटी में वलयकार भद्रशाल वन है, भद्रशाल वन से पांच सौ योजन ऊपर जाने के बाद पांचसौ योजन विस्तृत प्रथम मेखला में वलयाकार नन्दनवन है। उसके बाद साढ़े बासठ हजार योजन ऊपर जाने के बाद दूसरी मेखला में पांच सौ योजन विस्तृत वलयाकार सौमनसवन है। उसके बाद छत्तीस हजार योजन जाने पर तीसरी मेखला मेरुपर्वत के शिखर पर ९४ योजन विस्तृत वलयाकृति-युक्त पांडुकवन है।

इस जम्बूद्वीप में सात क्षेत्र हैं। उसमें दक्षिण की ओर भरतक्षेत्र है, उत्तर में हैमवन क्षेत्र है, उसके बाद हरिवर्षक्षेत्र है; बाद में महाविदेह है, उसके बाद रम्यकक्षेत्र, है, उसके बाद हैरण्यवतक्षेत्र है, बाद में ऐरावतक्षेत्र है। प्रत्येक क्षेत्र को पृथक् करने वाले हिमवान, महाहिमवान, निषध, नील, रुक्मी, और शिखरी नाम के पर्वत है। वे क्रमशः हेम, अर्जुन, तपनीय, स्वर्ण, वैडूर्य, चांदी और तपनीय मय विचित्र मणिरत्नों से सुशोभित, मूल और ऊपर के भाग में समान विस्तार वाले है। हिमवान् पर्वत पचीस योजन जमीन में और सौ योजन ऊचा है, महाहिमवान् उससे दुगुना अर्थात् दो सौ योजन ऊंचा है। निषधपर्वत चारसौ योजन ऊंचा है, नीलपर्वत उतना ही चार सौ योजन ऊँचा, रुक्मी महाहिमवान् जितना और शिखरी हिमवान् के जितना ऊँचा है। इन पर्वतों पर पद्म, महापद्म, तिगिच्छ, केशरी, महापुण्डरीक और पुंडरीक नाम के क्रमशः सात सरोवर है। प्रथम सरोवर एक हजार योजन लम्बा और पांच सौ योजन चौड़ा है दूसरा इससे दुगुना, और तीसरा उससे भी दुगुना है। उत्तर में पुण्डरीक आदि सरोवर दक्षिण के सरोवरों के समान हैं। प्रत्येक सरोवर मे दस योजन की अवगाहना वाला पद्मकमल है, और जिस पर क्रमशः श्रीदेवी ह्रीदेवी, धृतिदेवी, कीर्तिदेवी, बुद्धिदेवी और लक्ष्मीदेवी निवास करती हैं। उनका आयुष्य एक पल्योपम का होता है तथा वे सामानिक देवपर्षदा के देवता तथा आत्मरक्षक देवों से युक्त होती हैं।

इस भरतक्षेत्र में गंगा और सिन्धु नाम की दो बडी नदियां हैं, हैमवतक्षेत्र में रोहिताशा और रोहिता, हरिवर्षक्षेत्र में हरिकान्ता और हरिता, महाविदेह में शीता और शीतोदा ; रम्यकक्षेत्र में नारी और नरकान्ता, हैरण्यवत में सुवर्णकूला और रूप्यकूला, और ऐरवतक्षेत्र में रक्ता और रक्तोदा नाम की नदियां हैं। इसमें प्रथम नदी पूर्व में और दूसरी नदी पश्चिम में बहती है। गंगा और सिन्धु नदी के साथ कुल चौदह हजार नदियों का परिवार है। अर्थात् दोनों में चौदह चौदह हजार नदियाँ मिलती हैं। रोहिताशा और रोहिता में अट्ठाईस हजार नदियां, हरिकान्ता और हरिता में छप्पन हजार नदियां, शीता और शीतोदा में पांच लाख बत्तीसहजार नदियाँ मिलती हैं। उत्तर की नदियों का परिवार

भी दक्षिणप्रवाहिनी नदियों के समान जान लेना। भरतक्षेत्र की कुल लम्बाई ५२६$\frac{6}{19}$ योजन है। उसके बाद महाविदेह तक क्रमश: लम्बाई में दुगुने-दुगुने पर्वत और क्षेत्र हैं, और उत्तर के प्रत्येक क्षेत्र और पर्वत भी दक्षिण के समान है।

महाविदेह मे निषधपर्वत के उत्तर में और मेरु के दक्षिण, पश्चिम और पूर्व में विद्युत्प्रभ और सौमनस नामक निषध के अन्तर्गत गजदंताकार पर्वतों से घिरे हुए, शीतोदा नदी से विभक्त पास-पास पांच पांच कुंड और दस कांचनपर्वतों से सुशोभित है। शीतोदा नदी के पूर्व और पश्चिम किनारे पर एक हजार योजन ऊपर उतना ही नीचे विस्तार वाले और इससे आधा ऊपर में विस्तार वाले विचित्र-कूट और चित्रकूट से शोभित देवकुरु ११८४२$\frac{2}{19}$ योजन प्रमाण वाला है। मेरुपर्वत के उत्तर और नीलपर्वत के दक्षिण में गन्धमादन और माल्यवंत हैं; जिनकी आकृति हाथी के समान है। मेरु और नीलपर्वत के बीच में स्थित शीतानदी से विभक्त हो कर बने हुए पास में पाच कुण्ड हैं। सौ कांचनपर्वतों से युक्त शीतानदी के दोनों किनारों पर विचित्रकूट और चित्रकूट नाम वाले सुवर्ण यमकपर्वतों से शोभित उत्तरकुरु है। देवकुरु और उत्तरकुरु से पूर्व की ओर पूर्व-महाविदेह और पश्चिम की ओर पश्चिम-महाविदेह है। पूर्वविदेह मे चक्रवर्ती के लिए योग्य नदियों और पर्वतों से विभाजित परस्पर एक दूसरे में प्रवेश न कर सके; इस प्रकार के सोलह विजय है। उसी प्रकार पश्चिमविदेह मे भी सोलह विजय हैं।

भरतक्षेत्र के मध्यभाग मे पूर्व और पश्चिम दोनो तरफ समुद्र को स्पर्श करता हुआ, भरत के दक्षिण और उत्तर दो विभाग करने वाला, तमिस्रा और खंडप्रपाता नाम की दो गुफाओं स शोभित वैताढ्यपर्वत है। यह सवा छह योजन जमीन के अन्दर है, पचास योजन विस्तृत है और पच्चीस योजन ऊँचा है। इस पर्वत के दक्षिण और उत्तर की निकटवर्ती भूमि से दस योजन ऊंची एवं दस योजन विस्तृत विद्याधरों की श्रेणियां है। जहां दक्षिणदिशा में प्रदेशसहित पचास नगर हैं और उत्तरदिशा मे साठ नगर हैं। विद्याधर की श्रेणियों से ऊपर दोनो तरफ दस योजन के बाद तिर्यग्जृंभक व्यन्तरदेवो की श्रेणियां है। उनमें व्यन्तरदेवों के आवास हैं। व्यन्तरश्रेणियों से ऊपर पांच योजन पर नौ कूट है। वैताढ्य के समान ऐरावतक्षेत्र में भी समानता जान लेना।

जम्बूद्वीप के चारों तरफ कोट के समान वज्रमय आठ योजन ऊंची जगती है। वह मूल में बारह योजन लम्बी है। बीच में आठ योजन और ऊपर चार योजन है। उसके ऊपर दो गाऊ ऊंचा जालकटक नाम का विद्याधरों के क्रीड़ा करने का स्थल है। उसके ऊपर के भाग मे पद्मवरवेदिका नाम की देवों की भोगभूमि है। इस जगती के पूर्वादि प्रत्येक दिशा में विजय, वैजयंत, जयन्त और अपराजित नाम के चार द्वार है। हिमवान और महाहिमवान इन दोनों पर्वतों के बीच में शब्दापाती नाम का वृत्त वैताढ्य पर्वत है, रूक्मी और शिखरी के बीच में –विकटापाती, महाहिमवान और निषध के बीच में गन्धापाती, नील और रूक्मी के बीच में माल्यवानपर्वत है। ये सभी एक-एक हजार योजन ऊंचे और पाली की आकृति वाले हैं।

तथा जम्बूद्वीप के चारों तरफ घिरा हुआ उससे दुगुना अर्थात् दो लाख योजन विस्तार वाला, (मध्य में दस हजार योजन विस्तार वाला) एक हजार योजन गहरा और दोनों ओर पचानवे हजार योजन तथा मध्य में वृद्धि होने के कारण जल का विस्तार सोलह हजार योजन ऊंचा तथा उससे ऊपर रात और दिन में दो गाऊ तक जल घटता-बढ़ता रहने वाला लवण-समुद्र है। इसके मध्य भाग में

चारों दिशा में लक्षप्रमाण वाले पूर्व में वडवामुख, दक्षिण में केयूप, पश्चिम में यूप और उत्तर में ईश्वर नामक हजार योजन वज्रमय मोटाई वाला तथा दस हजार योजन के मुख तथा तल से युक्त; काल, महाकाल, वेलम्ब और प्रभंजन देवों के आवास वाला, महान गहरा, खड्डे के समान, वायु धारण करने वाला तीन भाग जल वाला पातालकलश है, दूसरे छोटे कलश हजार योजन के नीचे और मुख सौ योजन, दस योजन मोटाई वाले; जिनमें ३३३⅓ ऊपर के भाग में जल, मध्य में वायु और जल और नीचे वायु होता है। जम्बूद्वीप में प्रवेश करते हुए जल के ज्वार को रोकने के लिए ७८८४ देव तथा अन्तर्ज्वार रोकने के लिए ४२००० नागकुमार देव और बाह्यज्वार रोकने के लिए ७२००० देव और ज्वारशिखा को रोकने के लिए ६०००० देव होते हैं। गोस्तूप, उदकाभास, शंख और दकसीम नामक चार वेलंधर देव के आवासपर्वत हैं. सुवर्ण, अंकरत्न, चांदी और स्फटिकमय गोस्तूप शिवक, शंख तथा मनःशिल नाम के आवास अधिपतिदेव के हैं, इनकी ऊँचाई १७२१ योजन नीचे, १०२२ योजन विस्तार वाला, ऊपर ४२४ योजन विस्तार वाला है। उनके ऊपर प्रासाद है। कर्कोटक, कर्दम, कैलाश और अरूणप्रभ नाम के उनके अधिपति हैं। कर्कोटक, विद्युत्‌जिह्वा कैलास और अरूणप्रभ नामक आवास वाले अल्प ज्वार रोकने वाले सर्वरत्नमयपर्वत हैं, तथा विदिशाओं में बारह हजार योजन लम्बा चौड़ा चन्द्रद्वीप है और उतना ही लम्बा चौड़ा सूर्यद्वीप है, तथा गौतमद्वीप और सुस्थितआवास भी उतने ही प्रमाण वाला है, और अन्तर एवं बाह्य लवणसमुद्र के चन्द्र और सूर्य-सम्बन्धी द्वीप है और सर्वक्षेत्र में प्रासाद है, तथा लवणसमुद्र में लवण रस है।

लवणसमुद्र के चारों तरफ गोलाकार और इससे दुगुना अर्थात् चार लाख प्रमाण वाला धातकीखंड है। मेरू और दूसरे वर्षधरपर्वत तथा क्षेत्र जम्बूद्वीप में कहे हैं, उनसे दुगुने धातकीखंड में जानना, दक्षिण और उत्तर में दो लम्बे इषुकार पर्वत होने से धातकीखण्ड के दो भाग हो गए हैं। जम्बूद्वीप के पर्वतादि के नाम और संख्या, पूर्वार्द्ध और पश्चिमार्ध चक्र के आरे के समान ही धातकीखण्ड में स्थित हैं। जम्बूद्वीप के निषधादि पर्वत की ऊंचाई वाले कालोदधि और लवणसमुद्र के जल को स्पर्श करने वाले ईषुकार पर्वत सहित क्षेत्र आरे के मध्यभाग मे रहे हैं। धातकीखंड के चारों तरफ गोलाकार आठ लाख लम्बा कालोदधिसमुद्र है।

कालोदधिसमुद्र के चारों तरफ गोलाकार, इससे दुगुना विस्तृत पुष्करवरद्वीप है। उसके आद्य विभाग में मनुष्यक्षेत्र है, धातकीखण्ड में मेरु तथा इषुकार पर्वत आदि की जितनी संख्या है, पुष्करवरार्ध में क्षेत्र, पर्वत आदि की जानना। धातकीखण्ड के क्षेत्रादि से दुगुना क्षेत्रादि है। धातकीखण्ड और पुष्करार्ध के चार छोटे मेरु हैं, वे महामेरु से पंद्रह हजार योजन कम ऊंचाई वाले अर्थात् ८५००० योजन के हैं तथा पृथ्वीतल में छहसौ योजन कम विष्कंभ वाला हैं; यह प्रथम कांड है। दूसरा कांड बड़े मेरु के समान है। तीसरा कांड सात हजार योजन कम अर्थात् ५६ हजार योजन है। आठ हजार योजन कम अर्थात् २८ हजार भद्रशीलवन है, नंदनवन बड़े मेरुपर्वत के समान है, साढ़े पचपन हजार ऊपर पांचसौ योजन विस्तार वाला सौमनसवन है, उसके बाद २८ हजार योजन ऊपर ४९४ योजन विस्तार वाला पांडुकवन है। ऊपर-नीचे का विष्कंभ और अवगाह बड़े मेरु के समान तथा चूलिका भी उसी तरह है। इस तरह ढाई द्वीप और समुद्रों से युक्त यह मनुष्यक्षेत्र कहलाता है, इसमें पांच मेरु, पैंतीस क्षेत्र, तीस वर्षधरपर्वत, पांच देवकुरु, पांच उत्तरकुरु और एकसौ आठ विजय हैं।

जैसे महानगर की सुरक्षा के लिए उसके चारों ओर किला होता है, उसी तरह पुष्करद्वीपार्ध

के चारों तरफ मनुष्यलोक से घिरा हुआ सुवर्णमय मानुषोत्तर पर्वत है, वह पर्वत १७२१ योजन ऊँचा, ४३० योजन और एक कोस नीचे जमीन में, १०२२ योजन मूल में विस्तृत, ७२३ योजन मध्य में और ४२४ योजन ऊपर के भाग में विस्तृत है। इस पर्वत के आगे के क्षेत्र में मनुष्य कदापि जन्म लेता या मरता नहीं है। यदि कोई लब्धिधारक चारण या विद्याधर मनुष्य उस पर्वत को लांघ कर आगे गया हो तो भी वह वहाँ मरता नहीं है, इस कारण से इसे मानुषोत्तर पर्वत कहते हैं। उस पर्वत से आगे बादर अग्निकाय, मेघ, बिजली, नदी, काल, परिवेष आदि नहीं है। मनुष्यक्षेत्र के अन्तर्गत पैंतीस क्षेत्रों में तथा अंतरद्वीप में जन्म से मनुष्य होते हैं। संहरणविद्या और ऋद्धियोग से सभी मनुष्य ढाईद्वीप में मेरु के शिखर पर और दोनों समुद्रों में जाते हैं। ये भरतक्षेत्र के हैं, ये हैमवतक्षेत्र के हैं, ये जम्बूद्वीप के हैं, ये लवणसमुद्र के हैं और ये अन्तरद्वीप के मनुष्य हैं, इस प्रकार की पहिचान द्वीपों और समुद्रों के विभाग से मनुष्यों की होती है। आर्य और म्लेच्छ दो प्रकार के मनुष्य हैं। आर्य साढ़े पच्चीस देश में उत्पन्न होते हैं। देश विशिष्ट नगर से पहिचाना जाता है, वह इस प्रकार—

(१) मगधदेश राजगृहनगर से, (२) अंगदेश चंपानगरी से (३) बंगदेश ताम्रलिप्ति से, (४) कलिंग कांचनपुर से (५) काशीदेश वाराणसी नगरी से (६) कोशल साकेतनगर से (७) कुरुदेश हस्तिनापुर से (८) कुशार्तदेश शौर्यपुर से (९) पंचालदेश कांपिल्यपुर से (१०) जंगलदेश अहिच्छत्रा से, (११) सौराष्ट्र द्वारकानगरी से (१२) विदेह मिथिला से (१३) वत्सदेश कौशाम्बी से (१४) शांडिल्य-देश नन्दीपुर से (१५) मलय भद्दिलपुर से (१६) मत्स्यदेश विराट्नगर से (१७) अच्छदेश वरुणानगरी से (१८) दशार्णदेश मृत्तिकावती नगरी से (१९) चेदी शुक्तिमती नगरी से (२०) सिंधुसौवीर वीतभय से (२१) शूरसेन मथुरा से (२२) भंगा पापा से (२३) वर्ता माषपुरी से (२४) कुणाल श्रावस्ती से (२५) लाटदेश कोटिवर्ष से और (२६) कैकेय का आधा देश श्वेताम्बिका नगरी से पहिचाना जाता है। यह साढ़े पच्चीस देश आर्यदेश कहलाते हैं, जहाँ जिनेश्वरदेव, चक्रवर्ती, बलदेव और वासुदेव का जन्म होता है।

शक, यवन आदि देश अनार्यदेश कहलाते हैं। वे इस प्रकार—शक, यवन, शबर, काय-मुरुंड, उड्ड, गोण, पक्कण, आख्यानक, हूण, रोमश, पारस, खस, कौशिक, दुम्बलि, लकुश, बुक्कस, आन्ध्र, पुलिन्द्र, क्रौंच, भ्रमर, रुचि, कापोत, चीन चचुक, मालव, द्रविड, कुलत्थ, कैकेय, किरात, हयमुख, खरमुख, गजमुख, तुरगमुख, मेंढमुख, हयकर्ण, गजकर्ण, इत्यादि और अनेक अनार्य मनुष्य हैं, जो पाप-कर्मी, प्रचंड-स्वभावी, निर्दय, पश्चात्तापरहित हैं, धर्म शब्द तो उन्होंने स्वप्न में भी नहीं सुना। इसके अतिरिक्त अन्तरद्वीप में उत्पन्न हुए यौगलिक मनुष्यों भी अनार्य समझने चाहिए।

५६ अंतरद्वीप इस प्रकार हैं—हिमवान पर्वत के अगले और पिछले भाग में ईशान आदि चार विदिशाओं में लवणसमुद्र के अंदर ईशानकोण में तीनसौ योजन अवगाहन करके तीनसौ योजन लम्बा-चौड़ा एक ऊरूक् नाम का प्रथम अन्तरद्वीप है; वहाँ एकोरूक पुरुषों का निवास है। द्वीपों के नाम अनुसार पुरुषों के नाम हैं। पुरुष तो सभी अंगोपांगों से सुन्दर होते है, मगर एक उरूक वाला स्थान नहीं होता, इसी प्रकार अन्य के लिये भी समझना। अग्निकोण में तीनसौ योजन लवणसमुद्र के अन्दर जाने के बाद तीनसौ योजन लम्बाई चौड़ाई वाला और आभाषिक पुरुषों के रहने का स्थान प्रथम आभाषिक नाम का अन्तरद्वीप है। तथा नैऋत्य-कोण में उसी तरह लवणसमुद्र में जाने के बाद तीनसौ

योजन लम्बा चौड़ा लांगूलिक मनुष्यों के रहने योग्य लांगूलिक नाम का प्रथम अन्तरद्वीप है. तथा वायव्य कोण में तीनसो योजन लवणसमुद्र मे जाने के बाद ३०० योजन लम्बा-चौड़ा वैषाणिक मनुष्यों के रहने योग्य वैषाणिक नामक प्रथम अन्तरद्वीप है। इसके बाद ४०० योजन आगे जाने पर ४०० योजन लम्बे चौड़े वैसे ही हयकर्ण, गजकर्ण, गोकर्ण, शष्कुलीकर्ण नाम के दूसरे चार अन्तरद्वीप हैं। उसके बाद ५०० योजन जाने पर ५०० योजन लम्बे चौड़े आदर्शमुख, मेषमुख, हयमुख, गजमुख नाम के तीसरे चार अन्तर द्वीप हैं। उसके बाद ६०० योजन आगे जाने पर उतनी ही लंबाई-चौड़ाई वाले अश्वमुख, हस्तिमुख, सिंह मुख, व्याघ्रमुख नाम के चौथे चार अन्तरद्वीप हैं। उसके बाद लवणसमुद्र में ७०० योजन आगे जाने पर सातसौ योजन, लम्बाई चौड़ाई वाले अश्वकर्ण, सिंहकर्ण, हस्तिकर्ण, कर्णप्रावरण नाम के पांचवें चार अन्तरद्वीप हैं। उसके बाद इसी तरह आठ सौ योजन जाने पर आठसौ योजन लम्बे-चौड़े उल्कामुख, विद्युत्जिह्व, मेषमुख, विद्युद्दंत के नाम के छठे चार अन्तरद्वीप हैं, उसके बाद नौसौ योजन लवणसमुद्र में जाने के बाद नौसौ योजन लम्बे-चौड़े घनदंत, गूढ़दंत, श्रेष्ठदंत, शुद्धदत नामके सातवें चार अन्तरद्वीप है। इस अन्तरद्वीपों में यौगलिक मनुष्य जन्म लेते हैं। इनकी आयुष्य पल्योपम के असंख्यातवें भाग की होती है, शरीर आठसौ धनुष्य का ऊँचा होता है। इसी तरह ऐरावत क्षेत्र का विभाग करने वाला शिखरी पर्वत भी ईशानादि विदिशाओं के इसी क्रम से नाम-समुदाय से अठाईस अन्तरद्वीप हैं। यह सब मिलाने से छप्पन अन्तरद्वीप होते है।

मानुषोत्तर पर्वत के बाद पुष्करवरद्वीप के चारों तरफ इस द्वीप से दुगुने विस्तार वाला गोलाकार पुष्करोद समुद्र है, उसके बाद क्षीरवरद्वीप और समुद्र हैं, उसके बाद घृतवरद्वीप और समुद्र हैं, बाद में इक्षुवर द्वीप और समुद्र हैं। इसके बाद आठवां नंदीश्वरद्वीप है, वह १६३८४०००० योजन का है, इसमें देवलोक की स्पर्धा करने वाले विविध प्रकार से सुन्दर बाग हैं, जो जिनेश्वर देव की प्रतिमा की पूजा में एकाग्र देवों के आगमन से मनोहर तथा इच्छानुसार विविध क्रीड़ा करने के लिए एकत्रित देवों से रमणीय है। उसके मध्यभाग में चारों दिशा में अंजन के समान वर्ण वाले छोटे मेरु के समान अर्थात् ८४००० योजन ऊंचाई वाले, नीचे दस हजार योजन से अधिक, और उपर एक हजार योजन विस्तृत चार अंजनगिरि हैं। उनके नाम क्रमशः देवरमण, नित्योद्योत, स्वयंप्रभ और रमणीय हैं। उन पर सौ योजन लम्बा, पचास योजन चौड़ा और बहत्तर योजन ऊँचा जिनमंदिर है, वहां सोलह योजन ऊँचा, आठ योजन विस्तृत आठ योजन प्रवेश करने योग्य देव, असुर, नाग और सुपर्ण देवताओं के नाम वाले और रहने वाले चार द्वार हैं, उसके अन्दर सोलह योजन लम्बी-चौड़ी आठ योजन ऊँची पीठिका है। उस पर कुछ अधिक लम्बा-चौड़ा देवच्छंदक है, वहां प्रत्येक दिशा में ऋषभ, वर्धमान, वारिषेण और चन्द्रानन नाम की चार प्रतिमा पर्यंकासन से विराजमान हैं तथा प्रत्येक एकसो आठ प्रतिमा के परिवार वाली शाश्वत जिन प्रतिमा होती है। प्रत्येक प्रतिमा के साथ दो नागदेव की प्रतिमा, दो यक्षप्रतिमा, दो भूतप्रतिमा, दो कलशधर प्रतिमा, दो चामर धारण करने वाले देवों की प्रतिमा होती है, और पीछे एक छत्र धारण करने वाले देव की प्रतिमा होती है। ये प्रतिमाएं पुष्पमाला, घंटा, कुंभ धूपघटिका, अष्टमंगल, तोरण, ध्वजा, पुष्प, अंगेरिका, दर्पण, पटल, छत्र और आसन से युक्त होती हैं। जिनालय की भूमि पर मनोहर बारीक स्वर्णबालुका बिछी हुई होती है, तथा जिनमन्दिर के नाप का आगे का मंडप सोलह पूर्णकलशों से सुशोभित प्रेक्षामंडप, अक्षवाटक-गवाक्ष, मणिपीठिका, स्तूप, चैत्यवृक्ष, इन्द्रध्वज, वावड़ी आदि क्रमशः रचनाओं से पूर्ण होता है।

अंजनगिरि पर्वत के पूर्वादि प्रत्येक चार दिशाओं में चार-चार बावड़ी होती हैं, उसके नाम क्रमशः-नंदिषेणा, अमोघा, गोस्तूपा सुदर्शना, नंदोत्तरा, नंदा, सुनंदा नन्दिवर्धना, भद्रा, विशाला, कुमुदा, पुंडरीकिणी ; विजया, वैजयन्ती, जयंती, अपराजिता हैं। इनमें प्रत्येक बावड़ी के आगे पांच सौ योजन के बाद लाख योजन लम्बा, पांच सौ योजन चौड़ा, अशोक, सप्तच्छद चंपक, आम्र आदि नाम से उद्यान है, बावड़ियों के मध्यभाग में स्फटिकरत्नमय दधिमुखपर्वत है, वह सुन्दर वेदिका, उद्यान आदि से युक्त चौंसठ हजार योजन ऊंचा, एक हजार योजन गहरा, दस हजार योजन नीचे विस्तृत तथा उतना ही ऊपर विस्तृत और पल्यंकाकृति वाला पर्वत है। किसी का ऐसा कहना है कि बावड़ी के बीच में दो-दो पर्वत है जो संख्या में बत्तीस हैं। दधिमुख और रतिकर पर्वत पर अंजनगिरि के समान मन्दिर समझना। द्वीप की विदिशा में चार रतिकर पर्वत हैं। वे दस हजार योजन लम्बे-चौड़े, हजार योजन ऊँचे सर्वरत्नमय और झल्लरी के समान आकृति वाले हैं। वहां दक्षिण में शक्रेन्द्र की और उत्तर के दो पर्वतों में इशानेन्द्र की आठ अग्र-महादेवियों की ; चारों दिशा में लाख योजन प्रमाण वाली, प्रत्येक दिशा में जिनमंदिर से विभूषित आठ आठ राजधानियां है, उसके नाम इस प्रकार—सुजाता, सौमनसा, अर्चि, माली, प्रभाकरा, पद्मा, शिवा, शुचि, अंजना, भूता, भूतावतंसा, गोस्तूपा, सुदर्शना अमला, अप्सरा, रोहिणी, नवमी, रत्ना रत्नोच्चया, तथा सर्वरत्ना, रत्नसंचया, वसुमित्रा, वसुंधरा, नन्दोत्तरा, नंदा, उत्तर-कुरु, देवकुरु, कृष्णा, कृष्णाराजी, रामा, रामरक्षिता। अग्निकोण की राजधानी भी इसी क्रम से जानना। वहां सर्वसंपत्तिवान देवता अपने अपने परिवार के साथ पुण्य-पर्व के दिनों में आ कर देव, असुर और विद्याधरादि के पूजनीय जिनमंदिर में हर्षित मन से अष्टाह्निका-महोत्सव करते हैं। यहां पर अंजनगिरि में चार और दधिमुखपर्वत में सोलह मिला कर बीस जिनमंदिर तथा रतिकरपर्वत पर बत्तीस, इस तरह गिरि के शिखर पर बावन और राजधानी में बत्तीस जिनालय है। कई सोलह जिनालय मानते हैं। इस अर्थ को पुष्ट करने वाली पूर्वाचार्य की गाथाओं का अर्थ कहते हैं--

"जहां देवसमुदाय हमेशा विलास और प्रभुभक्ति में आनन्द मान कर रहते हैं, वह नन्दीश्वर नाम का आठवां द्वीप १६३८४०००० योजन प्रमाण का है, वहां पूर्वादि चार दिशा में भैंसे के सींग के समान श्यामवर्ण वाले ६४००० योजन ऊंचे, एक हजार योजन मूल में, भूमितल पर दस हजार, और उसके ऊपर के भाग में ६४०० और आखिर में हजार योजन चोड़े हैं। $२\frac{१}{३}$ क्षय-वृद्धि-अधिकता वाले पूर्वदिशा में देवरमण, दक्षिण में नित्योद्योत, पश्चिम में स्वयंप्रभ और उत्तर दिशा में रमणीय इस प्रकार चार पर्वत हैं। अंजन पर्वतों से एक लाख योजन दूर, चारों दिशा में हजार योजन गहरी मत्स्य रहित निर्मल जलयुक्त बावड़ी है, पूर्वादि प्रत्येक दिशा में चार-चार बावड़ी के नाम अनुक्रम से इस प्रकार हैं—१—नन्दिषेणा, २—अमोघा ३—गोस्तूपा ४—सुदर्शना, ५—नन्दोत्तरा, ६—नंदा, ७—सुनन्दा ८—नन्दिवर्धना, ९—भद्रा, १०—विशाला, ११—कुमुदा, १२—पुंडरीकिणी, १३—विजया, १४ वैजयन्ती, १५—जयंती, और १६—अपराजिता। उससे आगे पांच सौ योजन जाने के बाद लाख योजन लम्बा और पांचसौ योजन चौड़ा वनखंड है; जहां पूर्व में अशोकवन, दक्षिण में सप्तपर्णवन, पश्चिम में चंपकवन और उत्तर में आम्रवन नामक वन है। बावडियों के मध्यभाग में प्याले के आकार के समान स्फटिकरत्नमय दस हजार योजन चौड़े, हजार योजन जमीन से मूल में, चौसठ हजार योजन ऊंचे सोलह दधिमुखपर्वत हैं। अंजनगिरि और दधिमुखपर्वत पर सौ योजन चौड़े, बहत्तर योजन ऊंचे, विविध प्रकार से शोभित सुन्दर, नृत्यगीत, संगीत आदि सैकड़ों प्रकार की भक्ति से युक्त तोरण-ध्वजा, मंगलादिसहित जिनमंदिर हैं, देव, असुर, नागकुमार और सुपर्णकुमार के नाम वाले भवन में किले और

द्वार है, जिनकी ऊंचाई सोलह योजन और चौड़ाई आठ योजन है। प्रत्येक द्वार पर कलश आदि हैं। आगे मंडप प्रेक्षामंडप, गवाक्ष, मणिपीठ, स्तूप प्रतिमाष्टक चैत्य वृक्ष, ध्वजाओं और बावड़ियों से सुशोभित है। जिनमंदिर के गर्भगृह में ८ योजन ऊंची १६ योजन लम्बी, आठ योजन चौड़ी मणिपठिका है, और इससे अधिक प्रमाण वाला रत्नमय देवच्छंद है, उसमें १—ऋषभ, २ वर्धमान ३—चन्द्रानन और ४—वारिषेण नामक जिनेश्वरदेव की पल्यंकासनस्थ १०८ शाश्वत प्रतिमाएं हैं। प्रत्येक प्रतिमा के आगे दो दो नागकुमार, यक्ष, भूत, कुंडधर की प्रतिमाएं हैं। दोनों तरफ दो चामर धारण करने वाली और पीछे एक छत्र धारण करने वाली प्रतिमाएँ हैं; तथा घंटा, चंदन घट, भृंगार, दर्पण आदि भद्रासन, मंगलपुष्प, अगेरी, पटलक, छत्र, आसन भी साथ में होता है। यहाँ सूत्र में कहे अनुसार दो दो बावड़ियों के अन्तर पर दो दो रतिकर नाम से पर्वत हैं, उस बत्तीस पर्वतों पर पहले कहे अनुसार ३२ जिनमंदिर है। महापर्व के पवित्र दिनो मे वदन-नमस्कार करते, स्तुति-पूजा करते, जाते आते विद्याधर तथा देवता उनका महोत्सव करते हैं। ऐसी जिनप्रतिमा उसमें विराजमान हैं। तथा हजार योजन ऊंचा दस हजार योजन लम्बा-चौड़ा, झल्लरी के समान रत्नमय रतिकर नामक पर्वत, द्वीप की विदिशा मे, शोभित है, उस पर्वत के चारों दिशाओं में जम्बूद्वीप के समान लाख योजन में शक्र और ईशान इन्द्र की अग्रमहादेवियों की आठ-आठ राजधानियाँ है। उस राजधानियों के चारो तरफ निर्मल मणिरत्न का कोट बना है; उसमें अनुपम अत्यन्त रमणीय और रत्नमय प्रतिमाओ से प्रतिष्ठित जिनमंदिर है। इस तरह बीस और बावन गिरिशिखर पर जिनमंदिर हैं, उनकी हम स्तुति करते है, अथवा इन्द्राणियां की राजधानी में रहे बत्तीस अथवा सोलह जिनमंदिरों को मैं नमस्कार करता हूं।"

नंदीश्वर द्वीप के चारों तरफ वलयाकार—गोलाकार नंदीश्वरसमुद्र है, बाद में अरुणद्वीप और अरुणसमुद्र हैं। इसके बाद अरुणावरद्वीप और अरुणावरसमुद्र हैं, बाद मे अरुणाभासद्वीप और अरुणाभाससमुद्र है, इसके बाद कुंडलद्वीप और कुंडलसमुद्र हैं, बाद मे रुचकद्वीप और रुचकसमुद्र हैं, इस प्रकार प्रशस्त नाम वाले दुगुने दुगुने विस्तृत असंख्यात द्वीप-समुद्र हैं आखिर में स्वयंभूरमणसमुद्र है। इन द्वीपसमुद्रों में ढाई द्वीप में देवकुरु और उत्तरकुरु को छोड़ कर भरत, ऐरावत और महाविदेह ही कर्मभूमियां हैं।

कालोदधि, पुष्करसमुद्र और स्वयंभूरमणसमुद्र के जल का स्वाद जल के जैसा है, लवण-समुद्र के जल का स्वाद लवणरस के समान है, वारुणोदधिसमुद्र का स्वाद विविध प्रकार की मदिरा के समान है, क्षीरसमुद्र के जल का स्वाद खांड और घी आदि के साथ चतुर्थभाग मिश्रित गाय के दूध समान होता है। घृतसमुद्र के जल का स्वाद अच्छी तरह से तपाए हुए ताजे घी के समान होता है, और शेष समुद्र का जल स्वाद में दालचीनी, तमालपत्र, इलायची और नागकेसर के साथ ताजे पीरे हुए ईक्षुरस के तृतीयांश मिश्रित रस का-सा होता है। लवणसमुद्र, कालोदधि और स्वयंभूरणसमुद्र में बहुत मछली, कछुए आदि होते हैं; परन्तु दूसर समुद्रों मे नहीं होते। तथा जम्बूद्वीप मे जघन्य चार तीर्थंकर, चक्रवर्ती बलदेव और वासुदेव हमेशा होते हैं; उत्कृष्ट चौंतीस तीर्थंकर और तीस चक्रवर्ती होते हैं। धातकी-खण्ड और पुष्करार्धखण्ड में इससे दुगुने होते हैं।

तिर्यक्लोक से ऊपर नौसौ योजन सात राजू-प्रमाण ऊर्ध्वलोक है, उसमें सौधर्म, ईशान, सनत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्मलोक, लान्तक महाशुक्र, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण और अच्युत नाम के बारह देवलोक हैं। उनके ऊपर नौ ग्रैवेयक, उनके ऊपर विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित पूर्वादि

दिशा के क्रम से हैं और बीच में सर्वार्थसिद्ध हैं। उसके ऊपर बारह योजन पैंतालीस लाख लम्बी-चौड़ी—ईषत्प्राग्भार नाम की पृथ्वी हैं और वही सिद्धशिला है। उसके भी उपर के भाग में तीन गाऊ के आगे चौथे गाऊ के छठे हिस्से में लोक के अन्त तक सिद्ध जीव रहे हैं।

उसमें समभूतल से सौधर्म और ईशान यह दो देवलोक तक डेढ़ राजू लोक, सनत्कुमार और माहेन्द्र तक ढाई राजू लोक, सहस्रार देवलोक तक पांच राजू लोक, अच्युत देवलोक तक छह राजू लोक और लोकान्त तक सात राजू लोक है। सौधर्म और ईशान के विमान का आकार चन्द्रमंडल के समान गोल है, उसमें दक्षिणार्ध का इन्द्र शक्र और उत्तरार्ध का इन्द्र ईशान है। सनत्कुमार और महेन्द्र भी उसी प्रकार हैं। उसमें दक्षिणार्ध का इन्द्र सनत्कुमार और उत्तरार्ध का इन्द्र माहेन्द्र है। उसके बाद ऊर्ध्वलोक के मध्यभाग मे लोकपुरुष की कोहनी के समान स्थान में ब्रह्मलोक है उसका इन्द्र ब्रह्मेन्द्र है उसके एक प्रदेश में वास करने वाले सारस्वत, आदित्य, वह्नि, अरूण, गर्दतोय, तुषित, अव्याबाध, मरुत और अरिष्ट नाम के लोकान्तिक देव हैं। उसके ऊपर लान्तक और उसी नाम का लान्तकेन्द्र है, उसके भी ऊपर सुधर्म और ईशान के समान चंद्राकार आनत और प्राणतकल्प हैं। उसमें प्राणतवासी उसी नाम के दो कल्प के एक ही इन्द्र है, उसके ऊपर उसी तरह चंद्राकारसमान गोल आरण और अच्युत हैं वहाँ अच्युतकल्पवासी उसी नाम से दो कल्प के एक इन्द्र है। उसके बाद के देवलोक के सभी देव अहमिन्द्र हैं। इसमें प्रथम दो कल्प घनोदधि के आधार पर रहे हैं, उसके ऊपर तीन कल्प वायु के आधार पर रहे हैं, उसके बाद तीन कल्प घनोदधि और घनवात के आधार पर रहे हैं, उनके ऊपर के कल्प आकाश के आधार पर टिके हुए हैं। इन कल्पोपपन्न देवों में इन्द्र, सामानिक त्रायस्त्रिंश, पारिषद्य, आत्म-रक्षक, लोकपाल, सैनिक, प्रकीर्णक, आभियोगिक, किल्बिषिक इस प्रकार देवताओं के दस विभाग है, उसमें इन्द्र सामानिक आदि नौ के स्वामी हैं। सामानिकदेव, प्रधान, पिता, गुरु, उपाध्याय बड़ों के समान होते हैं केवल इन्द्रपद से रहित होते हैं। त्रायस्त्रिंश मन्त्री और पुरोहित के स्थान के समान है, पारिषद्य देव मित्र के समान, आत्मरक्षकदेव अंगरक्षकदेव के समान हैं, लोकपालदेव कोतवाल अथवा दूतकार्य करने वाले होते हैं, अनीकदेव सैनिक का कार्य करने वाले, उनके अधिपति सेनाधिपति का कार्य करने वाले होते हैं, उन्हें भी अनीक देवों में समझना चाहिए। प्रकीर्णकदेव नगर, जन और देशवासी के समान देव हैं, अभियोगिक देव दास-सेवक के समान आज्ञापालन करने वाले देव हैं, किल्विषिक देव अन्त्यज-समान है। व्यन्तर और ज्योतिष्क देवलोक में त्रायस्त्रिंश और लोकपाल देव नही होते, इनके अलावा सभी देव वहाँ होते हैं।

सौधर्मदेवलोक में बत्तीस लाख विमान होते हैं, ईशान में २८ लाख, सनत्कुमार में १२ लाख माहेन्द्र में ८ लाख, ब्रह्मलोक मे ४ लाख, लान्तक में ५० हजार, शुक्र में ४० हजार, सहस्रार में ६ हजार, आनत और प्राणत में चार सौ, आरण और अच्युत में तीन सौ विमान है, पहले तीन ग्रैवेयक में एक सौ दस, बीच के तीन ग्रैवेयक में एक सौ सात, ऊपर के तीन ग्रैवेयक में एक सौ विमान हैं, अनुत्तर के पांच ही विमान है। इस तरह कुल ८४९७०२३ विमान हैं। विजयादि चार अनुत्तरविमानवासी देवों के आखिर दो भव शेष रहते हैं, और सर्वार्थसिद्ध देवों का तो एक जन्म शेष रहता है। सौधर्म देवलोक से ले कर सर्वार्थसिद्ध तक देवों की आयु, स्थिति प्रभाव, सुख, कान्ति, लेश्या, विशुद्धि इन्द्रियों के विषय, अवधिज्ञान आगे से आगे उत्तरोत्तर बढ़कर होते हैं। गति, शरीर परिग्रह और अभिमान से वे उत्तरोत्तर हीन-तर होते हैं। श्वासोच्छ्वास तो सर्वत्र जघन्यस्थिति वाला होता है, भवनपति आदि देवों का सात स्तोक

के बाद और आहार एक उपवास जितने समय के बाद होता है। पल्योपमस्थिति के देवों का उच्छ्वास एक दिन के अन्दर और दो से नौ दिन में आहारग्रहण का समय होता है। जिन देवों का जितने सागरोपम का आयुष्य होता है वे उतने पाक्षिक के बाद उच्छ्वास लेते हैं और उतने हजार वर्ष में आहार लेते हैं। देवताओं को प्रायः सातावेदनीय कर्म होते हैं, कभी असातावेदनीय होता भी है, तो वह केवल अन्त-मुहूर्त समय तक का होता है; अधिक नहीं।

देवियों की उत्पत्ति दूसरे ईशान देवलोक तक ही होती है। किन्तु देवियों को जाना हो तो बारहवें अच्युत देवलोक तक जा सकती हैं। अन्य मतवाले तापस आदि ज्योतिषदेवलोक तक, पञ्चेन्द्रिय तिर्यंच आठवें सहस्रारकल्प तक, मनुष्य श्रावक बारहवें अच्युतदेवलोक तक, श्री जिनेश्वरभगवान का चारित्र-चिह्न अंगीकार करने वाला, मिथ्यादृष्टि, यथार्थ समाचारी पालन करने वाला नौवें ग्रैवेयक तक, चौदह पूर्वधर ब्रह्मलोक से सर्वार्थसिद्ध तक, अविराधित व्रत वाले साधु और श्रावक जघन्य सौधर्मदेव-लोक तक जाते हैं। भवनवासी देव आदि से दूसरे ईशान देवलोक तक के देवता शरीर से संभोगसुख भोगते हैं, ये देव संक्लिष्ट कर्म वाले मनुष्यों के समान मैथुनसुख में गाढ़ आसक्त बन कर उसमें तीव्रता से तल्लीन रहते हैं, और काया के परिश्रम से सर्व अंगों का स्पर्शसुख प्राप्त करके प्रीति करते हैं। आगे तीसरे-चौथे कल्पवासी देव केवल स्पर्शसुख के उपभोक्ता होते हैं, पांचवें, छठे कल्प के देव देवियों का रूप देख कर, सातवें-आठवें देवलोक के देव देवियों का शब्द सुन कर, नौवे से बारहवें तक चार देवलोक के देव मन मे देवी का चिन्तन करने से तृप्त हो जाते है। उसके बाद के देवों में किसी भी प्रकार से मैथुन-सेवन नहीं होता, परन्तु प्रवीचार करने वाले देवों से प्रवीचार नहीं करने वाले देव अनंतगुना सुख भोगने वाले होते हैं। इस तरह लोक के तीन भेद हैं— अधोलोक, तिर्यक्लोक और ऊर्ध्वलोक। इस लोक के मध्य भाग में एक राजू-प्रमाण लम्बी-चौड़ी ऊपर नीचे मिला कर चौदह राजू लोक प्रमाण वाली त्रसनाडी है, जिसमें त्रस और स्थावर जीव रहते है, और त्रसनाडी के बाहर केवल स्थावर जीव ही होते हैं।"

अब लोक का विशेष स्वरूप कहते हैं —

निष्पादितो न केनापि, न धृतः केनचिच्च सः ।
स्वयंसिद्धो निराधारो, गगने किंत्ववस्थितः ॥१०६॥

अर्थ– इस लोक को न किसी ने बनाया है और न किसी ने धारण कर रखा है। यह अनादिकाल से स्वयंसिद्ध है, और आधार के बिना आकाश पर स्थित है।

व्याख्या—प्रकृति, ईश्वर, विष्णु, ब्रह्मा, पुरुष आदि में से किसी ने भी इस लोक (जगत्) को बनाया नहीं है। प्रकृति अचेतन होने से उसमें कर्तृत्व नहीं हो सकता। ईश्वर आदि को प्रयोजन नहीं होने से उनका भी कर्तृत्व नहीं है। यदि कोई कहे—'उन्होंने लोक क्रीड़ा के लिए बनाया है' तो यह कथन भी यथार्थ नहीं है, क्योंकि क्रीड़ा तो रागी में अथवा बचपन में होती है। यदि यह कहो कि 'उनमें तो क्रीडा-साध्य प्रीति शाश्वत है'; तब तो क्रीड़ा के निमित्त से उनको प्रीति मानने पर तो पहले अतृप्ति भी थी ऐसा मानना होगा। यदि उन्होंने दया से लोक को उत्पन्न किया है तो सारा जगत् ही सुखी होना चाहिए, कोई भी दुःखी नहीं होना चाहिए। 'सुख-दुःख कर्म के अधीन हैं' ऐसा कहते हैं तो फिर कर्म ही कारण है और ऐसा मानने से उनकी स्वतंत्रता का नाश होता है। जगत में कोई दुःखी, कोई सुखी, कोई राजा, कोई

रंक, कोई निरोगी-रोगी, संयोगी-वियोगी, धनवान-दरिद्र आदि भावों की विचित्रता कर्म के कारण है, तब तो ईश्वरादि की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। अब कहीं यह कहें कि 'उन्होंने प्रयोजन बिना जगत् का निर्माण किया है, तो वह कथन भी अयुक्त है, प्रयोजन बिना बालक भी कोई प्रवृत्ति नहीं करता। इससे सिद्ध हुआ कि इस लोक को किसी ने बनाया नहीं है और न किसी ने धारण किया है। कितने ही पौराणिक ऐसा कहते हैं 'शेषनाग, कूर्म, वराह आदि ने इस लोक को धारण कर रखा है ; तो उनसे पूछा जाए कि शेषनाग आदि को किसने धारण कर रखा है ? उत्तर मिलता है कि आकाश ने। तो फिर आकाश को किसने धारण किया है ? वह स्वयं ही प्रतिष्ठित है।" ऐसा उत्तर मिलने पर उन्हें कहना कि 'लोक भी इसी तरह आधार के बिना आकाश में स्थिर है।' इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि यह जगत् किसी ने भी उत्पन्न नहीं किया, स्वयंसिद्ध है; किसी ने धारण नहीं कर रखा है। शंका करते हैं कि 'आधार के बिना लोक रहेगा कहाँ ? उत्तर देते हैं—'आकाश में।' परन्तु अवस्थित आकाशरूप में ही यह लोक आकाश में प्रतिष्ठित रहता है।

इस सम्बन्धी आतंरश्लोकों का भावार्थ कहते हैं—शंका करते हैं कि 'लोक-विचारणा की भावना क्यों कही गई ? उत्तर देते हैं कि 'इससे निर्ममत्व परिणाम होते हैं। सुनो ; सुख के कारण किसी भाव में बारबार मन में मूर्च्छा पैदा होती है तो इस लोकभावना से उसे अत्यन्त दूर कर सकते हैं। हमने '**ध्यानशतक**' में कहा है कि 'पृथ्वी, द्वीप, समुद्र आदि धर्मध्यान का विषयभूत है।' इसके बिना साधक लोकभावना का चिन्तन नहीं कर सकता। श्री जिनेश्वर-कथनानुसार लोक-रूप पदार्थों का निःशंक निश्चय होने के बाद अतीन्द्रिय मोक्षमार्ग में जीवों को श्रद्धा रखनी चाहिए। इति लोकभावना।

अब तीन श्लोकों से बोधिदुर्लभभावना कहते हैं—

अकामनिर्जरारूपात्, पुण्याज्जन्तोः प्रजायते।
स्थावरत्वात् त्रसत्वं वा, तिर्यक्त्वं वा कथञ्चन ॥१०७॥

अर्थ—**अकामनिर्जरारूपी पुण्य से जीव को स्थावरपर्याय से त्रसपर्याय प्राप्त होता है अथवा वह तिर्यञ्चगति प्राप्त करता है।**

व्याख्या—पर्वत के नदी-प्रवाह में बहता हुआ पत्थर ठोकरें खाता-खाता अपनेआप गोलमटोल बन जाता है, उसी प्रकार आये हुए अप्रत्याशित दुःख को बिना इच्छा के सहन करने से अकामनिर्जरा होती है। अर्थात् आत्मा के साथ लगे हुए बहुत-से कर्म नष्ट हो जाते हैं। यह पुण्यप्रकृति का स्वरूप नहीं है, अपितु आत्मा का कर्म के बोझ से हलका होना है। इससे जीव एकेन्द्रियजातीय स्थावर-पर्याय को छोड़ कर त्रस-पर्याय पा लेता है, या पंचेन्द्रिय-तिर्यंच हो जाता है।

मानुष्यमार्यदेशश्च, जातिः सर्वाक्षपाटवम्।
आयुश्च प्राप्यते तत्र, कथंचित्कर्मलाघवात् ॥१०८॥

अर्थ—**उसके बाद अधिक कर्मों से अत्यधिक हलके (लघु) होने पर जीव को मनुष्य-पर्याय, आर्यदेश तथा उत्तम जाति में जन्म, पाँचों इन्द्रियों की परिपूर्णता और दीर्घ आयुष्य की प्राप्ति होती है।**

व्याख्या—विशेष प्रकार से कर्मों के लाघव (हलकेपन) के कारण किसी प्रकार स्वयंभूरमण समुद्र में युगछिद्र में कील आ जाने (के न्याय) की तरह मनुष्यत्वप्राप्ति के बाद शक, यवन आदि अनार्यदेश के अतिरिक्त मगधादि आर्यदेश में जन्म होता है, आर्यदेश मिलने पर भी अन्त्यज आदि नीची जाति से रहित उत्तमजाति-कुल में उसका जन्म होता है। उत्तमजाति-कुल मिलने पर भी समस्त इन्द्रियों की परिपूर्णता तथा सर्वेन्द्रियपटुता के साथ लम्बा आयुष्य तभी मिलता है, जब अशुभकर्म कम हुए हों, उपलक्षण से पुण्य की वृद्धि हुई हो। इतना होने पर ही इन सभी की प्राप्ति हो सकती है। कम आयुष्य वाला इसलोक या, परलोक के कार्य करने में समर्थ नहीं हो सकता, श्री वीतराग भगवान् ने भी 'आयुष्मान् गौतम !' सम्बोधन करके दूसरे गुणों के साथ लम्बी आयु को मुख्यता दी है।

प्राप्तेषु पुण्यतः श्रद्धा-कथकश्रवणेष्वपि ।
तत्वनिश्चयरूपं तद्, बोधिरत्नं सुदुर्लभम् ॥१०६॥

अर्थ—कर्मों के लाघव (हलकापन) से और पुण्य अर्थात् शुभकर्म के उदय से धर्माभिलाषारूप श्रद्धा, धर्मोपदेशक गुरुमहाराज और उनके वचन-श्रवण करने की प्राप्ति होती है। परन्तु यह सब होने पर भी तत्व-निश्चयरूप (अथवा तत्वरूप) देव, गुरु और धर्म के प्रति दृढ़ अनुराग, तद्रूप बोधि-(सम्यक्त्वरत्न की प्राप्ति) होना अत्यन्त कठिन है।

व्याख्या—स्थावर से त्रसत्व अतिदुर्लभ है, इससे बोधिरत्न अतिदुर्लभ है। यहाँ दुर्लभम् के पूर्व 'सु' शब्द बोधिरत्न की अत्यन्त दुर्लभता बताने हेतु प्रयुक्त है। मिथ्यादृष्टि भी त्रसत्व आदि से धर्मश्रवण की भूमिका तक अनन्त वार पहुंच जाता है; परन्तु वह बोधिरत्न की प्राप्ति नहीं कर सकता। मोक्षवृक्ष का बीज सम्यक्त्व है।

इस विषय के आंतरश्लोकों का भावार्थ कहते हैं—इस जैनधर्मशासन में राज्य मिलना, चक्रवर्ती होना दुर्लभ नहीं कहा, किन्तु बोधिरत्न की प्राप्ति करना अत्यन्त दुर्लभ बताया है। सभी जीवों ने जगत् के सभी भाव पहले अनंत बार प्राप्त किए हैं, परन्तु बोधिरत्न कभी प्राप्त नहीं किया, क्योंकि उनका भव-भ्रमण चालू रहा; और अनंतानंत पुद्गलपरावर्तनकाल बीत जाने के बाद जब अर्धपुद्गलपरावर्तनकाल शेष रहता है, जब संसार के सभी शरीरधारी जीवों के सर्वकर्मों की अंतः-कोटाकोटी स्थिति रह जाती है, तब कोई जीव ग्रंथि का भेदन कर उत्तम बोधिरत्न की प्राप्ति करता है। कितने ही जीव यथाप्रवृत्तिकरण करके ग्रन्थि के निकट—प्रदेश में आते हैं, परन्तु बोधिरत्न की प्राप्ति किए बिना वापिस चले जाते हैं। कितने ही जीव बोधि-रत्न की प्राप्ति करते हुए वापिस गिर जाते हैं, और फिर भवचक्र में भ्रमण करते रहते हैं। कुशास्त्रों का श्रवण, मिथ्यादृष्टियों के साथ संग, कुवासना, प्रमाद का सेवन इत्यादि बोधिरत्न का नाश करते हैं। यद्यपि चारित्र की प्राप्ति को दुर्लभ कहा है, परन्तु वह बोधिप्राप्ति होने पर ही सफल है, उसके बिना कोरी चारित्ररत्नप्राप्ति निष्फल है। अभव्य जीव भी चारित्र प्राप्त कर ग्रैवेयक देवलोक तक जाता है; परन्तु बोधि के बिना वह निर्वृति-सुख नहीं प्राप्त कर सकता। बोधिरत्न नहीं प्राप्त करने वाला चक्रवर्ती भी रंक के समान है, और बोधिरत्न प्राप्त करने वाला रंक भी चक्रवर्ती से बढ़कर है। सम्यक्त्व- प्राप्ति करने वाला जीव संसार में कदापि अनुराग नहीं करता; वह ममतारहित होने से मुक्ति की आराधना अर्गला के बिना (निराबाध) करता है। जिस किसी ने पहले इस मुक्तिपद को प्राप्त किया है, और जो आगे

प्राप्त करेंगे और वर्तमानकाल में जो भी प्राप्त कर रहे हैं, वह सब अनुपम प्रभाव और वैभवस्वरूप बोधिरत्न का प्रभाव है। इसलिए इस बोधिरत्न की उपासना करो, इसी की स्तुति करो, इसी का श्रवण करो ; दूसरे पदार्थ से क्या प्रयोजन है ? इस प्रकार बोधिभावना पूर्ण हुई ।"

निर्ममत्व की कारणभूत भावनाओं का उपसंहार करते हुए प्रस्तुत समताधिकार से उसका सम्बन्ध जोड़ते हैं—

भावनाभिरविश्रान्तमिति भावितमानसः ।
निर्ममः सर्वभावेषु, समत्वमवलम्बते ॥११०॥

अर्थ—इन बारह भावनाओं से जिसका मन निरन्तर भावित रहता है ; वह सभी भावों पर ममता-रहित हो कर समभाव का आलम्बन लेता है ।

समभाव का फल कहते हैं—

विषयेभ्यो विरक्तानां, साम्यवासितचेतसाम् ।
उपशाम्येत् कषायाग्निर्बोधिदीपः समुन्मिषेत् ॥१११॥

अर्थ—विषयों से विरक्त और समभाव से युक्त चित्त वाले योगी पुरुषों की कषाय-रूपी अग्नि शान्त हो जाती है और सम्यक्त्वरूपी दीपक प्रगट हो जाता है ।

भावार्थ—इस प्रकार इन्द्रियों पर विजय से कषायों पर विजय होती है, मन की शुद्धि से इन्द्रियों पर विजय प्राप्त होती है, रागद्वेष पर जय से मनःशुद्धि होती है, समता से रागद्वेष पर विजय होती है और भावना के हेतुस्वरूप निर्ममत्व से समता-प्राप्ति का प्रतिपादन किया है ।

अब आगे का प्रकरण कहते हैं—

समत्वमवलम्ब्याथ, ध्यानं योगी समाश्रयेत् ।
विना समत्वमारब्धे, ध्याने स्वात्मा विडम्ब्यते ॥११२॥

अर्थ—समत्व का अवलम्बन लेने के बाद योगी को ध्यान का आश्रय लेना चाहिए। समभाव की प्राप्ति के बिना ध्यान के प्रारम्भ करने पर अपनी आत्मा विडम्बित होती है। क्योंकि बिना समत्व के ध्यान में भलीभांति प्रवेश नहीं हो सकता ।

व्याख्या—उसके बाद योगी-मुनि अपने चित्त में दृढ़तापूर्वक समता का अवलंबन ले कर ध्यान में प्रवेश करता है। ध्यान का अधिकार आगे कहेंगे । यद्यपि ध्यान और समता दोनों एक ही हैं, फिर भी विशेष प्रकार की समता को ध्यान कहते हैं। जिस समता का बारम्बार अभ्यास किया जाय, ऐसी समता ध्यानस्वरूप है। इसी बात को व्यतिरेक से कहते हैं। अनुप्रेक्षा आदि के बल से प्राप्त करने योग्य समता के बिना ध्यान प्रारंभ किया जाए तो आत्मा विडंबना प्राप्त करता है। इसलिए जिसने इन्द्रियों पर काबू नहीं किया, उसने मन की शुद्धि नहीं की, रागद्वेष को नहीं जीता ; उसने निर्ममत्व प्रगट नहीं किया, तथा समता का अभ्यास नहीं किया है। जो मूढ़ मनुष्य गतानुगतिक-परम्परा से ध्यान करता है, वह दोनों लोक के मार्ग से पतित होता है। इसलिये यथाविधि ध्यान किया जाए तो आत्मा की विडम्बना नहीं होती, और वह ध्यान आत्मा के लिए हितकारी होता है ।

इसी बात को कहते हैं—

मोक्षः कर्मक्षयादेव, स चात्मज्ञानतो भवेत् ।
ध्यानसाध्यं मतं तच्च, तद्ध्यानं हितमात्मनः ॥११३।

अर्थ—कर्मों के क्षय से मोक्ष होता है, कर्मक्षय आत्मज्ञान से होता है। इस बात में विवाद नहीं है। आत्मज्ञान ध्यान से सिद्ध होता है। परपदार्थ के योग का त्याग और आत्मस्वरूपयोग में रमण, यह दोनों ध्यान से सिद्ध हो सकते हैं। इसलिए ध्यान आत्मा के लिए हितकारी माना जाता है।

यहाँ शंका करते हैं कि पहले तो अर्थ की प्राप्ति के लिए और अनर्थपरिहार के लिए साम्य को बताया, अब ध्यान को आपने आत्महित करने वाला कहा, तो इन दोनों बातों में मुख्यता किसकी मानी जाय ? उत्तर देते हैं कि दोनों की प्रधानता है ; इन दोनों में अन्तर नहीं है।

उसी को कहते हैं—

न साम्येन विना ध्यानं, न ध्यानेन विना च तत् ।
निष्कम्पं जायते तस्माद्, द्वयमन्योऽन्यकारणम् ॥११४॥

अर्थ— साम्य के बिना ध्यान नहीं होता, और ध्यान के बिना साम्य सिद्ध नहीं होता। दोनों के होने पर ही निष्कम्पता आती है, इसीलिए दोनों एक दूसरे के कारण हैं।

भावार्थ—ऐसा नहीं है कि साम्य के बिना ध्यान नहीं हो सकता, ध्यान तो साम्य के बिना हो सकता है, मगर स्थिरतायुक्त नहीं होता। इसलिए इनमें परस्पराश्रय-दोषों का अभाव होने से ये दोनों एक दूसरे के कारणरूप हैं। साम्य की व्याख्या पहले कर चुके हैं।

अब ध्यान के स्वरूप की व्याख्या करते हैं—

मुहूर्त्तान्तर्मनःस्थैर्यं, ध्यानं छद्मस्थयोगिनाम् ।
धर्म्यं शुक्लं च तद् द्वेधा, योगरोधस्त्वयोगिनाम् ॥११५॥

अर्थ—छद्मस्थ-योगियों का अन्तःमुहूर्तकाल तक ही मन का स्थिर रहना ध्यान है। वह ध्यान दो प्रकार का है, प्रथम धर्मध्यान और दूसरा शुक्लध्यान। अयोगियों के तो योग का निरोध होता ही है।

व्याख्या— ध्यान करने वाले दो प्रकार के होते हैं— सयोगी और अयोगी। सयोगीध्याता भी दो प्रकार के हैं, छद्मस्थ और केवली। इनमें छद्मस्थ योगी का ध्यान एक आलम्बन में ज्यादा से ज्यादा अन्तर्मुहूर्त—(४८ मिनिट पर्यन्त) तक मन की स्थिरता—(एकाग्रता) पूर्वक हो सकता है। वह ध्यान छद्मस्थ योगी को दो प्रकार का होता है—धर्मध्यान और शुक्लध्यान। वह धर्मध्यान दस प्रकार के धर्मों से युक्त, अथवा दशविध धर्मों से प्राप्त करने योग्य है, और शुक्लध्यान समग्र कर्म-मल को क्षय करने वाला होने से शुक्ल-उज्ज्वल पवित्र निर्मल है, अथवा शुक्ल का दूसरा अर्थ होता है—शुगं दुःखं क्लमयति =नश्यतीति शुक्लम्। अर्थात् शुग् यानी दुःख के कारणभूत आठ प्रकार के कर्मों का जो नाश करता है, वह शुक्लध्यान है। सयोगी केवली को तो मन, वचन और काया के योग का निरोध करना—निग्रह

करना होता है। यानी वह योगों के निरोध को ही ध्यानरूप जानता है। सयोगी केवली को योग के निरोध समय में ध्यान होता है, इससे अलग ध्यान नहीं होता। सयोगी केवली कुछ कम पूर्वकोटी तक मन, वचन और काया के योग-(व्यापार) युक्त ही विचरते हैं। निर्वाण के समय में योग का निरोध करते हैं।'' यहाँ शंका करते हैं कि 'छद्मस्थ योगी को यदि अंतमुहूर्तकाल तक ध्यान की एकाग्रता रहे तो उसके बाद क्या स्थिति होती है ?

उसे कहते हैं—

मुहूर्त्तात् परतश्चिन्ता, यद्वा ध्यानान्तरं भवेत् ।
बह्वर्थसंक्रमे तु स्याद् दीर्घाऽपि ध्यान-सन्ततिः ॥११६॥

अर्थ—एक पदार्थ में मुहूर्तकाल तक ध्यान व्यतीत होने के बाद वह ध्यान स्थिर नहीं रहता, फिर वह चिन्तन करेगा अथवा आलम्बन की भिन्नता से दूसरा ध्यान करेगा, परन्तु एक पदार्थ में एक मुहूर्त से अधिक स्थिर नहीं रह सकता, क्योंकि उसका ऐसा ही स्वभाव है। इस तरह एक अर्थ से दूसरे अर्थ का आलम्बन करता है, और तीसरे का आलंबन ले कर ध्यान करता है, फिर चौथे को, इस तरह लम्बे समय तक ध्यान की परम्परा चालू रहती है। मुहूर्तकाल के बाद प्रथम ध्यान समाप्त होता है, बाद में दूसरे अर्थ का आलम्बन करता है इस तरह ध्यान की वृद्धि करने के लिए भावना करनी चाहिए।

उसी बात को कहते हैं—

मैत्री-प्रमोद-कारुण्य-माध्यस्थ्यानि नियोजयेत् ।
धर्मध्यानमुपस्कर्तुं, तद्धि तस्य रसायनम् ॥११७॥

अर्थ—धर्मध्यान टूट जाता हो तो मैत्री, प्रमोद, कारुण्य, और माध्यस्थ्य भावना में मन को जोड़ देना चाहिए। क्योंकि जरा से जर्जरित शरीर वाले के लिए जैसे रसायन उपकारी होता है, वैसे ही धर्मध्यान के लिए मैत्री आदि भावना पुष्टरूप रसायन हैं।

व्याख्या—दोनों ओर से स्नेहभाव को मैत्री कहते हैं। अतः जगत् के सारे जीवों पर स्नेह रखना मैत्रीभावना है, अपने से अधिक गुणीजनों पर प्रसन्नता रखना, उन्हें देख कर चेहरा प्रफुल्लित हो जाना; उनके प्रति हृदय में भक्ति (अनुराग) प्रगट करना प्रमोदभावना है। दीन, दुःखी, अनाथ, विकलांग एवं अशरण जीवों के प्रति करुणा करना करुणाभावना अथवा अनुकंपाभावना है। राग और द्वेष दोनों के मध्य में रहना माध्यस्थ्य-भावना है। अर्थात् राग-द्वेष-रहित भावना माध्यस्थ्य या उपेक्षा-भावना है। इन चार भावनाओं को विभिन्न आत्माओं के साथ किसलिए जोड़ें ? इसके उत्तर में कहते हैं यदि धर्मध्यान टूट जाता हो तो उसे जोड़ने के लिए जैसे वृद्धावस्था में निर्बल शरीर को रसायन-शक्ति प्रदान करती है वैसे ही मैत्री आदि चार भावनाएँ भी टूटे हुए धर्मध्यान को पुष्ट करती हैं।''

इन चार भावनाओं में से प्रथम मैत्री का स्वरूप कहते हैं—

मा कार्षीत् कोऽपि पापानि, मा च भूत् कोऽपि दुःखितः ।
मुच्यतां जगदप्येषा मतिर्मैत्री निगद्यते ॥११८॥

अर्थ—जगत् का कोई भी जीव पाप न करे, तथा कोई भी जीव दुःखी न हो, समस्त जीव दुःख से मुक्त हो कर सुखी हों, इस प्रकार का चिन्तन करना ; मैत्रीभावना है।

व्याख्या—उपकारी अथवा अपकारी कोई भी जीव दुःख के कारणभूत पाप का सेवन न करे। पाप से रहित होने पर कोई भी जीव दुःखी न बने। देव, मनुष्य तिर्यंच और नरक चार गति के पर्याय को पाने वाले जगत् के समस्त जीव संसार-दुःख से सदा मुक्त बन कर मोक्ष-सुख प्राप्त करें ; इस प्रकार के स्वरूप वाली मति मैत्री-भावना है। किसी एक का मित्र हो, वह वास्तव में मित्र नहीं है। यों तो हिंसक व्याघ्र, सिंह आदि की भी अपने बच्चों पर मैत्री होती है। किन्तु वह मैत्री मैत्री नहीं है। इस लिए मेरी समस्त जीवों के प्रति मित्रता है। अतः मन, वचन और काया से उन पर मैंने अपकार किया हो, उन सभी को मैं खमाता हूँ ; यही मैत्री भावना है।"

अब प्रमोद-भावना का स्वरूप कहते हैं—

अपास्ताशेषदोषाणां, वस्तुतत्त्वावलोकिनाम् ।
गुणेषु पक्षपातो, यः स प्रमोदः प्रकीर्तितः ॥११९॥

अर्थ—जिन्होंने सभी दोषों का त्याग किया है, और जो वस्तु के यथार्थस्वरूप को देखते हैं, उन साधुपुरुषों के गुणों के प्रति आदरभाव होना, उनकी प्रशंसा करना, 'प्रमोद भावना' है।

व्याख्या—प्राणि-वधादि सभी दोषों का जिन्होंने त्याग कर दिया है और जिनका स्वभाव पदार्थ के यथार्थ स्वरूप को जानने का है ; इस प्रकार यहाँ दोनों विशेषताओं से ज्ञान और क्रिया दोनों के संयुक्तरूप से मोक्षहेतु होने का कथन किया है। भगवान् भाष्यकार ने कहा है—"नाण-किरियाहिं मोक्खो"=अर्थात् ज्ञान और क्रिया दोनों से मोक्ष होता है। 'इस प्रकार के गुणवान् मुनियों के क्षयोपशमिकादि आत्मिक गुण, तथा शम, इन्द्रियों का दमन, औचित्य, गांभीर्य, धैर्यादि गुणों के प्रति अनुराग करना, गुणों का पक्ष लेना, उनके प्रति विनय, वंदन, स्तुति, गुणानुवाद, वैयावृत्य आदि करना। इस तरह स्वयं और दूसरों के द्वारा की हुई पूजा से उत्पन्न, सभी इन्द्रियों से प्रगट होने वाला मन का उल्लास, प्रमोद-भावना है।"

अब कारुण्यभावना का स्वरूप कहते हैं—

दीनेष्वार्त्तेषु भीतेषु याचमानेषु जीवितम् ।
प्रतीकारपरा बुद्धिः कारुण्यमभिधीयते ॥१२०॥

अर्थ—दीन, पीड़ित, भयभीत और जीवन की याचना करने वाले प्राणियों के दुःख को दूर करने की बुद्धि 'करुणा-भावना' कहलाती है।

व्याख्या—मति-श्रुत-अज्ञान एवं विभंगज्ञान के बल से हिंसाप्रधान शास्त्रों की रचना करके जो स्वयं संसार में डूबते हैं और अपने अनुयायियों को भी डूबोते हैं, वे बेचारे दया के पात्र होने से दीन हैं। जो नये-नये विषयों का उपार्जन करते हैं ; पूर्वोपार्जित विषयों की भोगतृष्णारूपी अग्नि में जलने से दुःखी हैं ; जो हित की प्राप्ति और अहित का त्याग करने के बजाय उलटा आचरण करते हैं ; पहले धनोपार्जन करते हैं, फिर उसकी रक्षा करते हैं, फिर उसे भोग में खर्च करते हैं अथवा धननाश हो जाने पर पीड़ित

या दुःखी होते हैं। इस प्रकार जो विविध दुःखों से पीड़ित हैं, अथवा जो सबसे भयभीत रहने वाले अनाथ, रंक, बालक, बूढ़े, सेवक आदि हैं, वैरियों से पराजित, रोग से ग्रस्त, अथवा मृत्युमुख में पहुंचे हुए जो जीने की प्रार्थना और प्राणों की याचना करते हुए प्राण-रक्षा चाहते हैं। इस प्रकार के दीनादि, जिन्होंने कुशास्त्र की रचना की है, वे बेचारे असत्यधर्म की स्थापना करके किस तरह दुःख से विमुक्त हो सकते हैं ? भगवान् महावीर को मरीचि के भव में उन्मार्ग का उपदेश देने से कोटाकोटी सागरोपम काल तक भवभ्रमण करना पड़ा, तो फिर अपने पापों की प्रतिकारशक्ति से रहित दूसरों की क्या गति होगी ? विषयों को उत्पन्न करने, उनका उपभोग करने, उनमें ही दत्तचित्त रहने और अनन्तभवों में अनुभूत विषयों में अब तक अतृप्त मन वाले उन भवाभिनन्दी आत्माओं को प्रशमामृत से तृप्ति हो कर वीतराग-दशा कैसे प्राप्त हो सकती है ? बाल-वृद्धादि, जिन का चित्त विविधभय के कारण भयभीत बना हुआ है, उन्हें भय से एकान्तिक आत्यन्तिक मुक्त कैसे बनाया जा सकता है ? तथा मृत्युमुखप्राप्त तथा अपने धन, मित्र, स्त्रीपुत्रादि के वियोग को सम्मुख देखते हुए एवं मरणान्तिक कष्टानुभव करते हुए जीवों पर सकलभयरहित श्रीजिनवरप्रभु के वचनामृतों को कैसे छिड़का जाय ? और कैसे उन्हें जन्म-जरा-मृत्यु आदि से निर्भयस्थान प्राप्त कराया जाय ? इस प्रकार दुःख का प्रतीकार करने की बुद्धि जागना; ऐसा इरादा करना, करुणाभावना है। इसमें दुःख का साक्षात् प्रतीकार करना नहीं है ; क्योंकि प्रतीकार करने की शक्ति प्रत्येक व्यक्ति में नहीं होती ; इस कारण यहाँ वैसी प्रतीकारबुद्धि का जागना ही करुणा-भावना बताई है। यदि अशक्यप्रतीकार की करुणा बुद्धि हो, तब तो 'सभी जीवों को संसार से मुक्त करने के बाद मैं मोक्ष में जाऊंगा' ; इस प्रकार कहना वास्तविक करुणा नहीं, अपितु केवल वाणीविलास है। समस्त संसारी जीवों के लिए ऐसा होना अशक्य है। तथा अपने लिए मुक्ति में पहुंचने का कार्य भी असम्भव है। एक तो स्वयं के संसार का उच्छेद होना और फिर समस्त संसारी जीवों को मुक्ति प्राप्त होना असम्भव है। इसलिए यह तो भोले लोगों को ठगना है। यह बुद्ध की करुणा है। अतः उपर्युक्त करुणा करने हेतु हितोपदेश देना, देशकाल की अपेक्षा से अन्न, जल, आश्रय, वस्त्र, औषध आदि दे कर दुःखितों पर उपकार करना भी करुणाभावना है।

अब माध्यस्थ-भावना का स्वरूप कहते हैं—

क्रूरकर्मसु निःशंकं, देवता-गुरु-निन्दिषु ।
आत्मशंसिषु योपेक्षा, तन्माध्यस्थ्यमुदीरितम् ॥१२१॥

अर्थ—निःशंकता से क्रूर कार्य करने वाले, देव-गुरु की निन्दा करने वाले और आत्म-प्रशंसा करने वाले जीवों पर उपेक्षा रखना माध्यस्थ्यभावना है।

व्याख्या—अभक्ष्य पदार्थों का भक्षण करने वाले, मदिरा आदि का पान करने वाले, परस्त्री सेवन आदि करने वाले, ऋषिहत्या, बाल-हत्या, स्त्रीहत्या, गर्भहत्या आदि क्रूरकर्म करने वाले, और पाप से भय नहीं खाने वाले उपेक्षा के योग्य हैं। कई व्यक्ति कितनी ही दफा पाप करने के बाद पश्चात्ताप करके संवेगप्राप्त हैं ; वे उपेक्षा करने के योग्य नहीं हैं। इसीलिए कहा है कि चौतीस अतिशय वाले श्री वीतराग देव, तथा उनके कहे अनुसार अनुष्ठानों का पालन करने वाले और उपदेश देने वाले गुरु महाराज की राग, द्वेष या अज्ञान के वश अथवा पहले किसी के बहकाने से निन्दा करने वाले ; इस प्रकार के दोष होने पर भी किसी प्रकार से वैराग्यदशा प्राप्त कर अपने दोष देखने वाले हों ; वे उपेक्षा करने योग्य नहीं हैं। इसलिए कहा है कि सदोष, अपनी आत्मा की प्रशंसा करने वाले—अपनी

आत्मा को अच्छी मानने वाले, तथा जैसे मुद्‌गशैलिक पत्थर को पुष्करावर्त मेघ भी पिघला नहीं सकता, वैसे क्रूर कर्म करने वाले, देवगुरु की निन्दा करने वाले, और अपनी आत्मप्रशंसा करने वाले को उपदेश दे कर सन्मार्ग में लाना अशक्य है, इसलिए उसके प्रति उपेक्षा रखना माध्यस्थ्यभावना है।"

जो यह कहा गया था कि चार भावनाएँ धर्मध्यान को मदद देने वाली हैं, उसी का विवेचन करते हैं—

आत्मानं भावयन्नाभिर्भावनाभिर्महामतिः ।
त्रुटितामपि संधत्ते विशुद्धां ध्यानसन्ततिम् ॥१२२॥

अर्थ—मैत्री आदि चार भावनाओं से अपनी आत्मा को भावित करने वाला महा-बुद्धिशाली योगी टूटी हुई विशुद्ध ध्यान-श्रेणी को फिर से जोड़ लेता है।"

ध्यान करने के लिए किस प्रकार के स्थान की जरूरत है, उसे कहते हैं—

तीर्थं वा स्वस्थताहेतु, यत्तद् वा ध्यानसिद्धये ।
कृतासनजयो योगी, विविक्तं स्थानमाश्रयेत् ॥१२३॥

अर्थ—आसनों का अभ्यास कर लेने वाला योगी ध्यान की सिद्धि के लिए तीर्थंकरों की जन्म, दीक्षा, कैवल्य, अथवा निर्वाणभूमि में जाए। यदि वहाँ जाने की सुविधा न हो तो किसी एकान्त-स्थान का आश्रय ले।

व्याख्या—श्री तीर्थंकर भगवान् की जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान, एवं निर्वाणकल्याणक-भूमि में ध्यान करना चाहिए, ऐसे स्थान के अभाव में मन की शान्ति के लिए पर्वत की गुफा आदि या ध्यान करने योग्य स्त्री-पशु-नपुंसकरहित स्थान पसंद करना चाहिए। कहा भी है कि "साधुओं को हमेशा युवति, नपुंसक, कुशील मनुष्य आदि के संसर्ग से रहित एकान्त स्थान का आश्रय लेना चाहिए, और विशेषरूप से ध्यानकाल में तो ऐसा ही स्थान चुनना चाहिए। जिन्होंने अपना योग स्थिर कर लिया हो और जिनका मन ध्यान में निश्चल है ऐसे मुनियों के लिए वसति वाले गाँव में या शून्य अरण्य में कोई अन्तर नहीं है। इसलिए ध्यानकर्ता को ऐसे स्थान में ध्यान करना चाहिए ; जहाँ चित्त में समाधि रहे, मन, वचन और काया के योग की एकाग्रता रहे, तथा जो स्थान भूतों और जीवों के उपद्रव से रहित हो।" 'स्थान' शब्द से यहाँ उपलक्षण से काल भी जानना। कहा है कि जिस काल में उत्तम योग-समाधि प्राप्त होती हो, वह काल ध्यान के लिए उत्तम है। ध्यान करने वाले के लिए दिन या रात्रि का कोई नियमित काल नहीं माना गया है। निष्कर्ष यह है कि ध्यान की सिद्धि के लिए विशिष्ट आसनों का अभ्यासी योगी योग्य विविक्त, शान्त व एकान्त स्थान का आश्रय ले। योगी किस प्रकार का होता है? इसका लक्षण आगे बतायेंगे।

अब आसनों का निर्देश करते हैं—

पर्यंक-वीर - वज्राब्ज-भद्र-दण्डासनानि च ।
उत्कटिका-गोदोहिका-कायोत्सर्गस्तथाऽऽसनम् ॥१२४॥

अर्थ—(१) पर्यंकासन, (२) वीरासन, (३) वज्रासन (४) पद्मासन, (५) भद्रासन (६) दण्डासन (७) उत्कटिकासन (८) गोदोहिकासन (९) कायोत्सर्गासन आदि आसनों के नाम हैं।"

अब क्रमशः प्रत्येक आसन का स्वरूप कहते हैं—

स्याज्जंघयोरधोभागे, पादोपरि कृते सति।
पर्यङ्को नाभिगोत्तान-दक्षिणोत्तर-पाणिकः ॥१२५॥

अर्थ—'दोनों जघाओं के निचले भाग पैरों के ऊपर रखने पर तथा दाहिना और बांया हाथ नाभि के पास ऊपर दक्षिण और उत्तर में रखने से 'पर्यंकासन' होता है।

शाश्वत जिन-प्रतिमाओं का और श्री महावीर भगवान् के निर्वाण-समय में इसी प्रकार पर्यंकासन होता है। पतंजलि ने जानु और हाथ लम्बे करके सो जाने की स्थिति को पर्यंकासन बताया है।"

अब वीरासन का स्वरूप कहते हैं—

वामोंऽह्रिर्दक्षिणोरूरूर्ध्व-वामोपरि दक्षिणः।
क्रियते यत्र तद्वीरोचितं वीरासनं स्मृतम् ॥१२६॥

अर्थ—'बांया पैर दाहिनी जांघ पर और दाहिना पैर बांयी जांघ पर जिस आसन में रखा जाता है, वह वीरोचित आसन, वीरासन कहलाता है।

यह आसन तीर्थंकर आदि वीरपुरुषों के लिए उपयुक्त है, कायरों के लिए यह आसन नहीं है। कुछ लोग वीरासन को पर्यंकासन के समान दो हाथ आगे स्थापन करने की स्थिति-सा बता कर पद्मासन भी कहते हैं। एक जांघ पर एक पैर रखा जाए उसे अर्धपद्मासन कहते हैं।'

अब वज्रासन का लक्षण कहते हैं—

पृष्ठे वज्राकृतिभूते दोर्भ्यां वीरासने सति।
गृह्णीयात् पादयोर्यत्रांगुष्ठो वज्रासनं तु तत् ॥१२७॥

अर्थ—पूर्वकथित वीरासन करने के बाद वज्र की आकृति के समान दोनों हाथ पीछे रख कर, दोनों हाथों से पैर के अंगूठे पकड़ने पर जो आकृति बनती है; वह वज्रासन कहलाता है।

कितने ही आचार्य इसे वैतालासन भी कहते हैं। मतान्तर से वीरासन का लक्षण कहते हैं—

सिंहासनाधिरूढस्यासनापनयने सति।
तथैवावस्थितिर्या तामन्ये वीरासनं विदुः ॥१२८॥

अर्थ—कोई पुरुष जमीन पर पैर रख कर सिंहासन पर बैठा हो और पीछे से उसका सिंहासन हटा दिया जाए; उससे उसकी जो आकृति बनती है, वह 'वीरासन' है। सिद्धांतकारों ने कायाक्लेशतप के प्रसंग में इस आसन को बताया है।

पंतजलि ने एक पैर से खड़े रहकर दूसरा पैर टेढ़ा रख कर अधर खड़े रहने को वीरासन बताया है। अब पद्मासन का लक्षण कहते हैं—

जङ्घाया मध्यभागे तु, संश्लेषो यत्र जङ्घया ।
पद्मासनमतिप्रोक्तं तदासन–विचक्षणैः ॥१२९॥

अर्थ—आसनविशेषज्ञों ने एक जांघ के साथ दूसरी जांघ को मध्यभाग में मिला कर रखने को पद्मासन कहा है ।

अब भद्रासन कहते हैं—

सम्पुटीकृत्य मुष्काग्रे, तलपादौ तथोपरि ।
पाणिकच्छपिकां कुर्याद् यत्र भद्रासनं तु तत् ॥१३०॥

अर्थ—दोनों पैरों से तलभाग वृषण-प्रदेश में (अण्डकोषों की जगह) एकत्र कर उसके ऊपर दोनों की अंगुलियां एक दूसरी अंगुली में डाल कर रखना 'भद्रासन' कहलाता है।

पंतजलि ने भद्रासन का लक्षण इस प्रकार कहा है—पैरों के तलभाग को वृषण के समीप में संपुटरूप बना कर उसके ऊपर दोनों हाथों की अंगुलियां परस्पर एक दूसरे में रखना।' अब दंडासन कहते हैं—

श्लिष्टाङ्गुली श्लिष्टगुल्फौ भूश्लिष्टोरू प्रसारयेत् ।
यत्रोपविश्य पादौ तद्, दण्डासनमुदीरितम् ॥१३१॥

अर्थ—पैरों की अंगुलियां समेट कर एडी के ऊपर वाली गांठ (टखना) एकत्र करके नितम्ब को भूमि से स्पर्श करके बैठे ; पैर लम्बे करे, उसे दण्डासन कहा है ।

पंतजलि ने इस प्रकार कहा है कि जमीन पर बैठ कर अंगुलियों को मिला कर, एड़ी भी एकत्र करके जंघा भूमि से स्पर्श कराई जाए और पैर लम्बे किये जाएं, वह दण्डासन होता है । उसका अभ्यास करना चाहिए । अब उत्कटिकासन और गोदोहिकासन कहते हैं—

पुतपार्ष्णिसमायोगे, प्राहुरुत्कटिकासनम् ।
पार्ष्णिभ्यां तु भुवस्त्यागे, तत्स्याद् गोदोहिकासनम् ॥१३२॥

अर्थ—जमीन से लगी हुई एड़ियों के साथ जब दोनों नितम्ब मिलते हैं, तब उत्कटिकासन होता है । इसी आसन में भगवान् महावीर को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ था । कहा है कि "जृंभिका के बाहर ऋजुबालिका नदी के किनारे वैशाख सुदी दसमी के दिन तीसरे पहर छट्ठतप में शालवृक्ष के नीचे वीरप्रभु उत्कटिकासन में थे, उस समय उन्हें केवलज्ञान हुआ था ।" उसी आसन से बैठ कर दोनों एड़ियों से जब भूमि का त्याग किया जाता है और गाय दूहने के समय में जिस आसन से बैठा जाता है, उसे गोदोहिकासन कहते हैं ।

प्रतिमाकल्पी मुनि इसी आसन को धारण करते हैं । अब कायोत्सर्गासन कहते हैं—

प्रलम्बितभुजद्वन्द्वमूर्ध्वस्थस्यासित[illegible] वा ।
स्थानं कायानपेक्षं यत्, [illegible]त्सर्गः स कीर्तितः ॥१३३॥

अर्थ—दोनों भुजाओं को नीचे लटका कर खड़े हो कर अथवा बैठ कर (और शारीरिक कमजोरी की अवस्था में लेट कर) शरीर का ममत्व त्याग कर स्थिर रहना कायोत्सर्गासन है।

व्याख्या—खड़े, बैठे या सोये हुए दोनों हाथ लम्बे करके काया से निरपेक्ष हो कर स्थिर रहना कायोत्सर्गासन है। जिनकल्पी और छद्मस्थ तीर्थंकरों के यही आसन होता है। वे खड़े-खड़े ही कायोत्सर्ग करते हैं। स्थविरकल्पी तो खड़े और बैठे तथा उपलक्षण से लेटे-लेटे भी जिस तरह समाधि टिक सके, वैसे यथाशक्ति कायोत्सर्ग करते हैं। इस प्रकार से स्थान, ध्यान व मौनक्रिया के साथ काया का त्याग कायोत्सर्ग कहलाता है। यहाँ जो आसन बताये हैं, वे तो दिग्दर्शनमात्र हैं। इनके अलावा और भी अनेक आसन हैं। वे इस प्रकार हैं आम्र की आकृति के समान स्थिति में रहना, **आम्रकुब्जासन** है। जैसे भगवान् महावीर ने एक रात ऐसी प्रतिमा धारण की थी, उस समय अधम असुर संगमदेव ने उन पर बीस उपसर्ग किये थे। उन्हें प्रभु ने समता से सहन किए थे। तथा एक तरफ सोए रहना, ऊर्ध्वमुखी, अधोमुखी या तिर्यग्मुखी आसन होता है। तथा दण्ड के समान लम्बा लेट जाना, शरीर सीधा करना और दोनों जंघाएँ और जांघें लम्बी करके या चौड़ी करके स्थिर रहना होता है। तथा **लगुडशायित्व** उसे कहते हैं, जिसमें मस्तक और दोनों एड़ियाँ जमीन को स्पर्श करे, किन्तु शरीर जमीन से अधर रहे। तथा **समसंस्थान-आसन** में एड़ियों के अग्रभाग और पैर द्वारा दोनों को मोड़ कर परस्पर दबाना होता है। **दुर्योधासन** उसे कहते हैं, जिसमें भूमि पर मस्तक रख कर पैर ऊँचे रख रखना होता है, इसे कपालीकरण आसन भी कहते हैं। इसी प्रकार रह कर यदि दो जंघाओं से पद्मासन करे तो **दण्डपद्मासन** कहलाता है। जिसमें बांया पैर घुमाकर दाहिनी जंघा के बीच में रखा जाय और दाहिना पैर घुमा कर बांये पैर के बीच में रखा जाय, उसे **स्वस्तिकासन** कहते हैं। योगपट्टक के योग से जो होता है वह **सोपाश्रयासन** है। तथा क्रौंच-निषदन, हंस-निषदन, गरुड़-निषदन आदि आसन उस पक्षियों के बैठने की स्थिति के समान स्थिति में बैठने (ऐसी आकृति वाले) से होते हैं। इस प्रकार आसन की विधि व्यवस्थित नहीं है।

जायते येन येनेह, विहितेन स्थिरं मनः।
तत्तदेव विधातव्यम् आसनं ध्यान-साधनम् ॥१३४॥

अर्थ—जिस-जिस आसन का प्रयोग करने से मन स्थिर होता हो, उस-उस आसन का ध्यान के साधनरूप में प्रयोग करना चाहिए। इसमें अमुक आसन ही करना चाहिए, ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं है।

व्याख्या—मांस या चर्बी वाले अथवा बलिष्ठ मनुष्यों को जिस आसन के करने से मन की स्थिरता रहे, वही आसन करना चाहिए। इसलिए कहा है कि "जिन्होंने पापों को शान्त कर दिया, ऐसे कर्म-रहित मुनियों ने सभी प्रकार के देश में, काल में और चेष्टा में रह कर, उत्तम केवलज्ञान प्राप्त किया है।" इसलिए शास्त्र में देश, काल और चेष्टा अर्थात् आसनों का कोई नियम नहीं बताया है। जिस तरह से योग में समाधि रहे, उसी तरह का प्रयत्न करना चाहिए। यह कह कर आसनों का जो कथन किया गया है, निरर्थक नहीं है। क्योंकि प्रतिमा-कल्पियों के लिए नियम से आसन करने का विधान है, तथा बारह भिक्षु-प्रतिमाओं में से आठवीं प्रतिमा में भी आसन का नियम बताया है। वह इस प्रकार—ऊर्ध्व मुख रख कर सोये, अथवा पार्श्व फिरा कर सोए अथवा सीधा बैठे या सोए। इस प्रकार सोते, बैठते या

खड़े रहते देव, मनुष्य और तिर्यंच के घोर उपसर्गों को मन और शरीर से चलायमान हुए बिना, निश्चलता से सहन करे, नौवी प्रतिमा में इस प्रकार—सात अहोरात्रि होती है, इसमें चउत्थभक्त तप के पारने पर आयबिल करे और गांव आदि के बाहर रहे, इत्यादि और सब आटवीं के समान करे, विशेषता इसमें इतनी है कि इस प्रतिमा में उत्कट अर्थात् मस्तक और एडियों के आधार पर केवल बीच मे जंघा से अधर रह कर अथवा लगुड अर्थात् टेढ़ी लकडी के समान केवल पीठ के आधार पर मस्तक और पैर जमीन को स्पर्श न करे इस तरह, अथवा दण्ड के समान पैर लम्बे कर सोये हुए उपसर्ग आदि सहन करना। दसवीं प्रतिमा में इस तरह है—तीसरी अर्थात् दसवी प्रतिमा भी उन दोनो के समान ही है, केवल उसमें गोदुहासन (गाय दूहने के समय जैसे दोनों पैर की अंगुलियाँ जमीन पर टिका कर बैठते हैं, उसी तरह) है अथवा वीरासन से अर्थात् सिंहासन पर बैठे हों, पैर जमीन रखे हो और बाद में सिंहासन हटा दिया हो, उस समय जो आकृति बनती है, उस आसन से अथवा आम्र के समान शरीर से वक्र हो कर बैठना होता है। इसमें से किसी भी आसन मे यह प्रतिमा धारण की जा सकती है।"

आसन ध्यान के साधन हो सकते हैं, इसे अब दो श्लोकों द्वारा बताते हैं—

सुखासनसमासीनः, सुश्लिष्टाधरपल्लवः।
नासाग्रन्यस्तदृग्द्वन्द्वो, दन्तैर्दन्तानसंस्पृशन्॥१३५॥
प्रसन्नवदनः पूर्वाभिमुखो वाऽप्युदङ्मुखः।
अप्रमत्तः सुसंस्थानो, ध्याता ध्यानोद्यतो भवेत्॥१३६॥

अर्थ—**सुखासन से स्थित रहे, उसके दोनों ओष्ठ मिले हुए हों, दोनों नेत्र, नाक के अग्रभाग पर स्थिर हों, दांतों के साथ दांतों का स्पर्श न हो, मुखमण्डल प्रसन्न हो, पूर्व या उत्तर दिशा में मुख हो, प्रमाद से रहित हो, इस प्रकार मेरुदण्ड को सीधा रख कर ध्याता को ध्यान के लिए उद्यत होना चाहिए।**

व्याख्या—जिस आसन से लम्बे समय तक बैठने पर भी समाधि विचलित न हो; इस तरह के सुखासन से ध्याता को बैठना चाहिए, दोनों ओठ मिला कर रखे, नासिका के अग्रभाग पर दोनों आँखें टिका दे; दांत इस प्रकार रखे कि ऊपर के दांतों के साथ नीचे के दांतों का स्पर्श न हो, रजोगुण और तमोगुण से रहित हो, पलक झपाए बिना चेहरा प्रसन्न रखे। पूर्व या उत्तर दिशा में मुख रख कर अथवा प्रभुप्रतिमा के सन्मुख अप्रमत्त हो कर बैठे। 'अप्रमत्त' कह कर यहाँ ध्यान का मुख्य अधिकारी बतला रहे हैं। कहा भी है कि—"अप्रमत्तसंयत का धर्मध्यान होता है।" शरीर को सीधा अथवा मेरुदण्ड के समान निश्चल बना कर ध्याता को ध्यान करने के लिए उद्यम करना चाहिए। इस प्रकार साधु और श्रावक-विषयक ध्यानसिद्धि के साधनभूत ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप रत्नत्रय का कथन किया है, दूसरे समग्र ध्यान के भेद आदि आगे अष्टम प्रकाश में बतलाये हैं।

इस प्रकार परमार्हत श्रीकुमारपाल राजा की जिज्ञासा से आचार्यश्री
हेमचन्द्राचार्य-सूरीश्वररचित 'अध्यात्मोपनिषद्' नामक
पट्टबद्ध अपरनाम 'योगशास्त्र' का
स्वोपज्ञविवरणसहित चतुर्थ
प्रकाश सम्पूर्ण हुआ।

ॐ अर्हते नमः

५ : पंचम प्रकाश

प्राणायाम का स्वरूप— ॐ सर्वज्ञ परमात्मा श्री जिनेन्द्र भगवान् को नमस्कार हो। पंतजलि आदि अन्यमत के योगाचार्यों ने योग के यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि; ये आठ अंग मोक्ष के अंगरूप माने हैं ; परन्तु जैनदर्शनकारों ने प्राणायाम को मुक्ति के वास्तविक साधनरूप ध्यान मे स्वीकार नही किया है। क्योंकि अभ्यास के बिना वह असमाधि पैदा करता है। कहा भी है कि 'अभिग्रह करने वाला भी श्वासोच्छ्वास रोक नहीं सकता; तो फिर दूसरी चेष्टा करने वाला श्वासोच्छ्वास कैसे रोक सकता है ? (हठयोग केअभ्यास के बिना वह नहीं रोक सकता है) अन्यथा तत्काल मृत्यु हो जाना संभव है। सूक्ष्म उच्छ्वास भी शास्त्रविधि के अनुसार यतनापूर्वक जानना चाहिए। फिर भी प्राणायाम की उपयोगिता शरीर की निरोगता और कालज्ञान के लिए है ; इस कारण यहाँ उसका वर्णन किया जाता है—

प्राणायामस्ततः कैश्चिद्, आश्रितो ध्यानसिद्धये।
शक्यो नेतरथा कर्तुं मनः-पवन-निर्जयः ॥१॥

अर्थ—**आसन को सिद्ध करने के बाद ध्यान की सिद्धि के लिए पंतजलि आदि योगाचार्यों ने प्राणायाम का आश्रय लिया है। मुख और नासिका के अन्दर संचार करने वाला वायु 'प्राण' कहलाता है, उसके संचार का निरोध करना 'प्राणायाम' है। प्राणायाम के बिना मन और पवन जीता नहीं जा सकता।**

यहाँ प्रश्न करते है कि 'प्राणायाम से पवन पर विजय प्राप्त कर सकते हैं, परन्तु मन पर विजय कैसे हो सकता है ? इसका समाधान करते हैं कि—

मनो यत्र मरुत् तत्र, मरुद् यत्र मनस्ततः।
अतस्तुल्यक्रियावेतौ, संयुक्तौ क्षीरनीरवत् ॥२॥

अर्थ **जहाँ मन है, वहीं पवन है और जहाँ पवन है, वहाँ मन है। इस कारण समान क्रिया वाले मन और पवन, दूध और जल की भांति आपस में मिले हुए हैं।**

दोनों की समान क्रिया समझाते हैं—

एकस्य नाशेऽन्यस्य स्यान्नाशो, वृत्तौ च वर्तनम्।
ध्वस्तयोरिन्द्रियमतिध्वंसान्मोक्षश्च जायते ॥३॥

अर्थ—मन और पवन इन दोनों में से किसी एक का नाश होने पर दूसरे का नाश हो जाता है और एक की प्रवृत्ति होने पर दूसरे की प्रवृत्ति होती है। जब इन दोनों का विनाश होता है, तब इन्द्रिय और बुद्धि के व्यापार का नाश होता है, और इन्द्रिय और बुद्धि के नाश से मोक्ष होता है।

अब प्राणायाम के लक्षण और उसके भेद बताते हैं—

प्राणायामो गतिच्छेदः, श्वासप्रश्वासयोर्मतः।
रेचकः पूरकश्चैव, कुम्भकश्चेति स त्रिधा ॥४॥

अर्थ—बाहर की वायु को ग्रहण करना, श्वास है। उदर के कोष्ठ में रहे हुए वायु को बाहर निकालना, निश्वास अथवा प्रश्वास कहलाता है तथा इन दोनों को गति को रोकना, प्राणायाम है। वह रेचक, पूरक और कुंभक के भेद से तीन प्रकार का है।

अन्य आचार्यों के मत से इसके सात भेद हैं, उसे बताते हैं—

प्रत्याहारस्तथा शान्तः, उत्तरश्चाधरस्तथा।
एभिर्भेदैश्चतुर्भिस्तु, सप्तधा कीर्त्यते परैः ॥५॥

अर्थ—पूर्वोक्त तीन के साथ में प्रत्याहार, शान्त, उत्तर और अधर यह चार भेद मिलाने से प्राणायाम सात प्रकार का होता है; ऐसा अन्य आचार्य मानते हैं।

अब क्रमशः प्रत्येक के लक्षण कहते हैं—

यत् कोष्ठादतियत्नेन, नासाब्रह्म–पुराननैः।
बहिः प्रक्षेपणं वायोः स रेचक इति स्मृतः ॥६॥

अर्थ—नासिका और ब्रह्मरन्ध्र तथा मुख के द्वारा कोष्ठ (उदर) में से अत्यन्त प्रयत्नपूर्वक वायु बाहर निकालना, रेचक प्राणायाम कहलाता है।

समाकृष्य यदापानात्, पूरणं स तु पूरकः।
नाभिपद्मे स्थिरीकृत्य, रोधनं स तु कुम्भकः ॥७॥

अर्थ—बाहर के वायु को खींच कर अपान (गुदा) द्वारपर्यन्त कोष्ठ में भर देना 'पूरक प्राणायाम' है, और उसे नाभिकमल में कुंभ के समान स्थिर करके रोकना 'कुंभक प्राणायाम' कहलाता है। तथा—

स्थानात् स्थानान्तरोत्कर्षः, प्रत्याहारः प्रकीर्तितः।
तालुनासाऽऽननद्वारैः, निरोधः शान्त उच्यते ॥८॥

अर्थ—नाभि आदि स्थान से हृदय आदि स्थान में वायु को ले जाना; अर्थात् पवन को खींच कर एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाना 'प्रत्याहार' कहलाता है। तालु, नासिका और मुख के द्वारों से वायु का निरोध करना 'शान्त' नाम का प्राणायाम है। शान्त और कुंभक में इतना अन्तर है कि कुंभक में पवन नाभिकमल में रोका जाता है, और शान्त-

प्राणायाम में ऐसा नियम नहीं है, बल्कि नासिका आदि निकलने के द्वारों से इसमें पवन रोका जाता है।

आपीयोर्ध्वं यदुत्कृष्य हृदयादिषु धारणम् ।
उत्तरः स समाख्यातो, विपरीतस्ततोऽधरः ॥९॥

अर्थ—बाहर के वायु का पान करके, और उसे ऊपर खींच कर हृदय आदि में स्थापित करना, 'उत्तर-प्राणायाम' कहलाता है ; इसके विपरीत वायु उपर से नीचे की ओर ले जाना 'अधर-प्राणायाम' कहलाता है।

व्याख्या—यहाँ शंका करते हैं कि 'रेचक आदि में प्राणायाम कैसे हो सकता है ? क्योंकि प्राणायाम मे तो श्वास-प्रश्वास की गति को रोकना होता है, इसका उत्तर देते हैं कि 'रेचक में उदर के वायु को खींच कर नासिका के द्वार पर रोकना होता है ; अन्दर जाने नही दिया जाता। इस दृष्टि से यह श्वास-प्रश्वास की गति विच्छेदरूप प्राणायाम कहलाता है, तथा पूरक में बाहर के वायु को धीरे-धीरे ग्रहण करके उदर में धारण करना होता है। इसमें भी श्वास-प्रश्वास रोकना या लेना नहीं होता है ; अर्थात् गति-विच्छेदरूप प्राणायाम होता है, इसी तरह कुंभक आदि में भी जान लेना।' रेचक आदि के फल कहते हैं—

रेचनादुदरव्याधेः, कफस्य च परिक्षयः ।
पुष्टिः पूरकयोगेन, व्याधिघातश्च जायते ॥१०॥
विकसत्याशु हृत्पद्मं ग्रन्थिरन्तर्विभिद्यते ।
बलस्थैर्यविवृद्धिश्च, कुम्भकाद् भवति स्फुटम् ॥११॥
प्रत्याहाराद् बलं कान्तिः, दोषशान्तिश्च शान्ततः ।
उत्तराधरसेवातः, स्थिरता कुम्भस्य तु ॥१२॥

अर्थ—रेचक-प्राणायाम से उदर की व्याधि का और कफ का विनाश होता है। पूरक प्राणायाम से शरीर पुष्ट होता है तथा सर्वव्याधियाँ नष्ट होती हैं। कुम्भक प्राणायाम करने से तत्काल हृदय-कमल विकसित होता है, और अन्दर की ग्रन्थियों का भेदन होता है, बल की वृद्धि होती है और वायु की स्थिरता होती है। प्रत्याहार-प्राणायाम से शरीर में शक्ति और कान्ति उत्पन्न होती है, शान्त नामक प्राणायाम से वात-पित्त-कफरूप त्रिदोष या सन्निपात (ज्वर) की शान्ति होती है, उत्तर और अधर प्राणायाम के सेवन से कुम्भक की स्थिरता होती है।

इन प्राणायामों से केवल प्राण पर विजय होता है, इतना ही नहीं है, बल्कि पंचवायुओं पर विजय करने में भी ये कारणभूत हैं। इसी बात को कहते हैं—

प्राणमपान-समानावुदानं व्यानमेव च ।
प्राणायामैर्जयेत् स्थान-वर्ण-क्रियाऽर्थबीजवित् ॥१३॥

अर्थ—प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान यह पांच प्रकार का पवन-वायु है,

प्रत्येक पवन का स्थान, वर्ण, क्रिया अर्थ और बीज को जान कर योगी प्राणायाम के द्वारा इन पर विजय प्राप्त करे।

व्याख्या— (१) श्वास-निश्वास का व्यापार प्राणवायु है, (२) मलमूत्र और गर्भादि को को बाहर लाने वाला अपानवायु है, (३) भोजन-पानी आदि को परिपक्व कर उसमें से उत्पन्न हुए रस को शरीर के भिन्न-भिन्न प्रदेशों में पहुंचाने वाला वायु समानवायु है, (४) रसादि को ऊपर ले जाने वाला उदानवायु है और (५) संपूर्ण शरीर में व्याप्त रहने वाला व्यानवायु है। इन पांचों वायु के स्थान, वर्ण, क्रिया, अर्थ और बीज को जान कर योगी रेचकादि प्राणयामों से इन पर विजय प्राप्त करते हैं।'

उसमें प्राण के स्थानादि कहते है—

प्राणो नासाग्रहृन्नाभिपादांगुष्ठान्तगो हरित्।
गमागमप्रयोगेण, तज्जयो धारणेन वा ॥१४॥

अर्थ—प्राणवायु नासिका के अग्रभाग में, हृदय में, नाभि में और पैर के अंगूठे तक फैला हुआ है। यह उसका स्थान है. उसका वर्ण हरा है, गमागम के प्रयोग अर्थात् रेचक और पूरक के प्रयोग से और धारणा के द्वारा उसे जीतना चाहिए।

अर्थ और बीज का वर्णन बाद मे करेंगे, अब गमागम-प्रयोग और धारणा को कहते हैं—

नासादिस्थानयोगेन, पूरणाद् रेचनान्मुहुः।
गमागमप्रयोगः स्याद, धारण कुम्भनात् पुनः ॥१५॥

अर्थ—नासिका आदि स्थानों में बार-बार वायु का पूरण और रेचन करने से गमागम-प्रयोग होता है और उस वायु का अवरोध-(कुम्भक) करने से धारणा नाम का प्रयोग होता है।

अपानवायु का वर्ण-स्थानादि कहते है—

अपानः कृष्णरुग्मन्या-पृष्ठपृष्ठान्तपार्ष्णिगः।
जेयः स्वस्थानयोगेन रेचनात् पूरणान्मुहुः ॥१६॥

अर्थ—अपानवायु का वर्ण काला है। गर्दन के पीछे की नाड़ी, पीठ, गुदा और एड़ी में उसका स्थान है, इन स्थानों में बार-बार रेचक और पूरक करके इसे जीतना चाहिए।

समानवायु के वर्णादि बताते हैं—

शुक्लः समानो हृन्नाभिसर्वसन्धिष्ववस्थितः।
जेयः स्वस्थानयोगेनासकृद् रेचन-पूरणात् ॥१७॥

अर्थ—समानवायु का वर्ण शुक्ल है। हृदय, नाभि और सर्वसंधियों में उसका निवास है। अपने-अपने स्थानों में बार-बार रेचक और पूरक-कुंभक करके उसे जीतना चाहिए।

उदानवायु के वर्ण-स्थानादि कहते हैं—

रक्तो हृत्कण्ठ-तालु-भ्रू-मध्यमूर्धनि संस्थितः ।
उदानो वश्यतां नेयो, गत्यगतिनियोगतः ।।१८।।

अर्थ—उदानवायु का वर्ण लाल है । हृदय, कंठ, तालु, भ्रूकुटि का मध्यभाग और मस्तक में उसका स्थान है । इसे भी गति-अगति के प्रयोग से वश में करना चाहिए ।

अब गति-अगति के प्रयोग कहते हैं—

नासाकर्षणयोगेन, स्थापयेत् तं हृदादिषु ।
बलादुत्कृष्यमाणं च, रुध्वा रुध्वा वशं नयेत् ।।१९।।

अर्थ— नासिका के द्वारा बाहर से वायु को खींच कर उदानवायु को हृदयादि स्थानों में स्थापित करना चाहिए । यदि वह वायु दूसरे स्थान में जाता हो तो उसे जबरदस्ती रोक कर उसी स्थान पर बार-बार निरोध करना चाहिए । अर्थात् कुंभक प्राणायाम करके कुछ समय रोके, बाद में रेचक करे । मतलब यह है— नासिका के एक छिद्र से वायु धीरे-धीरे बाहर निकाल देना चाहिए, फिर उसी छिद्र द्वारा उसे अन्दर खींच कर कुंभक प्राणायाम करना चाहिए । ऐसा करने से वायु वशीभूत हो जाता है ।

अब व्यान का वर्ण-स्थानादि कहते है—

सर्वत्वग्वृत्तिको व्यानः, शक्रकार्मुकसन्निभः ।
जेतव्यः कुम्भकाभ्यासात्, संकोच-प्रसृतिक्रमात् ।।२०।।

अर्थ—व्यान-वायु का वर्ण इन्द्रधनुष के समान विविध रंगवाला है । त्वचा के सब भागों में उसका निवास-स्थान है । संकोच और प्रसार अर्थात् पूरक और रेचक प्राणायाम के क्रम से तथा कुम्भक के अभ्यास से उसे जीतना चाहिए ।

पांचों वायुओं के ध्यान करने योग्य बीजाक्षर बताते हैं—

प्राणापान-समानोदान-व्यानेष्वेषु वायुषु ।
यैं पैं वैं रौं लौं बीजानि, ध्यातव्यानि यथाक्रमम् ।।२१।।

अर्थ— प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान वायु को उस स्थान से जीतने के लिए पूरक, कुंभक और रेचकप्राणायाम करते समय क्रमशः 'यैं आदि बीजाक्षरों का ध्यान करना चाहिए । अर्थात् प्राणवायु को जीतने के समय 'यैं' बीज का, अपानवायु को जीतने के समय 'पैं' का, समान को जीतने के समय 'वैं' का. उदान को जीतने के समय 'रौं' का और व्यान को जीतने के समय 'लौं' बीजाक्षर का ध्यान करना चाहिए । अर्थात् 'यैं' आदि अक्षरों की आकृति की कल्पना कर उसका जाप पूरक, कुंभक और रेचक करते समय करना चाहिए ।

अब तीन श्लोकों से प्राणादि-जय करने का लाभ बताते हैं—

प्राबल्यं जाठरस्याग्ने, दीर्घश्वासमरुज्जयौ ।
लाघवं च शरीरस्य, प्राणस्य विजये भवेत् ।।२२।।

अर्थ— प्राणवायु को जीतने से जठराग्नि प्रबल होती है, अविच्छिन्न रूप से श्वास की प्रवृत्ति चलती है, दम (श्वासरोग) नहीं होता, और शेष वायु भी वश में हो जाती है, क्योंकि प्राणवायु पर सभी वायु आश्रित हैं। इससे शरीर हलका और फुर्तीला हो जाता है। तथा—

रोहणं क्षतभङ्गादेः उदराग्नेः प्रदीपनम् ।
वर्चोऽल्पत्वं व्याधिघातः समानापानयोर्जये ॥२३॥

अर्थ— समानवायु और अपानवायु को जीतने से घाव आदि जल्दी भर जाता है, टूटी हुई हड्डी जुड़ जाती है। आदि शब्द कहने से उस प्रकार के सभी शारीरिक दुःख नष्ट हो जाते हैं, जठराग्नि तेज हो जाती है, मल-मूत्रादि अल्प हो जाते हैं और व्याधियाँ विनष्ट हो जाती हैं। तथा—

उत्क्रान्तिर्वारिपङ्काद्यैश्चाबाधोदान-निर्जये ।
जये व्यानस्य शीतोष्णासंगः कान्तिररोगिता ॥२४॥

अर्थ—उदानवायु वश में करने से योगी उत्क्रान्ति (अर्थात् मृत्यु के समय दशवें द्वार से प्राणत्याग) कर सकता है। पानी और कीचड़ आदि पर चलने से उसका स्पर्श नहीं होता; कांटों या अग्नि आदि पर निरुपद्रवरूप में वह सीधे मार्ग के समान चल सकता है। तथा व्यान-वायु वश करने से शरीर में सर्दी-गर्मी का असर नहीं होता; शरीर की कान्ति बढ़ जाती है और निरोगता प्राप्त होती है।'

इस प्रकार प्रत्येक प्राण को जीतने का अलग अलग फल बतलाया। अब सब प्राणों को जीतने का सामूहिक फल बताते हैं—

यत्र-यत्र भवेत् स्थाने, जन्तो रोगः प्रपीडकः ।
तच्छान्त्यै धारयेत् तत्र, प्राणादिमरुतः सदा ॥२५॥

अर्थ— जीव के शरीर में जिस जिस भाग में पीड़ा करने वाला रोग उत्पन्न हुआ हो, उसकी शान्ति के लिए उस स्थान में प्राणादि वायु को हमेशा रोके रखना चाहिए। ऐसा करने से रोग का नाश होता है।

पूर्वोक्त बातों का उपसंहार करके अब आगे के साथ सम्बन्ध जोड़ते हैं।

एवं प्राणादि-विजये, कृताभ्यासः प्रतिक्षणम् ।
धारणादिकमभ्यस्येत्, मनःस्थैर्यकृते सदा ॥२६॥

अर्थ—इस प्रकार प्राणादिवायु को जीतने का बार-बार अभ्यास करके मन की स्थिरता के लिए हमेशा धारणा आदि का अभ्यास करना चाहिए।

अब धारणा आदि की विधि पांच श्लोकों द्वारा कहते हैं—

उच्चासन-समासीनो, रेचयित्वाऽनिलं शनैः ।
आपादाङ्गुष्ठपर्यन्तं, वाममार्गेण पूरयेत् ॥२७॥

पादांगुष्ठे मनः पूर्वं रुध्वा पादतले ततः ।
पार्ष्णौ गुल्फे च जंघायां, जानुन्यूरौ गुदे ततः ॥२८॥
लिङ्गे नाभौ च तुन्दे च हृत्कण्ठ-रसनेऽपि च ।
तालु-नासाग्र-नेत्रेषु (च) भ्रुवोर्भाले शिरस्यथ ॥२९॥
एवं रश्मिक्रमेणैव, धारयन्मरुता सह ।
स्थानात् स्थानान्तरं नीत्वा यावद् ब्रह्मपुरं नयेत् ॥३०॥
ततः क्रमेण तेनैव, पादाङ्गुष्ठान्तमानयेत् ।
नाभिपद्मान्तरं नीत्वा, ततो वायुं विरेचयेत् ॥३१॥

अर्थ—पूर्वोक्त (चौथे प्रकाश के अन्त में बतलाये हुए किसी भी आसन से बैठ कर धीरे-धीरे पवन बाहर निकाल करके उसे नासिका के बांए छिद्र से अन्दर खींचे और पैर के अंगूठे तक ले जा कर उस पर मन को निरुद्ध करे। फिर मन को क्रमशः वायु के साथ पैर के तलवे में, एड़ी में, टखने में, जांघ में घुटने में, ऊरू में, गुदा में, लिंग में, नाभि में, पेट में, हृदय में, कंठ में; जीभ में, तालु में, नासिका के अग्रभाग में, भ्रकुटि में, कपाल में, और मस्तक में, इस तरह एक के बाद दूसरे स्थान में आगे बढ़ते बढ़ते अन्त में ब्रह्मरन्ध्र-पर्यन्त ले जाना चाहिए। उसके बाद उसी क्रम से वापिस लौटाते हुए अन्त में मन के साथ अंगूठे में वायु को ला कर फिर नाभिकमल में ले जा कर तब वायु का रेचन करना चाहिए।'

अब चार श्लोकों द्वारा धारणा का फल बताते हैं—

पादाङ्गुष्ठादौ जंघायां, जानूरू-गुद-मेहने ।
धारित क्रमशो वायुः शीघ्रगत्यै बलाय च ॥३२॥
नाभौ ज्वरादिघाताय, जठरे कायशुद्धये ।
ज्ञानाय हृदये, कूर्मनाड्यां रोग-जराच्छिदे ॥३३॥
कण्ठे क्षुत्तर्षनाशाय, जिह्वाग्रे रससंविदे ।
गन्धज्ञानाय नासाग्रे रूपज्ञानाय चक्षुषोः ॥३४॥
भाले तद्रोगनाशाय, क्रोधस्योपशमाय च ।
ब्रह्मरन्ध्रे च सिद्धानां, साक्षाद् दर्शनहेतवे ॥३५॥

अर्थ—पैर के अंगूठे में, एड़ी में, टखने में, जंघा में, घुटने में, ऊरू में, गुदा में, लिंग में क्रमशः वायु को धारण करके रखने से शीघ्र गति और बल की प्राप्ति होती है। नाभि में वायु को धारण करने से ज्वर दूर हो जाता है, जठर में धारण करने से मलशुद्धि होने से शरीर शुद्ध हो जाता है, हृदय में धारण करने से ज्ञान की वृद्धि होती है, कूर्मनाडी में वायु

धारण करने से रोग और वृद्धावस्था का नाश होता है, वृद्धावस्था में भी शरीर में युवक के समान स्फूर्ति रहती है। कंठ में वायु धारण करने से भूख-प्यास नहीं लगती और यदि क्षुधा-पिपासा लगी हो तो शान्त हो जाती है। जीभ के अग्रभाग में वायु धारण करने से सर्वप्रकार का रसज्ञान होता है, नासिका के अग्रभाग में वायु को धारण करने से गन्ध का ज्ञान होता है, और चक्षु में धारण करने से रूपज्ञान होता है। कपाल-मस्तिष्क में वायु को धारण करने से मस्तिष्क-सम्बन्धी रोगों का नाश होता है तथा क्रोध का उपशमन होता है, और ब्रह्मरन्ध्र में वायु को रोकने से साक्षात् सिद्धों के दर्शन होते हैं।

धारणा का उपसंहार करके पवन की चेष्टा का वर्णन करते हैं—

अभ्यस्य धारणामेवं सिद्धीनां कारणं परम्।
चेष्टितं पवमानस्य, जानीयाद् गतसंशयः ॥३६॥

अर्थ—धारणा सिद्धियों का परम कारणरूप है। उसका इस प्रकार अभ्यास करके निःशंक हो कर पवन की चेष्टा को जानने का प्रयत्न करे।

इससे बहुत-सी सामान्य सिद्धियाँ प्राप्त होती है। वह इस प्रकार है—

नाभेर्निष्क्रामतश्चारं हृन्मध्ये नयतो गतिम्।
तिष्ठतो द्वादशान्ते तु विद्यात्स्थान नभस्वतः ॥३७॥

अर्थ—नाभि से पवन का निकलना, 'चार' कहलाता है। हृदय के मध्य में ले जाने 'गति' होती है और ब्रह्मरन्ध्र में रहना वायु का 'स्थान' समझना चाहिए।

अब चार आदि ज्ञान का फल कहते हैं—

तच्चार–गमन-स्थान – ज्ञानादभ्यासयोगतः।
जानीयात् कालमायुश्च, शुभाशुभफलोदयम् ॥३८॥

अर्थ—उस वायु के चार, गमन और स्थान के ज्ञान का अभ्यास करने से काल (मरण), आयु-जीवन और शुभाशुभ फलोदय को जाना जा सकता है।

इसे यथास्थान आगे कहेंगे। इसके बाद करने योग्य कहते हैं—

ततः शनैः समाकृष्य, पवनेन समं मनः।
योगी [illegible]दयपद्मान्तावनिवेश्य नियन्त्रयेत् ॥३९॥

अर्थ—उसके बाद योगी धीरे-धीरे पवन के साथ मन को खींच कर उसे हृदय-कमल के अन्दर प्रवेश कराके उसका निरोध करे।

इसका फल कहते हैं—

ततोऽविद्या विलीयन्ते, विषयेच्छा विनश्यति।
विकल्पा विनिवर्तन्ते, ज्ञानम[illegible]ते ॥४०॥

अर्थ— हृदयकमल में मन को रोकने से अविद्या (अज्ञान या मिथ्यात्व) का विनाश हो जाता है ; इन्द्रिय-विषयों की अभिलाषा भी नष्ट हो जाती है, संकल्प-विकल्प चले जाते हैं और आत्मा में ज्ञान की वृद्धि होती है।

मन और पवन को हृदय में स्थिर करने से स्वरूप ज्ञान प्रकट होता है—

क्व मण्डले गतिर्वायोः संक्रमः क्व क्व विश्रमः?
का च नाडीति जानीयात्, तत्र चित्ते स्थिरीकृते ॥४१॥

अर्थ—हृदय-कमल में मन को स्थिर करने पर वायु की गति किस मंडल में है ?, उसका किस तत्त्व में संक्रम (प्रवेश) होता है ? वह कहाँ आकर विश्राम पाता है ?, और इस समय कौन-सी नाड़ी चल रही है ? यह जाना जा सकता है।

अब मण्डलों का निर्देश करते हैं—

मण्डलानि च चत्वारि, नासिकाविवरे विदुः।
भौमवारुणवायव्याग्नेयाख्यानि यथोत्तरम् ॥४२॥

अर्थ— नासिका के विवर में चार मंडल होते हैं—(१) भौम (पार्थिव) मण्डल, (२) वारुण मण्डल, (३) वायव्य मंडल, और (४) आग्नेय मंडल जानना।

पार्थिव मण्डल का स्वरूप कहते हैं—

पृथिवीबीजसंपूर्णं, वज्रलाञ्छनसंयुतम्।
चतुरस्रं तप्तस्वर्णप्रभं स्याद् भौममण्डलम् ॥४३॥

अर्थ—पार्थिव मण्डल पृथ्वी के बीज से परिपूर्ण, वज्र के चिह्न से युक्त, चौरस और तपाये हुए सोने के रंगवाला क्षितिलक्षणयुक्त होता है।

यहाँ पार्थिवबीज 'अ' अक्षर है। कितने ही आचार्यों ने 'ल' और 'क्ष' भी माना है।

अब वारुणमंडल का स्वरूप कहते हैं—

स्यादर्धचन्द्रसंस्थानं, वारुणाक्षरलाञ्छितम्।
चन्द्राभममृतस्यन्दं सान्द्रं वारुणमण्डलम् ॥४४॥

अर्थ— अष्टमी के अर्ध-चन्द्र के समान आकार वाला, वारुण अक्षर 'व' कार के चिह्न से युक्त, चन्द्रसदृश उज्ज्वल और अमृत के झरने से व्याप्त वारुणमण्डल होता है।

अब वायव्य मण्डल का स्वरूप कहते हैं—

स्निग्धाञ्जनघनच्छायं, सुवृत्तं बिन्दुसंकुलम्।
दुर्लक्ष्यं पवनाक्रान्तं, चंचलं वायुमण्डलम् ॥४५॥

अर्थ—स्निग्धमिश्रित अंजन और मेघ के समान गाढ़, श्याम कान्तिवाला, गोलाकार, बिन्दु के चिह्न से व्याप्त, मुश्किल से मालूम होने वाला, चारों ओर पवन से वेष्टित, पवनबीज 'य' कार से घिरा हुआ चंचल वायुमण्डल होता है।

अब आग्नेय मण्डल का स्वरूप कहते हैं—

ऊर्ध्वज्वालांचितं भीमं त्रिकोणं स्वस्तिकाऽन्वितम् ।
स्फुलिंगपिंगं तद्बीजं, ज्ञेयमाग्नेयमण्डलम् ॥४६॥

अर्थ—ऊपर की ओर फैलती हुई ज्वालाओं से युक्त, भयानक त्रिकोण वाली, स्वस्तिक के चिह्न से युक्त, अग्नि की चिनगारी के समान पिंगलवर्ण वाला और अग्नि के बीज 'रेफ' से युक्त आग्नेय मण्डल जानना चाहिए।

अब अश्रद्धालु को बोध देने के लिए कहते हैं—

अभ्यासेन स्वसंवेद्यं, स्यान्मण्डलचतुष्टयम् ।
क्रमेण संचरन्नत्र, वायुर्ज्ञेयश्चतुर्विधः ॥४७॥

अर्थ—इस विषय का अभ्यास करने से अनुभव द्वारा चारों मंडलों को जाना जा सकता है। इन चारों मण्डलों में संचार करने वाला वायु भी चार प्रकार का होता है।

इसका क्रमशः वर्णन करते हैं—

नासिकारन्ध्रमापूर्य, पीतवर्णः शनैर्वहन् ।
कवोष्णोऽष्टांगुलः स्वच्छो, भवेद् वायुः पुरन्दरः ॥४८॥

अर्थ—पृथ्वीतत्त्व का पुरन्दर नामक वायु पीले रंग का है, उसका स्पर्श कुछ उष्ण और कुछ शीत है। वह स्वच्छ है। धीरे धीरे बहता हुआ नासिका के छिद्र को पूर्ण करके वह आठ अंगुल बाहर तक बहता है।

धवलः शीतलोऽधस्तात्, त्वरितं त्वरितं वहन् ।
द्वादशांगुलमानश्च, वायुर्वरुण उच्यते ॥४९॥

अर्थ—जिसका सफेद वर्ण है, शीत स्पर्श है, और नीचे की ओर बारह अंगुल तक जल्दी-जल्दी बहने वाला है, उसे जलतत्त्व का वरुण वायु कहते हैं।

उष्णः शीतश्च, कृष्णश्च, वहंस्तिर्यगनारतम् ।
षडंगुलप्रमाणश्च वायुः पवनसंज्ञितः ॥५०॥

अर्थ—पवन नाम का वायुतत्त्व कुछ उष्ण और कुछ शीत होता है, उसका वर्ण काला है और वह हमेशा छह अंगुल प्रमाण तिरछा बहता रहता है।

बालादित्यसमज्योतिरत्युष्णश्चतुरंगुलः ।
आवर्त्तवान् वहन्नूर्ध्वं, पवनो दहनः स्मृतः ॥५१॥

अर्थ—अग्नितत्त्व का दहन नामक वायु उदीयमान बालसूर्य के समान लाल वर्ण वाला है, अति-उष्णस्पर्श वाला है और बवंडर (घूमती हुई आंधी) की तरह चार अंगुल ऊँचा बहता है।"

कौन-से वायु में कौन-सा कार्य करना चाहिए ? इसे कहते हैं—

इन्द्रं स्तम्भादिकार्येषु, वरुणं शस्तकर्मसु ।
वायुं मलिनलोलेषु, वश्यादौ वह्निमाविशेत् ॥५२॥

अर्थ—जब पुरन्दरवायु बहता हो, तब स्तंभनादि कार्य करने चाहिए। वरुणवायु के बहते समय प्रशस्त कार्य करना, पवनवायु के बहते समय मलिन और चपल कार्य करना तथा वह्नवायु चलता हो, उस समय वशीकरण आदि कार्य करना चाहिए।'

कार्य के प्रारम्भ में, कार्य के प्रश्न-समय में जो वायु चलता हो, उसका फल चार श्लोकों द्वारा कहते हैं :—

छत्र-चामर-हस्त्यश्वाराम–राज्यादिसंपदम् ।
मनीषितं फलं वायुः, समाचष्टे पुरन्दरः ॥५३॥

रामाराज्यादिसंपूर्णैः, पुत्रस्वजनबन्धुभिः ।
सारेण वस्तुना चापि, योजयेद् वरुणः क्षणात् ॥५४॥

कृषिसेवादिकं सर्वमपि सिद्धं विनश्यति ।
मृत्युभी, कलहो वैरं, त्रासश्च पवने भवेत् ॥५५॥

भयं शोकं रुजं दुःखं, विघ्नव्यूहपरम्पराम् ।
संसूचयेद् विनाशं च, दहनो दहनात्मकः ॥५६॥

अर्थ—पुरन्दर नाम का वायु जिस समय बहता हो, उस समय छत्र, चामर, हाथी, घोड़ा, स्त्री एवं राज्य आदि सम्पत्ति के विषय में कोई प्रश्न करे अथवा स्वयं कार्य आरम्भ करे तो मनोवांछित फल मिलता है। वारुणवायु (जलतत्त्व) बहता हो, तब प्रश्न करे अथवा कार्य आरंभ करे तो उसी समय उसे सम्पूर्ण राज्य, पुत्र, स्वजन-बन्धु और सारभूत उत्तम वस्तु की प्राप्ति होती है। प्रश्न या कार्यारंभ के समय पवन नाम का वायु बहता हो तो खेती सेवा-नौकरी आदि सब कार्य फलदायी हों तो भी वे निष्फल हो जाते हैं ; मेहनत व्यर्थ नष्ट हो जाती है और मृत्यु का भय, क्लेश, वैर तथा त्रास उत्पन्न होता है। दहन स्वभाव वाला अग्नि नाम का वायु चलता हो, उस समय प्रश्न या कार्यारंभ करे तो वह भय, शोक, रोग, दुःख और विघ्न-समूह की परम्परा और धन-धान्यादि के विनाश का संसूचक है।

अब चारों वायु का अतिसूक्ष्म फल कहते हैं -

शशांक-रवि-मार्गेण, वायवो मण्डलेष्वमी ।
विशन्तः शुभदाः सर्वे, निष्क्रामन्तोऽन्यथा स्मृता ॥५७॥

अर्थ—पुरन्दर आदि चारों प्रकार के वायु चन्द्रमार्ग या सूर्यमार्ग अर्थात् बांयी और दाहिनी नाड़ी में हो कर प्रवेश करते हों, तो शुभफलदायक होते हैं और बाहर निकलते हों, तो अशुभफलदायक होते हैं।

प्रवेश और निर्गम में शुभ-अशुभ होने के कारण बताते हैं—

प्रवेश-समये वायुर्जीवमृत्युस्तु निर्गमे ।
उच्यते ज्ञानिभिस्तादृक् फलमप्यनयोस्ततः । ५८॥

अर्थ—वायु जब मंडल में प्रवेश करता है, तब उसे जीव कहते हैं और जब वह मंडल से बाहर निकलता है, तब उसे मृत्यु कहते हैं। इसी कारण ज्ञानियों ने प्रवेश करते समय का फल शुभ और निकलते समय का फल अशुभ बताया। अर्थात्-पूरक वायु नासिका के अन्दर प्रवेश करता हो और कोई प्रश्न करे तो वह कार्य सिद्ध होगा, और रेचक वायु मंडल से बाहर निकलता हो और कोई प्रश्न करे तो वह कार्य सिद्ध नहीं होगा।'

अब नाड़ी के भेद से वायु का शुभ, अशुभ और मध्यम फल दो श्लोकों से कहते हैं—

पथेन्दोरिन्द्रवरुणौ, विशन्तौ सर्वसिद्धिदौ ।
रविमार्गेण निर्यान्तौ, प्रविशन्तौ च मध्यमौ ॥५९॥

दक्षिणेन विनिर्यान्तौ, विनाशायानिलानलौ ।
निःसरन्तौ विशन्तौ च मध्यमावितरेण तु ॥६०॥

अर्थ—चन्द्र अर्थात् बांयी नासिका से प्रवेश करते हुए पुरन्दर और वरुण वायु सर्वसिद्धियाँ प्रदान करते हैं, जबकि ये ही दोनों दाहिनी ओर से निकलते हुए विनाशकर होते हैं। और सूर्य अर्थात् दाहिनी नाड़ी से बाहर निकलते और प्रवेश करते हुए ये दोनों वायु मध्यमफल देते हैं।

अब नाड़ियों के लक्षण कहते हैं—

इडा च पिंगला चैव सुषुम्णा चेति नाडिकाः ।
शशि-सूर्य-शिवस्थानं, वाम-दक्षिण-मध्यगाः ॥६१॥

अर्थ—बांयी ओर की नाड़ी इड़ा कहलाती है, और उसमें चन्द्र का स्थान है, दाहिनी ओर की नाड़ी पिंगला है; उसमें सूर्य का स्थान है, और दोनों के मध्य में स्थित नाड़ी सुषुम्णा है, इसमें मोक्ष-स्थान माना है।

इन तीनों में वायु-संचार का फल दो श्लोकों द्वारा कहते हैं—

पीयूषमिव वर्षन्ती, सर्वगात्रेषु सर्वदा ।
वामाऽमृतमयी नाडी सम्मताऽभीष्टसूचिका ॥६२॥

वहन्त्यनिष्टशंसित्री, संहर्त्री दक्षिणा पुनः ।
सुषुम्णा तु भवेत् सिद्धि-निर्वाणफलकारणम् ॥६३॥

अर्थ—शरीर के समस्त भागों में निरंतर अमृत वर्षा करने वाली, और सभी मनोरथों को सूचित करने वाली बांयी नाड़ी मानी गई है, तथा दाहिनी नाड़ी अनिष्ट को सूचित

करने वाली और कार्य का विघात करने वाली होती है एवं सुषुम्णा नाड़ी अणिमादि अष्ट महासिद्धियों का और मोक्षफल का कारण रूप होती है ।

भावार्थ-- कहने का तात्पर्य यह है कि सुषुम्णानाड़ी में ध्यान करने से थोड़े समय में ध्यान में एकाग्रता हो जाती है और लम्बे समय तक ध्यान की परम्परा चालू रहती है । इस कारण इससे थोड़े समय में अधिक कर्मों का नाश होता है । अतः इसमें मोक्ष का स्थान रहा हुआ है । इसके अतिरिक्त सुषुम्णा नाड़ी मे वायु की गति बहुत मन्द होती है । अतः मन सरलता से स्थिर हो जाता है । मन और पवन की स्थिरता होने पर संयम की साधना में भी सरलता होती है । धारणा, ध्यान और समाधि को एक ही स्थल पर करना संयम है, और ऐसा संयम ही सिद्धियों का कारण है । इस कारण सुषुम्णानाड़ी को मोक्ष और सिद्धियों का कारण बताया है ।"

बांयी और दाहिनी नाड़ी चलती हो, तब कौन-सा कार्य करना चाहिए, उसे अब बताते हैं—

वामैवाभ्युदयादीष्टशस्तकार्येषु सम्मता ।
दक्षिणा तु रताहार-युद्धादौ दीप्तकर्मणि ।।६४।।

अर्थ— यात्रा, दान, विवाह, नवीन वस्त्राभूषण धारण करते समय, गाँव, नगर व घर में प्रवेश करते समय, स्वजन-मिलन, शान्तिकर्म, पौष्टिक कर्म, योगाभ्यास, राजदर्शन, चिकित्सा, मैत्री, बीज-वपन इत्यादि अभ्युदय और ईष्टकार्यों के प्रारम्भ में बांयी नाड़ी शुभ होती है, और भोजन, विग्रह, विषय-प्रसग, युद्ध, मन्त्र-साधना, दीक्षा, सेवाकर्म, व्यापार, औषध, भूतप्रेतादि-साधनों आदि तथा अन्य रौद्र कार्यों में सूर्यनाडी=दाहिनी नाडी शुभ मानी गई है ।'

अब फिर बांयी और दाहिनी नाड़ी का विषम विभाग कहते हैं—

वामा शस्तोदये पक्षे, सिते कृष्णे तु दक्षिणा ।
त्रीणि त्रीणि दिनानीन्दु-सूर्ययोरुदयः शुभः ।।६५।।

अर्थ—शुक्लपक्ष में सूर्योदय के समय बांयी नाड़ी का उदय श्रेष्ठ माना गया है और कृष्णपक्ष में सूर्योदय के समय दाहिनी नाड़ी का उदय शुभ माना गया है । इन दोनों नाड़ियों का उदय तीन दिन तक शुभ माना जाता है ।

आगे इस सम्बन्ध में अधिक स्पष्टता की जायगी । उदय का नियम कह कर अब अस्त का नियम कहते हैं—

शंशाकेनोदयो वायोः, सूर्येणास्तं शुभावहम् ।
उदये रविणा त्वस्य, शशिनाऽस्तं शिव मतम् ।।६६।।

अर्थ जिस दिन सूर्योदय के समय वायु का उदय चन्द्रस्वर में हुआ हो और सूर्य स्वर में अस्त होता हो तो वह दिन शुभ है । यदि उस दिन सूर्यस्वर में उदय और चन्द्रस्वर में अस्त हो, तब भी कल्याणकारी माना जाता है ।'

इसी बात का स्पष्टीकरण तीन श्लोकों द्वारा करते हैं—

सितपक्षे दिनारम्भे यत्नतः प्रतिपद्दिने ।
वायोर्वीक्षेत संचारं प्रशस्तमितरं तथा ॥६७॥

उदेति पवनः पूर्वं, शशिन्येष त्र्यहं ततः ।
संक्रामति त्र्यहं सूर्ये, शशिन्येव पुनस्त्र्यहम् ॥६८॥

वहेद् यावद् बृहत्पूर्वक्रमेणानेन मारुतः ।
कृष्णपक्षे पुनः सूर्योदयपूर्वमयं क्रमः ॥६९॥

अर्थ– शुक्लपक्ष की प्रतिपदा के दिन सूर्योदय के प्रारम्भ में वायु के संचार को यत्नपूर्वक देख लेना चाहिए कि वह प्रशस्त है या अप्रशस्त ? प्रथम तीन दिन, (१, २, ३, के दिन) सूर्योदय के समय चन्द्रनाड़ी चलती है। उसके बाद ४, ५, ६, के दिन (तीन दिन) सूर्योदय के समय सूर्यनाड़ी बहती है। तदनन्तर फिर ७, ८, ९ के दिन चन्द्रनाड़ी, १०, ११, १२, के दिन सूर्यनाड़ी और १३, १४, १५, के दिन चंद्रनाड़ी में पवन बहता है, और कृष्णपक्ष में प्रथम तीन दिन (१, २, ३) सूर्यनाड़ी, फिर ४, ५, ६, के दिन चन्द्रनाड़ी में, इसी क्रम से तीन तीन दिन के क्रम से अमावस्या तक बहेगा। वायु का यह क्रम सारे दिन के लिए नहीं है, परन्तु केवल सूर्य-उदय के समय के लिए है। उसके बाद ढाई ढाई घंटे में चन्द्रनाड़ी और सूर्यनाड़ी बदलती रहती है। इस नियम में रद्दोबदल होने पर उसका फल अशुभ या दुःखफल-सूचक है।

इस क्रम में गड़बड़ी हो तो, उसका फल दो श्लोकों द्वारा बताते हैं—

त्रीन् पक्षानन्यथात्वेऽस्ति, मासषट्केन पंचता ।
पक्षद्वयं विपर्यासेऽभीष्ट–बन्धुविपद् भवेत् ॥७०॥

भवेत् तु दारुणा, व्याधिरेकपक्षं विपर्यये ।
।द्वत्र्याद्य .विपर्यासे, कलहादिकमुद्दिशेत् ॥७१॥७१॥

अर्थ—पूर्वकथित चन्द्र या सूर्यनाड़ी के क्रम से विपर्यास—विपरीत तीन पक्ष तक पवन बहता हो तो छह महीने में मृत्यु हो जाती है। यदि पक्ष तक विपरीत क्रम होता रहे तो स्नेही-बन्धु पर विपत्ति आती है ; एक पक्ष तक विपरीत पवन चले तो भयंकर व्याधि उत्पन्न होती है और यदि दो-तीन-दिन विपरीत वायु चले तो कलह आदि अनिष्ट फल खड़ा होता है। तथा—

एकं द्वे त्रीण्यहोरात्राण्यर्क एव मरुद् वहन् ।
वर्षैस्त्रिभिर्द्वाभ्यामेकेनान्तायेन्दौ रुजे पुनः ॥७२॥

अर्थ—यदि पूरे दिन-रात भर सूर्यनाड़ी में ही पवन चलता रहे तो तीन वर्ष में मृत्यु होती है, इसी तरह दो-दिन-रात तक वायु चले तो दो वर्ष में मृत्यु होती है और तीन

दिन-रात चलता रहे तो एक वर्ष में मृत्यु हो जाती है। और यदि चन्द्रनाड़ी उतने दिन चलती रहे तो रोग उत्पन्न होता है। तथा

मासमेकं रवावेव, वहन् वायुर्विनिर्दिशेत् ।
अहोरात्रावधिर्मृत्युं शशांके तु धनक्षयम् ॥७३॥

अर्थ—यदि किसी मनुष्य के एक महीने तक लगातार सूर्यनाड़ी में ही वायु चलता रहे तो उसकी एक दिनरात में ही मृत्यु हो जाती है, यदि एक मास तक चन्द्रनाड़ी में पवन चलता रहे तो उसके धन का नाश होता है। तथा—

वायुस्त्रिमार्गगः शंसेत् मध्याह्नात् परतो मृतिम् ।
दशाहं तु द्विमार्गस्थः, संक्रान्तौ मरणं दिशेत् ॥७४॥

अर्थ—इडा, पिंगला और सुषुम्णा इन तीनों नाड़ियों में यदि एकसाथ पवन चलता रहे तो दो पहर के पश्चात् मरण होता है। इडा और पिंगला दोनों नाड़ियों में साथ में वायु चले तो दस दिन में मृत्यु होती है और केवल सुषुम्णा में ही लम्बे समय तक वायु चले तो शीघ्र मरण होता है।

दशाहं तु वहन्निन्दावेवोद्वेगरूजे मरुत् ।
इतश्चेतश्च यामार्धं वहन् लाभार्चनादिकृत् ॥७५॥

अर्थ· यदि निरंतर दस दिन तक चन्द्रनाड़ी में ही पवन चलता रहे तो उद्वेग और रोग उत्पन्न होता है, और सूर्य तथा चन्द्रनाड़ी में वायु बार-बार बदलता रहे, अर्थात् आधे पहर सूर्यनाड़ी में और आधे पहर चन्द्रनाड़ी में वायु चलता रहे तो लाभ, पूजा, प्रतिष्ठा आदि की प्राप्ति होती है। तथा—

विषुवत्समयप्राप्तौ स्पन्देते यस्य चक्षुषी ।
अहोरात्रेण जानीयात्, तस्य नाशमसंशयम् ॥७६॥

अथ—जब दिनरात समान हों, बारह-बारह घण्टे का दिनरात (समान) हो, जरा भी कम या ज्यादा न हो, उसे विषुवत्काल कहते हैं। ऐसे दिन वर्ष में दो ही आते हैं। ऐसे विषुवत्काल में जिसकी आँखें फरकती हैं, उसको एक दिन-रात में अवश्य ही मृत्यु हो जाती है। फरकना भी वायु का विकार है ; इसलिए प्रस्तुत प्रसंग का भग नहीं होता। तथा—

पञ्चातिक्रम्य संक्रान्तीर्मुखे वायुर्वहन् दिशेत् ।
मित्रार्थ.ानी निस्तेजोऽनर्थान् सर्वान्मृतिं विना ॥७७॥

अर्थ—पवन का एक नाड़ी में से दूसरी नाड़ी में जाना, 'संक्रान्ति' कहलाता है। दिन में लगातार यदि ऐसी पाँच संक्रान्तियाँ बीत जाने के बाद छठी संक्रान्ति के समय मुख से वायु चले तो वह मृत्यु को छोड़ कर मित्र-हानि, धन-हानि, निस्तेज होना, उद्वेग, रोग, देशान्तर-गमन आदि सभी अनर्थ सूचित करता है।

संक्रान्तीः समा[illegible], त्रयोदश समीरणः ।
प्रवहन् वामनासायां, रोगोद्वेगादि सूचयेत् ।।७८।।

अर्थ—यदि पहले कहे अनुसार तेरह संक्रान्तियों तक उल्लघन हो जाने पर वायु वाम नासिका से बहे तो वह रोग, उद्वेग आदि की उत्पत्ति को सूचित करता है। तथा—

मार्गशीर्षस्य संक्रान्ति-कालादारभ्य मारुतः ।
वहन् पंचाहमाचष्टे वत्सरेऽष्टादशे मृतिम् ।।७९।।

अर्थ—मार्गशीर्ष मास के प्रथम दिन से ले कर लगातार पाँच दिन तक एक ही नाड़ी में पवन चलता रहे तो उस दिन से अठारहवें वर्ष में मृत्यु होगी। तथा—

शरत्संक्रान्तिकालाच्च, पंचाहं मारुतो वहन् ।
ततः पंचदशाब्दानाम् अन्ते मरणमादिशेत् । ८०।।

अर्थ—यदि शरदृऋतु की संक्रान्ति से अर्थात् आसोज मास के प्रारंभ से पाँच दिन तक एक ही नाड़ी में पवन चलता रहे तो उस दिन से पन्द्रहवें वर्ष के अन्त में उसकी मृत्यु होगी।

श्रावणादेः समारभ्य, पंचाहमनिलो वहन् ।
अन्ते द्वादश-वर्षाणां, मरणं परिसूचयेत् ।।८१।।
वहन् ज्येष्ठादिदिवसाद्, दशाहानि समीरणः ।
[illegible]स्य पर्यन्ते मरणं ध्रुवम् ।।८१।।
आरभ्य चैत्राद्यदिनात् पंचाहं पवनो वहन् ।
पर्यन्ते वर्षषट्कस्य, मृत्युं नियतमादिशेत् । ८३।।
आरभ्य माघमासादेः पंचाहानि मरुद् वहन् ।
संवत्सरत्रयस्यान्ते, संसूचयति पंचताम् ।।८४।।

अर्थ—श्रावण महीने के प्रारंभ से पांच दिन तक एक ही नाड़ी में पवन चले तो वह बारहवें वर्ष में मरण का सूचक है। ज्येष्ठ महीने के प्रथम दिन से दस दिन तक एक ही नाड़ी में वायु चलता रहे तो नौ वर्ष के अन्त में निश्चय ही उसकी मृत्यु होनी चाहिए। चैत्र महीने के प्रथम दिन से पांच दिन तक एक ही नाड़ी में पवन चलता रहे तो छह वर्ष के अन्त में अवश्य मरण होगा। माघ महीने के प्रथम दिन से पांच दिन तक एक ही नाड़ी में वायु चलता रहे तो तीन वर्ष के अन्त में मरण होने का सूचित करता है। तथा—

सर्वत्र द्वि-त्रि-चतुरो, वायुश्चेद् दिवसान् वहेत् ।
अब्दभागैस्तु ते शोध्याः, यथावदनुपूर्वशः ।।८५।।

अर्थ—किसी महीने में पांच दिन तक एक ही नाड़ी में वायु चले तो उतने ही वर्षों में मरण बतलाया है, उस महीने में दो तीन या चार दिन तक यदि एक ही नाड़ी में वायु

चलता रहे तो उस वर्ष के उतने ही विभाग करके दिनों के अनुसार वर्ष के उतने ही विभाग कम कर देने चाहिए। जैसे कि मार्गशीर्ष महीने के प्रारम्भ में पांच दिन तक एक ही नाड़ी में वायु चले तो अठारह वर्षों में मरण कहा है, यदि उस मास में पांच के बदले चार दिन तक एक ही नाड़ी में पवन चलता रहे तो अठारह वर्ष के पांचवें भाग के, अर्थात् तीन वर्ष सात महीने और छह दिन के कम करने पर चौदह वर्ष चार मास और चौबीस दिन में मृत्यु होना फलित होता है। इसी प्रकार तीन, दो दिन वायु चलता रहे इसी हिसाब से समझ लेना, और शरद् आदि के महीने में भी यही नियम समझना चाहिए।

अब दूसरे उपाय से वायु के निमित्त से होने वाला कालज्ञान बताते हैं—

अथेदानीं प्रवक्ष्यामि, कंचित् कालस्य निर्णयम्।
सूर्यमार्गं समाश्रित्य, स च पौष्णेऽवगम्यते ॥८६॥

अर्थ— अब मैं कुछ कालज्ञान का निर्णय बताऊंगा, वह काल-ज्ञान सूर्यमार्ग को आश्रित करके पौष्णकाल में जाना जाता है।

अब पौष्णकाल का स्वरूप कहते हैं—

जन्मर्क्षगते चन्द्रे, समसप्तगते रवौ।
पौष्णनामा भवेत् कालो, मृत्यु-निर्णय-कारणम् ॥८७॥

अर्थ - जन्म नक्षत्र में चन्द्रमा हो और अपनी राशि से सातवीं राशि में सूर्य हो तथा चन्द्रमा ने जितनी जन्म-राशि भोगी हो, उतनी ही सूर्य ने सातवीं राशि भोगी हो, तब 'पौष्ण' नामक काल कहलाता है। इस पौष्णकाल में मृत्यु का निर्णय किया जा सकता है।

पौष्णकाल में सूर्यनाड़ी में वायु चले तो उसके द्वारा कालज्ञान बताते हैं—

दिनार्धं दिनमेकं च, यदा सूर्ये मरुद् वहन्।
चतुर्दशे द्वादशेऽब्दे, मृत्यवे भवति क्रमात् ॥८८॥

अर्थ उस पौष्णकाल में यदि आधे दिन तक सूर्यनाड़ी में पवन चलता रहे, तो चौदहवें वर्ष में मृत्यु होगी, यदि पूरे दिन पवन चले तो बारहवें वर्ष में मृत्यु होती है।

तथैव च वहन् वायु अहोरात्रं द्व्यहं त्र्यम्।
दशमाष्टमषष्ठाब्देष्वन्ताय भवति क्रमात् ॥८९॥

अर्थ— उसी तरह पौष्णकाल में एक अहोरात्रि, दो या तीन दिन तक सूर्यनाड़ी में पवन चलता रहे तो क्रमशः दसवें वर्ष, आठवें वर्ष और छठे वर्ष मृत्यु होती है।

वहन् दिनानि चत्वारि, तुर्येऽब्दे मृत्यवे मरुत्।
साशीत्यहःसहस्रे तु पञ्चाहानि वहन् पुनः ॥९०॥

अर्थ— उसी प्रकार से पौष्णकाल में चार दिन तक सूर्यनाड़ी में वायु चलता रहे तो चौथे वर्ष में और पांच दिन तक चलता रहे तो तीन वर्ष में अर्थात् एक हजार अस्सी दिन में मृत्यु होती है।

एक-द्वि-त्रि-चतुः-पञ्च-चतुर्विंशत्यहःक्षयात् ।

षडादीन् दिवसान् पंच शोधयेदिह तद्यथा ॥९१॥

अर्थ—सूर्यनाड़ी में लगातार छह, सात, आठ, नौ या दस दिन तक उसी तरह वायु चलता रहे तो वह १०८० दिनों में से क्रमशः एक, दो, तीन, चार और पांच चौबीसी दिन कम तक जीवित रहता है।

आगे इसे ही चार श्लोकों से स्पष्ट करते हैं—

षट्कं दिनानामध्यर्कं, वहमाने समीरणे ।

जीवत्यह्नां सहस्रं षट्-पंचाशद्दिवसाधिकम् ॥९२॥

अर्थ— यदि सूर्यनाड़ी में छह दिन तक पवन चलता रहे तो वह एक चौबीसी कम १०८०—२४=१०५६ दिन तक जीवित रहता है। तथा—

सहस्रं साष्टकं जीवेद्, वायौ सप्ताहवाहिनि ।

सषट्त्रिंशन्नवशतीं, जीवेदष्टाहवाहिनि ॥९३॥

अर्थ सात दिन तक लगातार वायु सूर्यनाड़ी में चलता रहे तो वह १०५६ दिन में दो चौबीसी कम १०५६—४८=१००८ दिन तक जीवित रहता है। तथा आठ दिन तक लगातार सूर्यनाड़ी चले तो ९३६ दिन जीवित रहता है।

एकत्रैव नवाहानि, तथा वहति मारुते ।

अह्नामष्टशतं जीवेच्चत्वारिंशद्दिनाधिकम् ॥९४॥

अर्थ—उसी तरह यदि नौ दिन सतत वायु चलता रहे तो ९३६ दिनों में से चार चौबीसी अर्थात् ९३६—९६=८४० दिन जीवित रहता है।

तथैव वायौ प्रवहत्येकत्र दश वासरान् ।

विंशत्यभ्यधिकामह्नां, जीवेत् सप्तशतीं ध्रुवम् ।९५॥

अर्थ—उसी तरह पौष्णकाल में निरन्तर दस दिन तक सूर्यनाड़ी में वायु चले तो पूर्वोक्त ८४० दिनों में से पांच चौबीसी कम अर्थात् ८४०—१२०=७२० दिन तक ही जीवित रहता है।

एक-द्वि-त्रि-चतुः-पंच-चतुर्विंशत्यहःक्षयात् ।

एकादशादिपञ्चाहान्यत्र शोध्यानि तद् यथा ॥९६॥

अर्थ—यदि ग्यारह दिन से ले कर पन्द्रह दिन तक एक ही सूर्यनाड़ी में पवन चलता रहे तो सातसौ बीस दिन में से क्रमशः एक, दो, तीन, चार और पांच चौबीसी दिन कम करते जाना।

ग्रन्थकार स्वयं स्पष्टीकरण करते हैं—

एकादशदिनान्यर्कनाड्यां वहति मारुते ।

षण्णवत्यधिकान्यह्नां, षट्शतान्येव जीवति ॥९७॥

अर्थ—पौष्णकाल में सूर्यनाड़ी में ग्यारह दिनों तक वायु चलता रहे तो ७२० दिनों में से एक चौबीसी कम अर्थात् ७२०—२४=६९६ दिन तक मनुष्य जीवित रहता है।

तथैव द्वादशाहानि वायौ वहति जीवति।
दिनानां षट्शतीमष्टचत्वारिंशत्समन्विताम् ॥९८॥

अर्थ—उसी तरह बारह दिन तक वायु सूर्यनाड़ी में चलता रहे तो वह दो चौबीसी कम अर्थात् ६९६—४८=६४८ दिन तक जीवित रहता है। तथा

त्रयोदशदिनान्यर्कनाडीचारिणि मारुते।
जीवेत्पंचशतीमह्नां षट्सप्ततिदिनाधिकाम् ॥९९॥

उसी तरह तेरह दिन तक सूर्यनाड़ी में लगातार पवन चले तो ६४८ दिनों में से चौबीसी कम, अर्थात् ६४८—७२=५७६ दिन तक वह जीवित रहता है। तथा

चतुर्दशदिनान्येव, प्रवाहिणि समीरणे।
अशीत्यभ्यधिकं जीवेद्, अह्नां शतचतुष्टयम् ।१००॥

अर्थ—उसी प्रकार चौदह दिन तक सूर्यनाड़ी में पवन चलता रहे तो ५७६ दिनों में से चार चौबीसी कम अर्थात् ५७६—९६—४८० दिनों तक वह जीवित रहता है।

तथा पंचदशाहानि यावद् वहति मारुते।
जीवेत् षष्ठिदिनोपेतं, दिवसानां शतत्रयम् ॥१०१॥

अर्थ—उसी तरह पन्द्रह दिन तक सूर्यनाड़ी में पवन चलता रहे तो ४८० दिनों में से पांच चौबीस कम अर्थात् ४८०—१२०=३६० दिन जीवित रहता है।

एक-द्वि-त्रि-चतुः-पंच-द्वादशाहक्रमक्षयात्।
षोडशाद्यानि पंचाहान्यत्र शोध्यानि तद् यथा ॥१०२॥

अर्थ—सोलह, सत्रह, अठारह, उन्नीस और बीस दिन तक एक ही सूर्यनाड़ी में वायु लगातार चलता रहे तो पूर्वोक्त ३६० दिनों में से क्रमशः एक बारह तथा दो, तीन, चार और पांच बारह दिन कम कर देने पर उतने दिन तक जीवित रहता है।

इसका विवरण आगे स्वयं स्पष्ट करते हैं—

प्रवहत्येकनासायां षोडशाहानि मारुते।
जीवेत्सहाष्टचत्वारिंशतं दिनशतत्रयीम् ॥१०३॥

अर्थ—लगातार सोलह दिन तक पिंगला या किसी एक नासिका में पवन चलता रहे तो ३६० दिनों में से एक बारह कम अर्थात ३६०—१२=३४८ दिन तक वह जीवित रहता है।

वहमाने तथा सप्तदशाहानि समीरणे।
अह्नां शतत्रये मृत्युश्चतुर्विंशतिसंयुते ॥१०४॥

अर्थ—उसी तरह १७ दिन तक एक ही नाड़ी में वायु चलता रहे तो ३४८ दिनों में दो बारह=२४ कम ३४८—२४=३२४ दिन में मृत्यु होती है। तथा—

पवने विचरत्यष्टादशाहानि तथैव च।
नाशोऽष्टाशीतिसंयुक्ते, गते दिनशतद्वये ॥१०५॥

अर्थ—इसी प्रकार अठारह दिन तक पवन चलता रहे तो ३२४ दिनों में से तीन बारह ३६ कम ३२४—३६=२८८ दिन में मृत्यु होती है। तथा—

विचरत्यनिले तद्वद् दिनान्येकोनविंशतिम्।
चत्वारिंशद्युते याते, मृत्युर्दिनशतद्वये ॥१०६॥

अर्थ—पूर्ववत् उन्नीस दिन वायु चलता रहे तो २८८ दिनों में से चार बारह=४८ कम २८८—४८=२४० दिन में उसकी मृत्यु होती है।

विंशति-दिवसानेकनासाचारिणि मारुते।
साशीतौ वासरशते, गते मृत्युर्न संशयः ॥१०७॥

अर्थ—यदि बीस दिन तक एक ही नाड़ी में पवन चलता रहे तो २४० दिनों में से पांच बारह=६० कम अर्थात् २४०—६०=१८० दिन में निश्चित रूप से मृत्यु होती है।

एक-द्वि-त्रि-चतुः-पंच-दिन-षट्क-क्रमक्षयात्।
एकविंशादिपंचाहान्यत्र शोध्यानि तद् यथा ॥१०८॥

अर्थ—इक्कीस से ले कर पच्चीस दिन तक एक सूर्यनाड़ी में ही पवन बहता रहे तो पूर्वोक्त १८० दिनों में से क्रमशः एक, दो, तीन, चार और पांच षट्क कम करते जाना चाहिए।

इसका स्पष्टीकरण करते है—

एकविंशत्यहं त्वर्कनाडीवाहिनि मारुते।
चतुःसप्ततिसंयुक्ते, मृत्युर्दिनशते भवेत् ॥१०९॥

अर्थ—पूर्वोक्त पौष्णकाल में यदि इक्कीस दिन तक सूर्यनाड़ी में पवन चलता रहे तो १८० दिनों में से एक षट्क कम यानी १८०—६=१७४ दिन में उसकी मृत्यु होती है।

द्वाविंशतिदिनान्येवं, स द्विषष्ठावहःशते।
षड्दिनोनैः पंचमासैस्त्रयोविंशत्यहानुगे ॥११०॥

अर्थ—इसी प्रकार बाईस दिन तक पूर्ववत् पवन चले तो १७४ दिनों में से दो षट्क=१२ दिन कम यानी १६२ दिन तक जीवित रहेगा। और तेईस दिन तक उसी प्रकार पवन चले तो १६२ दिनों में से तीन षट्क अर्थात् अठारह दिन कम करने से छह दिन कम पांच महीने में अर्थात् १६२—१८=१४४ दिनों में मृत्यु होती है। तथा

तथैव वायौ वहति, चतुर्विंशतिवासरीम्।
विंशत्यभ्यधिके मृत्युर्भवेद् दिनशते गते ॥१११॥

अर्थ—यदि चौबीस दिन तक वायु एक ही नाड़ी में बहता रहे तो १४४ दिनों में से चार षट्क कम अर्थात् १४४−२४=१२० दिन बीतने पर मृत्यु हो जाती है।

पंचविंशत्यहं चैवं, वायौ मासत्रये मृतिः।
मासद्वये पुनर्मृत्युः, षड्विंशतिदिनानुगे ॥११२॥

अर्थ—पच्चीस दिन तक वायु चलता रहे तो १२० दिनों में से पांच षट्क=३० दिन कम=९० दिन-(तीन महीने) में और छब्बीस दिन तक वायु चलता रहे तो दो महीने में मृत्यु होती है। तथा—

सप्तविंशत्यह वहेत् नाशो मासेन जायते।
मासार्धेन पुनर्मृत्युरष्टाविंशत्यहानुगे ॥११३॥

अर्थ—इसी तरह सत्ताईस दिन तक वायु चलता रहे तो एक महीने में और अठाईस दिन तक चलता रहे तो पन्द्रह दिन में ही मृत्यु होती है। तथा—

एकोनत्रिंशदहगे मृतिः स्याद्दशमेऽहनि।
त्रिंशद्दिनचरे तु स्यात् पंचत्वं पंचमेदिने ॥११४॥

अर्थ—यदि उनतीस दिन तक ही नाड़ी में वायु चलता रहे तो दस दिन में और तीस दिन तक चलता रहे तो पाँचवें दिन मृत्यु होती है। तथा—

एकत्रिंशदहचरे, वायौ मृत्युर्दिनत्रये।
द्वितीयदिवसे नाशो द्वात्रिंशदहवाहिनि ॥११५॥

अर्थ—इसी प्रकार इकत्तीस दिन तक वायु चले तो तीन दिन में और बत्तीस दिन तक चले तो दो दिन में मृत्यु होती है।

इस प्रकार सूर्यनाड़ी के चार का उपसंहार करके चन्द्रनाड़ी के चार को कहते हैं—

त्रयस्त्रिंशदहचरे त्वेकाहनापि पंचता।
एवं यदीन्दुनाड्यां स्यात्तदा व्याध्यादिकं दिशेत् ॥११६॥

अर्थ—इसी प्रकार तैंतीस दिन तक सूर्यनाड़ी में पवन चलता रहे तो एक ही दिन में मृत्यु हो जाती है। उसी प्रकार यदि चन्द्रनाड़ी में पवन चलता रहे तो उसका फल मृत्यु नहीं है, परन्तु उतने ही काल में व्याधि, मित्रनाश, महान् भय, स्वदेश का त्याग, धनपुत्रादि का नाश, राज्य का विनाश, दुष्काल आदि होता है।

उपसंहार करते हैं—

अध्यात्मं वायुमाश्रित्य, प्रत्येक सूर्यसोमयोः।
एवमभ्यासयोगेन, जानीयात्, कालनिर्णयम् ॥११७॥

अर्थ—इस प्रकार शरीर के अन्दर रहे हुए वायु के आश्रित सूर्य और चन्द्रनाड़ी का अभ्यास करके काल का निर्णय जानना चाहिए।

बाह्य काल-लक्षण कहते हैं—

अध्यात्मविपर्यासः, संभवेद् व्याधितोऽपि हि ।

तन्निश्चयाय बध्नामि, बाह्यं कालस्य लक्षणम् ॥११८॥

अर्थ--किसी समय व्याधि-(रोग) उत्पन्न होने के कारण भी शरीर-सम्बन्धी वायु उलट-पलट-(विपरीत) हो जाता है। इसलिए काल-ज्ञान का निश्चय करने के लिए काल के बाह्य लक्षणों का वर्णन किया जाता है।

नेत्र-श्रोत्र-शिरोभेदात्, स च त्रिविधलक्षणः ।

निरीक्ष्यः सूर्यमाश्रित्य, यथेष्टमपरः पुनः ॥११९॥

अर्थ- नेत्र, कान और मस्तक के भेद से काल तीन प्रकार का माना गया है। यह सूर्य की अपेक्षा से बाह्यकाल का लक्षण है, और इससे अतिरिक्त बाह्यलक्षण अपनी इच्छा से देखे जाते हैं।

इसमे सूर्य का अवलम्बन लेने की आवश्यकता नही है। अब इसमें नेत्र-लक्षण कहते हैं—

वामे तत्रेक्षणे पद्मं, षोडशच्छदमैन्दवम् ।

जानीयाद् भानवीयं तु, दक्षिणे द्वादशच्छदम् ॥१२०॥

अर्थ—बाएँ नेत्र में सोलह पखुड़ी वाला चन्द्रविकासी कमल है और दाहिने नेत्र में बारह पंखुड़ी वाला सूर्यविकासी कमल है। ऐसा सर्वप्रथम परिज्ञान प्राप्त करना चाहिए।

खद्योतद्युतिवर्णानि, चत्वारिच्छदनानि तु ।

प्रत्येकं तत्र दृश्यानि, स्वांगुलीविनिपीडनात् ॥१२१॥

अर्थ—गुरु के उपदेश के अनुसार अपनी अंगुली से आंख के विशिष्ट भाग को दबाने पर उसमें प्रत्येक कमल की चार पंखुड़ियाँ जुगनू की तरह चमकती हुई दिखाई देती हैं।

सोमाधो भ्रूलताऽपाङ्ग-घ्राणान्तिकदलेषु तु ।

दले नष्टे क्रमान्मृत्युः, षट्-त्रि-युग्मैकमासतः । १२२॥

अर्थ—चन्द्र-सम्बन्धी कमल में नीचे की चार पंखुड़ियां दिखाई न दे तो छह महीने में मृत्यु होती है, भ्रूकुटि के समीप की पंखुड़ी दिखाई न दे तो तीन महीने में, आंख के कोने की पंखुड़ी न दिखाई दे तो दो महीने में और नाक के पास की पंखुड़ी नहीं दिखाई दे तो एक महीने में मृत्यु होती है।

अयमेव क्रमः पद्मे, भानवीये यदा भवेत् ।

दश-पंच-त्रि-द्विदिनैः, क्रमान्मृत्युस्तदा भवेत् ॥१२३॥

अर्थ—इसी क्रमानुसार सूर्यसम्बन्धी कमल की पंखुड़ियां दिखाई नहीं देने पर क्रमशः दस, पांच, तीन और दो दिन में मृत्यु होती है। तथा

एतान्यपीड्यमानानि, द्वयोरपि हि पद्मयोः ।

दलानि यदि वीक्षेत मृत्युर्दिनशतात् तदा ॥१२४॥

अर्थ—यदि आंख को अंगुली से दबाये बिना दोनों कमलों की पंखुड़ियाँ दिखाई न दे तो सौ दिनों में मृत्यु होती है।

अब दो श्लोक द्वारा कान से होने वाला आयुष्यज्ञान कहते हैं—

ध्यात्वा हृद्यष्टपत्राब्ज श्रोत्रे हस्ताग्र-पोड़िते।
न श्रूयेताग्निनिर्घोषो, यदि स्व. पंचवासरान् ॥१२५॥

दश वा पंचदश वा, विंशतिं पंचविंशतिम्।
तदा पंच-चतुस्त्रिद्व्येकवर्षे मरणं क्रमात् ॥१२६॥

अर्थ हृदय में आठ पंखुड़ी वाले कमल का चिन्तन करके दोनों हाथों की तर्जनी अंगुलियों को दोनों कानों में डालने पर यदि अपना अग्नि-निर्घोष (शब्द) पांच दिन तक सुनाई न दे तो पांच वर्ष, दस दिन तक सुनाई न दे तो चार वर्ष, पन्द्रह दिन तक सुनाई न दे तो तीन वर्ष, बीस दिन तक सुनाई न दे तो दो वर्ष और पच्चीस दिन तक नहीं सुनाई दे तो एक वर्ष में मृत्यु होती है। तथा -

एक-द्वि-त्रि-चतुः-पंच-चतुर्विंशत्यहःक्षयात्।
षडादि षोडशदिनान्यान्तराण्यपि शोधयेत् ॥१२७॥

अर्थ—यदि छह दिन से ले कर सोलह दिन तक अगुली से दबाने पर भी कान में अग्नि का शब्द न सुनाई दे तो पांच वर्ष के दिनों में से क्रमशः एक, दो, तीन, चार आदि सोलह चौबीसियां कम करते हुए मृत्यु होती है। वह इस प्रकार—पांच दिन तक कान में शब्द सुनाई न दे तो पांच वर्ष में मृत्यु होती है, यह बात पहले कह गये हैं। उसके बाद छह दिन तक अग्नि का शब्द सुनाई न दे तो पांच वर्ष में २४ दिन कम करना अर्थात् १८०० दिनों में से २४ दिन कम यानी १७७६ दिनों में मृत्यु होती है। सात दिन तक सुनाइ न देने पर १७७६ दिनों में से दो चौबीस अर्थात् ४८ दिन कम करने से १७२८ दिन में मृत्यु होती है। आठवें दिन भी नहीं सुनाई दे तो तीन चौबीस=७२ दिन काम करने से १६५६ दिन में मृत्यु होती है। नौ दिन तक सुनाई न दे तो चार चौबीस=९६ दिन कम करने से १५६० दिनों में मृत्यु होती है। दसवें दिन भी सुनाई न दे तो पूर्वोक्त में से पांच चौबीस=१२० दिन कम करने से १४४० दिन अर्थात् चार वर्ष में मृत्यु होती है। इसी तरह ग्यारह दिन से सोलह दिन और इक्कीस दिन तक उपर्युक्त चौबीस कम करके मरणकाल का निश्चय करना चाहिए।

अब मस्तक से कालज्ञान का निर्णय बताते हैं--

ब्रह्मद्वारे प्रसर्पन्तीं, पंचाहं धूममालिकाम्।
न चेत् पश्येत् तदा ज्ञेयो, मृत्युः संवत्सरैस्त्रिभिः ॥१२८॥

अर्थ—ब्रह्मरन्ध्र में फैलती हुई (गुरु महाराज के उपदेश से दर्शनीय) धूमरेखा यदि पांच दिन तक दृष्टिगोचर न हो तो तीन वर्ष में मृत्यु होती है।

अन्य प्रकार से कालज्ञान छह श्लोकों द्वारा बताते हैं—

प्रतिपद्दिवसे काल-चक्रज्ञानाय शौचवान्।
आत्मनो दक्षिणं पाणिं शुक्लपक्षं प्रकल्पयेत् ॥१२९॥

अर्थ—शुक्लपक्ष की प्रतिपदा के दिन पवित्र हो कर कालचक्र को जानने के लिए अपने दाहिने हाथ की शुक्लपक्ष के रूप में कल्पना करना चाहिए। तथा—

अधोमध्योर्ध्वपर्वाणि, कनिष्ठांगुलिगानि तु ।
क्रमेण प्रतिपत्षष्ठ्येकादशीः कल्पयेत् तिथीः ॥१३०॥
अवशेषाङ्गुली-पर्वाण्यवशेष-तिथीस्तथा ।
पंचमी-दशमी-राकाः, पर्वाण्यङ्गुष्ठगानि तु ॥१३१॥

अर्थ—अपनी कनिष्ठा अंगुली के नीचे के पोर में प्रतिपदा, मध्यम पोर में षष्ठी तिथि और ऊपर के पोर में एकादशी तिथि की कल्पना करे। अंगूठे के निचले, मध्य के और ऊपर के पोर में पंचमी, दशमी और पूर्णिमा की कल्पना करनी चाहिए। अनामिका अंगुली के तीनों पोरों में दूज, तीज और चौथ की; मध्यमा के तीनों पोरों में सप्तमी, अष्टमी और नवमी की तथा तर्जनी के तीनों पोरों में द्वादशी, त्रयोदशी और चतुर्दशी की कल्पना करनी चाहिए,

वामपाणि कृष्णपक्षं, तिथीस्तद्वच्च कल्पयेत् ।
ततश्च निर्जने देशे, बद्धपद्मासनः सुधी ॥१३२॥
प्रसन्नः सितसध्यानः, कोशीकृत्य करद्वयम् ॥
ततस्तदन्तःशून्यं तु, कृष्णं वर्णं विचिन्तयेत् ॥१३३॥

अर्थ—कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा के दिन बांए हाथ में दाहिने हाथ के समान कृष्ण पक्ष की तिथियों की कल्पना करे, उसके बाद बुद्धिशाली मनुष्य साधक निर्जन में जा कर पद्मासन लगा कर बैठे और प्रसन्नतापूर्वक उज्ज्वल ध्यान करके, दोनों हाथों को कमल—कोश के आकार में जोड़ ले और हाथ में काले वर्ण के एक बिन्दु का चिन्तन करे। तथा—

उद्घाटितकराम्भोजस्ततो यत्राङ्गुलीतिथौ ।
वीक्ष्यते कालबिन्दुः स, काल इत्यत्र कीर्त्यते ॥१३४॥

अर्थ उसके बाद हस्तकमल खोलने पर जिस-जिस अंगुली के अन्दर कल्पित अंधेरी या उजली तिथि में काला बिन्दु दिखाई दे, उसी अंधेरी या उजली तिथि के दिन मृत्यु होगी, ऐसा समझ लेना चाहिए।

कालनिर्णय के लिए अन्य उपाय भी बताते हैं—

क्षुतविण्मेदमूत्राणि, भवन्ति युगपद् यदि ।
मासे तत्र तिथौ तत्र, वर्षान्ते मरणं तदा ॥१३५॥

अर्थ—जिस मनुष्य को छींक, विष्ठा, वीर्यपात और पेशाब ; ये चारों एक साथ हो जाएं, उसकी एक वर्ष के अन्त में उसी मास और उसी तिथि में मृत्यु होगी। तथा—

रोहिणीं शशभृल्लक्ष्म, महापथमरून्धतीम् ।
ध्रुवं च न यदा पश्येद् वर्षेण स्यात् तदा मृतिः ॥१३६॥

अर्थ—रोहिणी नक्षत्र, चन्द्रमा चिह्न, छायापथ—आकाशमार्ग, अरूंधती तारा और ध्रुव यह पाँच या इनमें से एक भी दिखाई न दे तो उसकी एक वर्ष में मृत्यु होती है। इस विषय में टीका में अन्य आचार्य का मत दो श्लोकों द्वारा उद्धृत किया गया है, वह इस प्रकार है—

"अरून्धतीं ध्रुवं चैव, विष्णोस्त्रीणि पदानि च।
क्षीणायुषो न पश्यन्ति, चतुर्थं मातृमण्डलम्।
अरून्धती भवेत् जिह्वा, ध्रुवो नासाग्रमुच्यते।
तारा विष्णुपदं प्रोक्तं, भ्रुवौ स्यान्मातृमण्डलम्॥

'जिनकी आयु क्षीण हो चली है, वे अरूंधती, ध्रुव, विष्णुपद और मातृमण्डल को नहीं देख सकते। यहाँ अरून्धती का अर्थ जिह्वा, ध्रुव का अर्थ नासिका का अग्रभाग, विष्णुपद का अर्थ दूसरे के नेत्र की पुतली देखने पर दिखाई देने वाली अपनी पुतली और मातृमण्डल का अर्थ भ्रूकुटी जानना चाहिए।

स्वप्ने स्वं भक्ष्यमाणं श्व-गृध्र-काक-निशाचरैः।
उह्यमानं खरोष्ट्राद्यैर्यदा, पश्येत् तदा मृतिः॥१३७॥

अर्थ—यदि कोई मनुष्य स्वप्न में कुत्ते, गिद्ध, कौए या अन्य निशाचर आदि जीव द्वारा अपने शरीर को भक्षण करते देखे या गधा, ऊंट सूअर, कुत्ते आदि पर सवारी करता देखे या उनके द्वारा अपने को घसीट कर ले जाते देखे तो उसकी एक वर्ष में मृत्यु होगी। तथा—

रश्मिनिर्मुक्तादित्यं, रश्मियुक्तं हविर्भुजम्।
यदा पश्येद् विपद्येत, तदैकादशमासतः॥१३८॥

अर्थ—यदि कोई पुरुष सूर्य को किरणरहित देखे और अग्नि को किरण-युक्त देखे तो वह ग्यारह मास में मर जाता है।

वृक्षाग्रे कुत्रचित् पश्येद् गन्धर्वनगरं यदि।
पश्येत्प्रेतान् पिशाचान् वा,दशमे मासि तन्मृतिः॥१३९॥

अर्थ—यदि किसी मनुष्य को किसी स्थान पर गंधर्वनगर का प्रतिबिम्ब वृक्ष पर दिखाई दे अथवा प्रेत या पिशाच प्रत्यक्षरूप में दिखाई दे तो उसकी दसवें महीने में मृत्यु होती है।

छर्दिर्मूत्रं पुरीषं वा सुवर्ण-रजतानि वा।
स्वप्ने पश्येद् यदि तदा, मासान्नवैव जीवति॥१४०॥

अर्थ—यदि कोई व्यक्ति स्वप्न में उलटी, मूत्र, विष्ठा अथवा सोना या चाँदी देखता है तो वह नौ महीने तक जीवित रहता है।

स्थूलोऽकस्मात् कृशोऽकस्मात् कस्मादतिकोपनः।
अकस्मादतिभीरुर्वा, मासानष्टैव जीवति।१४१॥

अर्थ—जो मनुष्य बिना कारण अकस्मात् ही मोटा हो जाए या अकस्मात् ही दुबला हो जाए अथवा अकस्मात् ही क्रोधी स्वभाव का हो जाए या डरपोक हो जाए तो वह आठ महीने तक ही जीवित रहता है।

समग्रमपि विन्यस्तं, पांशौ वा कर्दमेऽपि वा।
स्याच्चेत्खण्डं पदं सप्तमास्यन्ते म्रियते तदा ॥१४२॥

अर्थ— यदि धूल पर या कीचड़ में पुरा पैर रखने पर भी जिसे वह अधूरा पड़ा हुआ दिखाई दे, उसकी सात महीने में मृत्यु होती है। तथा—

तारां श्यामां यदा पश्येत्, शुष्येदधरतालु च।
न स्वांगुलित्रयं मायाद्, राजदन्तद्वयान्तरे ॥१४३॥
गृध्रः काकः कपोतो वा, क्रव्यादोऽन्योऽपि वा खगः।
निलीयेत यदा मूर्ध्नि षण्मास्यन्ते मृतिस्तदा ॥१४४॥

अर्थ—यदि अपनी आँख की पुतली एकदम काली दिखाई दे, किसी बीमारी के बिना ही ओठ और तालु सूखने लगें, मुंह चौड़ा करने पर ऊपर और नीचे के मध्यवर्ती दांतों के बीच अपनी तीन अंगुलियाँ नहीं समाएँ। तथा गिद्ध, काक, कबूतर या कोई भी मांसभक्षी पक्षी मस्तक पर बैठ जाए तो उसको छह महीने के अन्त में मृत्यु होती है।

प्रत्यहं पश्यताऽनभ्रेऽह्न्यापूर्य जलैर्मुखम्।
विहिते पूत्कृते शक्रधनुस्तु तत्र दृश्यते ॥१४५॥
यदा न दृश्यते तत्तु मासैः षड्भिर्मृतिस्तदा।
परनेत्रे स्वदेहं चेत् न पश्येन्मरणं तदा ॥१४६॥

अर्थ—हमेशा मेघरहित दिन के समय मुंह में पानी भर कर आकाश में फुरर् करते हुए ऊपर उछालने पर और कुछ दिन तक ऐसा करने पर उस पानी में इन्द्रधनुष-सा दिखाई देता है। परन्तु जब वह इन्द्रधनुष न दिखाई दे तो उस व्यक्ति की छह महीने में मृत्यु होती है। इसके अतिरिक्त यदि दूसरे की आँख की पुतली में अपना शरीर दिखाई न दे तो भी समझ लेना कि छह मास में मृत्यु होगी।

कूर्परौ न्यस्य जान्वोर्मूर्ध्न्येकीकृत्य करौ सदा।
रम्भाकोशनिभां छायां, लक्षयेदन्तरोद्भवाम् ॥१४७॥
विकासि च दलं तत्र, यदैकं परिलक्ष्यते।
तस्यामेव तिथौ मृत्युः षण्मास्यन्ते भवेत् तदा ॥१४८॥

अर्थ—दोनों घुटनों पर दोनों हाथों की कोहनियों को टेक करके अपने हाथ के दोनों पंजे मस्तक पर रखे और ऐसा करने पर नभ में बादल न होने पर भी दोनों हाथों के बीच में डोडे के समान छाया उत्पन्न होती है, तो उसे हमेशा देखते रहना चाहिए। उस

छाया में एक पत्र जिस दिन विकसित होता हुआ दिखाई दे तो समझ लेना कि उसी दिन उसी तिथि को छह महीने के अन्त में मृत्यु होगी।

इन्द्रनीलसमच्छाया वक्रीभूता सहस्रशः।
मुक्ताफलालङ्करणाः पन्नगाः सूक्ष्ममूर्तयः ॥१४९॥
दिवा सम्मुखमायान्तो दृश्यन्ते व्योम्नि सन्निधौ।
न दृश्यन्ते यदा ते तु षण्मास्यन्ते मृतिस्तदा ॥१५०॥

अर्थ—जब आकाश बादलों से रहित हो, उस समय मनुष्य धूप में स्थिर रहे, तब उसे इन्द्रनील-मणि की कान्ति के समान टेढ़े-मेढ़े हजारों मोतियों के अलंकार वाले तथा सूक्ष्म आकृति के सर्प सन्मुख आते हुए दिखाई देते हैं, किन्तु जब वे सर्प न दिखाई दें तो समझना कि छह महीने के अन्त में उसकी मृत्यु होगी।

स्वप्ने मुण्डितमस्तिष्कं, रक्तगन्धस्रगम्बरम्।
पश्येद् याम्यां खरे यान्तं, स्वं योऽब्दार्धं स जीवति ॥१५१॥

अर्थ—जो मनुष्य स्वप्न में अपना मस्तक मुंडा हुआ, तेल की मालिश किये हुए लाल रंग का पदार्थ शरीर पर लेप किया हुआ, गले में लाल रंग की माला पहने हुए, और लाल रंग के वस्त्र पहन कर गधे पर चढ़ कर दक्षिणदिशा की ओर जाता हुआ देखता है, उसकी छह महीने में मृत्यु होती है।

घण्टानादो रतान्ते चेद्, अकस्मादनुभूयते।
पंचता पंचमास्यन्ते तदा भवति निश्चितम् ॥१५२॥

अर्थ—जिसको विषय-सेवन करने के बाद अकस्मात् ही शरीर में घंटे की आवाज सुनाई दे तो निश्चय ही उसकी पांच मास के अन्त में मृत्यु होगी। तथा—

शिरोवेगात् समारूह्य, कृकलासो व्रजन् यदि।
दध्याद् वर्णत्रयं पंचमास्यन्ते मरणं तदा ॥१५३॥

अर्थ—जिस व्यक्ति के सिर पर कदाचित् कोई गिरगिट तेजी से चढ़ जाए और जाते समय तीन बार रंग बदले तो, उस व्यक्ति की मृत्यु पांच मास के अन्त में होती है।

वक्रीभवति नासा चेद्, वर्तुलीभवतो दृशौ।
स्व-स्थानाद् भ्रश्यतः कर्णौ, चतुर्मास्यां तदा मृति ॥१५४॥

अर्थ—यदि किसी मनुष्य की नाक टेढ़ी हो जाए, आँखें गोल हो जाएँ और कान आदि अन्य अंग अपने स्थान से भ्रष्ट या शिथिल हो जाएँ तो उसकी चार महीने में मृत्यु होती है।

कृष्णं कृष्णपरीवारं लोहदण्डधरं नरम्।
यदा स्वप्ने निरीक्षेत, मृत्युर्मासैस्त्रिभिस्तदा ॥१५५॥

अर्थ—यदि स्वप्न में काले रंग का काले परिवार वाला और लोहदण्डधारी मनुष्य दिखाई दे तो उसकी मृत्यु तीन महीने में होती है।

इन्दुमुष्णं रविं शीतं, छिद्रं भूमौ रवावपि ।
जिह्वां श्यामां मुखं कोकनदाभं च यदेक्षते ॥१५६॥
तालुकम्पो मनःशोको, वर्णोऽङ्गेऽनेकधा यदा ।
नाभेश्चाकस्मिकी हिक्का मृत्युर्मासद्वयात् तदा ॥१५७॥

अर्थ—यदि किसी को चन्द्रमा उष्ण, सूर्य ठंडा, पृथ्वी और सूर्यमण्डल में छिद्र दिखाई दे, अपनी जीभ काली, मुख लालकमल के समान दिखाई दे ; और जिसके तालु में कम्पन हो, निष्कारण मन में शोक हो, शरीर में अनेक प्रकार के रंग पैदा होने लगें और नाभिकमल से अकस्मात् हिचकी उठे तो उसकी मृत्यु दो मास में हो जाती है ।

जिह्वा नास्वादमादत्ते मुहुः स्खलति भाषणे ।
श्रोत्रे न शृणुतः शब्दं, गन्धं वेत्ति न नासिका ।१५८।
स्पन्देते नयने नित्यं, दृष्टवस्तुन्यपि भ्रमः ।
नक्तमिन्द्रधनुः पश्येत्, तथोल्कापतनं दिवा ॥१५९॥
न च्छायामात्मनः पश्येद् दर्पणे सलिलेऽपि वा ।
अनब्दां विद्युतं पश्येत् शिरोऽकस्मादपि ज्वलेत् ॥१६०॥
हंस-काक-मयूराणां, पश्येच्च क्वापि संहतिम् ।
शीतोष्णखरमृद्वादेरपि, स्पर्शं न वेत्ति च ॥१६१॥
अमीषां लक्ष्मणां मध्याद्, यदेकमपि दृश्यते ।
जन्तोर्भवति मासेन, तदा मृत्युर्न संशयः ॥१६२॥

अर्थ—यदि किसी की जीभ स्वाद को न पहचान सकती हो, बोलते समय बार-बार लड़खड़ाती हो, कानों से शब्द न सुनाई देता हो और नासिका गन्ध को न जान पाती हो, नेत्र हमेशा फड़कते रहें, देखी हुई वस्तु में भी भ्रम उत्पन्न होने लगे, रात में इन्द्रधनुष देखे, दिन में उल्कापात दिखाई दे ; दर्पण में अथवा पानी में अपनी आकृति दिखाई न दे, बादल न होने पर भी बिजली दिखाई दे, और अकस्मात् मस्तक में जलन हो जाए ; हंसों, कौओं और मयूरों का झुंड कहीं भी दिखाई दे, वायु के ठंडे, गर्म, कठोर या कोमल स्पर्श का ज्ञान भी नष्ट हो जाए । इन सभी लक्षणों में से कोई भी एक लक्षण दिखाई दे तो उस मनुष्य की की निःसन्देह एक महीने में मृत्यु हो जाती है ।

शीते हकारे फुत्कारे, चोष्णे स्मृतिगतिक्षये ।
अंगपंचकशैत्ये च, स्याद् दशाहेन पंचता ॥१६३॥

अर्थ—अपना मुख फाड़ कर 'ह' अक्षर का उच्चारण करते समय श्वास ठंडा निकले, फूंक के साथ श्वास बाहर निकालते समय गर्म प्रतीत हो, स्मरणशक्ति लुप्त हो जाए, चलने फिरने की शक्ति खत्म हो जाए, शरीर के पांचों अंग ठंडे पड़ जाएँ तो उसकी मृत्यु दस दिन में होती है । तथा—

अर्धोष्णमर्धशीत च शरीरं जायते यदा ।

ज्वालाऽकस्माज्ज्वलेद् वाऽङ्गे, सप्ताहेन तदा मृतिः ॥१६४॥

अर्थ—यदि किसी का आधा शरीर उष्ण और आधा ठंडा हो जाए और अकस्मात् ही शरीर में ज्वालाएं जलने लगें तो उसकी एक सप्ताह में मृत्यु होती है। तथा—

स्नातमात्रस्य हृत्पादौ तत्क्षणाद् यदि शुष्यति ।

दिवसे जायते षष्ठे, तदा मृत्युरसंशयम् ॥१६५॥

अर्थ—यदि स्नान करने के बाद तत्काल ही छाती और पैर सूख जाएं तो निःसंदेह छठे दिन उसकी मृत्यु हो जाती है। तथा—

जायते दन्तघर्षश्चेत् शवगन्धश्च दुःसहः ।

विकृता भवति च्छाया, त्र्यहेन म्रियते तदा ॥१६६॥

अर्थ- जो मनुष्य दांतों को कटाकट पीसता-घिसता रहे जिसके शरीर में से मुर्दे के समान दुर्गन्ध निकलती रहे, या जिसके शरीर का रंग बार-बार बदलता रहे, या जिसकी छाया बिगड़ती रहे उसकी तीन दिन में मृत्यु होती है।

न स्वनासां स्वजिह्वां न, न ग्रहान् नामला दिशः ।

नापि सप्तऋषीन् द्यहि, पश्यति म्रियते तदा ॥१६७॥

अर्थ—जो मनुष्य अपनी नाक को, अपनी जीभ को, आकाश में ग्रहों को, नक्षत्र को, तारों को, निर्मल दिशाओं को, सप्तर्षि ताराश्रेणि को नहीं देखता; वह दो दिन में मर जाता है।

प्रभाते यदि वा सायं, ज्योत्स्नावत्यामथो निशि ।

प्रवितत्य निजौ बाहू, निजच्छायां विलोक्य च ॥१६८॥

शनैरुत्क्षिप्य नेत्रे स्वच्छायां पश्येत् ततोऽम्बरे ।

न शिरो दृश्यते तस्यां यदा स्यान्मरणं तदा ॥१६९॥

नेक्ष्यते वामबाहुश्चेत् पुत्रदारक्षयस्तदा ।

यदि दक्षिणबाहुर्नेक्ष्यते भ्रातृक्षयस्तदा ॥१७०॥

अदृष्टे हृदये मृत्युः उदरे च धनक्षयः ।

गुह्ये पितृविनाशस्तु व्याधिरूरुयुगे भवेत् ॥१७१॥

अदर्शने पादयोश्च, विदेशगमनं भवेत् ।

अदृश्यमाने सर्वाङ्गे, सद्यो मरणमादिशेत् ॥१७२॥

अर्थ—कोई मनुष्य प्रातःकाल या सायंकाल अथवा शुक्लपक्ष की रात्रि में प्रकाश में खड़ा हो कर अपने दोनों हाथ [illegible] की तरह नीचे लटका कर कुछ समय तक अपनी छाया देखता रहे, उसके बाद नेत्रों को धीरे-धीरे छाया से हटा कर ऊपर आकाश में

देखने पर उसे पुरुष की आकृति दिखाई देगी। यदि उस आकृति में उसे अपना मस्तक न दिखाई दे तो समझ लेना कि मेरी मृत्यु होने वाली है, यदि उसे अपना बांई भुजा न दिखाई दे तो पुत्र या स्त्री की मृत्यु होती है और दाहिनी भुजा न दिखाई दे तो भाई की मृत्यु होती है। यदि अपना हृदय न दिखाई दे तो अपनी मृत्यु होती है; और पेट न दिखाई दे तो उसके धन का नाश होता है। यदि अपना गुह्यस्थान न दिखाई दे तो अपने पिता आदि पूज्य-जन की मृत्यु होती है, और दोनों जांघें नहीं दिखाई दें तो शरीर में व्याधि उत्पन्न होती है। यदि पैर न दीखें तो उसे विदेशयात्रा करनी पड़ती है, और अपना सम्पूर्ण शरीर दिखाई न दे तो उसकी शीघ्र ही मृत्यु होती है।

काल ज्ञान के अन्य उपाय कहते हैं—

विद्यया दर्पणाङ्गुष्ठ-कुड्यासि (दि) ष्ववतारिता।
विधिना देवता पृष्टा, ब्रूते कालस्य निर्णयम् ॥१७३॥
सूर्येन्दुग्रहणे विधौ, नरवीरे! ठ ठेत्यसौ।
साध्या दशसहस्रयाऽष्टोत्तरया जपकर्मतः ॥१७४॥
अष्टोत्तरसहस्रस्य, जपात् कार्यक्षणे पुनः।
देवता लीयतेऽस्यादौ, ततः कन्याऽऽह निर्णयम् ॥१७५॥
सत्साधकगुणाकृष्टा, स्वयमेवाथ देवता।
त्रिकाल-विषयं ब्रूते, निर्णयं गतसंशयम् ॥१७६॥

अर्थ—गुरु महाराज के द्वारा कथित विधि के अनुसार विद्या के द्वारा दर्पण, अंगूठे दीवार या तलवार आदि पर विधिपूर्वक उतारी हुई देवता आदि की आकृति प्रश्न करने पर काल (मृत्यु) का निर्णय बता देती है ॥१७३॥ सूर्यग्रहण या चन्द्रग्रहण का समय हो, तब 'ॐ नरवीरे ठः ठः स्वाहा' इस विद्या का दस हजार आठ बार जाप करके इसे सिद्ध कर लेना चाहिए। १७४॥ जब इस विद्या से कार्य लेना हो तो एक हजार आठ बार जाप करने से वह दर्पण, तलवार आदि पर अवतरित हो जाती है ॥१७५॥ उसके बाद दर्पण आदि में एक कुमारी (निर्दोष) कन्या को दिखलाना चाहिए। जब कन्या को उसमें देवता का रूप दिखाई दे, तब उससे आयु का प्रश्न करके निर्णय करना चाहिए। अथवा उत्तम प्रकार के साधक के गुणों से आकृष्ट हो कर देवता अपने आप ही निःसंदेह त्रिकाल-सम्बन्धी आयु का निर्णय बता देगा।

अब पांच श्लोकों द्वारा शकुन द्वारा कालज्ञान बताते हैं—

अथवा शकुनाद् विद्यात्, सज्जो वा यदि वाऽऽतुरः।
स्वतो वा परतो वाऽपि, गृहे वा यदि वा बहिः ॥१७७॥
अहि-वृश्चिक-कृम्याखु-गृहगोधा-पिपीलिकाः।
यूका-मत्कुण-लूताश्च, वल्मीकोऽथोपदेहिकाः ॥१७८॥

कीटिका घृतवर्णाश्च, भ्रमर्यश्च यदाऽधिकाः ।
उद्वेग-कलह-व्याधि-मरणानि तदा दिशेत् ॥१७९॥

अर्थ--अथवा कोई पुरुष नीरोगी हो या रोगी हो अपने आप से और दूसरे घर से, के भीतर हो या घर के बाहर शकुन के द्वारा कालनिर्णय करे। जैसे—सर्प, बिच्छू, कीड़े, चूहे, छिपकली, चिटियाँ, जूँ, खटमल, मकड़ी, दीमक, घृतवर्ण की चीटियाँ, भौंरे आदि बहुत अधिक परिमाण में निकलते दीखें तो उद्वेग, क्लेश, व्याधि या मृत्यु होती है।

उपानद्-वाहनच्छत्र-शस्त्रच्छायांग-कुन्तलान् ।
चंच्वा चुम्बेद् यदा काकस्तदाऽऽसन्नैव पंचता ॥१८०॥

अश्रुपूर्णदृशो गावो गाढं पादैर्वसुन्धराम् ।
खनन्ति चेत् तदानीं स्याद्, रोगो मृत्युश्च तत्प्रभोः ॥१८१॥

अर्थ—जूते, हाथी, घोड़े आदि किसी सवारी को अथवा छत्र, शस्त्र, परछांई, शरीर या केश को कौआ चुम्बन कर ले तो मृत्यु नजदीक समझो, यदि आंखों से आंसू बहाती हुई गायें अपने पैरों से जोर से पृथ्वी को खोदने लगे तो उसके स्वामी को बीमारी या मृत्यु होगी।

अन्य प्रकार से कालज्ञान कहते हैं—

अनातुरकृते ह्येतत् शकुनं परिकीर्तितम् ।
अधुनाऽऽतुरमुद्दिश्य, शकुनं परिकीर्त्यते ॥१८२॥

अर्थ—पूर्व श्लोकों में स्वस्थ पुरुष के कालनिर्णय के लिए शकुन बताया गया है। अब रोगी मनुष्य को लक्ष्य करके शकुन कहते हैं।

रोगी के शकुन में श्वान-सम्बन्धी शकुन कहते हैं—

दक्षिणस्यां वलित्वा चेत् श्वा गुदं लेढ्युरोऽथवा ।
लांगूलं वा तदा मृत्युः एक-द्वि-त्रिदिनैः क्रमात् ॥१८३॥

शेते निमित्तकाले चेत्, श्वा संकोच्याखिलं वपुः ।
धूत्वा कर्णौ वलित्वाऽङ्गं धुनोत्यथ ततो मृतिः ॥१८४॥

यदि व्यात्तमुखो लालां मुञ्चन् संकोचितेक्षणः ।
अंग संकोच्य शेते श्वा, तदा मृत्युर्न संशयः ॥१८५॥

अर्थ—रोगी मनुष्य जब अपने आयुष्य-सम्बन्धी शकुन देख रहा हो, उस समय यदि कुत्ता दक्षिणदिशा में मुड़ कर अपनी गुदा को चाटे तो उसकी एक दिन में मृत्यु होती है, यदि हृदय को चाटे तो दो दिन में और पूंछ चाटे तो तीन दिन में मृत्यु होती है। यदि रोगी निमित्त देख रहा हो उस समय कुत्ता अपने पूरे शरीर को सिकोड़ कर सोया हो अथवा कानों

को पटपटा रहा हो या शरीर को मोड़ कर हिला रहा हो तो रोगी की मृत्यु होगी। यदि कुत्ता मुंह फाड़ कर लार टपकाता हुआ आँख बन्द कर और शरीर को सिकोड़ कर सोता हुआ दिखाई दे तो रोगी की निश्चित ही मृत्यु होगी।'

अब दो श्लोकों के द्वारा कौए का शकुन कहते हैं—

यद्यातुरगृहस्योर्ध्वं, काकपक्षिगणो मिलन्।
त्रिसन्ध्यं दृश्यते नूनं, तदा मृत्युरुपस्थितः ॥१८६॥

महानसेऽथवा शय्यागारे काका क्षिपन्ति चेत्।
चर्मास्थिरज्जु केशान् वा, तदाऽऽसन्नैव पंचता ।१८७।

अर्थ— यदि रोगी मनुष्य के घर पर प्रभात, मध्याह्न और शाम के समय अर्थात् तीनों सध्याओं के समय में कौओं का झुंड मिल कर कोलाहल करे तो समझ लेना कि मृत्यु निकट है। तथा रोगी के भोजनगृह या शयनगृह पर कौए चमड़ा, हड्डी, रस्सी या केश डाल दें तो समझना चाहिए कि रोगी की मृत्यु समीप ही है।'

अब नौ श्लोकों द्वारा उपश्रुति से काल-निर्णय बताते हैं—

अथवोपश्रुतेर्विद्याद् विद्वान् कालस्य निर्णयम्।
प्रशस्ते दिवसे स्वप्नकाले शस्तां दिश श्रितः ॥१८८॥

पूत्वा पंच नमस्कृत्याऽऽचार्यमंत्रेण वा श्रुती।
गेहाच्छन्नश्रुतिर्गच्छेत् शिल्पिचत्वरभूमिषु ॥१८९॥

चन्दनेनार्चयित्वा क्ष्मां, क्षिप्त्वा गन्धाक्षतादि च।
सावधानस्ततस्तत्रोपश्रुतेः, शृणुयाद् ध्वनिम् ।१९०॥

अर्थान्तरापदेश्यश्च, सरूपश्चेति स द्विधा।
विमर्शगम्यस्तत्राद्यः स्फुटोक्तार्थोऽपरः पुनः ॥१९१॥

यथैष भवनस्तम्भ, पंच-षड्भिरेव दिनैः।
पक्षैर्मासैरथो वर्षैर्भङ्क्ष्यते यदि वा न वा ॥१९२॥

मनोहरतरश्चासीत्, किं त्वयं लघु भङ्क्ष्यते।
अर्थान्तरापदेश्या स्याद्, एवमादिरूपश्रुतिः ॥१९३॥

एषा स्त्रीः पुरुषो वाऽसौ, स्थानादस्मान्न यास्यति।
दास्यामो न वयं गन्तुं, गन्तुकामो न चाप्ययम् ॥१९४॥

विद्यते गन्तुकामोऽयम् अहं च प्रेषणोत्सुकः।
तेन यास्यत्यसौ शीघ्रं, स्यात् सरूपेत्युपश्रुतिः ॥१९५॥

कर्णोद्घाटन – संजातोपश्रुत्यन्तरमात्मनः ।
कुशलाः कालमासन्नम् अनासन्नं च जानते ॥१९६॥

अर्थ–अथवा विद्वान्पुरुषों को उपश्रुति से आयुष्य-काल जान लेना चाहिए। उसकी विधि इस प्रकार है :– जिस दिन भद्रा आदि अपयोग न हो, ऐसे शुभदिन में सोने के समय अर्थात् एक प्रहर रात्रि व्यतीत हो जाने के बाद शयन काल में उत्तर, पूर्व या पश्चिम दिशा में प्रयाण करना। जाते समय पांच नवकारमन्त्र से या सूरिमन्त्र से अपने दोनों कान पवित्र करके किसी का शब्द कान में सुनाई न दे इस प्रकार बन्द करके घर से बाहर निकले। और शिल्पियों (कारीगरों) के घरों की ओर चौक अथवा बाजार की ओर पूर्वोक्त दिशाओं में गमन करे। वहाँ जाकर भूमि की चन्दन से अर्चना करके सुगन्धित चूर्ण, अक्षत आदि डाल कर सावधान हो कर कान खोल कर लोगों के शब्दों को सुने। वे शब्द दो प्रकार के होते हैं १—अर्थान्तरापदेश्य और २ -स्वरूप-उपश्रुति। प्रथम प्रकार का शब्द सुना जाए तो उसका अभीष्ट अर्थ प्रकट न करे और दूसरा स्वरूप-उपश्रुति अर्थात् जैसा शब्द सुना हो, उसी अर्थ को प्रकट करना। अर्थान्तरापदेश्य-उपश्रुति का अर्थ विचार (तर्क) करने पर ही जाना जा सकता है, जैसे कि 'इस मकान का स्तम्भ पांच-छह दिनों में, पांच-छह पखवाडों में, पांच-छह महीनों में या पांच-छह वर्षों में टूट जायगा, अथवा नहीं टूटेगा, यह स्तंभ अतिमनोहर है, परन्तु यह छोटा है, जल्दी ही नष्ट हो जायगा।" इस प्रकार की उपश्रुति 'अर्थान्तरापदेश्य' कहलाती है। यह सुन कर अपनी आयुष्य का अनुमान लगा देना चाहिए। जितने दिन, पक्ष, महीने, वर्ष में स्तम्भ टूटने की ध्वनि सुनाई दी हो, उतने ही दिन आदि में आयु की समाप्ति समझना चाहिए। दूसरी स्वरूप-उपश्रुति इस प्रकार होती है—'यह स्त्री इस स्थान से नहीं जायगी, यह पुरुष यहां से जाने वाला नहीं है अथवा हम उसे जाने नहीं देंगे और वह जाना भी नहीं चाहता या अमुक यहाँ से जाना चाहता है, मैं उसे भेजना चाहता हूं, अतः अब वह शीघ्र ही चला जाएगा, यह स्वरूप उपश्रुति कहलाती है। इसका अभिप्राय यह है कि यदि जाने की बात सुनाई दे तो आयु का अन्त निकट है और रहने की बात सुने तो मृत्यु अभी नजदीक नहीं है। इस प्रकार कान खोल कर स्वयं सुनी हुई उपश्रुति के अनुसार चतुर पुरुष अपनी मृत्यु निकट या दूर है, इसे जान लेते हैं।

अब शनैश्चर-पुरुष से कालज्ञान का उपाय चार श्लोकों के द्वारा कहते हैं—

शनिः स्याद् यत्र नक्षत्रे, तद् दातव्यं मुखे ततः ।
चत्वारि दक्षिणे पाणौ, त्रीणि त्रीणि च पादयोः ॥१९७॥

चत्वारि वामहस्ते तु क्रमशः पंच वक्षसि ।
त्रीणि शीर्षे दृशोर्द्वे द्वे, गुह्य एकं शनौ नरे ॥१९८॥

निमित्तसमये तत्र, पतितं स्थापना-क्रमात् ।
जन्मर्क्षं नामऋक्षं वा गुह्यदेशे भवेद् यदि ॥१९९॥

दृष्टं श्लिष्टं ग्रहैर्दुष्टैः सौम्यैरप्रेक्षितायुतम् ।
सज्जस्यापि तदा मृत्युः का कथा रोगिणः पुनः?॥२००॥

अर्थ—शनैश्चरपुरुष के समान आकृति बना कर फिर निमित्त देखते समय जिस नक्षत्र में शनि हो, उसके मुख में वह नक्षत्र स्थापित करना चाहिए। उसके बाद क्रमशः आने वाले चार नक्षत्र दाहिने हाथ में स्थापित करना, तीन-तीन दोनों पैरों में चार बाएँ हाथ में, पांच वक्षस्थल में, तीन मस्तक में, दो-दो नेत्रों में और एक गुह्यस्थान में स्थापित करना चाहिए। बाद में निमित्त देखने के समय में स्थापित किये हुए क्रम से जन्म-नक्षत्र अथवा नाम-नक्षत्र यदि गुह्यस्थान में आया हो और उस पर दुष्टग्रह की दृष्टि पड़ती हो अथवा उसके साथ मिलाप हो तथा सौम्य ग्रह की दृष्टि या मिलाप न होता हो तो निरोगी होने पर भी वह मनुष्य मर जाता है ; रोगी पुरुष की तो बात ही क्या ?

अब लग्न के अनुसार कालज्ञान बताते हैं—

पृच्छायामथ लग्नास्ते, चतुर्थदशमस्थिताः ।
ग्रहाः क्रूराः शशी ष[illegible], स्यात् तदा मृतिः ॥२०१॥

अर्थ—आयुष्य-विषयक प्रश्न पूछने के समय जो लग्न चल रहा हो, वह उसी समय अस्त हो जाए और क्रूरग्रह चौथे, सातवें या दसवें में रहे और चन्द्रमा छठा या आठवाँ हो तो उस पुरुष की मृत्यु हो जाती है। तथा—

पृच्छायाः समये लग्नाधिपतिर्भवति ग्रहः ।
यदि चास्तमितो मृत्युः, सज्जस्यापि तदा भवेत् । २०२॥

अर्थ—आयु-सम्बन्धी प्रश्न पूछते समय यदि लग्नाधिपति मेषादि राशि में गुरु, मंगल और शुक्रादि हो अथवा चालू लग्न का अधिपति ग्रह अस्त हो गया हो तो नीरोग मनुष्य की भी मृत्यु हो जाती है। तथा—

लग्नस्थश्चेच्छशी सौरिः, द्वादशो नवमः कुजः ।
अष्टमोऽर्कस्तदा मृत्युः स्यात् चेत् न बलवान् गुरुः ।२०३॥

अर्थ—यदि प्रश्न करते समय लग्न में चन्द्रमा स्थित हो, बारहवें में शनि हो नौवें में मंगल हो, आठवें में सूर्य हो और गुरु बलवान न हो तो उसकी मृत्यु होती है। तथा—

रविः षष्ठस्तृतीयो वा, शशी च दशमस्थितः ।
यदा भवति मृत्युः स्यात्, तृतीये दिवसे तदा ॥२०४॥
पापग्र[illegible], तुर्ये वा द्वादशेऽथवा ।
दिशन्ति तद्विदो मृत्युं, तृतीये दिवसे तदा ॥२०५॥

अर्थ—उसी तरह प्रश्न करने पर सूर्य तीसरे या छठे में हो, और चन्द्रमा दसवें में हो तो समझना चाहिए; उसकी तीसरे दिन मृत्यु होगी। यदि पापग्रह लग्न के उदय से चौथे या

बारहवें में हों तो कहते हैं—कालज्ञान के जानकार पुरुष की तीसरे दिन मृत्यु हो जायगी। तथा—

उदये पंचमे वाऽपि यदि पापग्रहो भवेत्।
अष्टभिर्दशभिर्वा स्याद्दिवसैः पंचता ततः ॥२०६॥

धनुर्मिथुनयोः सप्तमयोर्यद्यशुभग्रहाः।
तदा व्याधिर्मृतिर्वा स्यात्, ज्योतिषामिति निर्णयः ॥२०७॥

अर्थ—प्रश्न करते समय चालू लग्न अथवा पापग्रह पांचवें स्थान में हो तो आठ या दस दिन में मृत्यु होती है तथा सातवें धनुषराशि और मिथुनराशि में अशुभग्रह आये हों तो व्याधि या मृत्यु होती है ; ऐसा ज्योतिषकारों का निर्णय है।

अब यन्त्र के द्वारा कालज्ञान आठ श्लोकों द्वारा बताते हैं —

अन्तःस्थाधिकृतप्राणिनाम प्रणवगर्भितम्।
कोणस्य रेफमाग्नेयपुरं ज्वालाशताकुलम् ॥२०८॥

सानुस्वारैरकाराद्यैः, षट्स्वरैः पार्श्वतो वृत्तम्।
स्वस्तिकांकं बहिःकोणं, स्वाऽक्षरान्तः प्रतिष्ठितम् ॥२०९॥

चतुः-पार्श्वस्थ-गुरुयं, यन्त्रं वायुपुरा वृतम्।
कल्पयित्वा परिन्यस्येत् पाद-हृच्छीर्षसन्धिषु ॥२१०॥

सूर्योदयक्षणे सूर्यं पृष्ठे कृत्वा ततः सुधीः।
स्व-परायुर्विनिश्चेतुं निजच्छायां विलोकयेत् ॥२११॥

पूर्णां छायां यदीक्षेत, तदा वर्षं न पंचता।
कर्णाभावे तु पंचत्वं वर्षैर्द्वादशभिर्भवेत् ॥२१२॥

हस्तांगुलिस्कन्धकेशपार्श्वनासाक्षये क्रमात्।
दशाष्ट-सप्त-पंच-त्र्येकवर्षैर्मरणं दिशेत् ॥२१३॥

षण्मास्यां म्रियते नाशे, शिरसश्चिबुकस्य वा।
ग्रीवानाशे तु मासेनैकादशाहेन दृक्क्षये ॥२१४॥

सच्छिद्रे हृदये मृत्युः दिवसैः सप्तभिर्भवेत्।
यदि च्छायाद्वयं पश्येद्, यमपार्श्वं तदा व्रजेत् ॥२१५॥
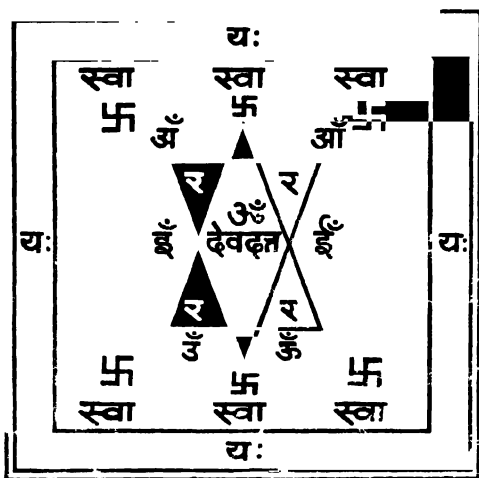
अर्थ—जिसको अपने आयुष्य का निर्णय करना हो, उसे अपना नाम ॐकार सहित षट्कोण-यन्त्र के मध्य में लिखना चाहिए। यंत्र के चारों कोणों में मानो अग्नि की सैकड़ों ज्वालाओं से युक्त 'रकार' की स्थापना करना चाहिए। उसके बाद अनुस्वार-सहित अकार आदि 'अं, आं, इं, ईं, उं ऊं,' छह स्वरों से कोणों के बाह्य भागों को घेर लेना चाहिए। फिर छहों कोणों के बाहरी भाग में छह स्वस्तिक लिखना चाहिए। बाद में स्वस्तिक और स्वरों के बीच-बीच में छह 'स्वा' अक्षर लिखे। फिर चारों ओर विसर्ग सहित यकार' की स्थापना करना और उस यकार के चारों तरफ वायु के पूर से आवृत संलग्न चार रेखाएँ खींचना। इस प्रकार का यन्त्र बना कर पैर, हृदय, मस्तक और सन्धियों में स्थापित करना। उसके बाद सूर्योदय के समय सूर्य की ओर पीठ करके और पश्चिम में मुख करके बैठना और अपनी अथवा दूसरे की आयु का निर्णय करने के लिए अपनी छाया का अवलोकन करना चाहिए। यदि पूर्ण छाया दिखाई दे तो एक वर्ष तक मृत्यु नहीं होगी, यदि कान दिखाई न दे तो बारह वर्ष में मृत्यु होगी, हाथ न दीखे तो दस वर्ष में, अगुलियां न दीखे तो आठ वर्ष में, कधा न दीखे तो सात वर्ष में, केश न दीखे तो पांच वर्ष में, पार्श्वभाग न दीखे तो तीन वर्ष में, नाक न दीखे तो एक वर्ष में, मस्तक या ठुड्डी न दीखे तो छह महीने में, गर्दन न दीखे तो एक महीने में, नेत्र न दीखे तो ग्यारह दिन में और हृदय में छिद्र दिखाई दे तो सात दिन में मृत्यु होगी। और यदि दो छायाएं दिखाई दे तो समझ लेना कि मृत्यु अब निकट ही है।

यंत्रप्रयोग का उपसंहार करके विद्या से कालज्ञान करने की विधि बताते हैं—

इति यन्त्र-प्रयोगेण, जानीयात् कालनिर्णयम्।
यदि वा विद्यया विद्याद्, वक्ष्यमाणप्रकारया ॥२१६॥

अर्थ—इस प्रकार यन्त्र प्रयोग से आयुष्य का निर्णय करना चाहिए या अथवा आगे कही जाने वाली विद्या से काल जानना चाहिए।

सात श्लोकों द्वारा अब उस विद्या को कहते हैं—

प्रथमं न्यस्य चूडायां, 'स्वा' शब्दम् 'ओं' च मस्तके।
'क्षि' नेत्रे हृदये 'पं' च, नाभ्यब्जे हाऽक्षरं ततः ।२१७।

अनया विद्ययाष्टाग्रशतवारं विलोचने ।
स्वच्छायां चाभिमन्त्र्यार्कं, पृष्ठे कृत्वाऽरुणोदये ॥२१८॥

परच्छायां परकृते, स्वच्छायां स्वकृते पुनः ।
सम्यक्तत्कृतपूजः सन्नुपयुक्तो विलोकयेत् ॥२१९॥

अर्थ "ॐ जुं सः ॐ मृत्युंजयाय ॐ वज्रपाणिने शूलपाणिने हर हर दह दह स्वरूपं दर्शय हूं फट् फट्" इस विद्या से १०८ बार अपने दोनों नेत्रों और छाया को मन्त्रित करके सूर्योदय के समय सूर्य की ओर पीठ करके पश्चिम में मुख रख कर अच्छी तरह पूजा करके उपयोगपूर्वक, दूसरे के लिए दूसरे की छाया और अपने लिए अपनी छाया देखनी चाहिए ।

संपूर्णां यदि पश्येत् तामावर्षं न मृतिस्तदा ।
क्रम-जंघा-जान्वभावे, त्रि-द्व्येकाब्दैर्मृतिः पुनः ॥२२०॥

ऊरोरभावे दशभिः मासैर्नश्येत् कटेः पुनः ।
अष्टभिर्नवभिर्वाऽपि तुन्दाभावे तु पंचषैः ॥२२१॥

ग्रीवाऽभावे चतुस्त्रिद्व्येकमासैर्म्रियते पुनः ।
कक्षाभावे तु पक्षेण, दशाहेन भुजक्षये ॥२२२॥

दिनैः स्कन्धक्षयेऽष्टाभिः चतुर्याम्यां तु हृत्क्षये ।
शीर्षाभावे तु यामाभ्यां, सर्वाभावे तु तत्क्षणात् ॥२२३॥

अर्थ—यदि पूरी छाया दिखाई दे तो एक वर्ष तक मृत्यु नहीं होगी, पैर जंघा और घुटना न दिखाई देने पर क्रमशः तीन, दो और एक वर्ष में मृत्यु होती है । ऊरु-(पिंडली) न दिखाई दे तो दस महीने में, कमर न दिखाई दे तो आठ-नौ महीने में और पेट न दिखाई दे तो पांच-छह महीने में मृत्यु होती है । यदि गर्दन न दिखाई दे तो चार तीन, दो या एक महीने में मृत्यु होती है ! यदि बगल न दिखाई दे तो पन्द्रह दिन में, और भुजा न दिखाई दे तो दस दिन में मृत्यु होती है । यदि कंधा न दिखाई दे तो आठ दिन में, हृदय न दिखाई दे तो चार प्रहर में मस्तक न दिखाई दे तो दो प्रहर में और शरीर सर्वथा दिखाई न दे तो तत्काल ही मृत्यु होती है ।

अब कालज्ञान के उपायों का उपसंहार करते हैं -

एवमाध्यात्मिकं कालं, विनिश्चेतुं प्रसंगतः ।
बाह्यस्यापि हि कालस्य निर्णयः परिभाषितः ॥२२४॥

अर्थ—इस प्रकार प्राणायाम के अभ्यासरूप उपाय से आध्यात्मिक काल ज्ञान का निर्णय बताते हुए प्रसंगवश बाह्य निमित्तों से भी काल का निर्णय बताया गया है ।

अब जय-पराजय के ज्ञान का उपाय कहते हैं—

को जेष्यति द्वयोर्युद्धे ? इति पृच्छत्यवस्थितः ।
जयः पूर्वस्य पूर्णे स्याद् रिक्ते स्यादितरस्य तु ॥२२५॥

अर्थ—इन दोनों के युद्ध में किसकी विजय होगी ? इस प्रकार का प्रश्न करने पर यदि स्वाभाविक रूप से पूरक हो रहा हो अर्थात् श्वांस भीतर की ओर खिंच रहा हो, तो जिसका नाम पहले लिया गया है उसको विजय होती है और यदि नाड़ी रिक्त हो रही हो, अर्थात् वायु बाहर निकल रहा हो तो दूसरे की विजय होती है ।'

रिक्त और पूर्ण नाड़ी का लक्षण कहते हैं—

यत् त्यजेत् संचरन् वायुस्तद्रिक्तमभिधीयते ।
संक्रमेद्यत्र तु स्थाने तत्पूर्णं कथितं बुधैः ॥२२६॥

अर्थ—चलते हुए वायु का बाहर निकालना 'रिक्त' कहलाता है और नासिका के स्थान में पवन अंदर प्रवेश करता हो तो, उसे पंडितों ने 'पूर्ण' कहा है ।

अब दूसरे प्रकार से कालज्ञान कहते हैं—

प्रष्टाऽऽदौ नाम चेज्ज्ञातुः गृह्णात्यन्वातुरस्य ।
स्यादिष्टस्य तदा सिद्धिः विपर्यासे विपर्ययः ॥२२७॥

अर्थ—प्रश्न करते समय पहले जानने वाले का और बाद में रोगी का नाम लिया जाए तो इष्टसिद्धि होती है, इसके विपरीत यदि पहले रोगी का और फिर जानने वाले का नाम लिया जाए तो परिणाम विपरीत होता है। जैसे कि 'वैद्यराज ! यह रोगी स्वस्थ होजायगा ?' तो रोगी स्वस्थ हो जाएगा।' और 'रोगी अच्छा हो जाएगा या नहीं, वैद्यराज ?' इस प्रकार विपरीत नाम बोला जाए तो विपरीत फल जानना अर्थात् रोगी स्वस्थ नहीं होगा। तथा—

वामबाहुस्थिते दूते, समनामाक्षरो जयेत् ।
दक्षिणबाहुगेत्याजौ, विषमाक्षरनामकः ॥२२८॥

अर्थ—युद्ध में किसकी विजय होगी ? इस प्रकार प्रश्न करने वाला दूत यदि बांई ओर खड़ा हो और युद्ध करने वाले का नाम दो, चार, छह आदि सम अक्षर का हो तो उसकी विजय होगी और प्रश्नकर्त्ता दाहिनी ओर खड़ा हो तथा योद्धा का नाम विषम अक्षरों वाला हो तो युद्ध में उसकी विजय होती है। तथा—

भूतादिभिर्गृहीतानां, दष्टानां वा भुजंगमैः ।
विधिः पूर्वोक्त एवासौ, विज्ञेयः खलु मान्त्रिकैः ॥२२९॥

अर्थ—भूत आदि से आविष्ट हों अथवा सर्प आदि से डस लिए गये हों, यदि उनके लिए भी मन्त्रवेत्ताओं से प्रश्न करते समय पूर्वोक्त विधि ही समझनी चाहिए ।

पूर्णा संजायते वामा, विशता वरुणेन चेत् ।
कार्याण्यारभ्यमाणानि, तदा सिध्यन्त्यसंशयम् ॥२३०॥

अर्थ—पहले ४४ वें श्लोक में कहे अनुसार यदि वारुणमंडल से वामनाडी पूर्ण बह रही हो तो उस समय प्रारम्भ किए गए कार्य अवश्यमेव सफल होते हैं। तथा—

जय-जीवित-लाभादि कार्याणि निखिलान्यपि ।
निष्फलान्येव जायन्ते पवने दक्षिणास्थिते ॥२३१॥

अर्थ—यदि वारुणमण्डल के उदय में पवन दाहिनी नासिका में चल रहा हो तो विजय, जीवन, लाभ आदि समग्र कार्य निष्फल ही होते हैं। तथा—

ज्ञानी बुध्वाऽनिलं सम्यक्, पुष्पं हस्तात् प्रपातयेत् ।
मृत जीवित-विज्ञाने, ततः कुर्वीत निश्चयम् ॥२३२॥

अर्थ—जीवन और मृत्यु के विशेष ज्ञान की प्राप्ति के लिए ज्ञानीपुरुष वायु को भलीभांति जान कर अपने हाथ से पुष्प नीचे गिरा कर उसका निर्णय करते हैं।

उसी निर्णय का तरीका बताते हैं—

त्वरितो वरुणे लाभः, चिरेण तु पुरन्दरे ।
जायते पवने स्वल्पः, सिद्धोऽप्यग्नौ विनश्यति ॥२३३॥

अर्थ—प्रश्न के उत्तरदाता के यदि वरुणमण्डल का उदय हो तो उसका तत्काल लाभ होता है, पुरन्दर-(पृथ्वीमण्डल) का उदय होने पर देर से लाभ होता है, पवनमण्डल चलता हो तो साधारण लाभ होता है, और अग्निमण्डल चलता हो तो सिद्ध हुआ कार्य भी नष्ट हो जाता है। तथा—

आयाति वरुणे यातः, तत्रैवास्ते सुखं क्षितौ ।
प्रयाति पवनेऽन्यत्र, मृत इत्यनले वदेत् ॥२३४॥

अर्थ—किसी गाँव या देश गए हुए मनुष्य के लिए जिस समय प्रश्न किया जाए, उस समय वरुणमंडल चालू हो तो वह शीघ्र ही लौट कर आने वाला है, पुरन्दरमण्डल में प्रश्न करे तो वह जहाँ गया है, वहाँ सुखी है, पवनमंडल में प्रश्न करे तो वह वहाँ से अन्यत्र चला गया है, और अग्निमण्डल में प्रश्न करे तो कहे कि उसकी मृत्यु हो गई है। तथा—

दहने युद्धपृच्छायां, युद्धं भंगश्च दारुणः ।
मृत्युः सैन्यविनाशो वा पवने जायते पुनः ॥२३५॥

अर्थ यदि अग्निमंडल में युद्धविषयक प्रश्न करे तो महाभयंकर युद्ध होगा और पराजय होगी, पवनमण्डल में प्रश्न करे तो जिसके लिए प्रश्न किया गया हो, उसकी मृत्यु होगी और सेना का विनाश होगा।

महेन्द्रे विजयो युद्धे, वरुणे वांछिताधिकः ।
रिपुभंगेन सन्धिर्वा स्वासिद्धिपरिसूचकः ॥२३६॥

अर्थ—महेन्द्रमंडल अर्थात् पृथ्वीतत्त्व के चलते प्रश्न करे तो युद्ध में विजय होगी,

वरुणमंडल में प्रश्न करे तो मनोरथ से अधिक लाभ होता है तथा शत्रु का मानभंग हो कर अपनी सिद्धि को सूचित करने वाली संधि होगी। तथा-

भौमे वर्षति पर्जन्यो, वरुणे तु मनोमतम्।
पवने दुर्दिनाम्भोदो, वह्नौ वृष्टिः कियत्यपि ॥२३७॥

अर्थ— यदि पृथ्वीमण्डल में वर्षा-सम्बन्धी प्रश्न किया जाए तो वर्षा होगी, वरुण-मण्डल में प्रश्न करे तो आशा से अधिक वर्षा होगी, पवनमंडल में प्रश्न करे तो दुर्दिन व बादल होंगे, परन्तु वर्षा नहीं होगी और अग्निमंडल में प्रश्न करे तो मामूली वर्षा होगी।

वरुणे सस्यनिष्पत्तिः, अतिश्लाघ्या पुरन्दरे।
मध्यस्था पवने च स्यात्, न स्वल्पाऽपि हुताशने ॥२३८॥

अर्थ—धान्य-उत्पत्ति के विषय में वरुणमंडल में प्रश्न करे तो धान्य की उत्पत्ति होगी, पुरन्दरमंडल में प्रश्न करे तो बहुत अधिक धान्य-उत्पत्ति होगी, पवनमण्डल में प्रश्न करे तो मध्यम ढंग की धान्योत्पत्ति होगी; कहीं होगी और कहीं नहीं होगी और अग्नि-मंडल में प्रश्न करे तो धान्य जरा भी उत्पन्न नहीं होगा।

महेन्द्रवरुणौ शस्तौ, गर्भप्रश्ने सुतप्रदौ।
समीरदहनौ स्त्रीदौ, शून्यं गर्भस्य नाशकम् ॥२३९॥

अर्थ—गर्भसम्बन्धी प्रश्न में महेन्द्र और वरुणमण्डल श्रेष्ठ हैं, इनमें प्रश्न करे तो पुत्र की प्राप्ति होती है, वायु और अग्निमण्डल में प्रश्न करने पर पुत्री का जन्म होता है और सुषुम्णानाड़ी में प्रश्न करे तो गर्भ का नाश होता है। तथा—

गृहे राजकुलादौ च, प्रवेशे निर्गमेऽथवा।
पूर्णांगपादं पुरतः, कुर्वतः स्यादभीप्सितम् ॥२४०॥

अर्थ—घर में या राजकुल आदि में प्रवेश करते या बाहर निकलते समय जिस ओर की नासिका के छिद्र से वायु चलता हो; उस तरफ के पैर को प्रथम आगे रख कर चलने से इष्ट कार्य की सिद्धि होती है। तथा—

गुरु-बन्धु-नृपामात्याः अन्येऽपीप्सितदायिनः।
पूर्णांगे खलु कर्तव्याः, कार्यसिद्धिमभीप्सता ॥२४१॥

अर्थ—कार्य-सिद्धि के अभिलाषी को गुरु, बन्धु, राजा, प्रधान या अन्य लोगों को, जिनसे इष्ट वस्तु प्राप्त करनी है, अपने पूर्णांग की ओर अर्थात् नासिका के जिस छिद्र में वायु चलता हो, उस ओर उन्हें रख कर स्वयं बैठना चाहिए। इससे कार्य की सिद्धि होती है।

आसने शयने वाऽपि, पूर्णांगे विनिवेशिताः।
वशीभवन्ति कामिन्यो, न कार्मणमतः परम् ॥२४२॥

अर्थ—आसन (बैठने) और शयन (सोने) के समय में भी जिस ओर की नासिका से

पवन चलता हो, उसी ओर स्त्रियों को बिठाने पर वे वश में होती हैं। इसके अतिरिक्त और कोई कामण-जादू-टोना नहीं है।

अरि-चौराधमर्णाद्याः, अन्येऽप्युत्पात-विग्रहाः।
कर्तव्याः खलु रिक्तांगे, जय-लाभ-सुखार्थिभिः ॥२४३॥

अर्थ—जो विजय, लाभ और सुख के अभिलाषी हैं; उन्हें चाहिए कि वे शत्रु, चोर कर्जदार तथा अन्य उपद्रव, विग्रह आदि से दुःख पहुंचाने वालों को अपने रिक्तांग की ओर अर्थात् जिस ओर की नासिका से पवन न चले, उसी तरफ बिठाएँ। ऐसा करने से वे दुःख नहीं दे सकते। तथा—

प्रतिपक्ष-प्रहारेभ्यः, पूर्णांगे योऽभिरक्षति।
न तस्य रिपुभिः शक्तिः, बलिष्ठैरपि हन्यते ॥२४४॥

अर्थ—शत्रुओं के प्रहारों से जो अपने पूर्णांग से (पूरक वायु वाले अंग) रक्षा करता है, उसकी शक्ति का विनाश करने में बलवान शत्रु भी समर्थ नहीं हो सकता है। तथा—

वहन्तीं नासिका वामां, दक्षिणां वाऽभिसंस्थितः।
पृच्छेद् यदि तदा पुत्रो, रिक्तायां तु सुता भवेत् ॥२४५॥
सुषुम्णा-वायु भागे द्वौ, शिशू, रिक्ते नपुंसकम्।
संक्रान्तौ गर्भहानिः स्यात्, समे क्षेममसंशयम् ॥२४६॥

अर्थ—उत्तरदाता की बांई या दाहिनी नासिका चल रही हो, उस समय सम्मुख खड़ा हो कर गर्भ-सम्बन्धी प्रश्न करे तो पुत्र होगा, और वह रिक्त नासिका की ओर खड़ा हो कर प्रश्न करे तो पुत्री का जन्म होगा, ऐसा कहना चाहिए। यदि प्रश्न करते समय सुषुम्णानाड़ी में पवन चलता हो तो दो बालकों का जन्म होगा, शून्य आकाशमंडल में पवन चले, तब प्रश्न करे तो नपुंसक का जन्म होगा। दूसरी नाड़ी में संक्रमण करते समय प्रश्न करे तो गर्भ का नाश होता है और सम्पूर्ण तत्व का उदय होने पर प्रश्न करे तो निःसंदेह क्षेम-कुशल होता है।

गर्भज्ञान के विषय में मतान्तर कहते हैं—

चन्द्रे स्त्रीः, पुरुषः सूर्ये, मध्यभागे नपुंसकम्।
प्रश्नकाले तु विज्ञेयमिति कैश्चित् निगद्यते ॥२४७॥

अर्थ—कई आचार्यों का कहना है कि चन्द्रस्वर चले तब सन्मुख रह कर प्रश्न करे तो पुत्री, सूर्यस्वर में पुत्र और सुषुम्णानाड़ी में नपुंसक का जन्म होता है।

वायु के निश्चय का उपाय बताते हैं—

यदा न ज्ञायते सम्यक्, पवनः संचरन्नपि।
पीतश्वेतारुणश्यामैर्निश्चेतव्यः स बिन्दुभिः ॥२४८॥

अर्थ—यदि एक मण्डल से दूसरे मण्डल में जाता हुआ पुरन्दरादि पवन जब भलो-

भ्रांति ज्ञात न हो, तब पीले, श्वेत, लाल और काले बिन्दुओं से उसका निश्चय करना चाहिए।'

बिन्दु देखने की विधि दो श्लोकों द्वारा कहते हैं—

अंगुष्ठाभ्यां श्रुती मध्यांगुलीभ्यां नासिकापुटे ।
अन्त्योपान्त्यांगुलीभिश्च पिधाय वदनाम्बुजम् ॥२४९॥
कोणावक्ष्णोर्निपीड्याद्यांगुलीभ्यां श्वासरोधतः ।
यथावर्णं निरीक्षेत् बिन्दुमव्यग्रमानसः ॥२५०॥

अर्थ— दोनों अंगूठों से कान के दोनों छिद्रों को, बीच की अंगुलियों से नासिका के दोनों छिद्रों को, अनामिका और कनिष्ठा अंगुलियों से मुख को और तर्जनी अंगुलियों से आंख के दोनों कोनों को दबा कर श्वासोच्छ्वास को रोक कर शान्तचित्त से देखे कि भ्रूकुटि में किस वर्ण के बिन्दु दिखाई देते हैं ?

बिन्दुज्ञान से पवन-निर्णय करते हैं—

पीतेन बिन्दुना भौमं, सितेन वरुणं पुनः ।
कृष्णेन पवनं विद्याद्, अरुणेन हुताशनम् ॥२५१॥

अर्थ—पीली बिन्दु दिखाई दे तो पुरन्दरवायु, श्वेतबिन्दु दिखाई दे तो वरुण-वायु, कृष्णबिन्दु दीखे तो पवनवायु और लाल बिन्दु दिखाई दे तो अग्निवायु समझना चाहिए।

अनभीप्सित नाड़ी चलती रोक कर दूसरी इष्ट नाड़ी चलाने के उपाय बताते हैं—

निरुरुत्सेद् वहन्तीं या वामां वा दक्षिणामथ ।
तदंगं पीडयेत् सद्यो, यथा नाडीतरा वहेत् ॥२५२॥

अर्थ—चलती हुई बांयी या दाहिनी नाड़ी को रोकने की अभिलाषा हो तो उस ओर के पार्श्व-(बगल) भाग को दबाना चाहिए। ऐसा करने से दूसरी नाड़ी चालू हो जाती है और चालू नाड़ी बन्द हो जाती है।

अग्रे वामविभागे हि, शशिक्षेत्रं प्रचक्षते ।
पृष्ठे दक्षिणभागे तु, रवि-क्षेत्रं मनीषिणः ॥२५३॥
लाभालाभौ सुखं दुःखं, जीवितं मरणं तथा ।
विदन्ति विरलाः सम्यग् वायुसंचारवेदिनः ।२५४॥

अर्थ—विद्वज्जनों का कथन है कि शरीर के बांये भाग में आगे की ओर चन्द्र का क्षेत्र है और दाहिने भाग में पीछे की ओर सूर्य का क्षेत्र है। अच्छी तरह से वायु के संचार को जानने वाले पुरुष लाभ-अलाभ, सुख दुःख, जीवन-मरण भलीभांति जान सकते हैं।

अब नाड़ी की शुद्धि पवन के संचार से जान सकने की विधि कहते हैं—

अखिलं वायुजन्मेदं, सामर्थ्यं तस्य जायते ।

कर्तुं नाडी-विशुद्धि य., सम्यग् जानात्यमूढधीः ॥२५५॥

अर्थ—जो प्रखरबुद्धि पुरुष नाड़ी की विशुद्धि भलीभांति करना जानता है, उस वायु से उत्पन्न होने वाला सर्वसामर्थ्य प्राप्त हो जाता है ।

अब नाड़ीशुद्धि की विधि चार श्लोकों से कहते हैं—

नाभ्यब्जकर्णिकारूढं, कला-बिन्दु-पवित्रितम् ।

रेफाक्रान्तं स्फुरद्भासं, हकारं परिचिन्तयेत् ॥२५६॥

तं ततश्च तडिद्वेगं स्फुलिंगार्चिःशताञ्चितम् ।

रेचयेत् सूर्यमार्गेण, प्रापयेच्च नभस्तलम् ॥२५७॥

अमृतैः प्लावयन्तं तमवतार्य शनैस्ततः ।

चन्द्राभं चन्द्रमार्गेण,नाभिपद्मे निवेशयेत् ॥२५८॥

निष्क्रमं च प्रवेशं च, यथामार्गमनारतम् ।

कुर्वन्नेवं महाभ्यासो, नाडीशुद्धिमवाप्नुयात् ॥२५९॥

अर्थ—नाभिकमल की कर्णिका से आरूढ़ हुए कला और बिन्दु से पवित्र रेफ से आक्रान्त प्रकाश छोड़ते हुए हकार (हं) का चिन्तन करना। उसके बाद विद्युत् की तरह वेगवान और सैकड़ों चिनगारियों और ज्वालाओं से युक्त 'हं' का सूर्यनाड़ी के मार्ग से रेचन (बाहर निकाल) करके आकाशतल तक ऊपर पहुंचाना। इस तरह आकाश में पहुंचा कर अमृत से भिगो कर धीरे-धीरे उतार कर, चन्द्रमा के समान उज्ज्वल और शान्त बने हुए 'हं' को चन्द्रनाड़ी के मार्ग से प्रवेश करवा कर नाभिकमल में प्रविष्ट कराना चाहिए। इस प्रकार उक्त भाग से प्रवेश और निर्गमन का सतत महाभ्यास करते-करते साधक नाड़ीशुद्धि को प्राप्त कर लेता है।

नाड़ी-सचार के ज्ञान का फल कहते हैं—

नाडी शुद्धाविति प्राज्ञः, संपन्नाभ्यासकौशलः ।

स्वेच्छया घटयेद् वायुं, पुटयोस्तत्क्षणादपि ॥२६०॥

अर्थ—इस प्रकार नाड़ी-शुद्धि के अभ्यास में कुशलता-प्राप्त विचक्षण पुरुष अपनी इच्छानुसार वायु को एक नासापुट (नाड़ी) से दूसरे नासापुट (नाड़ी) में तत्काल अदल-बदल कर सकता है।

अब बांयी-दाहिनी नाड़ी में रहे हुए वायु का कालमान कहते हैं—

द्वे एव घटिके सार्धे, एकस्यामवतिष्ठते ।

तामुत्सृज्यापरां नाडीमधितिष्ठति मारुतः ॥२६१॥

षट्शताभ्यधिकान्याहुः सहस्राण्येकविंशतिम् ।

अहोरात्रे नरि स्वस्थे, प्राणवायोर्गमागमम् ॥२६२॥

अर्थ— एक नाड़ी में वायु ढाई घड़ी-(एक घंटा) तक बहती है, उसके बाद उस नाड़ी को छोड़ कर दूसरी नाड़ी में बहने लगती है। इस प्रकार परिवर्तन होता है। एक स्वस्थ पुरुष में एक रात-दिन में २१६०० प्राणवायु का गमागम (श्वासोच्छ्वास) होता है।

वायु-संचार को नहीं जानने वाले तत्त्व निर्णय के अधिकारी नहीं होते। इसे कहते हैं—

मुग्धधीर्यः समीरस्य, संक्रान्तिमपि वेत्ति न।
तत्त्वनिर्णयवार्तां स कथं कर्तुं प्रवर्त्तते ?॥२६३॥

अर्थ— मुग्ध या अल्प बुद्धि वाला जो पुरुष वायु के संचार को भी नहीं जानता, वह तत्त्वनिर्णय की बात करने में कैसे प्रवृत्त हो सकता है ? तत्त्वनिर्णय के लिए वायु-संक्रमण को जानना अत्यन्त आवश्यक है।

अब आठ श्लोकों मे वेध-विधि कहते हैं—

पूरितं पूरकेणाधोमुखं हृत्पद्ममुन्मिषेत्।
ऊर्ध्वस्रोतो भवेत् तच्च, कुम्भकेन प्रबोधितम्। २६४॥
आक्षिप्य रेचकेनाऽथ, कर्षेद् वायुं हृदम्बुजात्।
ऊर्ध्वस्रोतः पथग्रंथिं भित्त्वा ब्रह्मपुरं नयेत् ॥२६५॥
ब्रह्मरन्ध्रात् निष्क्रम्याऽथ, योगी कृतकुतूहलः।
समाधितोऽर्कतूलेषु, वेधं कुर्याच्छनैः शनैः ॥२६६॥
मुहुस्तत्र कृताभ्यासो, मालत[illegible]।
स्थिर-लक्ष्यतया वेधं, सदा कुर्यादतन्द्रितः।२६७॥
दृढाभ्यासस्तत कुर्याद् वेधं वरूणवायुना।
कर्पूरागुरुकुष्ठादिगन्धद्रव्येषु सर्वतः ॥२६८॥
एतेषु लब्धलक्ष्योऽथ, वायुसंयोजने पटुः।
पक्षिकायेषु सूक्ष्मेषु, विदध्याद् वेधमुद्यतः।२६९॥
पतंग-भृंग-कायेषु, [illegible] मृगेष्वपि।
अनन्यमानसो धीरः संचरेद् विजितेन्द्रियः ॥२७०॥
न [illegible], प्रविशन् निःसरन्निति।
कुर्वीत संक्रमं पुस्तोपलरूपेष्वपि क्रमात् ॥२७१॥

अर्थ— पूरकक्रिया के द्वारा जब वायु भीतर ग्रहण की जाती है, तब हृदयकमल अधोमुख होता है और संकुचित हो जाता है। उसी हृदयकमल में कुंभक करने से वह विकसित और ऊर्ध्वमुख हो जाता है, उसके बाद हृदय-कमल की वायु को रेचक क्रिया द्वारा खींचे। इस रेचकक्रिया द्वारा वायु को बाहर न निकाले; अपितु ऊर्ध्वस्रोत बना कर मार्ग

में ग्रन्थि को भेद कर ब्रह्मरन्ध्र में ले जाए। यहाँ समाधि प्राप्त हो सकती है। कौतुक-(चमत्कार) करने या देखने की इच्छा हो तो योगियों को उस पवन को ब्रह्मरन्ध्र से बाहर निकाल कर, समाधि के साथ आक की रूई में धीरे-धीरे वेध करना चाहिए अर्थात् पवन को उस रूई पर छोड़ना चाहिए। आक की रूई पर बार-बार अभ्यास करने से अर्थात् पवन को बार-बार ब्रह्मरन्ध्र पर और बार-बार रूई पर लाने का अभ्यास जब परिपूर्ण हो, जाए, तब योगी को स्थिरता के साथ मालती, चमेली आदि पुष्पों को लक्ष्य बना कर सावधानी से उस पर पवन को छोड़ना चाहिए। इस तरह हमेशा अभ्यास करते-करते जब अभ्यास दृढ़ हो जाए और वरुणवायु चल रहा हो तब कपूर, अगर और कुष्ठ आदि सुगन्धित द्रव्यों में पवन को वेध करना-(छोड़ना, चाहिए। इस प्रकार सबमें वेध करने में जब सफलता प्राप्त हो जाए और ऊपर कहे हुए सर्व-संयोजनों में वायु छोड़ने में कुशलता प्राप्त हो जाए; तब छोटे-छोटे पक्षियों के मृत शरीर में वेध करने का प्रयत्न करना चाहिए। पतंगा, भौंरा आदि के मृत शरीर में वेध करने का अभ्यास करने के बाद हिरन आदि के विषय में भी अभ्यास आरम्भ करना चाहिए। फिर एकाग्रचित्त धीर एवं जितेन्द्रिय हो कर योगी को मनुष्य, घोड़ा, हाथी आदि के मृतशरीरों में प्रवेश और निर्गम करते हुए अनुक्रम से पाषाणमूर्ति, पुतली, देवप्रतिमा आदि में भी प्रवेश करना चाहिए।

उपसंहार करते हुए शेष कहने योग्य बात कहते हैं—

एवं परासु-देहेषु, प्रविशेद् वामनासया।
जीवद्देहप्रवेशस्तु नोच्यते पापशंकया।।२७२।।

अर्थ—इस प्रकार मृत-जीवों के शरीर में बायीं नासिका से प्रवेश करना चाहिए। दूसरे के प्राणनाश होने के भय से पाप की शंका से जीवित देह में प्रवेश करने का कथन नहीं कर रहे हैं।

भावार्थ · जीवित शरीर में प्रवेश शस्त्र-घातादि के समान पापस्वरूप होने से कथन करने योग्य नहीं है। दूसरे के प्राणों का नाश किए बिना उसके शरीर में प्रवेश नहीं किया जा सकता है। वह वस्तुतः हिंसारूप है। टीका में उसका दिग्दर्शन किया गया है, वह इस प्रकार है—

ब्रह्मरन्ध्रेण निर्गत्य, प्रविश्यापानवर्त्मना।
भित्वा नाभ्यम्बुजं यायात् हृदम्भोजं सुषुम्णया।।१।।
तत्र तत्प्राण-संचारं निरुध्यान्निजवायुना।
यावद्देहात्ततो देही, गतचेष्टो विनिष्पतेत्।।२।।
तेन देहे विनिर्मुक्ते प्रादुर्भूतेन्द्रियक्रियः।
वर्तेत सर्वकार्येषु स्ववेह इव योगवित्।।३।।
दिनार्धं वा दिनं चेति क्रीडेत् परपुरे सुधीः।
अनेन विधिना भूयः प्रविशेदात्मनः पुरम्।।४।।

अर्थ—ब्रह्मरन्ध्र से बाहर निकल कर दूसरे के शरीर में अपान-(गुदा) मार्ग से प्रवेश करना चाहिए। प्रवेश करने के बाद नाभि-कमल का आश्रय ले कर सुषुम्णानाड़ी के द्वारा हृदयकमल में जाना चाहिए। वहाँ जा कर अपनी वायु के द्वारा उसके प्राणसंचार को रोक देना चाहिए और तब तक रोक रखे कि जब तक वह निश्चेष्ट हो कर गिर न पड़े। अंतर्मुहूर्त में वह आत्मदेह से मुक्त हो जाएगा। तब अपनी ओर से इन्द्रियों की क्रिया प्रकट होने पर योगी उस शरीर से अपने शरीर की तरह सर्व क्रियाओं में प्रवृत्ति करे। बुद्धिमान पुरुष आधा दिन या एक दिन तक दूसरे के शरीर में क्रीड़ा करके इसी विधि से फिर अपने शरीर में प्रवेश करे।

परकायाप्रवेश का फल कहते है—

क्रमेणैवं परपुरप्रवेशाभ्यासशक्तितः।
विमुक्त इव निर्लेपः स्वेच्छया संचरेत्सुधीः ॥२७३॥

अर्थ—इस प्रकार बुद्धिमान योगी दूसरे के शरीर में प्रविष्ट करने की अभ्यास-शक्ति उत्पन्न होने के कारण मुक्तपुरुष के समान निर्लेप हो कर अपनी इच्छानुसार विचरण कर सकते हैं।

इस प्रकार परमार्हत श्रीकुमारपाल राजा की जिज्ञासा से आचार्यश्री
हेमचन्द्राचार्य-सूरीश्वररचित 'अध्यात्मोपनिषद्' नामक
पट्टबद्ध अपरनाम 'योगशास्त्र' का
स्वोपज्ञविवरणसहित पंचम
प्रकाश सम्पूर्ण हुआ।

ॐ अर्हते नमः

६ : षष्ठ प्रकाश

परकाया-प्रवेश पारमार्थिक नहीं

इह चायं परपुर-प्रवेशश्चित्रमात्रकृत् ।
सिद्ध्येन्न वा प्रयासेन, कालेन महताऽपि हि ॥१॥
जित्वाऽपि पवनं नानाकरणैः क्लेशकारणैः ।
नाडी-प्रचारमायत्तं, विधायाऽपि वपुर्गतम् ॥२॥
अश्रद्धेयं परपुरे, साधयित्वाऽपि संक्रमम् ।
विज्ञानैकप्रसक्तस्य, मोक्षमार्गो न सिध्यति ॥३॥

अर्थ—यहां पर परकाया में प्रवेश करने की जो विधि कही है, वह केवल आश्चर्य-(कुतूहल) जनक ही है, उसमें अंशमात्र भी परमार्थ नहीं है, और उसकी सिद्धि भी बहुत लम्बे काल तक महान् प्रयास करने से होती है और कदाचित् नहीं भी होती। इसलिए मुक्ति के अभिलाषी को ऐसा प्रयास करना उचित नहीं है। क्लेश के कारणभूत अनेक प्रकार के आसनों आदि से शरीर में रहे वायु को जीत कर भी, शरीर के अन्तर्गत नाड़ी-संचार को अपने अधीन करके भी और जिस पर दूसरे श्रद्धा भी नहीं कर सकते हैं, उस परकाया-प्रवेश में सिद्धि प्राप्त करने की कार्यसिद्धि करके जो पापयुक्त-विज्ञान में आसक्त रहता है, वह मोक्षमार्ग सिद्ध नहीं कर सकता है।

कितने ही आचार्य प्राणायाम से ध्यान की सिद्धि मानते हैं, ऐसी पूर्वकथित बात का दो श्लोकों द्वारा खंडन करते हैं—

तन्नाप्नोति मनः-स्वास्थ्यं, प्राणायामैः कदर्थितम् ।
प्राणस्यायमने पीड़ा, तस्यां स्यात् चित्तविप्लवः ॥४॥
पूरणे कुम्भने चैव, रेचने च परिश्रमः ।
चित्त-संक्लेश करणात्, मुक्तेः प्रत्यूहकारणम् ॥५॥

अर्थ—प्राणायाम से पीड़ित मन स्वस्थ नहीं हो सकता; क्योंकि प्राण का निग्रह

करने से शरीर में पीड़ा होती है। पूरक, कुंभक और रेचक-क्रिया करने में परिश्रम करना पड़ता है। परिश्रम करने से मन में संक्लेश होता है। अतः चित्त में संक्लेशकारक होने से प्राणायाम मुक्ति में विघ्नकारक है।

व्याख्या—यहां शका होती है कि—'प्राणायाम करने से शरीर में पीड़ा और मन में चपलता उत्पन्न होती है तो दूसरा कौन-सा मार्ग है, जिससे शरीर में पीड़ा और मन में चपलता न हो?' इसका उत्तर देते हैं कि 'प्राणायाम के पश्चात् कितने ही आचार्य प्रत्याहार बतलाते हैं; वह दूषित नहीं है। उसे कहते हैं—

इन्द्रियैः सममाकृष्य, विषयेभ्यः प्रशान्तधीः।
धर्मध्यानकृते तस्मात् मनः कुर्वीत निश्चलम् ॥६॥

अर्थ—प्रशान्त-बुद्धि साधक शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्शरूप पांचों विषयों से इन्द्रियों के साथ मन को हटा कर धर्मध्यान के लिए अपने मन को निश्चल करे।

व्याख्या—बाह्य विषयों से इन्द्रियों के साथ मन को हटा लेना प्रत्याहार कहलाता है। अभिधान चिन्तामणिकोश में हमने बताया है—"प्रत्याहारस्त्विन्द्रियाणां विषयेभ्यः समाहृतिः।" अर्थात् नेत्रादि इन्द्रियों को रूप आदि विषयों से हटाना प्रत्याहार कहलाता है। मन को निश्चल बनाने की बात प्रत्याहार के बाद धारणा बताने का उपक्रम करने हेतु कही है।

अब धारणा के स्थान बताते हैं—

नाभि-हृदय-नासाग्रभाल-भ्रू-तालु-दृष्टयः।
मुखं कर्णौ शिरश्चेति, ध्यान-स्थानान्यकीर्तयन् ॥७॥

अर्थ—नाभि, हृदय, नासिका का अग्रभाग, कपाल, भ्रूकुटि, तालु, नेत्र, मुख, कान और मस्तक; ये सब ध्यान करने के लिए धारणा के स्थान बताए हैं।

इन्हें ध्यान के निमित्तभूत धारणा के स्थान समझने चाहिए। अब धारणा का फल कहते हैं।

एषामेकत्र कुत्रापि स्थाने स्थापयतो मनः।
उत्पद्यन्ते स्वसंवित्तेः बहवः प्रत्ययाः किल ॥८॥

अर्थ—ऊपर कहे हुए स्थानों में से किसी भी एक स्थान पर अधिक समय तक मन को स्थापित करने से निश्चय ही स्वानुभवज्ञान के अनेक प्रत्यय उत्पन्न होते हैं।

प्रत्ययों के सम्बन्ध में आगे बताएंगे।

इस प्रकार परमार्हत श्रीकुमारपाल राजा की जिज्ञासा से आचार्यश्री हेमचन्द्राचार्य-सूरीश्वररचित 'अध्यात्मोपनिषद्' नामक पट्टबद्ध अपरनाम 'योगशास्त्र' का स्वोपज्ञविवरणसहित षष्ठ प्रकाश सम्पूर्ण हुआ।

ॐ अर्हते नमः

७ : सप्तम प्रकाश

ध्यान-साधना के अभिलाषी के लिए क्रम बताते हैं—

ध्यानं विधित्सता ज्ञेयं, ध्याता ध्येयं तथा फलम् ।
सिध्यन्ति न हि सामग्रीं बिना कार्याणि कर्हिचित् ।।१।।

अर्थ ध्यान करना चाहने वाले को ध्याता, ध्येय, तथा फल जानना चाहिए। क्योंकि सामग्री के बिना कार्य की सिद्धि कदापि नहीं होती।

पहले ध्यान का लक्षण छह श्लोकों द्वारा बताते हैं—

अमुञ्चन् प्राणनाशेऽपि, संयमैकधुरीणताम् ।
परमप्यात्मवत् पश्यन्, स्वस्वरूपापरिच्युतः ।।२।।
उपतापमसंप्राप्तः, शीतवातातपादिभिः ।
पिपासुरमरीकारि, योगामृतरसायनम् ।।३।।
रागादिभिरनाक्रान्तं क्रोधादिभिरदूषितम् ।
आत्मारामं मनः कुर्वन्, निर्लेपः सर्वकर्मसु ।।४।।
विरतः कामभोगेभ्यः, स्वशरीरेऽपि निःस्पृहः ।
संवेगहृदनिर्मग्नः, सर्वत्र समतां श्रयन् ।।५।।
नरेन्द्रे वा दरिद्रे वा, तुल्यकल्याणकामना ।
अमात्रकरुणापात्रं, भव-सौख्य-परांमुखः ।।६।।
सुमेरुरिव निष्कम्पः, शशीवानन्ददायकः ।
समीर इव निःसंगः, सुधीर्ध्याता प्रशस्यते ।।७।।

अर्थ—जो प्राणों के नाश का समय उपस्थित होने पर भी संयम-धुरा के भार का त्याग नहीं करता; दूसरे जीवों को आत्मवत् देखता है, अपने स्वरूप से कभी च्युत नहीं होता; अपने लक्ष्य पर अटल रहता है; जो सर्दी, गर्मी और वायु में खिन्न नहीं होता;

अजर-अमर करने वाले, योगामृत-रसायन का पिपासु है, राग-द्वेष-मोह आदि दोष जिस पर हावी नहीं हैं, क्रोध आदि कषायों से जो अदूषित है, मन को जो आत्माराम में रमण कराता है, समस्त कार्यों में अलिप्त रहता है, कामभोगों से विरक्त रहता है, अपने शरीर के प्रति भी निःस्पृह रहता है, संवेगरूपी सरोवर में भलीभांति डूबा रहता है, शत्रु और मित्र में, सोने और पाषाण में, निंदा और स्तुति में, मान एवं अपमान आदि में सर्वत्र समभाव रखता है। राजा और रंक दोनों पर एकसरीखी कल्याण-कामना रखता है। सर्वजीवों के प्रति जो करुणा-शील है, सांसारिक सुखों से विमुख है, परीषह और उपसर्ग आने पर भी सुमेरु की तरह निष्कम्प रहता है, जो चन्द्रमा के समान आनन्ददायी है और वायु की भांति निःसंग-(अनासक्त, अप्रतिबद्धविहारी) है ; वही प्रशस्त बुद्धि वाला प्रबुद्ध ध्याता ध्यान करने योग्य हो सकता है।

अब भेदसहित ध्येय का स्वरूप बताते हैं—

पिण्डस्थं च पदस्थं च, रूपस्थं, रूपवर्जितम् ।
चतुर्धा ध्येयमाम्नातं ध्यानस्यालम्बनं बुधैः ॥८॥

अर्थ—बुद्धिमान पुरुषों ने ध्यान का आलम्बनस्वरूप ध्येय चार प्रकार का माना है—(१) पिण्डस्थ, (२) पदस्थ, (३) रूपस्थ और (४) रूपातीत।

यहाँ पिंड का अर्थ शरीर है। उसका आलम्बन ले कर टिकाया जाने वाला ध्यान पिण्डस्थ ध्यान है। ध्येय को धारणा के भेद से कहते हैं—

पार्थिवी स्यात् आग्नेयी, मारुती वारुणी तथा ।
तत्वभूः पञ्चमी चेति, पिण्डस्थे पंच धारणा ॥९॥

अर्थ—पिण्डस्थ ध्येय में पांच धारणाएं होती हैं, १ पार्थिवी, २. आग्नेयी, ३. मारुती, ४. वारुणी और ५. तत्त्वभू।

उसमें पार्थिवी धारणा को तीन श्लोकों से कहते हैं—

तिर्यग्लोकसमं ध्यायेत्, क्षीराब्धि तत्र चाम्बुजम् ।
सहस्रपत्रं स्वर्णाभं, जम्बूद्वीपसमं स्मरेत् ॥१०॥
तत्केसरततेरन्तः स्फुरत्पिंगप्रभांचिताम् ।
स्वर्णाचलप्रमाणां च, कर्णिकां परिचिन्तयेत् ॥११॥
श्वेतसिंहासनासीनं कर्मनिर्मूलनोद्यतम् ।
आत्मानं चिन्तयेत् तत्र, पार्थिवीधारणेत्यसौ ॥१२॥

अर्थ—एक रज्जु-प्रमाण विस्तृत तिर्यग्लोक है। इसके बराबर लम्बे-चौड़े क्षीर-समुद्र का चिन्तन करना, उसमें एक लाख योजन जम्बूद्वीप के समान स्वर्ण-कान्ति-युक्त एक हजार पंखुड़ियों वाले कमल का चिन्तन करना चाहिए। उस कमल के मध्यभाग में केसराएं हैं और उसके अन्दर देदीप्यमान पीली प्रभा से युक्त और सुमेरुपर्वत के समान एक लाख योजन ऊँची कर्णिका-(पीठिका) का चिन्तन करना। उस कर्णिका पर एक उज्ज्वल

सिंहासन है, जिस पर बैठ कर कर्मों का समूल उन्मूलन करने में उद्यत अपने शान्त आत्मा का चिन्तन करना चाहिए। इस प्रक्रिया को 'पार्थिवी-धारणा' कहते हैं।

अब छह श्लोकों द्वारा आग्नेयी धारणा कहते हैं—

विचिन्तयेत्तथा नाभौ कमलं षोडशच्छदम् ।
कर्णिकायां महामन्त्रं, प्रतिपत्रं स्वरावलीम् ॥१३॥
रेफबिन्दुकलाक्रान्तं महामन्त्रे यदक्षरम् ।
तस्य रेफाद् विनिर्यान्तीं शनैर्धूमशिखां स्मरेत् ॥१४॥
स्फुलिंगसन्ततिं ध्यायेत् ज्वालामालामनन्तरम् ।
ततो ज्वालाकलापेन दहत् पद्मं हृदि स्थितम् ॥१५॥
तदष्टकर्मनिर्माणमष्ट पत्रमधोमुखम् ।
दहत्येव महामन्त्रध्यानोत्थः प्रबलानलः ॥१६॥
ततो देहाद् बहिर्ध्यायेत् त्र्यस्रं वह्निपुरं ज्वलत् ।
लांछितं स्वस्तिकेनान्ते, वह्निबीजसमन्वितम् ॥१७॥
देहपद्मं च मन्त्रार्चिरन्तर्वह्निःपुरं बहिः ।
कृत्वाऽऽशु भस्मसाच्छाम्येत् स्यादाग्नेयीति धारणा ॥१८॥

अर्थ—तथा नाभि के अन्दर सोलह पंखुड़ी वाले कमल का चिन्तन करना। उसकी कर्णिका में महामन्त्र 'अर्हं' की स्थापना करना और उसकी प्रत्येक पंखुड़ी पर क्रमशः 'अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, लृ, लॄ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः' इन सोलह स्वरों की स्थापना करनी चाहिए। उसके बाद रेफ, बिन्दु और कला से युक्त, महामन्त्र के हं अक्षर है, उस रेफ में से धीरे-धीरे निकलने वाली धूम-शिखा का चिन्तन करना चाहिए, फिर उसमें से अग्नि की चिनगारियों के निकलने का चिन्तन करना। बाद में निकलती हुई अनेक अग्नि-ज्वालाओं चिन्तन करना। उसके बाद इन ज्वालाओं से हृदय में स्थित आठ पंखुड़ी-(दल) वाले कमल का चिन्तन करना, उसकी प्रत्येक पंखुड़ी पर अनुक्रम से १—ज्ञानावरण, २-दर्शनावरण, ३—वेदनीय, ४—मोहनीय, ५—आयु, ६-नाम, ७—गोत्र और ८—अन्तराय, इन आठ कर्मों की स्थापना करनी चाहिए। यह कमल अधोमुख होना चाहिए। 'अर्हं' महामन्त्र के ध्यान से उत्पन्न हुई महाप्रबन्धरूपी अग्नि अष्ट-कर्मरूपी अधोमुखी कमल को जला देती है, ऐसा चिन्तन करना। उसके बाद शरीर के बाहर त्रिकोण (तिकोन) अग्निकुण्ड और स्वस्तिक के चिह्न-युक्त अग्निबीज 'रकार' सहित चिन्तन करना। तत्पश्चात् शरीर के भीतर महामन्त्र के ध्यान से उत्पन्न हुई अग्निज्वाला और बाहर की अग्निकुण्ड की ज्वाला से देह और आठ कर्मों का चिन्तन कर कमल को तत्काल भस्म करके अपने आप अग्नि को शान्त कर देना चाहिए। यह आग्नेयी धारणा है। महामन्त्र सिद्धचक्र में स्थित बीजरूप 'अर्हं' जानना।

अब दो श्लोकों से वायवी धारणा कहते हैं—

ततस्त्रिभुवनाभोगं, पूरयन्तं समीरणम् ।
चलायन्तं गिरीनब्धीन् क्षोभयन्तं विचिन्तयेत् ।१९॥
तच्च भस्मरजस्तेन, शीघ्रमुद्धूय वायुना ।
दृढाभ्यासः प्रशान्ति तमानयेदिति मारुती ॥२०॥

अर्थ—उसके बाद समग्र तीन भवन के विस्तार को पूरित कर देने वाले पर्वतों को चलायमान करते हुए और समुद्र को क्षुब्ध करते हुए प्रचण्ड पवन का चिन्तन करना और आग्नेयी धारणा में शरीर और आठ कर्मों को जलाने से जो राख बनी थी, उसे वायु से शीघ्र उड़ाने का चिन्तन करे अर्थात् प्रचण्ड पवन चल रहा है और देह तथा कर्मों की राख उड़ कर बिखर रही है। इस प्रकार दृढ़ अभ्यास करके उस वायु को शान्त करना। यह वायवी नाम की तीसरी धारणा है।

अब दो श्लोकों से वारुणीधारणा कहते हैं—

स्मरेद् वर्षत्सुधासारैः घनमालाकुलं नभः ।
ततोऽर्धेन्दुसमाक्रान्तं मण्डलं वरुणांकितम् ॥२१॥
नभस्तलं सुधाम्भोभिः प्लावयेत्तत्पुरं ततः ।
तद्रजः कायसम्भूतं क्षालयेदिति वारुणी ॥२२॥

अर्थ—वारुणी-धारणा में अमृत के समान वृष्टि बरसाने वाले और मेघ की मालाओं से व्याप्त आकाश का चिन्तन करे। फिर अर्धचन्द्राकार बिन्दुयुक्त वरुण बीज 'वं' का चिन्तन करना। अपने सामने उस वरुणबीज से उत्पन्न हुए अमृतसम जल से आकाश को भर दे। और पहले शरीर और कर्मों की जो राख उड़ गई थी, वह इस जल से धुल कर साफ हो रही है; ऐसा चिन्तन करना। फिर वारुणमण्डल को शान्त करना। यह वारुणी धारणा है।

अब तत्वभूधारणा पर विवेचन और उपसंहार करते हैं—

सप्तधातु-विनाभूतं, पूर्णेन्दु विशदद्युतिम् ।
सर्वज्ञकल्पमात्मानं, शुद्धबुद्धिः स्मरेत् ततः ॥२३॥
ततः सिंहासनारूढं, सर्वातिशयभासुरम् ।
विध्वस्ताशेषकर्माणं, कल्याणमहिमान्वितम् ।२४॥
स्वांगगर्भे निराकारं, संस्मरेदिति तत्वभूः ।
साभ्यास इति पिण्डस्थे, योगी शिवसुखं भजेत् ॥२५॥

अर्थ—चार धारणाओं का चिन्तन करने के बाद शुद्ध बुद्धि वाले योगी पुरुष को सप्तधातुरहित पूर्णचन्द्र के समान निर्मल कान्ति वाले सर्वज्ञसदृश अपने शुद्ध आत्मा का चिन्तन करना चाहिए। उसके बाद सिंहासन पर आरूढ़ हो कर समस्त अतिशयों से सुशोभित समस्त कर्मों के विनाशक, कल्याणकारी महिमा से सम्पन्न, अपने शरीर में स्थित निरा-

कार आत्मा का स्मरण-चिन्तन करना चाहिए ; यह तत्त्वभू नामक धारणा है। इस पिण्डस्थ ध्यान का अभ्यास हो जाने पर योगी मोक्ष के अनन्त सुख प्राप्त कर सकता है।

अब तीन श्लोकों द्वारा पिंडस्थ-ध्यान का माहात्म्य बताते हैं—

अश्रान्तमिति पिण्डस्थे, कृताभ्यासस्य योगिनः ।
प्रभवन्ति न दुर्विद्यामंत्रमण्डलशक्तयः ॥२६॥
शाकिन्यः क्षुद्रयोगिन्यः, पिशाचाः पिशिताशनाः ।
त्रस्यन्ति तत्क्षणादेव, तस्य तेजोऽसहिष्णवः ॥२७॥
दुष्टाः करटिनः सिंहाः, शरभाः पन्नगा अपि ।
जिघांसवोऽपि तिष्ठन्ति, स्तम्भिता इव दूरतः ॥२८॥

अर्थ—इस तरह बिना थके पिंडस्थ-ध्यान का अभ्यास करने वाले योगी पुरुष को, दुष्ट विद्याएं—उच्चाटन, मारण, स्तंभन, विद्वेषण, मन्त्रमण्डल, शक्तियाँ आदि कुछ भी हानि नहीं कर सकती। शाकिनियाँ, क्षुद्र योगिनियाँ, पिशाच और मांसभक्षी दुष्ट व्यक्ति उसके तेज को सहन नहीं कर सकते। वे स्वयं तत्काल ही त्रस्त हो जाते हैं। मारना चाहने वाले दुष्ट हाथी, सिंह, शरभ, सर्प आदि हिंस्र जीव भी दूर से ही स्तंभित हो (ठिठक) कर खड़े रहते हैं।

इस तरह परमार्हत श्री कुमारपाल राजा की जिज्ञासा से आचार्यश्री
हेमचन्द्रसूरीश्वररचित 'अध्यात्मोपनिषद्' नामक
पट्टबद्ध अपरनाम 'योगशास्त्र' का
स्वोपज्ञविवरण सहित सप्तम
प्रकाश पूर्ण हुआ।

ॐ अर्हते नमः

८ : अष्टम प्रकाश

अब पदस्थ ध्यान का लक्षण कहते है—

यत्पदानि पवित्राणि, समालम्ब्य विधीयते ।
तत्पदस्थं समाख्यातं, ध्यानं सिद्धान्तपारगैः ॥१॥

अर्थ—प्रभावशाली मन्त्राक्षर आदि पवित्र पदों का अवलंबन ले कर जो ध्यान किया जाता है, उसे सिद्धान्त के पारगामी पुरुषों ने पदस्थध्यान कहा है ।

तीन श्लोकों द्वारा इसकी विशेषता बताते है—

तत्र षोडशपत्राढ्ये नाभिकन्दगतेऽम्बुजे ।
स्वरमालां यथापत्रं, भ्रमन्तीं परिचिन्तयेत् ॥२॥
चतुर्विंशतिपत्रं च, हृदि पद्मं सकर्णिकम् ।
वर्णान् यथाक्रम तत्र, चिन्तयेत् पंचविंशतिम् ॥३॥
वक्त्राब्जेऽष्टदले वर्णाष्टकमन्यत् ततः स्मरेत् ।
संस्मरन् मातृकामेवं, स्यात् श्रुतज्ञानपारगः ॥४॥

अर्थ—इस ध्यान में नाभिकंद पर स्थित सोलह पंखुड़ियों वाले प्रथम कमल में प्रत्येक पत्र पर क्रमशः सोलह स्वरों 'अ, आ, इ, ई. उ, ऊ, ऋ, ॠ, लृ. ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः' की भ्रमण करती हुई पंक्ति का चिन्तन करना चाहिए । फिर हृदय में स्थित कर्णिका-सहित कमल की चौबीस पंखुडियों (दलों) पर 'क, ख, ग, घ, ङ, च. छ, ज, झ, ञ, ट, ठ, ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ, ब, भ, म' इन पच्चीस व्यञ्जनों का चिन्तन करना चाहिए । (इनमें से चौबीस व्यञ्जनों को चौबीस पंखुड़ियों में और 'मकार' को कर्णिका में रख कर चिन्तन करना ।) तथा तीसरे आठ पंखुड़ी वाले कमल की मुख में कल्पना करनी, उसमें शेष आठ व्यञ्जनों—'य, र, ल, व, श, ष, स, ह का चिन्तन करना । इस प्रकार मातृका (वर्ण-माला) का चिन्तन-ध्यान करने वाला योगी श्रुतज्ञान का पारगामी होता है ।'

अब मातृका-ध्यान का फल कहते हैं—

ध्यायतोऽनादिसंसिद्धान् वर्णानेतान् यथाविधि ।
नष्टादिविषये ज्ञानं, ध्यातुरुत्पद्यते क्षणात् ।।५।।

अर्थ—अनादिकाल से स्वतःसिद्ध इन वर्णों का विधिपूर्वक ध्यान करने वाले ध्याता को थोड़े ही समय में नष्ट हुए, विस्मृत हुए, गुम हुए व खोये हुए पदार्थों के विषय में भूत, वर्तमान और भविष्यकालीन ज्ञान क्षणभर में उत्पन्न हो जाता है ।

विशेषार्थ—कहा है कि—'जाप करने से क्षयरोग, भोजन में अरुचि, अग्नि-मन्दता, कुष्ट-रोग, पेट में रोग, खाँसी, दम आदि पर साधक विजय प्राप्त कर सकता है, और अद्भुत वाणी बोलने लगता है । तथा मुख्यजनों द्वारा पूजा, सत्कार, परलोक में उत्तमगति और श्रेष्ठपद प्राप्त करता है ।'

प्रकारान्तर से बारह श्लोकों द्वारा पदमयी-मन्त्रमयी देवता का स्वरूप ध्येयरूप से कहते हैं—

अथवा नाभिकन्दाधः, पद्ममष्टदलं स्मरेत् ।
स्वरालीकेसरं रम्यं वर्गाष्टकयुतैर्दलैः ।।६।।
दलसन्धिषु सर्वेषु सिद्धस्तुतिविराजितम् ।
दलाग्रेषु समग्रेषु, मायाप्रणवपावितम् ।।७।।
तस्यान्तरन्तिमं वर्णम्, आद्यवर्णपुरस्कृतम् ।
रेफाक्रान्तं कलाबिन्दुरम्यं प्रालेयनिर्मलम् ।।८।।
अर्हमित्यक्षरं प्राण-प्रान्तसंस्पर्शिपावनम् ।
ह्रस्व-दीर्घ-प्लुतं सूक्ष्ममतिसूक्ष्मं ततः परम् ।।९।।
ग्रन्थीन् विदारयन् नाभि-कण्ठ-हृद-घण्टिकादिकान् ।
सुसूक्ष्मध्वनिना मध्य-मार्गयायि स्मरेत् ततः ।।१०।।
अथ तस्यान्तरात्मानं, प्लाव्यमानं विचिन्तयेत् ।
बिन्दुतप्तकलानिर्यत्क्षीर-गौरामृतोर्मिभिः ।।११।।
ततः सुधासरः—सूत-षोडशाब्ज लोदरे ।
आत्मानं न्यस्य पत्रेषु, विद्यादेवींश्च षोडश ।।१२।।
स्फुरत्स्फटिकभृंगार-क्षरत्-क्षीरसितामृतैः ।
आभिराप्लाव्यमानं स्वं चिरं चित्ते विचिन्तयेत् ।।१३।।
अथास्य मन्त्रराजस्याभिधेयं परमेष्ठिनम् ।
अर्हन्तं मूर्धनि ध्यायेत्, शुद्धस्फटिकनिर्मलम् ।।१४।।
तद्ध्यानावेशतः 'सोऽहं' 'सोऽहम्' इत्यालपन् मुहुः ।
निःशंकमेकतां विद्याद् आत्मनः परमात्मना ।।१५।।

ततो नीरागमद्वेषम्, अमोहं सर्वदर्शिनम् ।
सुराच्यं समवसृतौ, कुर्वाणं धर्मदेशनाम् ॥१६॥
ध्यायन्नात्मानमेवेत्थम् अभिन्नं परमात्मना ।
लभते परमात्मत्वं, ध्यानो निर्धूत-कल्मषः ॥१७॥

अर्थ—अथवा नाभिकन्द के नीचे आठ पंखुड़ी वाले एक कमल का चिन्तन करना। इस कमल की आठ पंखुड़ियों में से प्रथम पंखुड़ी पर मनोहर केसराओं रूप सोलह स्वरावली का चिन्तन करना, शेष सात पंखुड़ियों में क्रमशः सात वर्गों की स्थापना करना। वह इस प्रकार— १—क, ख, ग, घ, ङ, २—च, छ, ज झ, ञ, ३— ट, ठ, ड, ढ, ण, ४— त, थ, द, ध, न, ५—प, फ, ब, भ म, ६—य, र, ल, व, ७ –श, ष, स, ह। इन आठों पंखुड़ियों की संधियों में ह्रीं-कार-रूप सिद्धस्तुति की स्थापना करना, और सभी पंखुड़ियों के अग्रभाग में 'ॐ ह्रीं' स्थापित करना। उस कमल के मध्यभाग में प्रथम वर्ण 'अ' और अन्तिम वर्ण 'ह' रेफ कला और बिन्दु सहित हिम के समान उज्ज्वल अर्हं की स्थापना करनी चाहिए। इस 'अर्हं' का मन में स्मरण आत्मा को पवित्र करता है। अर्हं शब्द का उच्चारण प्रथम मन में ह्रस्वनाद से करना चाहिए। बाद में दीर्घ, फिर प्लुत, फिर सूक्ष्म, और अतिसूक्ष्मनाद से उच्चारण करना चाहिए। तदनन्तर वह नाद नाभि, हृदय और कण्ठ की घटिकादि, गांठों को भेदता हुआ उन सब के बीच में से हो कर आगे चला जा रहा है; ऐसा चिन्तन करे। उसके बाद यह चिन्तन करे कि उस नादबिन्दु से तपी हुई कला में से निकलने वाले दूध के समान उज्ज्वल अमृत की तरंगों से अन्तरात्मा प्लावित हो रही है। फिर अमृत के एक सरोवर की कल्पना करे और उस सरोवर से उत्पन्न हुए सोलह पंखुड़ी वाले कमल का चिन्तन करे। उसके अन्दर अपने आप को स्थापित करके उन पंखुड़ियों पर क्रमशः सोलह विद्यादेवियों का चिन्तन करे। बाद में देदीप्यमान स्फटिकरत्न की झारी में से झरते हुए दूध के सदृश उज्ज्वल अमृत से अपने को दीर्घकाल तक सिंचित होते हुए मन में चिन्तन करे। उसके बाद शुद्ध स्फटिकरत्न के समान निर्मल, मंत्रराज के प्रथम अभिधेय पद 'अर्हंत' परमेष्ठी का मस्तक में ध्यान करे। यह ध्यान इतना प्रबल और प्रगाढ़ होना चाहिए कि इसके चिन्तन के कारण बार-बार सोऽहं सोऽहं' (अर्थात् 'जो वीतराग है, वही मैं हूं,) इस प्रकार की अन्तर्ध्वनि करता हुआ ध्याता निःशंकभाव से आत्मा और परमात्मा की एकरूपता का अनुभव करे। तदनन्तर वह वीतराग, वीतद्वेष, निर्मोह, सर्वज्ञ-सर्वदर्शी, देवों से पूज्य, समवसरण में स्थित हो कर धर्मदेशना करते हुए परमात्मा के साथ अपना अभिन्नरूप मान कर ध्यान करे। इस तरह का ध्यान करने वाला ध्याता समस्त पापकर्मों का नाश करके परमात्मत्व को प्राप्त कर लेता है।

और भी दूसरे प्रकार से पदमयी देवता की ध्यानविधि पांच श्लोकों द्वारा बताते हैं—

यद्वा मन्त्राधिपं धीमान् ऊर्ध्वाधो-रेफसंयुतम् ।
कलाबिन्दुसमाक्रान्तम् अनाहतयुतं तथा ॥१८॥

कनकाम्भोजगर्भस्थं, सान्द्रचन्द्रांशुनिर्मलम् ।
गगने संचरन्तं च, व्याप्नुवन्तं दिशः स्मरेत् ॥१९॥
ततो विशन्तं वक्त्राब्जे, भ्रमन्तं भ्रूलतान्तरे ।
स्फुरन्तं नेत्रपत्रेषु, तिष्ठन्तं भालमण्डले ॥२०॥
निर्यान्तं तालुरन्ध्रेण, स्रवन्तं च सुधारसम् ।
स्पर्धमानं शशांकेन, स्फुरन्तं ज्योतिरन्तरे ॥२१॥
संचरन्तं नभोभागे, योजयन्तं शिवश्रिया ।
सर्वावयवसम्पूर्णं, कुम्भकेन विचिन्तयेत् ॥२२॥

अर्थ—अथवा बुद्धिमान ध्याता स्वर्णकमल के गर्भ में स्थित, चन्द्रमा की सघन किरणों के समान निर्मल, आकाश में संचरण करते हुए और समस्त दिशाओं में फैलते हुए रेफ से युक्त, कला और बिन्दु से घिरे हुए अनाहत-सहित मन्त्राधिप अर्हं का चिन्तन करे। उसके बाद मुखकमल में प्रवेश करते हुए, भ्रूलता में भ्रमण करते हुए, नेत्रपत्रों में स्फुरायमान होते हुए, भालमण्डल में स्थित, तालु के रन्ध्र से बाहर निकलते हुए, अमृत-रस बरसाते हुए, उज्ज्वलता में चन्द्रमा के प्रतिस्पर्धी, ज्योतिर्मण्डल में विशेष प्रकार से चमकते हुए, आकाश-प्रदेश में संचार करते हुए और मोक्षलक्ष्मी के साथ मिलाप कराते हुए समस्त अवयवों से परिपूर्ण 'अर्हं' मन्त्राधिराज का बुद्धिमान योगी को कुंभक के द्वारा चिन्तन करना चाहिए। कहा है कि—

"अकादि-हकारान्तं, रेफमध्यं सबिन्दुकम् ।
तदेव परमं तत्त्वं, यो जानाति स तत्त्ववित् ॥१॥

अर्थ—अकार जिसके आदि में है, हकार जिसके अन्त में है और बिन्दुसहित रेफ जिसके मध्य में है, वही 'अर्हं' परम तत्त्व है। उसे जो जान लेता है, वही वास्तव में तत्त्वज्ञ है।

अब मन्त्रराज के ध्यान का फल कहते हैं—

महातत्त्वमिदं योगी, यदैव ध्यायति स्थिरः ।
तदैवानन्दसम्पद्भूः, मुक्तिश्रीरुपतिष्ठते ॥२३॥

अर्थ—जो योगी चित्त को स्थिर करके इस महातत्व-स्वरूप 'अर्हं' का ध्यान करता है, उसके पास उसी समय आनंदरूप सम्पद्भूमि के समान मोक्ष-लक्ष्मी हाजिर हो जाती है।

उसके बाद की विधि बताते हैं—

रेफ-बिन्दु-कलाहीनं शुभ्रं ध्यायेत् ततोऽक्षरम् ।
ततोऽनक्षरतां प्राप्तम्, अनुच्चार्यं विचिन्तयेत् ॥२४॥

अर्थ—उसके बाद रेफ, बिन्दु और कला से रहित उज्ज्वल 'ह' वर्ण का ध्यान करे।

उसके बाद वह 'ह' अक्षर मानो अनक्षर बन गया हो, इस रूप में मुख से उच्चारण किये बिना ही चिन्तन करे। उसके बाद—

निशाकर-कलाकारं, सूक्ष्मं भास्करभास्वरम् ।
अनाहताभिधं देवं, विस्फुरन्तं विचिन्तयेत् ॥२५॥

अर्थ—दूज के चन्द्रमा की कला के आकारसदृश सूक्ष्म एवं सूर्य के समान देदीप्यमान अनाहत नामक देव को अनुच्चार्य मान कर अनक्षर की आकृति को प्राप्त उस स्फुरायमान ह वर्ण का चिन्तन करना चाहिए।

तदेवं च क्रमात् सूक्ष्मं ध्यायेद् बालाग्रसन्निभम् ।
क्षणमव्यक्तमीक्षेत, जगज्ज्योतिर्मयं ततः ॥२६॥

अर्थ— उसके बाद उसी अनाहत 'ह' का बाल के अग्रभाग के समान सूक्ष्मरूप में चिन्तन करे, फिर थोड़ी देर तक जगत को अव्यक्त, निराकार और ज्योतिर्मय स्वरूप में देखे। वह इस प्रकार—

प्रच्याव्यमानसंलक्ष्याद् अलक्ष्ये दधतः स्थिरम् ।
ज्योतिरक्षयमत्यक्षम्, अन्तरुन्मीलति क्रमात् ॥२७॥

अर्थ—फिर लक्ष्य से मन को धीरे-धीरे हटा कर अलक्ष्य में स्थिर करने पर अन्दर एक ऐसी ज्योति उत्पन्न होती है, जो अक्षय और इन्द्रियों से अगोचर होती है; वह क्रमशः अंतर को खोल देती है।

इस विषय का उपसंहार करते हैं—

इति लक्ष्यं समालम्ब्य लक्ष्याभावः प्रकाशितः ।
निषण्णमनसस्तत्र, सिध्यत्यभिमतं मुनेः ॥२८॥

अर्थ—इस प्रकार लक्ष्य का आलम्बन ले कर निरालम्ब-स्वरूप लक्ष्याभाव को प्रकाशित किया है। अलक्ष्य में मन को स्थापित करने वाले मुनि का मनोवांछित फल सिद्ध हो जाता है।

भावार्थ—इस तरह अनाहत-अव्यक्त मंत्रराज कहा है। पूर्वोक्त विधि के अनुसार लक्ष्य का आलम्बन ग्रहण करके उसमें आगे बढ़ते हुए क्रमशः आलम्बन का त्याग कर निरालंबन-स्थिति में निश्चल होना चाहिए। इससे आत्मस्वरूप प्रकट होता है। इसलिए प्रथम सालंबन ध्यान और बाद में निरालंबन ध्यान करना चाहिए।

अब दूसरे उपाय से परमेष्ठि-वाचक मन्त्रमयी देवता की ध्यान-विधि को दो श्लोकों द्वारा बताते हैं—

तथा हृत्पद्ममध्यस्थं, शब्दब्रह्मैककारणम् ।
स्वरव्यञ्जनसंवीतं वाचकं परमेष्ठिनः ॥२९॥
मूर्धसंस्थित-शीतांशु-कलामृतरसप्लुतम् ।
कुम्भकेन महामन्त्रं, प्रणवं परिचिन्तयेत् ॥३०॥

अर्थ—तथा हृदयकमल के मध्य में स्थित (वचन-विलासस्वरूप) शब्द-ब्रह्म को उत्पत्ति के एकमात्र कारण, स्वर और व्यञ्जनों से युक्त पंचपरमेष्ठी के वाचक एवं मस्तक में स्थित चन्द्रकला से निकलते हुए अमृतरस से तरबतर महामन्त्र ॐकार (प्रणव) का कुंभक (श्वासोच्छ्वास को रोक) करके ध्यान करना चाहिए।

ध्येयतत्व के दूसरे भेद कहते हैं—

पीतं स्तम्भेऽरुणं वश्ये, क्षोभणे विद्रुमप्रभम् ।
कृष्णं विद्वेषणे ध्यायेत् कर्मघाते शशिप्रभम् ॥३१॥

अर्थ—स्तंभन-कार्य करने में पीले ॐकार का, वशीकरण में लाल वर्ण का, क्षोभण-कार्य में मूंगे के रंग का, विद्वेषण-कार्य में काले वर्ण का और कर्मों का नाश करने के लिए चन्द्रमा के समान उज्ज्वल श्वेत-वर्ण के ॐकार का ध्यान करना चाहिए।

भावार्थ—यद्यपि कर्मक्षय के अभिलाषी को चन्द्रकान्ति के समान उज्ज्वल ॐ (प्रणव) का ध्यान करना ही योग्य है, तथापि किसी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप विभिन्न परिस्थितियों में पीत आदि का ध्यान भी उपकारी हो सकता है। इसलिए यहाँ 'ॐ' के ध्यान का विधान किया है।

अन्य प्रकार से पदमयी देवता की ध्यानविधि कहते हैं—

तथा पुण्यतमं मन्त्रं जगत् त्रितयपावनम् ।
योगी पंचपरमेष्ठि-नमस्कारं विचिन्तयेत् ॥३२॥

अर्थ—तथा तीन जगत् को पवित्र करने वाले महान् पुण्यतम पंचपरमेष्ठि-नमस्कार मंत्र का ध्यान ही विशेषरूप से योगी को करना चाहिए।

वह इस प्रकार किया जा सकता है—

अष्टपत्रे सिताम्भोजे, कर्णिकायां कृतस्थितिम् ।
आद्यं सप्ताक्षरं मंत्रं, पवित्रं चिन्तयेत् ततः ॥३३॥

अर्थ—आठ पखुड़ी वाले सफेद कमल का चिन्तन करके उसकी कर्णिका में स्थित सात अक्षर वाले पवित्र 'नमो अरिहंताणं' मन्त्र का चिन्तन करना चाहिए।

सिद्धादिकचतुष्कं च, दिक्पत्रेषु यथाक्रमम् ।
चूला-पादचतुष्कं च, विदिक्पत्रेषु चिन्तयेत् ॥३४॥

अर्थ—फिर सिद्धादिक चार मंत्रपदों का अनुक्रम से चार दिशाओं की पखुड़ियों में और चूलिकाओं के चार पदों का विदिशा की पंखुड़ियों में चिन्तन करना चाहिए।

भावार्थ—पूर्वदिशा में 'नमो सिद्धाणं', दक्षिण दिशा में 'नमो आयरियाणं', पश्चिम दिशा में 'नमो उवज्झायाणं' और उत्तरदिशा में 'नमो लोए सव्वसाहूणं' का चिन्तन करना चाहिए तथा विदिशा की चार पखुड़ियों में अग्निकोण में 'एसो पंच नमुक्कारो', नैऋत्यकोण में 'सव्वपावप्पणासणो', वायव्यकोण में 'मंगलाणं च सव्वेसिं' और ईशानकोण में 'पढमं हवइ मंगलं'; इस प्रकार पंचपरमेष्ठिनमस्कारमन्त्र का ध्यान करना चाहिए।

अब मन्त्र के चिन्तन का फल बताते हैं—

त्रिशुद्ध्या चिन्तयंस्तस्य, शतमष्टोत्तरं मुनिः ।
भुञ्जानोऽपि लभेतैव चतुर्थतपसः फलम् ॥ ३५॥

अर्थ—मन, वचन और काया की शुद्धिपूर्वक एकाग्रता से एकसौ आठ बार इस महामन्त्र नमस्कार का जाप करने वाला मुनि आहार करता हुआ भी एक उपवास का फल प्राप्त करता है।

एनमेव महामन्त्रं समाराध्येह योगिनः ।
त्रिलोक्येऽपि महीयन्तेऽधिगताः परमां श्रियम् ॥३६॥
कृत्वा पापसहस्राणि, हत्वा जन्तुशतानि च ।
अमुं मन्त्रं समाराध्य, तिर्यञ्चोऽपि दिवं गताः ॥३७॥

अर्थ—योगीपुरुष इसी महामन्त्र की यहाँ अच्छी तरह आराधना करके श्रेष्ठ आत्म-लक्ष्मी के अधिकारी बन कर तीन जगत् के पूजनीय बन जाते हैं। हजारों पाप करके और सैकड़ों जीवों का हनन करके तिर्यञ्च जैसे जीव भी इस मन्त्र की सम्यक् आराधना करके स्वर्ग में पहुंच गये हैं।

बैल के जीव कम्बल और शम्बल, चण्डकौशिक सर्प, नन्दन मेंढक आदि देवलोक में गये है। अन्य प्रकार से पंचपरमेष्ठी-विद्या कहते हैं—

गुरुपञ्चक-नामोत्था विद्या स्यात् षोडशाक्षरा ।
जपन् शतद्वयं तस्याश्चतुर्थस्याप्नुयात्फलम् ॥३८॥

अर्थ—गुरुपंचक अर्थात् पचपरमेष्ठो के नाम से उत्पन्न हुआ 'नमः' पद और विभक्तिरहित उनके नाम 'अरिहंत सिद्ध आयरिय उवज्झाय साहू' इस तरह सोलह अक्षर की विद्या का दो सौ बार जाप करने से एक उपवास का फल प्राप्त होता है।

शतानि त्रीणि, षट्वर्णं चत्वारि चतुरक्षरम् ।
पंचवर्णं जपन् योगी, चतुर्थफलमश्नुते ॥३९॥

अर्थ—'अरिहंत सिद्ध' इन छह अक्षर वाली विद्या का तीन सौ बार, 'अरिहंत' इन चार अक्षरों की विद्या का चारसौ बार, 'असि आ उ सा' इन पंचाक्षर अथवा अकार मन्त्र का पांच सौ जप करने वाले योगी को एक एक उपवास का फल मिलता है।

यह सामान्य उपवास का फल भद्रिक आत्माओं के लिए कहा है, मुख्यफल तो स्वर्ग और मोक्ष है। इसे ही आगे बताते हैं—

प्रवृत्तिहेतुरेवैतद्, अमीषां कथितं फलम् ।
फलं स्वर्गापवर्गं तु वदन्ति परमार्थतः ॥४०॥

अर्थ—इन सब मन्त्रों के जाप का फल जो एक उपवास बतलाया है, वह बाल-जीवों को जाप में प्रवृत्त करने के लिए कहा है। परमार्थरूप से तो ज्ञानी पुरुष इसका फल स्वर्ग और अपवर्गरूप बताते हैं।

दूसरे प्रकार से पदमयी देवता का ध्यान कहते हैं—

पंचवर्णमया पंचतत्त्वा विद्योद्धृता श्रुतात् ।
अभ्यस्यमाना सततं भवक्लेशं निरस्यति ॥४१॥

अर्थ—विद्याप्रवाद नाम के पूर्व से उद्धृत की हुई पंचवर्ण वाली पंचतत्त्वरूप "ह्रां, ह्रीं, ह्रूं, ह्रौं, ह्रः अ सि आ उ सा नमः" विद्या के जाप का निरंतर अभ्यास किया जाए तो वह संसार के क्लेश को मिटाती है ।

मंगलोत्तमशरण-पदान्यव्यग्रमानसः ।
चतुःसमाश्रयाण्येव, स्मरन् मोक्षं प्रपद्यते ॥४२॥

अर्थ—मंगल, उत्तम और शरण इन तीनों पदों को अरिहंत, सिद्ध, साधु और धर्म के साथ जोड़ कर एकाग्रचित्त स्मरण से करने वाला ध्याता मोक्ष को प्राप्त करता है ।

भावार्थ—वह इस प्रकार है · चत्तारि मंगलं—अरिहंता मंगलं, सिद्धा मंगलं, साहू मंगलं, केवलिपन्नत्तो धम्मो मंगलं । चत्तारि लोगुत्तमा, अरिहंता लोगुत्तमा, सिद्धा लोगुत्तमा, साहू लोगुत्तमा, केवलिपन्नत्तो धम्मो लोगुत्तमो । चत्तारि सरणं पवज्जामि, अरिहंते सरणं पवज्जामि, सिद्धे सरणं पवज्जामि, साहू सरणं पवज्जामि, केवलि पन्नत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि । मतलब यह है कि मंगल, उत्तम और शरण इन तीन पदों को उक्त चारों पदों के साथ जोड़ना चाहिए ।

अब आधे श्लोक से विद्या और आधे श्लोक से मन्त्र कहते हैं—

मुक्ति-सौख्यप्रदां ध्यायेद् विद्यां पंचदशाक्षराम् ।
सर्वज्ञाभं स्मरेन्मन्त्रं सर्वज्ञान-प्रकाशकम् ॥४३॥

अर्थ—मुक्ति-सुखदायिनी पन्द्रह अक्षरों की विद्या "ॐ अरिहंत-सिद्धसयोगिकेवली स्वाहा" का ध्यान करना चाहिए । तथा सम्पूर्ण ज्ञान को प्रकाशित करने वाले सर्वज्ञ-तुल्य "ॐ श्रीं ह्रीं अर्हं नमः" नामक मन्त्र का स्मरण करना चाहिए ।

इसे सर्वज्ञ-तुल्य मन्त्र कहा है, उसकी महिमा बताते हैं—

वक्तुं न कश्चिदप्यस्य, प्रभावं सर्वतः क्षमः ।
समं भगवता साम्यं, सर्वज्ञेन बिभर्ति यः ॥४४॥

अर्थ—यह मन्त्र सर्वज्ञ भगवान् की समानता को धारण करता है । इस मन्त्र और विद्या के प्रभाव को पूरी तरह कहने में कोई भी समर्थ नहीं है ।

यदीच्छेद् भवदावाग्नेः, समुच्छेदं क्षणादपि ।
स्मरेत् तदाऽऽदिमन्त्रस्य वर्णसप्तकमादिमम् ॥४५॥

अर्थ—यदि संसाररूपी दावानल को क्षणभर में शान्त करना चाहते हो तो, तुम्हें प्रथम मन्त्र के प्रथम सात अक्षर 'नमो अरिहंताणं' का स्मरण करना चाहिए ।

अन्य दो मन्त्रों का विधान करते हैं—

पंचवर्णं स्मरेन्मन्त्रं कर्मनिर्घातकं तथा ।
वर्णमालांचितं मन्त्रं ध्यायेत् सर्वाभयप्रदम् ॥४६॥

अर्थ—आठ कर्मों का नाश करने के लिए पांच अक्षरों वाले 'नमो सिद्धाणं' मन्त्र का तथा समस्त प्रकार का अभय प्राप्त करने के लिए वर्णमालाओं से युक्त "ॐ नमो अर्हते केवलिने परमयोगिने विस्फुरदुरु शुक्ल-ध्यानाग्निनिर्दग्धकर्मबीजाय प्राप्तानन्तचतुष्टयाय सौम्याय शान्ताय मंगलवरदाय अष्टादशदोषरहिताय स्वाहा" मन्त्र का ध्यान करना चाहिए ।

फल-सहित ह्रीँकार मन्त्र को दस श्लोक से कहते हैं—

ध्यायेत् सिताब्जं वक्त्रान्तरष्टवर्गी दलाष्टके ।
ॐ नमो अरिहंताणं इति वर्णानपि क्रमात् ॥४७॥
केसराली-स्वरमयीं सुधाबिन्दु-विभूषिताम् ।
कर्णिकां कर्णिकायां च, चन्द्रबिम्बात् समापतत् ॥४८॥
संचरमाणं वक्त्रेण, प्रभामण्डलमध्यगम् ।
सुधादीधिति-संकाशं, मायाबीजं विचिन्तयेत् ॥४९॥
ततो भ्रमन्तं पत्रेषु, संचरन्तं नभस्तले ।
ध्वंसयन्तं मनोध्वान्तं, स्रवन्तं च सुधारसम् ॥५०॥
तालुरन्ध्रेण गच्छन्तं लसन्तं भ्रूलतान्तरे ।
त्रैलोक्याचिन्त्यमाहात्म्यं, ज्योतिर्मयमिवाद्भुतम् ॥५१॥
इत्थं ध्यायतो मन्त्रं, पुण्यमेकाग्रचेतसः ।
वाङ्मनोमलमुक्तस्य श्रुतज्ञानं प्रकाशते ॥५२॥
मासैः षड्भिः कृताभ्यासः स्थिरीभूतमनास्ततः ।
निःसरन्तीं मुखाम्भोजात्, शिखां धूमस्य पश्यति ॥५३॥
संवत्सरं कृताभ्यासः ततो ज्वालां विलोकते ।
ततः संजातसंवेगः सर्वज्ञमुखपंकजम् ॥५४॥
स्फुरत्कल्याणमाहात्म्यं सम्पन्नातिशयं ततः ।
भामण्डलगतं साक्षादिव सर्वज्ञमीक्षते ॥५५॥
ततः स्थिरीकृतस्वान्तः तत्र संजातनिश्चयः ।
मुक्त्वा संसारकान्तारम्, अध्यास्ते सिद्धिमन्दिरम् ॥५६॥

अर्थ—मुख के अन्दर आठ पंखुड़ियों वाले श्वेत-कमल का चिन्तन करे, और उन पंखुड़ियों में आठ वर्ग—(१) अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, लृ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः;

(२) क, ख, ग, घ, ङ; (३) च, छ, ज, झ, ञ ; (४) ट, ठ, ड, ढ, ण ; (५) त, थ, द, ध, न ; (६) प, फ, ब, भ, म ; (७) य, र, ल, व ; (८) श, ष, स, ह ; को क्रमशः स्थापना करना तथा 'ॐ नमो अरिहंताणं' इन आठ अक्षरों में से एक-एक अक्षर को एक-एक पंखुड़ी पर स्थापित करना। उस कमल की केसरा के चारों तरफ के भागों में अ आ आदि सोलह स्वर स्थापित करना और मध्य की कर्णिका को चन्द्रबिम्ब से गिरते हुए अमृत के बिन्दुओं से विभूषित करना। उसके बाद कर्णिका में मुख से संचार करते हुए प्रभामण्डल में स्थित और चन्द्रमा के समान उज्ज्वल 'ह्रीं' मायाबीज का चिन्तन करना। तदनन्तर प्रत्येक पंखुड़ी पर भ्रमण करते हुए, आकाशतल में विचरण करते हुए, मन की मलिनता को नष्ट करते हुए, अमृतरस बहाते हुए, तालुरन्ध्र से जाते हुए भ्रकुटि के मध्य में सुशोभित; तीन लोकों में अचिन्त्य महिमासम्पन्न, मानो अद्भुत ज्योतिर्मय इस पवित्र मन्त्र का एकाग्रचित्त से ध्यान करने से मन और वचन की मलीनता नष्ट हो जाती है और श्रुतज्ञान प्रकट होता है। इस तरह निरन्तर छह महीने तक अभ्यास करने से साधक का मन जब स्थिर हो जाता है, तब वह अपने मुखकमल से निकलती हुई धूम-शिखा देखता है। एक वर्ष तक ध्यान करने वाला साधक ज्वाला देखता है और उसके बाद विशेष संवेग की वृद्धि होने पर सर्वज्ञ का मुखकमल देखने में समर्थ होता है। इससे आगे बढ़कर कल्याणमय माहात्म्य से देदीप्यमान, समस्त अतिशय से सम्पन्न और प्रभामण्डल में स्थित सर्वज्ञ को प्रत्यक्ष-सा देखने लगता है। बाद में सर्व . के स्वरूप में मन स्थिर करके वह आत्मा संसार-अटवी को पार कर सिद्धि-मंदिर में विराजमान हो जाता है।

यहाँ तक मायाबीज ह्रीं का ध्यान बतलाया। अब क्ष्वीं विद्या के सम्बन्ध में कहते हैं—

शशिबिम्बादिवोद्भूतां, स्रवन्तीममृतं सदा ।

विद्यां 'क्ष्वीं' इति भालस्थां ध्यायेत्कल्याणकारणम् ॥५७॥

अर्थ—मानो चन्द्र के बिम्ब से समुत्पन्न हुई हो, ऐसी सदा उज्ज्वल अमृतवर्षिणी 'क्ष्वीं' नाम की विद्या को अपने ललाट में स्थापन करके साधक को कल्याण के लिए उसका ध्यान करना चाहिए। तथा—

क्षीराम्भोधेर्विनिर्यान्तीं, प्लावयन्तीं सुधाम्बुभिः ।

भाले शशिकलां ध्यायेत्, सि[illegible] सोपानपद्धतिम् ॥५८॥

अर्थ—क्षीरसमुद्र से निकलती हुई एवं सुधा-समान जल से सारे लोक को प्लावित करती हुई सिद्धिरूपी महल के सोपानों की पंक्ति के समान चन्द्रकला का ललाट में ध्यान करना चाहिए।

इस ध्यान का फल कहते हैं—

अस्याः स्मरणमात्रेण, त्रुट्य[illegible]भवानबन्धनः ।

प्रयाति परमान- -कारणं पदमव्ययम् ॥५९॥

अर्थ—इस चन्द्रकला का स्मरण करने मात्र से साधक के संसार का कारणरूप कर्म-

मरण का बन्धन खत्म हो जाता है और वह परमानन्द के कारणरूप अव्ययपद-मोक्ष को प्राप्त करता है।

नासाग्रे प्रणवः शून्यम् अनाहतमिति त्रयम् ।
ध्यायन् गुणाष्टकं लब्ध्वा ज्ञानमाप्नोति निर्मलम् ।।६०।।

अर्थ—नासिका के अग्रभाग पर प्रणव 'ॐ' शून्य '०' और अनाहत 'ह्' इन तीन (ॐ, ० और ह्) का ध्यान करने वाला अणिमादि आठ सिद्धियों को प्राप्त करके निर्मलज्ञान प्राप्त कर लेता है।

शंख-कुन्द-शशांकाभान् त्रीनमून् ध्यायतः सदा ।
समग्रविषयज्ञान-प्रागल्भ्यं जायते नृणाम् ।।६१।।

अर्थ—शंख, कुन्द और चन्द्र के समान उज्ज्वल प्रणव, शून्य और अनाहत इन तीनों का सदा ध्यान करने वाले पुरुष समस्त विषयों के ज्ञान में पारंगत हो जाता है । तथा—

द्विपार्श्वे प्रणवद्वन्द्वं प्रान्तयोर्माययावृतम् ।
'सोऽहं' मध्ये विमूर्धानं अर्हंम्लींकारं विचिन्तयेत् ।।६२।।

अर्थ—जिसके दोनों ओर दो-दो ॐकार हैं, आदि और अन्त में (किनारे पर) ह्रींकार है, मध्य में सोऽहं है, उस सोऽहं के मध्य में अर्ह्म्लीं है । अर्थात् 'ह्रीं ॐ ॐ सो अर्ह्म्लीं हं ॐ ॐ ह्रीं' इस रूप में इस मंत्र का ध्यान करना चाहिए ।

कामधेनुमिवाचिन्त्य-फल-सम्पादन-क्षमाम् ।
अनवद्यां जपेद्विद्यां गणभृद्-वदनोद्-गताम् ।।६३।।

अर्थ—कामधेनु के समान अचिन्त्य फल देने में समर्थ श्रीगणधर-भगवान् के मुख से निर्गत निर्दोष विद्या का जाप करना चाहिए। वह विद्या इस प्रकार है—"ॐ जोग्गे मग्गे तच्चे भूए भव्वे भविस्से अन्ते पक्खे जिणपासे स्वाहा ।"

षट्कोणेऽप्रतिचक्रे फट् इति प्रत्येकमक्षरम् ।
सव्ये न्यसेद् 'विचक्राय स्वाहा' बाह्येऽपसव्यतः ।।६४।।
भूतान्तं [illegible] तन्मध्ये न्यस्य चिन्तयेत् ।
'नमो जिणाणं' इत्याद्यैः 'ॐ' [illegible] बहिः ।।६५।।

अर्थ—पहले षट्कोण यंत्र का चिन्तन करे। उसके प्रत्येक खाने में 'अप्रतिचक्रे फट्' इन छह अक्षरों में से एक-एक अक्षर लिखे। इस यन्त्र के बाहर उलटे क्रम से 'विचक्राय स्वाहा' इन छह अक्षरों में से एक-एक अक्षर कोनों के पास लिखना, बाद में 'ॐ नमो जिणाणं, ॐ नमो ओहिजिणाणं, ॐ नमो परमोहिजिणाणं, ॐ नमो सव्वोसहिजिणाण, ॐ नमो अणंतोहिजिणाणं, ॐ नमो कोट्ठबुद्धीणं, ॐ नमो बीयबुद्धीणं, ॐ नमो पयाणुसारीणं, ॐ नमो संभिन्नसोआणं, ॐ नमो उज्जुमईणं, ॐ नमो विउलमईणं, ॐ नमो दसपुव्वीणं, ॐ नमो चउदस[illegible]व्वीणं, ॐ नमो अट्ठंगमहानिमित्त-कुसलाणं, ॐ नमो विउव्वणइड्ढिपत्ताणं,

ॐ नमो विज्जाहराणं, ॐ नमो चारणाणं, ॐ नमो पण्णासमणाणं, ॐ नमो आगासगामीणं, ॐ क्ष्वीं क्ष्वीं श्रीं ह्रीं धृति-कीर्ति-बुद्धि-लक्ष्मी स्वाहा। इन पदों से पिछले वलय की पूर्ति करे। फिर पंच-परमेष्ठी-महामन्त्र के पांच पदों का पांच अंगुलियों में स्थापन करने से सकलीकरण होता है। 'ॐ नमो अरिहंताणं ह्रां स्वाहा' अंगूठे में, 'ॐ नमो सिद्धाणं ह्रीं स्वाहा' तर्जनी में, 'ॐ नमो आयरियाणं ह्रूं स्वाहा' मध्यमा में, 'ॐ नमो उवज्झायाणं ह्रैं स्वाहा' अनामिका में, 'ॐ नमो लोए सव्वसाहूणं ह्रौं स्वाहा' कनिष्ठा अंगुलि में स्थापना करके यंत्र के मध्य में बिन्दुसहित ॐकार की स्थापना करे। इस तरह तीन बार अंगुलियों में विन्यास करके यन्त्र को मस्तक पर पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तरदिशा के अन्तर-भाग में स्थापित करके जाप-चिन्तन करे। तथा—

अष्टपत्रेऽम्बुजे ध्यायेद्, आत्मानं दीप्ततेजसम्।
प्रणवाद्यस्य मन्त्रस्य, वर्णान् पत्रेषु च क्रमात् ॥६६॥

पूर्वाशाभिमुखः पूर्वम्, अधिकृत्याऽऽदिमण्डलम्।
एकादशशतान्यष्टाक्षरं, मन्त्रं जपेत् ततः ॥६७॥

पूर्वाशा[illegible]क्रमादेवम् [illegible]श्यान्यदलान्यपि।
अष्टरात्रं जपेद् योगी, सर्वप्रत्यूहशान्तये ॥६८॥

अष्टरात्रे [illegible], कमलस्यास्य वर्तिषु।
निरूपति पत्रेषु वर्णानेताननुक्रमम् ॥६९॥

भीषणाः सिंह-मातंगरक्षःप्रभृतयः क्षणात्।
शाम्यन्ति व्यन्तराश्चान्ये, ध्यानप्रत्यूहहेतवः ॥७०॥

मन्त्रः प्रणवपूर्वोऽयं, फलमैहिकमिच्छुभिः।
ध्येयः प्रणवहीनस्तु निर्वाणपदकांक्षिभिः ॥७१॥

अर्थ—आठ पंखुड़ी वाले कमल में झिलमिल तेज से युक्त आत्मा का चिन्तन करना, और ॐ कारपूर्वक प्रथम मन्त्र के (ॐ नमो अरिहंताणं') इन आठ वर्णों को क्रमशः आठों पत्रों पर स्थापन करना। प्रथम पंखुड़ी की गणना पूर्वदिशा से आरंभ करना; उसमें ॐ स्थापित करना, बाद में यथाक्रम से शेष सात अक्षर स्थापित करना। इस अष्टाक्षरी मन्त्र का कमल के पत्रों पर ग्यारह सौ जाप करना। इस अनुक्रम से शेष दिशा-विदिशाओं में स्थापना करके समस्त उपद्रव की शान्ति के लिए योगी को आठ दिन तक इस अष्टाक्षरी विद्या का जाप करना चाहिए। जाप करते हुए आठ रात्रि व्यतीत हो जाने पर कमल के अन्दर पत्रों पर स्थित अष्टाक्षरी विद्या के इन आठों वर्णों के क्रमशः दर्शन होंगे। योगी जब इन ८ वर्णों का साक्षात्कार कर लेता है तो उसमें ऐसा सामर्थ्य प्रकट हो जाता है कि ध्यान में उपद्रव करने वाले भयानक सिंह, हाथी राक्षस और भूत, व्यंतर, प्रेत आदि उसके प्रभाव से शान्त हो जाते हैं। इहलौकिक फल के अभिलाषियों को 'नमो अरिहंताणं' इस मन्त्र का ॐकार सहित ध्यान करना चाहिए, परन्तु निर्वाणपद के इच्छुक को प्रणव (ॐ)-रहित मन्त्र का ध्यान करना चाहिए। (ॐ नमो अरिहंताणं) प्रणवयुक्त मन्त्र है।

अन्य मन्त्र और विद्या का प्रतिपादन करते हैं—

चिन्तय न्यमप्येनं, मन्त्रं कर्मौघशान्तये ।

स्मरेत् सत्त्वोपकाराय, विद्यां तां पापभक्षिणीम् ॥७२॥

अर्थ—"श्रीमद्-ऋषभादि-वर्धमानान्तेभ्यो नमः" इस मन्त्र का भी कर्मों के समूह को शान्त करने के लिए ध्यान करना चाहिये और समस्त जीवों के उपकार के लिए पापभक्षिणी विद्या का भी स्मरण करना चाहिए। वह इस प्रकार है—'ॐअर्हन्मुखकमलवासिनि ! पापात्म-क्षयंकरि ! श्रुतज्ञानज्वालासहस्रज्वलिते ! सरस्वति ! मत्पापं हन हन दह दह क्षां क्षीं क्षूं क्षौंक्षःक्षीरधवले ! अमृतसम्भवे ! वं वं हूं हूं स्वाहा ॥'

इसका फल कहते हैं—

प्रसीदति मनः सद्यः, पापका ्ष्यमुज्झति ।

प्रभावातिशयादस्याः ज्ञानदीपः प्रकाशते ॥७३ ।

अर्थ—इस विद्या के प्रभाव से मन तत्काल प्रसन्न हो जाता है, पाप की मलिनता नष्ट हो जाती है और ज्ञान का दीपक प्रकाशित हो जाता है।

ज्ञानवद्भिः समाम्नातं, वज्रस्वाम्यादिभिः स्फुटम् ।

विद्यावादात् समुद्धृत्य बीजभूतं शिवश्रियः ॥७४॥

जन्मदावहुताशस्य प्रशान्त्यै नववारिदम् ।

गुरूपदेशाद् विज्ञाय, सिद्धचक्रं विचिन्तयेत् ॥७५॥

अर्थ—वज्रस्वामी आदि पूर्व-श्रुतज्ञानी पुरुषों ने विद्याप्रवाद नामक पूर्व में से जिसे उद्धृत किया है, और जिसे मोक्षलक्ष्मी का बीज माना है, जो जन्ममरण के दावानल को शान्त करने के लिए नये मेघ के समान है, उस सिद्धचक्र को गुरु महाराज के उपदेश से जान कर कर्मक्षय के लिए उसका ध्यान करना चाहिए। तथा—

नाभिपद्मे स्थितं ध्याय ेत्कारं विश्वतोमुखम् ।

'सि'वर्णं मस्तकाम्भोजे, 'आ'कारं वदनाम्बुजे ॥७६॥

'उ'कारं हृदयाम्भोजे, 'सा'कारं कण्ठपंकजे ।

सर्वकल्याणकारीणि बीजान्यन्यान्यपि स्मरेत् ॥७७॥

अर्थ—नाभि-कमल में सर्वव्यापी अकार का, मस्तक-कमल में 'सि' वर्ण का, मुख कमल में 'आ, का, हृदय कमल में उकार का और कंठकमल में 'सा' का ध्यान करना तथा सर्व प्रकार के कल्याण करने वाले अन्य बीजाक्षरों का भी स्मरण करना चाहिए। वह अन्य बीजाक्षर 'नमः सर्वसिद्धेभ्यः' है।

अब उपसंहार करते हैं—

श्रुतसिन्धुसमुद्भूतं, अन्यदप्यक्षरं पदम् ।

अशेषं ध्यायमानं स्यात् निर्वाणपदसि ये ॥७८॥

अर्थ—श्रुतरूपी समुद्र से उत्पन्न हुए अन्य अक्षरों, पदों आदि का ध्यान भी निर्वाणपद की प्राप्ति के लिए किया जा सकता है।

वीतरागो भवेद् योगी, यत् किञ्चिदपि चिन्तयेत् ।
तदेव ध्यानमाम्नातम्, अतोऽन्ये ग्रन्थ-विस्तराः ॥७९॥
एवं च मन्त्रविद्यानां, वर्णेषु च पदेषु च ।
विश्लेषं क्रमशः कुर्यात् लक्ष्मी (क्ष्यी) भावोपपत्तये ॥८०॥

अर्थ—जिस किसी भी अक्षर, पद, वाक्य, शब्द, मन्त्र एवं विद्या का ध्यान करने से योगी राग-द्वेष से रहित होता है, उसी का ध्यान ध्यान माना गया है; उसके अतिरिक्त सब ग्रन्थविस्तार है। ग्रन्थ विस्तृत हो जाने के भय से हमने यहाँ उन्हें नहीं बताया, जिज्ञासु अन्य ग्रन्थों से उन्हें जान लें। मोक्षलक्ष्मी (लक्ष्य) की प्राप्ति के लिए इस तरह मन्त्रों और विद्याओं के वर्णों और पदों में क्रमशः विभाग (विश्लेषण) कर लेना चाहिए।

अब आशीर्वाद देते हैं—

इति गणधरधुर्याविष्कृतादुद्धृतानि, प्रवचनजलराशेस्तत्त्वरत्नान्यमूनि ।
हृदयमुकुरमध्ये धीमतामुल्लसन्तु, प्रचितभवशतोत्थक्लेशनिर्नाशहेतोः ॥८१॥

अर्थ—इस प्रकार मुख्य गणधर-भगवन्तों द्वारा प्रकट किए हुए प्रवचनरूपसमुद्र में से ये तत्त्वरत्न उद्धृत किये हैं। ये तत्त्वरत्न अनेक भवों के संचित कर्म-क्लेशों का नाश करने के लिए बुद्धिमान पुरुषों के हृदय-रूपी दर्पण में उल्लसित हों।

इस प्रकार परमार्हत श्रीकुमारपाल राजा की जिज्ञासा से आचार्यश्री
हेमचन्द्राचार्य-सूरीश्वररचित 'अध्यात्मोपनिषद्' नामक
पट्टबद्ध अपरनाम 'योगशास्त्र' का
स्वोपज्ञविवरणसहित अष्टम
प्रकाश सम्पूर्ण हुआ।

ॐ अर्हते नमः

९ : नवम प्रकाश

अब सात श्लोकों द्वारा रूपस्थध्यान का स्वरूप कहते हैं—

मोक्ष-श्रीसम्मुखीनस्य विध्वस्ताखिलकर्मणः ।
चतुर्मुखस्य निःशेष-भुवनाभयदायिनः ॥१॥
इन्दु-मण्डलसंकाशच्छत्र-त्रितयशालिनः ।
लसद्भामण्डलाभोगविडम्बितविवस्वतः ॥२॥
दिव्य-दुन्दुभिनिर्घोष-गीत-साम्राज्य-सम्पदः ।
रणद्द्विरेफझंकार-मुखराशोकशोभिनः ॥३॥
सिंहासन-निषण्णस्य, वीज्यमानस्य चामरैः ।
सुरासुरशिरोरत्नदीप्रपादनखद्युतेः ॥ ४ ॥
दिव्यपुष्पोत्कराकीर्णाः संकीर्णाः परिषद्भुवः ।
उत्कन्धरैर्मृगकुलैः पीयमानकलध्वनेः ॥५॥
शान्तवैरेभसिंहादि-समुपासितसन्निधेः ।
प्रभोः समवसरणस्थितस्य परमेष्ठिनः ॥६॥
सर्वातिशययुक्तस्य, केवलज्ञानभास्वतः ।
अर्हतो रूपमालम्ब्य, ध्यानं रूपस्थमुच्यते ॥७॥

अर्थ—जो योगी मोक्षलक्ष्मी के सम्मुख पहुंच चुके हैं; जिन्होंने समग्र कर्मों का विनाश कर दिया है, उपदेश देते समय चौमुखी हैं; समग्र लोक के प्राणिमात्र को जो अभयदान देते हैं और चन्द्रमण्डल के समान तीन उज्ज्वल छत्रों से सुशोभित हैं, सूर्यमंडल की प्रभा को मात करने वाला भामंडल जिनके चारों ओर देदीप्यमान है, जहाँ दिव्यदुंदुभि के आघोष हो रहे हैं; गीतगान की साम्राज्य-संपदा है। गुंजार करते हुए भ्रमरों की झंकार से गूंजित अशोकवृक्ष से सुशोभित हैं, सिंहासन पर विराजमान हैं, जिनके दोनों ओर चामर डुलाये जा रहे हैं, वन्दन करते हुए सुरों और असुरों के मुकट के रत्नों की कान्ति से जिनके चरणों के

नख की द्युति चमक रही हैं, दिव्यपुष्पों के समूह से समवसरण की विशालभूमि भी खचाखच भरी हुई है, गर्दन ऊपर उठा कर मृगादि पशुओं के झुण्ड जिनका मधुर उपदेश पान कर रहे हैं; सिंह, हाथी, सर्प, नकुल आदि जन्म से बैर वाले जीव अपना बैर भूल कर जिनके पास बैठ गये हैं, ऐसे समवसरण में स्थित सर्व-अतिशयों से युक्त, केवलज्ञान से शोभित परमेष्ठी अरिहंत भगवान् के स्वरूप का अवलंबन ले कर जो ध्यान किया जाता है ; वह रूपस्थध्यान कहलाता है।

रूपस्थध्यान का दूसरा भेद तीन श्लोकों द्वारा कहते हैं—

राग-द्वेष-महामोह-विकारैरकलङ्कितम् ।
शान्तं कान्तं मनोहारि, सर्वलक्षणलक्षितम् ॥८॥
तीर्थिकैरपरिज्ञात-योगमुद्रामनोरमम् ।
अक्ष्णोरमन्दमानन्दनिःस्यन्दं ददद्‌भुतम् ॥९॥
जिनेन्द्रप्रतिमारूपम् अपि निर्मलमानसः ।
निर्निमेषदृशां ध्यायन् रूपस्थध्यानवान् भवेत् ॥१०॥

अर्थ· राग-द्वेष-महामोह-अज्ञान आदि विकारों से रहित, शान्त, कान्त, मनोहर आदि समस्त प्रशान्त लक्षणों से युक्त, अन्य धर्मावलम्बियों द्वारा अज्ञात योग-ध्यानमुद्रा को धारण करने से मनोरम तथा आँखों से प्रबल अद्‌भुत आनन्द झर रहा है, ऐसी स्थिरता से युक्त श्रीजिनेश्वरदेव की प्रतिमा के रूप का निर्मल चित्त से आंख बन्द किए बिना स्थिर निगाह से ध्यान करने वाला योगी रूपस्थध्यानी कहलाता है। फिर—

योगी चाभ्यासयोगेन, तन्मयत्वमुपागतः ।
सर्वज्ञीभूतमात्मानम् अवलोकयति स्फुटम् ॥१२॥
सर्वज्ञो भगवान् योऽयम्, अहमेवास्ति स ध्रुवम् ।
एवं तन्मयतां यातः, सर्ववेदीति मन्यते ॥१२॥

अर्थ—रूपस्थध्यान का अभ्यास करने से तन्मयता-प्राप्त योगी अपने आप को स्पष्ट रूप से सर्वज्ञ के समान देखने लगता है। 'जो सर्वज्ञ भगवान् हैं, निस्सन्देह वही मैं हूं।' इस प्रकार सर्वज्ञ-भगवान् में तन्मयता हो जाने से, वह योगी सर्वज्ञ माना जाता है।

वह किस तरह ? उसे कहते हैं—

वीतरागो विमुच्येत, वीतरागं विचिन्तयन् ।
रागिणं तु समालम्ब्य, रागी स्यात् क्षोभणादिकृत् ॥१३॥

अर्थ—श्री वीतरागदेव का ध्यान करने वाला स्वयं वीतराग हो कर कर्मों या वासनाओं से मुक्त हो जाता है। इसके विपरीत रागी देवों का आलम्बन लेने वाला या ध्यान करने वाला काम, क्रोध, हर्ष, विषाद, राग-द्वेषादि दोष प्राप्त करके स्वयं सरागी बन जाता है। कहा भी है—

येन येन हि भावेन, युज्यते यन्त्रवाहकः ।
तेन तन्मयतां याति, विश्वरूपो मणिर्यथा ॥१४॥

अर्थ—स्फटिकरत्न के पास जिस रंग की वस्तु रख दी जाती है, वह रत्न उसी रंग का दिखाई देने लगता है। इसी प्रकार स्फटिक के समान अपना निर्मल आत्मा, जिस-जिस भाव का आलम्बन ग्रहण करता है, उस उस भाव की तन्मयता वाला बन जाता है।

इस प्रकार सद्ध्यान का प्रतिपादन करके अब असद्-ध्यान छोड़ने के लिए कहते हैं—

नासद्ध्यानानि सेव्यानि, कौतुकेनापि किन्त्विह ।
स्वनाशायैव जायन्ते, सेव्यमानानि तानि यत् ॥१५॥

अर्थ—अपनी इच्छा न हो तो कुतूहल से भी असद्ध्यान का सेवन नहीं करना चाहिए, क्योंकि उसका सेवन करने से अपनी आत्मा का विनाश ही होता है। वह किस तरह ?

सिध्यन्ति सिद्धयः सर्वाः, स्वयं मोक्षावलम्बिनाम् ।
संदिग्धा सिद्धिरन्येषां स्वार्थभ्रंशस्तु निश्चितः ॥१६॥

अर्थ—मोक्षावलम्बी योगियों को स्वतः ही सभी (अष्ट) महासिद्धियाँ सिद्ध उपलब्ध हो जाती हैं और परम्परा से स्वतः सिद्धि (मुक्ति) प्राप्त हो जाती है; किन्तु संसारसुख के अभिलाषियों को सिद्धि की प्राप्ति संदिग्ध है, क्योंकि इष्ट लाभ मिले या न मिले, परन्तु (आत्महित से) स्वार्थभ्रष्टता तो अवश्य होती है।

इस प्रकार परमार्हत श्रीकुमारपाल राजा की जिज्ञासा से आचार्यश्री
हेमचन्द्राचार्यसूरीश्वर-रचित 'अध्यात्मोपनिषद्' नामक
पट्टबद्ध अपरनाम 'योगशास्त्र' का
स्वोप[illegible]हित नवम
प्रकाश पूर्ण हुआ।

ॐ अर्हते नमः

१० : दशम प्रकाश

अब रूपातीत ध्यान का स्वरूप कहते हैं—

अमूर्त्तस्य चिदानन्द-रूपस्य परमा[illegible]नः ।
निरञ्जनस्य सिद्धस्ये, ध्यानं स्याद् रूपवर्जितम् ॥१॥

अर्थ—अमूर्त (शरीररहित), निराकार, चिदानन्द-(ज्ञानानन्द)-स्वरूप, निरंजन, सिद्ध परमात्मा का ध्यान, रूपातीतध्यान कहलाता है ।

इत्यजस्रं स्मरन् योगी तत्स्वरूपावलम्बनः ।
तन्मयत्वमवाप्नोति, ग्राह्यग्राहक-वर्जितम् ॥२॥

अर्थ—ऐसे निरंजन निराकार सिद्ध परमात्मा के स्वरूप का आलम्बन ले कर उनका सतत ध्यान करने वाला योगी ग्राह्य-ग्राह्यकभाव अर्थात् ध्येय और ध्याता के भाव से रहित तन्मयता-(सिद्धस्वरूपता) प्राप्त कर लेता है ।

अनन्यशरणीभूय, स तस्मिन् लीयते तथा ।
ध्यातृ-ध्यानोभयाभावे, ध्येयेवैक्यं यथा व्रजेत् ॥३॥

अर्थ—उन सिद्धपरमात्मा को अनन्य शरण ले कर जब योगी उनमें तल्लीन हो जाता है ; तब कोई भी आलम्बन नहीं रहने से वह योगी सिद्धपरमात्मा की आत्मा में तन्मय बन जाता है, और ध्याता और ध्यान इन दोनों के अभाव में ध्येय-रूप सिद्धपरमात्मा के साथ उसकी एकरूपता हो जाती है ।

तात्पर्य कहते हैं—

सोऽयं समरसीभावः [illegible]णं मतम् ।
आत्मा यद[illegible]थक्त्वेन, लीयते परमात्मनि ॥४॥

अर्थ—रूपातीत ध्यान करने वाले योगीपुरुष के मन का सिद्धपरमात्मा के साथ एकीकरण-(तन्मय) हो जाना, समरसीभाव कहलाता है । वही वास्तव में एकरूपता मानी गई है जिससे आत्मा अभेदरूप से परमात्मा में लीन हो जाती है ।

इसका निचोड़ कहते हैं—

अलक्ष्य-लक्ष्य-सम्बन्धात्, स्थूलात् सूक्ष्मं विचिन्तयेत् ।

सालम्बाच्च निरालम्बं, तत्त्ववित् तत्त्वमञ्जसा ॥५॥

अर्थ—प्रथम पिण्डस्थ, पदस्थ आदि लक्ष्य वाले ध्यान द्वारा निरालम्बनरूप अलक्ष्य ध्यान में प्रवेश करना चाहिए । स्थूल ध्येयों का ग्रहण कर क्रमशः अनाहत कला आदि सूक्ष्म, सूक्ष्मतर ध्येयों का चिन्तन करना चाहिए और रूपस्थ आदि सालम्बन ध्येयों से सिद्धपरमात्म-स्वरूप निरालम्बन ध्येय में जाना चाहिए । इस क्रम से ध्यान का अभ्यास किया जाए तो तत्त्वज्ञ योगी अल्प समय में ही तत्त्व की प्राप्ति कर लेता है ।

पिंडस्थ आदि चारों ध्यानों का उपसंहार करते हैं—

एवं चतुर्विध-ध्यानामृतमग्नं मुनेर्मनः ।

साक्षात्कृतजगत्तत्त्वं, विधत्ते शुद्धिमात्मनः ॥६ ।

अर्थ—इस प्रकार पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ, और रूपातीत इन चारों प्रकार के ध्यानामृत में निमग्न मुनि का मन जगत् के तत्त्वों का साक्षात्कार करके अनुभवज्ञान प्राप्त कर आत्मा की विशुद्धि कर लेता है ।

पिण्डस्थ आदि क्रम से चारों ध्यान बता कर उसी ध्यान के प्रकारान्तर से भेद बताते हैं—

आज्ञाऽपायविपाकानां, संस्थानस्य च चिन्तनात् ।

इत्थं वा ध्येयभेदेन, धर्मध्यानं चतुर्विधम् ॥७॥

अर्थ—१. आज्ञा-विचय, २. अपाय-विचय, ३. विपाक-विचय, और ४. संस्थान-विचय का चिन्तन करने से ध्येय के भेद से धर्मध्यान के चार भेद होते हैं ।

प्रथम आज्ञा-विचय ध्यान के सम्बन्ध में कहते हैं—

आज्ञां यत्र पुरस्कृत्य (समाश्रित्य) सर्वज्ञानामबाधिताम् ।

तत्त्वतश्चिन्तयेदर्थान्, तदाज्ञा-ध्यानमुच्यते ॥८॥

अर्थ—सर्वज्ञों=प्रामाणिक आप्तपुरुषों की, किसी भी तर्क से अबाधित, पूर्वापर वचनों में परस्पर अविरुद्ध, अन्य किसी भी दर्शन से अकाट्य, आज्ञा अर्थात्—सर्वज्ञप्ररूपित द्वादशांगीरूप प्रवचन, को सामने रख कर जीवादि पदार्थों का तत्त्वतः (यथार्थ) चिन्तन करना, आज्ञाध्यान कहलाता है ।

आज्ञा का अबाधित्व किस तरह है ? उसका विचार करते हैं—

सर्वज्ञ वचनं सूक्ष्मं, हन्यते यन्न हेतुभिः ।

तदाज्ञारूपमादेयं, न मृषाभाषिणो जिनाः ॥९॥

अर्थ—सर्वज्ञ भगवान् के वचन ऐसे सूक्ष्मतास्पर्शी होते हैं कि वे किसी हेतु या युक्ति से खंडित नहीं हो सकते । अतः सर्वज्ञभगवान् के आज्ञारूपी वचन स्वीकार करने चाहिए । क्योंकि सर्वज्ञभगवान् कभी असत्य वचन नहीं कहते ।

व्याख्या – इस विषय से सम्बन्धित आंतर-श्लोकों का भावार्थ कहते हैं—आप्त अर्थात् पक्षपात-रहित प्रामाणिक पुरुष के वचन आप्तवचन कहलाते हैं। वे दो प्रकार के हैं—प्रथम आगमवचन, दूसरा हेतु-युक्तिवाद-वचन। शब्दों से ही पदों और उसके अर्थों का स्वीकार करना आगमवचन है, और दूसरे प्रमाणों, हेतुओं, और युक्तियों की समानता या सहायता से पदार्थों की सत्यता स्वीकार करना हेतुवाद कहलाता है। ये दोनों निर्दोष (एक समान) हों, वे ही प्रमाणभूत माने जाते हैं। क्योंकि जिसका कारण और परिणाम निर्दोष हो, वही प्रमाण माना गया है। रागद्वेष, मोह आदि दोष कहलाते हैं और अरिहंत परमात्मा में वे दोष नहीं होते। इसलिए निर्दोष पुरुष से उत्पन्न वचन होने से अरिहन्त परमात्मा के वचन प्रमाणभूत गिने जाते हैं। नय और प्रमाण से सिद्ध, पूर्वापरविरोध से रहित, किसी भी तर्क से अबाधित अन्य दर्शनों या बलवान शासकों द्वारा जिसका प्रतिकार न किया जा सके, ऐसा आगम अंग, उपांग, प्रकीर्णक, मूल, छेद आदि अनेक भेदरूपी नदियों का समागम-स्थानरूप समुद्र-समान है तथा अतिशयज्ञानरूपी महासाम्राज्य-लक्ष्मी से विभूषित है, दूर भव्य के लिए इसकी उपलब्धि अत्यन्त दुर्लभ है। परन्तु भव्य आत्मा के लिए अत्यन्त सुलभ है। मनुष्यों और देवताओं द्वारा सदा प्रशंसित स्तुतिकृत गणिपिटकरूप हैं। वह आगम द्रव्य से नित्य और पर्याय से अनित्य है, स्वस्वरूप में सत् और परस्वरूप में असत् पदार्थों की प्रतीति कराने वाला है। उसके आधार पर स्याद्वाद-न्याय योग से आज्ञा का आलम्बन लेकर पदार्थ का चिन्तन करना, आज्ञाविचय नामक धर्मध्यान कहलाता है।

अब अपायविचय ध्यान के बारे में कहते हैं—

रागद्वेष-कषायाद्यैः, जायमानान् विचिन्तयेत्।
यत्रापायांस्तदपायविचय-ध्यानमिष्यते ॥१०॥

अर्थ– ध्यान में उत्पन्न होने वाले राग, द्वेष, क्रोधादि कषाय, विषयविकार आदि पापस्थानों और तज्जनित दुःख, क्लेश, दुर्गति आदि का चिन्तन करना, 'अपाय-विचय' धर्म-ध्यान कहलाता है।

इसका फल कहते हैं—

ऐहिकामुष्मिकापाय-परिहारपरायणः।
ततः प्रतिनिवर्तेत, समन्तात् पापकर्मणः ॥११॥

अर्थ—राग, द्वेषादि से उत्पन्न होने वाले चार गति-सम्बन्धी दुःखों का विचार करने से ध्याता इस लोक और परलोक के दुःखदायी कष्टों का परिहार करने के लिए तत्पर हो जाता है, और इससे वह सब प्रकार के पापकर्मों से निवृत्त हो जाता है।

व्याख्या—इस सम्बन्ध में प्रयुक्त आन्तरश्लोकों का भावार्थ कहते हैं—जिसने श्रीवीतराग परमात्मा के मार्ग को स्पर्श नहीं किया, परमात्मा का स्वरूप नहीं जाना, निर्वृत्ति-मार्ग के परमकारणरूप साधुमार्ग का सेवन नहीं किया, उस जीव को हजारों प्रकार की आपत्तियां आती हैं। इस दुनियां की माया और मोहान्धकार में जिसका मन पराधीन बना हुआ है, वह कौन-सा पाप नहीं करता? कौन-सा कष्ट सहन नहीं करता? अर्थात् सभी पाप करता है और सभी प्रकार के दुःख भी भोगता है। नरक, तिर्यंच और मनुष्य गति में जो दुःख भोगा है, उसमें मेरा अपना ही प्रमाद और मेरा अपना ही दुष्ट मन कारण है। 'प्रभो! आपका श्रेष्ठ सम्यक्त्व प्राप्त होने पर भी मन वचन और काया से दुष्ट चेष्टा करके मैं

अपने हाथों अपने जीवन को मोहाग्नि से जला कर दुःखी हुआ हूं। आत्मन् ! मोक्षमार्ग स्वाधीन होने पर भी उस मार्ग को छोड़ कर तूने स्वयं ही कुमार्ग को ढूंढ कर अपनी आत्मा को कष्ट में डाला है। जैसे स्वतंत्र राज्य मिलने पर भी कोई मूर्खशिरोमणि गली-गली में भीख मांगता फिरता है, वैसे ही मोक्ष का सुख स्वाधीन होने पर भी मुझ-सा मूढ जीव पुद्गलों से भीख मांगता हुआ संसार में भटकता फिर रहा है। इस प्रकार अपने लिए और दूसरों के लिए चार गति के दुःखों का परम्परा-विषयक विचार करना और उनसे सावधान होना, अपाय-विषय नामक धर्मध्यान है।

अब विपाकविषयक धर्मध्यान कहते हैं—

प्रतिक्षणसमुद्भूतो, यत्र कर्मफलोदयः।
चिन्त्यते चित्ररूपः स, विपाकविचयो मतः ॥१२॥
या सम्पदाऽर्हतो या च, विपदा नारकात्मनः।
एकातपत्रता तत्र, पुण्यापुण्यस्य कर्मणः ॥१३॥

अर्थ—क्षण-क्षण में उत्पन्न होने वाले विभिन्न प्रकार के कर्मफल के उदय का चिन्तन करना, विपाक-विषयक धर्मध्यान कहलाता है। उसी बात का विचार करते हुए दिग्दर्शन कराते हैं कि श्रीअरिहंत भगवान् को जो श्रेष्ठतम सम्पत्तियां और नारकीय जीवों को जो घोरतम विपत्तियां होती हैं, इन दोनों में पुण्यकर्म और पापकर्म की एकछत्र प्रभुता है। अर्थात् पुण्य-पाप की प्रबलता ही सुख-दुःख का कारण है।

व्याख्या—इस विषय के आन्तरश्लोकों का भावार्थ कहते हैं– विपाक अर्थात् शुभाशुभ कर्मों का फल। इस फल का अनुभव द्रव्य-क्षेत्रादि सामग्री के अनुसार अनेक प्रकार से होता है। इसमें स्त्री-आलिंगन, स्वादिष्ट खाद्य आदि भोग, पुष्पमाला, चन्दन आदि अंगों के उपभोग शुभ पुण्यकर्म हैं और सर्प, शस्त्र, अग्नि, विष आदि का अनुभव अशुभ पापकर्म के फल हैं। यह द्रव्य-सामग्री है। सौधर्म आदि देव-विमान, उपवन, बाग, महल, भवन, आदि क्षेत्र-प्राप्ति शुभपुण्योदय का फल है और श्मशान, जंगल, शून्य, रण आदि क्षेत्र की प्राप्ति अशुभ-पाप का फल है। न अत्यन्त ठंड, न अत्यन्त गर्मी, बसंत और शरद्ऋतु आदि आनंददायक काल का अनुभव शुभपुण्य-फल है और बहुत गर्मी, बहुत ठंड, ग्रीष्म और हेमंतऋतु आदि दुःखदकाल का अनुभव अशुभ-पापफल है। मन की निर्मलता, संतोष, सरलता, नम्रभावसहित व्यवहार आदि शुभभाव पुण्य के फल हैं और क्रोध, अभिमान, कपट, लोभ, रौद्रध्यान आदि अशुभ भाव पाप के फल हैं। उत्तम देवत्व, युगलियों की भोगभूमि में, मनुष्यों में जन्म; भवविषयक शुभ पुण्योदय है; भील आदि म्लेच्छ-जाति के मनुष्यों में जन्म, तिर्यंच, नरक आदि में जन्म ग्रहण करना अशुभ पापोदय है। इस प्रकार द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, और भव के आश्रित कर्मों का क्षयोपशम, उपशम या क्षय होता है। इस प्रकार जीवों के द्रव्यादि सामग्री के योग से बंधे हुए कर्म अपने आप फल देते हैं। उन कर्मों के आठ भेद हैं; वे इस प्रकार हैं—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय आयुष्य, नाम, गोत्र और अंतराय।

जैसे किसी आंख वाले मनुष्य के आंखों पर पट्टी बांध दी गई हो तो उसे आंखें होते हुए भी नहीं दीखता; इसी तरह जीव का सर्वज्ञ के सदृश ज्ञान, ज्ञानावरणीयकर्मरूपी पट्टी से ढक जाता है। मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्याय, और केवलज्ञान; ये पांचों ज्ञान जिससे रुक जाएं, वह ज्ञानावरणीय

कर्म कहलाता है। पांच प्रकार की निद्रा एवं चार प्रकार के दर्शन को रोकने वाला दर्शनावरणीय कर्म का उदय है। जैसे स्वामी के दर्शन चाहने वाले को द्वारपाल रोक देता है; इस कारण वह दर्शन नहीं कर सकता। वैसे ही दर्शनावरणीय कर्म के उदय से जीव अपने आपे को नहीं देख सकता। वेदनीय कर्म का स्वभाव शहद लपेटी हुई तलवार की धार के समान है,सुख-दुःख का अनुभव कराने वाला वेदनीय कर्म है। शहद का स्वाद मधुर लगता है; परन्तु उसे चाटने पर धार से जीभ कट जाती है, तब दुःख का अनुभव होता है। मदिरापान के समान मोहनीयकर्म है; इससे मूढ़ बना हुआ आत्मा कार्याकार्य के विवेक को भूल जाता है। यह कर्म दो प्रकार का है—दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय, इससे सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्र दब जाते हैं। आयुष्यकर्म कारागार के समान है, देव, मनुष्य, तिर्यंच और नरकरूप चार प्रकार का आयुष्य है, वह बेड़ी के समान है। यह प्रत्येक जीव को अपने स्थान में रोके रखता है। आयुष्य पूर्ण किये बिना उन उन योनियों से जीव छूट नहीं सकता। चित्रकार द्वारा निर्मित विविध प्रकार के चित्र के समान नामकर्म है। यह जीव को शरीर में गति, जाति, संस्थान-संघयण आदि अनेक विचित्रताएँ प्राप्त कराता है। घी और मधु भरने के लिए घड़े बनाने वाले कुम्हार के समान उच्चगोत्र और नीचगोत्र है। इससे उच्चकुल और नीचकुल में जन्म लेना पड़ता है। अन्तरायकर्म दुष्ट भण्डारी के सदृश है, वह दान, लाभ भोग उपभोग, वीर्य आदि लब्धियों को रोक देता है। इस प्रकार कर्म की मूल आठ प्रकृतियों के अनेक विपाकों का चिन्तन करना विपाक-विचय धर्मध्यान कहलाता है।

अब संस्थान-विचय धर्मध्यान का स्वरूप कहते हैं—

अनाद्यन्तस्य लोकस्य स्थित्युत्पत्ति-व्ययात्मनः।
आकृतिं चिन्तयेद् यत्र संस्थान-विचयः स तु ॥१४॥

अर्थ—अनादि-अनन्त परन्तु उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यस्वरूप द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव-स्वरूप लोक की आकृति का विचार करना, संस्थान-विचय धर्मध्यान कहलाता है।

अब लोक-ध्यान का फल कहते हैं—

नानाद्रव्यगतानन्त-पर्यायपरिवर्तनात्।
सदा सक्तं मनो नैव, रागाद्याकुलतां व्रजेत् ॥१५॥

अर्थ—लोक में अनेक द्रव्य हैं, और एक-एक द्रव्य के अनन्त-अनन्त पर्याय हैं, उनका परिवर्तन होता रहता है। इस प्रकार द्रव्यों का बार-बार चिन्तन करने से मन में आकुलता नहीं होती तथा रागद्वेष आदि नहीं होते।

व्याख्या—इस सम्बन्ध में प्रस्तुत आन्तरश्लोकों का भावार्थ कहते हैं— पहले अनित्यादि-भावना के प्रसंग में तथा लोकभावना में 'संस्थान-विचय' के विषय का वर्णन बहुत विस्तार से कह चुके हैं, इसलिए पुनरुक्तिदोष के भय से यहां पर विशेष वर्णन करने की आवश्यकता नहीं समझते। यहां प्रश्न होता है कि 'लोक-भावना और संस्थानविचय में क्या अन्तर है; जिससे दोनों को अलग बतलाया है? इसका उत्तर देते हैं कि लोकभावना तो केवल विचार करने के लिए है, जबकि संस्थानविचय में लोकादि में मति स्थिर-स्वरूप रहती है। इसी कारण उसे 'संस्थानविचय' धर्मध्यान कहा है।

अब धर्मध्यान का स्वरूप और विशेषता बताते हैं—

धर्मध्याने भवेद् भावः क्षायोपशमिकादिकः।
लेश्याः क्रमविशुद्धाः स्युः पीत-पद्म-सिताः पुनः ॥१६॥

अर्थ—जब धर्मध्यान में प्रवृत्ति होती है, तब आत्मस्वरूप क्षायोपशमिक आदि भाव होते हैं। आदि शब्द कहने से औपशमिक और क्षायिक भाव होते हैं, किन्तु पौद्गलिक रूप औदयिक भाव नहीं होता। कहा है कि "अप्रमत्त संयत, उपशान्तकषाय और क्षीणकषाय गुणस्थान वालों को धर्मध्यान होता है।" धर्मध्यान के समय में क्रमशः विशुद्ध तीन लेश्याएँ होती हैं। वह इस प्रकार—पीतलेश्या, इससे अधिक निर्मल पद्मलेश्या और इससे भी अत्यंत विशुद्ध शुक्ललेश्या।

चारों धर्मध्यानों का फल कहते हैं—

अस्मिन् नितान्त-वैराग्य-व्यतिषंगतरंगिते।
जायते देहिनां सौख्यं, स्वसंवेद्यमतीन्द्रियम् ॥१७॥

अर्थ—अत्यन्त वैराग्यरस से परिपूर्ण धर्मध्यान में जब आत्मा एकाग्र हो जाता है, तब जीव को इन्द्रियों से अगम्य आत्मिक सुख का अनुभव होता है। कहा है कि "विषयों में अनासक्ति, आरोग्य, अनिष्ठुरता, कोमलता, करुणा, शुभगंध, तथा मूत्र और पुरीष की अल्पता हो जाती है। शरीर की कांति, मुख की प्रसन्नता, स्वर में सौम्यता इत्यादि विशेषताएँ योगी की प्रवृत्ति के प्रारंभिक फल का चिह्न समझना चाहिए।

अब चार श्लोकों से पारलौकिक फल कहते हैं—

त्यक्तसंगास्तनुं त्यक्त्वा, धर्मध्यानेन योगिनः।
ग्रैवेयकादि स्वर्गेषु भवन्ति त्रिदशोत्तमाः ॥१८॥
महामहिमसौभाग्यं शरच्चन्द्रनिभप्रभम्।
प्राप्नुवन्ति वपुस्तत्र स्रग्भूषाम्बर-भूषितम् ॥१९॥
विशिष्ट-वीर्य-बोधाढ्यं, कामार्तिज्वरवर्जितम्।
निरन्तरायं सेवन्ते सुखं चानुपमं चिरम् ॥२०॥
इच्छा-सम्पन्न-सर्वार्थ-मनोहारि-सुखामृतम्।
निर्विघ्नमुपभुञ्जानाः गतं जन्म न जानते ॥२१॥

अर्थ—समस्त-पर-पदार्थों की आसक्ति का त्याग करने वाले योगी पुरुष धर्मध्यान के प्रभाव से शरीर को छोड़ कर ग्रैवेयक आदि वैमानिक देवलोक में उत्तम देवरूप में उत्पन्न होते हैं। वहाँ महामहिमा (प्रभाव), महान् सौभाग्य, शरद्ऋतु के निर्मल चन्द्रमा के समान कान्ति से युक्त, दिव्य पुष्पमालाओं, आभूषणों और वस्त्रों से विभूषित शरीर प्राप्त होता है। वे विशिष्ट प्रकार के वीर्य (शरीरबल, निर्मल बोध व तीन ज्ञान) से सम्पन्न कामपीड़ारूपी ज्वर से रहित, विघ्न-बाधा-रहित अनुपम सुख का चिरकाल तक सेवन करते हैं। इच्छा करते ही उन्हें सब प्रकार के मनोहर पदार्थ प्राप्त होते हैं और निर्विघ्न सुखामृत के उपभोग में वे इतने तन्मय रहते हैं कि उन्हें इस बात का पता नहीं लगता कि कितने जन्म बीते या कितनी आयु व्यतीत हुई ? उसके बाद—

दिव्या भोगावसाने च, च्युत्वा त्रि[illegible] वतस्ततः ।
उत्तमेन शरीरेणाव तरन्ति महीतले ॥२३॥
दिव्यवशे समुत्पन्नाः, नित्योत्सव[illegible]त् ।
भुञ्जते विविधान् भोगान खण्डित मनोरथाः ॥२३॥
ततो विवेकमाश्रित्य, विरज्या शेष भोगतः ।
ध्यानेन ध्वस्त कर्माणः प्रयान्ति पदम व्ययम् ॥२४॥

अर्थ—देव-सम्बन्धी दिव्यभोग पूर्ण होने पर देवलोक से च्युत हो कर वे भूतल पर अवतरित होते है, और यहाँ पर भी उन्हें सौभाग्ययुक्त उत्तम शरीर प्राप्त होता है। जहाँ निरन्तर मनोहर उत्सव होते हों, ऐसे दिव्यवंश में वे जन्म लेते हैं, और अखंडित-मनोरथ व्यक्ति विविध प्रकार के भोगों को अनासक्तिपूर्वक भोगते हैं। उसके बाद विवेक का आश्रय ले कर वे संसार के समस्त भोगों से विरक्त हो कर उत्तम ध्यान द्वारा समस्त कर्मों का विनाश करके शाश्वतपद अर्थात् निर्वाणपद को प्राप्त करते हैं।

इस प्रकार परमार्हत श्रीकुमारपाल राजा की जिज्ञासा से आचार्यश्री
हेमचन्द्राचार्यसूरीश्वर-रचित 'अध्यात्मोपनिषद्' नामक
पट्टबद्ध अपरनाम 'योगशास्त्र' का
स्वोपज्ञविवरणसहित दशम
प्रकाश पूर्ण हुआ।

ॐ अर्हते नमः

११ : एकादशम प्रकाश

अब धर्मध्यान का उपसंहार करके शुक्लध्यान का स्वरूप बताते हैं।

स्वर्गापवर्गहेतुर्धर्मध्यानमिति कीर्तितं तावत् ।
अपवर्गैकनिदानं, शुक्लमतः कीर्त्यते ध्यानम् ॥१॥

अर्थ— स्वर्ग के कारणभूत और परम्परा से मोक्ष के कारणभूत धर्मध्यान का वर्णन कर चुके। अब मोक्ष के एकमात्र कारणभूत शुक्लध्यान के स्वरूप का वर्णन करते हैं।

व्याख्या—शुक्लध्यान के चार भेद हैं। शुक्लध्यान के अन्तिम दो भेदों की अपेक्षा से यह मोक्ष का असाधारण कारण है और प्रथम दो भेदों की अपेक्षा से यह अनुत्तर विमान में ले जाने का कारणभूत है। कहा है कि "शुभ आस्रव, संवर, निर्जरा, विपुल देवसुख आदि को उत्तम धर्मध्यान का शुभानुबंधी फल समझना चाहिए। शुक्लध्यान के प्रथम दो भेदों का फल अपूर्व तेज-कान्ति, अपूर्व सुखानुभव, तथा अनुत्तरदेवत्व का सुख भोगना है, और अन्तिम दो भेदों का फल निर्वाण-मोक्ष होता है।" अब शुक्लध्यान के अधिकारी का निरूपण करते हैं—

इदमादिमसंहनना एवालं पूर्ववेदिनः कर्तुम् ।
स्थिरतां न याति चित्तं कथमपि यत्स्वल्प-सत्त्वानाम् ॥२॥

अर्थ—वज्रऋषभनाराच (प्रथम) संहनन वाले और पूर्वश्रुतधारी मुनि ही शुक्लध्यान करने में समर्थ हो सकते हैं। इनसे रहित अल्पसत्त्व वाले साधक के चित्त में किसी भी तरह शुक्लध्यान की स्थिरता प्राप्त नहीं होती।

व्याख्या—पहले रचित होने से पूर्व कहलाता है, उसको धारण करने वाले या जानने वाले पूर्ववेदी कहलाते हैं। यह वचन प्रायिक समझना, क्योंकि माषतुष, मरुदेवी आदि पूर्वधर न होने पर भी, उनके ध्यान को शुक्लध्यान माना है, संघयण आदि से ध्यान में चिरस्थिरता रह सकती है, इसलिए इसे मुख्यहेतु कहा है। इसी बात का विचार करके कहते हैं—

धत्ते न खलु स्वास्थ्यं, व्याकुलितं तनुमतां मनोविषयैः ।
शुक्लध्याने तस्मात्, नास्त्यधिकारोऽल्पसाराणाम् ॥३॥

अर्थ—इन्द्रिय-विषयों से आकुल-व्याकुल बने हुए शरीरधारियों का मन स्वस्थ;

शान्त एवं स्थिर नहीं हो सकता। इसी कारण अल्पसत्त्व वाले जीव शुक्लध्यान के अधिकारी नहीं हो सकते।

व्याख्या—कहते हैं, शुक्लध्यानी साधक के शरीर को कोई किसी शस्त्र से छेदन-भेदन करे, मारे, जला दे ; फिर भी वह दूर खड़े हुए प्रेक्षक की तरह देखा करता है, तथा वर्षा, वायु, ठंड, गर्मी आदि दुःखों से वह अधीर नहीं होता, शुक्लध्यान में जब आत्मा तन्मय बन जाता है, तब आँखों से कुछ भी नहीं देखता है, कानों से कुछ भी सुनता नहीं है; तथा पाषाण की मूर्त्ति के समान इन्द्रिय-सम्बन्धी कोई भी ज्ञान वह नहीं करता। इस प्रकार जो अपने ध्यान में स्थिरता रखता है, वही शुक्लध्यान का अधिकारी हो सकता है; अल्पसत्त्व वाला नहीं हो सकता। यहाँ शंका करते हैं कि प्रथम संहनन वाले ही शुक्लध्यान के अधिकारी हो सकते हैं, ऐसा कहा है, तो इस दुःषमकाल में तो अन्तिम सेवार्त-संहनन वाले पुरुष हैं; ऐसी स्थिति में शुक्लध्यान के उपदेश देने की इस समय क्या आवश्यकता है ?

इस प्रश्न का यहाँ समाधान करते हैं—

अनवच्छित्त्याम्नायः समागतोऽस्येति कीर्त्यतेऽस्माभिः।
दुष्करमप्याधुनिकैः शुक्लध्यानं यथाशास्त्रम् ॥४॥

अर्थ—यद्यपि शास्त्रानुसार वर्तमानकाल के साधकों के लिए शुक्लध्यान करना अतिदुष्कर है, फिर भी शुक्लध्यान के सम्बन्ध में अनवच्छिन्न आम्नाय-(परम्परा) चली आ रही है, वह टूट न जाए, इसलिए उसका स्वरूप बता रहे हैं।

शुक्लध्यान के भेद बताते हैं—

ज्ञेयं नानात्वश्रुतविचारमैक्यं श्रुताविचारं च।
सूक्ष्मक्रियमुत्सन्नक्रियमिति भेदैश्चतुर्धा तत् ॥५॥

अर्थ - शुक्लध्यान के चार भेद जानने चाहिए—(१) पृथक्त्व वितर्कसविचार, (२) एकत्व-वितर्क-अविचार, (३) सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और (४) व्युपरतक्रिया निवृत्ति।

व्याख्या—यहाँ नानात्व का अर्थ विविध विषयों का विचार करना है। किनका ? वितर्क अर्थात् श्रुत-द्वादशांगी-चौदह पूर्व का विचार करना। विचार का अर्थ है—विशेषरूप में चार अर्थात् चलना-एक स्थिति में से दूसरी स्थिति में गति करना। तात्पर्य यह है कि परमाणु, द्व्यणुक आदि पदार्थ, व्यंजन—शब्द, योग=मन वचन काया की प्रवृत्ति में, संक्रान्ति करना विचार है। एक से यानी एक विचार से दूसरे में जाना और निकलना।

अब प्रथम भेद की विशेष व्याख्या करते हैं—

एकत्र पर्यायाणां विविधनयानुसरणं श्रुताद् द्रव्ये।
अर्थ-व्यञ्जन-योगान्तरेषुसंक्रमणयुक्तमाद्यं तत् ॥६॥

अर्थ—एक परमाणु आदि किसी द्रव्य के उत्पाद, विलय, स्थिति, मूर्तत्व, अमूर्तत्व आदि पर्यायों का, द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक आदि विविध नयों के अनुसार पूर्वगत-श्रुतानुसार चिन्तन करना। तथा वह चिन्तन अर्थ, व्यंजन (शब्द) एवं मन-वचन-काया के योग में से किसी एक योग में संक्रमण से युक्त होता है।

व्याख्या—यही शुक्लध्यान का प्रथम भेद है। जैसे कि—एक पदार्थ का चिन्तन करते हुए उसके शब्द का चिन्तन करना, शब्द-चिन्तन से द्रव्य पर आना, मनोयोग से काययोग मे या वचनयोग में आना, इसी तरह काया के योग से मनोयोग या वचनयोग मे सक्रमण करना, इस प्रकार का चिन्तन शुक्लध्यान के प्रथम भेद में होता है। कहा है—'पूर्वगत-श्रुतानुसार एक द्रव्य मे उत्पाद-स्थिति-विलय आदि पर्यायों का विविध नयानुसार चिन्तन करना वितर्क है और विचार का अर्थ है—पदार्थ, शब्द या तीन योगों में से किसी एक योग से किसी दूसरे योग में प्रवेश करना और निकलना; इस तरीके से उसका विचार करना। इस प्रकार वीतराग मुनि को पृथक्त्व-वितर्क-सविचार शुक्लध्यान होता है। यहाँ प्रश्न होता है कि पदार्थ, शब्द या तीनों योगों में संक्रमण होने पर मन की स्थिरता कैसे रह सकती है? और मन की स्थिरता के बिना इसे ध्यान कैसे कह सकते है? इसका उत्तर देते हैं कि 'एक द्रव्य-विषयक मन की स्थिरता होने से ध्यानत्व का स्वीकार करने में आपत्ति नहीं है।

अब शुक्लध्यान का दूसरे भेद का स्वरूप बताते हैं—

एवं श्रुतानुसाराद् एकत्ववितर्कमेकपर्याये।
अर्थ-व्यञ्जन-योगान्तरेष्वसंक्रमणमन्यत्तु ॥७॥

अर्थ—शुक्लध्यान के द्वितीय भेद में पूर्वश्रुतानुसार कोई भी एक ही पर्याय ध्येय होता है। अर्थात् परमाणु, जीव, ज्ञानादि गुण, उत्पाद आदि कोई एक पर्याय, शब्द या अर्थ, तीन योगों में से कोई एक योग ध्येयरूप में होता है; किन्तु अलग-अलग नहीं होता। एक ही ध्येय होने से इसमें संक्रमण नहीं होता है; इसलिए यह 'एकत्व-वितर्क-अविचार' नामक दूसरा शुक्लध्यान है।

व्याख्या—कहा है—यह ध्यान निर्वातस्थान में भलीभांति रखे हुए दीपक के समान निष्कप होता है। इस ध्यान में एक ही ध्येय होने से अपनी ही जाति के दूसरे शब्द, अर्थ, पर्याय या अन्य योग का ध्येय में संक्रमण नहीं होता है। परन्तु उत्पाद, स्थिति, विनाश आदि में से किसी एक ही पर्याय में ध्यान होता है। ध्येयान्तर में संक्रमण नही होता है। पूर्वगतश्रुत का आलंबन ले कर किसी एक ही शब्द, अर्थ, पर्याय या योग का ध्यान होता है। परन्तु यह ध्यान निर्विकल्पक-निश्चल होता है। यह ध्यान बारहवें गुणस्थानक के अन्त तक रहता है। इसमें यथाख्यातचारित्र होता है।

अब शुक्लध्यान के तीसरे भेद का स्वरूप बताते हैं—

निर्वाणगमनसमये, केवलिनो दरनिरूद्धयोगस्य।
सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति, तृतीयं कीर्तितं शुक्लम् ॥८॥

अर्थ—मोक्ष जाने का समय अत्यन्त निकट आ जाने पर केवली भगवान् मन, वचन और काया के स्थूलयोगों का निरोध कर लेते हैं; केवल श्वासोच्छ्वास आदि की सूक्ष्मक्रिया रहती है। इसमें सूक्ष्मक्रिया मिट कर कभी स्थूल नहीं होती; इसलिए इसका नाम सूक्ष्म-क्रिया-अप्रतिपाति' शुक्लध्यान कहलाता है।

इस ध्यान में आत्मा लेश्या और योग से रहित बन जाता है, आत्मा शरीर-प्रवृत्ति से अलग हो जाता है। अब व्युपरतक्रियानिवर्ति नाम का चौथा भेद बताते हैं—

केवलिनः शैलेशीगतस्य शैलवदकम्पनीयस्य ।
उत्सन्नक्रियमप्रतिपाति, तुरीयं परमशुक्लम् ॥९॥

अर्थ—मेरुपर्वत के समान निश्चल केवली भगवान् जब शैलेशीकरण में रहते हैं, तब उत्पन्नक्रियाऽप्रतिपाति नामक चौथा शुक्लध्यान होता है, इसी का दूसरा नाम व्युपरत क्रिया-अनिवर्ति है ।

अब इन चारों भेदों में योग की मात्रा बताते हैं—

एक-त्रियोगभाजामाद्यं, स्यादपरमेकयोगानाम् ।
तनुयोगिनां तृतीयं, निर्योगाणां चतुर्थं तु ॥१०॥

अर्थ—प्रथम शुक्लध्यान एक योग या तीनों योग वाले मुनियों को होता है, दूसरा ध्यान एक योग वाले को होता है, तीसरा सूक्ष्मकाययोग वाले केवलियों को और चौथा अयोगी केवलियों को ही होता है ।

व्याख्या—पहला पृथक्त्व-वितर्क-सविचार नामक शुक्लध्यान भांगिक श्रुत पढ़े हुए और मन आदि एक योग अथवा तीनों योग वाले मुनियों को होता है । दूसरा एकत्व-वितर्क-अविचार ध्यान मन आदि योगों में से किसी भी एक योग वाले मुनि को होता है, इस योग में संक्रमण (प्रवेश-निष्क्रमण) का अभाव होता है । तीसरे सूक्ष्मक्रिया-अनिवर्ति ध्यान में सूक्ष्मकाया का योग होता है, परन्तु शेष वचन-योग और मनोयोग नहीं होता है । और चौथा व्युत्सन्नक्रियाऽप्रतिपाति ध्यान योग-रहित अयोगी केवली को शैलेशीकरण अवस्था में होता है । मन, वचन, काया के भेद से योग तीन प्रकार का होता है । उसमें औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्माण शरीर वाले जीव को वीर्य परिणति-विशेष काययोग होता है । औदारिक, वैक्रिय, आहारक शरीर की व्यापार-क्रिया से ग्रहण किये हुए भाषावर्गणा पुद्गल-द्रव्य-समूह की सहायता से जीव का व्यापार, वचनयोग होता है । वही औदारिक, वैक्रिय और आहारक शरीर की व्यापारक्रिया से ग्रहण किये हुए मनोवर्गणा के द्रव्यों की मदद से जीव का व्यापार, मनोयोग होता है ।' यहाँ प्रश्न होता है कि 'शुक्लध्यान के अन्तिम दो भेदों में मन नहीं होता है । क्योंकि केवली भगवान् मनोयोगरहित होते हैं, और ध्यान तो मन की स्थिरता से होता है, तो इसे ध्यान कैसे कहा जा सकता है ? इसका समाधान करते हैं —

छद्मस्थितस्य यद्वन्मनः स्थिरं ध्यानमुच्यते तज्ज्ञैः ॥
निश्चलमङ्गं तद्वत् केवलिनां कीर्तितं ध्यानम् ॥११॥

अर्थ—ज्ञानियों ने जैसे छद्मस्थ साधक के मन की स्थिरता को ध्यान कहा है, उसी प्रकार केवलियों के काया की स्थिरता को भी वे ध्यान कहते हैं । जैसे मनोयोग है, उसी प्रकार काया भी एक योग है । कायायोगत्व का अर्थ ध्यानशब्द से भी होता है ।"

यहाँ फिर प्रश्न होता है कि 'चौथे शुक्लध्यान में तो काययोग का निरोध किया जाता है' इसलिए उसमें तो काययोग भी नहीं होता तो फिर ध्यानशब्द से उसका निर्देश कैसे कर सकते हैं ? इसका उत्तर देते हैं —

पूर्वाभ्यासात्, जीवोपयोगतः कर्मजरणहेतोर्वा ।
शब्दार्थबहुत्वाद्वा जिनवचनाद्वाऽप्ययोगिनो ध्यानम् ॥१२॥

अर्थ—पूर्वकालिक अभ्यास से जीव के उपयोग से कर्मनिर्जरा होती है, इस कारण से ; अथवा शब्दार्थ की बहुलता या श्री जिनेश्वर के वचन से इसे अयोगियों का ध्यान कह सकते हैं ।

व्याख्या—जैसे कुम्हार का चाक डंडे आदि के अभाव में भी पूर्वाभ्यास से घूमता रहता है, उसी प्रकार मन आदि समस्त योगों के बंद होने पर भी अयोगियों के पूर्व-अभ्यास से ध्यान होता है। यद्यपि द्रव्य से उनके योग नहीं होते हैं, फिर भी जीव के उपयोगरूप भावमन का सद्भाव होता है, अतः इसे योगियों का ध्यान कहा है अथवा ध्यानकार्य का फल कर्म-निर्जरा है और उसका हेतु ध्यान है। जैसे कि पुत्र न होने पर भी जो लड़का पुत्र के योग्य व्यवहार करता है, वह पुत्र कहलाता है। भव के अन्त तक रहने वाले भवोपग्राही कर्मों की निर्जरा इसी ध्यान से होती है। अथवा एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं, जैसे कि 'हरि' शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। हरि शब्द के सूर्य, बन्दर, घोड़ा, सिंह, इन्द्र, कृष्ण आदि अनेक अर्थ हैं। इसी प्रकार ध्यान शब्द के भी अनेक अर्थ होते हैं। जैसे कि ' 'ध्यै चिन्तायाम्' ध्यै काययोग-निरोधे' 'ध्यै अयोगित्वेऽपि' अर्थात् ध्यै धातु चिन्तन में, विचार या ध्यान में, काययोग के निरोध अर्थ में और अयोगित्व अर्थ में भी कहा गया है। व्याकरणकारों और कोषकारों के मतानुसार निपात तथा उपसर्ग के योग से धातु के अनेक अर्थ होते हैं। इसका उदाहरण यही पाठ है। अथवा जिनागम में भी अयोगी-केवली-अवस्था को भी ध्यान कहा है। कहा भी है कि 'आगम-युक्ति सम्पूर्ण श्रद्धा से अतीन्द्रिय पदार्थों की सत्ता स्वीकार करने के लिए प्रमाणभूत है।'

इतना कहने के बाद भी शुक्लध्यान के चार भेदों को विशेषरूप से समझाते हैं—

आद्ये श्रुतावलम्बन-पूर्वे पूर्वश्रुतार्थ-सम्बन्धात् ।
पूर्वधराणां छद्मस्थयोगिनां प्रायशो ध्याने ॥१३॥

अर्थ—शुक्लध्यान के चार भेदों में से प्रथम के दो ध्यान पूर्वधरों एवं छद्मस्थ-योगियों को श्रुतज्ञान के अवलम्बन से प्रायः पूर्व श्रुत के अर्थ से सम्बन्धित होते हैं। प्रायशः कहने का आशय यह है कि अपूर्वधर माषतुष मुनि और मरुदेवी भी शुक्लध्यानियों में माने जाते हैं। तथा—

सकलालम्बन-विरह-प्रथिते द्वे त्वन्तिमे समुद्दिष्टे ।
निर्मल-केवलदृष्टि-ज्ञानानां क्षीणदोषाणाम् ॥१४॥

अर्थ—शुक्लध्यान के अन्तिम दो ध्यान समस्त आलम्बन से रहित होते हैं ; वे समस्त दोषों का क्षय करने वाले निर्मल केवलज्ञान और केवलदर्शन वाले योगियों को होते हैं।

तत्र श्रुताद् गृहीत्वैकम्, अर्थमर्थाद् व्रजेच्छब्दम् ।
शब्दात् पुनरप्यर्थं योगाद् योगान्तरं च सुधीः ॥१५॥
संक्रामत्यविलम्बितम्, अर्थप्रभृतिषु यथा किल ध्यानी ।
व्यावर्तते स्वयमसौ, पुनरपि तेन प्रकारेण ॥१६॥

इति नानात्वे निशिताभ्यासः संजायते यदा योगी ।
आविर्भूतात्मगुणः, तदैकताया भवेद् योग्यः ॥१७॥
उत्पाद-स्थिति-भंगादि-पर्यायाणां यदेकयोगः सन् ।
ध्यायति पर्ययमेकं, तत् स्यादेकत्वमविचारम् ॥१८॥
त्रिजगद्विषयं ध्यानादणुसंस्थं धारयेत् क्रमेण मनः ।
विषमिव सर्वाङ्गगतं, मन्त्रबलान्मान्त्रिको दंशे ॥१९॥
अपसारितेन्धनभरः शेषः स्तोकेन्धनोऽनलो ज्वलितः ।
तस्मादपनीतो वा निर्वाति यथा मनस्तद्वत् ॥२०॥

अर्थ—उस शुक्लध्यान के प्रथम भेद में श्रुतज्ञान में से किसी एक पदार्थ को ग्रहण करके उसके विचार में से शब्द का विचार करना, और शब्द से पदार्थ के विचार में आना चाहिए। इसी प्रकार एक योग से दूसरे योग में आना-जाना होता है। ध्यानी पुरुष जिस शीघ्रता से अर्थ, शब्द और योग में संक्रमण करता है उसी शीघ्रता से उसमें से वापिस लौट आता है। इस प्रकार जब योगी अनेक प्रकार के तीक्ष्ण-(सूक्ष्म-विषयक) अभ्यास वाला हो जाता है, तब अपने में आत्मगुण प्रकट करके शुक्लध्यान से एकत्व के योग्य होता है। फिर एक योग वाला बन कर पदार्थों की उत्पत्ति, स्थिति और नाश आदि पर्यायों में से किसी एक पर्याय का ध्यान करता है, तब एकत्व, अविचार शुक्ल ध्यान कहलाता है। जैसे मन्त्र जानने वाला मन्त्र के बल से सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त विष को एक स्थान में ला कर केन्द्रित कर लेता है, उसी प्रकार योगी ध्यान के बल से त्रिजगत्‌विषयक मन को एक परमाणु पर केन्द्रित कर लेता है। जलती हुई अग्नि में से ईंधन को खींच लेने पर या बिलकुल हटा देने पर थोड़े ईन्धन वाली अग्नि बुझ जाती है, इसी प्रकार जब मन को भी विषय-रूपी ईन्धन नहीं मिलता, तब वह अपने आप ही शान्त हो जाता है।'

अब दूसरे ध्यान का फल कहते हैं—

ज्वलति ततश्च ध्यान-ज्वलने भृशमुज्ज्वले यतीन्द्रस्य ।
निखिलानि विलीयन्ते क्षणमात्राद् घातिकर्माणि ॥२१॥

अर्थ—उसके बाद जब ध्यानरूपी अग्नि अत्यन्त प्रचण्डरूप से जल कर उज्ज्वल हो जाती है, तब उसमें योगीन्द्र के समग्र घातिकर्म क्षणभर में भस्म हो जाते हैं।'

घातिकर्मों के नाम कहते हैं—

ज्ञानावरणीयं दृष्ट्यावरणीयं च मोहनीयं च ।
विलयं प्रयान्ति सहसा सहान्तरायेण कर्माणि ॥२२॥

अर्थ—शुक्लध्यान के प्रभाव से अन्तरायकर्म के सहित ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और मोहनीय यह चारों कर्म एक साथ विनष्ट हो जाते हैं।

घातिकर्म के क्षय का फल कहते हैं—

संप्राप्य केवलज्ञान-दर्शने दुर्लभे ततो योगी ।
जानाति पश्यति तथा लोकालोकं यथावस्थं ॥२३॥

अर्थ— घातिकर्मों का क्षय होने पर ध्यानान्तर योगी दुर्लभ केवलज्ञान और केवल दर्शन प्राप्त करके यथावस्थित रूप में समस्त लोक और अलोक को जानने तथा देखने लगता है ।'

केवलज्ञान उत्पन्न होने के बाद तीर्थंकर परमात्मा के अतिशय चौबीस श्लोकों के द्वारा कहते हैं :—

देवस्तदा स भगवान् सर्वज्ञः सर्वदर्श्यनन्तगुणः ।
विहरत्यवनीवलय, सुरासुरनरोरगैः प्रणतः ॥२४॥
वाग्ज्योत्स्नयाऽखिलान्यपि, विबोधयति भव्यजन्तुकुमुदानि ।
उन्मूलयति क्षणतो, मिथ्यात्वं द्रव्य-भावगतम् ॥२५॥
तन्नामग्रहमात्राद्, अनादि-संसार-संभवं दुःखम् ।
भव्यात्मनामशेषं परिक्षयं याति सहसैव ॥२६॥
अपि कोटीशतसंख्याः समुपासितमागताः सुरनराद्याः ।
क्षेत्रे योजनमात्रे, मान्ति तदाऽस्य प्रभावेण ॥२७॥
त्रिदिवौकसो मनुष्याः तिर्यञ्चोऽन्येऽप्यमुष्य बुध्यन्ते ।
निजनिजभाषानुगतं, वचन धर्मावबोधकरम् ॥२८॥
आयोजनशतमुग्राः रोगाः शाम्यन्ति तत्प्रभावेण ।
उदयिनि शीतमरीचाविव तापरुजः क्षितेः परितः ॥२९॥
मारीति-दुर्भिक्षातिवृष्ट्यनावृष्टि-डमर-वैराणि ।
न भवन्त्यस्मिन् विहरति, सहस्ररश्मौ तमांसीव ॥३०॥

अर्थ—केवलज्ञान होने के बाद सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनंत गुणों के निधान देवाधिदेव अर्हन्त भगवान् अनेक सुर, असुर और नागकुमार आदि से वंदनीय हो कर पृथ्वीमंडल पर विचरते हैं । और विचरते हुए भगवान् अपनी वाणीरूपी चन्द्रज्योत्स्ना (चाँदनी) द्वारा भव्य-जीवरूपी चन्द्रविकासी कमल (कुमुद) को प्रतिबोधित करते हैं और उनके द्रव्य-मिथ्यात्व और भाव-मिथ्यात्वरूपी अन्धकार को क्षणभर में समूलतः नष्ट कर देते हैं । उनका नाम उच्चारण करने मात्र से अनादिकाल से संसार में उत्पन्न होने वाले भव्यजीवों के समग्र दुःख सदा के लिए नष्ट हो जाते हैं । तथा उन भगवान् की उपासना के लिए आये हुए शतकोटि देव, मनुष्य और तिर्यंच आदि एक योजनमात्र क्षेत्र-स्थान में ही समा जाते हैं । उनके धर्म-बोधक वचनों को देव, मनुष्य, पशु तथा अन्य जीव अपनी-अपनी भाषा में समझ लेते हैं । वे ऐसा समझते हैं कि भगवान् हमारी ही भाषा में बोल रहे हैं । भगवान् जिस-जिस क्षेत्र में

विचरते हैं, उस-उस स्थल से चारों ओर सौ-सौ योजन-प्रमाण क्षेत्र में उनके प्रभाव से महा-रोग वैसे ही शान्त हो जाते हैं, जैसे चन्द्र के उदय से गर्मी शान्त हो जाती है। जैसे सूर्य के उदय होते ही अन्धकार नहीं रहता है; वैसे ही भगवान् जहाँ विचरते हैं, वहाँ महामारी, दुर्भिक्ष, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, युद्ध, वैर आदि उपद्रव नहीं रहते। तथा—

मार्तण्डमण्डल -श्रीविडम्बि भामण्डलं विभोः परितः।
आविर्भवत्यनुवपुः प्रकाशयत् सर्वतोऽपि दिशः ॥३१॥
संचारयन्ति विकचान्यनुपादन्यासमाशु कमलानि।
भगवति विहरति तस्मिन् कल्याणी-भक्तयो देवाः ॥३२॥
अनुकूलो वाति मरुत्, प्रदक्षिणं यान्त्यमुष्य शकुनाश्च।
तरवोऽपि नमन्ति भवन्त्यधोमुखाः कण्टकाश्च तदा ॥३३॥
आ[illegible]पल्लवोऽशोकपादपः स्मेरकुसुमगन्धाढ्यः।
प्रकृतस्तुतिरिव म[illegible]करविरुतैर्विलसत्युपारे तस्य ॥३४॥
षडपि समकालमृतवो, भगवन्तं तं तदोपतिष्ठन्ते।
स्मरसाहाय्यकरणे, प्रायश्चित्तं ग्रहीतुमिव ॥३५॥
अस्य पुरस्तात् निनदन्, विजृम्भते दुन्दुभिर्नभसि तारम्।
कुर्वाणो निर्वाणे प्रयाण-कल्याणमिव सद्यः ॥३६॥
पंचापि चेन्द्रियार्थाः, क्षणान्मनोज्ञा भवन्ति तदुपान्ते।
को वा न गुणोत्कर्षं, सविधे म[illegible]तामवाप्नोति ? ॥३७॥
अस्य नखा रोमाणि च, वर्धिष्णून्यपि न हि प्रवर्धन्ते।
भवशतसंचितकर्मच्छेदं दृष्ट्वेव भीतानि ॥३८॥
समयन्ति तदभ्यर्णे, रजांसि गन्धजलवृष्टिभिर्देवाः।
[illegible]कुसुम[illegible]ष्टिभिरशेषतः सुरभयन्ति भुवम् ॥३९॥
छत्रत्रयी पवित्रा विभोरुपरि भक्तितस्त्रिदशराजैः।
गंगास्रोतस्त्रितयीव, धार्यते मण्डलीकृत्य ॥४०॥

अर्थ—श्री तीर्थंकर भगवान् के शरीर के अनुरूप चारों ओर सूर्यमण्डल की प्रभा को भी मात करने वाला और सर्वदिशाओं को प्रकाशित करने वाला भामण्डल प्रकट होता है। भगवान् जब पृथ्वीतल पर विहार करते हैं, तब कल्याणकारिणी भक्ति वाले देव तत्काल प्रभु के प्रत्येक चरण रखने के स्थान पर स्वर्णमय कमल स्थापित करते हैं। तथा वायु अनुकूल चलता है। पक्षी भगवान् की प्रदक्षिणा दाहिनी ओर से देते हैं, वृक्ष भी झुक जाते हैं, उस समय कांटों के मुख नीचे की ओर हो जाते हैं। [illegible] पत्ते तथा खिले हुए फूलों की सुगन्ध से व्याप्त अशोकवृक्ष, जो भौंरों के गुंजन से मानो स्वाभाविक स्तुति करता है, एवं

भगवान् पर छाया करता हुआ सुशोभित होता है। कामदेव की सहायता करने के अपने पाप का मानो प्रायश्चित्त ग्रहण करने के लिए एक ही साथ छहों ऋतुएँ उस समय प्रभु के समीप उपस्थित होती हैं। उस समय देवदुन्दुभि भी उनके सामने आकाश में जोर से घोषणा करती हुई प्रगट होती है, मानो वह भगवान् के शीघ्र निर्वाण के हेतु प्रयाणकल्याणक मना रही हो। भगवान् के पास पांचों इन्द्रियों के प्रतिकूल विषय भी क्षणभर में मनोहर बन कर अनुकूल बन जाते हैं, क्योंकि महापुरुषों के सम्पर्क से किसके गुणों में वृद्धि नहीं होती ? सभी की होती है। केश, नख आदि का स्वभाव बढ़ने का है, किन्तु सैकड़ों भवों के संचित कर्मों का छेदन देख कर वे भयभीत हो कर बढ़ने का साहस नहीं करते। भगवान् के आसपास सुगंधित जल की वृष्टि करके देव धूल को शान्त कर देते हैं और खिले हुए पुष्पों की वर्षा से समग्र भूमि को सुरभित कर देते हैं। इन्द्र भक्ति से मंडलाकार करके तीन छत्र भगवान् पर धारण करते हैं ; मानो वे गंगानदी के मंडलाकार तीन स्रोत किये हुए धारण हों।

'अयमेक एव नः प्रभुरित्याख्यातुं विडोजसोन्नमितः ।
अंगुलिदण्ड इवोच्चैश्चकास्ति रत्नध्वजस्तस्य ॥४१॥
अस्य शरदिन्दुदीधितिचारूणि च चामराणि धूयन्ते ।
वदनारविन्दसंपाति-राजहंसभ्रमं दधति ॥४२॥
प्राकारास्त्रय उच्चैः, विभान्ति समवसरणस्थितस्यास्य ।
कृतविग्रहाणि सम्यक्-चारित्र ज्ञानदर्शनानीव ॥४३॥
चतुराशावर्तिजनान्,युगपदिवानुग्रहीतुकामस्य ।
चत्वारि भवन्ति मुखान्यंगानि च धर्ममुपदिशतः ॥४४॥
अभिवन्द्यमानपादः सुरासुरनरोरगैस्तदा भगवान् ।
सिंहासनमधितिष्ठति, भास्वानिव पूर्वगिरिशृङ्गम् ॥४५॥
तेजःपुञ्जप्रसरप्रकाशिताशेषदिक्क्रमस्य तदा ।
त्रैलोक्यचक्रवर्तित्व-चिह्नमग्रे भवति चक्रम् ॥४६॥
भवनपति-विमानपति-ज्योतिःपति-वाणव्यन्तराः सविधे ।
तिष्ठन्ति समवसरणे, जघन्यतः कोटिपरिमाणाः ॥४७॥

अर्थ—'यही एकमात्र हमारे स्वामी हैं' इसे कहने के लिए मानो इन्द्र ने अपनी अंगुली ऊँची कर रखी हो, ऐसा रत्नजटित इन्द्रध्वज भगवान् के आगे सुशोभित होता है। भगवान् पर शरदऋतु की चन्द्र-किरणों के समान उज्ज्वल चामर डुलाये जाते हैं, जब वे चामर मुख-कमल पर आते हैं तो राजहंसों की-सी भ्रान्ति होती है। समवसरण में स्थित भगवान् के चारों तरफ स्थित ऊँचे तीन गढ़ (प्राकार) ऐसे मालूम पड़ते हैं ; मानों सम्यग्ज्ञान, दर्शन और चारित्र ने तीन शरीर धारण किये हैं। जब भगवान् समवसरण में चारों दिशाओं में स्थित लोगों को धर्मोपदेश देने के लिए विराजमान होते हैं, तब भगवान् के चार शरीर और

चार मुख हो जाते हैं ; मानो लोगों पर एक साथ उपकार करने की इच्छा से उन्होंने चारों दिशाओं में चार शरीर धारण किये हों। उनके चरणों में जिस समय सुर, असुर, मनुष्य और भवनपति देव आदि नमस्कार करते हैं, उस समय सिंहासन पर विराजमान भगवान् ऐसे मालूम होते हैं ; मानो उदयाचल के शिखर पर सूर्य सुशोभित हो। उस समय अपने तेजःपुंज से समस्त दिशाओं के प्रकाशक भगवान् के आगे त्रैलोक्य धर्म-चक्रवर्तित्व का चिह्नरूप धर्मचक्र रहता है। भवनपति, वैमानिक, ज्योतिष्क और वाणव्यंतर; ये चारों निकायों के देव समवसरण में भगवान् के पास जघन्य एक करोड़ की संख्या में रहते हैं।'

इस प्रकार केवलज्ञानी तीर्थंकर भगवान् के अतिशयों का स्वरूप बताया। अब सामान्य केवलियों का स्वरूप बताते हैं—

तीर्थंकरनामसंज्ञं, न यस्य कर्मास्ति सोऽपि योगबलात्।

उत्पन्न-केवलः सन् सत्यायुषि बोधयत्युर्वीम् ॥४८॥

अर्थ जिनके तीर्थंकर नामकर्म का उदय नहीं है, वे केवलज्ञानी भी योग के बल से केवलज्ञान प्राप्त करते हैं, और आयुकर्म शेष रहता है, तो जगत के जीवों को धर्मोपदेश भी देते हैं ; और आयुकर्म शेष न हो तो निर्वाणपद प्राप्त करते हैं।

इसके बाद उत्तरक्रिया का वर्णन करते हैं—

सम्पन्नकेवलज्ञान-दर्शनोऽन्तर्मुहूर्त-शेषायुः।

अर्हति योगी ध्यानं, तृतीयमपि कर्तुमचिरेण ॥४९॥

अर्थ—केवलज्ञान और केवलदर्शन प्राप्त होने के बाद जब योगी का आयुष्य अन्तर्मुहूर्त शेष रहता है, तब वे शीघ्र ही सूक्ष्म-क्रिया-अप्रतिपाति नामक तीसरा शुक्लध्यान प्रारम्भ कर सकते हैं।

अंतर्मुहूर्त का अर्थ है—मुहूर्त के अन्दर का समय। क्या सभी योगी एक समान तीसरा ध्यान आरम्भ करते हैं या उनमें कुछ विशेषता है ? इसे बताते हैं—

आयुःकर्मसकाशा[illegible], अधिकानि स्युर्यदाऽन्यकर्माणि।

तत्साम्याय त[illegible] योगी समुद्‌घातम् ॥५०॥

अर्थ—यदि आयुष्य-कर्म की अपेक्षा अन्य नाम, गोत्र और वेदनीय कर्मों की स्थिति अधिक रह जाती है तो उसे बराबर करने के लिए योगी केवली-समुद्‌घात करते हैं।

व्याख्या—जितना आयुष्यकर्म हो, उतनी ही शेष कर्म की स्थिति हो तो तीसरा ध्यान प्रारम्भ करते हैं, परन्तु आयुष्यकर्म से दूसरे कर्मों की स्थिति अधिक हो, तब स्थितिघात, रसघात आदि के लिए समुदघात नाम का प्रयत्न-विशेष करते हैं। कहा भी है—'यदि केवली भगवान् के दूसरे कर्म आयुष्यकर्म से अधिक शेष हों तो वे उन्हें समान करने की इच्छा से केवली-समुद्‌घात नामक प्रयत्न करते हैं।' समुद्‌घात का अर्थ है—जिस क्रिया से एक ही बार में सम्यक् प्रकार से प्रादुर्भाव हो, दूसरी बार न हो, इस प्रकार प्रबलता से घात करना=आत्म-प्रदेश को शरीर से बाहर निकालना। समुद्‌घात की विधि आगे बताते हैं—

दण्ड-कपाटे मन्थानकं च समयत्रयेण निर्माय ।
तुर्ये समये लोकं, निःशेषं पुरयेद् योगी ॥५१॥

अर्थ—योगी तीन समय में दण्ड, कपाट और मथानी बना कर अपने आत्मप्रदेशों को फैला देता है, और चौथे समय में बीच के अन्तरों को पूरित कर समग्र लोक में व्याप्त हो जाता है ।

व्याख्या—ध्यानस्थ केवली भगवान् ध्यान के बल से अपने आत्मप्रदेशों को शरीर के बाहर निकालते हैं । अर्थात् प्रथम समय में आत्मप्रदेशों को शरीर से बाहर निकाल कर ऊपर-नीचे लोकान्त तक उन्हें लोकप्रमाण दण्डाकार कर लेते हैं । दूसरे समय में उस दण्डाकार में से कपाट के समान आकार बना लेते हैं । अर्थात् आत्म-प्रदेशों को आगे-पीछे लोक में इस प्रकार फैलाते हैं कि जिसमे पूर्व-पश्चिम अथवा उत्तर-दक्षिण दिशा में कपाट के समान बन जाते हैं । तीसरे समय में उस कपाट को मथानी के आकार का बना कर फैलाते हैं, इससे अधिकतर लोक परिपूरित हो जाता है । चौथे समय में योगी बीच के अन्तरों (खाली स्थानों) को पूरित कर चौदह राजूलोक में व्याप्त हो जाता है । इस तरह लोक को परिपूरित करते हुए अनुश्रेणी तक गमन होने से लोक के कोणों में भी आत्मप्रदेश पूरित हो जाते हैं । अर्थात चार समयों में समग्र लोकाकाश को अपने आत्मप्रदेशों से पूर्ण कर देते हैं । जितने आत्मप्रदेश होते हैं, उतने ही लोकाकाश के प्रदेश हो जाते हैं । अतः प्रत्येक आकाशप्रदेश में एक-एक आत्मप्रदेश व्याप्त हो जाता है । इसे 'लोकपूरक' कहा ऐसा सुन कर दूसरे दार्शनिक जो आत्मा को विभु अर्थात् सर्वव्यापी मानते हैं, उनके मत के साथ भी संगति हो जाती है । इसका मतलब यह हुआ कि अन्य दर्शनों ने आत्मा को सर्वत्र चक्षुवाला, सर्वत्रमुखवाला, सर्वत्र बाहु वाला व सर्वत्र पैर वाला सारे लोक में व्यापक माना है ।

अब पांचवें आदि समय में वे क्या करते हैं ? उसे कहते हैं -

समयैस्ततश्चतुर्भिर्निवर्तते लोकपूरणादस्मात् ।
विहितायुः समकर्मा, ध्यानी प्रतिलोममार्गेण ॥५२॥

अर्थ—चार समय में समग्र लोक में आत्मप्रदेशों को व्याप्त करके अन्य कर्मों को आयुकर्म के समान करके ध्यानी मुनि प्रतिलोम-क्रम से लोकपूरित कार्य को समेटते हैं ।

व्याख्या—इस प्रकार चार समय में आयुष्य को अन्य कर्मों की स्थिति के समान बना कर पांचवें समय में लोक में फैले हुए कर्म वाले आत्मप्रदेशों का संहरण कर सिकोड़ते हैं । छठे समय में मथानी के आकार को समेट लेते हैं, सातवें समय में कपाट के आकार को सिकोड़ते हैं और आठवें समय में दण्डाकार को समेट कर पूर्ववत् अपने मूल शरीर में ही स्थित हो जाते हैं । समुद्घात के समय मन और वचन के योग का व्यापार नहीं होता । उस समय इन दोनों योगों का कोई प्रयोजन नहीं होता है, केवल एक काया-योग का ही व्यापार होता है । उसमें पहले और आठवें समय में औदारिक काया की प्रधानता होने से औदारिक काययोग होता है । दूसरे, छठे और सातवें समय में औदारिक शरीर से बाहर आत्मा का गमन होने से कार्माण-वीर्य का परिस्पन्द-अत्यधिक कम्पन होने से औदारिक-कार्माणमिश्र योग होता है, तीसरे चौथे और पांचवे समय में आत्मप्रदेश औदारिक शरीर के व्यापार-रहित और उस शरीर से बाहर होने से उस शरीर की सहायता के बिना अकेला कार्माण काययोग होता है ।' वाचकवर्य श्री

उमास्वाति ने प्रशमरति के २७५ और २७६ वें श्लोक में कहा है—"समुद्घातकाल में पहले और आठवें में औदारिक शरीर का योग होता है, सातवें, छठे और दूसरे समय में मिश्र औदारिक योग होता है तथा चौथे, पांचवे और तीसरे समय में कार्माण शरीर-योग होता है, और इन तीनों समयों में नियम से वे अनाहारक होते हैं।" समुद्घात का त्याग करने के बाद यदि आवश्यकता हो तो वे तीनों योगों का व्यापार करते हैं। जैसे कि कोई अनुत्तरदेव मन से प्रश्न पूछे तो सत्य या असत्यामृषा मनोयोग की प्रवृत्ति करे, इसी प्रकार किसी को सम्बोधन आदि करने में, उसी प्रकार वचनयोग के व्यापार करते हैं। अन्य दो प्रकार के योग से व्यापार नहीं करते। दोनों भी औदारिक काययोग-फलक वापिस अर्पण करने आदि में व्यापार करते हैं। उसके बाद अंतर्मुहूर्तमात्र समय में योग-निरोध प्रारम्भ करते हैं। इन तीनों योगों के दो भेद हैं— सूक्ष्म और बादर। केवलज्ञान होने के बाद इन दोनों प्रकार के योगों का उत्तरकाल जघन्य अंतर्मुहूर्त का है और उत्कृष्ट कुछ कम पूर्वकोटि काल तक सयोगीकेवली विचरण कर अनेक भव्य जीवों को प्रतिबोध करते हैं। जब उनका आयुष्य केवल अंतर्मुहूर्त शेष रहता है, तब वे प्रथम बादर काययोग से बादर वचनयोग और मनोयोग को रोकते हैं, उसके बाद सूक्ष्म काययोग से बादरकाय-योग को रोकते हैं। बादर काययोग होता है, तब सूक्ष्मयोग को रोकना अशक्य है, दौड़ता हुआ मनुष्य अकस्मात् अपनी गति को नही रोक सकता, धीरे-धीरे ही रोक सकता है। उसी तरह सर्व बादर योग का निरोध करने के बाद सूक्ष्म काययोग से सूक्ष्मवचन और मनोयोग का निरोध करते हैं, उसके बाद सूक्ष्मक्रिया-अनिवर्ति शुक्लध्यान करते हुए अपनी आत्मा से ही सूक्ष्म कायायोग का निरोध करते हैं। इसी बात को तीन श्लोकों द्वारा कहते हैं—

श्रीमानचिन्त्यवीर्यः शरीरयोगेऽथ बादरे स्थित्वा।
अचिरादेव हि निरुणद्धि, बादरो वाङ्मनः-सयोगी ॥५३॥
सूक्ष्मेण काययोगेन, कायं योगं स बादरं रुन्ध्यात्।
तस्मिन् अनिरुद्धे सति, शक्यो रोद्धुं न सूक्ष्मतनुयोगः ॥५४॥
वचन-मनोयोग-युगसूक्ष्मं निरुणद्धि सूक्ष्मतनुयोगात्।
विदधाति ततो ध्यानं सूक्ष्मक्रियमसूक्ष्मतनु-योगम् ॥५५॥

अर्थ—केवलज्ञानादिक लक्ष्मी तथा अचिन्तनीय शक्ति से युक्त वह योगी बादर कायायोग का अवलम्बन ले कर बादर वचनयोग और मनोयोग को शीघ्र ही रोक लेता है, फिर सूक्ष्म काययोग से बादर काययोग को रोकता है; क्योंकि बादर काययोग का निरोध किए बिना सूक्ष्म काययोग का निरोध नहीं हो सकता है। तदनन्तर सूक्ष्म काययोग से सूक्ष्म वचन और सूक्ष्म मनोयोग का निरोध करते हैं। उसके बाद सूक्ष्मकाययोग से रहित सक्ष्मक्रियानिवर्ति नाम का ध्यान करते हैं, इसी का दूसरा नाम 'समुच्छिन्नक्रिय' है।

तदनन्तरं [illegible]।
अस्यान्ते क्षीयन्ते ह्यघातिकर्माणि चत्वारि ॥५६॥

अर्थ—उसके बाद अयोगी केवली बन कर वे समुच्छिन्नक्रिया नामक चौथा शुक्ल-ध्यान प्रकट करते हैं। इससे समस्त क्रियाएँ बन्द हो जाती हैं। इसके अन्त में चार अघाति-कर्मों का क्षय हो जाता है।

लघुवर्णपञ्चकोद्गिरण.ल्यकालमवाप्य शैलेशीम् ।
क्षपयति युगपत् परितो, वेद्यायुर्नामगोत्राणि ॥५७॥

अर्थ—तदनन्तर 'अ, इ, उ, ऋ, लृ' इन पांच ह्रस्व-स्वरों को बोलने में जितना समय लगता है, उतने समय तक में शैलेशी अवस्था अर्थात् मेरुपर्वत के समान निश्चल दशा प्राप्त करके एक साथ वह वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र कर्म को मूल से क्षय कर देता है। उसके बाद—

औदारिक-तैजस-कार्मणानि संसारमूलकारणानि ।
हित्वेह ऋजुश्रेण्या समयेनैकेन याति लोकान्तम् ॥५८॥

अर्थ—संसार के मूलकारणभूत औदारिक, तैजस, और कार्मणरूप शरीरों का त्याग करके विग्रह-रहित ऋजुश्रेणी से दूसरे आकाशप्रदेश को स्पर्श किए बिना एक समय में (दूसरे समय का स्पर्श किए बिना) लोक के अन्तभाग में सिद्धक्षेत्र में साकार-उपयोगसहित आत्मा पहुंच जाता है।

कहा भी है—'इस पृथ्वीतल पर अंतिम शरीर का त्याग करके वहाँ जा कर आत्मा सिद्धि प्राप्त करता है।' यहां प्रश्न होता है कि 'जीव ऊपर जाते समय लोकान्त से आगे क्यो नहीं जाता ? अथवा शरीर का त्याग कर धरती के नीचे या तिरछा क्यों नहीं जाता है ? इसका उत्तर देते हैं—

नोर्ध्वमुपग्रहविरहादधोऽपि वा नैव गौरवाभावात् ।
योग-प्रयोग-विगमात् न तिर्यगपि तस्य गतिरस्ति ॥५९॥

अर्थ—सिद्धात्मा लोक से ऊपर अलोकाकाश में नहीं जाता, क्योंकि जैसे मछली को गति में सहायक जल है, वैसे ही जीव की गति में सहायक धर्मास्तिकाय द्रव्य है, वह लोकान्त के ऊपर नहीं होने से जीव आगे नहीं जा सकता ; तथा वह आत्मा नीचे भी नहीं जाती ; क्योंकि उसमें गुरुता नहीं है और कायादि योग और उसकी प्रेरणा, इन दोनों का अभाव होने से तिरछा भी नहीं जाता है।

यहां कर्म से मुक्त होने पर आत्मा को ऊपर जाने के लिए प्रदेश तो मर्यादित है, इसलिए उसकी गति नहीं होनी चाहिए ? इस प्रश्न का समाधान इस प्रकार करते हैं—

लाघवयोगाद् धूमवदला.फलवच्च संगविरहेण ।
न्धनविरहादेरण्डवच्च सिद्धस्य गतिरूर्ध्वम् ॥६०॥

अर्थ—सिद्ध परमात्मा के जीव (आत्मा) की लघुताधर्म के कारण धुंए के समान ऊर्ध्वगति होती है तथा संगरहित होने से तथाविध परिणाम से ऊपर ही जाता है। जैसे तुंबे पर संयोगरूप मिट्टी के आठ लेप किये हों तो उसके वजनदार हो जाने से मिट्टी के संग से वह जल में डूब जाता है, परन्तु पानी के संयोग से क्रमशः लेप दूर हो जाता है, तब वह तुम्बा हलका हो जाने पर पानी के ऊपर स्वाभाविक रूप से अपने आप आ जाता है; उसी प्रकार कर्मलेप से मुक्त जीव भी अपने आप लोकान्त तक पहुंच जाता है। कोश से मुक्त एरंड का बीज ऊपर की ओर जाता है, वैसे ही कर्मबन्ध से मुक्त सिद्ध की ऊर्ध्वगति होती है।

सादिकमनन्तमनुपमम्, अव्याबाधं स्वभावजं सौख्यम् ।
प्राप्य सकवलज्ञान शनो मोदते मुक्तः ॥६१॥

अर्थ—केवलज्ञान और केवलदर्शन से युक्त सिद्धात्मा सर्वकर्मों से मुक्त हो कर सादि-अनंत अनुपम, अव्याबाध और स्वाभाविक पैदा होने वाले आत्मिक सुख को प्राप्त कर उसी में मग्न रहते हैं।

व्याख्या—आदि-सहित हो वह सादिक कहलाता है। संसार में पहले कभी भी ऐसे सुख का अनुभव नहीं किया, इसलिए वह सुख सादिक है। इस सिद्ध-सुख का कभी अन्त नहीं होने से वह अनन्त-सुख है। सादि का अनन्तत्व कैसे हो सकता है? क्योंकि घटादि का नाश देखने से घटादि की आदि होती है, घन, हथौड़े आदि के व्यापार से उसका नाश होता देखा जाता है। इसलिए क्षय होने पर उसमें से घट उत्पन्न होने से वह अनन्त नहीं कहलाता है। परन्तु आत्मा का कभी क्षय न होने से वह सुख अक्षय अनन्त है। अनुपम अर्थात् किसी भी उपमान के अभाव वाला सुख, प्रत्येक जीवों के अतीतकाल, वर्तमान काल और भविष्यकाल के सांसारिक सुख एकत्रित करें, तो भी वह सुख एक सिद्ध के सुख का अनन्तवाँ भाग है। उनके सुख में किसी भी प्रकार की रुकावट नहीं होती है, शरीर और मन की पीड़ाओं का अभाव होने से वह सुख अव्याबाध है। स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होने वाला सिद्ध का सुख सिर्फ आत्म स्वरूप से ही होने वाला सुख है। इस प्रकार सादि-अनन्त, अनुपम अव्याबाध और स्वाभाविक सुख से युक्त केवलज्ञान-केवलदर्शन-सम्पन्न मुक्त-आत्मा परमानन्द के अधिकारी होते हैं। ऐसा कह कर कितने ही दार्शनिक जो कहते हैं कि 'मुक्तात्मा सुख आदि गुणों से रहित और ज्ञान-दर्शनरहित होते हैं; उनके मत का खण्डन कर दिया है। वैशेषिक दर्शनकार कहते हैं कि 'बुद्धि आदि नौ आत्मा के विशेष गुणों का अत्यंत छेदन हो जाना मोक्ष है', अथवा जो प्रदीप का निर्वाण होने (बुझने) के समान मोक्ष को केवल अभावस्वरूप मानते हैं, उनके मत का भी निराकरण कर दिया है! बुद्धि आदि गुणों के उच्छेदरूप या आत्मा के उच्छेद-रूप मोक्ष की इच्छा करना योग्य नहीं है; कौन विवेकी बुद्धिशाली पुरुष अपने गुणों के उच्छेदन से युक्त या आत्मा के उच्छेदनरूप मोक्ष को चाहेगा? इसलिए अनंतज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्यमय स्वरूप वाला सर्वप्रमाणों से सिद्ध मोक्ष ही युक्तियुक्त है।

इस प्रकार परमार्हत श्रीकुमारपाल राजा की जिज्ञासा से आचार्यश्री
हेमचन्द्राचार्य-सूरीश्वररचित 'अध्यात्मोपनिषद्' नामक
पट्टबद्ध अपरनाम 'योगशास्त्र' का
स्वोपज्ञविवरणसहित एकादश
प्रकाश सम्पूर्ण हुआ।

ॐ अर्हते नमः

१२ : द्वादश प्रकाश

शास्त्र के आरम्भ में कहा था कि 'अपने अनुभव से भी कहूँगा' उसे विस्तृतरूप से बताने के लिए प्रस्तावना करते हैं—

श्रुतिसिन्धोर्गुरुमुखतो, यदधिगतं तदिह दर्शितं सम्यक् ।
अनुभवसिद्धमिदानीं, प्रकाश्यते तत्त्वमिदममलम् ॥१॥

अर्थ—श्रुतज्ञानरूपी समुद्र से तथा गुरुमुख से मैंने जो कुछ जाना या सुना है, वह सम्यक् प्रकार से बतला दिया। अब मैं अपने निजी अनुभव से सिद्ध योग-विषयक निर्मल तत्त्व को प्रकाशित करूँगा।

अब उत्तमपद पर आरूढ होने के लिए चार प्रकार के चित्त का निरूपण करते हैं—

इह विक्षिप्तं यातायातं श्लिष्टं तथा सुलीनं च ।
चेतश्चतुःप्रकारं तज्ज्ञ-चमत्कारकारि भवेत् ॥२॥

अर्थ—योगाभ्यास के अधिकार में चित्त चार प्रकार का है—१. विक्षिप्त मन, २. यातायात मन, ३. श्लिष्ट मन और ४. सुलीनमन, ये चित्त के चार प्रकार हैं; जो इस विषय के जानकार के लिए चमत्कारजनक होते हैं।

इसकी क्रमशः व्याख्या करते हैं—

विक्षिप्तं चलमिष्टं, यातायातं च किमपि सानन्दम् ।
प्रथमाभ्यासे द्वयमपि, विकल्प-विषयग्रहं तत् स्यात् ॥३॥

अर्थ—विक्षिप्त चित्त चंचल रहता है, वह इधर-उधर भटकता रहता है। यातायात चित्त कुछ आनंददायक है; वह कभी बाहर चला जाता है कभी अन्दर स्थित रहता है। प्राथमिक अभ्यास करने वालों के चित्त को ये दोनों स्थितियाँ होती हैं। अर्थात् पहले चित्त में चंचलता रहती है, फिर अभ्यास करने से धीरे-धीरे चंचलता के साथ स्थिरता आने लगती है। दोनों प्रकार के ये चित्त विकल्प के साथ बाह्य पदार्थों के ग्राहक भी होते हैं।

श्लिष्टं स्थिरसानन्दं, सुलीनमतिनिश्चलं परानन्दम् ।
तन्मात्रकविषयग्रहम् उभयमपि बुधैस्तदाम्नातम् ॥४॥

अर्थ—श्लिष्ट नामक तीसरा मन स्थिरतायुक्त और आनन्दमय होता है और जब वही मन अत्यन्त स्थिर हो जाता है, तब परमानन्दमय होता है; वही चौथा सुलीन मन कहलाता है। ये दोनों मन अपने-अपने योग्य विषय को ही ग्रहण करते हैं। परन्तु ये बाह्य-पदार्थ को ग्रहण नहीं करते। इसलिए पंडितों ने नाम के अनुसार ही उनके गुण माने हैं।

एवं क्रमशोऽभ्यासावेशाद् ध्यानं भजेत् निरालम्बम्।
समरसभावं यातः [illegible] ततोऽनुभवेत् ॥५॥

अर्थ— इस प्रकार क्रमशः अभ्यास करते हुए अर्थात् विक्षिप्त से यातायात चित्त का, यातायात से श्लिष्ट का और श्लिष्ट से सुलीन चित्त का अभ्यास करना चाहिए। इस प्रकार बार-बार अभ्यास करने से ध्याता निरालम्ब ध्यान तक पहुंच जाता है; इससे समरस-भाव की प्राप्ति होती है, उसके बाद योगी परमानन्द का अनुभव करता है।

समरसभाव की प्राप्ति किस तरह होती है? उसे कहते हैं—

बाह्यात्मानमपास्य, प्रसत्तिभाजाऽन्तरात्मना योगी।
सततं परमात्मानं विचिन्तयेत् तन्मयत्वाय ॥६॥

अर्थ आत्मसुखाभिलाषी योगी को चाहिए कि अंतरात्मा बाह्यपदार्थरूप बहि-रात्मभाव का त्याग करके परमात्मस्वरूप में तन्मय होने के लिए निरंतर परमात्मा का ध्यान करे।

दो श्लोकों से आत्मा के बहिरादि का स्वरूप कहते हैं—

आत्मधिया समुपात्तः कायादिः कीर्त्यतेऽत्र बहिरात्मा।
कायादेः समाधिष्ठायको, भवत्यन्तरात्मा तु ॥७॥
[illegible]द्रूपानन्दमयो, निःशेषोपाधिवर्जितः शुद्धः।
अत्यक्षोऽनन्तगुणः, परमात्मा कीर्तितस्तज्ज्ञैः ॥८॥

अर्थ—शरीर, धन, परिवार, स्त्री-पुत्रादि को आत्मबुद्धि (ममता की दृष्टि) से ग्रहण करने वाला बहिरात्मा कहलाता है। परन्तु, शरीर तो मेरे रहने का स्थान (घर) है, मैं उसमें रहने वाला स्वामी हूं। यह शरीर तो रहने के लिए किराये का घर है। 'इस प्रकार पुद्गल-स्वरूप सुख-दुःख के संयोग-वियोग में हर्ष-शोक नहीं करने वाला अन्तरात्मा कहलाता है। सत्ता से चिदानन्दमय ([illegible]रूप आनन्दमय) समग्र बाह्य उपाधि से रहित, स्फटिक के सदृश निर्मल, इन्द्रिय आदि से अगोचर और अनन्तगुणों से युक्त आत्मा को ज्ञानियों ने परमात्मा कहा है।

बहिरात्मा और अन्तरात्मा के भेदज्ञान से जो लाभ होता है, उसे कहते हैं—

पृथगात्मानं कायात् पृथक् च विद्यात् सदात्मनः कायम्।
उभयोर्भेदज्ञाताऽऽत्मनिश्चये न स्खलेद् योगी ॥९॥

अर्थ—आत्मा को शरीर से भिन्न तथा शरीर को सदा आत्मा से भिन्न जानना

चाहिए। इन दोनों के भेद का ज्ञाता योगी आत्मस्वरूप के निश्चय करने में विचलित नहीं होता—

वह इस प्रकार है—

अन्तःपिहितज्योतिः, संतुष्यत्यात्मनाऽन्यतो मूढः।

तुष्यत्यात्मन्यव हि बहिर्निवृत्तभ्रमो ज्ञानी ॥१०॥

अर्थ—जिसकी आत्मज्योति कर्मों से ढक गई है, वह मूढ जीव आत्मा से भिन्न पुद्गलों (पदार्थों) में संतोष मानता है। परन्तु बाह्य पदार्थों में सुख की भ्रान्ति से निवृत्त ज्ञानी (योगी) अपने आत्मस्वरूप में ही आनन्द मानता है।

उसी को कहते हैं—

पुंसामयत्नलभ्यं ज्ञानवतामव्ययं पदं नूनम्।

यद्यात्मन्यात्मज्ञानमात्रमेते समीहन्ते ॥११॥

अर्थ—यदि वे आत्मा में सिर्फ आत्मज्ञान की ही चेष्टा करते हैं और किसी अन्य पदार्थों का विचार भी नहीं करते हैं तो मैं निश्चयपूर्वक कहता हूं कि उन ज्ञानी पुरुषों को अनायास ही निर्वाणपद प्राप्त हो सकता है।

इसी बात को स्पष्टरूप से कहते हैं—

श्रूयते सुवर्णभावं, सिद्धरसस्पर्शतो यथा लोहम्।

आत्मध्यानादात्मा, परमात्मत्वं तथाऽऽप्नोति ॥१२॥

अर्थ—जैसे सिद्ध रस के स्पर्श से लोहा सोना बन जाता है; उसी तरह आत्मा का ध्यान करने से आत्मा परमात्मा बन जाता है।

जन्मान्तरसंस्कारात् स्वयमेव किल प्रकाशते तत्त्वम्।

सुप्तोत्थितस्य पूर्वप्रत्ययवत् निरुपदेशमपि ॥१३॥

अर्थ—जैसे निद्रा से जागृत हुए मनुष्य को पहले अनुभव किया हुआ कार्य दूसरे के कहे बिना, स्वयमेव याद आ जाता है; वैसे ही योगी पुरुष को पूर्व जन्म-जन्मान्तर के संस्कारों से उपदेश के बिना स्वतः ही तत्त्व प्रकाशित हो जाता है।

जिस योगी ने पूर्व जन्म में आत्मज्ञान का अभ्यास किया हो, उसे निद्रा से जागे हुए व्यक्ति के समान स्वयमेव आत्मज्ञान हो जाता है। इसमें परोपदेश की आवश्यकता नहीं रहती।

अथवा गुरुप्रसादाद्, इहैव तत्त्वं समुन्मिषति नूनम्।

गुरुचरणोपास्तिकृतः, प्रशमजुषः शुद्धचित्तस्य ॥१४॥

अर्थ—अथवा पूर्व जन्म के संस्कार के बिना ही गुरु-चरणों के उपासक प्रशम-रस सम्पन्न निर्मलचित्त साधक को गुरु-कृपा से अवश्य ही आत्मज्ञान स्फुरित हो जाता है।

दोनों जन्मों में गुरुमुखदर्शन की आवश्यकता बताते हैं—

तत्र प्रथमे तत्त्वज्ञाने, संवादको गुरुर्भवति।

दर्शयिता त्वपरस्मिन् गुरुमेव भजेत्तस्मात् ॥१५॥

अर्थ— पूर्वजन्म में प्रथम तत्वज्ञान का उपदेष्टा गुरु ही होता है और दूसरे जन्म में भी तत्त्वज्ञान बताने वाला भी गुरु ही होता है। इसलिए सदा गुरु महाराज की सेवा-शुश्रूषा करनी चाहिए।

अब गुरु महाराज की स्तुति करते हैं -

यद्वत् सहस्रकिरणः प्रकाशको निचिततिमिरमग्नस्य ।
तद्वद् गुरुरत्र भवेदज्ञान-ध्वान्त-पतितस्य ।।१६।।

अर्थ— जैसे अतिगाढ अन्धकार में स्थित पदार्थ को सूर्य प्रकाशित कर देता है; वैसे ही अज्ञान-रूपी अन्धकार में भटकते हुए आत्मा को इस संसार में (तत्त्वोपदेश दे कर) गुरु ज्ञान ज्योति प्रकाशित कर देता है। इसलिए —

प्राणायाम-प्रभृति-क्लेशपरित्यागतस्ततो योगी ।
उपदेशं प्राप्य गुरोः आत्माभ्यासे रतिं कुर्यात् ।।१७।।

अर्थ अतः प्राणायाम आदि क्लेशकर उपायों का त्याग करके योगी गुरु का उपदेश प्राप्त कर आत्मस्वरूप के अभ्यास में ही मग्न रहे। इसके बाद —

वचन-मनःकायानां, क्षोभं यत्नेन वर्जयेत् शान्तः ।
रसभाण्डमिवात्मानं सुनिश्चलं धारयेत् नित्यम् ।।१८।।

अर्थ— मन, वचन और काया की चंचलता का प्रयत्नपूर्वक त्याग करके योगी को रस से भरे बर्तन की तरह आत्मा को स्थिर और शान्त बना कर सदा अतिनिश्चल रखना चाहिए।

औदासीन्यपरायण-वृत्तिः किञ्चिदपि चिन्तयेन्नैव ।
यत् संकल्पाकुलितं चित्तं नासादयेत् स्थैर्यम् ।।१९।।

अर्थ- बाह्यपदार्थों के प्रति उदासीनभाव रखने वाले योगी को इस प्रकार की किंचित् भी चिन्तन नहीं करना चाहिए, जिससे मन संकल्प-विकल्पों से आकुल-व्याकुल हो कर स्थिरता प्राप्त न करे।

अब व्यतिरेक भाव को कहते हैं -

यावत् प्रयत्नलेशो, यावत् संकल्पकल्पना काऽपि ।
तावन्न लयस्यापि, प्राप्तिस्तत्त्वस्य तु का कथा?।।२०।।

अर्थ—जब तक मन-वचन-काय-योग से सम्बन्धित कुछ भी प्रयत्न विद्यमान है और जब तक संकल्पयुक्त कुछ भी कल्पना मौजूद है, तब तक लय (तन्मयता) की प्राप्ति नहीं होगी; तत्त्वप्राप्ति की तो बात ही क्या है?

अब उदासीनता का फल कहते हैं—

यदिदं तदिति न वक्तुं, साक्षाद् गुरुणाऽपि हन्त! शक्येत् ।
औदासीन्यपरस्य, प्रकाशते तत् स्वयं तत्त्वम् ।२१।।

अर्थ—'यह वह परमात्मतत्त्व है' यों तो साक्षात् गुरु भी कहने में समर्थ नहीं है। उदासीनभाव में तल्लीन बने हुए योगी को वह परमात्मतत्त्व स्वयमेव प्रकाशित होता है।

उदासीनता में रहने पर काया परमतत्त्व में तन्मय हो जाता है और उसमें उन्मनीभाव प्रकट हो जाता है ; यह बात चार श्लोकों द्वारा स्पष्ट करते हैं—

एकान्तेऽतिपवित्रे रम्ये देशे सदा सुखासीनः।
आचरणाग्रशिखाग्रतः शिथिलीभूताखिलावयवः ॥२२॥
रूपं कान्तं पश्यन्नपि, शृण्वन्नपि गिर कलमनोज्ञाम्।
जिघ्रन्नपि च सुगन्धीन्यपि, भुञ्जानो रसान् स्वादून् ॥२३॥
भावान् स्पृशन्नपि मृदूनवारयन्नपि च चेतसो वृत्तिम्।
परिकलितौदासीन्यः, प्रणष्टविषयभ्रमो नित्यम् ॥२४॥
बहिरन्तश्च समन्तात्, चिन्ता-चेष्टापरिच्युतो योगी।
तन्मयभाव प्राप्तः कलयति भृशमुन्मनीभावम् ।२५।

अर्थ—अतिपवित्र, एकान्त और रमणीय स्थल में सदा पैर के अंगूठे से ले कर चोटी के अग्रभागपर्यन्त समस्त अवयवों को शिथिल करके लम्बे समय तक बैठ सके, ऐसे ध्यान के अनुरूप किसी भी सुखासन से बैठे। ऐसी दशा में मनोहर रूप को देखता हुआ भी, मधुर मनोज्ञ वाणी को सुनता हुआ भी, सुगन्धित पदार्थों को सूंघता हुआ भी, स्वादिष्ट रस का आस्वाद करता हुआ भी, कोमल पदार्थों का स्पर्श करता हुआ भी, और मन की वृत्ति न रोकता हुआ भी उदासीनता (निर्ममत्वभाव) से युक्त, नित्य विषयासक्ति-रहित तथा बाह्य और आन्तरिक समस्त चिन्ताओं एवं चेष्टाओं से रहित योगी तन्मयभाव बन कर अत्यन्त उन्मनीभाव को प्राप्त करता है।

अब इन्द्रियों को नहीं रोकने का प्रयोजन बताते हैं

गृह्णन्ति ग्राह्याणि स्वानि स्वानीन्द्रियाणि नो रुध्यात्।
न खलु प्रवर्तयेद् वा, प्रकाशते तत्त्वमचिरेण ॥२६॥

अर्थ—इन्द्रियाँ अपने-अपने ग्राह्य विषयों को ग्रहण करती हैं। उन्हें न तो रोके और न उन्हें विषय में प्रवृत्त करे। ऐसा करने से अल्पकाल में ही तत्त्वज्ञान प्रकाशित हो जाता है।

हमने वीतरागस्तोत्र में कहा है—'प्रभो ! आपने इन्द्रियों को रोका नहीं है और न ही उन्हें स्वच्छन्द छोड़ी है ; परन्तु आपने उदासीनभाव से इन्द्रियों पर विजय पाई है।'

मन पर विजय किस प्रकार पा सकते हैं, यह दो श्लोकों द्वारा कहते हैं

चेतोऽपि यत्र यत्र, प्रवर्तते नो ततस्ततो वार्यम्।
अधिकीभवति हि वारितम्, अवारितं शान्तिमुपयाति ॥२७॥

मत्तो हस्ती यत्नात् निवार्यमाणोऽधिकोभवति यद्वत् ।
अनिवारितस्तु कामान्, लब्ध्वा शाम्यति मनस्तद्वत् ॥२८।

अर्थ—मन भी जिस-जिस विषय में प्रवृत्ति करता हो, उससे उसे बलात् नहीं रोकना चाहिए ; क्योंकि बलात रोका गया मन उस ओर अधिक दौड़ने लगता है, और नहीं रोकने से वह शान्त हो जाता है जैसे मदोन्मत्त हाथी को प्रयत्नपूर्वक रोकने से वह अधिक उन्मत्त हो जाता है और उसे न रोका जाए तो वह अपने इष्ट विषयों को प्राप्त कर शान्त हो जाता है। इस प्रकार मन भी उसी तरह की विषय-प्राप्ति से शान्त हो जाता है।

मन के स्थिर होने का उपाय दो श्लोकों द्वारा कहते हैं—

यर्हि यथा यत्र यतः, स्थिरीभवति योगिनश्चलचेतः ।
तर्हि तथा तत्र ततः, कथंचिदपि चालयेन्नैव । २९॥
अनया युक्त्याऽभ्यासं विदधानस्यातिलोलमपि चेतः ।
अंगुल्यग्रस्थापितदण्ड इव स्थैर्यमाश्रयति ॥३०॥

अर्थ—जब, जिस प्रकार, जिस स्थान में और जिससे योगी का चंचल चित्त निश्चल रहे ; तब, उसी प्रकार, उसी जगह और उसी निमित्त से उसे तनिक भी चलायमान नहीं करना चाहिए। इस युक्ति से मनोनिरोध का अभ्यास करने से अतिचंचल मन भी अंगुली के अग्रभाग पर स्थापित किए हुए दंड के समान स्थिर हो जाता है।

अब दो श्लोकों में इन्द्रियजय के उपाय बताते हैं—

निःसृत्यादौ दृष्टिः संलीना यत्र कुत्रचित् स्थाने ।
तत्रासाद्य स्थैर्यं शनैः शनैर्विलयमाप्नोति ॥३१॥
सर्वत्रापि प्रसृता, प्रत्यग्भूता शनैः शनैर्दृष्टिः ।
परतत्त्वामलमुकुरे, निरीक्षते ह्यात्मनाऽऽत्मानम् ॥३२।

अर्थ—सर्वप्रथम दृष्टि बाहर निकल कर किसी भी स्थान में संलीन हो जाती है ; फिर वहाँ स्थिरता प्राप्त करके धीरे-धीरे वहाँ से विलयन हो जाती है। अर्थात् पीछे हट जाती है। इस प्रकार सर्वत्र फैली हुई और वहाँ से धीरे-धीरे हटी हुई दृष्टि परमतत्वरूप स्वच्छदर्पण में स्थिर हो कर आत्मा को देखती है।

अब तीन श्लोकों द्वारा मनोविजय की विधि कहते हैं—

औदासीन्यनिमग्नः, प्रयत्नपरिवर्जितः सततमात्मा ।
भावितपरमानन्दः, क्वचिदपि न मनो नियोजयति ।३३॥
करणानि नाधितिष्ठन्त्युपेक्षितं चित्तमात्मना जातु ।
ग्राह्ये ततो निज-निजे, करणान्यपि न प्रवर्तन्ते ॥३४॥
नात्मा प्रेरयति मनो, न मनः प्रेरयति यर्हि करणानि ।
उभयभ्रष्टं तर्हि, स्वयमेव विनाशमाप्नोति ॥३५॥

अर्थ—निरंतर उदासीनभाव में तल्लीन बना हुआ सर्वप्रकार के प्रयत्न से रहित और परमानन्ददशा की भावना करने वाला योगी मन को कहीं भी नहीं लगाता। इस प्रकार आत्मा जब मन की उपेक्षा कर देता है, तब वह इन्द्रियों का आश्रय नहीं करता। अर्थात् तब मन इन्द्रियों को विषयों में प्रेरित नहीं करता। इन्द्रियाँ भी मन की मदद के बिना अपने-अपने विषय में प्रवृत्त नहीं होती। जब आत्मा मन को प्रेरित नहीं करता और मन इन्द्रियों को प्रेरित नहीं करता; तब दोनों तरफ से भ्रष्ट बना हुआ मन अपने आप ही विनष्ट हो जाता है।

मनोविजय का फल कहते हैं —

नष्टे मनसि समन्तात् सकले विलयं च सर्वतो याते।
निष्कलमुदेति तत्त्वं, निर्वातस्थायिदीप इव। ३६।

अर्थ— इस प्रकार मन का कार्य-कारणभाव या प्रेरक-प्रेर्यभाव चारों ओर से नष्ट होने पर, अर्थात् राख से ढकी हुई अग्नि के समान शान्त हो जाने पर और चिन्ता, स्मृति आदि उसके सभी व्यापार जलप्रवाह में बहते हुए अग्निकण के समान विलय (क्षय) हो जाने पर वायु-रहित स्थान में रखे हुए दीपक के समान आत्मा में कर्ममल से रहित निष्कलंक तत्त्वज्ञान प्रकट होता है।

तत्त्वज्ञान होने की पहचान बताते हैं—

अङ्गमृदुत्व-निदानं, स्वेदन-मर्दन-विवर्जनेनापि।
स्निग्धीकरणमतैलं, प्रकाशमानं हि तत्त्वमिदम् ॥३७॥

अर्थ—पहले कहे अनुसार जब तत्त्वज्ञान प्रकट हो जाता है, तब पसीना न होने पर और अंग-मर्दन न करने पर भी शरीर कोमल हो जाता है, तेल की मालिश के बिना ही शरीर चिकना हो जाता है, यह तत्त्वज्ञान प्रगट होने की निशानी है।

दूसरा लक्षण बताते हैं—

अमनस्कतया संजायमानया नाशिते मनःशल्ये।
शिथिलीभवति शरीरं छत्रमिव स्तब्धतां त्यक्त्वा ॥३८॥

अर्थ— मन का शल्य नष्ट हो जाने से, मनोरहित उन्मनीभाव उत्पन्न होने पर तत्त्वज्ञानी का शरीर छाते के समान स्तब्धता (अकड़ाई) छोड़ कर शिथिल हो जाता है।

शल्यीभूतस्यान्तःकरणस्य क्लेशदायिनः सततम्।
अमनस्कतां विनाऽन्यद्, विशल्यकरणौषधं नास्ति ॥३९॥

अर्थ—निरंतर क्लेश देने वाले शल्यीभूत (कांटे की तरह बने हुए) अन्तकरण को निःशल्य करने वाली औषध अमनस्कता (उन्मनीभाव) के सिवाय और कोई नहीं है।

उन्मनीभाव का फल कहते हैं—

कदलीवच्चाविद्या लोलेन्द्रियपत्रला मनःकन्दा।
अमनस्कफले दृष्टे नश्यति सर्वप्रकारेण ॥४०॥

अर्थ—अविद्या केले के पौधे के समान है, चंचल इन्द्रियाँ उसके पत्ते हैं, मनरूपी उसका कन्द है। जैसे उसमें फल दिखाई देने पर केले के पेड़ को नष्ट कर दिया जाता है, क्योंकि उसमें पुनः फल नहीं आते, उसी प्रकार उन्मनीभावरूपी फल दिखाई देने पर अविद्या भी पूर्णरूप से नष्ट हो जाती है, इस बाद दूसरे कर्म लगते नहीं हैं।

मन को जीतने में अमनस्कता का ही मुख्य कारण है ; उसे कहते हैं—

अतिचञ्चलमतिसूक्ष्मं, दुर्लक्ष्यं वेगवत्तया चेतः।
अश्रान्तमप्रमादाद्, अमनस्कशलाकया भिन्द्यात् ॥४१॥

अर्थ—मन अतिचंचल, अतिसूक्ष्म और तीव्र वेगवाला होने के कारण उसे रोक कर रखना अतिकठिन है, अतः मन को विश्राम दिये बिना प्रमादरहित हो कर अनमस्कता-रूपी शलाका से उसका भेदन करना चाहिए।

मन को मारने के लिए अमनस्कता ही शलाकारूप शस्त्र है। अमनस्कता के उदय होने पर योगियों को क्या फल मिलता है, इसे बतलाते हैं—

विश्लिष्टमिव प्लुष्टमिवोड्डीनमिव प्रलीनमिव कायम्।
अमनस्कोदय-समये, योगी जानात्यसत्कल्पम् ॥४२॥

अर्थ—अमनस्कता उदय हो जाने के समय योगी यह अनुभव करने लगता है कि मेरा शरीर पारे के समान बिखरा हुआ है, जल कर भस्म हो गया है, उड़ गया है, पिघल गया है और अपना शरीर अपना नहीं (असत्कल्प) है।

समदैरिन्द्रियभुजगै रहिते विमनस्क-नवसुधाकुण्डे।
मग्नोऽनुभवति योगी परामृतास्वादमसमानम् ॥४३॥

अर्थ—मदोन्मत्त इन्द्रियरूपी सर्पों से मुक्त हो कर योगी उन्मनभावरूप नवीन अमृतकुण्ड में मग्न हो कर अनुपम और उत्कृष्ट तत्त्वामृत के स्वाद का अनुभव करता है।

रेचक-पूरक-कुम्भक-करणाभ्यासक्रमं विनाऽपि खलु।
स्वयमेव नश्यति मरुद्, विमनस्के सत्ययत्नेन ॥४४॥

अर्थ—अमनस्कता की प्राप्ति हो जाने पर रेचक, पूरक, कुम्भक और आसनों के अभ्यास-क्रम के बिना भी अनायास ही वायु स्वयमेव नष्ट हो जाती है।

चिरमाहितप्रयत्नैरपि धर्तुं यो हि शक्यते नैव।
सत्यमनस्के तिष्ठति, स समीरस्तत्क्षणादेव ॥४५॥

अर्थ—जिस वायु को चिरकाल तक अनेक प्रयत्नों से भी धारण नहीं किया जा सकता ; उसी को अमनस्क होने पर योगी तत्काल एक जगह स्थिर कर देता है।

जातेऽभ्यासे स्थिरताम्, उदयति विमले च निष्कले तत्त्वे।
मुक्त इव भाति योगी समूलमुन्मूलितश्वासः ॥४६॥

अर्थ—इस उन्मनीभाव के अभ्यास में स्थिरता होने पर तथा निर्मल (कर्मजाल-

रहित) अखण्ड तत्त्वज्ञान के उदय होने पर श्वासोच्छ्वास का समूल उन्मूलन करके योगी मुक्त पुरुष के समान प्रतीत होता है। तथा

यो जाग्रदवस्थायां, स्वस्थ सुप्त इव तिष्ठति लयस्थ ।
श्वासोच्छ्वास-विहीन: स हीयते न खलु मुक्तिजुषः ।।४७।

अर्थ- जाग्रत-अवस्था में स्व-स्वरूप (आत्म-स्वरूप) में स्थित (स्वस्थ) योगी लय नामक ध्यान में सोये हुए व्यक्ति के समान स्थिर रहता है। श्वासोच्छ्वास-रहित लयावस्था में वह योगी मुक्त आत्मा से जरा भी हीन नहीं होता ; बल्कि सिद्ध के समान ही होता है।

जागरणस्वप्नजुषो जगतीतलवर्तिनः सदा लोकाः ।
तत्त्वविदो लयमग्ना नो जाग्रति शेरते नापि ।।४८।।

अर्थ- इस पृथ्वीतल पर रहने वाले जीव सदा जागरण और स्वप्नदशा का अनुभव करते हैं, परन्तु लय में मग्न तत्त्वज्ञानी न जागते हैं, और न सोते हैं।

भवति खलु शून्यभावः स्वप्ने विषयग्रहश्च जागरणे ।
एतद् द्वितयमतीत्यानन्दमयमवस्थितं तत्त्वम् ।।५०।।

अर्थ- तथा स्वप्नदशा में निश्चय ही शून्यभाव होता है और जागृत-अवस्था में योगी इन्द्रियों के विषयों को ग्रहण करता है, किन्तु तत्त्व की प्राप्ति होने के बाद इन दोनों अवस्थाओं से परे हो कर वह आनन्दमय तत्त्व — लय में स्थित रहता है।

उपालम्भ देते हुए समस्त उपदेशों का सार बताते हैं—

कर्माण्यपि दुःखकृते निष्कर्मत्वं सुखाय विदितं तु ।
न ततः प्रयतेत कथं, निष्कर्मत्वे सुलभमोक्षे ?।।५०।।

अर्थ- कर्म दुःख के लिए है, अर्थात् दुःख का कारण अपने आप किये हुए कर्म हैं और कर्मरहित होना सुख के लिए है ; यदि तुम इस तत्त्व को जानते हो तो सुलभ मोक्षमार्ग के लिए निष्कर्मत्व-प्राप्ति का प्रयत्न क्यों नहीं करते ?

मोक्षोऽस्तु माऽस्तु यदि वा परमानन्दस्तु वेद्यते स खलु ।
यस्मिन् निखिलसुखानि, प्रतिभासन्ते न किञ्चिदिव ।५१।।

अर्थ- मोक्ष हो या न हो, परन्तु ध्यान से प्राप्त होने वाला परमानन्द तो यहाँ प्रत्यक्ष अनुभव होता है। इस परमानन्द के प्राप्त होने पर जगत् के सभी सुख तृण के समान तुच्छ प्रतीत होते हैं।

इसी बात का स्पष्टीकरण करते हुए बताते हैं

मधु न मधुरं नैताः शीतास्त्विषस्तुहिनद्युते ।
अमृतममृत नामैवास्याः फले तु मुधा सुधा ।
तदलममुना संरम्भेण प्रसीद सखे ! मनः,
फलमविकलं त्वय्येवैतत् प्रसादमुपेयुषि ।५२।।

अर्थ—इस उन्मनीभाव के फल के सामने मधु मधुर नहीं लगता, चन्द्रमा की कान्ति भी शीतल नहीं प्रतीत होती, अमृत केवल नाममात्र का अमृत रह जाता है और सुधा का फल भी निष्फल हो जाता है। इसलिए हे मनोमित्र ! तू परिणाम में दुःख देने वाले प्रयास को बस कर। अब तू मुझ पर प्रसन्न हो, क्योंकि अखण्ड परमानन्द-फल की प्राप्ति तेरे प्रसन्न होने पर ही निर्भर है।

स्वानुभव से उन्मनीभाव-सम्बन्धी उपदेश देने वाले गुरु की स्तुति व्यतिरकभाव से बताते है—

सत्येतस्मिन्नरति-रतिदं गृह्यते वस्तु दूरा-
दप्यासन्नेऽप्यसति तु मनस्याप्यते नैव किंचित्।
पुंसामित्यप्यवगतवतामुन्मनीभावहेता-
विच्छा बाढं न भवति कथं सद्गुरूपासनायाम् ॥५३॥

अर्थ—जब तक मन की स्थिति विद्यमान है, तब तक अरति के कारणरूप व्याघ्र आदि और रति के कारणरूप स्त्री आदि वस्तुएँ दूर होने पर भी मन के द्वारा दुःख-सुख ग्रहण किये जाते हैं और मन विद्यमान न हो, अर्थात् उन्मनीभाव हो जाने पर अरति या रति देने वाली वस्तु पास में हो, तो भी वह दुःख-सुख ग्रहण नहीं करता। सुख-दुःख तो मन-सम्बन्धी वृत्तियों पर आधारित है; विषयों की प्राप्ति से या विषय-भोग से उत्पन्न होने वाले नहीं। अतः इस तत्व के ज्ञाता पुरुषों की उन्मनीभाव के कारणभूत सद्गुरु की उपासना करने की प्रबल अभिलाषा क्यों नहीं होगी ? अवश्यमेव होगी।

अब अमनस्कता की उपायभूत आत्म-प्रसन्नता के लिए बताते हैं—

तांस्तानपरमेश्वरानपि परान् भावैः प्रसादं नयन्,
स्तैस्तैस्तत्तदुपायमूढ ! भगवन्नात्मन् ! किमायास्यसि ?।
हन्तात्मानमपि प्रसादय मनाग् येनासतां सम्पदः,
साम्राज्यं परमेऽपि तेजसि तव प्राज्यं समुज्जृम्भते ॥५४॥

अर्थ—परमानन्द प्राप्त करने के यथार्थ उपायों से अनभिज्ञ मूढ़ ! भगवन् आत्मन् ! तू इस परमात्मा को प्राप्त कर। अपरमेश्वर-रूप दूसरे किसी भी देव के पास जा कर इष्ट पदार्थ भेंट दे कर, मनौती करके उनकी सेवा-पूजा-भक्ति आदि उपायों से धन, यश, विद्या, राज्य, स्वर्ग आदि इष्ट पदार्थों की प्रार्थना करके रोग, दरिद्रता, तुच्छ उपद्रव आदि अनर्थों से छुटकारा पाने की चाह से प्रेरित हो कर हे आत्मभगवन ! अपने आपको क्यों परेशान करते हो ? अफसोस है, अपने आत्मदेव को भी तो जरा प्रसन्न कर, जिससे असत् पदार्थों की सम्पदाएँ छूट कर केवलज्ञानरूप परमतेज के प्रकाश में तेरा विशाल साम्राज्य प्रगट हो।

व्याख्या- यहाँ 'आत्मभगवन् !' भविष्य में पूज्य होने के कारण से कहा गया है। अभी तक तो दूसरे उपायों से अथवा दूसरे तथाकथित देवों को परमेश्वर मान कर उन्हें खुश करता रहा। इसमें तू मूढ़ बन कर ठगा गया है। इसलिए रजोगुण और तमोगुण दूर कर, अर्थात् इस लोक या परलोक की

सांसारिक सुखाभिलाषा दूर करके शाश्वत सुख के स्वामी आत्मन् ! तू अपने आत्मदेव को ही जरा प्रसन्न कर ; इससे दूसरी लौकिक संपत्ति अथवा अनर्थ-परिहार रूप समृद्धि तो मिलने वाली ही है ; परन्तु परम-ज्योति (ज्ञान) स्वरूप केवलज्ञान के विशाल साम्राज्य का स्वामित्व तुझमें प्रकट होगा। कहने का तात्पर्य यह है कि 'सारे जगत् को प्रसन्न करने का प्रयास छोड़ कर केवल एक अपनी आत्मा को प्रसन्न कर, जिससे परमेश्वरत्व की सम्पदाएँ और ऐश्वर्य आसानी से प्राप्त होता है। उसके बिना सब प्रयत्न व्यर्थ समझना। इस प्रकार के साम्राज्य में उन्मनीभाव सुलभ बनता है।

हमने पहले 'सिद्धान्तरूप समुद्र से सद्गुरु-परम्परा से और स्वानुभव से जान कर, इत्यादि कथन किया था, उसे निभा कर यानी योगशास्त्र ग्रन्थ की रचना पूर्ण कर दी। अब उसका उपसंहार करते है—

या शास्त्रात् सुगुरोर्मुखादनुभवाच्चाज्ञायि किंचित् क्वचित्।
योगस्योपनिषद्-विवेकिपरिषच्चेतश्चमत्कारिणो॥
श्रीचौलुक्य-कुमारपाल-नृपतेरत्यर्थमभ्यर्थनाद्।
आचार्येण निवेशिता पथि गिरां श्रीहेमचन्द्रेण सा॥५५॥

अर्थ—आगमों और अन्य शास्त्रों से तथा इनको यथार्थ सुन्दर व्याख्या करने वाले गीतार्थ सुगुरु के मुखारविंद से तथा मेरे अपने अनुभव से योग का जो अल्प रहस्य जानने में आया, वह योगरुचि वाले पंडितों की परिषद् (सभा) के चित्त को चमत्कृत करने वाला होने से श्री चौलुक्यवंशीय कुमारपाल राजा की अत्यन्त प्रार्थना से आचार्यश्री हेमचन्द्र ने योगशास्त्र नामक ग्रन्थ वाणी के मार्ग से प्रस्तुत किया है।

व्याख्या—श्रीकुमारपाल महाराजा को योग की उपासना अतिप्रिय थी। उन्होंने योगविषयक अन्य शास्त्र भी देखे थे, इसलिए पूर्वरचित योगशास्त्र से विलक्षण (अद्भुत) योगशास्त्र सुनने की उन्हें अभिलाषा थी और प्रार्थना करने पर वचन के अगोचर होने पर भी योग का सारभूत 'अध्यात्म-उपनिषद्' नामक यह ग्रन्थ रच कर आचार्य श्रीमद्हेमचन्द्रसूरीश्वरजी ने वाणी के मार्ग से लिपिबद्ध करके इस योगशास्त्र को प्रस्तुत किया है। इति शुभम्।

अब इस वृत्ति (व्याख्या) के अन्त में प्रशस्तिरूप में दो श्लोक प्रस्तुत करते है—

श्री चौलुक्यक्षितिपतिकृत-प्रार्थनाप्रेरितोऽहं,
तत्त्वज्ञानामृतजलनिधेर्योगशास्त्रस्य वृत्तिम्।
स्वोपज्ञस्य व्यरचयमिमां तावदेषा च नन्द्याद्,
यावज्जैनप्रवचनवती भूर्भुवःस्वस्त्रयीयम्॥१॥

अर्थ—स्वोपज्ञ व्याख्या का उपसंहार करते हुए कहते हैं कि—'चौलुक्य वंश में जन्म लेने वाले कुमारपाल राजा की प्रार्थना से प्रेरित हो कर मैंने तत्वज्ञानामृत के समुद्र-समान स्वयंरचित विवरणसहित योगशास्त्र की इस वृत्ति-(विवेचनयुक्त टीका) की रचना की है, जब तक स्वर्ग, मृत्यु और पातालरूप तीनों लोकों में जैन-प्रवचनमय आगम रहें, तब तक इस वृत्तिसहित यह ग्रन्थ सदा समृद्ध रहे।

संप्रापि योगशास्त्रात्, तद्विवृतेश्चापि यन्मया सुकृतम् ।
तेन जिन-बोधिलाभ-प्रणयी भव्यो जनो भवतात् ॥२॥

अर्थ— इस योगशास्त्र और इसकी विवृति-(व्याख्या) की रचना से मैंने जो कोई भी सुकृत (पुण्य) उपार्जित किया हो ; उससे भव्यजीव जिन-बोधिलाभ के प्रणयी-प्रेमी बनें, यही शुभभावना है ।

इस प्रकार परमार्हत श्रीकुमारपाल राजा की जिज्ञासा से आचार्यश्री
हेमचन्द्राचार्य-सूरीश्वररचित 'अध्यात्मोपनिषद्' नामक
पट्टबद्ध अपरनाम 'योगशास्त्र' का
स्वोपज्ञविवरणसहित द्वादश
प्रकाश सम्पूर्ण हुआ ।
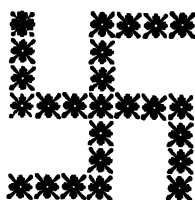
अनुवादक की ओर से प्रशस्ति

श्रमण भगवान् महावीर की शासन-परम्परा मे ७३ वे पट्ट पर सवेगी शाखा में तपोगच्छाधिपति परमपूज्य प्रात.स्मरणीय न्यायाम्भोनिधि पजाबदेशोद्धारक आचार्य श्रीमद्‌विजयानन्दसूरीश्वरजी (आत्मारामजी) महाराज हुए है । उनके दो पट्‌धर आचार्य हुए—श्रीमद्‌विजयकमलसूरीश्वरजी म० पजाबी और श्रीमद्‌विजयवल्लभसूरीश्वरजी म० । पजाबकेसरी भारतदिवाकर आचार्यदेव श्रीमद्‌-विजयवल्लभसूरीश्वरजी म० के अनुपम पट्टधर मरुधरोद्धारक श्रीमद्‌विजयललितसूरीश्वरजी महाराज, श्रीमद्‌विजयउमंगसूरीश्वरजी म०, श्रीमद्‌विजयविद्यासूरिजी म०, आचार्य श्री विजयसमुद्रसूरीश्वरजी म० तथा श्री विजयविकासचन्द्रसूरीश्वर जी म०; ये ५ पट्टधर हुए । इनमे से श्री विजयललितसूरीश्वरजी म० के पट्टधर ज्योतिष्मार्त्तण्ड महान् तपस्वी श्रीमद्‌विजयपूर्णानन्दसूरीश्वरजी महाराज के पट्टधर एक तो श्रीविजयह्रीकारसूरीश्वरजी म० और दूसरे अनेक तीर्थोद्धारक शासनसेवी आचार्य श्रीमद्‌विजयप्रकाशचन्द्र-सूरीश्वरजी महाराज है ; जिनके लघुशिष्य मुनि पद्‌मविजय ने श्रीहेमचन्द्राचार्य-विरचित स्वोपज्ञविवरण-सहित योगशास्त्र—बारह प्रकाशो का हिन्दी अनुवाद स्व० आचार्यदेव श्रीमद्‌विजयवल्लभसूरिजी म० के २१ वे स्वर्गारोहण के दिन चातुर्मासकाल मे सं० २०३० आश्विन कृष्ण ११ शुक्रवार, ता०-११-१०-७४ को जामभाणवड़ मे श्रीशान्तिनाथ भगवान् के मन्दिर के पास आयम्बिलभवन मे पूर्ण किया ।

कोई भी जिज्ञासु इस ग्रन्थ का अध्ययन कर इसमे बताये गये मार्ग के अनुसार प्रवृत्ति करके अनादिकाल से भूले हुए आत्मस्वरूप को प्राप्त करेगा, तो मैं अपना प्रयास सार्थक समझूँगा ।

इसी शुभाशा के साथ—

—मुनि पद्‌मविजय
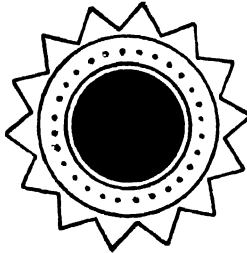
योगशास्त्र की गरिमा

● योगशास्त्र समुद्र की तरह अर्थगम्भीर है, हिमाचल की तरह आत्मसुरक्षा के लिए सजग प्रहरी है, आत्मविज्ञान का अक्षय भण्डार है, आत्म-जागरण की अलौकिक निधि है, साधक जीवन के लिए अध्यात्मज्ञान का विश्वकोश है।

● इसमें आत्मसाधना की कोई भी विधा नहीं छोड़ी। आत्मा के साथ बंधे हुए शरीर, मन और इन्द्रियों की साधना की एवं उन पर विजय की सांगोपांग प्रक्रिया इसमें बताई गई है। अर्वाचीन एवं प्राचीन सभी दृष्टियों से अंगोपांगों सहित रोचक दृष्टान्तों से प्रतिपाद्य विषय को पुष्ट करते हुए योग का सरस, सरल सुबोध शैली में वर्णन किया है।'

● 'वस्तुतः योगशास्त्र आचार्यश्री की कलिकाल-सर्वज्ञता और अद्भुत प्रतिभा का परिचायक है। जीवन और जगत् के महासमुद्र में उठते हुए सांसारिक विषयों के तूफानों, उत्ताल अनिष्ट तरंगों, और पाश्चात्य एवं भोगवादी भयंकर गर्जनाओं से मुमुक्षु आत्माओं साधक एवं धर्मभीरु जिज्ञासु श्रावक को बचाने के लिए योगशास्त्र महाप्रकाश-स्तम्भ का काम करता है। योगशास्त्र में ऐसे प्रकाशस्तम्भ १२ जो साधक की जीवन-नैया को यथार्थ दिशा-दर्शन करके सहीसलामत मोक्षतट के पार पहुँचा देते हैं